[illegible]रुदव

श्री रत्न मुनि स्मृति-ग्रन्थ

●

सम्पादक-समिति

●

डा० डी० एस० कोठारी

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी

श्री सेठ गोविन्द दास

श्री जैनेन्द्र कुमार

पण्डित दलसुख मालवणिया

डा० राजकुमार जैन

श्री अक्षयकुमार जैन

प्रो० बाबूराम गुप्त

प्रकाशक

●

गुरुदेव स्मृति-ग्रन्थ-समिति

ग्रन्थ

*

गुरुदेव श्री रत्न मुनि स्मृति-ग्रन्थ

सम्पादक

*

विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

डा० हरिशकर शर्मा कविरत्न

प्रकाशक

*

गुरुदेव स्मृति-ग्रन्थ-प्रकाशक-समिति, जैन भवन, लोहामडी, आगरा

सन्

*

१९६४, २६ मई , विक्रम सवत् २०२१ वैशाख पूर्णिमा

प्रथम प्रवेश

*

५०० प्रतियाँ

मूल्य

*

१५)

मुद्रक

*

एजुकेशनल प्रेस, आगरा

निर्देशक

●

उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी महाराज

प्रधान सम्पादक

●

डा० हरिशंकर शर्म्मा
कविरत्न

विजय मुनि
शास्त्री, साहित्यरत्न

संयोजक

*

सेठ कल्याणदास जैन
(नगर प्रमुख, आगरा)

सदस्य

*

श्री रामगोपाल जैन
श्री सरोजकुमार जैन
श्री ओमप्रकाश जैन
श्री जगदीशप्रसाद जैन

निर्देशक-प्रवचन

युग-पुरुष वह होता है, जो अपने युग को जीवन का नया सदेश सुनाता है। उनके विचार मे युग का विचार मुखर होता है, उनकी वाणी मे युग बोलता है, और उसकी क्रिया-शक्ति से युग को नयी चेतना, नयी स्फूर्ति और नयी प्रेरणा मिलती है। वह अपने युग की जन-चेतना का साधिकार प्रतिनिधित्व करता है। वह अपने युग की जनता को सही दिशा की ओर प्रयाण करने की प्रेरणा ही नही देता, राह भूले राही को आगाह भी करता है, कि तेरा रास्ता वह नही है, जिस पर तू आँखे बन्द करके चला जा रहा है, यह रास्ता तुझे तेरी मजिल पर न ले जा कर इधर उधर भटका देगा। जरा सँभल और विवेक के विमल आलोक मे अपने गन्तव्य पथ का निश्चय कर ले। यह क्या बात है कि आज इधर चल पडा और कल उधर मुड पडा। इस प्रकार भटकने से क्या कभी तू अपनी मजिल पर पहुँचने की आशा रखता है? ना भाई! अपनी इस भूल भरी आदत को छोड दे। सही राह पर और सही दिशा मे चलने का ही नही, आगे बढने का अपने दिल और दिमाग से मजबूत इरादा करले। देख, यदि तू अपने मन की दुविधा को दूर न कर सके, तो आ, मेरे कदमो पर अपने कदम धरता आ। तू अपना मन, अपना [illegible] अपनी काया मुझे अर्पित कर दे, 'मामेक शरणं व्रज।" फिर तुझे कोई खतरा नही।

युग-पुरुष गुरुदेव ने अपने युग की भोली जनता को इस प्रकार श्रद्धा, भक्ति और अर्पणा का पाठ पढाया था। बिना श्रद्धा और भक्ति के जीवन सत्य, सुन्दर और शिव नही बन सकता। बाल की खाल निकालने वाले तर्कशील तार्किक लोग कभी कुछ पा नही सकते। प्याज का छिलका उतार कर अन्दर से कुछ पाने की आशा रखने वालो के हाथ मे आखिर शून्य-बिन्दु ही शेष रहता है। गुरु के वचनो पर आस्था, श्रद्धा और भक्ति रखने वालो के हाथ मे ही जीवन का दिव्य अमृत फल रहता है। गुरुदेव स्वय अमृत-भोजी थे। अतः उन्होने अपने भक्तो को भी उन्मुक्त भाव से अमृत दान किया था। वह अमृत था, जिसे उस युग-पुरुष ने अपने युग की जन-चेतना को खुलकर बाटा—सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचार।

वह युग-पुरुष आज नही रहा, परन्तु उसका दिव्य उपदेश आज भी अमर है और युग-युग तक अमर रहेगा। जो अमृत-भोजी है, क्या वह कभी मरा है, कभी मर सकता है। मैं तो यह विश्वास करता हूँ कि वह युग पुरुष आज से सौ-साल पहले भी था, आज भी है और अनन्त भविष्य मे भी रहेगा। क्योकि जो अमर है, वह कभी मर नही सकता। मैं उस अमृत-योगी दिव्य-पुरुष के चरणो मे, उस अमर-पुरुष के अमर-दिव्यगुणो मे, अपनी अमर आस्था अर्पित करता हूँ—मन से, वचन से, और तन से उस युग-पुरुष के दिव्यगुणो को नमस्कार।

एक बात और, जो कहते-कहते शेष रह गई है, और वह है—"गुरुदेव श्री रत्नमुनि-स्मृति ग्रन्थ की। उस युग-पुरुष की पुण्यशताब्दी मनाने का विचार उठा, लम्बी चर्चा चली—इतनी लम्बी कि आगरा से कानपुर होकर कलकत्ता पहुँची, जैन-सस्कृति की अमर नगरी राजगृही के गिरि गह्वरो मे गूँजी और फिर मेरे साथ ही आगरा लौट आई। अब की बार योजना बनी और कार्य प्रारम्भ हो गया। विघ्न बाधाएँ आती रही, और साथ मे मिटती रही।" स्मृति-ग्रन्थ" के प्रकाशन का रास्ता लम्बा और विकट तथा साथ ही अति श्रम-साध्य था। मेरा स्वास्थ्य साथ नही देता था, फिर समाज के मिलन-सम्मेलन का चक्र भी तेजी से घूम रहा था। यह सब कुछ होने पर भी गुरुदेव की दिव्य-शक्ति का ही यह प्रभाव था, कि कार्य पूरा हो गया।

दिशा-निर्देश मेरा होने पर भी इस महान् कार्य मे प्रारम्भ से अन्त तक विजयमुनि जी ने निष्ठा के साथ जो श्रम किया है, उसे भुलाया नही जा सकता। मेरी अनुपस्थिति मे भी इस कार्य को उन्होने निरन्तर प्रगति पर रखा है। अत इस कार्य की पूर्ति मे विजयमुनि जी का श्रम विशेष उल्लेखनीय रहा है। साथ ही जिन महानुभाव लेखको ने अपने महत्वपूर्ण लेख भेजकर मेरी भावना का आदर किया है, उनके प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ, और उनके सहयोग का आदर करता हूँ।

जैन भवन
लोहामडी, आगरा
१५–३–६४

—उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादक-संकथन

इस विराट और विशाल विश्व मे कौन किस का सस्मरण करता है। काल के महासिन्धु मे मनुष्य के जीवन-बिन्दु का मूल्य भी क्या है ? अनुदिन ससार मे हजारो, लाखो और करोडो मनुष्य जन्म धारण करते है और मरते रहते है। इनमे से कितनो को हम याद रख पाते है ? अनन्त काल के अनन्त जीवन-बिन्दुओ को याद रखना तो किसी प्रकार भी सम्भवित नही है। अपने वर्तमान जीवन के प्रिय स्नेही साथियो को भी हम दो-चार साल मे विस्मृति के गहन गर्त मे डाल देते है। जिन माता-पिताओ की सुखद गोद मे मनुष्य ने किलकारिया भरी, उन्हे भी वह भूल बैठता है। पति-पत्नी की सुख-दुख की कहानी, कहानी बनकर निःशेष हो जाती है। जिन प्यारे नन्ने-मुन्नो को मनुष्य ने अपने प्यार की दुलार मे पाला-पोषा, उनके दारुण वियोग की कचोट को भी जीवन-यात्रा की कुछ दूरी के बाद मनुप्य भूल जाता है। मतलब, मनुष्य अपनो को और स्वय अपने आपको रात-दिन भूलता ही चला आया है।

फिर भी क्या कारण है, कि कुछ महापुरुप इन्सान के दिल और दिमाग पर इतनी गहनता और घनता के साथ अकित हो जाते है कि उन्हे भुलाना ही सम्भव नही रह पाता। ज्यो-ज्यो इन्सान उन्हे भूलने की चेष्टा करता है, त्यो-त्यो वे और भी अधिक उभर-उभर कर उसकी चेतना पर छा जाते है। अपने स्वभाव के कारण मनुष्य उन्हे भी भूलना तो चाहता है, किन्तु फिर भी भूल नही पाता। दर्शन-शास्त्र की भाषा मे इस तथ्य को महापुरुषो के जीवन का अनुभाव, प्रभाव और जादू ही कहना चाहिए।

गुरुदेव के पावन और पवित्र जीवन का अनुभाव और प्रभाव भी कुछ ऐसा ही अद्‌भुत था, कि आज पूरे सौ-सालो के बाद भी जन-चेतना उन्हे अपनी स्मृति पर से उतार नही सकी। उन्होने समाज पर जो अनन्त उपकार किए थे, उन्ही का यह प्रतिफल है, कि आज भी समाज की चेतना उन्हे विस्मृत नही कर सकी। और अनन्त भविष्य मे भी उनके उपकारो को विस्मृत नही किया जा सकेगा ? उनकी पुण्य शताब्दी मनाकर, उनकी स्मृति मे स्मृति-ग्रन्थ निकाल कर हम उन पर किसी प्रकार का उपकार नही करते बल्कि हम स्वय उपकृत होते है। जो कुछ हमने उनसे पाया है, उसका अनन्तवा भाग भी लौटाने की हममे क्षमता नही है। भुक्ति से पराड्‌मुख करके उन्होने हमे मुक्ति के उन्मुख किया, यही उनके जीवन का हमारे दिल और दिमागो पर अनुभाव, प्रभाव, चमत्कार और जादू है, जो उन्हे हमारी चेतना-स्मृति पर से विस्मृत और विलुप्त नही होने देता है। धन देने वाले माता-पिता से, स्नेह देने वाले भाई-बहनो से और प्रणय देने वाले पति-पत्नियो से शास्त्रकारो ने अनन्त गुण अधिक उपकार उस गौरवमय गुरु का स्वीकार किया है, जिसने भव-चक्र के विभाव-भावो से विमुक्त करने की ज्ञान-कला का

बोध-पाठ दिया था। यही कारण है कि भारतीय सस्कृति मे सबको भुला कर भी गुरु को भूलने की भूल नही की जाती।

जिस गुरु ने हम सब को विमल विवेक और विचार दिया, जिसने पवित्र आचार और व्यवहार दिया तथा जिसने अडिग और अडोल आस्था एव निष्ठा दी, उसी गौरवमय गुरु गुरुदेव श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज की इस पुण्यवती शती के शुभ अवसर पर हम अपने मन के कण-कण से श्रद्धा-सुमन समर्पित करते है। महान् भाग्यशाली है, हम कि हमे इस शुभ अवसर पर "स्मृति-ग्रन्थ" के सम्पादन और सकलन का सौभाग्य मिला।

जितनी और जैसी गुरुदेव के जीवन पर सामग्री अपेक्षित थी, वैसी उपलब्ध नही हो सकी। प्रयत्न चालू रखना है। गुरुदेव के जीवन पर खोज अनुसन्धान और अन्वेषण चालू रखना है। आगरा के श्रावक प्रभुदयाल जी के प्राचीन भण्डार मे से जो सामग्री उपलब्ध हो सकी है, उसका उपयोग किया गया है। पूज्यपाद मन्त्री श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज से जो सामग्री मिली, उसे कभी भुलाया नही जा सकता है। आगरा के वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध श्रावक श्री बाबूराम जी शास्त्री से सम्प्रदाय की बहुत-सी प्राचीन बाते जानने को मिली है। स्मृति-ग्रन्थ के निर्देशक पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री जी महाराज ने तो हमारे मार्ग को कदम-कदम पर सरल और सीधा बनाया है। आपकी महती कृपा का ही यह फल है, कि 'स्मृति-ग्रन्थ' इतना सुन्दर बन सका। ग्रन्थ-प्रकाशन समिति के सयोजक सेठ कल्याणदास जी जैन और वर्तमान मे आगरा के नगर प्रमुख ने बडी उदारता के साथ अपना पूरा सहयोग दिया है। श्री सोनाराम जैन के सहयोग को भी विस्मृत नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त स्मृति-ग्रन्थ के प्रूफ सशोधन मे श्री शैलेन्द्र कुमार जैन, एम० कॉम ने, सुमतकुमार जैन, बी० एस सी ने, प्रभातकुमार जैन बी० एस सी. ने और विजय कुमार जी ने जो सहयोग दिया है, उसे भुलाया नही जा सकता।

प्रस्तुत स्मृति-ग्रन्थ की सम्पादक समिति के समस्त सदस्यो को हम धन्यवाद देते है, जिनका सुन्दर सहयोग हमे मिला। विशेषत आगरा कालेज के सस्कृत-विभाग के अध्यक्ष श्री डा० राजकुमार जी जैन एम० ए० साहित्याचार्य से भी इस स्मृति-ग्रन्थ मे पर्याप्त सहयोग मिला है। स्मृति ग्रन्थ के उन महान् लेखको के प्रति भी हम अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करते है, जिन्होने अपने व्यस्त जीवन मे से समय निकालकर अपने सुन्दर लेख और श्रद्धाञ्जलि भेज कर ग्रन्थ को समृद्ध और सुशोभित बनाया है।

अनेक महानुभाव लेखको के लेखो को हम स्थानाभाव के कारण प्रकाशित नही कर सके है। कुछ लेखको के लेख बहुत विलम्ब मे आए, तब तक ग्रन्थ का अधिकाश भाग छप चुका था। अत जिन महानुभावो के लेख छपने से रह गए है उनसे हम क्षमा-याचना करते है।

डा० हरिशकर शर्मा
कविरत्न

विजय मुनि
शास्त्री, साहित्यरत्न

☆

संयोजक-संयोजन

किसी महापुरुष के दिव्य गुणो का स्मरण और कीर्तन करना किसी महान् भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है। वास्तव मे महापुरुष के गुणो का चिन्तन, जीवन के विकास और उत्थान का साधन होता है। दिव्य-पुरुषो के ध्यान से और चिन्तन से ध्याता का जीवन भी दिव्य बन जाता है। दिव्य पुरुषो के स्वरूप के ध्यान से, नाम के जप से और आचरण के अनुसरण से महान् लाभ प्राप्त होता है।

गुरुदेव श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्र जी महाराज अपने युग के सुप्रसिद्ध विद्वान, मधुर प्रवक्ता, परम तपस्वी और प्रखर योगी थे। उनकी योग-साधना के चमत्कार जन-चेतना की स्मृति पर आज भी सौ-साल के बाद भी अकित है और उनकी दिव्यता का प्रभाव, उस युग की जन चेतना पर इतना गहरा और व्यापक पडा था, युगो के युग बीत जाने पर भी लोग उन्हे भूले नही है, और भविष्य मे भी नही भूलेंगे। उनका त्याग, उनका सयम, उनका वैराग्य और उनकी आराधना-साधना महान् थी। उस दिव्य पुरुष और युग-पुरुष के पावन चरणो मे, इस पुण्य शताब्दी के अवसर पर, मै हार्दिक भावना के साथ श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

श्रद्धेय गुरुदेव का आगरा पर विशेष अनुग्रह था। आगरा वाले कभी उनके उपकारो को भूल नही सकते। यहाँ के जन-जन के मन-मन के कण-कण मे गुरुदेव की दिव्य छवि अकित है। आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी शिक्षा और उनके उपदेश ही उनकी पुण्य-स्मृति है। फिर भी भौतिक दृष्टि से भी आगरा मे अनेक सस्थाएँ और स्मृति चिन्ह उनकी पावन-स्मृति मे बने है। जैसे गुरुदेव की समाधि, लोहामडी मे मजूमल के बगीचे मे गुरुदेव के चरण-चिन्ह, सेठ के बाग मे गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज के चरण-चिन्ह और एक छोटा-सा समाधि भवन बना हुआ है। शिक्षा के क्षेत्र मे श्री रत्न मुनि जैन इन्टर कालेज, श्री रत्नमुनि जैन गर्ल्स इन्टर कालेज, श्री रत्नमुनि जैन बाल-शाला और श्री वीर पुस्तकालय प्रसिद्ध है। आगरा नगर महापालिका ने 'श्री रत्नमुनि मार्ग' का उद्घाटन करके गुरुदेव के प्रति अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त की है।

गुरुदेव की पुण्य-शताब्दी मनाने की और एक 'स्मृति-ग्रन्थ' प्रकाशित करने की बात, जब मेरे सामने आई, तब मुझे बडी प्रसन्नता का अनुभव हुआ। पूज्य गुरुदेव उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज के आदेश से तथा समाज के वयोवृद्ध लोगो की प्रेरणा से और साथियो के कहने से मैंने 'स्मृति-ग्रन्थ' के प्रकाशन का कार्य अपने हाथ मे ले लिया। मुझे परम प्रसन्नता है, कि वह कार्य अब बडी सुन्दरता के साथ परिपूर्ण हो चुका है।

उस दिव्य-पुरुष के प्रभाव से, उपाध्याय श्री जी महाराज की कृपा से और श्री विजय मुनि जी महाराज के श्रम से और लगन से एक बहुत बडा कार्य सम्पन्न हो गया है, जिसकी पूर्ति की इतनी शीघ्रता से आशा नही की जा सकती थी। अत श्री विजयमुनि जी के हम बहुत आभारी है। अन्य जिन-जिन महानुभावो ने इस कार्य मे हमारा सहयोग किया है, उन्हे हम धन्यवाद देते है।

"स्मृति-ग्रन्थ" के प्रकाशन और मुद्रण मे एजुकेशनल प्रेस के मालिक बाबू श्री जगदीश प्रसाद जी अग्रवाल और प्रेस मैनेजर श्री सत्यनारायण अग्रवाल को हम धन्यवाद देते है, जिनके श्रम से यह ग्रन्थ सुन्दर बन सका है। ग्रन्थ का अँग्रेजी विभाग प्रेम प्रेस मे छपा है। अत प्रेम प्रेस वालो का भी हम धन्यवाद करते है।

"स्मृति-ग्रन्थ" की सम्पादक-समिति, सयोजक-समिति और लेखक महानुभावो का भी मै धन्यवाद करता हू, जिन्होने अपने सुन्दर लेख भेजकर हमे सहयोग दिया है।

जैन भवन
लोहामण्डी, आगरा

कल्याणदास जैन
स्मृति-ग्रन्थ-सयोजक

आगरा के वर्तमान नगर-प्रमुख व गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति-ग्रन्थ के संयोजक
सेठ कल्याणदासजी जैन

विषय-रेखा

: १ :

जीवन और श्रद्धाञ्जलि

: २ :

आगम और व्याख्या-साहित्य

: ३ :

धर्म और दर्शन

: ४ :

समाज और सस्कृति

: ५ :

साहित्य और कला

: ६ :

इतिहास और पुरातत्त्व

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं
एसो पंच णमोकारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥

भगवान ऋषभदेव के भरत, बाहुबली आदि सौ पुत्र थे तथा ब्राह्मी एव सुन्दरी नामक दो कन्याएँ थी। बडे पुत्र भरत, भारत के प्रथम चक्रवर्ती हुए और उन्ही के नाम से भागवतकार की दृष्टि से हमारे देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।[1]

भगवान् ऋषभदेव का महत्व केवल जैन-परपरा मे ही नही, वैदिक-परपरा मे भी उनको विष्णु का अवतार मान कर पूजा की गई है। भागवत के पचम स्कन्ध मे उनकी एक बहुत सुन्दर जीवन-रेखा अकित है। कूर्म, मार्कण्डेय, अग्नि आदि पुराणो मे भी उनकी जीवन-गाथा के कुछ महत्वपूर्ण अश उपलब्ध हैं। वैदिक विद्वान् प्रो० विरुपाक्ष एम० ए०, वेदतीर्थ और आचार्य विनोबाभावे आदि बहुश्रुत मनीषी ऋग्वेद आदि मे भी ऋषभदेव की वन्दना के स्वर सुनते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि भगवान् ऋषभदेव भारत की अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल से चली आने वाली श्रमण और ब्राह्मण दोनो ही सास्कृतिक परम्पराओ मे आदि महापुरुष के रूप मे मान्य हैं।

सामाजिक क्रान्ति के पश्चात् भगवान् ऋषभदेव ने धर्म-क्रान्ति का पथ प्रशस्त किया। जैन धर्म के अनुसार भारत की सर्व प्रथम नगरी विनीता (अयोध्या) का विशाल साम्राज्य त्यागकर ऋषभदेव मुनि बन गए, उग्र तपश्चरण किया, वनों मे ध्यान-साधना की, आत्म-दर्शन की भूमिका पर आरुढ होते हुए, केवल ज्ञान प्राप्त किया। अनन्तर भारतवर्ष को भोग से योग की ओर उन्मुख करने के लिए धर्म प्रचार किया और अन्त मे अष्टापद पर्वत पर निर्वाण को प्राप्त हुए।

अरिष्ट नेमि और पार्श्वनाथ

भगवान् ऋषभदेव के पश्चात् अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थकर हुए। अर्हन्त अरिष्ट नेमि २२ वें, और पार्श्वनाथ २३ वें तीर्थंकर थे। अरिष्ट नेमि यदुकुल मे से थे। कृष्ण के पिता वसुदेव और अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय दोनो सहोदर—सगे भाई थे। मासार्थ मारे जाने वाले प्राणियो की रक्षा के लिए उन्होने उग्रसेन नरेश की सुपुत्री राजीमती के साथ विवाह करने से इन्कार कर दिया। गृह त्याग कर मुनि बन गए, केवल ज्ञान प्राप्त कर अन्त मे रैवताचल (सौराष्ट्र का गिरनार पर्वत) पर मुक्त हुए। आपके द्वारा जन-जीवन मे आहार-शुद्धि का आन्दोलन काफी प्रगतिशील हुआ। मासाहार के विरोध मे आपका करुणा-सन्देश जैन इतिहास मे उल्लेखनीय स्थान रखता है। अरिष्टनेमि का वर्णन कल्प-सूत्र, अन्तकृद्दशा आदि जैन-सूत्रो और वैदिक महाभारत[2] आदि मे है। वेदो के कुछ मन्त्रो मे भी आपके नाम का सकेत है।[3]

---

[1] येषा खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठ-गुण आसीद् येनेन वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति।

—भागवत ५, ४, ९

[2] वनपर्व १८४,८ और शान्तिपर्व २८८, ५-४६

[3] ऋग्वेद १०, ६३, १३

पूर्व इतिवृत्त

भगवान् पार्श्वनाथ वाराणसी के राजकुमार थे। पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामादेवी था। आपका जन्म ई० पूर्व ८५० मे, पौष कृष्णा दशमी को हुआ था। आपके युग मे तापस परंपरा के अनेकविध विवेकशून्य क्रियाकाण्डो का प्राबल्य था। गृहस्थ दशा मे आपने पचाग्नि-तापस कमठ को अहिंसा धर्म का उपदेश दिया और धूनी के लक्कड़ मे से जलते हुए सर्प का उद्धार किया। मुनि दीक्षा लेने के पश्चात् आपने उग्र साधना की, कैवल्य पाया और विवेक मूलक धर्म साधना का प्रचार कर अन्त मे सम्मेद शिखर (बिहार प्रान्त) पर सदा के लिए अजर, अमर, मुक्त हो गए।

पौर्वात्य और पाश्चात्य प्राय सभी विद्वान् आपके ऐतिहासिक अस्तित्व के सम्बन्ध मे एक मत है। बौद्ध साहित्य मे भी पार्श्वनाथ के अस्तित्व के मौलिक सकेत हैं। अगुत्तरनिकाय की अट्ठ-कथा के अनुसार गौतम बुद्ध के चाचा बप्प—निर्ग्रन्थ श्रावक थे। सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी तो कहते हैं कि तथागत बुद्ध ने अपने पूर्व जीवन मे पार्श्वनाथ परपरा का अनुसरण किया था। उत्तराध्ययन, भगवतीसूत्र, कल्प सूत्र आदि मे भगवान् पार्श्वनाथ और उनकी शिष्य परंपरा के प्रचुर उल्लेख मिलते है। स्वयं भगवान् महावीर ने उन्हे पुरुषादानीय कहकर उनके प्रति बहुमान प्रकट किया है। उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३-१ मे उनका लोक पूजित, सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ और लोक-प्रदीप जैसे महत्वपूर्ण विशेषणो से स्मरण किया है।

भगवान् महावीर

भगवान् पार्श्वनाथ के ढाई सौ वर्ष पश्चात् जैन-परपरा के अन्तिम चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् महावीर हुए। वर्तमान विहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले मे, जो आज छोटा सा बसाढ नामक गाँव है, वह पहले कभी (ई० पूर्व ६००) इतिहास प्रसिद्ध वैशाली नगरी था। वैशाली मे गणतन्त्र राज्य था, जो लिच्छवी, वज्जी और ज्ञातृ आदि आठ गण राज्यो का सुसगठित सयुक्त गणराज्य था। विदेह गणराज्य से सम्बन्धित चेटक उक्त सयुक्त गणतन्त्र के मनोनीत अध्यक्ष थे, जो भगवान् महावीर के नाना होते थे।

वैशाली के निकट ही क्षत्रियकुण्ड नगर था, जो ज्ञातृ-क्षत्रियगण की राजधानी था। भगवान् महावीर के पिता ज्ञात वंशीय सिद्धार्थ, ज्ञातगण राज्य के प्रमुख थे, जिन्हे राजा भी कहा जाता था। महावीर का जन्म, इसी सिद्धार्थ राजा की रानी त्रिशला के गर्भ से, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की शुभ वेला मे हुआ।

वैशाली का वैभव विकास के चरम बिन्दु पर पहुँचा हुआ था। तथागत बुद्ध ने वैशाली-वासियो की तुलना देवताओ से की थी। वैशाली का चातुर्मास समाप्त कर, अन्तिम निर्वाण यात्रा पर जाते हुए बुद्ध ने वैशाली को वापस मुडकर देखा था और कहा था "आनन्द ! यह तथागत का अन्तिम वैशाली दर्शन है।" महावीर का बाल्य काल इसी सुख-समृद्धि की स्वर्गोपम नगरी वैशाली मे गुजरा। परन्तु उनका चित्त उस राजशाही वैभव मे उलझा नही। तीस वर्ष के कुसुमित यौवन मे उन्होने गृहवास त्याग दिया, निर्ग्रन्थ मुनि बन गए। साढे बारह वर्ष तक लगातार वनो, पर्वतो, नदी-तटो और अनार्य प्रदेशो मे

जाकर निर्मल सयम-साधना की, आत्मा के शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि की, वैशाखशुक्ला १० को बिहार राज्यान्तर्गत ऋजुवालुका, आज की बराकर, नदी के तट पर, शाल वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा मे कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया। भगवान् महावीर की तप साधना के सुनहले चित्र आचाराग और कल्प-सूत्र मे अकित हैं। बौद्ध साहित्य मे भी उन्हे दीर्घ तपस्वी कहा है। आवश्यक-चूर्णि, महावीर चरित्र आदि प्राकृत सस्कृत ग्रन्थो मे उनके जीवन की प्रेरणादायक विविध सामग्री का अधिकाश भाग आज भी सुरक्षित है।

भगवान महावीर के समय मे, भारतीय जनता, बडे ही विचित्र अध विश्वासो से ग्रस्त थी। देव-वाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। यज्ञ, याग आदि के विधिविधानो मे पशुहत्या, यहाँ तक कि नर हत्या भी प्रचुर मात्रा मे होती थी। वर्ण-व्यवस्था की पवित्रता के नाम पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की छाया तक को अस्पृश्य मानकर चल रहा था। स्त्री जाति केवल भोग की वस्तु बन कर रह गई थी, उसे सामाजिक जीवन मे कुछ भी अधिकार प्राप्त नही था। तापसो की परपरा भी विकृत हो चुकी थी। तापस पचाग्नि तप करते, वृक्ष की शाखाओ से अधोमुख उल्टे लटके रहते, हाथो को ऊँचा करके घूमते, कदमूल, शैवाल और सूखी घास खाते, भयकर सर्दी मे सारी रात जल मे पडे रहते। औप-पातिक आदि जैन सूत्रो एव बौद्ध साहित्य मे इनके अनेकविध कठोर क्रियाकाण्डो का उल्लेख है। भौतिक वादी घोर नास्तिको का भी कुछ कम प्रभाव नही था। भगवान् महावीर ने कैवल्य प्राप्त कर उक्त परपराओ की विवेक-हीन जड मान्यताओ पर मूलघाती प्रहार किया। जिज्ञासु जनता को धर्म के मूल-सत्य का दर्शन कराया। अहिंसा मूलक जीवन-क्रान्ति का सन्देश एक छोर से दूसरे छोर तक जन-मानस मे विद्युत्गति से प्रकाशमान होता चला गया। भगवान् महावीर ने इस प्रकार सामाजिक और धार्मिक उभयमुखी क्रान्ति की। महाश्रमण केवल जैनेतर परपराओ मे ही सुधार का शखनाद फूंक कर नही रह गए। अपितु उन्होने पार्श्व-परपरा से समागत जैन श्रमणाचार को भी देशकालानुसार कसा। पार्श्वनाथ परपरा मे वस्त्र, प्रतिक्रमण, एक स्थानीयवास आदि के कुछ नियम अधिक कसे हुए नही थे। अत उक्त नियम धीरे-धीरे शिथिल पडते गए। भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ परपरा को भी कुछ कसकर और कुछ समन्वय कर, अपने सघ मे मिला लिया।

भगवान् महावीर तर्क-प्रधान व्याख्याता थे। उनकी तर्क-पद्धति इतनी प्रभावोत्पादक थी कि मध्यम पावापुरी के महासेनवन वाले प्रथम प्रवचन मे ही इन्द्रभूति गौतम आदि भारतवर्ष के मूर्धन्य चार हजार चार सौ यज्ञ पक्षपाती ब्राह्मण विद्वानो ने, जैन श्रमणत्व की दीक्षा ग्रहण कर ली। उनमे से इन्द्र भूति गौतम आदि ११ विद्वान मुख्य थे, जिनके अधिकार मे सघ का शासन सौंपा गया, फलस्वरूप वे गण-धर के नाम से प्रसिद्ध हुए।

तीर्थ का अर्थ है सरोवर और नदी आदि जलधाराओ का वह घाट, जहाँ सर्व साधारण सकुशल उनमे अवगाहन या उन्हे पार कर सकते हैं। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का धर्मतीर्थ भी ऐसा ही है। उक्त चतुर्विध धर्मसाधना से साधक धर्म रूपी सरोवर मे अवगाहन कर सकता है, या उक्त घाटो से ससार नदी को सकुशल पार कर सकता है। भगवान् चतुर्विध तीर्थ रूप धर्म सघ की स्थापना करने के

गुरुदेव के अनन्य भक्त और अनेक संस्थाओ के संस्थापक

स्वर्गीय सेठ श्री रतनलालजी जैन मित्तल

फलस्वरूप तीर्थकर कहलाए। उन्होने स्त्री-पुरुप, ब्राह्मण-शूद्र, आर्य-अनार्य आदि सभी को बिना किसी भेदभाव के अपने धर्म-तीर्थ मे स्थान दिया और अखिल विश्व-मानव के लिए धर्म साधना का मगल द्वार खोल दिया।

भगवान् महावीर ३० वर्ष गृहवास मे रहे, साढे १२ वर्ष छद्मस्थ और ३० वर्ष तीर्थकर पद से धर्म प्रचार करते रहे। राजगृह और वैशाली उनके दो प्रमुख धर्म प्रचार केन्द्र थे। इसी लिए राजगृह-नालदा मे १४ और वैशाली वाणिज्य मे १२ वर्षावास किए। अन्तत पावापुरी मे हस्तीपाल राजा की रज्जुक सभा मे कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रात काल ७३ वर्ष की आयु मे निर्वाण लाभ कर मुक्त हो गए। निर्वाण के समय नौ मल्ल और नौ लिच्छवी—इस प्रकार १८ गणराजा उपस्थित थे, जिन्होने कल्प-सूत्र के अनुसार द्रव्य उद्द्योत (दीपावली) का प्रारम्भ किया।[1]

गणधर इन्द्रभूति गौतम

भगवान् महावीर के ११ गणधरो मे, इन्द्र भूति गौतम प्रमुख थे। अपने युग के प्रकाण्ड पण्डित और महावादी, भगवान् के चरणो मे दीक्षित हुए, तब उनके पास ५०० छात्र वेदाध्ययन कर रहे थे, जो उनके साथ ही श्रमण बन गए थे। आप मगध की राजधानी राजगृह के पास गौर्बर ग्राम के रहने वाले थे, जो आज नालदा का ही एक भाग माना जाता है। भगवती सूत्र १, १ के अनुसार गौतम घोर तपस्वी, चौदह पूर्व के ज्ञाता, चतुर्ज्ञानी, सर्वाक्षर सन्निपाती तेजस लब्धि के धर्ता और एक राजस्थानी सत की भाषा मे "अँगूठे अमृत बसे, लब्धितणा भडार" थे। उनके वज्र शरीर का रग कसौटी पर कसी हुई स्वर्ण-रेखा के समान चमकदार स्वर्ण-प्रभा वाला था।[2]

अग और उपाग आगम-साहित्य का अधिकाश भाग महावीर और गौतम के सवाद रूप मे है। गौतम प्रश्नकर्ता है और महावीर उत्तरदाता। जो स्थान कृष्ण के समक्ष अर्जुन का है, बुद्ध के समक्ष आनन्द का है, और उपनिषत्कालीन उद्दालक के समक्ष श्वेतकेतु का है, वही स्थान महावीर के समक्ष गौतम का है। गौतम के प्रश्न क्या है, ज्ञान-गगा के मूल उद्गम के उद्घाटक है। गौतम को माध्यम बना कर भगवान् महावीर ने जो विश्व साधको को अप्रमत्त-भाव का सतत जागरण का सदेश दिया है, वह उत्तराध्यन के दशम अध्ययन मे आज भी मुखरित है कि "समय गोयम! मा पमायए।" गौतम! एक क्षण के लिए भी प्रमाद, आलस्य कर्तव्य के प्रति उदासीनता मत कर।

भगवान् महावीर और गौतम की आत्माओ का मिलन इसी जन्म से ही नही, अनेक पूर्व जन्मो से चला आ रहा था। भगवान् के प्रति गौतम का अनन्य अनुराग जैन कथा-साहित्य मे भावुकता का

---

[1] गए से भावुज्जोए दव्वुज्जोयं करिस्सामो

—कल्प-सूत्र, पचम व्याख्यान, १२८ सूत्र

[2] 'कणगपुलगनिघसपम्हगोरे'—भगवती सूत्र १, १, ८

एक बहु चर्चित सरस परिपाक है। उक्त अनुराग की कडी भगवान् के निर्वाण होने पर ही टूटी और उन्हे कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के सूर्योदय मे केवल ज्ञानोदय हुआ। यह प्रतिपदा जैन पर्वो मे गौतम प्रतिपदा के नाम से सुप्रसिद्ध है।

गणधर गौतम समग्र श्रमण सघ के अधिष्ठाता, अतएव सर्वोपरि महान् यशस्वी होते हुए भी इतने विनम्र कि उनकी सत्य-ग्राहिणी विनम्रता के सम्मुख आज भी शत-सहस्र मस्तक श्रद्धा से झुक जाते है। उपासकदशा सूत्र के अनुसार वाणिज्य ग्राम के आनन्द श्रावक को अन्तिम साधना मे अवधि ज्ञान हुआ। यथाप्रसग चर्चा होने पर गौतम ने उनसे कहा कि 'श्रावक को इतना बृहत् अवधि ज्ञान नही हो सकता, तुम मिथ्या कहते हो।' बात उलझ गई, परन्तु भगवान् महावीर के पास जाने पर ज्यो ही उन्हे अपनी भूल मालूम हुई, तो तत्काल वापस लौट कर आनन्द से क्षमा-याचना की। वस्तुत गौतम सत्य की साक्षात् मूर्ति थे। यह तो क्या, अपने वश परम्परागत धार्मिक विश्वास को भगवान् से सत्य दृष्टि मिलते ही, उन्होने उसी क्षण छोड दिया। गौतम मे हम अनाग्रह बुद्धि का चरम उत्कर्ष देखते हैं।

गौतम की प्रतिबोध देने की शक्ति भी विलक्षण थी। पृष्ठचपा के गागील नरेश को प्रतिबोध देने के लिए भगवान् महावीर ने उन्हे भेजा था। अष्टापद पर्वत से उतरते हुए उन्होने पदरह सौ तीन तापसो को सहज ही श्रमण धर्म मे दीक्षित किया। भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी केशी कुमार श्रमण को पाच सौ शिष्यो के साथ महावीर-सघ मे सम्मिलित करने का श्रेय भी गौतम की समन्वयात्मक विचारशैली को ही प्राप्त है। उत्तराध्ययन सूत्र का केशीगौतमीय सवाद उक्त तथ्य का साक्षी है।

भगवान् महावीर के सघ का समग्र शासन भार गौतम के हाथो मे था। परन्तु केवलज्ञान होते ही उन्होने सघ-शासन पचम गणधर सुधर्मा को सौप दिया। पूर्ण वीतराग केवली होने पर, जैन धर्म की मान्यता के अनुसार, सघ-सचालन का दायित्व वहन नही किया जाता। अस्तु, निस्सग भाव से १२ वर्ष तक भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट एव स्वय के द्वारा साक्षादनुभूत सत्य धर्म का प्रचार कर अन्त मे राजगृह नगर के वैभारगिरि पर मुक्त हुए। गौतम ५० वर्ष की आयु मे दीक्षा लेते हैं, ३० वर्ष छद्मस्थ रहते है और १२ वर्ष जीवन-मुक्त केवली।

१. गणधर सुधर्मा स्वामी

सुधर्मा कोल्लाक सनिवेश के निवासी अग्नि वैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपका जन्म विक्रम के ५५१ वर्ष पूर्व हुआ था। आप अपने युग के समर्थ वेदाभ्यासी विद्वान थे। आपके पास ५०० छात्र अध्ययन करते थे। आप भी गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति के साथ पावापुरी मे सोमिल भट्ट के यहाँ यज्ञ मे भाग लेने गए थे और भगवान् महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर गौतम के साथ ही अपने ५०० शिष्यो सहित श्रमण धर्म मे दीक्षित हो गए थे। ग्यारह गणधरो मे आप का स्थान पाँचवा है।

गौतम को केवल ज्ञान होने पर समग्र सघ के सचालन का नायकत्व आप पर ही आया। ग्यारह मे से अग्निभूति आदि ९ गणधर तो भगवान् के सामने ही निर्वाण को प्राप्त हो गए थे। अस्तु, सुधर्मा ने

ही गण का नेतृत्व किया, यही कारण है कि भगवान् महावीर के पश्चात् जो गणधर वशीय स्थविर परपरा प्रारभ होती है, उसमे आपका नाम ही सर्व प्रथम आता है।

आचारांग आदि द्वादशागी आगम साहित्य के आप ही पुरस्कर्ता माने जाते है आगम साहित्य के अभ्यासी स्पष्टत. देख सकते हैं कि भगवान् महावीर से गौतम आदि प्रश्न पूछते हैं और भगवान् उत्तर देते है, और सुधर्मा जैसे पास ही तटस्थ श्रोता के रूप मे सुनते हैं। अपने शिष्य जम्बू स्वामी को आगम वाचना देते हुए, वे बराबर स्थान, व्यक्ति, घटना और प्रश्नोत्तरो का वर्णन करते है और ऐसा करते समय वे जम्बू से स्पष्ट कहते हैं कि "सुयं मे आउसं तेण भगवया एवमक्खाय"—हे आयुष्मन! मैंने भगवान् महावीर को ऐसा कहते सुना है। इस प्रकार सर्वत्र श्रवण का स्वर मुखरित होने से जैनागमो के लिए श्रुत शब्द ही रूढ हो गया।

आगम वाचना मे सुधर्मा ने अपने आप को सर्वथा तटस्थ रखा है। यह नही कि बीच-बीच मे अपने व्यक्तित्व को भी सामने लाएँ। आश्चर्य है, समग्र आगम साहित्य मे अपनी ओर से पूछे गए, एक प्रश्न का भी उल्लेख नही है। इसका यह अर्थ तो नही कि उन्होने भगवान् से कभी कुछ पूछा ही न होगा? सम्भवत पूछने पर भी उन्होने अपने को विनम्र एव निस्सगभाव से अलग ही बनाए रक्खा।

सुधर्मा ने ५० वर्ष की आयु मे दीक्षा ग्रहण की, वीर सवत् १३ मे अर्थात् अपनी आयु के ९३ वें वर्ष मे कैवल्य प्राप्त किया और वीर सवत् २० में सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर राजगृह वैभारगिरि पर मासिक अनशन-पूर्वक मुक्त हुए। दिगम्बर परपरा सुधर्मा स्वामी का निर्वाण विपुलाचल पर होना मानती है।

२. आर्य जम्बू स्वामी

भगवान् महावीर के निर्वाण से १६ वर्ष पूर्व, राजगृह मे, जबू कुमार का जन्म हुआ। जंबू चरित्र के अनुसार मगध नरेश बिम्बसार श्रेणिक के समक्ष स्वय भगवान् महावीर ने जबू कुमार के जन्म लेने की घोषणा की थी।[1] जंबू के पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी था। ऋषभदत्त की गणना, मगध के धनकुबेर श्रेष्ठियो में की जाती थी। जंबू अपने माता पिता के इकलौते पुत्र थे।

कथा-सूत्रो मे वर्णन है कि जंबू का १६ वर्ष की आयु मे आठ कन्याओ के साथ विवाह हुआ। ९९ करोड की सम्पत्ति दहेज मे मिली। परन्तु सुधर्मा स्वामी का उपदेश श्रवण करने के पश्चात् वे इतने वैराग्य रग मे रग गए कि सुहाग रात बिना मनाए ही सुधर्मा के चरणो मे भिक्षु बन गए। अकेले नही, जबू के वैराग्य से प्रभावित हुए स्वय के माता-पिता, आठो पत्नी और उन सबके माता-पिता तथा लूटने के लिए आए हुए दस्युराज प्रभव और उसके ५०० अन्य साथी चोर, इस प्रकार जबू के साथ ५०२७ विरक्त आत्माओ ने भी आर्हती दीक्षा धारण की। कोटि-कोटि द्रव्य जन-कल्याण के पथ

---

[1] गुणपालकृत प्राकृत जंबुचरियं—५, २७५

पर अर्पण कर दिया गया। यह कितना अद्भुत दृश्य रहा होगा। वैराग्य की निर्मल गगा का यह प्रचण्ड प्रवाह साधको के लिए युग-युग तक वैराग्य की प्रेरणा का स्रोत रहा है, और रहेगा। जबू जैन-इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठो पर वैराग्य का वह दैदीप्यमान प्रतीक है, जो आज तक भी महाकाल की छाया से धुंधला नही पडा है। प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश, गुजराती, मारवाडी, पजाबी और हिन्दी आदि मे जबू स्वामी के जीवन-चरित्रो की एक बहुत लबी शृखला है, जो उनके त्याग वैराग्य की गौरव-गाथा के सुनहले तारो को जन-मानस मे से टूटने नही देती है।

वर्तमान मे जो भी आगम-साहित्य उपलब्ध है, उसका अधिकाश भाग सुधर्मा स्वामी के द्वारा जबू को सुनाया हुआ है। जबू एक दिव्य श्रोता प्रतीत होते है। ज्ञानार्जन के प्रति उनकी उत्कट जिज्ञासा का ही यह प्रतिफल है कि हमे भगवान् महावीर की पवित्र वाणी का कुछ अश मिल सका।

जैन परपरा का इतिहास जम्बू स्वामी को वर्तमान अवसर्पिणी काल चक्र का अन्तिम केवली मानता है। इनके बाद न कोई केवल ज्ञानी हुआ और न किसी को मोक्ष प्राप्त हुआ। इतना ही नही, विचार और आचार की सहज निर्मलता के क्षीण हो जाने के कारण उनके पश्चात् निम्नोक्त दस बाते विच्छिन्न हो गई—

मनःपर्यय ज्ञान, परमावधिज्ञान, पुलाक-लब्धि, आहारक शरीर, क्षपक-श्रेणी, उपशमश्रेणी, जिन कल्प, सयमत्रिक (परिहार विशुद्ध चरित्र, सूक्ष्मसपराय चरित्र, यथाख्यात चरित्र) केवलज्ञान और सिद्ध-पद।

जबू स्वामी ने वीर सवत् १ मे, १६ वर्ष की खिलती हुई तरुणाई मे, दीक्षा धारण की। विवाह होने पर भी बाल ब्रह्मचारी रहे। बारह वर्ष तक सुधर्मा स्वामी से गभीर ज्ञानाभ्यास किया, आगम-वाचना ग्रहण की। वीर सवत् १३ मे सुधर्मा स्वामी के केवली होने के बाद आचार्य बने। आठ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। वीर सवत् २० मे केवल ज्ञान पाया और ४४ वर्ष जीवन मुक्त केवली के रूप मे धर्म प्रचार करते रहे। वीर सवत् ६४ मे ८० वर्ष की आयु पूर्ण कर मथुरा नगरी[1] मे निर्वाण प्राप्त किया।

३. आर्य प्रभव स्वामी

आर्य प्रभव विन्ध्याचल की पर्वत शृखला के निकट जयपुर नगर के निवासी थे। वे विन्ध्य-राजा[2] के पुत्र, कात्यायन गोत्रीय क्षत्री थे। पिता से अनबन हो जाने के कारण अपने पाच-सौ युवक

---

[1] प्राकृत 'जबू चरिय' मे बलाहक पर्वत पर निर्वाण बताया है—१६, ७, ८५। बहुश्रुत दिगबर विद्वान् प० राजमल्ल अपने जम्बू चरिय (१२, १२१) मे विपुलाचल पर निर्वाण कहते हैं।

[2] प्राकृत जबू चरिय (७, १७—१८) मे विश्वसेन नाम हैं।

साथियो को साथ मे लेकर राज्य से निकल पडे और वगावत का झडा बुलन्द कर दिया। इधर-उधर लूटमार का वाजार गर्म हो गया। उस युग के सेठ साहूकार, और तो क्या, बड़े बडे राजा महाराजा भी प्रभव के जादूभरे भयकर आक्रमण से आतकित रहते थे। घूमता-घामता प्रभव मगध मे आ पहुँचा। जवू कुमार के घर, उनके विवाह के दिन, डाका डालने आया, परन्तु उनकी प्रशान्त-मुद्रा को देखा और उनके वैराग्य-रस से परिप्लावित प्रवचन को सुना, तो हृदय पलट गया, ससार से उदासीन हो गया। फलस्वरूप अपने पाच-सौ साथियो सहित जवू कुमार के साथ ही सुधर्मा के चरणो मे दीक्षित हो गए, प्रभव दस्युराज से ऋषिराज हो गए। प्रभव अपने युग के प्रकाण्ड तपस्वी, निर्मल-हृदय साधक और सुप्रसिद्ध आगमाभ्यासी ! कितना विलक्षण परिवर्तन ? प्रभव का जीवन ठीक वैदिक ऋषि वाल्मीक से मिलता है। प्रथम चोर, डाकू, हत्यारा और पश्चात् वही महान् योगी, तपस्वी एव आत्मद्रष्टा ज्ञानी ! जबू-स्वामी के मालव नरेश अवन्तीवर्धन जैसे अनेक प्रमुख शिष्य थे, परन्तु उनके पट्टधर का गौरव प्रभव को ही मिला, दूसरो को नही।

दीक्षा के समय प्रभव ३० वर्ष के तेजस्वी तरुण थे। दीक्षा के २० वर्ष पश्चात् ५० वर्ष की आयु मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और १०५ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर सवत् ७५ मे अनशन–समाधि पूर्वक स्वर्गवासी हुए।[1]

४ आर्य शय्यभव

प्रभव स्वामी के पश्चात् आर्य शय्यभव आचार्य पद पर आसीन हुए। आप राजगृह के निवासी वत्सगोत्री ब्राह्मण थे, वैदिक साहित्य के धुरधर विद्वान, यज्ञ कर रहे थे, प्रभव स्वामी के उपदेश से प्रभावित हो कर जैन मुनि बन गए। मेधावी मुनि ने गुरु चरणो मे शीघ्र ही श्रुत-साहित्य का अध्ययन किया और चतुर्दश पूर्वधर श्रुत-केवली हो गए।

आप जब दीक्षित हुए, पत्नी गर्भवती थी, पश्चात् अवतरित हुए मनकपुत्र ने वचपन मे ही चपा नगरी मे आपसे भेट की और मुनि हो गया। अपने ज्ञान मे पुत्र को केवल–छह महीने का अल्पजीवी जानकर आत्म-प्रवाद आदि पूर्व साहित्य से दशवैकालिक आचार-सूत्र का सकलन किया, ताकि मनक अल्पकाल मे ही जैन साध्वाचार से भली-भाति परिचित हो सके। दशवैकालिक का रचनाकाल वीर सवत् ८२ के आसपास है। यह एक प्रमुख आचार ग्रन्थ है, जो आज भी प्रत्येक दीक्षार्थी मुमुक्षु को सर्व प्रथम पढाया जाता है।

शय्यभव स्वामी २८ वर्ष की वय मे दीक्षा लेते है, ३४ वर्ष मुनि जीवन मे बिताते है, २३ वर्ष युग प्रधान आचार्य रहते है। इस प्रकार ८५ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर सवत् ९८ मे स्वर्गस्थ होते है।

---

[1] दिगबर विद्वान् प० राजमल्ल भी, अपने संस्कृत जम्बू चरित्र (१३, १९९) मे प्रभव स्वामी का उल्लेख करते है और उनका स्वर्गवास मथुरा मे बताते है।

५. आर्य यशोभद्र

आर्य यशोभद्र आचार्य शय्यभव के शिष्य थे । यशोभद्र तुगियायन गोत्र के क्रियाकाण्डी ब्राह्मण थे, और प्रकाण्ड वेदाभ्यासी । उनके जीवन के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी उपलब्ध नही होती । तत्कालीन नद राजवश और उसके मत्री वश पर आपका अच्छा प्रभाव था । विदेह, मगध और अग आदि देशो मे आपके द्वारा अहिंसा धर्म की विजय-दुन्दुभि शान के साथ बजती रही । महाप्रभावक आचार्य सभूति विजय और भद्रबाहु स्वामी आपके प्रधान शिष्य थे ।

यशोभद्र जी २२ वर्ष गृहस्थ दशा मे ६४ वर्ष सयमी जीवन मे और इसी मे से ५० वर्ष युग प्रधान आचार्य पद मे रहे । अन्तत ८६ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर स० १४८ मे स्वर्गवासी हुए ।

६. आर्य संभूति विजय

आचार्य यशोभद्र के आचार्य पद पर सभूति विजय जी आसीन हुए । सभूति विजय माठर गोत्रीय प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान थे । इनका शिष्य मडल बहुत बडा था । जैन इतिहास गगन के उज्ज्वल नक्षत्र स्थूलभद्र आपके ही शिष्य थे । कल्प-सूत्र स्थविरावली मे १२ प्रमुख शिष्यो के नाम इस प्रकार हैं—१. नन्दनभद्र, २. उपनन्दनभद्र, ३. तिष्यभद्र, ४ यशोभद्र, ५. स्वप्नभद्र, ६ मणिभद्र, ७. पूर्णभद्र, ८ स्थूलभद्र, ९ ऋजुमति, १०. जम्बू, ११ दीर्घभद्र, १२. पाण्डुभद्र ।

स्थूलभद्र की सात बहनें भी सभूति विजय जी के द्वारा ही श्रमण धर्म मे दीक्षित हुई थी । महामत्री शकटार की पुत्रियाँ और स्थूलभद्र की ये सात बहने इस प्रकार है—१ यक्षा, २ यक्षदत्ता, ३ भूता ४. भूतदत्ता, ५ सेना, ६ वेणा ७. और रेणा ।

सभूति विजय जी ४२ वर्ष गृहस्थ जीवन मे, ४८ वर्ष साधु जीवन मे, ८ वर्ष युग-प्रधान आचार्य पद मे रहे । वीर स० १५६ मे ९० वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए ।

७. आर्य भद्रबाहु

आर्य भद्रबाहु स्वामी जैन सघ के समर्थ ज्योतिर्धर आचार्य थे । आप सभूति विजय के लघु गुरुभ्राता थे । सभूति विजय के पश्चात् आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए । परन्तु कल्पसूत्र के स्थविरावली प्रकरण मे सभूति विजय के पट्ट पर स्थूलभद्र को आचार्य माना है, आपको नही । पट्टावलीकार भी यह कहते है कि यशोभद्र के पश्चात् उनके दोनो शिष्य पट्टधर बने । यदि उन के आचार्य काल पर विचार किया जाए, तो उनका आचार्यत्व सभूति विजय जी के स्वर्गारोहण के पश्चात् ही प्रमाणित होता है ।

भद्रबाहु स्वामी प्राचीन गोत्री ब्राह्मण थे । दर्शन शास्त्र के उद्भट विद्वान और ज्योतिष शास्त्र के भी पारगत मनीषी थे । आपका जन्म प्रतिष्ठानपुर माना जाता है । कौन-सा प्रतिष्ठान ? उत्तर भारत का

प्रयाग (इलाहबाद) के पास का गगातटवर्ती प्रतिष्ठान, जिसको आजकल भूसी कहते है अथवा दक्षिण भारत का आन्ध्र देशीय प्रतिष्ठान ? कथासूत्र दक्षिण प्रतिष्ठान (पैठन) का उल्लेख करते है।

भद्रबाहु, प्रभव से प्रारम्भ होने वाली श्रुत केवली परम्परा मे पचम श्रुत केवली है, चतुर्दश पूर्वधर है। इनके पश्चात् अन्य कोई चतुर्दश पूर्वी नही हुआ, अतः यह अन्तिम श्रुत केवली माने जाते है। भद्रबाहु स्वामी का श्रुतज्ञान अतीव निर्मल और व्यापक था। दशाश्रुत स्कन्ध-चूर्णि मे आपको दशाश्रुत, बृहत् कल्प और व्यवहार सूत्र का निर्माता बताया है। आजकल कल्पसूत्र के नाम से प्रसिद्ध पर्युषण कल्पसूत्र भी आपके द्वारा ही रचित है। मुनि रत्न सूरि अपने अमम चरित्र के मगलाचरण मे भद्रबाहु को समुद्र विजयादि दश पुत्रो के पिता यदुवशी नरेश शौरिकी उपमा देते है और उनको आवश्यक आदि दश निर्युक्तियो का कर्ता मानते है। आचार्य मुनि सुन्दर अपनी गुर्वावली ग्रन्थ मे भद्रबाहु का उपसर्गहर स्तोत्र के रचयिता के रूप मे भी उल्लेख करते है। बृहत्कल्प आदि छेद सूत्रो मे उन्होने उत्सर्ग और अपवाद विधियो का गम्भीर विश्लेषण करके आदर्श और यथार्थ मे योग्य समन्वय प्रस्तुत किया है। आचार सहिता का इतना यथार्थवादी एव व्यवहार मे आने वाला चिन्तन अन्यत्र उपलब्ध नही होता। निर्युक्तियाँ, आगमसाहित्य पर सर्व प्रथम अर्ध मागधी प्राकृत मे पद्यबद्ध टीकाएँ है। निर्युक्तियो मे, आगम के मूल भावो का रहस्योद्घाटन बडी ही विद्वतापूर्ण शैली से किया है। वर्तमान मे उपलब्ध निर्युक्तियो मे कुछ उत्तर-कालीन घटनाओ का भी उल्लेख है, उस पर से सिद्ध होता है कि निर्युक्तियो की रचना भद्रबाहु ने प्रारभ की, और बाद मे वे देशकालानुसार पल्लवित एव परिवर्धित होती गई।

भद्रबाहु केवल सूत्रकार, निर्युक्ति-व्याख्याकार और स्तोत्रकार ही नही थे, वे एक मूर्धन्य कथा साहित्यकार भी थे। उन्होने प्राकृत भाषा मे सपादलक्ष गाथाबद्ध (सवा लाख गाथा मे) वसुदेव चारित्र भी लिखा था। यह ग्रन्थ आजकल नही मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र के गुरुदेव पूर्णतलगच्छीय श्री देवचन्द्र ने अपने प्राकृत "सतिनाह चरिय" मे, उक्त ग्रन्थ का अतिरसिक एव बहुकलाकलित विशेषणो के साथ उल्लेख किया है।

अनुश्रुति है कि भद्रबाहु ने प्राकृत-भाषा मे भद्रबाहु सहिता नामक एक महत्त्वपूर्ण ज्योतिषग्रन्थ भी लिखा था, जिसके आधार पर उत्तरकालीन द्वितीय भद्रबाहु ने सस्कृत मे भद्रबाहु सहिता का निर्माण किया। मूल प्राकृत भद्रबाहु सहिता उपलब्ध नही है।

वराहमिहिर सहिता का निर्माता, वराहमिहिर आपका छोटा भाई था, जो आपके ही साथ दीक्षित भी हुआ था, परन्तु उसको आचार्य पद न देकर जब स्थूलभद्र को आचार्य पद देना निश्चित हुआ, तो वह साधुवेष त्यागकर गृहस्थ वन गया और भद्रबाहु की प्रतिद्वन्द्विता करने लगा। विद्वानो का मत है कि वर्तमान मे उपलब्ध वराहमिहिर सहिता भद्रबाहु के समय की नही है। अत प्रस्तुत वराहमिहिर(विक्रम स० ५४०) से भद्रबाहु का भ्राता वराहमिहिर भिन्न है।

पाटलीपुत्र मे आगमो की प्रथम वाचना आपके द्वारा ही पूर्ण हुई। उक्त वाचना का आचार्य हरिभद्र अपने उपदेश पद प्राकृत ग्रन्थ मे स्मरण करते है कि "उस समय मे १२ वर्ष का भयकर दुष्काल

पडा। साधु सघ समुद्र तट पर (सभवत कलिंग मे) चला गया। दुष्काल के समाप्त होने पर साधु सघ पाटलीपुत्र (पटना) मे एकत्र हुआ और एकादश अगो का व्यवस्थित रूप से सकलन किया।"

विचारक विद्वान् उक्त दुष्काल वीर स० १५५ के आस पास बताते है, क्योकि इसी समय के आस पास नन्द साम्राज्य का उन्मूलन होकर मौर्य चन्द्र गुप्त के नेतृत्व मे मौर्य-साम्राज्य स्थापित हुआ था। जब राज्य परिवर्तन होता है, तो युद्ध के कारण कृषि आदि की व्यवस्था सब अस्त व्यस्त हो जाती है, जिसका परिपाक अतत दुष्काल के रूप मे ही होता है। अस्तु १२ वर्ष के बाद शासन व्यवस्था ठीक ठीक होने पर, दुष्काल की समाप्ति पर, वीर स० १६० के लगभग पाटलीपुत्र मे श्रमण-सघ की यह इतिहास प्रसिद्ध परिषद् हुई। स्थूलभद्र की अध्यक्षता मे उक्त परिषद् ने यथास्मृति ११ अगो का सकलन तो कर लिया, परन्तु १२ वें दृष्टिवाद का पूर्णरूपेण ज्ञाता कोई मुनि नही था, अत उसके सकलन का प्रश्न अटक गया। दृष्टिवाद के पूर्ण ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे, और वे दुष्टकाल पडने पर ध्यान-साधना के लिए नैपाल चले गए थे। वहाँ वे महाप्राण ध्यान की सिद्धि मे सलग्न थे। पाटलीपुत्र मे उपस्थित श्रमण सघ ने उन्हे दृष्टिवाद के सकलनार्थ बुलाने के लिए दो मुनि भेजे। भद्रबाहु के यह कहने पर कि मैं महाप्राण ध्यान की साधना कर रहा हूँ, अत मैं नही आ सकता, तो दोनो मुनि वापस लौट आए। सघ ने पुन दूसरे दो मुनि भेजे और कहलवाया कि सघ की आज्ञा न मानने का क्या दण्ड आता है? भद्रबाहु ने कहा—"जो सघ की आज्ञा नही माने, उसे सघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए। मै उक्त दण्ड का भागी हूँ। परन्तु कृपा करके सघ दृष्टिवाद के अभ्यासार्थ मेधावी मुनियो को यहा भेज दे, तो सघ की आज्ञा का पालन भी हो जाए, और उधर मेरी महाप्राण ध्यान की साधना भी क्रमश प्रगतिशील होती रहे। आगत मुनियो को मै प्रतिदिन सात वाचना देता रहूँगा। एक वाचना गोचर चर्या के पश्चात्, तीन वाचना तीनो काल-वेला मे और शेष तीन सध्या प्रतिक्रमण के पश्चात् रात्रि मे। यदि सघ अभ्यासी मुनियो को न भेजना चाहे, तो मैं स्वय आने के लिए तैयार हूँ।' उक्त विनम्र उत्तर मिलने पर सघ ने स्थूलभद्र आदि ५०० साधुओ को भेजा। अन्य मुनि बीच-बीच मे अध्ययन से श्रान्त होते गए, आखिर मे स्थूलभद्र अकेले रह गए। स्थूलभद्र ने आठ वर्ष मे आठ पूर्वो का अध्ययन कर लिया। अन्त मे उनका भी उत्साह मन्द पडने लगा, तो भद्रबाहु के पूछने पर कहा कि "भगवन्! अभी और कितना अध्ययन शेष है।" भद्रबाहु ने कहा—"वत्स! तू अभी तक एक बिन्दु जितना पढ पाया है, समुद्र जितना अध्ययन शेष है।" महामुनि स्थूलभद्र अब जरा और सजग होकर अध्ययन करने लगे, दो वस्तु न्यून दशवे पूर्व तक पहुँच गए। परन्तु इससे आगे वे भी नही पढ सके। कथा-सूत्र है कि स्थूलभद्र ने १० पूर्व तक तो अर्थ सहित अध्ययन किया, और अग्रिम-चार पूर्व मात्र मूल ही पढ पाए, अर्थ नही। और भी कोई १४ पूर्व का सर्वार्थरूप से अध्ययन नही कर सका। अस्तु भद्रबाहु स्वामी ही अर्थ-सहित चौदह पूर्व के पूर्ण ज्ञाता, अन्तिम श्रुत केवली माने जाते है।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भद्रबाहु स्वामी के अनन्य भक्त थे। डा० हर्मन जेकोबी, डा० राइस, डा० स्मिथ, डा० काशीप्रसाद जायसवाल प्रभृति विद्वान चन्द्रगुप्त को जैन सम्राट मानते है। प्राचीन प्राकृत ग्रथ तिलोयपण्णत्ति मे चन्द्रगुप्त के दीक्षित होने का उल्लेख भी है। सम्राट चन्द्रगुप्त के द्वारा देखे

गए १६ स्वप्नो का फल, भद्रबाहु स्वामी के द्वारा बताया गया था, जिसमे पचमकाल की भविष्य कालीन स्थिति वर्णन है। उक्त अनुश्रुति श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परपरा मे मान्य है।

कल्प सूत्र स्थाविरावली मे भद्रबाहु स्वामी के चार प्रमुख शिष्यो का उल्लेख है—स्थविर गोदास, अग्निदत्त, यज्ञदत्त और सोमदत्त। उक्त शिष्यो मे से गोदास की क्रमश चार शाखाएँ प्रारभ हुई—१ तामलित्तिया, २ कोडी वरिसिया, ३ पडुवद्धणिया, और ४ दासी खव्वडिया। इसका अर्थ यह है कि ये श्रमण ताम्रलिप्ति (बगाल का तामलुक प्रदेश), कोटि वर्ष, और पौण्ड्र वर्धन प्रदेश[1] (पहाडपुर) मे अधिक विचरण करते रहे। पहाडपुर से प्राप्त ताम्रपत्र भी वहाँ जैन धर्म के प्रचार को प्रमाणित करता है। दासी खब्बडिया, एक विचित्र शब्द है, इसका मूलार्थ अभी विद्वानो की विचार दृष्टि मे नही आ पाया है।

आचार्य भद्रबाहु की पूर्वगत पट्ट-परपरा के सम्बन्ध मे, श्वेताम्बर दिगम्बर मान्यताएँ परस्पर अन्तर रखती है। श्वेताम्बर जम्बू स्वामी के पट्ट पर प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र, सभूति विजय के पश्चात् भद्रबाहु को मानते है। जब कि दिगम्बर परपरा जबू स्वामी के पश्चात् विष्णु, नन्दी मित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु को स्वीकार करती है। काल-क्रम मे भी अन्तर है। श्वेताम्बर भद्रबाहु का वीर सवत् १७० मे स्वर्गगमन मानते है, जब कि दिगम्बर वीर स० १६२ मे। दोनो की कालगणना मे ८ वर्ष का अन्तर है। कुछ विद्वान उपर्युक्त पट्ट परपरा के अन्तर को महत्त्वपूर्ण मान कर यह कल्पना करते है कि दिगबर श्वेताम्बर मतभेद का मूल जबू स्वामी के काल से ही पड गया था जो आगे चल कर भद्र-बाहु के युग मे पल्लवित हुआ। परन्तु अपने विचार मे यह केवल शिष्य परपरा का शाखाभेद ही मालूम होता है। यदि यह कोई वास्तविक भेद जैसी बात होती तो चार-चार आचार्यो के काल मे बद्धमूल हुआ भेद भद्रबाहु के युग मे कैसे एकाएक समाप्त होता और कैसे दोनो ही परपराएँ आचार्य भद्रबाहु को पचम श्रुत केवली के रूप मे एक स्वर से स्वीकार करती।

दुष्काल के समय भद्रबाहु साधु सघ के साथ दक्षिण मे गए और वही अनशन पूर्वक स्वर्गस्थ हुए। भद्रबाहु के साथ जाने वाला मुनि सघ शुद्धाचारी रहा और वही दिगबर परपरा का मूल-स्रोत है। स्थूलभद्र मुनिसघ के साथ इधर पूर्व भारत मे ही रह गए और दुष्काल के कारण वे शिथिलाचारी हो गए। श्वेताम्बर परपरा का मूल इसी दूसरे पक्ष मे है। कुछ विद्वान उक्त चर्चा पर काफी ऊहा—पोह करते है, घूम फिर कर यही दिगम्बर श्वेताम्बर के मतभेद-सबन्धी बीज तलाश करते है, परन्तु यदि उक्त चर्चा की गहराई मे उतरा जाए तो कुछ उल्लेखनीय सार नही मिलता। श्वेताम्बर हिमवन्त स्थ-विरावली मे भद्रबाहु का स्वर्गवास कलिग (उडीसा) मे कुमारगिरि पर बताया है। दिगम्बर जैनाचार्य

---

[1] पौण्ड्र देश का एक अनार्य देश के रूप मे उल्लेख महाभारत मे आता है। बगाल मे, बोगरा जिले के ई० बी० आर० जमालगज स्टेशन से ३ मील दूर पहाडपुर गाँव है। इतिहासकार इसी को पौण्ड्र प्रदेश कहते हैं।

हरिषेण सूरी (विक्रम स० ६८६) अपने बृहत्कथाकोष[1] मे भद्रबाहु का स्वर्गवास, उज्जयिनी के पार्श्ववर्ती प्रदेश मे बताते है, दक्षिण मे नही। दिगम्बर ब्रह्मचारी नेमिदत्त जी भी उज्जायनी मे वटवृक्ष के नीचे भद्रबाहु के स्वर्गवासी होने का उल्लेख करते है।[2] श्रुत केवली भद्रबाहु का स्वर्गवास श्वेताम्बर वीर स० १७० मानते है, और दिगम्बर १६२ मे, जब कि दिगबर आचार्य देवसेन वीर स० ६०६ मे दिगबर श्वेताम्बर मतभेद का होना बताते है, और श्वेताम्बर वीर स० ६०६ मे। श्वेताम्बर दिगबर मतभेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे केवल तीन वर्ष का ही अन्तर है, दोनो की मान्यताओ मे उक्त सदर्भ से स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम भद्रबाहु दक्षिण मे नही गए, और न उनके युग मे कोई उल्लेखनीय श्वेताम्बर दिगबर मतभेद उत्पन्न हुआ। अस्तु श्रवण बेलगोला (चन्द्रगिरि) का भद्रबाहु सम्बन्धी शिलालेख, जो उनके दक्षिण आने की चर्चा करता है, प्रथम भद्रबाहु का न होकर द्वितीय भद्रबाहु का होना चाहिए। जैन सिद्धान्त भास्कर, किरण १ पृ० २५ मे भी दक्षिणापथ के यात्री भद्रबाहु को द्वितीय भद्रबाहु ही माना है, प्रथम नही। द्वितीय भद्रबाहु के पश्चात् ही श्वेताम्बर दिगबर मतभेद होने की मान्यता अधिक तर्क-सगत है।

भद्रबाहु स्वामी ने अपने जीवन के ४५ वे वर्ष मे आर्हती दीक्षा ग्रहण की। ६२ वे वर्ष मे युग प्रधान आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। भगवान् महावीर के १७० वर्ष के पश्चात् ७६ वर्ष के आयु मे स्वर्गवासी हुए।

भद्रबाहु जैन परपरा के क्षितिज पर सर्वत्र प्रकाशमान सूर्य हैं। क्या श्वेताम्बर और क्या दिग-बर, उत्तरकालीन सभी आचार्य उनके श्री चरणो मे अखड भाव भक्ति के साथ श्रद्धा सुमन अर्पित करते आए है। महाकाल की कालिमा मे कभी न धूमिल होने वाली अद्भुत ज्ञान प्रभा, तत्कालीन दर्शनो का तलस्पर्शी परिशीलन, अनेकविध देश विदेश का मौलिक परिज्ञान, इतिहास का यथार्थवादी स्पष्ट दृष्टि-कोण, जिन वाणी के प्रति अक्षुण्ण निष्ठा, आगम साहित्य के गूढार्थो की सरल एव गभीर व्याख्या-पद्धति, अनेकान्तवाद का तर्क प्रधान आगमलक्षी अनुचिन्तन, आचार-सहिता के उत्सर्ग और अपवाद मार्गो का युक्ति सगत विश्लेषण—उनका सब कुछ ऐसा निर्मल, उज्जवल और समुज्ज्वल है कि प्रतिभामूर्ति भद्र-बाहु के चरणारविन्द मे हम सब का चित्त चचरीक आज भी कोटि-कोटि वन्दना के साथ सहसा श्रद्धा-वनत हो जाता है। आगम साहित्य के मर्मज्ञ व्याख्याता आचार्य मलयगिरि के शब्दो मे, समग्र जैन जगत् युगयुग तक उन्हे श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता रहेगा।

श्रीकल्पसूत्रममृत विबुधोपयोग-
योग्य जरामरणदारुण-दुःखहारि।
येनोद्धृत मतिमता मथितात् श्रुताब्धे.
श्रीभद्रबाहु-गुरवे प्रणतोऽस्मि तस्मै॥

—पिण्डनिर्युक्ति टीका

[1] कथा १३१, श्लो० ४३-४४

[2] आराधना कथा-कोष, कथा ६१, श्लो० २६-२७

कोशा का सगीत-कला की चिर-साधना से मँजा-निखरा गान और नृत्य, ऐसा कि एक बार तो जड पत्थर भी द्रवित हो जाए—ठुनक जाए ! परन्तु स्थूल भद्र पद्मासन लगाए ध्यान मुद्रा मे अन्तर्लीन ! तन, मन दोनो ही अचल, अकम्प ! आत्मदर्शन के अतिरिक्त "सर्वं शून्य-शून्य क्षणिक-क्षणिकम् ।" स्वरूप चिन्तन की अन्तर्वीणा के हजार-हजार, लाख-लाख, कोटि-कोटि तार भकृत हैं । अन्तर मे चल रहे सगीत के महास्वर मे आखिरकार बाहर के सगीत का क्षीण-कण्ठ डूब गया, निर्माल्य हो गया । कोशा आत्म-प्रतिबोध की आध्यात्मिक जागरण की भूमिका मे, स्थूलभद्र के आदेश का जादू काम कर गया । कोशा जैसी वेश्या भी भगवान महावीर के चतुर्विध सघ मे, एक श्राविका के रूप मे सम्मिलित हो गई ।

वर्षावास की मर्यादा पूर्ण होने पर मुनि लौट आए । गुरु ने प्रथम तीनो का "दुष्करकारक" तपस्वी के रूप मे स्वागत किया । परन्तु जब स्थूलभद्र लौटे, तो गुरुदेव खडे हो गए । आठ सात कदम सम्मुख गए, हर्ष गद्गद वाचा मे "दुष्कर-दुष्कर कारक" तपस्वी कहकर उनका भावभीना स्वागत किया । सिंह गुफावासी मुनि क्षुब्ध ! गुरुदेव ने समझाया, ब्रह्मचर्य की दुष्करता का सजीव चित्र खीचकर प्रतिबोध दिया । परन्तु आवेश, आवेश है । यह कभी कभी निरकुश पागल हाथी हो जाता है । दूसरे वर्ष चातुर्मास करने के लिए सिंह गुफावासी, कोशा-सिहनी की गुफा मे । परीक्षा के लिए प्रयुक्त नृत्य गान की एक ही चोट से घायल, व्रत भग के लिए प्रस्तुत । कोशा ने धर्म रक्षा के लिए मार्ग बदला । नैपाल नरेश के यहा से रत्न कम्बल की माग । भान भूला हुआ साधु चातुर्मास मे नैपाल पहुँचता है । रत्न कम्बल लाता है । मार्ग मे चोरो द्वारा पकडा जाता है—पिटता है, बडी कठिनाई से छुटकारा पाकर पाटली पुत्र वापस लौटता है । कोशा को रत्न कम्बल देता है, परन्तु कोशा रत्न कम्बल लेकर गन्दे पानी की नाली मे फैक देती है । "यह क्या" ? साधु क्रोध की भाषा मे गर्जता है—"कठोर परिश्रम से प्राप्त बहुमूल्य रत्न कम्बल को कही यो नाली मे फैका जाता है ?" कोशा का एक ही छोटा सा उत्तर है—"क्या आपके सयम रूपी अनमोल चिन्तामणि रत्न से भी यह कपडे का चिथडा रत्न कम्बल अधिक मूल्यवान है ? कामवासना की क्षणिक तृप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का भग, क्या यह अनमोल ब्रह्मचर्य रत्न को गन्दी नाली मे डालना नही है ?" कोशा का यह उपक्रम और उपसहार का काम कर गया । सिंह गुफावासी सिंह से शृगाल बनते-बनते रह गए । गुरुचरणो मे पहुँचकर आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण और फिर वही कठोर साधना, तप एव त्याग !

स्थूलभद्र के जीवन-प्रासाद का यह कक्ष बहुत ही सुन्दर है, मनोहारी है । ससार-वासना ज्यो ही किसी साधक के हृदय को गुदगुदाए, त्यो ही यदि जागृत साधक काम विजेता स्थूलभद्र को स्मरण कर लेता है, तो अवश्य ही वह काम-विजेता हो सकता है । प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश और अन्य राष्ट्र-भाषाओ मे स्थूलभद्र का जीवन वृत्त शत-शत धाराओ से प्रवहमान होता आया है, महोपाध्याय धर्मसागर गणी द्वारा उद्धृत शब्दावली मे, हम भी, श्री स्थूलभद्र के चरणकमलो मे नतमस्तक होते है—

श्रीनेमितोऽपि शकटालसुत विचार्य,
मन्यामहे वयमम् भटमेकमेव ।

पूर्व इतिवृत्त

देवोऽद्रिदुर्गमविरुह्य जिघाय मोह,
यन्मोहनालयमयं तु वशी प्रविश्य ॥

स्थूलभद्र एक ऊँचे साधक ही नही, बहुत बडे प्रभावशाली ज्ञानी भी थे । पाटलिपुत्र की प्रथम आगम-वाचना मे आचाराग आदि ११ अगो का सकलन इनकी ही अध्यक्षता मे हुआ था । दृष्टिवाद के अध्ययन मे भी यही अग्रगामी थे । नैपाल मे जाकर भद्रबाहुस्वामी से इन्होने महासमुद्र के समान सुविस्तृत विराट १० पूर्वो का सार्थ अध्ययन किया था और सूत्र रूप मे तो चौदह ही पूर्व अधिगत कर लिए थे ।

स्थूलभद्र योग-विद्या के भी आचार्य थे । अनुश्रुति है कि एक बार यक्षा आदि उनकी सात बहने, जो साध्वी हो चुकी थी, दर्शनार्थ जीर्णोद्यान मे पहुँची । स्थूलभद्र ने चमत्कार दिखाया, विकराल सिंह का रूप धारण करके बैठ गए । बहने डर कर लौट गई । पता लगने पर भद्रबाहुस्वामी ने आगे का अध्ययन यह सूचना देते हुए बद कर दिया कि—"वत्स ! अभी तक तुम बहुत ही नगण्य अध्ययन कर पाए हो । यदि तुम इसी को अपने अदर पचा नही सके, सिंह विद्या का चमत्कार दिखाने लगे, तो अग्रिम ज्ञान-राशि को कैसे पचा पाओगे ।" कथासूत्र का उल्लेख है कि स्थूलभद्र का अध्ययन बौद्धिक दुर्बलता के कारण नही, किन्तु इस कारण से अवरुद्ध हो गया, और वह अग्रिम चार पूर्व सार्थ अध्ययन नही कर पाए । स्थूलभद्र के पश्चात् पूर्वों का ज्ञान उत्तरोत्तर विलुप्त होता चला गया । उन जैसा मेधावी बहुश्रुत, भविष्य मे और कोई नही हुआ ।

स्थूलभद्र के युग मे, उनकी यक्षा आदि बहनो के द्वारा, चूलिका सूत्रो के रूप मे आगम साहित्य की श्री वृद्धि हुई । चार चूलिकाओ मे से भावना और विमुक्ति आचाराग सूत्र के तथा रति-वाक्या और विविक्त-चर्या दशवैकालिक सूत्र के परिशिष्ट-रूप मे जोड दी गई, जो आज भी साधना-जीवन मे प्रकाश किरणें विकीर्ण कर रही है ।

स्थूलभद्र ने श्रावस्ती के धनदेव श्रेष्ठी को जैन धर्म मे दीक्षित किया । आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती आप के प्रधान श्रमण-शिष्य थे । स्थूलभद्र दीर्घायु थे । आपके युग मे मगध मे राज्य-क्रान्ति हुई, नन्द साम्राज्य का उच्छेद और मौर्य साम्राज्य की स्थापना । मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक और कुणाल भी आपके समक्ष थे । कौटिल्य अर्थशास्त्र का निर्माता महामत्री चाणक्य भी आपके दर्शन लाभ से गौरान्वित हुआ है । परिशिष्ट पर्व, मरणसमाधि और सथारपइन्ना आदि मे चाणक्य के दीक्षित होने का, और अन्तिम समय मे बिन्दुसार के असन्तुष्ट सुबन्धु मत्री द्वारा ईर्ष्यावश जलाए जाने पर भी समाधि पूर्वक मरकर देवलोक मे जाने का उल्लेख है । वीर स० २१४ मे होने वाला आषाढ भूति शिष्य तीसरे अव्यक्तवादी निन्हव भी स्थूलभद्र के समय मे हुए ।

वीर सवत् ११६ मे स्थूलभद्र का जन्म, १४६ मे ३० वर्ष की आयु मे दीक्षा, १६० के लगभग पाटलीपुत्र मे प्रथम आगम वाचना, १६८ के लगभग चूलिकाओ की आगमत्वेन प्रतिष्ठा, १७० मे आचार्य पद और वीर स०२१५ मे वैभारगिरि पर्वत पर १५ दिन का अनशन करके स्वर्गारोहण हुआ ।

६-१०. आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती

आर्य महागिरि और सुहस्ती अपने युग के परम प्रभावक युग-पुरुष थे। आर्य स्थूलभद्रजी के शिष्य रत्न और पट्टधर। बाल्यकाल मे स्थूलभद्र जी की बहन यक्षा साध्वी द्वारा मूलत प्रतिबुद्ध हुए थे। दोनो की आयु मे लगभग ४५ वर्ष जितना अन्तर पडता है। दोनो ही आचार्य सर्वश्रेष्ठ, मेधावी, बहुश्रुत, त्यागी और सयमी थे। अत्यन्त निष्ठा के साथ ११ अग और १० पूर्व तक का कण्ठस्थ अध्ययन दोनो ही आचार्यों ने किया था।

आर्य महागिरि साधनापथ के उग्र यात्री थे। आपने जम्बू स्वामी के युग से विच्छिन्न जिनकल्प जैसी कठोर साधना अपनाई और आर्य सुहस्ती को सघ का नेतृत्व सौपकर एकान्त वनवासी बन गए। आर्य सुहस्ती स्थविरकल्पी रहे और विशेषत नगर एव ग्राम वसतियो मे ही उनका निवास रहा।

एक बार दोनो आचार्य कौशाम्बी मे गए और वहाँ दुष्काल से पीडित एक द्रमक (भिखारी) को दीक्षा दी। कथाकार कहते है कि यही द्रमक कुणालपुत्र सप्रति हुआ। अवन्ती (उज्जयिनी) नगरी मे आर्य सुहस्ती को देखकर युवराज सप्रति को जातिस्मरण हुआ और उनका उपदेश श्रवण कर जैनधर्मावलम्वी बना। सम्प्रति बडा ही दयालु और भद्र प्रकृति का नरेश था। दरिद्र जनता के हितार्थ ७०० दानशालाएँ खोली और मुक्त मन से दीन दुखी निराधार लोगो के लिए राज-कोष अर्पण कर दिया। सम्प्रति, जैन धर्म का द्वितीय अशोक है। वृहत्कल्प सूत्र के भाष्य मे लिखा है कि सम्प्रति ने साधुवेश मे अपने समर्थ अधिकारी पुरूषो को भेजकर आन्ध्र आदि सुदूर प्रदेशो मे जैन धर्म का प्रचार किया।[1]

आर्य महागिरि और सुहस्ती की शिष्य-परम्परा बहुत विशाल थी। आर्य महागिरि के शिष्य-समूह से कौशाम्बी, चन्द्र नागरी आदि अनेक शाखाएँ प्रचलित हुईं। आर्य महागिरि के शिष्य कौशिक गोत्रीय रोहगुप्त ने त्रैराशिक निन्हवमत का प्रचलन किया। रोहगुप्त साक्षात् शिष्य नही, किन्तु परम्परा-शिष्य प्रतिभासित होता है, क्योकि उसका काल वीर सवत् ५४४ निर्दिष्ट है।

समयसुन्दरगणी कल्प-सूत्र की कल्प लता-टीका मे इसी को कल्पसूत्र वर्णित षडलूक और कौशिक विशेपणो के कारण वैशेपिक मत का प्रवर्तक भी कहते है।

आर्य महागिरि का वीर स० १४५ मे जन्म, १७५ मे दीक्षा, २१५ मे आचार्य पद और २४५ मे १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर दशार्ण (मालव-मन्दसौर प्रदेश) देश के गजेन्द्रपदतीर्थ मे स्वर्ग गमन हुआ।

आर्य सुहस्ती के भी आर्य रोहण, यशोभद्र, मेघ, कामर्धि, सुस्थित और सुप्रतिबद्ध आदि अनेक शिष्य थे, जिनसे उदिज्जिया, भद्दज्जिया, काकदिया, विज्जाहरी, वभदीविया आदि अनेक गण और कुलो

---

[1] वृहत्कल्पभाष्य १, ५० गा० ३२७५ से ३२८६

का प्रारम्भ हुआ। आर्य रोहण के उद्देह गण और नागभूत कुल का एक शिलालेख, कनिष्क स० ७ का प्राप्त हुआ है, जो उक्त गण एव कुलो की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालता है।

आर्य सुहस्ती से गणवश, वाचकवश और युग-प्रधानवश—तीन श्रमण-परपराएँ प्रचलित हुई। गणधर-वश गच्छाचार्यपरपरा है, वाचकवश विद्यागुरुपरपरा है और युगप्रधान विभिन्न गण एव कुलो के प्रभावशाली आचार्यो की क्रमागत परपरा है।

आर्य सुहस्ती का वीर स० १६१ मे जन्म, २१५ मे दीक्षा, २४५ मे युग-प्रधान आचार्यपद और २६१ मे १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर उज्जयिनी मे स्वर्गवास हुआ।

११-१२ आर्य सुस्थित और आर्य सुप्रतिबद्ध

आर्य सुहस्ती के उपर्युक्त दोनो ही शिष्य युग प्रभावक आचार्य थे। कल्प-सूत्र स्थविरावली मे दोनो का साथ-साथ उल्लेख है और दोनो के ही एक पट्टधर इन्द्र दिन्न शिष्य का होना बताया है। दोनो के लिए कोटिक-काकन्दक विशेषण है। दोनो काकन्दी नगरी के रहने वाले, राजकुल मे उत्पन्न हुए व्याघ्रापत्य गोत्रीय सगे भाई थे। दोनो आचार्यो ने भुवनेश्वर (उडीसा) के निकट कुमारगिरि पर्वत पर कठोर तपश्चरण किया। आर्य सुस्थित गच्छनायक थे, तो आर्य सुप्रतिबद्ध वाचनाचार्य। हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार इनके युग मे भी कुमारगिरि पर्वत पर एक लघु श्रमण-सम्मेलन हुआ था और द्वितीय आगम वाचना का सूत्रपात। कलिंग (उडीसा) मे उस समय वैशाली गणतन्त्र के अधिनायक राजा चेटक के सुपुत्र शोभनराज का, जो पिता की मृत्यु के बाद कलिग चले आए थे, राजवश का शासन चल रहा था। हिमवन्त स्थविरावली के मतानुसार, इसी वश मे आगे चलकर यवन विजेता महामेघवाहन खारवेल हुए, जो सम्राट भिक्षुराज के नाम से सुप्रसिद्ध थे, शुद्ध जैन धर्मावलबी और प्रजापालक नरेश। इन्होने कुमारगिरि (भुवनेश्वर निकटवर्ती उदयगिरि) पर अनेक जैन गुफाओ का निर्माण कराया। हाथी गुफा मे ब्राह्मीलिपि मे अकित मागधी भाषा का शिलालेख, आज भी खारवेल की दिग्दिगन्तव्यापिनी कीर्ति-गाथा का उद्घोष कर रहा है। उदयगिरि की गुफाओ का वातावरण बडा ही शान्त, भव्य और अलौकिक है। सन् १९६२ मे, इन पक्तियो का लेखक कुछ समय गुफाओ मे रहा है, ध्यान साधना की है। अद्भुत शान्ति निश्चल एकाग्रता और चिज्ज्योति की विलक्षण अनुभूति। आज भी वह सब स्मृति को गुदगुदा जाता है।

आचार्य सुस्थित ३१ वर्ष गृहस्थ दशा मे, १७ वर्ष सामान्य व्रत-पर्याय मे और ४८ वर्ष आचार्य पद मे रहकर ९६ वर्ष का सर्वायु पूर्ण कर वीर स० ३३९ मे कुमारगिरि पर्वत पर स्वर्गवासी हुए।

१३. आर्य इन्द्र दिन्न

आचार्य इन्द्रदिन्न का सस्कृत रूपान्तर इन्द्रदत्त होता है। आप कौशिक गोत्री ब्राह्मण थे। आपका विशेष परिचय उपलब्ध नही है। आपके गुरुभ्राता आर्य प्रियग्रन्थ महाप्रभावक मुनि हुए है, चित्तौड के

पास माध्यमिका, जो कालान्तर में हर्षपुर के रूप में परिवर्तित हो गई अपने युग की सुप्रसिद्ध नगरी है। आर्य प्रिय ग्रन्थ ने हर्षपुर में होने वाले अजमेध का निवारण किया और ब्राह्मण विद्वानों को अहिंसा धर्म की शिक्षा दी।

१४ आर्य दिन्न (दत्त)

आचार्य इन्द्रदत्त सूरी के पट्ट पर गौतम गोत्री आर्य दिन्न आसीन हुए। आपके सम्बन्ध में भी विशिष्ट जानकारी नहीं मिलती है। आपके शिष्य-मंडल में दो प्रमुख मुनिराज हैं—आर्य शान्तिश्रेणिक और आर्य सिंहगिरि।

आर्य शान्तिश्रेणिक के शिष्य समूह से उच्चा नागर सेणिया तापसी आदि शाखाओं का विकास हुआ। उच्चानागर[1] शाखा में ही तत्त्वार्थ सूत्र के प्रणेता आचार्य उमास्वाति हुए हैं, जो जैन साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम दर्शन-शैली के सूत्रकार माने जाते हैं। आर्य दिन्नसूरी ने दक्षिण में कर्नाटक पर्यन्त सुदूर प्रदेशों में विहार करके धर्म प्रचार किया था। आपके ही युग में थोड़े बहुत आगे-पीछे आर्यकालक आर्य खपुटाचार्य इन्द्रदेव श्रमणसिंह वृद्धवादी और सिद्धसेन प्रभृति और महान् आचार्यों का होना माना जाता है।

आर्य कालक के नाम से चार आचार्य प्रसिद्ध हैं। श्यामाचार्य प्रथम कालक हैं, जिन्होंने प्रज्ञापना सूत्र की रचना की। आप द्रव्यानुयोग के प्रकाण्ड ज्ञाता एवं व्याख्याता थे। अनुश्रुति है कि सौधर्मेन्द्र ने महाविदेह क्षेत्र में सीमन्धर स्वामी से निगोद का वर्णन सुना और जब उनके कथनानुसार भरत क्षेत्र में कालकाचार्य के पास आए तो उनसे भी ठीक वैसा ही वर्णन सुनने को मिला। प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार प्रथम कालकाचार्य युग प्रधान गुणाकर (आचार्य मेघगणी) सूरि के शिष्य थे। आपका वीर सं० २८० में जन्म, ३०० में दीक्षा, ३३५ में युग प्रधान पद और ३७६ में स्वर्ग गमन हुआ।

द्वितीय कालकाचार्य आर्य दिन्न सूरी के आस-पास हुए हैं। जन्म स्थान धारा नगर राजावीरसिंह पिता, सुरसुन्दरी माता और सरस्वती छोटी बहन। भाई, बहन दोनों ने आर्हती दीक्षा धारण की। यह वही कालकाचार्य हैं, जो उज्जयिनी के गर्दभिल्ल राजा द्वारा सरस्वती का अपहरण करने पर, उसके साम्राज्य का शकों द्वारा उच्छेद कराने वाले माने जाते हैं। ये सिन्धु नदी को पार करके फारस (ईरान) देश में भी गए थे। सुवर्णभूमि अर्थात् बर्मा या सुमात्रा जाने का भी उल्लेख है। इन्हीं के भानजे राजा बलमित्र और भानुमित्र हैं जिन्होंने शकों को पराजित करके भारतीय स्वतंत्रता की पताका को पुनः दोधूयमान किया। कुछ इतिहासकार बलमित्र भानुमित्र, को ही प्रसिद्ध विक्रम संवत् के प्रवर्तक राजा विक्रमादित्य मानते हैं।

यह द्वितीय कालकाचार्य ही राजा बलमित्र की बहन भानुश्री के पुत्र बलभानु को दीक्षा देने के कारण उज्जयिनी के चातुर्मास में विहार कर दक्षिण आन्ध्र में प्रतिष्ठानपुर गए, जहाँ के राजा

---

[1] उत्तर प्रदेश में बुलन्दशहर का मुगल काल से पहले ऊँचा नगर नाम था। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि यह ऊँचा नगर ही उच्चानागर शाखा से सम्बन्धित है।

सातवाहन जैनधर्मावलम्बी थे। यहाँ पहुँचकर आर्य कालक ने भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को पर्युपण पर्व की अराधना की। इनका समय वीर स० ४५४ माना जाता है।

१५ आर्य सिहगिरि

आचार्य सिहगिरि के जीवन के सम्बन्ध मे विशिष्ट सामग्री प्राप्त नही है। कल्प-सूत्र स्थविरावली मे इन्हे जातिस्मरण कहा है, अर्थात् इन्हे अपने पूर्व जन्म का स्मरण था। आप कौशिक गोत्री ब्राह्मण थे। आपके चार प्रमुख शिष्य हुए है—आर्य समित, आर्य धनगिरि, आर्य वज्र स्वामी और आर्य अर्हद्दत्त।

आर्य समित (वीर स० ५८४) का जन्म स्थान अवन्ती देश (मालव) का तुम्बवन ग्राम है। पिता का नाम धनपाल है, जाति से वैश्य है। आपकी बहन सुनन्दा का विवाह तुम्बवन मे ही धनगिरि से हुआ था। आर्य समित बडे ही तपस्वी एव योगनिष्ठ साधक थे। आभीर देश के अचलपुर ग्राम मे, इन्होने कृष्णा और पूर्णा नदियो को योगबल से पार कर ब्रह्मद्वीपीय पाच सौ तापसो को चमत्कृत किया और उन्हे अपना शिष्य बनाया। दर्शनविजय जी के मतानुसार यह घटना उत्तर प्रदेश मेरठ जिले मे वर्तमान कृष्णा और हिण्डौन नदियो क बीच बरनावा के टापू मे घटित हुई थी।

१६ आर्य वज्रस्वामी

गौतमगोत्री आर्य वज्र, आर्य समित के भानजे होते है। पूर्व कथानानुसार आर्य समित की बहन सुनन्दा का धनगिरि से विवाह हुआ था। सुनन्दा गर्भवती थी कि धनगिरि अपने साले समित के साथ आर्य सिह गिरि के पास दीक्षित हो गए। पश्चात् सुनन्दा ने अत्यन्त तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, यही वज्र है। वज्र छह महीने के ही थे कि एक बार धनगिरि भिक्षार्थ सुनन्दा के यहाँ पहुँचे। ज्यो ही भिक्षा के लिए पात्र आगे रक्खा कि सुनन्दा ने आवेश मे बालक को पात्र मे डाल दिया और कहा कि "आप गए तो इसे यहाँ क्यो छोड दिया? इसको भी ले जाएँ।" धनगिरि ने समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह न समझी। आखिर वज्र को पात्र मे लिए गुरुदेव सिहगिरि के पास पहुँचे। वज्र का श्रावको के यहा पालन पोषण होने लगा। कुछ वयस्क होने पर श्राविकाएँ उपाश्रय मे जाती, तो साथ ले जाती। होनहार बालक ध्यानपूर्वक शास्त्र-श्रवण करता और उसके हृदय मे वैराग्य की रस-धारा बह जाती। आपको जातिस्मरण ज्ञान भी हो गया था। दीक्षा योग्य होने पर आर्य सिंहगिरि ने वज्र को मुनि दीक्षा दे दी। आचार्य शिष्यो को आगम वाचना देते, तो वह पास बैठा सुनता। अपूर्व मेधा शक्ति थी कि श्रवण मात्र से उसे सब आगम कण्ठस्थ होते चले गए। आर्य सिंहगिरि ने वज्र को वाचनाचार्य बना दिया। आर्य वज्र ने दशपुर (मन्दसौर) मे आचार्य भद्रगुप्त के पास दशपूर्व का अध्ययन किया। वज्र स्वामी अन्तिम दशपूर्वधर थे। उनके पश्चात्, अन्य कोई दशपूर्वी नही हुआ। कहा जाता है—आपके बाद अर्ध वज्रऋषभ नाराचसहनन का भी विच्छेद हो गया। आपके नाम पर वज्र शाखा प्रारभ हुई।

अवन्ती मे जृभक देवो ने आहार शुद्धि के लिए परीक्षा ली, वज्र खरे उतरे। पाटलीपुत्र के धनकुबेर धनदेव की पुत्री रुक्मिणी को, जो आपके अद्भुत रूप सौन्दर्य पर मुग्ध हो गई थी, आपने उप-

देश देकर साध्वी बनाया। धनदेव श्रेष्ठी करोडो की सम्पत्ति, अनुपम रूपवती पुत्री के विवाह के साथ देना चाहता था, परन्तु स्वरूप साधना के अनन्त पथ का यात्री इन मोहक प्रलोभनो मे कब और कहाँ रुका है ? आप आकाश-गामिनी विद्या के भी ज्ञाता थे। एक बार उत्तर भारत मे भयकर दुर्भिक्ष पडा, तो आप श्रमण-सघ को विद्या के बल पर कलिंग प्रदेश मे ले गए थे। जैन अनुश्रुतियो मे आपके चमत्कारो की अनेक गाथाएँ प्रचलित है।

वज्र स्वामी की शाखा मे वज्र नाम के अनेक आचार्य हुए है। प्राय सबके सब प्रभावशाली, दार्शनिक, भविष्यद्रष्टा और युग-पुरुष। चीनी यात्री हुएनत्साग (६४६ ई०) को भी, जब वह नालन्दा मे वापस चीन लौटने की चिन्ता मे थे, असहाय थे, तत्कालीन जैनाचार्य वज्रस्वामी ने चमत्कृत कर दिया था। उन्होने बताया था कि असम के राजा कुमार और कान्यकुब्ज नरेश श्रीहर्ष आपकी सहायता करेंगे। कुमार का दूत तुम्हे बुलाने के लिए वहाँ से चल भी पडा हे। वज्र स्वामी की सभी भविष्य वाणिया शत प्रतिशत प्रमाणित हुई, जिसका उल्लेख स्वय हुएनत्साग ने अपनी भारतयात्रा सम्बन्धी चीनी पुस्तक मे किया है, और उन्हे सुप्रसिद्ध भविष्यद्रष्टा बताया है। राजगृह के वैभारगिरि पर्वत की दक्षिणाभिमुख स्वर्ण भडार गुफा मे ईसा की चौथी शती का एक अभिलेख है, जो अन्य किसी वज्रस्वामी से सम्बन्धित है। यह गुफा वज्रस्वामी का साधना स्थान है, अत्यन्त सुरम्य और भव्य। चट्टान को काट कर एक विशाल भवन का रूप दे दिया गया है। इन पक्तियो के लेखक ने भी राजगृह के गत वर्षावास मे अनेक दिन और रात्रियाँ उक्त गुफा मे बिताई है। अब भी वहाँ कुछ ऐसा है कि साधना के निर्मल क्षणो मे हृदय के कण-कण से शान्त-रस का अमृत निर्झर वहने लगता है।

वज्रशाखा के प्रवर्तक आर्य वज्रस्वामी वास्तव मे अलौकिक महापुरुष थे।[1] उनका अलौकिकत्व उनकी शिष्य परम्परा मे चिरकाल तक उद्भासित रहा। यह तेजोमूर्ति सूर्य जब अस्ताचल की ओर था, तब एक और भयकर दुष्काल पडा। अपने प्रमुख शिष्य वज्रसेन को साधुसघ के साथ सुभिक्ष प्रधान सोपारक एव कोकण प्रदेश मे भेज दिया और स्वय दक्षिण के रथावर्त पर्वत पर अनशन कर दिवगत हुए। कुछ विद्वान इन्हे ही द्वितीय भद्रबाहु कहते है और इन्ही के शिष्य वज्रसेन के युग मे श्वेताम्बर दिगम्बर मतभेदो ने शाखा भेद का रूप लिया।

वज्र स्वामी के जन्म, दीक्षा आदि का समय इस प्रकार माना जाता है—

जन्म	—	वीर नि० स०	४९६ (३१ ई० पू०)
दीक्षा	—	,, ,, ,,	५०४ (२३ ई० पू०)
आचार्यकाल	—	,, ,, ,,	३६ वर्ष
स्वर्गवास	—	,, ,, ,,	५८४ (५७ ई०)

---

[1] दिगम्बर हरिवशपुराण (१,३३) मे वज्रर्षि और त्रिलोयपण्णत्ति मे वज्रयशा के नाम से जिन यशस्वी आचार्य का उल्लेख है, सभवत वे यही वज्रस्वामी हो।

१७ आर्य वज्रसेन

आर्य वज्र स्वामी के पट्टधर वज्रसेन है। वज्रसेन का जन्म वीर स० ४९२, दीक्षा ५०१, आचार्यत्व ५८४,और स्वर्गवास ६२० मे,१२९ वर्ष की आयु मे हुआ। कल्पसूत्र स्थविरावली मे, इन्हे वज्र स्वामी का शिष्य बताया है, परन्तु यह वज्र स्वामी से दीक्षा मे बडे है। अत उनके शिष्य कैसे हो सकते है ? यह प्रश्न उलझ जाता है। और साथ ही इन्हे कल्पसूत्र स्थविरावली की आचार्य परपरा मे भी नही गिना है, जब कि नागोरी लोकागच्छीय हस्तलिखित पट्टावली मे इन्हे आर्य वज्र का पट्टधर माना है। श्रीदर्शन विजयजी भी इन्हे आर्य वज्र का उत्तराधिकारी मानते है और शिष्य भी। आपके नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर नामक प्रमुख शिष्यो से, जो परस्पर सहोदर बन्धु थे, वीर म० ६०६ के आस-पास अपने स्वय के नाम पर चार कुलो का विस्तार हुआ।[1]

आर्य वज्रसेन के युग मे भी द्वादश वर्षीय भयकर दुष्काल पडा। कथाग्रन्थ कहते है कि इतना भयकर दुष्काल था कि निर्दोष भिक्षा न मिलने के कारण ७८४ साधु अनशन करके परलोकवासी हो गए। जिनदास श्रेष्ठी ने एक लाख स्वर्ण मुद्राओ मे एक अजलि अन्न खरीदा और दलिया मे विप मिलाकर समस्त परिवार सहित मरने जा रहा था कि आचार्य वज्रसेन ने शीघ्र ही सुभिक्ष होने की घोषणा करके सबकी प्राण-रक्षा की। अगले दिन अन्न से भरे हुए जहाज समुद्र तट पर आ लगे और जिनदास ने सब अन्न खरीदकर सर्वसाधारण मे बिना मूल्य वितरण करना प्रारभ किया। कुछ समय पश्चात् वर्षा भी हो गई, और दुर्भिक्ष के प्राणहारी सकट से देश का उद्धार हो गया। यह दयामूर्ति श्रेष्ठी अपनी समस्त सम्पत्ति जनकल्याणार्थ अर्पण कर, अन्त मे अपने नागेन्द्रचन्द्र आदि चार पुत्रो के साथ आचार्य वज्रसेन के चरणो मे दीक्षित हो गया।

आर्य वज्रसेन अपने युग के महान तेजस्वी देशकालज्ञ ज्योतिर्धर महापुरुष थे। आपने दुष्काल के पश्चात् शीघ्र ही श्रमण-सघ की छिन्न-छिन्न बिखरी कडियो को नए सिरे से जोडा और निर्जीव प्राय धर्म चेतना को पुन प्राणवती बनाया।

---

[1] प्रभावकचरित्र और पट्टावलियो के अनुसार नागेन्द्र कुल मे वलभी वाचनाकार नागार्जुन, पउम चरिय के कर्त्ता विमल, गुर्जरेश्वर वनराज चावडा के गुरु शीलगुणसूरी, महामात्य वस्तुपाल के गुरु विजयसेन आदि प्रभावशाली आचार्य हुए है।

चन्द्रकुल मे उत्तराध्ययन-सूत्र के टीकाकार वादिवेताल शान्ति सूरी, नवागी वृत्तिकार अभयदेव सूरी आदि प्रमुख हैं।

निवृत्तिकुल मे आचार्य गर्गर्षि, सूराचार्य, सिद्धर्षि और शीलाक आदि प्रसिद्ध है।

विद्याधर कुल मे आचार्य पादलिप्तसूरी, नागहस्ती, कालक, वृद्धवादी, सिद्धसेन दिवाकर आदि महान् आचार्यो की परपरा है।

आगम साहित्याकाश के प्रकाशमान नक्षत्र आर्यरक्षित सूरी, आर्य वज्रसेन के ही समकालीन थे। आप मालव प्रदेश के दशपुर (मन्दसौर) नगर के निवासी रुद्रसोम पुरोहित के पुत्र थे। माता की प्रेरणा से दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए वही इक्षुवन मे विराजित आचार्य तोसलीपुत्र के पास पहुँचे और मुनि बन गए। आगमिक साहित्य का प्रारम्भिक अभ्यास तोसलीपुत्र से किया और ९½ पूर्व तक दृष्टिवाद का अध्ययन आर्य वज्र स्वामी से। आपने अनुयोग द्वारा सूत्र की रचना की और आगम साहित्य को द्रव्य, चरण-करण, गणित, धर्म-कथा—इस प्रकार चार अनुयोगो मे विभक्त किया। अद्यावधि समग्र आगम पाठो के द्रव्यादि रूप मे चार-चार व्याख्यार्थ किए जाते थे, परन्तु आर्य रक्षित ने, श्रुतधरो की मेधाशक्ति की क्षीणता को देखते हुए, जिन पाठो से जो अनुयोग स्पष्ट रूप से ध्वनित होता था, उसी एक प्रधान अर्थ को कायम रखकर अन्य अनुयोग सम्बन्धी गौण अर्थो का प्रचलन बन्द कर दिया।

यह सब कार्य द्वादशवर्षी दुष्काल के बाद दशपुर मे हुआ। इतिहासकार उक्त आगम वाचना का समय वीर स० ५९२ के लगभग मानते है। इस आगम-वाचना मे वाचनाचार्य आर्य नन्दिल, युग प्रधान आचार्य आर्य रक्षित और गणाचार्य आर्य वज्रसेन ने प्रमुख भाग लिया था। वर्तमान आगम साहित्य मे कितनी ही उत्तर कालीन घटनाओ का भी वर्णन है। कुछ विद्वानो का इस सम्बन्ध मे यह कथन है कि आर्य रक्षित ने अपने समय तक की महत्त्वपूर्ण घटनाओ का स्मृतिहेतु आगमो मे समावेश कर दिया था।

आर्य रक्षित के दुर्बलिका पुष्यमित्र (मन्दसौरवासी), आर्य फल्गु रक्षित (आर्य रक्षित सूरि के लघुभ्राता), विन्ध्य मुनि और गोष्ठामाहिल आदि प्रमुख शासन प्रभावक शिष्य थे। दुर्बलिका पुष्यमित्र आर्य रक्षित के उत्तराधिकारी हुए। गोष्ठामाहिल भी महाज्ञानी पूर्वधर थे। इन्होने मथुरा मे एक प्रकाण्ड नास्तिक विद्वान को पराजित किया था। परन्तु आठवे कर्मप्रवाद पूर्व मे आए कर्म और आत्मा के क्षीर नीर जैसे सम्बन्ध को न मान कर, शरीर पर वस्त्र के समान कर्मबन्ध को आत्म-प्रदेशो के ऊपर लगा हुआ माना, इस कारण गोष्ठामाहिल सातवे निन्हव के रूप मे प्रख्यात हुए। इनका काल वीर स० ५८४ है। कुछ ही वर्षो बाद (वीर स० ५९७) मन्दसौर नगर मे, आर्य रक्षित स्वर्गवासी हुए।

१८ आर्य रथस्वामी

आर्यवज्र स्वामी के द्वितीय पट्टधर आर्य रथ है, जिनसे देवर्द्धिगणी क्षमा-श्रमण की परम्परा का विकास हुआ। आर्य रथ (प्राकृत नाम आर्यरह) वशिष्ठ गोत्री थे। आप भी वज्र स्वामी के प्रमुख शिष्यो मे आर्य वज्रसेन के समान ही प्रभावशाली थे। आपका दूसरा नाम आर्य जयन्त है, इनसे जयन्ती शाखा का विकास भी माना जाता है।

इनके पश्चात् कल्प-सूत्र स्थविरावली मे देवर्द्धिगणी पर्यन्त अनेक आचार्यो के नाम पट्टधर के रूप मे आते है, परन्तु उनका विशिष्ट परिचय नही मिलता। अत कल्प-स्थविरावली के आधार पर केवल नामोल्लेख ही किया जा रहा है—

१८ आर्य पुष्यगिरि	कौशिक गोत्र
१९ आर्य फल्गुमित्र	गौतम गोत्र
२० आर्य धनगिरि	वशिष्ठ गोत्र
२१ आर्य शिवभूति	कुच्छस गोत्र
२२ आर्य भद्र	काश्यप गोत्र
२३ आर्य नक्षत्र	काश्यप गोत्र
२४ आर्य रक्ष[1]	काश्यप गोत्र
२५ आर्य नाग[2]	गौतम गोत्र
२६ आर्य जेहिल	वशिष्ठ गोत्र
२७ आर्य विष्णु	माढ (ठ) र गोत्र
२८ आर्य कालक	गौतम गोत्र

यह तीसरे कालकाचार्य है, इनका समय रत्न-सचय ग्रन्थ के अनुसार वीर स० ७२० माना जाता है।

२९-३० आर्य संपलित और आर्य भद्र

दोनो गौतम गोत्री और दोनो ही आर्यकालक के प्रमुख शिष्य एव बाल ब्रह्मचारी । आर्य कालक के पश्चात् दोनो ही पट्टधर । दोनो का सघ फिर से एक, और दोनो के पट्टधर एक ही आचार्य आर्य भद्र।

३१ आर्य भद्र	गौतम गोत्र
३२ आर्य सघपालित	गौतम गोत्र
३३ आर्य हस्ती	काश्यप गोत्र
३४ आर्य धर्म	सावय गोत्र
३५ आर्य हस्ती	काश्यप गोत्र
३६ आर्य धर्म	
३७ आर्य सिंह	काश्यप गोत्र
३८ आर्य धर्म	काश्यप गोत्र

---

[1] यह नाम मनोहर सप्रदाय की पट्टावली मे नही है।

[2] मनोहर सप्रदाय की पट्टावली मे नागेन्द्र नाम है, और इनके पट्टधर उधरगणी का नाम आता है, जिनका उल्लेख कल्प स्थविरावली मे नही है। उधरगणी के पट्ट पर सीधा ही देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का नाम है, जब कि स्थविरावली मे नाग के बाद जेहिल आदि अनेक आचार्यों के नाम आए हैं। प्रस्तुत निबंध मे स्थविरावली के अनुसार आचार्य परम्परा का वर्णन है।

आर्य धर्म के प्रमुख शिष्यो मे आर्य स्कन्दिल और आर्य जम्बू का उल्लेख मिलता है। आर्य स्कन्दिल युग प्रधान आचार्य है। आप मथुरा के निवासी थे, मूल नाम सोमरथ था, आर्यसिंह के उपदेश से वैराग्य हुआ और आर्य धर्म से दीक्षा ग्रहण की। ब्रह्म द्वीपिका शाखा के वाचनाचार्य आर्यसिंह सूरी के पास आगम और पूर्वो का अध्ययनकर वाचक पद प्राप्त किया। युग-प्रधान यन्त्र के आधार पर आपका वाचनाचार्यकाल वीर स०८२६ माना गया है। आपके समय भारतवर्ष विचित्र स्थिति मे गुजर रहा था। जैन बौद्ध और वैदिक धर्मो के सघर्ष ने विकट रूप धारण कर लिया था। खास कर सौराष्ट्र मे। भारत मे हूणो और गुप्तो का भयकर युद्ध हुआ और द्वादशवर्षी दुष्काल भी पडा। फलस्वरूप श्रुतधरो की सख्या काफी क्षीण हो गई थी, आगम साहित्य विनाश के कगार पर पहुँच चुका था। इस विकट स्थिति मे वीर स०८३० से ८४०के आसपास आर्य स्कन्दिल ने उत्तरापथ के मुनियो का मथुरा मे विराट् सम्मेलन कर आगमो का पुस्तक रूप मे लेखन किया। उधर आचार्य नागार्जुन ने दक्षिणा पथ के मुनियो का सम्मेलन कर वल्लभी (सौराष्ट्र) मे आगमो का सकलन एव लेखन किया। दूरस्थ होने से कुछ पाठ भेद हो गए, जिनका समन्वय आगे चलकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के द्वारा हुआ। कुछ पाठ भेदो का समन्वय न हो सका, तो स्कदिलाचार्य के पाठ को मान्यता देकर नागार्जुन के पाठो का मूल आगम मे ही पाठान्तर रूप से उल्लेख कर दिया, जिनके सम्बन्ध मे टीकाकार "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" लिखकर स्पष्टीकरण करते है। यह चतुर्थ आगम वाचना है।

३९ आर्य जम्बू	गौतम गोत्र
४० आर्य नन्दी	काश्यप गोत्र
४१ आर्य देशी गणी क्षमाश्रमण	माठर गोत्र
४२ आर्य स्थिरगुप्त क्षमाश्रमण	वत्स गोत्र
४३ आर्य कुमारधर्म गणी	
४४ आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण	

आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण काश्यप गोत्र के क्षत्रिय कुमार थे। आपकी जन्मभूमि वेरावल (सौराष्ट्र) है। आपके पिता का नाम कार्मधि और माता का नाम कलावती है। कितने ही कथाकार इनको भगवान् महावीर कालीन सौधर्मेन्द्र के सेनापति हरिणगमेषी देव का अवतार मानते है। आर्य देवर्धि गणी अपने युग के समर्थ आचार्य थे। आर्य स्कन्दिल की वाचक परपरा के अन्तिम वाचनाचार्य और भारत के अन्तिम पूर्वधर। आपके पश्चात् अन्य कोई पूर्वधर नही हुआ।[1] आपका दूसरा नाम देववाचक भी सुप्रसिद्ध है। नन्दीसूत्र आपके द्वारा ही सकलित एव निर्मित है। आचार्य देवेन्द्र सूरि कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञवृत्ति मे नन्दीसूत्र रचयिता के रूप मे आपको देवर्धि क्षमाश्रमण और देवर्धि वाचक के नाम से स्मरण करते हैं। आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि अपनी नन्दी टीका में और जिनदासगणी महत्तर नन्दी-सूत्र चूर्णि मे उन्हे

---

[1] जबुद्दीवे ण दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए मम एग वाससहस्स पुव्वगए अणुसज्जिस्सइ।
—भगवती सूत्र २०, ९,६७७

देववाचक कहते है। नन्दीचूर्णि मे उनके गुरु का नाम दुष्यगणी वताया है, जब कि कल्पसूत्र-स्थविरावली के अनुसार वे कुमार धर्म गणी के पश्चात् पट्टधर है। जैन परम्परा के इतिहास मे श्री दर्शनविजय जी देवर्धिगणि जी के गुरू का नाम आचार्य लौहित्य सूरि वताते है, जिनका उल्लेख नन्दीसूत्र पट्टावली मे आता है। श्री दर्शनविजय जी के उल्लेखानुसार उपकेशगच्छीय आ० देवगुप्त के पास देवर्धिगणी ने एक पूर्व अर्थ सहित और दूसरा पूर्व मूलमात्र अध्ययन कर क्षमाश्रमण का महत्त्व पूर्ण पद प्राप्त किया। वलभी (सौराष्ट्र) मे वीर स० ९८० के आसपास एक वृहत्मुनि सम्मेलन का आयोजन हुआ और उस मे आचार्य देवर्धिगणि के नेतृत्व मे सर्व-सम्मत पाचवी आगम वाचना सपन्न हुई। प्रस्तुत आगम वाचना मे चतुर्थ कालकाचार्य विद्यमान थे, जो नागार्जुन की चतुर्थ वलभी वाचना के प्रखर अभ्यासी थे और जिन्होने वीर स०९९३ आनन्दपुर मे वलभी वशीय राजा ध्रुवसेन की उपस्थिति मे श्रीसघ के समक्ष कल्पसूत्र का वाचन किया था।

आगमो के पुस्तकारूढ का यह महाप्रयास, जैन इतिहास का वह सुनहला पृष्ठ है, जो निर्दलिता-ज्ञान-सभारप्रसार देवर्धि वाचक के गम्भीर आगम ज्ञान, तटस्थ चिन्तन एव लोक-प्रिय निर्मल यश की चमत्कारपूर्ण गाथा का दिव्य प्रकाश युगयुगान्तर तक विकीर्ण करता रहेगा। आज जो कुछ भी जैन ससार के पास महाश्रमण महावीर का वचनामृत आगमरूप मे सुरक्षित है, वह सब देवर्द्धिगणी की ही जिन प्रवचन-भक्ति का अमर दान है। कल्पसूत्र स्थविरावली का अन्तिम सूत्र जिन शब्दो मे, पन्द्रह सौ वर्षो से वीर स० १००० मे शत्रुजय पर दिवगत हुए महावाचक देवर्द्धि को वदना कर रहा है, हम भी उन्ही श्रद्धासुरभित शब्द-सुमनो से उन्हे सादर एव सभक्ति स्मरणाजलि अपर्ण करते है—

सुत्तत्थरयण-भरिए,
खमदम-मद्दवगुणेहि सपन्ने।
देवड्ढि-खमासमणे,
कासवगुत्ते पणिवयामि ॥

भगवान् ऋषभदेव और भगवान महावीर से लेकर आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण पर्यन्त, अखण्ड प्रवाह से समागत श्रमण-परपरा के इतिवृत्त का यह सक्षिप्त-सा रेखा चित्र प्रस्तुत किया है। यह इतिहास नही, उसकी एक हल्की सी झलक है। प्रस्तुत रेखाकन मे कल्पसूत्र स्थविरावली, आचार्य हेमचन्द्र कृत परि-शिष्ट पर्व, प्रभावक चरित्र पट्टटावली समुच्चय और श्री दर्शनविजय जी सम्पादित जैन-परम्परा नो इतिहास आदि ग्रन्थो से प्राप्त विचार सामग्री का उपयोग किया है। उक्त ग्रथो मे काफी मतभेद है, कुछ स्थलो पर तो ये सब परस्पर इतने अधिक टकरा जाते है कि एक मार्ग निश्चित करना बहुत ही कठिन हो जाता है। फिर भी "यावद् बुद्धि-बलोदय" कुछ जोडतोड लगाया गया है। सभव है इस जोड तोड मे कही कुछ विपर्यय हुआ हो। यह विपर्यय इतिहास के गम्भीर अभ्यासियो से समाधान की अपेक्षा रखता है। आशा है, यथावकाश इतिहास के मान्य विद्वान इस पर कुछ स्पष्ट प्रकाश डालने की दिशा मे उचित प्रयत्न करेगे।

*

नागोरी लोका-गच्छ : श्रीमनोहर-सम्प्रदाय

विजयमुनि साहित्यरत्न

आचार्य देवर्धिगणी के पश्चात्
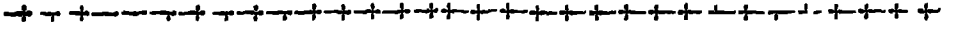
आचार्य देवर्धिगणी के बाद नागोरी लोका-गच्छ और तन्निश्रित श्री मनोहर-सम्प्रदाय की पट्टावली मे अनेक आचार्यों के नाम आते हैं, जिनके सम्बन्ध मे विशिष्ट जानकारी के कुछ भी साधन उपलब्ध नही है। उस नामावली मे चन्द्र स्वामी, विक्रम, समन्तभद्र, जयदेव तथा देवानन्द आदि कुछ नाम ऐसे है, जिनका उल्लेख उपाध्याय श्री धर्मसागर जी ने स्वरचित तपागच्छ-पट्टावली मे भी किया है। परन्तु उसमे भी उल्लेखनीय जीवन-चर्चा नही है। अत इन पृष्ठो मे उनका नमाकन ही पर्याप्त होगा।

आचार्य चन्द्र स्वामी
आचार्य समन्तभद्र
आचार्य धर्म घोष
आचार्य जयदेव
आचार्य विक्रम
आचार्य देवानन्द
आचार्य विद्याधर
आचार्य नरसिंह
आचार्य समुद्र
आचार्य परमानन्द
आचार्य विबुध

नागौरी लोका-गच्छ श्री मनोहर-सम्प्रदाय

आचार्य जयानन्द
आचार्य उचित स्वामी
आचार्य प्रौढ़ स्वामी
आचार्य विमल चन्द्र
आचार्य नागदत्त[1]
आचार्य धर्मघोष
आचार्य रत्नसिंह
आचार्य देवेन्द्र
आचार्य रत्नप्रभ
आचार्य अमरप्रभ
आचार्य ज्ञान चन्द्र
आचार्य शेखर
आचार्य सागर चन्द्र
आचार्य मलयचन्द्र
आचार्य विजय चन्द्र
आचार्य यशवन्त
आचार्य कल्याण
आचार्य शिवचन्द्र

आचार्य हीरागर

श्री हीरागरजी महाराज जाति के सुराना ओसवाल थे, नागौर निवासी। आपने नागोर की यति परम्परा के तत्कालीन पट्टधर आचार्य शिवचन्द्र जी के पास दीक्षा ग्रहण की और आगमो का गम्भी अध्ययन किया। आगम-अध्ययन के पश्चात् आपके अन्तर्मन मे विचार द्वन्द्व होने लगा कि आगमो ं जैन साधु का आचार क्या है और हम यति आज कर रहे है कुछ और ही। कहाँ परिग्रह से मुक्त व निर्मल साधु जीवन और कहाँ परिग्रह-पाश से बद्ध आज का यति वर्ग ? दोनो मे कही भी कुछ भी त मेल नही है। इधर यह अन्दर ही अन्दर विचार-ज्वाला जल रही थी कि सौभाग्य से उन्ही दिनो गुजरा मे धर्मवीर लोकाशाह ने धर्म क्रान्ति का शख फूंका।

जैन परम्परा मे धर्मवीर लोकाशाह की धर्म-क्रान्ति का बहुत बडा गौरव है। आपका जन अरहर वाडा (सिरोही राज्य) मे हुआ। आप जाति के ओसवाल कहे जाते है। पिता का नाम हेमज भाई और माता का नाम गगा बहन था। तपागच्छीय यति श्री कान्ति विजय जी (विक्रम स० १६३६

---

[1] आप विक्रम सवत् १२८५ के वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन युग प्रधान पद से सुशोभित हुए। अप विद्वान् शिष्य धर्मघोष सूरी के साथ अपने तत्कालीन मरुधरा के सूर राजा को जैनधर्म का प्रतिबो दिया, जिससे ओसवाल जाति मे सुराणा गोत्र प्रचलित हुआ।

के मतानुसार आपका जन्म विक्रमाक १४८२ कार्तिक पूर्णिमा को हुआ। लोकाशाह आरम्भ से ही तत्त्व-शोधक और सत्य प्रेमी थे। सत्साहित्य के अध्ययन की उनमे बहुत तीव्र अभिरुचि थी। बुद्धि और प्रतिभा प्रखर होने से जैनागमो का मूल रहस्य समझने मे आपको कुछ भी देर न लगी। आपने देखा कि आगम कालीन जैन श्रमण-परम्परा का निर्मल एव विशुद्ध आचार, आज इतना धूमिल हो गया है कि साधु और गृहस्थ मे भेद रेखा खीचना ही कठिन है। अस्तु अपनी समस्त शक्ति को सचित करके आपने तत्कालीन जैन समाज मे बद्धमूल मिथ्या विश्वास, शिथिलाचार और आडम्बर के विरुद्ध सिंह-गर्जना की। साधु-समाज मे नया जीवन फूंका, नयी चेतना दी और जन-जन के मन मे नयी प्रेरणा भरी। सच्चे और पवित्र साध्वाचार का जयघोष भारत के कोने-कोने मे गूज उठा।

धर्मवीर लोकाशाह की धर्म-क्रान्ति का प्रभाव राजस्थान मे भी पडा। श्री हीरागर जी की विचार-क्रान्ति को इससे सजीव प्रेरणा प्राप्त हुई और उन्होने आगमानुसार क्रियोद्धार करके शुद्धाचार की दुन्दुभि बजा दी। मारवाड और मेवाड आदि प्रदेशो मे आप की धर्म-क्रान्ति का स्वर कुछ इस प्रकार मुखरित हुआ कि यति-परम्परा के सैकडो ही यति शुद्धाचार का पालन करने के लिए आपके शिष्य हो गए। आपने अपनी साधु-शाखा का नाम नागौरी लोकागच्छ रखा, जो आगे चलकर बडी तीव्र-गति से दूर-दूर तक फैल गई।

आचार्य रूपचन्द्र

श्री रूपचन्द्र जी महाराज, हीरागर जी के प्रभावक शिष्यो मे प्रमुख स्थान रखते थे। आपने नौ लाख जितने पितृ-धन को त्याग कर अठारह वर्ष के उभरते यौवन मे दीक्षा ग्रहण की। आपने अपने क्रान्तिकारी प्रवचनो से एक लाख अस्सी हजार जन-समूह को शुद्ध जैन-धर्म का अनुयायी बनाया। आप उग्र तपस्वी और क्रियोद्धारक थे। आपके तप प्रभाव से महिम शहर मे, कहा जाता है, पूर्णभद्र देव धर्मानुरागी हुआ। आपके युग मे नागौरी लोकागच्छ ने काफी विस्तार पाया। कुछ विद्वान और पट्टावलीकार तो आपको ही नागौरी लोकागच्छ का प्रवर्तक मानते है।

आचार्य दीपागर

आप श्री रूपचन्द्र जी के चरणो मे दीक्षित हुए। प्रखर आगमाभ्यासी और सुप्रसिद्ध तपोधन। आपने भी अपने प्रभावशाली शुद्ध सयमी जीवन से एक अनुश्रुति के अनुसार, ३६६० परिवारो को आत्म-कल्याण के प्रशस्त पथ पर आरूढ किया। खेद है, आपकी परम्परा मे पुन शनै शनै शिथिलाचार प्रवेश पाने लगा, फलस्वरूप धर्म-ज्योति धूमिल होती चली गई।

आचार्य वयरागर
आचार्य वस्तुपाल
आचार्य कल्याणदास

आचार्य भैरव स्वामी
आचार्य नेमचन्द्र
आचार्य आसकरण
आचार्य वर्धमान
आचार्य सदारंगस्वामी

क्रियोद्धारक आचार्य श्री मनोहरदासजी

आप मरुधरा के विख्यात नगर नागौर के निवासी थे। सुप्रसिद्ध ओसवाल जाति से सम्बन्धित सुराणा वश के एक धनी एव समृद्ध परिवार मे आपका जन्म हुआ। गृहस्थ जीवन बहुत सुखी और शानदार रहा। लक्ष्मी के साथ आप को सरस्वती के वरदान स्वरूप विलक्षण प्रतिभा मिली थी। यौवन के मध्य प्रवाह मे अन्दर से वैराग्य की लहर उठी और वह लगातार बढती रही, ऊपर उठती रही। एक दिन दृढ निश्चय के साथ नागौरी लोकागच्छ के तत्कालीन सुप्रसिद्ध यतिराज श्री सदारग जी[1] के पास दीक्षित हो गए। प्राचीन जैनागमो का तलस्पर्शी गम्भीर अध्ययन किया। कुछ ही वर्षो मे नव दीक्षित यति के पाण्डित्य की गच्छ मे सब ओर यशोदुन्दुभि बजने लगी।

श्री मनोहर जी इधर अपने गच्छ मे यशस्वी हो रहे थे, उधर उनके अन्तर्मन मे एक तीव्र विचार-मन्थन चल रहा था। भगवान् महावीर का मूल धर्म क्या है और आज हम क्या है? साधुचर्या के सम्बन्ध मे आगम कुछ कहता है? और आज हमारा जीवन कुछ और ही दिखाई देता है? लोकाशाह की धर्म क्रान्ति के साथ हमारा आज, केवल नाम मात्र का सम्बन्ध ही रह गया है। आचरण के क्षेत्र मे तो हम उनसे काफी दूर भटक गए है। शिथिलाचार के विरोध मे चिन्तन के साथ धीरे-धीरे आवाज भी साफ होने लगी, इधर उधर क्रियोद्धार की चर्चा बल पकडने लगी। मनोहरदास जी के चिन्तन की विचार-ज्वाला खुलकर प्रकाश फैंकने लगी कि यति-सघ चुंधिया गया। अनुकूल और प्रतिकूल दोनो ही प्रकार के विचारो के शिविर बनने लगे।

नागौरी लोकागच्छ मे, इधर यह तरुण विचार-क्रान्ति के पथ पर बढ रहा था, क्रियोद्धार के सकल्पो का ताना-बाना बुन रहा था, और उधर गुजरात, मालवा तथा राजस्थान मे पूज्य श्री जीवराज जी, पूज्य श्री लवजी ऋषि जी, पूज्य श्री धर्म सिह जी, पूज्य श्री धर्म दास जी आदि महापुरुषो ने शिथिलाचार के विरोध मे क्रियोद्धार की प्रचण्ड क्रान्ति करदी थी। तूफानी लहरो की तरह उनके विचार तरग जनसागर मे दूर-दूर तक गर्जते फैलते जा रहे थे। क्रियोद्धार का यह महाघोष नागौरप्रदेश मे भी टकराया। मनोहर जी को अपने उत्क्रान्त विचारो के लिए बलवती प्रेरणा मिली। क्रियोद्धार के सकल्पो ने मूर्त रूप धारण किया। जैन इतिहास मे विक्रम की १६–१७ वी शती बडी ही महत्त्वपूर्ण है। यह

---

१ गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० ने अपने स्थानाग सूत्र के लेखन की प्रशस्ति मे श्री मनोहरदास जी को श्री वर्धमान सूरी का शिष्य लिखा है।

शती धर्म-क्रान्ति की शती है, साधु जीवन के दिव्य-रूप-परिवर्तन की शती है। ऐसा मालूम होता है, साधना के महासागर मे सब ओर प्रचण्ड ज्वार आ गया था। यह आचार क्रान्ति स्थानकवासी परपरा के नाम से जैन इतिहास का वह महत्त्वपूर्ण स्वर्ण-पृष्ठ है, जिसमे पूज्य श्री मनोहरजी का नामोल्लेख अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

पूज्य श्री मनोहर जी अपने युग के एक महान् तत्वज्ञ, विचारक, एव उग्र क्रियाकाडी मुनि थे। ज्ञान एव क्रिया, आचार एव विचार दोनो की ही आपने उत्कट, कठोर और प्रखर साधना की। शिथिलाचार की घन-घटाएँ छिन्न-भिन्न हो गई। शुद्धाचार का सूर्य पुन गगनागन मे अपने पूर्ण तेज से चमकने लगा। आपने दूर-दूर तक की विहार-यात्रा करके शुद्ध धर्म और शुद्धाचार का व्यापक प्रचार एव प्रसार किया।

आप नागौर से क्रियोद्धार की अमर-ज्योति लेकर अजमेर, कुचामन, जयपुर, खडेला, नारनौल, महेन्द्रगढ, दादरी, भिवानी, खेतडी, सिंघाणा आदि अनेक क्षेत्रो मे पधारे और भव्य आत्माओ को सन्मार्ग का उपदेश दिया। विहार-यात्रा मे अनेकानेक परीषह और उपसर्ग आए, विरोधी पक्ष की ओर से निर्मम यातनाए मिली, परन्तु आप निर्विकार भाव से अपने स्वीकृत पथ पर बढते ही रहे। न कही, लडखडाए, न कही रुके और न कही थके। सिंघाणा (शेखावटी) का गिरिराज अब भी आपकी उस कठोर साधना का साक्षी है, जो आपने चार मास मे केवल चार बार आहार ग्रहण कर पहाड के सबसे ऊँचे शिखिर पर की थी और जिसके प्रभाव से सिंघाणा नगर के तीन सौ के लगभग अग्रवाल परिवार जैन धर्म मे दीक्षित हुए थे। आपके जादूराव, नानक चन्द आदि पैंतालीस शिष्य हुए, जिनमे भागचन्द्रजी प्रमुख थे। कुछ विद्वानो का मत है कि आप क्रियोद्धारक पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के सम्पर्क मे भी रहे है। श्री धर्मदास जी महाराज से सम्बन्धित बाईस सम्प्रदाय के प्रवर्तको मे पूज्य मनोहर जी के नाम से आप का भी उल्लेख मिलता है।

पूज्य मनोहरदास जी से स्थानकवासी परम्परा मे मनोहर सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ। मूल मे यह सम्प्रदाय राजस्थान की होकर भी उत्तर प्रदेश तथा पजाब के कुछ भूभागो मे खब फली-फूली है। इस सम्प्रदाय मे प्रारम्भ से ही विद्वान, कवि, लेखक, प्रवक्ता, त्यागी, तपस्वी और सयमी सतो की पावन धारा प्रवाहित होती रही है। मनोहर सम्प्रदाय के अनेक ज्योतिर्धर मुनिराज ऐसे हुए है, जिन पर एक क्या, अनेक स्वतन्त्र रचनाएँ लिखी जा सकती है।

धर्मवीर लोकाशाह द्वारा प्रेरणा प्राप्त स्थानकवासी परपरा के क्रियोद्धारक मुनिवरो के सम्बन्ध मे प्रसगवश यहाँ एक स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। इन महापुरुषो ने कोई नया धर्म खडा नही किया, और न उनकी ओर से ऐसा कोई दावा ही कभी किया गया है। पुरातन परम्परा मे हीन आचार का उचित सशोधन करना, शिथिल क्रिया को कठोर तथा प्रखर बनाना, समाज मे विशुद्धाचार की नये सिरे से स्फूर्ति, चेतना और जागृति पैदा करना ही उनका एक मात्र ध्येय था। साधुजीवन मे जो एक प्रकार की जडता और आडम्बर-प्रियता उत्पन्न हो गई थी, उन्होने उसी को दूर कर शुद्ध साधुचर्या का पथ प्रशस्त किया। इसी को क्रियोद्धार कहा जाता है। क्रियोद्धार की इस आत्मलक्षी विशुद्ध प्रक्रिया

मे न किसी के प्रति द्वेष था और न किसी के प्रति मनोमालिन्य था। न किसी के प्रति पक्षपात की भावना थी और न किसी वर्ग विशेष के प्रति अहित कामना ही। यह तो केवल भगवान् महावीर के विशुद्ध धर्म की एक मात्र पुनर्जागरणा थी।

स्थानकवासी परम्परा स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाती है। वह भौतिकवादी नही, विशुद्ध अध्यात्ममूलक परम्परा है। त्याग और तप, दम और सयम ही स्थानकवासी परम्परा के मूल तत्व है। फलत वह किसी भी प्रकार की जड पूजा मे विश्वास नही करती। एकमात्र शुद्ध चैतन्य तत्व ही उसकी साधना पद्धति का मुख्य लक्ष्य है। किसी भी प्रकार के बाह्य आडम्बर मे विवेकशून्य क्रियाकाण्ड मे उसकी धर्म श्रद्धा नही है। उसके विचार मे धर्म का आधार भौतिक नही, मनुष्य की आन्तरिक अध्यात्म भावना है। अहिसा और अपरिग्रह स्थानकवासी जैन-सस्कृति के वे मूल स्वर है, जिनके उद्घोषको मे पूज्य श्री मनोहरदास जी का भी प्रमुख स्थान है। एतदर्थ आज हम उनके चरणो मे सभक्ति भाव वन्दना करते है। श्रद्धावनत होते है।

आचार्य श्री भागचन्द्रजी

आप बीकानेर के रहने वाले और जाति के ओसवाल थे। आपने दृढ श्रद्धा और निर्मल वैराग्य भाव से पूज्य श्री मनोहरदास जी के चरण कमलो मे दीक्षा ग्रहण की थी। आपका श्रुतज्ञान गम्भीर था, क्रियाकाण्ड कठोर था और तप साधना उग्र थी। सिंघाणा के पर्वत पर गुरुदेव के साथ आपने भी चार महीने तक मास क्षमण की तप साधना की थी। यमुनापार (उत्तर प्रदेश) के बडौत, बिनौली, काँधला आदि अनेक क्षेत्र आपके द्वारा ही प्रतिबोधित हुए थे। अग्रवाल जाति मे स्थानकवासी जैन परम्परा के बीजारोपण करने मे आपका योगदान चिरस्मरणीय है। धर्म-प्रचार यात्रा मे आपको अनेक कष्टो का सामना करना पडा, परन्तु आपकी सहज क्षमता, सहनशीलता और निर्दम्भ धर्मनिष्ठा का वह दिव्य प्रभाव होता था कि अन्तत सफलता आपके चरण चूमती ही थी।

काधला प्रतिबोध की घटना है। शरत्काल। भयकर शीत। पूज्य श्री भागचन्द्र जी, अपने योग्य शिष्य सीताराम जी के साथ धर्म प्रचार करते हुए काधला क्षेत्र मे पहुचते है। सन्ध्या के समय सूर्य अस्ताचल की ओर। सर्वथा अपरिचित ! कहाँ ठहरे ? किसी ने भी ठहरने के लिए स्थान न दिया। एक भद्र वैश्य ने कहा—"आप मेरी दूकान के आगे के इस छप्पर मे खडे रहिए। जरा घर हो आता हूँ। फिर कही ठहरने की ठीक व्यवस्था पर दूँगा।" वैश्य जल्दी मे कह कर चला गया, किन्तु वापस नही लौटा। मुनि युगल रात भर खडे ही रहे, न बैठे और न सोए।

प्रात काल वैश्य आया, तो आश्चर्य से पूछा, महाराज बहुत जल्दी जा रहे है ?

पूज्य श्री ने प्रसन्न-मुद्रा मे कहा —'भाई, अभी तो आना ही अच्छी तरह से नही हुआ है, जाने की क्या बात ?"

"फिर कमर बाँध कर खडे क्यो है ?"

"जब से आए है, खडे ही है, बैठे कहा ?"

"ऐसा क्यो ?"

"क्यो कि तुम्हारी आज्ञा जो खडे रहने की थी। जैन साधु, प्रदत्त आज्ञा की सीमा मे ही रह सकता हैं, बाहर नही। आज्ञा से बाहर काम करना भी, हमारे यहाँ चोरी है।"

बात होरही थी कि आस-पास के और सज्जन भी आ गए। कहने लगे—'भाई, साधू बडे गजब के है। हमने तो इन्हे रात भर यो ही खडे देखा है ? पता नही, क्या बात है ?"

साक्षी मिल गई, तो वैश्य स्तब्ध रह गया। कितना पवित्र निश्चय और निर्मल जीवन। आग्रह हुआ तो महाराज ठहर गए। प्रवचन हुआ और कहा जाता है—दो-सौ से ऊपर परिवार स्थानकवासी जैन धर्म मे दीक्षित हो गए। पूज्य श्री भागचन्द्र जी के जीवन के सम्बन्ध मे इस प्रकार अनेक अनुश्रुतिया है, जो उनके कठोर त्याग, तपस्तेज और आगमानुसारी सयम साधना पर स्वर्णिम प्रकाश डालती है।

आचार्य श्री सीतारामजी

आप नारनौल के एक सुप्रसिद्ध अग्रवाल जैन घराने के होनहार युवक थे। सासारिक दृष्टि से जीवन सुखी था, परन्तु आध्यात्मिक शान्ति की तलाश मे पूज्य श्री भागचन्द्र जी से मुनि दीक्षा ग्रहण की। आप बहुत ही शान्त और दान्त, विवेकशील और वैराग्य-मूर्ति सन्त थे। अपने तेजस्वी गुरु के समान आपने भी शुद्ध धर्म और सस्कृति का व्यापक प्रसार किया। आपके आचार्य-पद काल मे मनोहर-सम्प्रदाय ने उल्लेखनीय प्रगति की।

आचार्य श्री शिवरामदासजी

आप दिल्ली के रहने वाले और जाति के श्रीमाल थे। आपके समय में दिल्ली राज्य क्रान्तियो के खौफनाक दौर मे से गुजर रही थी। लूटमार, हत्याकाण्ड, भागदौड, हाहाकार! पता नही, कब क्या हो जाए ? एक बार आप और आपके परिजन प्राण-रक्षा के लिए तीन दिन तक तलघर मे बन्द पडे रहे, भूखे और प्यासे। सकट की घडियाँ भी कभी मनुष्य की चिर-प्रसुप्त आत्म-चैतन्य को जगा देती हैं। जीवन की यह दु स्थिति देखकर हृदय मे वैराग्य-रश्मि जगमगा उठी और आपने सकल्प किया कि यदि इस सकट से बच गया, तो दीक्षा ले लूंगा। प्रतिज्ञा के अनुसार दीक्षा ली और पूज्य सीताराम जी के शिष्य हुए। आपने जैनागमो के साथ अन्य धर्म के ग्रन्थो का भी गम्भीर अध्ययन किया था। आपकी प्रवचन शैली बडी ही मधुर एव प्रभावशाली थी।

आपकी शिष्य सख्या बहुत विशाल थी, जिसके द्वारा दूर-दूर तक के प्रदेशो मे अहिंसा धर्म का व्यापक प्रचार हुआ। आपके श्री देवकरण जी, श्री रामकृष्ण जी आदि शिष्य मण्डल मे पूज्य श्री नूणकरण जी और तपस्वी श्री हरजीमल जी, जिनका वर्णन आगे की पक्तियो में होने वाला है, दो प्रधान शिष्य थे।

आचार्य श्री नूणकरणजी

आप सिघाणा (जयपुर-खेतडी) के रहने वाले अग्रवाल वैश्य थे। उभरती तरुणाई मे, जब माता पिता आपको विवाह सूत्र मे बाधने के लिए प्रयत्नशील थे, वैराग्य ज्योति जगी और झूझनु (राजस्थान) मे

नागौरी लोका-गच्छ श्री मनोहर-सम्प्रदाय

विक्रम स० १८३५ मार्गशीर्ष कृष्णा १०के दिन पूज्य श्री शिव रामदास जी के चरण कमलो मे दीक्षित हो गए। आपका नाम नकार और लकार के भेद से दो रूपो मे प्रचलित है—नूणकरण जी और लूणकरण जी।

आप आगम शास्त्रो के मर्मज्ञ विद्वान थे। आपकी आगम विषयक धारणाएँ तत्कालीन साधु-सघ मे सर्वाधिक प्रामाणिक एव अबाधित मानी जाती थी। जटिल से जटिल प्रश्नो का समाधान बडी शीघ्रता से कर देने की आप मे अद्भुत क्षमता थी। आपके द्वारा साधु-साध्वियो मे ज्ञान प्रचार की उल्लेखनीय प्रगति हुई। गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने भी आपसे आगम-साहित्य का गम्भीर अभ्यास किया था। पूज्य श्री शिवरामदास जी म० के स्वर्गवास पर आप सर्व सम्मति से आचार्य पद पर आसीन हुए। आचार्य पद पर रह कर आपने सघ का सचालन बडी योग्यता से किया। आपकी प्रवचन शैली भी सुन्दर, सरस और प्रभावक थी। आप की वचनसिद्धि के चमत्कार की गाथाएँ यमुनापार एव शेखावाटी मे काफी प्रचलित है। आपकी शिष्य परम्परा, तब से अब तक इस प्रकार है —
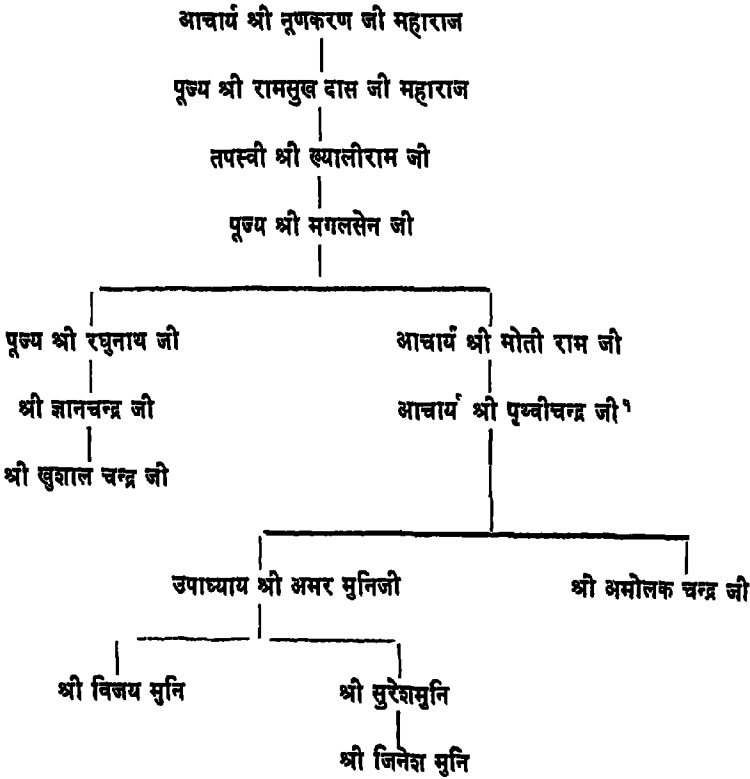
[1] पहले श्री मनोहर सम्प्रदाय के आचार्य थे, वर्तमान मे विभिन्न सम्प्रदायो के विलीनीकरण से सम्पन्न वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण-सघ के प्रान्त मन्त्री हैं।

तपोमूर्ति श्री हरजीमलजी

आचार्य श्री शिवरामदास जी के द्वितीय शिष्य तपस्वी श्री हरजीमल जी महाराज है। आपकी जन्म-भूमि मलकपुर है, जो उत्तर प्रदेश के मेरठ जिला मे बडौत के पास है बाल्यकाल से ही आपकी रुचि धर्म की ओर थी। एक बार पूज्य श्री शिवरामदास जी के गुरु भ्राता श्री मनसुख राम जी म० मलकपुर पधारे और आप के प्रवचनो से प्रभावित होकर श्री हरजीमल जी ने पूज्य श्री शिवरामदास जी के चरण कमलो मे आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आप उग्र तपस्वी, स्वाध्यायशील, एकान्तप्रिय मुनिराज थे। पिछली आयु मे सात वर्ष तक लगातार वेले-बेले पारणा किया। मास क्षमण आदि उग्र तपश्चरण की सख्या भी बहुत बडी है। महामहिम श्रद्धेय गुरुदेव रत्नचन्द्र जी म० और प० श्रीलाल जी म० आदि आपके अनेक शिष्य है, जिन्होने जैन धर्म के प्रचार एव प्रसार मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

भरतपुर (राजस्थान) मे, विक्रम स० १८८८ माघ शुक्ला अष्टमी के दिन डेढ दिन का सथारा-अनशन कर तपस्वीराज स्वर्गवासी हुए। तपस्वी जी की जीवन-ज्योति स्थूलदेह के रूप मे भले ही बुझ गई, परन्तु वह पवित्रता, धीरता एव सहिष्णुता की अमर-ज्योति अब भी साधना के क्षेत्र मे प्रज्वलित है।

जीवन और
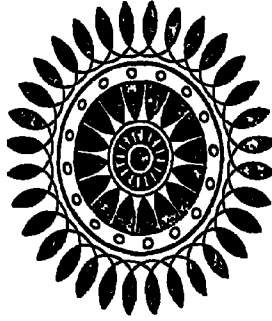
जीवन : एक परिचय

विजयमुनि साहित्यरत्न
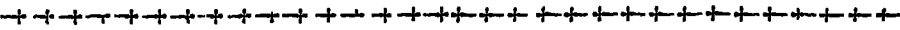
युग-पुरुषो का जीवन सरिता के उस उद्गम-स्रोत के समान होता है, जो आरम्भ मे तो लघु और छोटा होता है, किन्तु आगे बढकर अन्य जल-स्रोतो का सहयोग पाकर विशाल और विराट् होकर, अन्त मे सागर मे पहुँच कर, असीम और अनन्त हो जाता है। युग-पुरुष भी प्रारम्भ मे लघु, फिर विराट और अन्त मे अनन्त हो जाता है। क्योकि उनकी वाणी मे युग की वाणी बोलती है, उसके कर्म मे युग का कर्म क्रिया-शील बनता है और उसके चिन्तन मे युग का चिन्तन चलता है। अत युग-पुरुष अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है, जनता का नेतृत्व करता है।

यहाँ पर मैं एक ऐसे ही युग-पुरुष का, एव जैन जगत की विमल विभूति का जीवन परिचय दे रहा हूँ, जिसने अपने युग के जन-जीवन को नया विचार, नयी वाणी और नया कर्म दिया। जिसने अपने युग की जनता को भोग-मार्ग से हटा कर योग-मार्ग पर लगाया, जिसने जन-मन के अज्ञान को मिटा कर ज्ञान का विमल प्रकाश दिया और जिसने जन-जीवन मे, सयम और तप की ज्योति जगादी। वह युग-पुरुष कौन थे ? वे थे—गुरुदेव श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज।

जन्म-भूमि

वीर-भूमि राजस्थान के जयपुर राज्य मे एक तातीजा ग्राम था, जिसमे गुर्जर राजपूतो की काफी आवादी थी। इतिहासकारो की दृष्टि मे गुर्जर राजपूत गुर्जर प्रतिहार, क्षत्रिय के वशज है। राजस्थान मे आज भी इन लोगो की काफी सख्या है। किसी युग मे उत्तरी भारत और पूर्वी भारत के कुछ भागो मे इनका विशाल साम्राज्य था। परन्तु दशवी सदी के बाद निरन्तर अरबो का और मुगलो का आक्रमण

होते रहने से अपनी सुरक्षा के लिए ये लोग बहुत बडी सख्या मे राजस्थान मे आकर आबाद हो गए। गुर्जर राजपूत स्वभावत ही शूर, वीर, धीर और गम्भीर होते है।

माता ग्रौर पिता

गगाराम जी तातीजा ग्राम के रहने वाले गुर्जर राजपूत थे। इनकी धर्मपत्नी का नाम था—सरूपा देवी। पति और पत्नी दोनो समान स्वभाव के थे। सन्तो की सगति मे विशेप अभिरुचि रखते थे। जैन-सन्तो का जब कभी योग मिलता, तो धर्म-कथा सुनने अवश्य पहुँचते थे। धर्म-चर्चा मे उन्हे विशेप रस था।

गगाराम जी और सरूपा देवी के अन्य भी कई पुत्र और पुत्रियाँ थे। परन्तु उनका सबसे छोटा और सबसे प्यारा पुत्र था—रत्नचन्द्र। बुद्धि मे चतुर, रूप मे सुन्दर और स्वभाव मे मधुर। 'रत्न' का जन्म-विक्रम सवत् १८५० मे, भाद्र मास की कृष्णा चतुर्दशी के शुभ मुहूर्त मे हुआ था।

बाल्य-काल

रत्नचन्द्र का जीवन सुखद और शान्त था। माता का वात्सल्य, पिता का स्नेह और अपने से बडे भाई-बहिनो का प्रेम उसे खूब मिला था। रूप और बुद्धि की विशेषता के कारण ग्राम के अन्य लोग भी उसकी प्रशसा करते थे। चारो ओर से उसे आदर मिलता था। रत्न सस्कारी बालक था। अत उसमे विनय, विचार-शीलता, मधुर-वाणी और व्यवहार-शीलता आदि गुण खूब विकसित हुए थे। एक गुण उसमे विशिष्ट था—चिन्तन करने का। जीवन की हर घटना पर वह विचार और चिन्तन करता था। अपने साथियो के साथ मे खेल-कूद भी करता था, परन्तु उसकी प्रकृति की गम्भीरता व्यक्त हुए बिना न रहती थी। वह खेलता-कूदता भी था, नाचता-गाता भी था, हँसता-हँसाता भी था, और रूठता-मचलता भी था। बालस्वभाव सुलभ यह सब कुछ होने पर भी उसकी प्रकृति की एक विलक्षणता थी—चिन्तन और मनन। प्रकृति के परिवर्तनो की घटनाओ को वह बडे ध्यान से देखा करता था, और उन पर घटो विचार करता रहता था।

मृत्यु-दर्शन ग्रौर वैराग्य

रत्नचन्द्र अभी किशोर अवस्था मे ही था। एक दिन उसने अपनी आँखो से मृत्यु का साक्षात्कार कर लिया। उसने देखा, कि जगल मे घूमते-फिरते एक सुन्दर स्वस्थ गोवत्स (बछडे) पर एक क्रूर सिंह ने सहसा आक्रमण कर दिया। कुछ ही क्षणो मे उसे मारकर खा गया। उक्त दारुण घटना रत्नचन्द्र के लिए एक बोध-पाठ बन गई। अभी तक उसने जीवन की सुषमा ही देखी थी। आज जीवन के विपरीत-भाव क्रूर मृत्यु को भी देख लिया।

वह जन्म, जीवन और मरण पर विचार करने लगा। यह जन्म अज्ञात है। यह जीवन सुन्दर है। परन्तु यह मृत्यु क्या है ? यह बहुत क्रूर है, भयकर है। वह गम्भीर होकर जन्म, जीवन और मरण के

प्रसिद्ध जैन मुनि गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० का बाल्यकाल-जन्म रातोजा ग्राम (जैपुर) सं० १८५० भा० कृ० १४

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० का वैराग्य काल - दीक्षा की प्रार्थना

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० की मुनि दीक्षा नारनौल, पटियाला, सं० १८६२ भा० शु० ६

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० मुनियों को आगम पढ़ा रहे हैं

क्रम पर चिन्तन और मनन करने लगा। विचार किया—यह ससार कितना क्रूर है ? यहाँ एक जीवन दूसरे जीवन का भक्ष्य है ! यह ससार विचित्र है, अद्‌भुत है। यह मृत्यु जिसे बछडे के जीवन मे, मैने देखा है। क्या कभी मेरे जीवन मे भी आएगी ? अन्दर से आवाज आई अवश्य, अवश्य ही। रत्न को भव की विरक्ति का बीज मिल गया।

गुरु की खोज में

रत्न अपने घर नही लौटा। वह उस गुरु की खोज मे निकल पडा, जो उसे मृत्यु के क्रूर पजो से बचा सके। उसने सोचा माता से दुलार मिल सकता है, पिता से प्यार मिल सकता है, और परिवार एव परिजन से सम्मान मिल सकता है, किन्तु क्रूर मृत्यु से सरक्षण इन सब से नही मिल सकता। वह मिलेगा, उस गुरु से जो स्वय मृत्युञ्जयी है। मृत्यु को जीतने के मार्ग पर चल रहा है। वह गुरु कौन है, कहाँ पर मिलेगा ? रत्न इन्ही विकल्पो पर विचार करता-करता सोचता-समझता, नारनौल नगर पहुँच गया—जहाँ उसका अपना कोई परिचित नही था।

जिन खोजा, तिन पाइया

जो खोजता है, वह पा लेता है। द्वार उसी के लिए खुलते है, जो खटखटाता है। रत्नचन्द्र, जिसकी खोज में था, वह गुरु उसे मिल गया। उस समय नारनौल नगर के धर्म-स्थानक मे तपस्वी हरजीमल जी महाराज विराजित थे। रोज उनके प्रवचन होते थे। श्रोताओ की भीड मे रत्न भी जा बैठा। तपस्वी जी के प्रवचन को सुनकर उसको शान्ति और सन्तोष मिला। विवेक और वैराग्य की अमृत-वर्षा से रत्न को बडा आनन्द मिला। वह जिस वस्तु की खोज मे था, वह वस्तु उसे मिल गई।

एक दिन अवसर पाकर उसने अपने मन की बात गुरु के चरणो मे रखी। बोला—"गुरुदेव, मैं भी आपके स्वीकृत पथ का यात्री बनना चाहता हूँ। क्या आप मुझे अपने चरणो मे शिष्य रूपेण स्वीकार करेंगे।" गुरु ने शिष्य की योग्यता और तीव्र भावना को देखकर कहा—"स्वीकार तो मैं कर लूँगा। परन्तु अपने माता और पिता की अनुमति लेना, तेरा काम होगा।" गुरु की स्वीकृति पाकर रत्न परम प्रसन्न हो गया।

दीक्षा की अनुमति

राही को राह मिल ही जाती है। देर-सबेर हो भी जाए, यह सम्भव है। किन्तु राह न मिले, यह कभी सम्भव नही। ससार के अन्य बन्धनो को तोडना आसान है, पर माता की ममता का बन्धन तोडना सरल नही है। माता की आँखो का खारा पानी बडी ताकत रखता है। किन्तु मेघकुमार और अतिमुक्त कुमार जैसे दृढ सकल्पी बालको के लिए माता की ममता का बन्धन भी बन्धन नही रहता। रत्नचन्द्र की राह मे दिक्कते बहुत थी, पर उसके मनोबल ने सब पर विजय प्राप्त की। पिता को सहज

समझा लिया, किन्तु माता को जरा देर से समझा पाया। माता और पिता दोनो की ओर से उसे दीक्षा लेने की अनुमति मिल गई।

सागार से अनगार

तपस्वी हरजीमलजी महाराज की सेवा मे एक वर्ष तक साधु-जीवन की शिक्षा ग्रहण की। आचार शास्त्र का अध्ययन किया। साधक-जीवन के योग्य मुख्य बातो का अभ्यास किया। जब गुरु ने हर प्रकार से आपके जीवन की परीक्षा कर ली और आप को हर तरह से दीक्षा के योग्य पाया, तो विक्रम सवत् १८६२ मे, भाद्रपद शुक्ला ६ शुक्रवार के दिन, आप को दीक्षा दे दी। अब रत्न चन्द्र गृहस्थ से रत्नचन्द्र मुनि हो गए। दीक्षा के अवसर पर आपके नारनौल नगर मे माता और पिता तथा अन्य परिजन भी वहाँ उपस्थित थे। रत्न परम प्रसन्न था।

संयम और तप

दीक्षा ग्रहण करते ही रत्न मुनि ने सयम और तप की साधना प्रारम्भ कर दी। सयमी जीवन मे वे सदा जागृत रहते थे। जरा-जरा सी बातो मे भी अपने सयम का ध्यान रखते थे। विवेक से चलते, विवेक से उठते, विवेक से बैठते, विवेक से बोलते, किंबहुना, अपना हर काम विवेक से करते थे। सयम के साथ तप की भी साधना प्रारम्भ की। क्योकि अपने तपस्वी गुरु से उन्हे तप की विशेष प्रेरणा मिली थी। तप और सयम के साथ-साथ अपने गुरु की सेवा भी उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। तप, सयम और सेवा—ये तीनो साधु-जीवन के विशेष गुण हैं, जिनकी साधना उन्होने निरन्तर की।

विशेष अध्ययन

अपने दीक्षा-गुरु से अध्ययन करने के बाद उन्हे विशेष अध्ययन करने की भावना जगी। गुरु ने भी अपने शिष्य की तीव्र-जिज्ञासा को देख कर अपनी ही सम्प्रदाय के तत्कालीन विद्वान् और प्रखर पण्डित श्रद्धेय लक्ष्मीचन्द्र जी महाराज से रत्नमुनि को विशेष रूप से अध्ययन कराने की प्रार्थना की, जिसको उन्होने सहर्ष स्वीकार कर लिया। योग्य शिष्य को सुयोग्य गुरु मिल गया। रत्नमुनि जी ने अपनी पैनी बुद्धि से, प्रखर प्रतिभा से और तर्कपूर्ण मेधा-शक्ति से अल्पकाल मे ही अपने कठोर परिश्रम से सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश जैसी प्राचीन भाषाओ को सीख लिया। आगम, दर्शन साहित्य और ज्योतिष आदि शास्त्र का विशेष अध्ययन कर लिया। तत्कालीन आचार्य श्री नूणकरण जी महाराज से भी आपने आगम साहित्य का गभीर तलस्पर्शी अध्ययन करके सैद्धान्तिक ज्ञान क्षेत्र मे प्रौढता प्राप्त की।

धर्म-प्रचार

तप, सयम, सेवा और विशेष अध्ययन से परिपक्व होकर, अपने गुरु की आज्ञा लेकर रत्नमुनि जी ने धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। जन-जीवन मे नैतिक जागरण, धर्म-भावना और सस्कृति का खूब
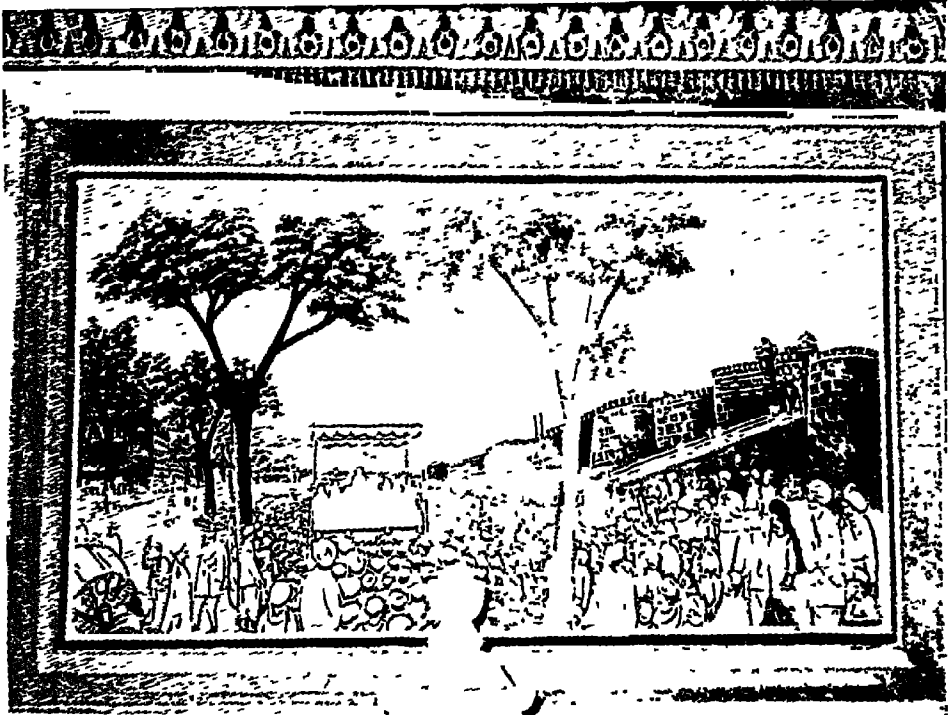
गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र ... दिल्ली में भाषण
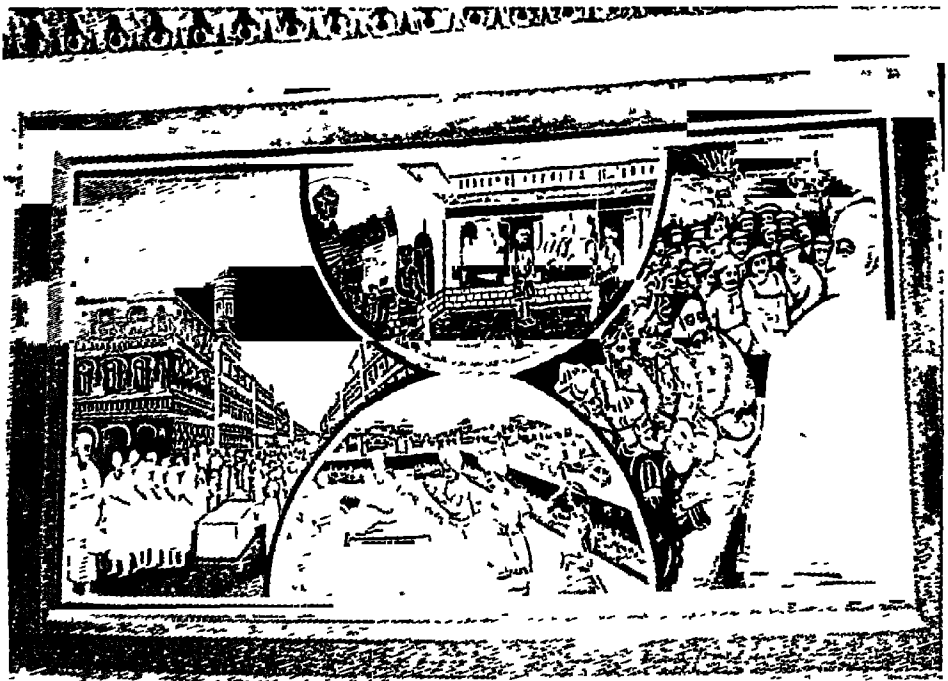
गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० का जैपुर ... अलवर और अमृतसर में ...

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० का आगरे में पदार्पण और धर्म प्रचार

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० का अनशन और अन्तिम समाधी आगरा सं० १८२१

प्रचार और प्रसार किया। पण्डित मुनि श्री रत्नचन्दजी महाराज ने अपनी विमल ज्ञान-राशि को पजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश और विशेषत उत्तर प्रदेश के जन-जीवन मे महामेघ के समान हजार-हजार धाराओ मे बरसकर बिखेर दिया। अनेक स्थानो पर बलिप्रथा के रूप मे प्रचलित पशुहत्या बन्द कराई। अन्ध विश्वास और अज्ञानता के आधार पर फैले हुए वेश्या नृत्य, मृत्युभोज, जातिवाद और भूतप्रेतवाद का आपने दृढता से उन्मूलन किया। साधुसघ एव श्रावक सघ मे आए शिथिलाचार और भ्रष्टाचार पर तो आप केशरी सिंह की तरह झपटते थे। आपकी वाणी मे ओज था, आप मे निर्भयता थी, अन्तर मे विवेक का विशुद्ध प्रकाश था, फलत जिस विषय पर भी बोले, साध कर बोले, सचाई से बोले। यही कारण था कि आपको धर्म प्रचार के क्षेत्रो मे सब ओर सफलता पर सफलता मिलती चली गई।

नवीन क्षेत्र

आप के धर्म-प्रचार के परिणामस्वरूप अनेक नवीन-क्षेत्र बने। आगरा मे लोहामण्डी और हाथरस, जलेसर, हरदुआगज, लश्कर तथा जमुना पर मे लुहारा सराय, बिनौली, एलम रठौडा, छपरौली दोअर एव लिसाढ-परासोली आदि अनेक क्षेत्र आप के धर्म प्रचारार्थ किए गए दीर्घकालीन परिश्रम के प्रतिफल है। यहाँ के लोगो मे आज भी आपके प्रति विशेष भक्ति और धर्ममय अनुराग है। आगरा लोहामण्डी पर तो आपकी विशेष कृपा थी। यहाँ पर जो धर्मबीज का वपन हुआ, वह आपके सामने ही अकुरित हो चुका था, और आगे चलकर तो वह इतना पुष्पित एव पल्लवित हुआ कि अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन संघ मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

अध्यापन

आपने अपने जीवन-काल मे, अनेक श्रावक और श्राविकाओ को ,तथा साधु और साध्वियो को समय-समय पर शास्त्रो का अध्यापन कराया था। पजाब के सुप्रसिद्ध सन्त पूज्यपाद अमरसिहजी महाराज, महाकवि चन्द्रभानजी और आत्मारामजी महाराज—जो बाद मे मूर्तिपूजक परम्परा मे सूरीश्वर विजयानन्दजी के नाम से प्रसिद्ध हुए—आप के प्रख्यात यशस्वी विद्या-शिष्य रह चुके थे। इनके सिवा भी प० कवरसेनजी महाराज, प० विनयचन्द्र जी महाराज और प० चतुरभुजजी महाराज आदि आपके अनेक शिष्यो ने भी आपसे ही अध्ययन किया था। अनेक साध्वियो एव श्रावको को भी आपसे ज्ञान-लाभ का सौभाग्य मिला था। आप मानवरूप मे साक्षात् बहती हुई ज्ञान-गगा थे, जिधर भी गए, अध्ययन, मनन एव चिन्तन के सूखे और उजडे हुए खेत हरे भरे हो गए।

स्वर-साधना का चमत्कार

गुरुदेव का आगम और दर्शन-शास्त्र का ज्ञान तो गुरु गम्भीर था ही, अन्य विषयो का परिज्ञान भी अत्यन्त उच्चकोटि का था। आपके सम्बन्ध मे अनेक अनुश्रुतियाँ जन-समाज मे प्रचलित है। आपकी स्वर-साधना के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण घटना बहु-चर्चित है। एक बार गुरुदेव बडौत (मेरठ) नगर

के उपाश्रय मे विराजमान थे। दश-बीस भक्त श्रावक तत्व-चर्चा कर रहे थे। इसी बीच नीचे बाजार मे से कुछ बहनें गीत गाती हुई निकली। गुरुदेव कुछ देर के लिए रुके और बहनो के आगे बढ जाने के बाद प्रसग-चर्चा मे कहा कि गाने वाली बहनो मे वह तार स्वर वाली एक बहन अमुक जाति की है, अमुक रग की है, अमुक वय की है और एक आँख से कानी है। गुरुदेव ने बहनो को देखा नही था और न उनसे किसी प्रकार पूर्व परिचित ही थे। जब उपस्थित सज्जनो ने शीघ्र ही जाकर जाँच की, तो गुरुदेव के कथन का अक्षर-अक्षर सत्य पाया, और सब लोग आश्चर्य-चकित हो गए। स्थानाग और अनुयोगद्वार सूत्र के स्वर-मण्डल प्रकरण मे तथा अन्य अनेक ग्रन्थो मे स्वर-विषयक कितनी ही अद्भुत बातो का वर्णन है। परन्तु शास्त्रीय विषयो का पारायण कर लेना, उन्हे पढ लेना एक बात है, और उनके वास्तविक मर्म को समझ लेना दूसरी बात है। गुरुदेव के जैसा अनुभूति-गाम्भीर्य किसी रहस्य-वेदी योगी पुरुष को ही प्राप्त होता है।

भविष्य-द्रष्टा

गुरुदेव ज्योतिष शास्त्र के भी पारगत विद्वान थे। उनके चिन्तन-चक्षुओ के समक्ष तमसाच्छन्न भविष्य का निगूढ घटना-चक्र करतलामलकवत् स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता था। केवल ज्योतिषशास्त्र ही नही, उसके साथ योग-साधना का चमत्कार भी मिश्रित था। उनकी भविष्य वाणियो के अनेकविध उदाहरण है, जिनमे से कुछ लिखित है और कुछ जनश्रुत हैं। यहाँ परिचय के लिए कुछ घटनाओ का उल्लेख पर्याप्त होगा।

तपस्वी श्री सेवगरामजी, जो आचार्य श्री शिवरामदासजी के प्रशिष्य, तपस्वी देवकरणजी के शिष्य, एव तत्कालीन आचार्य तुलसीरामजी म० के बडे गुरु भ्राता थे, मनोहर सम्प्रदाय मे बडे ही प्रभावशाली तपोमूर्ति सन्त थे। आपका जन्म भिवानी (हरियाणा प्रान्त) के पास बापोडा ग्राम मे विक्रम स० १८२० मे हुआ और दीक्षा १८६१ पौषमास मे चरखी दादरी मे हुई। आप की तप साधना बडी ही उग्र थी। महीने भर का लम्बा उपवास होता, साथ ही विहार, व्याख्यान एव स्वाध्याय आदि का कार्यक्रम होता, और आप जब देखो तब प्रसन्न। बालक जैसा निर्मल और सरल हृदय। दीर्घविधि तप का भी न कोई प्रदर्शन और न कोई अहम्।

तपस्वीजी सिघाणा (जयपुर राज्य) मे विराजमान थे। स्वस्थ शरीर, कोई व्याधि नही। कुछ अन्दर से लहर आई और अनुभूति हुई कि माघकृष्णा चौथ रविवार को आलोचना-सलेखना करके सथारा ग्रहण कर लिया, यावज्जीवन के लिए आहार का त्याग कर दिया। कुछ ही दिन पश्चात् पूज्य गुरुदेव दर्शनार्थ सेवा मे पहुँचे। तपस्वी जी और सघ का हृदय प्रेमोल्लास से तरगायित हो गया। कुछ दिन ठहर कर कुचामण (मारवाड) जैन सघ की भावभरी प्रार्थना को लक्ष्य मे रखकर जब विहार करने लगे, तो सघ ने कहा, "महाराजश्री! तपस्वी जी का सथारा है, न मालूम कब पूर्ण हो? आपकी अन्तिम काल मे उपस्थिति आवश्यक है।" भविष्य द्रष्टा गुरुदेव ने शान्तस्वर मे कहा —"अभी तपस्वी जी का

कुछ नही विगडने वाला है। मैं कुचामण जाकर और वहाँ एक मास ठहर कर स्वर्गवास से पहले ही पुन सिघाणा लौट आऊँगा।" तपस्वी जी मुस्कराए आज्ञा मिली। और ठीक स्वर्गवास से पहले तपस्वी जी के चरणो मे लौट आए। दोनो ही भविष्य द्रष्टा, आज्ञा लेने वाले और आज्ञा देने वाले, भविष्य के सम्बन्ध मे कुछ इस प्रकार निश्चित थे कि कोई व्याकुलता नही, कोई इधर उधर की अस्थिरता नही। तपस्वी जी छप्पन दिन का लम्बा सथारा पूर्ण कर फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी शुक्रवार को स्वर्गवासी हुए।

भविष्य दर्शन की दूसरी घटना पजाव की है। पजाव प्रान्त के महामहिम आचार्य पूज्य श्री अमरसिह जी म० के गुरु भ्राता तपस्वी श्री जयन्ती लाल जी ने पटियाला मे तीन मास का सुदीर्घ घोर तपश्चरण किया था। वीच मे स्वास्थ्य विगडा, इतना विगडा कि तपस्वी जी सथारा की तैयारी करने लगे। पूज्य गुरुदेव ने तपस्वी जी से कहा कि अभी सथारा का समय नही आया है। सथारा आपको आएगा, परन्तु अव नही, तव। कहा जाता है, गुरुदेव के वताए समय पर ही तपस्वी जी सथारा प्राप्त कर स्वर्गवासी हुए।

अपने स्वय के स्वर्गवास के सम्बन्ध मे भी गुरुदेव ने महीनो पहले भविष्यवाणी करदी थी कि वैशाख शुक्ला पूर्णिमा शनिवार को दिन के दो वजने पर स्वर्गवास होगा और गुरुदेव का यह कथन शत प्रतिशत काल के काटे पर सही निकला।

अनेक श्रावक और श्राविकाओ के सथारा के सम्वन्ध मे भी इसी प्रकार की तथ्य पूर्ण जनश्रुतिया है, जो विस्तारभय से नही लिखी जा रही हैं।

श्रद्धा की अमर ज्योति

गुरुदेव अपने युग के प्रकाण्ड पण्डित, कवि, प्रभावक, प्रवचनकार और यशस्वी साहित्यकार थे। जैन और अजैन जनता मे उन्हे सर्वत्र एक दिव्य महापुरुष जैसा सत्कार, सम्मान, प्रतिष्टा और जयजयकार मिलता था। इतने यशस्वी और महान् होते हुए भी आप अपने पूज्य गुरु जनो के प्रति अटूट श्रद्धा भक्ति रखते थे। आपके समय मे प्रथम पूज्य नूणकरण जी आचार्य थे। आप आचार्य श्री के अनुशासन मे रहकर उनकी वह उल्लेखनीय भक्ति और सेवा करते थे कि आचार्य श्री गद्-गद हो जाते थे। आचार्य श्री की शुभाशी आपको मुक्त-भाव से मिली और इतनी मिली कि आचार्य न होते हुए भी आपने आचार्य-जैसा उच्च गौरव प्राप्त किया। आचार्य नूणकरण जी महाराज की स्तुति मे आपके द्वारा वनाए गए दोहा, कवित्त और अन्य पद आपकी सहज निर्मल उत्कृष्ट आचार्य-भक्ति का आज भी सप्रमाण शखनाद करते है।

आचार्य श्री नूणकरण जी के स्वर्गवास के पश्चात् आपके ही अनुरोध पर सर्वसम्मति से पूज्य श्री तुलसीराम जी आचार्य पद पर आसीन हुए। आचार्य श्री की दीक्षा विक्रम सवत् १८६२ आषाढ मास मे, चरखी दादरी मे हुई थी। दीक्षा मे आपसे दो ही महीने वडे थे। फिर भी आप आचार्य श्री

की आज्ञा का शिष्य के समान पालन करते थे। आचार्य श्री की भक्ति का वह आदर्श प्रस्तुत किया, जो समस्त सघ मे अनुशासन का एक महान् चिर-यशस्वी आदर्श ही बन गया।

विनम्रता की प्रतिमूर्ति

गुरुदेव जितने महान् थे, उतने ही विनम्र भी थे। आप एक पुष्पित एव फलित विशाल वृक्ष के समान ज्यो-ज्यो महान् हुए, यशस्वी हुए, प्रख्यात एव प्रतिष्ठित हुए, त्यो-त्यो अधिकाधिक विनम्र होते चले गए। गुरुजनो के प्रति ही नही, अपने से लघु जनो के प्रति भी आपका हृदय प्रेम से छलकता था। छोटे से छोटे साधुओ की भी रोगादि कारण मे आपने वह सेवा की है, जो आज भी यशोगाथा के रूप मे गाई जा रही है।

आप अपने युग के महान् शास्त्राभ्यासी और गम्भीर विद्वान् थे। आपकी प्रतिष्ठा जनता मे सर्वत्र अपने चरम बिन्दु पर पहुँची हुई थी, फिर भी आप अहकार से दूर थे और अपने को एक साधारण जिज्ञासु मात्र समझते थे। केवल समझते ही न थे, अपितु स्वरचित ग्रन्थो मे अपनी लघुता का मुक्तभाव से सर्वथा नि सकोच होकर उल्लेख करते थे। मोक्ष मार्गप्रकाश की प्रशस्ति मे आपने अपने सम्बन्ध मे लिखा है —

> बार-बार कर जोड कर गुणवन्त सू अरदास।
> अल्प-बुद्धि मोहि जान के मत कीजो उपहास ॥
> वृषम आरे पाचवें कर्म-जोग अवतार।
> मोह मिट्यो नहिं पर थकी, पूरण विषय-विकार ॥
> मन वच काया वश नहीं, जिन आज्ञा परमान।
> सजम-आराधन कठिन, पड्यो मोहवश जान ॥

सत्ता से निर्लिप्त

मानव सत्ता का दास है, अधिकार-लिप्सा का गुलाम है। गृहस्थ-जीवन मे क्या, साधु-जीवन मे भी सत्ता मोह के महारोग से छुटकारा नही हो पाता है। ऊचे से ऊचे साधक भी सत्ता के प्रश्न पर पहुँच कर लडखडा जाते है। जैन धर्म की एक के बाद एक होने वाली शाखा-प्रशाखाओ के मूल मे यही सत्ता-लोलुपता और अधिकार-लिप्सा रही है। आचार्य आदि पदवियो के लिए कितना कलह और कितनी विडम्बना होती है, यह किसी से छुपा नही है।

परन्तु गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० इस दोष से मुक्त थे। सत्ता और अधिकार के मोह से सर्वथा निर्लिप्त थे। आपने जहा कही अपने नाम का प्रयोग किया है, केवल रतन या रत्नचन्द्र लिखा है। विक्रम सवत् १९१८ भाद्रपद शुक्ला छठ के दिन सिंघाणा मे जब आचार्य श्री तुलसीराम जी का स्वर्गवास हुआ, तब समग्र सघ ने एक मत होकर आपसे आचार्य पद ग्रहण करने की प्रार्थना की। परन्तु आपने

उंचाई १००००० यो०
१००० योजन

कहा "मै तो सामान्य साधु के रूप मे सघ की यथाशक्ति सेवा करना चाहता हूँ। आचार्य-जैसे गुरुतर पद-भार को मैं नही वहन कर सकता।" कितना सरस, विनम्र एव हृदयस्पर्शी उत्तर है। महापुरुष कर्तव्य मे विश्वास रखते है, किसी पद या पद की सत्ता मे नही।

लेखन-कला

आपका अक्षर-लेख इतना सुन्दर है कि मानो, कागज पर यथास्थान मोती जड दिए हो। प्रबुद्ध पाठक विना कही रुके, धारा प्रवाह, आपका हस्तलेख पढ सकता है, और साथ ही भावार्थ भी ग्रहण कर सकता है। अक्षर-सौन्दर्य के साथ शुद्धता, स्पष्टता और सुवाच्यता भी आपके लेखन के महत्त्वपूर्ण गुण है।

कब, कहाँ और क्या लिखा ?

१ विक्रमाब्द १८६६ सिघाणा के चौमास मे "जीवाभिगम-सूत्र"।
२ ,, १८७३ माघ, आगरा मे "काल-ज्ञान"।
३ ,, १८७४ जीद के चौमस मे "अनुत्तरोपपातिक सूत्र"।
४ ,, १८७९ नारनौल के चौमास मे "साधु गुण माला" और "ठाणाग-सूत्र"।
५ ,, १८८८ चैत्र, अलवर मे "कलियुगबत्तीसी"।
६ ,, १८८८ आषाढ, लश्कर मे "तेरह काठिया"।
७ ,, १८९३ आगरा मे "भरत बाहुवली सवाद"।
८ ,, १८९८ विनौली के चौमास मे "मोक्ष-मार्ग प्रकाश"।
९ ,, १८९९ आगरा, मोती कटरा, के चौमास मे "आत्महित सज्झाय"।
१० ,, १९१५ बडौत के चौमास मे "सजया"।

इनके अतिरिक्त भगवती-सूत्र, दशवैकालिक-सूत्र आदि और अन्य फुटकर प्रश्नोत्तर साहित्य भी आपने काफी लिखा है, परन्तु निश्चित जानकारी के अभाव मे यहाँ उनके सम्वन्ध मे अभी कुछ नही लिखा जा सकता है।

साहित्य-साधना

एक वहुश्रुत का कथन है कि अधिकतर जन-समाज के चित्त मे चिन्तन का प्रकाश ही नही होता। कुछ ऐसे भी विचारक होते है, जिनके चित्त मे चिन्तन की ज्योति तो जगमगा उठती है, परन्तु उसे वाणी के द्वारा प्रकाशित करने की क्षमता ही नही होती। और कुछ ऐसे भी है, जो चिन्तन कर सकते है, अच्छी तरह वोल भी सकते हैं, परन्तु अपने चिन्तन एव प्रवचन को चमत्कार पूर्ण-शैली से लिखकर साहित्य का रूप नही दे सकते।

श्रद्धेय गुरुदेव को उक्त तीनो ही भूमिकाओ मे कमाल हासिल था। जहाँ उनका चिन्तन और प्रवचन गम्भीर एव तत्त्वस्पर्शी था, वहाँ उनकी साहित्यिक रचनाएँ भी अतीव उत्तम कोटि की है। गुरुदेव के साहित्य मे गुरुदेव की आत्मा बोलती है। उनकी रचनाएँ केवल रचना के लिए रचनाएँ नही ह, अपितु उनमे उनके शुद्ध, पवित्र एव सयमी जीवन का अन्तर्नाद मुखरित है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, ठीक है, परन्तु इतना ही नही, वह स्वय लेखक के अन्तर्जीवन का भी दर्पण होता है। गुरुदेव का साहित्य आत्मानुभूति का साहित्य है, व्यक्ति एव समाज के चरित्र-निर्माण का साहित्य है। गुरुदेव की साहित्य गगा मे कही सैद्धान्तिक तत्त्व-चर्चा की गहराई है, तो कही चरित्र ग्रन्थो की उत्तुग तरगे है। कही स्तुति, भजन और उपदेश पदो का भक्ति-प्रवाह है, तो कही आध्यात्मिक भावना का मधुर-घोष है। आपके द्वारा रचित अनेकविध स्फुट अध्यात्मपद आज भी सहस्र जनकण्ठो से मुखरित होते रहते हैं।

गुरुदेव के द्वारा लिखित साहित्य का अधिकाश भाग अभी अप्रकाशित पडा है। कुछ भाग उपलब्ध भी नही है। फिर भी, जो कुछ प्राप्त है, जानकारी मे है, उसका सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

मोक्षमार्ग-प्रकाश

उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वे अध्ययन पर यह एक स्वतन्त्र व्याख्यारूप ग्रन्थ है। इसमे सप्तभगी स्याद्वाद, नय और निक्षेपो का इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया है कि गुरुदेव के तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी पाण्डित्य एव बहुश्रुतत्व का पूर्ण दर्शन होता है। निश्चय एव व्यवहार सम्यक्त्व, द्रव्यपूजा एव भावपूजा, धर्मास्तिकाय आदि षड्द्रव्य, गुणस्थान, कर्मवाद आदि का भी यथास्थान गभीर विवेचन किया है। प्रतिपादित सिद्धान्त के समर्थन मे भगवती-सूत्र, स्थानाग, समवायाग, राजप्रश्नीय, ज्ञातासूत्र, अनुयोगद्वार आदि आगमो के और तत्वार्थ-सूत्र एव गोमट्टसार आदि तत्त्व ग्रन्थो के प्रचुर उद्धरण दिए है, जो गुरुदेव के शास्त्रीय अध्ययन की व्यापकता प्रमाणित करते है।

ग्रन्थ तत्कालीन हिन्दी गद्य मे लिखा गया है, जिसमे राजस्थानी भाषा का पुट है। विषय गभीर एव दार्शनिक होते हुए भी प्रतिपादन-शैली इतनी सरल एव सुबोध है कि साधारण जिज्ञासु भी उक्त ग्रन्थ के अध्ययन से अपनी तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति कर सकता है।

मोक्षमार्ग प्रकाश का हिन्दी रूपान्तर, गुरुदेव के ही प्रशिष्य प० श्री भरतमुनि जी के द्वारा सपादित होकर लोहामडी सघ से बहुत वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। उसी का द्वितीय सस्करण प० विमलकुमार जी द्वारा सशोधित होकर दोघट (मेरठ) से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी रूपान्तर अभी और अधिक परिमार्जन की अपेक्षा रखता है।

तत्त्वानुबोध

जैन-दर्शन मे जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये नव तत्त्व माने गए है। प्राचीन आगमो एव ग्रन्थो मे इनका विस्तार से वर्णन उपलब्ध है। नवतत्त्व के नाम से

प्राकृत, सस्कृत, राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी मे अनेक स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थ भी लिखे गए है। गुरुदेव ने भी नवतत्त्व पर पाण्डित्यपूर्ण गभीर विवेचना की है। प्रत्येक स्थल के विषय विवेचन मे गुरुदेव का तत्त्व-चिन्तन स्पष्ट झलकता है। जो कुछ लिखा है, प्रमाण पुरस्सर एव तर्क सगत लिखा है। नव तत्त्व के गम्भीर अभ्यासियो के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी एव ज्ञानवर्द्धक है। ग्रन्थ गद्य मे है। भाषा राजस्थानी मिश्रित तत्कालीन हिन्दी है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के यशस्वी प्रकाशक श्रावक भीमसिंह माणक (बम्बई) द्वारा प्रकरण-रत्नाकर नामक सग्रह ग्रन्थ के प्रथम भाग मे यह ग्रन्थ बहुत वर्षो पहले प्रकाशित हुआ है। विद्वानो की दृष्टि मे नवीन सशोधन एव सम्पादन पद्धति के साथ उक्त ग्रन्थ का पुन प्रकाशन अपेक्षित है।

प्रश्नोत्तर-माला

प्रस्तुत ग्रन्थ मे धार्मिक और तात्त्विक प्रश्नो का बहुत ही सुन्दर शैली मे उत्तर दिया गया है। यद्यपि प्रश्नोत्तर-माला ग्रन्थ बहुत बडा नही है, तथापि इस छोटे से ग्रन्थ मे ही पूज्य गुरुदेव ने सागर को गागर मे भर दिया है। इसके प्रश्न केवल उस युग के ही नही, अपितु शास्त्रीय प्रश्नो को भी हल किया गया है। पूज्य गुरुदेव अपने युग के सुप्रसिद्ध तत्त्वदर्शी सन्त थे। अत इधर-उधर से अनेक प्रश्न उनके पास समाधान के लिए आते थे, उन्ही प्रश्न और उत्तरो का यह सकलन है। किन्तु प्रश्नोत्तर-माला अभी लिखित रूप मे ही है, वह प्रकाशित नही हो पायी है।

गुण-स्थान-विवरण

यह ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टि से बडा ही महत्त्वपूर्ण है। आगम साहित्य मे यत्र तत्र गुण स्थानो की चर्चा और विचारणा उपलब्ध होती है। समवायाङ्गसूत्र मे और उसकी अभयदेव वृत्ति मे गुणस्थानो का सक्षिप्त वर्णन मिलता है। इसके बाद कर्म ग्रन्थो मे गुणस्थानो का बडे विस्तार से वर्णन आचार्य देवेन्द्रसूरि ने किया है। इस प्रकार आगमगोत्तर साहित्य मे विभिन्न आचार्यो ने विभिन्न दृष्टिकोणो से गुणस्थानो का विश्लेषण किया है।

पूज्य गुरुदेव ने उक्त समस्त ग्रन्थो के साररूप मे गुणस्थान-विवरण लिखा है। इस ग्रन्थ मे गुणस्थानो के लक्षण, बन्ध, सत्व, उदय और उदीरणा आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। परन्तु गुण-स्थान-विवरण भी अभी तक अप्रकाशित ही है।

इसके अतिरिक्त समय-समय पर की गई विचार चर्चाओ पर भी सक्षेप मे छोटे-छोटे ग्रन्थो की रचना की थी, जिनमे दिगम्बर-चर्चा, तेरहपन्थमत-चर्चा और सवत्सरी चर्चा मुख्य है।

कविता-साहित्य

पद्य रूप मे पूज्य गुरुदेव ने जिन स्तुति, सतीस्तवन, प्रार्थना, ससार-वैराग्य, बारह भावना, बारह-मासा आदि पर कुछ आध्यात्मिक पद्य लिखे है, जिनमे कुछ प्रकाशित हो चुके है और कुछ अभी तक

अप्रकाशित है। बहुत वर्षो पहले पण्डित रत्न पूज्य श्री रघुनाथजी म० द्वारा सम्पादित "मनोहर-रत्न ग्रन्थावली" मे गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण कविताओ का सक्षिप्त सग्रह प्रकाशित हुआ था। वर्तमान मे तपस्वी श्री श्रीचन्द्रजी म० के सम्पादकत्व मे "रत्न-ज्योति" नाम से भी कुछ विशिष्ट पद्यो का सग्रह दो भागो मे प्रकाशित हो चुका है।

पद्यो के अतिरिक्त उन्होने कुछ छन्दो बद्ध चरित भी लिखे है, जिनमे "सुखानन्दमनोरमाचरित" विस्तृत है। भाव तथा भाषा की दृष्टि से यह रचना महत्त्वपूर्ण तथा सुन्दर है। यह चरित अभी तक प्रकाशित नही हो सका है। किन्तु उनके द्वारा रचित "सगर-चरित्र" और "इलायची चरित्र" प्रकाशित हो चुके है। उक्त जीवन चरित्रो मे विभिन्न छन्द और विभिन्न स्वर लहरियो का समावेश करके उन्हे जनगेय बना दिया गया है। कथावस्तु के साथ यथाप्रसग दान, शील, तप, भाव और वैराग्य आदि का वह विचारोत्तेजक वर्णन भी उपनिबद्ध है, जो पाठक की अन्तरात्मा को जागृत करके उसे जीवन-निर्माण के लिए प्रोत्साहित करता है।

शास्त्र-चर्चा

आपकी तर्क-शक्ति बडी ही विलक्षण थी। शका-समाधान के क्षेत्र मे आपका यश प्रतिष्ठा के केन्द्रबिन्दु पर पहुँच गया था। आपने अपने युग मे अनेक शास्त्र-चर्चाएँ की थी, जिनमें लश्कर और जयपुर की शास्त्र-चर्चा विशेष प्रसिद्ध है। लश्कर मे सवत् १६१७ मे श्री रत्नविजय जी से मूर्ति-पूजा पर और जयपुर मे सवत् १६१० मे तेरापन्थ के आचार्य पूज्य श्री जीतमल जी से दया एव दान पर की गई चर्चा के कुछ लिखित अश अब भी उपलब्ध है, जो आप श्री के अगाध आगमज्ञान, सूक्ष्म तर्क-शक्ति एव सामयिक सूझ-बूझ का हृदयग्राही परिचय देते हैं। इसके सिवा तत्कालीन अनेक समस्याओ पर यतियो से और आगरा मे एक ईसाई पादरी से भी ईश्वर के कर्तृत्व पर आप ने शास्त्र-चर्चा की थी।

अन्तिम-साधना

सुन्दरी उषा का प्रत्येक चरण-विन्यास, बहुरगी सन्ध्या मे विलीन होता है। अथ के साथ इति लगी रहती है। विक्रम सवत् १६२१ मे वैशाख शुक्ला द्वादशी बुधवार को सथारा ग्रहण किया और वैशाखी पूर्णिमा शनिवार के दिन जन-जीवन को आलोकित करने वाला वह दिव्य आलोक दिव्य-लोक का यात्री हो गया। विवेक और वैराग्य का प्रखर भास्कर—जो राजस्थान के क्षितिज पर उदय हुआ था, वह उत्तर प्रदेश के अस्ताचल पर अस्त हो गया। आगरा लोहामण्डी के जैन भवन मे सथारा की साधना विधिवत् पूर्ण करके पूज्यपाद श्रद्धेय गुरुदेव रत्नचन्द्रजी महाराज ने इस असार ससार को छोडकर अमर पद प्राप्त किया।

अन्तिम-सन्देश

आपने अपने भक्तो को अन्तिम सन्देश देते हुए कहा था। आप सब लोग धर्म की साधना करते रहना। अपनी श्रद्धा को शुद्ध और पवित्र रखना। अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म को जीवन मे उतारने

समाधि-भवन
श्री रत्नचन्द्रजी महाराज
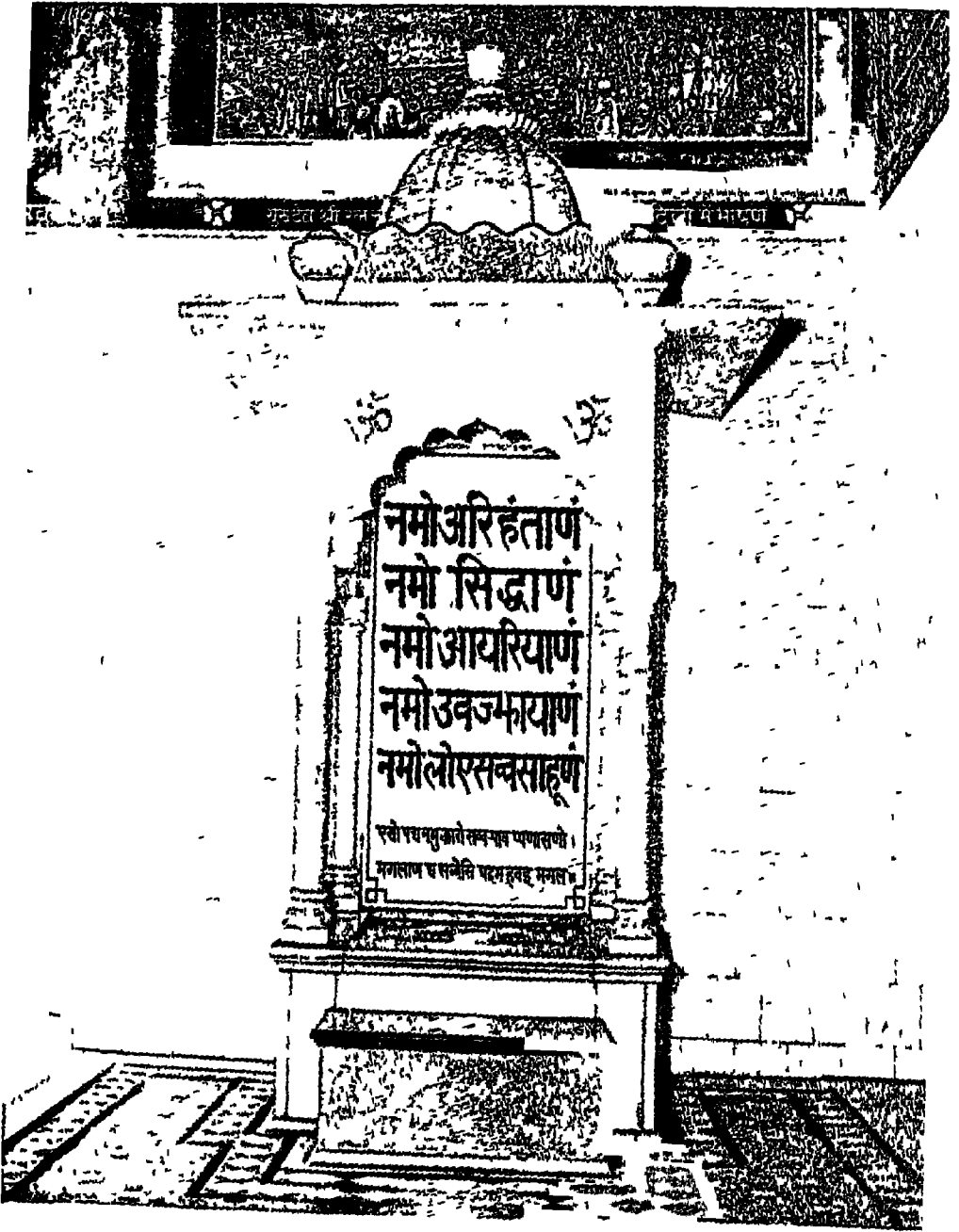
समाधि

पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी महाराज

श्री श्रीचन्द्र जी और मुनि श्री भजनलाल जी और आगरा के सुश्रावक श्री प्रभुदयाल जी के प्रति कृतज्ञ हूँ कि उनके सहयोग से मेरा मार्ग काफी प्रशस्त हुआ है। तपस्वी श्री श्रीचन्द्र जी, गुरुदेव के वर्षावासो के सम्बन्ध मे वर्षों मे शोध कर रहे हैं और उन्होंने वर्षावास की एक निश्चित तालिका तैयार की है। श्री प्रभुदयाल जी के शास्त्र सग्रह से भी महत्त्वपूर्ण जानकारी मिली है। अन्य मुनिराजो द्वारा लिखे गए गुरुदेव के छोटे वडे जीवन चरित्रो से भी कुछ जोड तोड लगाया गया है। इन्ही सब आधारो को लक्ष्य मे रखकर जीवन-रेखा अकित की गई है, और अब यह वर्षावास की तालिका भी प्रस्तुत की जा रही है।

विक्रम सवत्	क्षेत्र	
१८६२	नारनौल	(पजाव)
१८६३	भिवानी	(हिसार)
१८६४	हांसी	(हिसार)
१८६५	नारनौल	(पजाव)
१८६६	सिंघाणा	(शेखावाटी)
१८६७	कुचामण	(मारवाड)
१८६८	भरतपुर	(राजस्थान)
१८६९	मालेरकोटला	(पजाव)
१८७०	अमृतसर	(पजाव)
१८७१	महेन्द्रगढ	(पजाव)
१८७२	पटियाला	(पजाव)
१८७३	वडौत	(उत्तरप्रदेश)
१८७४	जीद	(पजाव)
१८७५	मालेरकोटला	(पजाव)
१८७६	कांधला	(मुजफ्फरनगर)
१८७७	नाभा	(पजाव)
१८७८	पटियाला	(पजाव)
१८७९	नारनौल	(पजाव)
१८८०	सिंघाणा	(शेखावाटी)
१८८१	एलम	(मुजफ्फरनगर)
१८८२	अमृतसर	(पजाव)
१८८३	दादरी	(पजाव)
१८८४	वामनौली	(उत्तर प्रदेश)
१८८५	वडौत	(उत्तर प्रदेश)
१८८६	आगरा	(उत्तर प्रदेश)

विक्रम सवत्	क्षेत्र	
१८८७	दिल्ली शहर	
१८८८	लश्कर	(मध्यप्रदेश)
१८८९	अलवर	(राजस्थान)
१८९०	जयपुर	(राजस्थान)
१८९१	बीकानेर	(राजस्थान)
१८९२	आगरा शहर-मोतीकटरा	(उत्तर प्रदेश)
१८९३	कुचामण	(मारवाड)
१८९४	बिनौली	(मेरठ)
१८९५	जोधपुर	(मारवाड)
१८९६	पटियाला	(पजाब)
१८९७	लश्कर	(मध्य प्रदेश)
१८९८	बिनौली	(मेरठ)
१८९९	दिल्ली शहर	
१९००	उज्जैन	(मध्य प्रदेश)
१९०१	लश्कर	(मध्य प्रदेश)
१९०२	आगरा-लोहामडी	(उत्तर प्रदेश)
१९०३	अलवर	(राजस्थान)
१९०४	एलम	(उत्तर प्रदेश)
१९०५	जलेसर	(उत्तर प्रदेश)
१९०६	लखनऊ	(उत्तर प्रदेश)
१९०७	हाथरस	(उत्तर प्रदेश)
१९०८	गढी मियावाली	(उत्तर प्रदेश)
१९०९	सुनाम	(पजाब)
१९१०	आगरा-लोहामडी	(उत्तर प्रदेश)
१९११	बिनौली-मेरठ	(उत्तर प्रदेश)
१९१२	हरदुआ गज	(अलीगढ)
१९१३	डीग	(भरतपुर)
१९१४	आगरा-लोहामडी	(उत्तर प्रदेश)
१९१५	बडौत	(उत्तर प्रदेश)
१९१६	अम्बाला शहर	(पजाब)
१९१७	लश्कर	(मध्य प्रदेश)
१९१८	आगरा शहर	(उत्तर प्रदेश)
१९१९	दिल्ली शहर	
१९२०	आगरा लोहामडी	(उत्तर प्रदेश)

उपसंहार

भारतीय संस्कृति के मौलिक तत्व हैं—त्याग, तपस्या और वैराग्य। भारतीय जन-जीवन के कण-कण में ये मौलिक तत्व इतने घुल-मिल गए हैं कि जीवन में एकमेक हो गए हैं। भारतीय संस्कृति के मूल में भोग नहीं, त्याग है। वह भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। भारतीय संस्कृति क्या है? भोगवाद पर त्यागवाद की विजय। तन पर मन का जयघोष। वासना पर संयम का जयनाद और क्या है वह? विचार में आचार, और आचार में विचार।

जिस साधु-चरित महापुरुष ने इस शाश्वत संस्कृति की रक्षा की है—उसे भूलकर भी भुलाना कठिन है, शक्य नहीं है। पूज्यपाद गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज उसी अमर-संस्कृति के उद्गाता, सजग प्रहरी और सबल अधिनेता थे।

गुरुदेव क्या थे? ज्ञान और कृति के सुन्दर समन्वय। विचार में आचार, और आचार में विचार। वे थे, मनोविजेता, अतएव वे थे, जगतो विजेता। उन्होंने निर्मल और अगाध ज्ञान पाया, पर उसका अहंकार नहीं किया। उन्होंने महान त्याग किया, परन्तु त्याग का मोह उनके मन में नहीं था। उन्होंने उत्कृष्ट तपस्या की, किन्तु उसका प्रचार नहीं किया। उन्होंने वैराग्य की उत्कट साधना की पर, उसका प्रसार नहीं किया।

जन्म, जीवन और मरण—यह कहानी है, मनुज की। परन्तु गुरुदेव का जन्म था कुछ करने के लिए। उनका जीवन था, पर-हित साधन के लिए। उनका मरण था, फिर न मरने के लिए।

बचपन, जवानी और बुढ़ापा—यह इतिहास है, मानव का। किन्तु उन्होंने नया मोड़ दिया, इस इतिहास को। उनका बचपन खेल-कूद के लिए नहीं था, वह था ज्ञान की साधना के लिए। उनकी जवानी भोग के लिए नहीं, वह थी संयम की साधना के लिए। उनका बुढ़ापा अभिशाप नहीं, वह था एक मंगलमय वरदान। पूज्य गुरुदेव ने अपने जीवन का सर्वस्व समर्पित कर दिया था, सर्वजन-हिताय और सर्वजन-सुखाय।

★

श्रद्धाञ्जलि

श्री दौलतसिंह कोठारी जी

[अध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग]

मुनि श्री रत्नचन्द्र जी महाराज १६ वीं सदी के उच्चकोटि के साधु थे। उनके उच्च आचार और विचार भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे। आत्म-भावना करते हुए भी उन्होंने अपने जीवन को मानवमात्र के उदय और कल्याण के लिए लगा दिया, विशेष रूप से पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में उन्होने बड़े पैमाने पर जन जागरण का काम किया। इस भारतीय विभूति की स्मृति को बनाए रखने के लिए 'रत्नमुनि स्मृति-ग्रंथ' का आयोजन उचित ही है। इस पुनीत अवसर पर मै मुनि श्री महाराज के प्रति हृदय से श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ और इस स्मृति-ग्रन्थ के आयोजन की सफलता चाहता हूँ।

गुरुदेव श्रद्धाञ्जलि

काव्यतीर्थ तर्कमनीषी पण्डित जीतमल्लजी

पचाचार-परायण सुगुणवान् सयत्नवान् योऽभवत्,
य भव्या समुपाश्रिता शिव-रमा-सौन्दर्य-सौख्याय च ।
दग्ध येन समग्र-दुर्नय-वन मोहारिमल्लो-जित,
यस्मै च स्मरणाञ्जलिं सुविधिना सन्तोऽर्पयन्ति प्रगे ॥
यस्माद् भीतमिवाखिलेन्द्रिय-दल दीन प्रलीन कृत,
यस्यादेययश सुधा हि सरसा पीत्वा प्रतृप्ता बुधा ।
यस्मिन्सत्यपि वादिभि र्न च कदा लब्धा जयश्री क्वचित्,
तस्मै श्रीयुत-रत्नचन्द्र-मुनये श्रद्धाञ्जलि र्मे सदा ॥

रागोरगाशी विप-वारणाय,
जानन्ति केचिद् विषहारि रत्नम्
भव्यैकवाञ्छा परिपूरणार्ह,
परे तु चिन्तामणिरत्न-सज्ञम् ॥
दु सह्य-माया-मल-शोधनार्थ,
मन्ये जना स्फटिकरत्नमेव ।
प्रगाढमज्ञानतमो निहन्तु-
मालोक-शील मणिरत्नकञ्च ॥
अध्यात्म-कोषस्य नव मनोज्ञ-
ममूल्य-रत्न च यमामनन्ति ।
भवन्तमप्येकमनेकरूप,
नमाम्यह त मुनिरत्न-रत्नम् ॥

जीयाच्चिर रत्नमुनीन्द्र-कीर्ति
ततोऽमरेन्द्र—व्रति-सत्प्रयत्न. ।
महोत्सवोऽप्येष शताब्दकस्यो—
ल्लसत्स्थितौ पूर्णतया सहैव ॥

गुरु-रत्नाष्टक

आचार्य चन्दनलाल पाराशर 'पीयूष'

'स्व-रूपा-सुतोऽय स लक्ष्मी गुरुणा,
सुशिष्य प्रधान प्रसिद्ध परार्थी ।
पिता 'गगारामो' महान् वै वरिष्ठ ,
सुतो येन लब्ध सुधीर सुवीर ।

महाशून्य-मध्ये तमस्तोम-भूरि-
निमग्नो जनोऽय तदर्थ दिनेश ।
प्रकाश प्रदत्त पृथिव्या प्रभूत-
स्त्वया सर्व-बन्धो ! गुरो ! ज्ञानराशे ।

तव स्नेह-राशि वय प्राप्य सर्वा,
सदा स्याम पूर्णा अपूर्णा इदानीम् ।
ददात्वद्य शक्ति समस्ता स्वकीया,
जनो जागृतो येन स्यात्सर्व-काले ।

शुभाद्यास्ति पुण्या शताब्दी तवैपा,
गुरो ! तेऽर्पण श्रद्धया पुष्पमेतत् ।
गृहीत्वा कृपा स्वा जनेषु प्रकृत्य-
सुपूर्णङ्करोत्वद्य सर्व त्वदीयम् ।

पवित्र दिन धन्यमेतत्समेभ्यो—
गुरो रत्नचन्द्रस्य पुण्या शताब्दीम् ।
समे सर्व-भावेन भूत्वा सहर्ष,
मिमा मानयन्त्यद्य दिव्ये स्थलेऽस्मिन् ।

स पूज्य स वन्द्य प्रशस्य स सेव्य ,
स धन्यो वरेण्यो स मान्य शरण्य ।
नमस्य स गण्यो यशस्योह्यु पास्य ,
स सम्य स भव्य स दिव्य सलभ्य ।

वय कुर्म आशा सदा सर्वथेमा,
शुभाशीर्जनेभ्यो विधेयाऽधुनेयम् ।
भवेत्कार्यमेतस्य सङ्घस्य पूर्ण,
शिव सुन्दर सत्य-रूप सदैव ।

इद तेऽस्य सङ्घस्य सर्व कुटुम्ब,
करोत्यर्चना ते विशेषेण दिव्याम् ।
भवेद् भूतिरेपा जगत्या समस्या,
सदा निश्चला चन्द्रसूर्यौ च यावत् ।७।

भाव-भरित श्रद्धाञ्जलि

●

पण्डित प्रवर, मुनि श्रीलालचन्दजी
'श्रमण, काव्यतीर्थ न्यायतीर्थ'

धम्मो मगलमुक्किट्ठं, मणीसुं व चिन्तामणी।
पाविअ त मुणि-सघे, मुणीसो रयणो अहू ॥

जिस प्रकार मगलो मे उत्कृष्ट मगल धर्म है और मणियो मे रत्न चिन्तामणि है, उसीप्रकार मुनि सघ मे धर्म को प्राप्त कर मणियो मे रत्न चिन्तामणि के समान रत्नमुनि हुए।

ससमत्ताइ णाणाइ, अहिंसा सजमो तवो।
एएहिं तिहिं रयणेहिं, राइणिओ हु सो अभू ॥

सम्यक्त्व सहित, ज्ञानादिक से तथा अहिंसा, सयम और तप से–इन तीन रत्नो से वे रत्नत्रयी की भांति रत्नस्वरूप थे।

भद्दवए जाओ गिहे, संघेसु दिक्खिओ तहा।
देवा वि त नमसति, भद्दवए त्थि जो नरो ॥

भाद्रपद मास मे गुरुदेव ने जन्म लिया था। भाद्रपद मे घर मे जन्मे-और भाद्रपद मे ही संघ मे दीक्षित हुए। इस प्रकार जो भाद्रपद यानी भद्रता के पद पर स्थित है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

निग्गच्छिअ किण्हपक्खा, आयाइ सुहे सुक्किले।
वेसाहिं गइं प्पप्पोति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

कृष्ण पक्ष के बीतने पर शुक्ल पक्ष आता है। इसी प्रकार रत्नमुनि ने अज्ञान-तिमिर से निकल कर जन्म के अनन्तर शुक्ल पक्ष मे शुभ एव शुक्ल ज्ञान-ध्यान मे प्रवेश किया। जिसका मन सदा धर्म मे रत रहता है, वह वैशाखी गति को प्राप्त करता है। गुरुदेव का जीवन-वृक्ष शाखाहीन (सन्तान विहीन) था और उन्होने पवित्र गति को यानी दिव्य-लोक को प्राप्त किया था।

जहा दुमस्स पुप्फेसु, आमोआइआ जे गुणा।
सोहं वड्ढावेन्ति तहा, सघस्स मुणीसु गुणा॥

जिस प्रकार पुष्पो मे बसने वाले सुगन्धादिक गुण वृक्ष की श्री बढाते है, उसी प्रकार मुनियो मे रहने वाले गुण सघ की शोभा बढाते है। गुरुदेव के गुण इसी प्रकार मुनि सघ की श्री बढाने वाले थे।

समणो सावओ चेव, भमरो आवियइ रसं।
भमरो वि रयणे सो, रस दाईअ सव्वओ॥

श्रमण और श्रावक भ्रमर (मधुकरी) वृत्ति धारण कर भ्रमणशील होने पर ही रस को ग्रहण करते है। किन्तु रत्न मुनि श्री भ्रमर यानी भ्रमणशील होने पर भी रस को स्वय ग्रहण न कर सभी लोगो को प्रदान करते थे। (दशवैकालिक सूत्र के अनुसार भ्रमरवृत्ति युक्त मुनि और नन्दीसूत्र के अनुसार भ्रमर वृत्ति वाले श्रावक कहे गए है।)

तह निरूविअ तत्त, जय पडिवाई जए।
न य पुप्फ किलामेइ, अली वकपि माणस॥

जिस प्रकार भवरा फूल को कष्ट नही देता, उसी प्रकार मुनिवर ने प्रतिवादी-जन का मन पीडित किए बिना तत्व का (वास्तविकता, सत्य का) निरूपण कर विजय को प्राप्त किया था।

जो को वि सद्धालू, जणो तस्स ग्रन्थ समूहओ।
पर रंजेइ वेरग्गे, सो य पीणेइ अप्पय॥

आज भी श्रद्धालु जन उनके रचे हुए नवतत्व, मोक्षमार्ग-प्रकाश आदि ग्रथो का पठन-श्रवण कर अपना तथा दूसरो का मन वैराग्य-रग मे रग देता है एव आत्मतृप्ति प्राप्त करता है।

धन्नोह थुणेमि तय, धन्नो य कइराहणो।
एसो समो जेण वुहा, थोयव्व थुणति इहं॥६॥

मैं (श्रमण-लाल) धन्य हूँ, जो आप की स्तुति कर रहा हूँ। और कविराज (उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी म०) का यह श्रम भी धन्य है, जिसने कि स्तुत्य मुनिराज की स्तुति करने का यह अवसर दिया।

सइ विणास—सक्किओ, सिग्घं गथेइ कोइवि।
पर वास-सय पच्छा, अमरो अमर जस ॥

अपने श्रद्धेय जन के विस्मृति-विनाश की शका से कोई स्मृतियो को शीघ्र ही रचता है, जिससे उनका यश स्थायी हो सके। किन्तु वास्तविक यश तो गुरुदेव रत्नमुनि का है, जो सैकडो वर्षो के बाद आज अमर-यश अमर मुनि के द्वारा गूथा जा रहा है।

रम्मे भंडारानयरे, कहिअं ससिसामिणा ।
जसदसयं रइअ, लालचंदेण साहूणा ॥

रम्य भण्डारा नगर मे स्वाध्याय प्रेमी स्वामी श्री चादमल जी महाराज के निर्देश से यह यशोदशक मुनि लालचन्द्र ने रचा है।

★

अलौकिक रत्न

सतीश्री फूलश्रीजी

श्रद्धेय पूज्यपाद श्री रत्नचन्द्र जी महाराज अपने युग के वस्तुत एक अलौकिक रत्न थे। उनका त्याग और सयम उज्ज्वल था। ज्ञान की साधना मे वे अपने युग के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे। उनका आचार पवित्र और ज्ञान निर्मल था। गुरुसेवा उनके जीवन का एक महान् आदर्श था। अत वे सर्वदृष्टि से महान् थे।

अपनी दीर्घ साधना से उन्होने जो कुछ प्राप्त किया था, उसे जन कल्याण के लिए वितरण कर दिया। भारत के विभिन्न प्रान्तो मे विहार-यात्रा करके उन्होने प्रसुप्त जनचेतना को जागृत किया था। समाज के दूषणो को दूर करके उसे पावन और पवित्र बताया था। अत उस महान् आत्मा के प्रति मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती हूँ।

श्रद्धा-पुष्प

●

श्री चन्दन मुनि जी

जो सत्य, अहिंसा का, जय-घोष गुजाते थे
करुणा के मधुर निशदिन, गीतो को सुनाते थे
जो धर्म की राहो पर, चलते थे चलाते थे
तिल भर भी कदम जिनके, रुकने नही पाते थे

उन रत्न गुरुवर को हम शीश झुकाते है।
फूल अपनी श्रद्धा के शुभ, चरणो मे चढाते है।

जिस उठती तरुण वय मे, सुख जगत का छोडा था
मोह माया के बन्धन को, जिस जड से ही तोडा था
तप-त्याग, वैराग से दिल, इक दम से ही जोडा था
उत्पथ पे चले जग को, कर हिम्मत मोडा था

उन रत्न गुरुवर को, हम शीश झुकाते हैं।
फूल अपनी श्रद्धा के शुभ, चरणो मे चढाते है।

कवि, वाद-विजेता जो, बे-जोड कहाते थे
लख ज्योतिष जिनका सिर, देवज्ञ झुकाते थे
जो कठिन क्रिया कर कर, सयम को सजाते थे
गुण जिनके जगतवासी, दिन रात ही गाते थे

उन रत्न गुरुवर को, हम शीश झुकाते है।
फूल अपनी श्रद्धा के शुभ, चरणो मे चढाते है।

इक जैन के क्या जो कि, भारत के सितारे थे
सतोष, क्षमा के गुण, जीवन मे उतारे थे

श्रद्धाञ्जलि समर्पण

●

श्री कीर्तिचन्द्र जी "यश"

अद्यावधि शुभ कीर्ति पताका, जिनकी जग मे छाई है।
जिनके तप पूत जीवन की, महिमा जगने गाई है॥

सद्गुण ज्योति चाकचक्य मे, जिनका जन्म चमत्कृत है।
महद् उपकारो से जिनके, यह जैन जगत अति उपकृत है॥

'रत्नचन्द्र मुनि' नाम जिन्हो का, पावन मगलकारी है।
सुखदाता दुखत्राता जग मे, भव्य भय-सकटहारी है॥

उज्ज्वल पावन जीवन जिनका, जैसे निर्मल दर्पण है।
'कीर्तिमुनि' करता उनको निज, श्रद्धाञ्जलि समर्पण है॥

अर्पण करता हूँ तुम्हे कुछ श्रद्धा के फूल।
रत्नचन्द्र गुरुदेव थे तुम तो मगल मूल॥

तुम तो मगल मूल तुम्हारा जीवन पावन।
है श्रद्धा का केन्द्र और जन-जन-मन भावन॥

कहे 'कीर्तिचन्द्र' करूँ निज आतम तर्पण।
कुछ श्रद्धा के फूल तुम्हे करता हूँ अर्पण॥

★

परम पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी महाराज

मंत्री श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज

परम श्रद्धेय श्री रतनचन्द्र जी महाराज अपने युग के एक महान् तत्त्वदर्शी युग-पुरुष थे। उनके विचार उदार एव पवित्र थे। उनका आचार पावन एव पवित्र था। उनकी वाणी मधुर एव प्रिय थी। उन्होने स्वय ज्ञान की साधना की और दूसरो को भी खुलकर ज्ञान का दान दिया। उन्होने अपने युग मे जितना कार्य किया, उसका वर्णन कर सकना, सहज काम नही है। उनकी दृष्टि इतनी उदार और व्यापक थी कि उनके लिए कोई पर था ही नही। सबको समान दृष्टि से देखना, यह उनका सहज स्वाभाविक गुण था। धर्म, दर्शन, व्याकरण, न्याय और ज्योतिप-शास्त्र के आप प्रकाण्ड पण्डित थे। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश जैसी प्राचीन भापाओ के आप परम विद्वान थे। शास्त्र-चर्चा मे आप परम प्रवीण थे। भाषण-कला आपकी मुग्ध करने वाली थी। आप सर्वगुण सम्पन्न थे। आपके गुणो का वर्णन कहा तक किया जाए। फिर भी सक्षेप मे श्रद्धेय रतनचन्द्र जी महाराज के जीवन की ये विशेपताएँ थी—

पूज्य रत्नमुनि जी महाराज अपने युग के सुप्रसिद्ध जैन सन्त हो गए है। जप-तप और ज्ञान-साधना के साथ-साथ लोक-कल्याण-कामना का प्रसार ही आपके उदात्त एव आदर्श जीवन का मुख्य लक्ष्य था। सद्भाव, सदाचार, स्नेह, सहयोग, शुद्धात्मवाद और सहिष्णुता का महत्त्व सबको समझाने और इन्ही सद्गुणो को क्रियान्वित करने कराने मे ही आपका पवित्र एव पावन जीवन व्यतीत हुआ। अन्धविश्वास, अन्ध परम्परा, रूढिवाद, जातिवाद, स्वार्थान्धता, ऊच-नीच विषयक विषमतादि दुर्गुणो का आपने बडे वेग मे युक्ति-युक्त खण्डन किया और भद्र भावनाओ का प्रचार प्रसार कर, जनता मे जीवन-ज्योति जागृत की, साथ ही सामाजिक दोषो तथा कुरीतियो को नष्ट करने की सद् शिक्षा भी दी। धार्मिक समन्वय, नैतिकोत्थान, हिन्दी-प्रचार एव सस्कृति-प्रसार के लिए आपने सैकडो कोसो की पैदल यात्रा की। धार्मिक, सास्कृतिक एव दार्शनिक विषयो पर हिन्दी मे आपने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की। इन ग्रन्थो की हस्तलिपिया आज भी उपलब्ध है। अभिप्राय यह कि देश-दुर्दशा देख परम पूज्य रत्नमुनिजी महाराज ने अपनी लेखनी, वाणी और अपने आदर्श चरित्र एव महान् व्यक्तित्व द्वारा मानवोत्थान की मगलमयी भव्य भावना से प्रेरित होकर, उसकी पूर्ति के निमित्त अपना समस्त जीवन समर्पित कर दिया। पूज्य गुरुवर अब से डेढ सौ वर्ष पूर्व मानव-मगल के लिए, तप-त्याग पूर्वक, लोक-कल्याण-क्षेत्र मे अवतरित हुए थे। उस समय, समाज-सुधार की भद्र भावना से अन्ध विश्वास और कुरीतियो के विरुद्ध कुछ कहना अक्षम्य अपराध समझा जाता था। ऐसी विकट तथा प्रतिकूल परिस्थिति

मे पूज्य-प्रवर श्री रत्न मुनिजी महाराज महान् कार्य कर गए वह स्वार्णाक्षरो मे अकित होकर सदैव अमर एव अमिट बना रहेगा, ऐसे विश्व कल्याणकारी महामुनि की पवित्र पावन आदर्श जीवनी से जितनी शिक्षा ली जाए, थोडी है।

परम योगी सन्त

श्री अखिलेश मुनिजी

सकल्प और विकल्प दोनो मन के धर्म है। परन्तु दोनो मे बहुत बडा अन्तर है। सकल्प मनुष्य उत्थान की ओर ले जाता है और विकल्प पतन की ओर। ससार का सामान्य व्यक्ति नाना विकल्पो के जाल मे फँसा रहता है। उसके मन का विकल्प उसे व्याधि की ओर ले जाता है। जहाँ व्याधि है, वहा सुख कैसा ? किन्तु महापुरुष वह होता है, जो अपनी सकल्प-शक्ति से समाधि की ओर बढता है। सुख, शान्ति आनन्द की ओर अग्रसर होता है।

श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज अपने युग के एक ज्योतिधर महापुरुष थे। अपनी सकल्प शक्ति से वे समाधि की ओर बढे। भोग से योग की ओर चले। अन्त मे अपनी विशुद्ध योग-साधना से वे परमयोगी बने। विकल्पो ओर व्याधियो से मुक्त होकर वे सकल्प और समाधि मे स्थिर हो गए। उनके समाधि योग मे अपार बल था।

पूरे सौ वर्षो के बाद भी जन-मन उनके तेजस्वी जीवन को विस्मृत नही कर सका है। हजारो हजार भक्त आज भी उनके पवित्र नाम का जप करते है। उस परम योगी सन्त शिरोमणि महापुरुष के पावन पद्मो मे इस पुण्य शताव्दी के शुभ अवसर पर अपनी श्रद्धा समर्पित करता हूँ। उनके पावन जीवन से एक आदर्श को हम अपने जीवन मे स्वीकार करें--विकल्प छोडकर हम अपनी सकल्प-शक्ति से उनके मार्ग का अनुसरण करें।

तप एवं त्याग के साकार रूप

●

पण्डित श्री प्रेमचन्द्रजी

परम श्रद्धेय चारित्र-चूडामणि पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी महाराज अपने युग के एक सुप्रसिद्ध विख्यातनामा आध्यात्मिक साधक थे। आपका तप एव त्यागमय जीवन उन दिनो जनता का आदर्श श्रद्धा-केन्द्र था।

साधना-साधना कहना और उसकी विशद व्याख्या कर देना और बात है, परन्तु उस तप एव त्याग-मय आध्यात्मिक साधना को अपने जीवन का अविभाज्य अग बना लेना, बिल्कुल दूसरी ही बात है। कहना आसान है, परन्तु करना कठिन। उत्कट कठोर अध्यात्म-साधना के नाम मात्र से ही जब अच्छे-अच्छे साधको को पसीना छूटने लगता है, तब उसको जीवन मे उतार लेना, कण-कण मे रमा लेना तो बहुत ही बडी बात है। और जो साधक ऐसा कुछ कर दिखाता है—वही तो ससार का पूजनीय एव तप-त्याग की प्रखर तेजस्विता से परिपूर्ण सूर्य के समान चमकता है।

श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज आध्यात्म-साधना-गगन के एक ऐसे ही जाज्व-ल्यमान सूर्य थे। जो तप-त्याग की दिव्य प्रभा लेकर जैन जगत मे अवतीर्ण हुए और अपने प्रखर प्रकाश से जैन-समाज को चमत्कृत और प्रकाशित करते रहे। एक नव चेतना नव स्फूर्ति एव नव प्रेरणा का पाचजन्य जन-हृदयो मे फूंकते रहे। उनके तप और त्याग की सुगन्धि से, एक पूरी की पूरी शताब्दी बीत जाने पर भी—जैन समाज उसी प्रकार से सुवासित है। उनके सद्गुणो को चमत्कृति से अद्यावधि जैन जगत चमत्कृत है और युग-युग तक रहेगा—यह नि सदेह है।

श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव का तप-त्यागमय जीवन अपने आप मे अपनी एक निराली ही पृथक् विशे-पता रखता है। इन्होने जिस दिन से तप-त्यागमय साधना का जीवन अपनाया, जिस दिन से साधुवृत्ति स्वीकार की, उसी दिन से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक उन्होने उसे उसी शान से निभाया। सिंह वृत्ति से साधुत्व लेना और उसे आजीवन सिंह वृत्ति से ही निभाना, यह उन्ही जैसे शूरवीर अध्यात्म साधको का ही कार्य था। अन्यथा यहाँ आकर तो बडो-बडो के पाव उखड जाते है।

आगरा की लोहामडी तो अद्यावधि तक—उनको अपने हृदय-पथ पर अक्षुण्ण बनाए हुए है। आज भी लोहामडी श्री सघ उन्ही के नाम से ही रत्नमुनि स्कूल आदि अनेक-अनेक संस्थाएँ चलाए हुए है। अभी वैशाख मे ही उनकी पुण्य शताब्दी मनाने का आयोजन भी लोहामण्डी संघ बडे ही उत्साह पूर्वक जोर-जोर से कर रहा है। साथ ही उनकी स्मृतियो को चिरस्थायी रखने के लिए स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन भी कर रहा है। अधिक क्या ? बस उनके तप त्यागमय जीवन का स्मरण करते हुए मैं इन्ही थोडे से शब्दो के साथ अपनी भाव श्रद्धाञ्जलि उनके श्री चरणो मे समर्पित करता हूँ।

गुरुदेव ! मेरा शत-शत प्रणाम

महासती श्री ललित कुमारी जी
शास्त्री साहित्यरत्न

हे ज्योति-पुञ्ज ! हे युगावतार !
गुरुदेव ! मेरा शत-शत प्रणाम।
हे जन-जीवन के कर्णधार !
भुक्ति-मुक्ति के तुम दिव्य-धाम !!

ज्ञान-क्रिया के साधक तुम,
आधार बने अपने युग के।
भक्ति-भाव से अर्पित हैं,
ये श्रद्धा-कण मेरे मन के॥

अभिवन्दन है तुमको मेरा,
इस रत्न-शती की वेला मे।
जन-जन का मन पुलकित है,
इस पुण्य-शती की रेला मे॥

संयम के अवतार

सुरेश मुनि शास्त्री साहित्यरत्न

श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज, विश्व की उन विभूतियो मे से थे, जो जीवन मे अपनी सयम, त्याग, तप की साधना, ज्ञान, प्रतिभा और पौरुष के बल पर महान् बने थे। उन जैसे तेजस्वी व्यक्ति तथा एकनिष्ठ साधक, किसी भी समाज अथवा राष्ट्र मे युगो के बाद हुआ करते है, जो सोए हुए समाज, राष्ट्र और जन-चेतना को अपने जाज्वल्यमान, प्रदीप्त एव ओजपूर्ण व्यक्तित्व, घन-गर्जित पौरुष-मयी वाणी से झकझोर कर सजग-सावधान कर देते है।

जैन-सस्कृति अध्यात्म-सस्कृति है। यम-नियम-सयम की सस्कृति है। त्याग-तप-विराग की सस्कृति है। मानव के मौलिक मूल्य-महत्व की सस्कृति है। यहा प्रत्येक जीवन इसी काटे पर तुलता है। इस काटे पर जो खरा उतरा, वह खरा महान्—महतो महीयान् है।

यदि उनके जीवन मे सयम-त्याग-तप का बल न होता, यदि वैराग्य, कष्ट-सहन तथा अहिंसा को उन्होने अपना मार्ग-दर्शक न जाना-माना होता, तो क्या वह युग के नायक, युग के द्रष्टा, युग के ऋषि महर्षि और अपने युग के सच्चे गुरु बन पाते ? जैन-सस्कृति की विचार—परम्परा के सही अर्थो मे युग के धर्म-नेता युग के धर्माचार्य-धर्म गुरु थे। वह ज्ञान गुरु थे, वह दर्शन-गुरु थे, वह चारित्र गुरु थे। गुरु वह है, जो तत्व-ज्ञान बाटे। गुरु वह है, जो जन-जन के मन-मन मे ज्ञान की ज्योति जगाए। गुरु वह, जो अपने आप भी तिरे और दूसरो को भी तिराए, पार लगाए।

जो सीखो, किसी को सिखाते चलो।
दिए से दिए को, जलाते चलो ॥

सक्षेप मे, वह युग-पुरुप जन-हित के कार्य से जितने महान् थे, व्यक्ति-गत रूप से उससे भी महान् थे। यही कारण है, कि वह अपने पीछे कुछ प्रेरणा, कुछ प्रसाद और कुछ परम्परा छोड गए हैं।

उस युग-पुरुष के श्री चरणो मे हृदय की भाव भीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए, अन्तर्मन एक अप्रतिम प्रसन्नता की अनुभूति कर रहा है, और गद्‌गद होकर अन्दर ही अन्दर बोल रहा है—

चुप है, लेकिन सदियों तक गूंजेगी सदाए साज तेरी ॥
दुनिया को अघेरी रातो मे ढारस देगी आवाज तेरी ॥

चमकता सूरज दमकता जीवन

पडित हेममुनि जी

भारतीय-सस्कृति के पुरातन पृष्ठो के अध्ययन से यह ज्ञात होता है, कि सस्कृति मे विकृति आने पर, धर्म का ह्रास होने पर और पापाचार के बढने पर, विश्व मे किसी महान् शक्ति का अवतार होता है वह शक्ति जन कल्याण और जन-मगल के लिए प्रकट होती। उस शक्ति को जनता युग-पुरुष कहती है। उन्ही युग पुरुष एव महापुरुषो की उत्तम श्रेणी मे सन्त रत्न, परम पुरुष, श्रद्धेय पूज्य प्रवर श्री रत्नचन्द्र जी महाराज का नाम भी अग्रगण्य रूप मे लिया जा सकता है।

भारत के अध्यात्मवादी मनीषी कहते है—"बशर ने दुनिया को खोजा, तो कुछ न पाया। खुद को खोजा, तो बहुत कुछ क्या? सभी कुछ पा लिया गया। खुद को खोजने की खुद को पहचान ने की बात भी लीजिए एक उर्दू का शायर कहता है, कि—

"पहचान ले अपने को तो इन्सान खुदा है।
गो जाहिर मे हैं खाक मगर खाक नही है॥"

देखने मे तो बेशक इन्सान खाक का पुतला नजर आता है, मगर जो अन्दर की आँख से देखते और परखते है, उन्हे तो इस ककर मे भी शकर छुपा हुआ नजर आता है।

सूर्य स्वय प्रकाशित है, तभी तो वह दूसरो को प्रकाश देता है। फूल मे स्वय गन्ध है, तभी तो वह सबको सुरभि प्रदान करता है। इसी प्रकार सन्त पुरुष स्वय प्रकाश-शील होते है, स्वय सुरभित होते है, तभी तो वे दूसरो को ज्ञान का प्रकाश और सयम की सुरभि प्रदान करते है। गुरुदेव ने स्वय अहिसा की ऊँची साधना की, तभी तो उन्होने ससार को शान्ति और समता का उपदेश और आदेश दिया, प्रेम का पाठ पढाया।

गुरुदेव की वाणी मे जादू था। वे जिधर भी निकल गए, जनता उनकी तप पूत अमृत-वाणी से परितृप्त होती चली गई। जनता ने उन्हे श्रद्धा, भक्ति और सेवा समर्पित की, क्यो कि उन्होने जनता को कल्याण का और उद्धार का मार्ग बताया था। उनके जीवन का सुन्दर सिद्धान्त था—

"परोपकाराय सता विभूतय।'

गुरुदेव युग-पुरुष थे

तपस्वी श्री श्रीचंद्र जी

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी महाराज आज से एक शताब्दी पूर्व के युग-पुरुष थे। उनका विचार-समन्वित आचार और आचार-समन्वित विचार, उस युग की जन-श्रद्धा का केन्द्र-बिन्दु बन गया था। चारो ओर उनकी विद्वता की धाक थी और उनके उज्जवल चारित्र का समादर था। उस युग की जनता उन्हे अपना मार्ग-दर्शक मानती थी।

उस युग-पुरुष ने अहता और ममता के प्रगाढ़ बन्धनो को तोडा। त्याग, तपस्या और वैराग्य की अमर-ज्योति प्रज्वलित की। मिथ्या विश्वास, मिथ्या विचार, मिथ्या आचार और मिथ्या क्रिया-काण्डो का खण्डन करके जन-जीवन को पावन और पवित्र बनाया था। ज्ञान का आलोक फैलाकर सर्वत्र जन जीवन को तेजस्वी बनाकर चमकाया।

गुरुदेव मे एक अद्भुत आकर्षण-शक्ति थी। जो भी एक बार उनके सन्निध्य मे आया, वह सदा के लिए उनका परम-भक्त बन गया। उनकी व्यापक दृष्टि मे अपना, अपना नही और पराया, पराया नही। वसुधा उनके लिए एक विशाल कुटुम्ब बन गई थी। उस रत्नज्योति पर राग-द्वेष के झंझा बातो का कुछ भी प्रभाव नही पढता था। गीता की भाषा मे वे स्थित-प्रज्ञ थे। जो पाया, सबको बाँट दिया, फिर भी मन मे किसी प्रकार का अहकार नही था। उनका जीवन एक महासागर है। उसमे जितनी गहराई से गोता लगाया जाएगा, उतने ही अधिक रत्न उसमे से प्राप्त किए जा सकेंगे।

उस परम पावन जीवन के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित करके अपने को धन्य समझता हूँ।

जप और तप की साधना

मुनि श्री कस्तूरचन्द्र जी

मैं उस परम पवित्र आत्मा के चरणो मे अपनी श्रद्धा के सुरभित सुमन समर्पित करता हूँ, जिसने अपने ज्ञान के प्रकाश से जीवन और जगत् को ज्योतिर्मय बनाया था। जब उस दिव्य आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धा का कल-कल करता निर्झर पूरे वेग से प्रवाहित होता है, तब विकट से विकट और भारी से भारी बाधा की चट्टान भी उसे अवरुद्ध नही कर सकती।

ससार मे सही राह और दिशा की कमी नही, पर मिलती है, वह खोजने वाले को। गुरुदेव को वह सही राह मिली, जिस पर स्वय चलकर, दूसरो को भी उस पर चलाने के प्रयत्न मे वे पूर्णत. सफल हुए थे। क्योकि सत्य की प्राप्ति की प्रबल भावना रखने वाले को एक दिन सत्य की उपलब्धि हो ही जाती है। सत्य को उन्होने खोजा और सत्य उन्हे मिला।

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने अपने जीवन मे ज्ञान के साथ ध्यान की और जप के साथ तप की साधना की। उन्होने आत्म-रूपी वस्त्र पर से जप और तप के द्वारा अशुभ सस्कारो की धूलि को साफ कर दिया।

सादा जीवन और उच्च विचार के सिद्धान्त के वे साकार रूप थे। उस कृशकाय पुरुष मे वह महान् दिव्य प्रकाश था, जिसके द्वारा हजारो भटकती हुई जिन्दगियो को जीवन का वह अनोखा प्रकाश मिला, जिस प्रकाश के द्वारा उन्होने अपने वास्तविक लक्ष्य को पहिचाना। उनका जीवन जप और तप के सौरभ से सुरभित था।

★

श्रद्धा की पुष्प पाँखुरिया

●

मंत्री मधुकर मुनि जी

पूज्य स्वामी श्री रत्नचन्द्र जी म० के आगरा के स्थानकवासी अग्रवाल लोहिया जैनो पर अनन्त उपकार हैं। उन्हीं की असीम कृपा और करुणा का फल है, कि उन्हें जैनधर्म की उपलब्धि हुई है। आगरा के स्थानकवासी अग्रवाल जैनों ने अपने आदि गुरु के गुरु ऋण से उऋण होने के लिए "स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन" का निश्चय किया है। यह मेरी दृष्टि मे अत्यन्त शुभ निश्चय है। गुरुऋण इस कार्य से नहीं चुक सकता, पर श्रद्धावादी बोझिल मन कुछ हलकापन तो अनुभव करेंगे ही। इस ग्रन्थ-प्रकाशन से जैन धर्म की प्रभावना होगी। उस जैन धर्म की प्रभावना, जिस धर्म के कारण भव-भ्रमण रूप अनन्त उत्सर्पिणी-अनन्त अवसर्पिणी का सम्यक्त्वोपलब्धि के माध्यम से आत्मा ने छेदन किया है।

आगरा के अग्रवाल जैनो ने अपने आदि गुरु की पुण्य स्मृति मे १. रत्नमुनि जैन इण्टर कालेज, २ रत्नमुनि जैन गर्ल्स इण्टर कालेज, ३ रत्नमुनि जैन पुस्तकालय, ४ गुरु रत्नचन्द्र जैन छतरी, ५, रत्नमुनि जैन औषधालय आदि संस्थाएं स्थापित की हैं। स्वय अपने व्यय पर इन संस्थाओं का सफल सचालन कर रहे हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है, कि आगरा के लोहिया जैनों की अपने आदि गुरु-रत्नचन्द्र मुनि के प्रति तथा जैनधर्म के प्रति कितनी गहरी श्रद्धा है। ऐसे परम पुनीत पवित्र आत्मा महामुनि श्री रत्नचन्द्र म० के कार्य और व्यक्तित्व का स्मरण करता हूँ, तो उनके प्रति मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है।

★

विवेक और वैराग्य के शाश्वत सरोवर

●

पण्डित श्री ज्ञानमुनि जी

विवेक और वैराग्य के शाश्वत सरोवर परम श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्र जी महाराज जैन जगत् के एक मनोनीत और विश्रुत विद्वान मुनिराज हो गए है। आप का मगलमय-जीवन-अहिंसा और सत्य, जप और तप, दया और करुणा, सयम और साधना तथा उदारता और सहिष्णुता का एक आदर्श भण्डार था। आपका पवित्र जीवन एक प्रकाश-स्तम्भ के समान था, जो सयम पथ के पथिक साधको को सदा सन्मार्ग दिखलाता रहता था। सयम-भूमि पर गति-शील साधक श्रमणो को अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचाने के लिए उपस्थित होने वाली विघ्न-बाधाओ से सतर्क तथा सावधान रहने की मधुर प्रेरणा प्रदान करता रहता था। वे एक प्रकार से अपने उस युग के महान् ज्योति पुञ्ज थे, मार्ग-दर्शक थे।

एक दिन आपकी अन्तरात्मा बोल उठी—"क्या भरोसा है, जीवन का? प्रभात के तारा की तरह यह तो क्षण-भगुर है। मनुष्य कितना पागल है, जो आशाओ के महल खडे करता है, उनके पीछे लगकर अपना आपा भी भूल बैठता है।" अन्तर से आवाज उठी—

"चे तो रे, भव प्राणियां ! यह ससार असार।
स्थिरता कुछ दीसे नही धन, जीवन परिवार॥

हमारे चरित्र-नायक ने गुरु-चरणो मे पहुँचकर दीक्षा ग्रहण की और ज्ञान की ऊँची साधना की। सयम की साधना, ज्ञान की आराधना और जिज्ञासा-शील सज्जनो को जिज्ञासा का समाधान ये ही उनके तीन महान् कार्य थे।

★

रत्न की ज्योति

●

पण्डित मुनि श्री फूलचन्दजी "श्रमण"

जैन-सस्कृति मे समय-समय पर युग-पुरुष होते आए है। उन युग-पुरुषो मे श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज भी एक युग-पुरुष थे। त्याग और वैराग्य की ऊँची साधना के साथ-साथ उन्होने ज्ञान और विवेक की भी बहुत ऊँची साधना की थी। अपने युग मे वे एक विख्यात एव विश्रुत श्रुतधर पण्डित थे। आपका नाम रत्न था, वस्तुत आप थे भी रत्न ही। प्रकृति के भण्डार मे रत्न एक अद्भुत पदार्थ है, जो सभी को अपनी ओर आकर्षित करता है। जो पदार्थो मे अथवा चेतन जीवो मे श्रेष्ठ होता है, उसे रत्न कहा जाता है।

रत्न की प्राप्ति साधारण पुण्य से नही, विशिष्ट पुण्योदय से होती है। आत्मा वह है, जो स्वय भी चमकता है, और अपने आश्रित को भी चमकाता है। पुण्य-शाली आत्मा ही रत्न प्राप्ति की अधिकारी हैं। पुण्य-हीन के भाग्य मे रत्न की प्राप्ति कहाँ?

आत्म-विशुद्धि के अमोघ-साधन-दर्शन-ज्ञान और चरित्र को भी रत्न कहते हैं। रत्न-त्रय की आराधना करने वाला व्यक्ति भी रत्न बन जाता है। श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने रत्न-त्रय की आराधना की थी। अत वे सच्चे अर्थ मे रत्न थे। आप अपने जीवन के अरुणोदय से लेकर, अपने जीवन की सन्ध्या तक रत्न ही बने रहे। अपनी ज्योति का प्रकाश बिखेरते रहे। उस अमर रत्न-ज्योति के प्रति मैं अपनी श्रद्धा-ञ्जलि समर्पित करता हूँ, जो रत्न रूप मे जन्मा और रत्नगुरु के रूप मे। इस ससार मे रहा तथा अन्त मे भी जो रत्नरूप मे ही ससार से विदा होकर भी भक्तजनो के लिए रत्न सिद्ध हुआ है।

अध्यात्म-पुरुष

●

देवबाला जैन एम० ए०, बी० टी०

अध्यात्म-जीवन के तीन अंग है—अनासक्ति, सयम और त्याग। जो साधक उक्त तीन धर्मो की साधना मनसा, वाचा, और कायेन करता है, उनको हम अध्यात्म-पुरुष कहते है। अध्यात्म-पुरुष समाज और राष्ट्र के लिए एक महान् आदर्श और प्रेरणा-स्रोत सिद्ध होते है।

श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज अपने युग के एक ऐसे ही अद्भुत अध्यात्म-योगी सन्त थे, जिनकी अध्यात्म-साधना से उस युग के समाज मे एक जीवन-ज्योति जगी थी। श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज साधुमार्गी स्थानकवासी जैन समाज के एक तपस्वी, प्रतिभाशाली और युग-पुरुष थे। वे अपने युग के धुरन्धर विद्वान, और परम विचारक सन्त थे।

महाराज श्री के विषय मे जो कुछ स्मृतियाँ परम्परागत शेष है, वे उनकी महानता की परिचायक है। इस पुण्य-शताब्दी के अवसर पर उस महापुरुष की पुण्य-स्मृति का जागरण निश्चय ही समाज के कल्याण और मगल के लिए है। उस महापुरुष का पुण्यपर्व जन-मानस को पावन करेगा।

श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज के दिव्य-जीवन का दिव्य-सन्देश जन-जन के जीवन को सुवासित करे, यही मेरी अभिलाषा है। इस पुण्य शताब्दी के शुभ अवसर पर मैं उस अध्यात्म-योगी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हूँ और उनके गुणो का आदर करती हूँ।

तपोमय जीवन

●

कमला जैन प्रभाकर

भारतीय सस्कृति मे तपोमय जीवन को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। तप एक शक्ति है, जिससे आत्मा पावन और पवित्र बनता है। जैसे स्वर्ण आग मे तपकर निखर उठता है, वैसे ही आत्मा भी तप की आग मे तपकर उज्ज्वल हो उठता है। जीवन-शोधन के लिए तप से बढकर अन्य कोई धर्म नही हो सकता।

श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज का जीवन एक तपोमय जीवन था। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्होने तप की साधना प्रारम्भ करदी थी। जीवन मे अनेक प्रकार के कठोर तप करके उन्होने जो जीवन-ज्योति प्राप्त की थी, उसकी महिमा अपार है। तप और सयम की कठोर साधना से उन्होने अपनी आत्मा को भावित किया था, पावन किया था, पवित्र किया था।

तप और सयम की साधना के साथ-साथ ज्ञान की आराधना भी उन्होने की थी। तभी तो उनका जीवन समाज के आकाश मे सूर्य बनकर चमका था, दमका था। वस्तुत तप और ज्ञान भारतीय सस्कृति के प्राण-तत्व कहे जाते है।

मै उस तपोमय और ज्ञानमय जीवन के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हूँ।

★

श्रद्धाञ्जलि

●

लाला रामगोपाल जी अध्यक्ष, जैन सघ

लोहामडी आगरा का एस० एस० जैन सघ महान् भाग्यशाली है कि उसे श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज की पुण्य शताब्दी मनाने का सुयोग्य अवसर प्राप्त हुआ है। हमारे वे पूर्वज कितने सौभाग्यवान थे, जिन्होने उनके साक्षात् दर्शन किए, उपदेश सुना और उनका सान्निध्य प्राप्त किया। आज से सौ साल बाद मे आने वाली हमारी भावी सन्तान भी हमे उसी प्रकार सौभाग्यशाली समझेगी कि हमने गुरुदेव की प्रथम पुण्य शताब्दी मनाने का सौभाग्य प्राप्त किया।

गुरुदेव तप, त्याग और सयम की दृष्टि से महान् थे। ज्ञान और क्रिया दोनो का उन्होने अपने जीवन मे सुन्दर समन्वय किया था। उनके इस महान् आदर्श को हमे ग्रहण करना चाहिए। आज हम सबको सगठित होकर इस पुण्य शताब्दी को उत्साह के साथ मनाना चाहिए।

शत-शत अभिनन्दन

●

श्री कल्याणदासजी जैन
नगर प्रमुख, आगरा नगर महापालिका

श्रमण-सस्कृति मे अहिसा, सत्य आदि के साथ अपरिग्रह का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आगम साहित्य मे साधु के लिए श्रमण, भिक्षु, मुनि, साधु आदि के साथ निर्ग्रन्थ शब्द का भी उल्लेख मिलता है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—ग्रन्थि, गाठ से रहित। धन-वैभव, मकान-दुकान, खेत-खलिहान, कारखाने आदि बाह्य ग्रन्थि है और राग-द्वेप, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मनोविकार आभ्यन्तर ग्रन्थिया है। मन, वचन और शरीर से बाह्य एव आभ्यन्तर ग्रथियो का परिग्रह का परित्याग करने वाला साधक ही निर्ग्रन्थ है, श्रमण है, साधु है।

परिग्रह का अर्थ केवल धन-सम्पति तक ही सीमित नही है। भगवान् महावीर के शब्दो मे परिग्रह-केवल पदार्थों के ग्रहण करने मे नही, प्रत्युत पदार्थों के प्रति रहे हुए ममत्व एव आसक्ति भाव मे है। वह आसक्ति भले ही धन-वैभव पर हो, परिवार पर हो, समाज पर हो, राष्ट्र पर हो, अपने शरीर पर हो, शिष्य-शिष्याओ पर हो। सम्प्रदाय एव साम्प्रदायिक रूढ-परम्पराओ पर हो, रूढ-धाराओ पर हो, अपने मन की परिकल्पित मान्यताओ पर हो या और किसी भी वस्तु पर हो, वह सब परिग्रह है। उसका परित्याग करने वाला, अपने और पराए के भेद से उठने वाला, साम्प्रदायिक परम्पराओ के व्यामोह का परित्याग करने वाला साधक ही अपरिग्रह के पथ पर प्रगति कर सकता है। गुरुदेव ने अपने जीवन मे अपरिग्रह, अनेकान्त और अहिसा की ऊँची साधना की थी।

★

गुरुदेव महान थे

●

श्री पद्मकुमार जी, सघ मंत्री

गुरुदेव श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज एक महापुरुष थे। उनके कठोर त्याग और उग्र तप से उस युग के समाज मे एक नयी चेतना, नयी जागृति और नयी स्फूर्ति पैदा हुई। उनके मार्ग दर्शन से जनता को सुख, शान्ति, आनन्द और सन्तोप मिला। उनकी पुण्य शताब्दी के इस मगलमय अवसर पर मैं हार्दिक भाव से अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर हम भी उनके जैसे महान् बनने का प्रयत्न करे।

★

अमर-विभूति

●

कलावती जैन प्रभाकर

साधना के दो आधार है—विवेक और वैराग्य। वैराग्य तभी स्थिर होता है, जब साधक के पास विवेक का आलोक हो। बिना विवेक और ज्ञान के साधना अधूरी रहती है। विवेक के साथ जब वैराग्य जीवन की भूमि पर उतरता है, तब साधक मे ज्योति प्रकट होती है।

श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज का जीवन विवेक और वैराग्य का सुन्दर सगम-स्थल था। सचमुच वे अपने युग के विवेक और वैराग्य की एक अमर विभूति थे। उनके पावन और पवित्र जीवन से प्रेरणा पाकर हजारो व्यक्तियो ने अपने जीवन को निर्मल एव स्वच्छ बनाया था। इस शुभ अवसर पर मैं उनके श्री चरणो मे अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हूँ।

श्रद्धेय गुरुदेव रत्नचन्द्र जी म० श्रमण-सस्कृति के उन्नायको मे से एक थे। इस महापुरुष की साधना का उदय एक सम्प्रदाय एव परपरा विशेष मे हुआ। परन्तु वह साधना का स्रोत परपराओ के घेरे मे आबद्ध नही हुआ। परम्पराओ का व्यामोह उनकी साधना की ज्योति को धुधला नही बना सकता। उन्होने उस युग मे रूढ-परम्पराओ का परित्याग करके समाज को नयी चेतना, नयी ज्योति दी और मिथ्या आग्रहो के परिग्रह से मुक्त होने का उपदेश दिया। इस महापुरुष के जीवन की यह विशेषता थी, कि उस साम्प्रदायिक युग मे भी अन्य सम्प्रदाय के मुनियो के साथ मिलने जुलने विचार विमर्श करने एव अध्ययन करने हेतु दूर-दूर के प्रान्तो से उनके पास आते थे और वे उन्हे उसी स्नेह एव वात्सल्य भाव से अध्ययन कराते जिस स्नेह से अपने शिष्यो को कराते थे।

अपरिग्रह की साधना अपने और पराए का भेद करना नही सिखाती। जहाँ अपने पराए की भेद बुद्धि है, वहाँ अपरिग्रह की ज्योति प्रज्वलित नहीं हो सकती। श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी म० के जीवन मे भेद की विभीषिका के दर्शन नही होते। अस्तु अपरिग्रह साधना पथ के पथिक के चरणो मे मेरा शत-शत अभिवन्दन और अभिनन्दन।

जिन-शासन के प्रकाशपुञ्ज

●

श्री सुमतकुमार जैन उपमन्त्री पौषधशाला

गुरुदेव श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज जिन-शासन के प्रकाश-पुञ्ज थे। वे अपने समय के एक महान् तेजस्वी सन्त थे। जैन धर्म जन्म से ही किसी को महान् नही मानता, उसकी महानता का माप दण्ड है, व्यक्ति का अपना ही शुभ कर्म। गुरुदेव अपनी कठोर तप साधना के बल पर ही महान् बने थे। उनकी ख्याति के अनेक सहज गुण होने पर भी, उनकी आचार-निष्ठा ही वस्तुत उनकी महानता की आधार-शिला थी।

गुरुदेव पहली बार आगरा कब पधारे ? हमारे पास इसका निश्चित प्रमाण न होने पर भी इतना तो निश्चित है कि आज की यह पौषध-शाला अथवा जैन भवन मन्दिर बनने की तैयारी मे था, परन्तु गुरुदेव के उपदेश से यह पौषध-शाला बना। इसी पौषधशाला मे गुरुदेव ने अनेक वर्षावास किए थे और अपने जीवन की अन्तिम सथारा साधना भी यही पर की थी। अतः आज के इस जैन भवन को गुरुदेव की तपोभूमि और साधना भूमि होने का गौरव प्राप्त है।

अन्त मे पुण्य शताब्दी के इस शुभ अवसर पर मैं गुरुदेव के श्री चरणो मे अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

★

गुरुदेव के प्रति श्रद्धाञ्जलि

●

लाला जगन्नाथ जी कोषाध्यक्ष

गुरुदेव श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज अपने युग के एक महान् पुरुष थे। उनके विचारो मे गम्भीरता थी। उनकी वाणी मे ओज था, आचरण मे प्रखरता और कठोरता थी। ज्ञान और क्रिया मे उन्होने समन्वय साधा था। यही कारण है, कि शताब्दी के इस शुभ अवसर पर अपनी हार्दिक श्रद्धा उनके श्री चरणो मे समर्पित करता हूँ। उनका उपदेश युग-युग तक हमे मार्ग दर्शन कराता रहेगा।

मेरी श्रद्धाञ्जलि

सेठ अचलसिंह जी एम० पी०

पूज्य प्रवर श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज का जीवन पावन और पवित्र था। वे अपने युग के एक प्रसिद्ध विद्वान सन्त थे। उनके आचार में पवित्रता थी और उनके विचार में उच्चता थी। वे विचारों में गम्भीर, वाणी में ओजस्वी और आचार में तेजस्वी थे। उनकी इस पुण्य शताब्दी के शुभ अवसर पर अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

पूज्य प्रवर श्रद्धेय रत्नचन्द्रजी महाराज

श्री सितावचन्द्र जी मन्त्री मानपाड़ा श्रीसंघ

महापुरुषों के सद्गुणों के प्रति सच्ची आस्था को ही वस्तुतः भक्ति कहते हैं। पूज्य प्रवर श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज के पावन जीवन के प्रति आगरा निवासी जैनों के मन में अपार श्रद्धा-आस्था और भक्ति है। वे अपने जमाने के एक प्रसिद्ध विद्वान त्यागी और तपस्वी सन्त थे। उनके सद्गुणों के प्रति मैं इस शुभ अवसर पर अपनी श्रद्धा, आस्था और भक्ति-भावना अर्पित करता हूँ।

अध्यात्म गुणों का स्मरण

●

श्री बाबूराम जी शास्त्री

गुरुदेव श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज अपने युग के एक दिव्य महापुरुप थे। उनका ज्ञान अगाध था, उनका चरित्र उज्ज्वल था और उनका जीवन पावन एव पवित्र था। गुरुदेव का तपपूत जीवन जन-जन के कल्याण के लिए था। उनकी वाणी मे तेजस्‌ओजस और वर्चस् था। अनेकान्त और अहिंसा के प्रसार के लिए उन्होने दूर-दूर तक की विहार-यात्रा की थी। उनका जीवन ज्ञान और क्रिया का समन्वय-स्थल था। उन्होने अपने युग मे प्रचलित मिथ्या मान्यताओ का प्रवल विरोध किया था। सत्य मार्ग का समर्थन किया था। जिधर गुरुदेव एक बार पधार गए, उधर ही जय-जयकार हो गए। आगरा श्री सघ पर गुरुदेव का विशेप अनुग्रह था। आपने अपने जीवन-काल मे अनेक क्षेत्रो को प्रतिवोधित किया था, उन क्षेत्रो मे लोहामडी भी एक है। गुरुदेव के विचारो की ज्योति आज भी यहाँ प्रदीप्त हो रही है। शताब्दी के शुभ अवसर पर गुरुदेव के अध्यात्म-गुणो का स्मरण कर के जीवन मे उतारना ही हम सब का एक मात्र कर्तव्य और ध्येय है।

पंजाब सभा की ओर से

श्री मदनलाल जी शाह

श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज की इस पुण्य शताब्दी की हमे वडी खुशी है। वे अपने युग के एक महान् पुरुष थे। अपने निर्मल ज्ञान और पवित्र आचार से उन्होने समाज मे एक नयी रोशनी पैदा की थी। एस० एस० जैन सभा पजाव की ओर से हम सब लोग हार्दिक भाव से अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते है।

★

श्रमण संस्कृति के समुज्ज्वल नक्षत्र

श्री सोनाराम जैन सन्मति ज्ञानपीठ

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज पूर्ण सयमी तथा श्रमण-सस्कृति के समुज्ज्वल नक्षत्र के रूप मे भारत वसुन्धरा पर अवतरित हुए। सयम तथा वैराग्य की ओर जन्म से ही आपका आकर्षण था। यही कारण है कि केवल बारह वर्ष की आयु मे ही आपने पूज्यपाद श्री हजारीमल महाराज का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् आपने अपने शरीर की निरपेक्षता का अपने जीवन की प्रयोगशाला द्वारा जो महान् तथा सुन्दर प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया, वह सदा के लिए स्मरणीय बन गया।

श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्र जी महाराज न केवल एक उदारचेता महापुरुष थे अपितु वह इस प्रकार के युग-प्रवर्तक योगी थे, जिन्होने ससार मे सुख और शान्ति को स्थिर रखने के लिए समता, सत्य, अहिंसा और विश्व बन्धुत्व की भावना को अत्यन्त आवश्यक बतलाया। पूज्य गुरुदेव जैन जगत् के ऐसे प्रकाश स्तम्भ थे, जिनके जीवन का लक्ष्य सत्य प्राप्ति और सम्पूर्ण आध्यात्मिक विकास था। वह सद्गुणो के भण्डार थे। उनकी तप साधना निस्सीम थी। उनकी सेवावृत्ति, सरलता, प्रशान्तमुद्रा और कठोर साधना सर्वथा अपूर्व थी। उन्होने अपने जीवन को कोटि-कोटि मनुष्यो के कल्याण के लिए अर्पित कर दिया था। समस्त प्राणियो के प्रति उनका समता तथा मैत्री का भाव था। उनका जीवन स्वच्छ, निर्मल, उज्ज्वल एव पवित्र था।

श्रद्धेय गुरुदेव ने सैकडो और सहस्रो मीलो की पैदल यात्राएँ की और सहस्रो लोगो को सन्मार्ग पर आरूढ किया।

जैन धर्म की मुनि-साधना वस्तुत कठोरतम साधना है। इस साधना मे मन, वाणी और काया के सभी दोषो का दमन करना पडता है। श्री गुरुदेव वास्तव मे पूर्ण इन्द्रिय-जयी कठोरतम साधक थे। इस अवसर पर मैं उनके सातिशय व्यक्तित्व के प्रति सविनय श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

★

एक महान आत्मा

इस ससार मे प्रतिदिन अनेक व्यक्ति जन्म लेते है तथा अनेक विदा होते है। महान्-व्यक्ति इस ससार से विदा होने के पश्चात् भी अपनी अमर-कीर्ति के प्रकाश को छोड जाते है, जिससे आगे वाले व्यक्ति उस प्रकाश से आलोकित होते रहते हैं। ऐसे महामानव का प्रत्येक कार्य समाजोत्थान तथा जन-कल्याण के लिए होता है और वे अपने शुभ-कर्मों से स्वय का भी उच्च जीवन बना लेते है और जनता को भी आदर्श मार्ग पर बढ चलने के प्रेरणा देते है। वास्तव मे ऐसे महान् व्यक्ति भगवान् महावीर के सत्य अहिसा के सन्देश को ससार मे फैलाने के लिए ही अवतरित होते हैं।

श्रद्धेय, पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ऐसे ही महान् सत थे। आप धर्म एव दर्शन-शास्त्र के ज्ञाता थे और ज्योतिष शास्त्र का भी आपको बहुत ज्ञान था। आपकी प्रवचन शैली इतनी सरल एव प्रभावयुक्त थी कि उसके प्रभाव से अनेक अजैन भी जैन बन गए। आपने कई ग्रन्थ लिखे है।

आपने उत्तर प्रदेश, पजाब, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश मे पैदल भ्रमण करके धर्म का प्रचार किया एव अनेको श्रद्धालु व्यक्तियो ने उनके उपदेश एव शिक्षाओ से समुचित लाभ उठाया।

पूज्य गुरुदेव सवत् १८६१ मे आगरा नगर मे पधारे थे और लोहामडी के क्षेत्र मे विशेप रूप से धर्म का प्रचार किया था। उस समय अग्रवाल लोहिया समाज भूले एव भटके हुए मार्ग पर अग्रसर हो रहा था। उन्होने हमारे समाज को एक नया जीवन प्रदान किया। हमे सत्य, अहिंसा के मार्ग पर बढ चलने की प्रेरणा दी। आपकी वाणी का समाज पर बहुत ही प्रभाव पडा और प्रत्येक व्यक्ति ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। अहिसा का मार्ग हम लोगो ने आत्म-कल्याण के लिए अपनाया। इस प्रकार पूज्य गुरुदेव का श्री अग्रवाल लोहिया समाज पर बहुत ही उपकार रहा है। आज भी गुरुदेव के बताए हुए सनमार्ग पर समाज चल रहा है।

सवत् १६२१ मे गुरुदेव का लोहामडी मे ही स्वर्गवास हो गया और अपने इस असार ससार को त्याग कर अमर-पद प्राप्त किया।

पूज्य गुरुदेव की स्वार्गारोहण शताब्दी, आगरा की सघ के ओर से मनाई जा रही है तथा इस शुभ अवसर पर स्मृति-ग्रथ के प्रकाशन कार्य के निर्देशक उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचचन्द्र जी म० है तथा पडित श्रीविजयमुनि जी शास्त्री प्रधान सम्पादक है। आपका भी समाज पर बहुत उपकार है।

इन शब्दो के साथ पूज्य गुरुदेव श्री रतनचन्द्र जी म० के चरणो मे अपनी तथा श्री अग्रवाल लोहिया महासभा की ओर से श्रद्धाजली अर्पित कर रहे है।

सभापति	प्रधानमंत्री
श्री सीताराम जी जैन	**श्री सोहन लाल जी जैन**
जामनगर	आगरा

जैन जगत के जन-त्राता

श्री रतनलाल जैन

कितनो के अवलम्ब बने हो, कितनो को भर अक लगाया ?
स्वय गरल पीकर कितना, ओरो को पीयूष पिलाया ?
बन कर निर्देशक कितनो को, तुमने भूली राह बताई ?
कितनो के तमसावृत मन मे, तुमने जीवन ज्योति जगाई ?

श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज जब सर्व प्रथम आगरा पधारे, तो लोहामडी, लोहामडी न थी, और आगरा आगरा न था। भौतिक दरिद्रता के कुहरे मे मानव की आत्मा कूद पडी थी। पूज्य-पाद गुरुदेव ने धार्मिक चेतना का शख फूंककर, जैन धर्म की उषा यहाँ के क्षितिज पर अभिव्यक्त कर दी। गुरुदेव ने मानव को मानव बनाया और जैनत्व को अमरत्व दिया।

प्रात स्मरणीय गुरुदेव अपने युग के प्रखर पडित, कठोर साधक व निर्मल मन के उज्ज्वल प्रतीक थे। गुरुदेव की साधना मे पावनता व उनकी वाणी मे प्रसाद था। समाज के रूढि-बन्धन तोडकर जन-जीवन मे शुद्ध धर्म और पवित्र सस्कृति के प्रचार व प्रसार करने वाले थे।

गुरुदेव जैन-जगत के जन-त्राता थे। भूले भटको को सत् पथ पर लाने, पथ प्रदर्शक व निर्देशक थे। वह धर्म के अवतार व मानवता के उद्घोपक थे। न भौतिक मानव उन्हे एक शताब्दी बीत जाने पर भूल सका, न भूल सकेगा। आध्यात्मिक रूप से गुरुदेव चिर अमर है।

गुरुदेव श्री रतनचन्द्र जी महाराज का अनुग्रह-भाव यद्यपि सर्वत्र एक-जैसा था, फिर भी लोहा-मडी क्षेत्र पर उनकी विशेष अनुकम्पा थी। यहाँ के श्री सघ को अनेक बार और दीर्घ काल तक उनका सान्निध्य मिला। हम और हमारे पूर्वज सौभाग्यशाली थे, जो उनकी सेवा व भक्ति करने का लाभ उठा सके। उन्होने अपने जीवन की सन्ध्या की अन्तिम किरणें आगरे मे ही समेटी। आज का लोहामडी मे निर्मित जैन-भवन पूज्य गुरुदेव के पतित-पावन चरणो से अनेक बार पावन-पवित्र बना। इसी भवन मे सन्थारा करके उन्होने अपनी जीवन लीला सवरण की थी।

श्रद्धेय के प्रति सासारिक श्रद्धाञ्जलि सूर्य को दीपक दिखाना मात्र है, क्योकि वे दिव्य आत्मा थे और आज जन-जन मे रमकर जिनेन्द्र हो गए —

यह है बाग वोही, जो तुमने लगाया।
श्री गुरु की कृपा से, है सब सुखारी।

★

काल चक्र

षट् लेश्या

मधु-बिन्दु
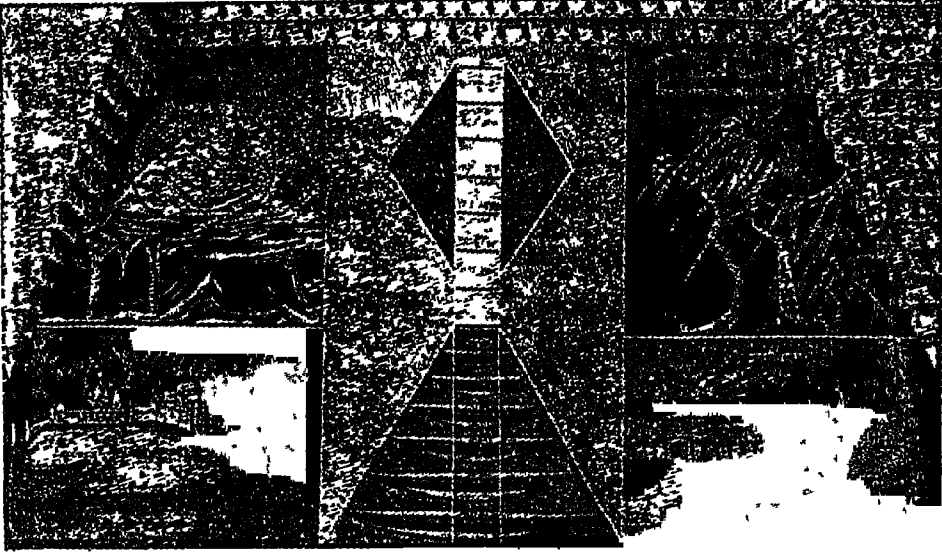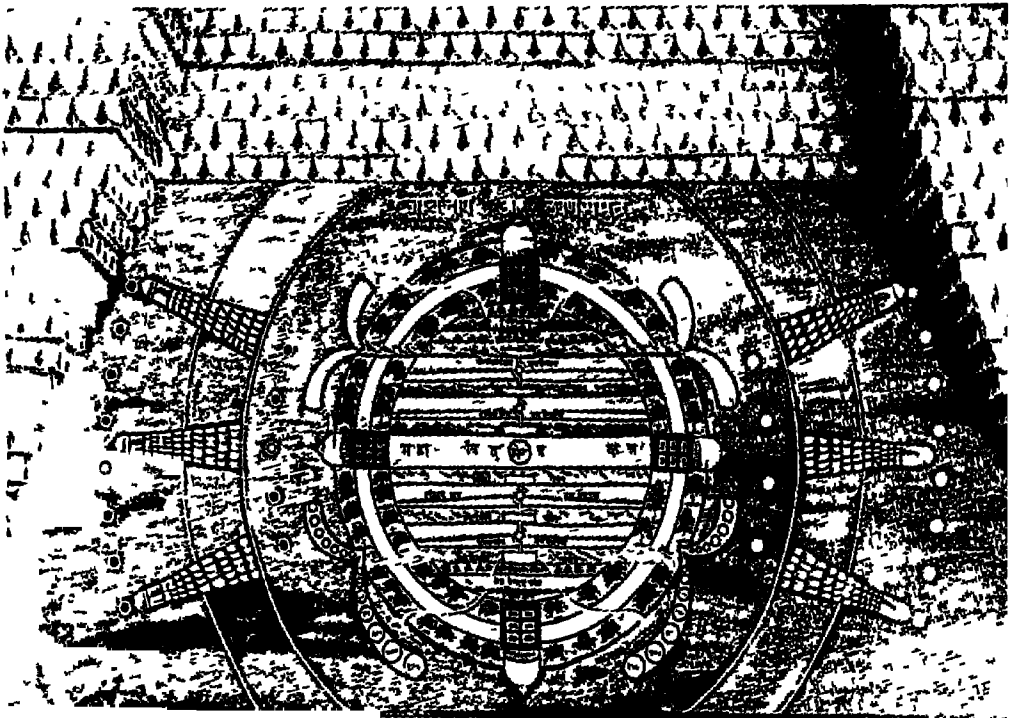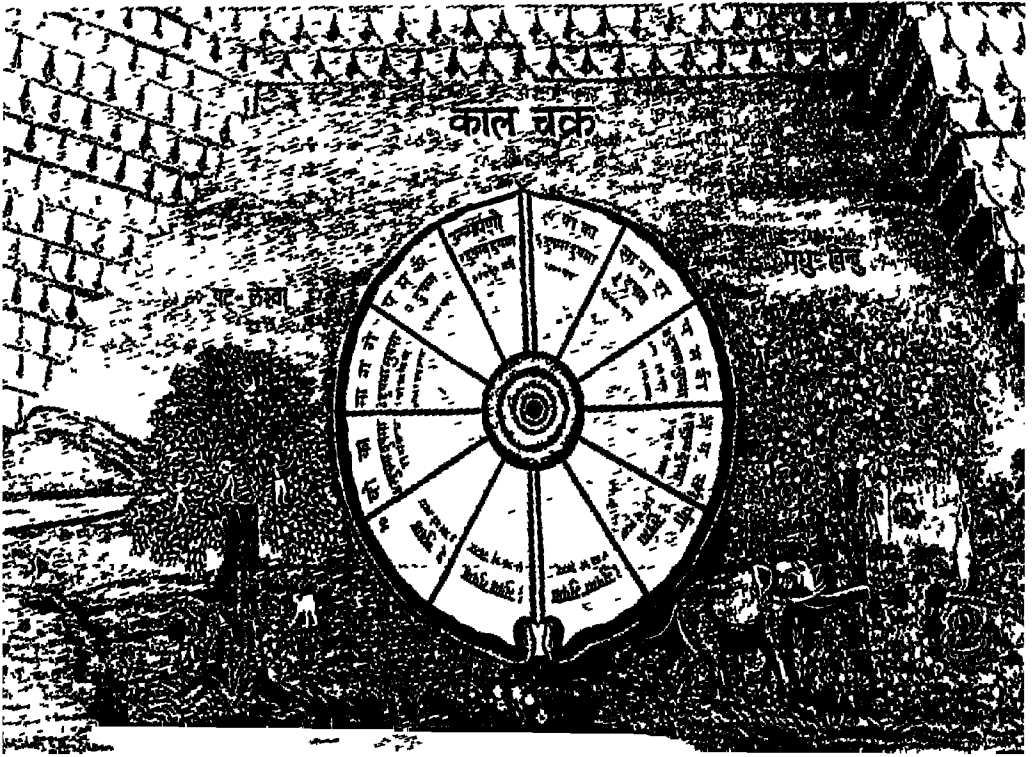
गुरुदेव के प्रति श्रद्धाञ्जलि

●

श्री महावीर प्रसाद जैन

यह हमारा परम सौभाग्य है, हम इस वर्ष, गुरुदेव श्रद्धेय रत्न चन्द्र जी महाराज की पुण्य शताब्दी मना रहे है। गुरुदेव अपने युग के एक परम तेजस्वी युग-पुरुष थे। उस परम तपस्वी और महापुरुष के चरणो मे मै अपने बगीचे एव छतरी की ओर से गुरुदेव के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

श्री वीर पुस्तकालय की ओर से

●

श्री सुमेर चन्द्र जैन

मुझे इस बात की खुशी है, कि आगरा का श्रीसघ इस वर्ष गुरुदेव श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्र जी महाराज की पुण्य शताब्दी मना रहा है। गुरुदेव के हम सभी पर महान् उपकार है। वे अपने युग के परम तपस्वी और परम तेजस्वी सन्त थे। मैं अपने पुस्तकालय और वाचनालय की ओर से इस शुभ अवसर पर श्रद्धेय गुरुदेव को विनम्र भाव से श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

उज्ज्वल-आत्मा की स्मृति

●

श्री मोतीलाल चौरडिया, श्री साधुमार्गी जैन उद्योतिनी सभा, आगरा।

आगरा निवासी श्री श्वेताम्बर जैन स्थानकवासी समाज का यह परम सौभाग्य है कि हम सब मिलकर इस वर्ष आगरे मे परम-पूज्य, बालब्रह्मचारी, घोर-तपस्वी, महातेजस्वी, परम-सन्तोषी, करुणा-निधि, दीन-बन्धु, श्रद्धेय आचार्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज का शताब्दी महोत्सव मना रहे है। यद्यपि उस महान्-ज्योति को लुप्त हुए एक लम्बा काल बीत चुका है, तथापि उसके सद्गुणो की सुगन्ध एव ज्ञान का प्रकाश निरन्तर चहुँ ओर फैल रहा है। ससार मे मरना उसी का सार्थक है, जिसके चले जाने के बाद भी उसकी कीर्ति अमर रहे। जिसकी अनु-पस्थिति मे हमे उसकी आवश्यकता महसूस हो।

हम उस महान्-विभूति का स्मरण न केवल इसलिए करते है कि वह जैन समाज की साधु मप्रदाय के एक आचार्य थे। केवल इसलिए भी हम उन्हे याद नही करते कि वह भगवान् महावीर के अनुयायी थे, बल्कि हम मब उनको श्रद्धाञ्जलि इसलिए अर्पित करते हैं, इसलिए उनके प्रति नत-मस्तक होते है कि वह दिव्य-मूर्ति जैन-धर्म के महान् सिद्धान्तो व नियमो की केवल उपदेशक ही नही—वरन् उनमे स्वय ढली हुई थी। उस महामानव ने' अपने आपको अन्दर और बाहर एकसा बना लिया था। उनका जो चित्र उपलब्ध है उसको देखते ही आभास होता है कि वह सुन्दर-सुडौल, अविचल-अडोल, दृढ-प्रतिज्ञ, निडर व साहसी, परम सतोषी, स्पष्ट एव मृदु-भाषी, पूर्ण ब्रह्मचारी, तपस्वी एव ज्ञान के भण्डार थे। हमारे और उस महान्-ज्योति के बीच एक गहरा नाता रहा हुआ है—यह कि

"मै हूँ पथिक, जैन-पथ का,
तुम पथिको के आश्रयदाता।
इस पथ पर कदम बढाया है,
रख तुमसे एक यही नाता॥

साथ ही हम उपाध्याय कविरत्न श्री अमर चन्द जी महाराज के भी अति आभारी है, जिनकी प्रेरणा और सहयोग से इस महाग्रन्थ की रचना हो सकी है और अब तक के रचे महाग्रन्थो की लडी मे यह ग्रन्थ एक नई कडी बन गया है। इस महाग्रन्थ का सम्पादन कवि जी महाराज के सुशिष्य श्री विजयमुनि जी म० ने अति परिश्रम से किया है।

★

श्री रत्न मुनिजी महाराज

●

डा० हरिशंकर शर्मा कविरत्न

सत्य अहिंसा-व्रत भूतल पर भाव भव्य उमगाता है,
मेट अनैतिकता तामस तम जीवन-ज्योति जगाता है।
मन वच, कर्म किसी विध कोई कभी न पर-अपकार करे,
जिस प्रकार सम्भव हो, दीनों-दुखियों के सन्ताप हरे।

सत्य-अहिंसा का पालन ही विश्व-शान्ति का साधक है,
मानवता की मञ्जु मूर्ति है, मुनि समाज-आराधक है।
सत्य-अहिंसा तत्व भक्ति से जब जीवन में आएगा,
तब ही मानव 'मानवता' का अधिकारी बन पाएगा।

महावीर स्वामी ने जग में प्रेम-पुष्प सञ्चार किया,
सत्य-अहिंसा की विभूति का वसुधा पर विस्तार किया।
धन्य-धन्य श्री रत्न मुनिजी सत्य-अहिंसा मय जीवन
सत्य धर्म के परिपालन में किया समर्पित निज तन-मन।

महावीर स्वामी के सेवक सद्गुण-गरिमा-गायक थे,
दीन, दुखी, दलितों के त्राता, भ्राता, सखा, सहायक थे।
जननी जन्मभूमि के सेवक भव्य भाव उन्नायक थे,
सदाचरण के पावन-प्रेरक उच्चादर्श विधायक थे।

'मानवता' मर्यादा रक्षक शान्ति-सुधा के सागर थे,
नैतिकता नलिनी के नवरवि गौरव-ज्ञान-उजागर थे।
विनयशील कर्मण्य महामुनि पुण्य-प्रेम-परिपालक थे,
शान्त, शुद्ध, सम्भ्रान्त विवेकी सत्य धर्म संचालक थे।

निज उद्देश्य-साधना में अति संकट झेले कष्ट सहे,
पर कर्तव्य-मार्ग पर दृढ़ता से अविचल हो अड़े रहे।
त्याग-तपस्या के कारण ही सुयश-ध्वजा फहराती है,
भक्ति भावना से जनता नित श्रद्धा पुष्प चढ़ाती है।

आज आपकी पुण्य षष्टी है पूजनीय वर वन्दन है,
धन्य-धन्य श्री रत्न मुनि की श्रद्धा से अभिनन्दन है।

★

आगम
और
व्याख्या साहित्य

आगम-साहित्य : एक अनुचिन्तन

मुनि समदर्शी प्रभाकर

आगम-साहित्य

भारतीय-सस्कृति के विचारको एव चिन्तको ने आत्मा परमात्मा एव विश्व के सम्बन्ध मे गहन चिन्तन-मनन और अन्वेषण किया है। और इस खोज मे उन्होंने जो कुछ पाया और आत्म-विकास एव आत्म-शुद्धि के लिए जो यथार्थ मार्ग देखा-समझा उसे अपने शिष्य-प्रशिष्यो को सिखाकर उस ज्ञान धारा को अनवरत प्रवहमान रखने का प्रयत्न किया। इस ज्ञान परम्परा को भारतीय-सस्कृति मे 'श्रुत या श्रुति' कहते है। 'श्रुत' शब्द का अर्थ है—सुना हुआ और 'श्रुति' शब्द का अभिप्राय है—सुनी हुई।

जैन-परम्परा की मान्यता है कि तीर्थंकर केवल ज्ञान सप्राप्त करने के बाद प्रवचन देते है और गणधर उनके प्रवचनो को सूत्र रूप से ग्रथित करते है और अपने शिष्यों को उसकी वाचना देते है। उनके शिष्य-प्रशिष्य उस श्रुत-साहित्य की वाचना अपने शिष्यो को देते है। इस प्रकार तीर्थंकर भगवान के मुख से सश्रुत-वाणी को श्रुत-साहित्य कहते है। इसे आगम, शास्त्र और सूत्र भी कहते है।

वैदिक साहित्य मे 'श्रुत' के स्थान मे 'श्रुति' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रुति का तात्पर्य भी सुनी हुई बात ही होता है। वैदिक ऋषियो द्वारा रचित ऋचाओ और स्तुतियो को श्रुति कहते है। क्योकि ऋषियो के मुख से प्रवहमान वेद-वाणी को सुनकर उनके शिष्यो ने उसे स्मृति मे रखा और अपने शिष्य-प्रशिष्यो को सुनाकर-सिखाकर उसके प्रवाह को सतत गतिमान रखने का प्रयत्न किया।

जैनागमो की तरह बौद्ध-ग्रन्थो मे भी 'सुत्त शब्द मिलता है। उसका अर्थ भी वही है, जो 'सुय-श्रुत' शब्द का है अर्थात् सुना हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय-सस्कृति की त्रि-परपराओ मे प्रयुक्त सुय-श्रुत, श्रुति और सुत्त सज्ञा सर्वथा सार्थक है।

जैन-साहित्य दो विभागो मे विभक्त है—१ आगम-साहित्य और २ आगमेतर-साहित्य। तीर्थकरो द्वारा उपदिष्ट, गणधरो एव पूर्वधर स्थविरो द्वारा रचित साहित्य को आगम और आचार्यो द्वारा रचित ग्रन्थो को आगेमतर साहित्य की सज्ञा दी गई है।

तीर्थकर सदा अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। उनका प्रवचन सूत्र रूप मे नही होता। गणधर उस अर्थ रूप प्रवचन को सूत्र रूप मे गूथते है। इस अपेक्षा से आगम के दो भेद होते हैं—१ अत्थागमे—अर्थ-आगम ओर २ सुत्तागमे सूत्र-आगम। तीर्थकर भगवान द्वारा उपदिष्ट वाणी को अर्थागम और उस प्रवचन के आधार पर गणधरो द्वारा रचित आगमो को सूत्रागम कहते हे। ये आगम आचार्यो की अमूल्य एव अक्षय ज्ञान निधि बन गए हे। इसलिए उन्हे गणि-पिटक के नाम से भी सबोधित किया गया है। इनकी सख्या बारह है। इसलिए उसका द्वादशागी नाम भी है।

जैन-परपरा की यह धारणा रही है कि अनादि काल से होने वाले तीर्थंकर अपने शासन काल मे द्वादशागी का उपदेश देते है, अनागत काल मे होने वाले तीर्थकर इसी द्वादशागी का उपदेश देंगे और वर्तमान मे महाविदेह क्षेत्र मे विद्यमान तीर्थंकर इसका उपदेश दे रहे हैं। इस तरह प्रवाह की दृष्टि से द्वादशागी अनादि-अनन्त हैं। उसका प्रवाह न कभी विच्छिन्न हुआ है और न होगा। परन्तु व्यक्ति की अपेक्षा से विचार करते है, तो इसका दूसरा पक्ष भी है। वह यह है कि प्रत्येक काल मे होने वाले तीर्थकर इसका उपदेश देते है। अत उनके शासनकाल मे विद्यमान द्वादशागी उनके द्वारा उपदिष्ट होती है। वर्तमान मे सप्राप्त द्वादशागी के उपदेप्टा है—श्रमण भगवान् महावीर। इस तरह द्वादशागी प्रवाह रूप से अनादि-अनन्त होने पर भी अकृतक नही, कृतक है, अपौरुपेय नही, पौरुपेय है। क्योकि वह वाणी है, शब्दो एव अक्षरो का समूह मात्र है। वाणी, शब्द या अक्षरो का निर्माता कोई व्यक्ति ही होता है, ईश्वर नही। क्योकि ईश्वर शरीर रहित है और वाणी शरीर का धर्म है। अत द्वादशागी एव अन्य कोई भी शास्त्र ईश्वर-कृत नही है।

द्वादशागी यह है—१ आचाराग २ सूत्रकृताग, ३ स्थानाग, ४ समवायाग, ५ भगवती, ६. ज्ञाता-धर्मकथाग, ७ उपासक-दशाग ८ अन्तकृद्दशाग, ९ अनुत्तरोपपातिक, १० प्रश्न-व्याकरण, ११ विपाक और १२ दृष्टिवाद। वर्तमान मे दृष्टिवाद उपलब्ध नही है, शेप एकादश-अग उपलब्ध हैं।

दृष्टिवाद

समवायाग सूत्र मे दृष्टिवाद के परिचय मे लिखा है कि दृष्टिवाद मे समस्त भावो की परुपणा की गई है। वह मुख्य रूप से पाँच भागो मे विभक्त है—१ परिकर्म, २ सूत्र, ३ पूर्वगत, ४ अनुयोग और ५ चूलिका।

१ परिकर्म के सात विभाग हैं—१ सिद्ध श्रेणी, २ मनुष्य श्रेणी, ३ स्पृष्ट श्रेणी, ४ अवगाहना श्रेणी, ५ उपसपदा श्रेणी, ६ विप्रजहत श्रेणी, और ७ च्युताच्युत श्रेणी। सिद्ध श्रेणी परिकर्म के चौदह विभाग है—१ मातृ का पद, २ एकार्थिक पद, ३ पादोप्ठ पद, ४ आकाश पद, ५ केतुभूत, ६ राशि-

बद्ध, ७ एक गुण, ८ द्विगुण, ९ त्रिगुण, १० केतुभूत, ११ प्रतिग्रह, १२ ससार-प्रतिग्रह, १३. नन्दा-वर्त, और १४ सिद्धबद्ध। मनुष्य श्रेणी परिकर्म के भी उक्त चौदह भेद है। शेष स्पृष्ट-श्रेणी आदि पाँच परिकर्म के ग्यारह-ग्यारह भेद है। स्व समय की अपेक्षा से परिकर्म के छह भेद है, सातवाँ परिकर्म आजीविक मत के अनुसार है। प्रथम के छह परिकर्म स्व-सामयिक होने से उनमे चार नय की अपेक्षा से विचार किया गया है और सातवे परिकर्म मे तीन नय की अपेक्षा से। परन्तु त्रि-राशिक की दृष्टि से सातो परिकर्मो मे तीन नय की अपेक्षा से विचार किया गया है।

आगमो मे प्रयुक्त प्रत्येक वस्तु का विचार नय की अपेक्षा से किया जाता है। ऐसा कोई शब्द या अर्थ नही है कि जिसका विचार करते समय नय का प्रयोग न किया जाए। विशेष करके द्वादशम अग दृष्टिवाद के सम्बन्ध मे तो नय से विचार करने की पद्धति रही है। परन्तु इसका विच्छेद होने के बाद मध्यकाल मे शिष्यो की बुद्धि मे मन्दता आ जाने के कारण नय विचार की पद्धति को बन्द कर दिया। परन्तु यदि कोई श्रमण-श्रमणी विचार करने के योग्य है, तो उनके लिए छूट भी है। प्राचीन काल मे कालिक श्रुत और दृष्टिवाद के प्रत्येक पद पर नय पद्धति से विचार करने की परपरा रही है। और जब तक समग्र श्रुत-साहित्य को द्रव्यानुयोग आदि चार अनुयोगो मे विभक्त नही कर दिया, तब तक नय-विचारणा करने की परपरा रही है। आचार्य आर्यवज्र के बाद आर्य रक्षित ने समग्र श्रुत-साहित्य को द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरण-करणानुयोग और धर्मकथानुयोग, इन चार अनुयोगो मे बाँट दिया। इसके बाद नय विचारणा के लिए यह परपरा चल पडी कि यदि श्रोता और वक्ता योग्य हो, तो अपनी योग्यता के अनुसार नय विचारणा करे और यदि दोनो मे विशिष्ट योग्यता न हो, तो सूत्र और उसके अर्थ से काम चलाए, परन्तु नय-विचारणा न करे।[1]

२ सूत्र अठयासी है—१ ऋजुग, २ परिणता-परिणत, ३ बहुभागिक, ४ विप्रत्ययिक, ५ अनन्तर, ६ परपरा, ७ समान, ८ सयूथ, ९ सभिन्न, १० यथात्याग ११ सौवस्तिक, १२ नद्यावर्त, १३ बहुल, १४ स्पृष्टा-स्पृष्ट, १५ व्यावर्त, १६ एवभूत, १७ द्विकावर्त, १८ वर्तमानोत्पाद, १९ समभिरूढ २० सर्वतोभद्र, २१ प्रणामा और २२ द्वि-प्रतिग्रह। उक्त २२ सूत्रो का स्व-सिद्धान्त के अनुसार स्वतत्र भाव से विचार किया जाता है, इनका परतन्त्र भाव से अर्थात् गोशालक के मत के अनुरूप विचार किया जाता है, इनका त्रि-नय की अपेक्षा से विचार करने वाले त्रि-राशि की दृष्टि से विचार किया जाता है और इनका स्व-समय की अपेक्षा से चार नय की दृष्टि से विचार किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक बाईस सूत्रो का चार प्रकार से विचार होता है, अत कुल सूत्र सख्या २२×४=८८ है।

३ पूर्वगत मे चौदह पूर्व है—१ उत्पाद पूर्व, २ अग्रायणीय पूर्व, ३ वीर्य पूर्व, ४ अस्ति-नास्ति-प्रवाद पूर्व, ५ ज्ञान-प्रवाद पूर्व, ६ सत्य-प्रवाद पूर्व, ७ आत्म-प्रवाद पूर्व, ८ कर्म-प्रवाद पूर्व, ९. प्रत्या ख्यान-प्रवाद पूर्व, १० विद्यानुवाद पूर्व, ११ अवन्ध्य-प्रवाद पूर्व, १२ प्राणायु-प्रवाद पूर्व, १३. क्रिया-विशाल- प्रवाद पूर्व, १४ लोक-बिन्दुसार पूर्व। प्रत्येक पूर्व की वस्तु और चूलिका निम्न प्रकार से है—

---

[1] आवश्यक निर्युक्ति गाथा ७६०; विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२७५।

पूर्व	वस्तु	चूलिका
१	१०	४
२	१४	१२
३	८	८
४	१८	१०
५	१२	×
६	२	×
७	१६	×
८	३०	×
९	२०	×
१०	१५	×
११	१२	×
१२	१३	×
१३	३०	×
१४	२५	×

४ अनुयोग दो प्रकार का है—१ मूल-प्रथमानुयोग और २ गडिकानुयोग। मूल-प्रथमानुयोग मे—अरिहन्त भगवान् के पूर्वभव, देवलोक गमन, आयु, च्यवन जन्म, अभिषेक, राज्य लक्ष्मी, पालखी, प्रव्रज्या, तपश्चर्या, आहार, केवल-ज्ञान, तीर्थ-प्रवर्तन, सघयन, सस्थान, ऊँचाई, आयु, शिष्य, गण, गणधर, आर्या, प्रवर्तिनी, चतुर्विध सघ का परिमाण, केवली, मन पर्यव-ज्ञानी, अवधि-ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, श्रुत ज्ञानी, अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होने वाले साधु-साध्वी, सिद्ध-बुद्ध होने वाले साधु-साध्वी, पादोपगमन अनशन करने वाले, और वे सर्व-श्रेष्ठ श्रमण-श्रमणी सपूर्ण कर्मों का क्षय करके, जितने दिन का अनशन करके मुक्तिगामी होते है, उनका और तीर्थकरो से सम्बन्धित, ऐसी अन्य बातो का उल्लेख किया गया है।

गडिकानुयोग के अनेक भेद है, जैसे—१ कुलकर गडिकानुयोग, २ तीर्थंकर ग०, ३ गणधर ग०, ४ चक्रधर, ग०, ५ दशार ग० ६ बलदेव ग०, ७ वासुदेव ग०, ८. हरिवश ग०, ९ भद्रबाहु ग०, १० तपक ग०, ११ चित्रान्तर ग०, १२ उत्सर्पिणी ग० १३ अवसर्पिणी ग०, और देव, नरक एव तिर्यञ्च गति मे जो विभिन्न जन्म होते है, उनका व्याख्यान इत्यादि अनेक गडिकानुयोग हे।

५ चूलिका—पहले चार पूर्वो की चूलिका है, अन्य की नही है। प्रथम पूर्व की ४, द्वितीय की १२, तृतीय की ८ और चतुर्थ पूर्व की १०। कुल ४+१२+८+१०=३४ चूलिकाएँ है।[1]

---

[1] समवायाङ्ग सूत्र, १४७

रचना-क्रम

दृष्टिवाद के पाँच भागो मे चतुर्थ भाग पूर्वगत मे चौदह पूर्व समाविष्ट है। इनका परिमाण बहुत विशाल है। कभी एक भी पूर्व लिखा नही गया है। फिर भी उसकी विराटता को बताने के लिए आचार्यो ने परिकल्पना की है कि यदि प्रथम पूर्व को लिपि बद्ध किया जाए, तो उसमे एक हाथी के परिमाण की स्याही लगेगी। इससे सहज ही समझा जा सकता है कि पूर्व-साहित्य कितना विशाल था, शब्द रूप से उसका पारायण कर सकना कठिन लगता है। सम्भवत भाव रूप से ही उसे हृदयगम किया जाता रहा होगा।

ये श्रुत या शब्द ज्ञान के समस्त विषयो के अक्षय कोप होते है। कोई भी विषय ऐसा नही रह जाता, जिसकी चर्चा पूर्व-साहित्य मे न की गई हो। वस्तुत पूर्व-साहित्य आगम या श्रुत-साहित्य की अमूल्य निधि है।

यह एक प्रश्न है कि पूर्व-साहित्य का रचना काल कब का माना जाए ? इस सम्बन्ध मे दो विचारधाराएँ है—१ श्रमण भगवान् महावीर के पूर्व से ज्ञान-राशि की यह महानिधि चली आ रही थी, इसलिए उत्तरवर्ती श्रुत-साहित्य रचना के समय इसे पूर्व सज्ञा दी गई और दृष्टिवाद मे इन सबका समावेश कर लिया गया, और २ श्रमण भगवान् महावीर ने द्वादशागो से पूर्व चौदह आगमो का उपदेश दिया, अत इन्हे पूर्व कहा गया।[1] वर्तमान युग के पाश्चात्य एव पौर्वात्य विद्वान प्रथम विचारधारा के पक्ष मे है। क्योकि यह तो निर्विवाद रूप से मान्य है कि भगवान् महावीर के पूर्व भी श्रुत-साहित्य था और भगवान् महावीर के समय मे भगवान् पार्श्वनाथ परम्परा के श्रमण-श्रमणी भी विद्यमान थे। आगमो के पृष्ठो पर भी यह अकित मिलता है कि पार्श्वनाथ परम्परा के अनेक श्रमणो ने भगवान् महावीर के शासन को स्वीकार किया। भगवान् महावीर के शासन मे प्रविष्ट होने के पूर्व अनेक श्रमणो को भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट द्वादशागी का परिज्ञान रहा होगा। अत ऐसा लगता है कि पूर्व परम्परा से चले आ रहे ज्ञान स्रोत को ही पूर्वो की सज्ञा देकर द्वादशागी मे समाविष्ट कर लिया हो।

पूर्व-साहित्य इतना विशद है कि उसमे समस्त श्रुत-साहित्य समा जाता है, फिर अन्य आगमो की रचना क्यो की ? यह एक प्रश्न है। इसके समाधान मे आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है कि भूतवाद—दृष्टिवाद अग मे समस्त वाड्मय समा जाता है, फिर भी कठिनता से समझने वाले अल्पज्ञ पुरुष एव स्त्रियो के लिए अन्य एकादश अगो की रचना की।[2] श्री मलधारी हेमचन्द्र सूरि ने विशेषावश्यक भाष्य पर की गई टीका मे इस बात को और स्पष्ट कर दिया है।

---

[1] सर्व श्रुतात् पूर्व क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वाऽदीनि चतुर्दश :—स्थानाग सूत्र वृत्ति, १०,१.

[2] जइ विय भूयावाए सव्वस्स वओमयस्स ओयारो।
निज्जूहणा तहावि हु दुम्मेहे इत्थीय ॥
—विशेषावश्यक भाष्य, गा. ५५०.

आचार्य भद्रबाहु, आचार्य शीलाक और आचाराग-चूर्णिकार इस बात मे एकमत है कि तीर्थंकर भगवान् ने सर्व-प्रथम उपदेश भी आचाराग का दिया और गणधरो ने रचना भी सर्व-प्रथम इसकी की। अन्य अग और पूर्व आदि सब आचाराग के अनन्तर रचे गए है।[1] परन्तु आवश्यक चूर्णि मे इसके विपरीत मतो का उल्लेख भी मिलता है। कुछ विचारको का अभिमत है कि तीर्थंकरो ने प्रथम अर्थ रूप से पूर्वो का उपदेश दिया, परन्तु गणधरो ने सूत्र रूप से सर्व-प्रथम आचाराग आदि अगो की रचना की। किन्तु कुछ आचार्यों का यह अभिमत है कि सर्व-प्रथम उपदेश भी पूर्वो का दिया गया और ग्रन्थ रचना भी पूर्वो की की गई। उपदेश एव रचना की दृष्टि से पहले पूर्व है, उसके बाद आचाराग आदि अन्य अग है, किन्तु स्थापना की दृष्टि से आचाराग को सर्व-प्रथम स्थान दिया गया है।[2] अत योजना की दृष्टि से आचाराग का प्रथम स्थान है, परन्तु रचना की अपेक्षा से पूर्वो का स्थान पहला है।

आगमो मे श्रुत-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की परपरा के तीन क्रम मिलते है। कुछ श्रमण चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता होते थे या उससे कम पूर्वो के। कुछ श्रमण द्वादशागी के विद्वान होते थे। और कुछ श्रमण सामायिक आदि एकादश अगो का अध्ययन करते थे। इन सब मे चतुर्दश पूर्वधर श्रमणो का विशिष्ट महत्व रहा है। उन्हे श्रुत-केवली कहा गया है और पूर्वधर स्थविरो या आचार्यो के द्वारा रचित साहित्य को भी आगम कहा गया है और उनकी वाणी को भी वीतराग वाणी की तरह प्रामाणिक माना गया है।

चौदह पूर्व

	नाम	विषय	पद-परिमाण
१	उत्पाद	द्रव्य और पर्यायो की उत्पत्ति	एक करोड
२	अग्रायणीय	द्रव्य, पदार्थ और जीवो का परिमाण	छियानवे लाख
३	वीर्य-प्रवाद	सकर्म और अकर्म जीवो के वीर्य का वर्णन	सत्तर लाख
४	अस्ति-नास्ति-प्रवाद	पदार्थ की सत्ता और असत्ता का निरूपण	साठ लाख
५	ज्ञान-प्रवाद	ज्ञान का स्वरूप और प्रकार	एक कम एक करोड
६.	सत्य-प्रवाद	सत्य का निरूपण	एक करोड छह
७	आत्म-प्रवाद	आत्मा-जीव का निरूपण	छब्बीस करोड
८.	कर्म-प्रवाद	कर्म का स्वरूप और प्रकार	एक करोड अस्सी लाख
९.	प्रत्याख्यान-प्रवाद	व्रत-आचार, विधि-निषेध	चौरासी लाख

---

[1] आचाराग चूर्णि, पृष्ठ, ३.

[2] आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ, ५६-५७.

१०	विद्यानुप्रवाद	सिद्धियो और उनके साधनो का निरूपण	एक करोड दस लाख
११	अवन्ध्य	शुभाशुभ फल की अवश्य-सभाविता का निरूपण	छब्बीस करोड
१२	प्राणायु-प्रवाद	इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयु और प्राण का निरूपण	एक करोड
१३	क्रिया-विशाल	शुभाशुभ क्रियाओ का निरूपण	नव करोड
१४	लोक-बिन्दुसार	लोक-बिन्दुसार लब्धि का स्वरूप और विस्तार	साढे बारह करोड

भाषा

आगम-साहित्य की भाषा अर्ध-मागधी है, जिसे वर्तमान मे प्राकृत कहते हैं। आगम-साहित्य मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर अर्ध-मागधी भाषा मे उपदेश देते हैं।[1] तीर्थंकर अन्य भाषा मे उपदेश न देकर अर्ध-मागधी या प्राकृत मे ही उपदेश क्यो देते ह? इसके समाधान मे आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि "चारित्र की साधना-आराधना करने के इच्छुक मन्द बुद्धि स्त्री-पुरुषो पर अनुग्रह करने के लिए सर्वज्ञ भगवान् सिद्धात की प्ररूपणा या आगमो का उपदेश प्राकृत मे देते हैं।[2] भगवती सूत्र मे गौतम स्वामी के एक प्रश्न—देव किस भाषा मे बोलते है—का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"हे गौतम! देव अर्धमागधी भाषा मे बोलते ह और लोक मे बोली जाने वाली भाषाओ मे अर्धमागधी भाषा ही विशिष्ट एव श्रेष्ठ भाषा है।[3] प्रज्ञापना सूत्र मे अर्धमागधी भाषा मे बोलने वाले व्यक्तियो को भाषा आर्य कहा है।[4] इससे यह स्पष्ट होता ह कि भगवान् महावीर अर्ध-

---

[1] भगव च ण अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।

—समवायाग सूत्र, पृष्ठ ६०

तएण समणे भगव महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसार-पुत्तस्य .. .. अद्धमागहीए भासाए भासइ .... सावि य ण अद्धमागही भासा तेसिं सव्वेसिं अप्पणो सभासाए परिणामेण परिणमइ।

—औपपातिक सूत्र

[2] बाल-स्त्री-मन्द-मूर्खाणा, नृणा चारित्रकाक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञै सिद्धान्त प्राकृते कृत.॥ —दशवैकालिक टीका

[3] गोयमा! देवाणं अद्धमागहीए भासाए भासंति, सावि य ण अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी विसिस्सइ। —भगवती सूत्र, ५,४,२०

[4] भासारिया जे ण अद्धमागहीए भासाए भासेंति।

—प्रज्ञापना सूत्र, पृ. ५६

मागधी भाषा मे प्रवचन देते थे और इसी भाषा मे श्रुत-साहित्य की रचना की गई। निशीथ चूर्णि मे चूर्णिकार ने इस बात का उल्लेख किया है कि "पुराण-सूत्र—आगमो की भाषा अर्धमागधी निश्चित है।[१] अत चूर्णिकार जिनदास महत्तर अर्धमागधी का अर्थ दो प्रकार से करते है—आधे मगध देश मे बोली जाने वाली भाषा, और २ अठारह जाति की देशी भाषा। अठारह जाति की देशी भाषा का उल्लेख ज्ञाता-धर्म कथा और औपपातिक सूत्र मे मिलता है।[२] इससे यह निश्चित होता है कि श्रुत-साहित्य अर्धमागधी भाषा मे रचा गया। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे 'आर्ष'[३] कहा है—इसके लिए आगम मे ऋषि-भाषित शब्द का प्रयोग मिलता है।[४]

इस बात मे समस्त आचार्य एकमत है कि तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा मे उपदेश देते है और एकादश अग भी अर्धमागधी भाषा मे है। परन्तु, दृष्टिवाद—जिसमे चौदह पूर्व अन्तर्गत है, की भाषा कौन-सी है ? वह सस्कृत मे रचा गया या प्राकृत मे ? अब तक विद्वानो का मत है कि पूर्वो की भाषा सस्कृत थी। भाषा की जटिलता एव विषय की गहनता के कारण अन्य एकादश अगो की रचना प्राकृत या अर्धमागधी भाषा मे की गई। प्रभावक चरित्र के रचियता श्री प्रभाचन्द सूरि ने प्रभावक चरित्र मे लिखा है—पुरातन काल मे चौदह पूर्व सस्कृत भापा मे थे। प्रज्ञातिशय साध्य होने के कारण काल की प्रवलता से उनका विच्छेद हो गया। वर्तमान में आर्य सुधर्मा स्वामी द्वारा रचित एकादश अग है। उन्होने मन्द-बुद्धि स्त्री-पुरुषो के सुगमता से समझ मे आ सके, इसलिए एकादश अगो की प्राकृत मे रचना की।[५] इस सम्बन्ध मे श्री वर्द्धमान सूरि ने भी आचार-दिनकर ग्रन्थ मे 'यथा उक्तमागमे' लिखकर आगम से निम्न गाथा उद्धृत की है—

> "मुत्तूण दिट्ठिवायं कालिय-उक्कालियगसिद्ध त।
> थी-बाल-वायणत्थ पाइयमुइय जिणवरेंहि॥[६]

दृष्टिवाद को छोडकर शेष कालिक-उत्कालिक अग—सिद्धान्त-साहित्य का बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब सरलता से वाचन एव अध्ययन कर सके, इसलिए तीर्थंकरो ने श्रुत-साहित्य का उपदेश प्राकृत भापा मे दिया।

---

१ पोराणमद्धमागह भासानियय हवइ सुत्त।

—निशीथ चूर्णि

२ ज्ञाता-धर्मकथा, पृ० २८; औपपातिक सूत्र, पृ० ५८

३ सिद्ध हेम प्राकृत व्याकरण, ८, १, ३.

४ सक्कता पागता चेव दुहा भणितीओ आहिया।
सरमडलम्मि गिज्जते पसत्था इसि-भासिता॥

—स्थानांग सूत्र ७, ३९४.

५ प्रभावक चरित्र, श्लोक ११४-१६.

६ आचार दिनकर; तत्त्व निर्णय प्रासाद, पृष्ठ ४१२.

परन्तु परपरा से जो यह मान्यता चली आ रही है कि तीर्थंकर सदा-सर्वदा अर्धमागधी या प्राकृत भाषा मे उपदेश देते है, इससे यह बात सिद्ध होती है कि पूर्व-साहित्य की भाषा सस्कृत नही, प्राकृत ही होनी चाहिए। यदि पूर्व-साहित्य को भगवान् महावीर के पहले से चली आ रही ज्ञान-धारा मानें, तब भी यह तो निश्चित है कि वह ज्ञान-धारा उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरो द्वारा ही उपदिष्ट थी। और सब तीर्थंकरो का उपदेश अर्धमागधी भाषा मे होता था। ऐसी स्थिति मे पूर्वों की भाषा सस्कृत मानना कुछ अट-पटा-सा लगता है। यह ऐतिहासिक विषय के अन्वेषकों की खोज का विषय है।

आगमो का प्रामाण्य-अप्रामाण्य

केवल ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, मन पर्यव ज्ञानी, चतुर्दश पूर्वधर और दश-पूर्वधर के द्वारा उपदिष्ट एव रचित साहित्य को आगम कहते है। आगम-साहित्य मे द्वादशागी या गणिपिटक का प्रमुख स्थान है। इसके उपदेष्टा तीर्थंकर भगवान् होते है। वर्तमान काल मे रचित द्वादशागी के उपदेष्टा श्रमण भगवान महावीर है और उसके सूत्रकार गणधर सुधर्मा है। तीर्थंकर सदा अर्थ रूप से उपदेश देते है और गणधर उस उपदेश को सूत्ररूप मे गूथते है। द्वादशागी के अतिरिक्त उपाग आगमो के रचियता स्थविर है। वह चौदह पूर्वधर—श्रुत-केवलियो या विशिष्ट ज्ञानी श्रमणो की वाणी है, सर्वज्ञ की नही। इसलिए द्वादशागी स्वत प्रमाण है। उसके अतिरिक्त शेष आगम-साहित्य परत प्रमाण है। जो आगम द्वादशागी के अनुरूप है, अविरुद्ध है, वे प्रामाणिक है, अन्य अप्रामाणिक है।

आगम-विभाग

श्रुत-साहित्य प्रणेता की अपेक्षा से दो भागो मे विभक्त होता है—१ अग प्रविष्ट और २ अनग-प्रविष्ट, अग बाह्य। श्रमण भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरो ने उनके अर्थ रूप उपदेश को जो सूत्र रूप मे गूथा या भगवान् के उपदेश को जो साहित्य का रूप दिया, वह अग-प्रविष्ट आगम-साहित्य कहलाता है। स्थविरो ने जिस साहित्य की रचना की, वह अनग-प्रविष्ट या अग-बाह्य कहलाता है। द्वादशागी के अतिरिक्त जो आगम-साहित्य उपलब्ध है, वह सब अनग-प्रविष्ट है।

तीर्थंकर केवल ज्ञान को प्राप्त करने के बाद गणधरो को स्थापित करके तीर्थ का प्रवर्तन करते है। जैन-परपरा मे यह मान्यता रही है कि गणधरो के प्रव्रजित होने पर भगवान उन्हे त्रिपदी—उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का उपदेश देते है। उस उपदेश के आधार पर जिस साहित्य का, जिन आगमो का निर्माण किया गया, वह अग-प्रविष्ट साहित्य है। अग-प्रविष्ट आगम-साहित्य का स्वरूप समस्त तीर्थंकरो के शासन मे निश्चित होता है। सभी तीर्थंकर द्वादशागी का उपदेश देते है। परन्तु अनग प्रविष्ट आगमो की सख्या निश्चित नही होती। उसमे कम ज्यादा भी होते रहते है।[१] वर्तमान मे उपलब्ध एकादश अग

---

[१] गणहर-थेरकय वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
धुव-चल-विसेसओ वा अगाणगेसु नाणत्त ॥

वि० भा०, ५५०

सुधर्मा गणधर की वाचना है। गौतम आदि अन्य दश गणधरो की आठ वाचनाएँ थी, परन्तु वर्तमान मे उनका अस्तित्व नही रहा। इसलिए वर्तमान मे उपलब्ध एकादश अग साहित्य के रचियता सुधर्मा गणधर माने जाते है।

रचना की दृष्टि से अनग-प्रविष्ट आगम-साहित्य को दो भागो मे विभक्त कर सकते है—१ स्थविरो द्वारा रचित अनग—अग-बाह्य साहित्य और २ स्थविरो द्वारा निर्यूढ अनग साहित्य। स्थविरो ने कुछ आगमो की अपनी भाषा मे रचना की है और कुछ आगमो को पूर्व एव अग साहित्य मे से उद्धृत किया है। जिन आगमो को पूर्व या द्वादशागी मे से उद्धृत या सकलित किया गया है, उन्हे निर्यूढ कहते है। दशवैकालिक, आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कध, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशाश्रुत-स्कध ये निर्यूढ आगम है। आचार्य शय्यभव ने थोडे समय मे अपने अल्पायु पुत्र मनक की साधना मे तेजस्विता लाने के लिए दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहन किया। इसके अतिरिक्त अन्य आगमो के निर्यूहक श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु है। प्रज्ञापना-सूत्र के रचियता श्यामाचार्य, अनुयोगद्वार सूत्र के निर्माता आर्य रक्षित और नन्दी सूत्र के देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण माने जाते है।

आगमों के निर्माता

आगमो के निर्माता या कर्त्ता कौन हैं? इस विषय मे सभी आचार्य एकमत नही है। आगम एव उसके व्याख्या साहित्य का अध्ययन करने पर इस सम्बन्ध मे हमे दो विचारधाराएँ देखने को मिलती है। एक विचारधारा—जो प्राचीन है, यह मानती है कि द्वादशागी के कर्त्ता गणधर है और उपाग आदि अग-बाह्य आगम-साहित्य के निर्माता स्थविर है। दूसरी विचार धारा—जो अर्वाचीन है, की मान्यता है कि अग एव अग-बाह्य समस्त आगमो के निर्माता गणधर ही है।

अनुयोग द्वार सूत्र मे लोकोत्तर आगमो का वर्णन करते हुए लिखा है कि आचाराग से लेकर दृष्टि-वाद तक द्वादश अगो के प्रणेता तीर्थंकर हे। इसका अभिप्राय इतना ही है कि तीर्थंकरो के उपदेश को गणधरो ने सूत्र रूप मे गूथा या उनके प्रवचनो के आधार पर गणधरो ने द्वादशागी की रचना की।[1] यही बात नन्दी सूत्र मे सम्यक श्रुत के प्रसग मे उल्लिखित है।[2] षट्खडागम की धवला टीका और कषाय

---

[1] लोगुत्तरिए—ज ण इम अरिहतेहि भगवतेहिं उप्पण्ण-णाण-दसण-धरेहि तीय-पच्चुप्पण्णमणागय-जाणएहि तिलुक्कवहित महित-पूइएहिं, सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहि पणीअ दुवालसग गणिपिडग, तजहा—आयारो जाव दिट्ठिवाओ।

—अनुयोगद्वार सूत्र, ४२

[2] नन्दी सूत्र, ४०

पाहुड की जयधवला टीका मे गौतम गणधर को द्वादशाग और चौदह पूर्व का सूत्र-कर्ता कहा गया है।[1] इस मान्यता का समर्थन अन्य ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होता है। आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ भाष्य मे आगम के अग और अग बाह्य भेद करने के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "जो आगम गणधर कृत है, वे अग है और जो स्थविर कृत है, वे अग-बाह्य है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि आगम-युग की मूल मान्यता अग-साहित्य को ही गणधर-कृत मानने की रही है।

नन्दी सूत्र की चूर्णि और आचार्य हरिभद्र रचित टीका मे अग और अग-बाह्य की रचना के सम्बन्ध मे दो विचार धाराएँ दिखाई देती है। उसमे एक विचारधारा अग-साहित्य को गणधर कृत और अग-बाह्य को स्थविर कृत मानने की है। दूसरी अग-बाह्य को भी गणधर कृत मानने की है।[3] यह कहना कठिन है कि यह दूसरी मान्यता कब से प्रचलित हुई। परन्तु इतना निश्चित है कि आवश्यक सूत्र गणधर-कृत है, यह मान्यता आवश्यक निर्युक्ति मे स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन के उपोद्घात मे निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने जो प्रश्न उठाए है और स्वय ने ही जो उनका उत्तर दिया है, उसका अनुशीलन-परिशीलन करने वाले पाठक को यह स्पष्ट हो जाएगा कि आचार्य बार-बार घूम-फिर कर इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि आवश्यक सूत्र के सामायिक आदि अध्ययनो की रचना गणधरो ने की है।[3] विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता आचार्य जिनभद्र ने भी निर्युक्ति के मत का समर्थन किया है।[4] आचार्य भद्रबाहु का कथन है कि मैं जो सामायिक आदि अध्ययनो को गणधर कृत कह रहा हूँ, यह मान्यता मुझे परपरा से प्राप्त है। जब हम इस परपरा का अन्वेषण करते है तो आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन को गणधर कृत मानने की परपरा अनुयोगद्वार सूत्र—जहाँ आवश्यक का वर्णन किया गया है, मिलती है।[5] अनुयोगद्वार सूत्र की चूर्णि मे चूर्णिकार ने उक्त गाथाओ के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा है। परन्तु अनुयोगद्वार सूत्र के वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र सूरि ने इसका वर्णन किया है।[7] इससे ऐसा माना जा सकता है कि उक्त गाथाओ का अभिप्राय यह है कि आवश्यक सूत्र गणधर कृत है। एक बात यह भी है कि आगमो मे जहाँ श्रमण-श्रमणी के एकादश अग के अध्ययन का वर्णन आता है, वहाँ पर उल्लेख मिलता है—"अमुक श्रमण-श्रमणी ने स्थविर भगवान के पास सामायिक

---

[1] षट्खडागम, धवलाटीका, भाग १, पृष्ठ ६५, कषाय पाहुड, जयधवला टीका, भाग १, पृष्ठ ८४

[2] तत्त्वार्थ भाष्य, १, २०.

[3] नन्दी सूत्र, चूर्णि, पृष्ठ ४७, ६०.

[4] आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४०-४१.

[5] आवश्यक निर्युक्ति, गाथा, ८०, ६०, २७०, ७३४, ७३५, ७४२, ७४५, ७५० और विशेष० भाष्य, गाथा, ६४८-४६, ६७३-७४, १४८४-८५, १५४५-४८, १५५३, २०८२-८३, २०८६.

[6] अनुयोग द्वार सूत्र, १५५.

[7] अनुयोगद्वार वृत्ति, आचार्य हरिभद्र कृत, पृष्ठ १२२.

आदि एकादश अंगों का अध्ययन किया।" इससे ऐसा परिज्ञान होता है कि अंग-बाह्य सूत्रों में सबसे पहले आवश्यक सूत्र या उसके सामायिक अध्ययन को गणधर कृत मानने की परंपरा चालू हुई। और इससे इतना निश्चित होता है कि अंग बाह्य आवश्यक सूत्र को गणधर कृत मानने की परंपरा कम से कम आवश्यक निर्युक्ति जितनी प्राचीन है।

परन्तु यह परंपरा केवल आवश्यक सूत्र तक ही सीमित नहीं रही, उसका क्षेत्र बढ़ता गया और धीरे-धीरे समस्त अंग-बाह्य आगमों को गणधर कृत माना जाने लगा। दिगम्बर ग्रन्थों में भी इसका प्रमाण मिलता है। दिगम्बर आचार्य जिनसेन (वि० सं० ८४०) अपने हरिवंश पुराण में लिखते हैं कि भगवान महावीर ने सर्व-प्रथम बारह अंगों का अर्थ रूप में उपदेश दिया, उसके बाद गौतम गणधर ने उपांग सहित द्वादशांगों की रचना की।[1]

नन्दी सूत्र में द्वादशांगी को जिन-प्रणीत कहा है। परन्तु चूर्णिकार ने अंग बाह्य आगमों को भी उसके साथ जोड़ने का उल्लेख किया है।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि चूर्णिकार के समय में अंग बाह्य आगमों को गणधर कृत मानने की परंपरा प्रचलित हो गई थी। यही कारण है कि नन्दी सूत्र में जहाँ अंग और अंग-बाह्य आगमों की गणना की गई है, वहाँ भी चूर्णिकार इस बात का उल्लेख करते हैं कि अंग और अंग-बाह्य उभय आगम अरिहंत भगवान् की वाणी है।[3] अंग-बाह्य आगम भी वीतराग वाणी है, इस मान्यता का यह स्रोत यहीं अवरुद्ध नहीं हुआ। इसका प्रवाह और आगे प्रवहमान होता रहा और परिणाम स्वरूप पुराण साहित्य भी गणधर कृत माना जाने लगा। पुराणकारों ने अपने पुराणों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए उनकी प्रस्तावना में यह उल्लेख करना शुरू कर दिया कि मूल रूप से पुराण गणधर कृत हैं, हमें यह वस्तु परंपरा से प्राप्त हुई है, जिसके आधार से पुराणों की रचना की गई है।[4] इस तरह अंग और अंग-बाह्य को ही नहीं, प्रत्युत पुराण साहित्य पर भी गणधर-कर्तृत्व की मोहर लगाई जाने लगी।

अब प्रश्न यह होता है कि अंग-बाह्य साहित्य को गणधर कृत मानने का क्या कारण रहा? इसका स्पष्ट उत्तर यह हो सकता है कि गणधर ऋद्धि-सम्पन्न माने जाते थे और उन्होंने भगवान् के प्रवचन को साक्षात् रूप से ग्रहण किया था। अतः उनके नाम को जोड़ देने से ग्रन्थ की प्रामाणिकता अधिक बढ़ जाती है। इसलिए आचार्यों ने आगम में समविष्ट हो सकने वाले सम्पूर्ण साहित्य को गणधर के नाम से प्रचारित कर दिया।

---

[1] हरिवंश पुराण, २, ९२, १०६, १११.

[2] नन्दी सूत्र, चूर्णि पृष्ठ ३८

[3] वही पृष्ठ ४०

[4] पद्मचरित, १, ४१-४२, महापुराण (आदिपुराण) १, २६, १, १९८-२०१

आगम एव उसके व्याख्या-साहित्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्टतया ज्ञात होता है, जबकि श्वेताबर और दिगम्बर परपरा मे साहित्य को लेकर मतभेद तीव्र होने लगा, तब अग बाह्य आगम-साहित्य को भी गणधर-कृत मानने की प्रवृत्ति चली और आगे चलकर वह बढती ही गई, यहाँ तक कि आचार्यों द्वारा रचित पुराण-साहित्य भी गणधरो की रचना कही जाने लगी।

इतनी लम्बी चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अग बाह्य को गणधर कृत मानने की परपरा अर्वाचीन है और वह परिस्थिति वश चालू हुई। परन्तु, यथार्थ मे अग-साहित्य ही तीर्थंकर भगवान की वाणी है और गणधर उसके सूत्रकार है। अग बाह्य आगम-साहित्य के रचियता गणधर नही, स्थविर है और अनेक आगमो के साथ उन स्थविरो का प्रणेता के रूप मे नाम जुडा हुआ है, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर आए है।

आगम-परिषद्

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् दूसरी शताब्दी (वीर स० १६०) मे नन्दराज के समय मे पाटलिपुत्र—पटना मे द्वादश वर्ष का भीषण दुष्काल पडा। दुर्भिक्ष के कारण श्रमण-श्रमणी का निर्वाह होना कठिन हो गया। इसलिए वे वहाँ से अन्यत्र विहार कर गए और कुछ विशिष्ट श्रमणो ने अन-शन व्रत करके समाधि-मरण को प्राप्त किया। ऐसी स्थिति मे श्रुत-साहित्य के समाप्त होने का-भय होने लगा।। क्योकि उस समय लिखने की परपरा थी नही। समस्त श्रुत-साहित्य कण्ठस्थ करने करवाने की परपरा थी। अत दुष्काल के समाप्त होने पर श्रमण-सघ पाटलिपुत्र मे एकत्रित हुआ और अपनी-अपनी स्मृति के अनुसार एकादश अगो को व्यवस्थित किया।[1] इस सम्मेलन को पाटलिपुत्र परिषद् कह सकते है। इसमे श्रमण-सघ ने एकादश अगो के पाठो को सर्व सम्मति से स्वीकार किया और उनके अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की। परन्तु उक्त परिषद् मे द्वादशम अग दृष्टिवाद का कोई ज्ञाता नही था। उस समय केवल आचार्य भद्रबाहु ही सम्पूर्ण द्वादशागी—चौदह पूर्व के ज्ञाता थे और वे उस समय नेपाल की गिरि-कन्दराओ मे महाप्राण नामक ध्यान की साधना मे सलग्न थे।

---

१ जाओ अ तम्मि समए दुक्कालो दोय-दसय वरिसाणि।
सव्वो साहु-समूहो गओ तओ जलहितीरेसु ॥
तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया।
सघेण सुयविसया चिता कि कस्स अत्थेति ॥
ज जस्स आसि पासे उद्देस्स ज्झयणमाइ सघडिउ ॥
त सव्वं एक्कारय अगाई तहेव ठवियाइ ॥

—आचार्य हरिभद्र कृत उपदेश-पद

उन्हें आगम-परिषद में सम्मलित होने के लिए बुलाया गया तो उन्होंने अपनी साधना का कारण बता कर आने में असमर्थता प्रकट की। इस पर श्रमण-संघ ने पुन उनके पास कुछ श्रमणो को यह सन्देश देकर भेजा कि साधना महान् है या संघ सेवा। इस सन्देश ने महत्वपूर्ण कार्य किया और संघ सेवा की महानता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने संघ सेवा करना स्वीकार किया। श्रमण-संघ ने श्रुत-परंपरा के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए पाँच-सौ श्रमणो को चौदह पूर्व का अध्ययन करने के लिए आचार्य भद्रबाहु की सेवा मे रखा और एक हजार श्रमण उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए उनके साथ रहे। परन्तु स्थूलभद्र के अतिरिक्त अन्य श्रमण ज्ञान-साधना को सतत चालू नही रख सके, वे बीच में ही अध्ययन छोडकर चले आए। स्थूलभद्र अपने अध्ययन मे अनवरत लगे रहे और उन्होंने दश पूर्वों का अध्ययन किया। उस समय स्थूलभद्र की दो बहिनें—जो साध्विएँ थी, उनके दर्शनार्थ पहुँची, तो उन्होंने अपनी विद्या का, ज्ञान-साधना का चमत्कार दिखाने के लिए सिंह का रूप धारण कर लिया। जब आचार्य भद्रबाहु को इस बात का संकेत मिला, तो उन्होंने उसे अपात्र समझकर आगे अध्ययन कराना बन्द कर दिया। स्थूलभद्र के द्वारा अपनी गलती की क्षमायाचना करने और अत्यधिक आग्रह करने के बाद आचार्य भद्रबाहु ने उन्हे शेष चार पूर्वों की मूल रूप से वाचना दी, परन्तु उनका अर्थ रूप से अध्ययन नही करवाया। इस तरह स्थूलभद्र मूल सूत्र की अपेक्षा से चौदह पूर्व के अन्तिम ज्ञाता थे। उनके बाद दश पूर्व का ज्ञान ही शेष रहा। वज्र स्वामी अन्तिम दश पूर्वधर थे। वज्र स्वामी के शिष्य आर्यरक्षित नव पूर्व और दसवें पूर्व के २४ यविक के ज्ञाता थे। उनके शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने नव पूर्व का अध्ययन किया परन्तु अनभ्यास के कारण वह नववे पूर्व को भूल गया। विस्मृति का यह क्रम आगे बढता रहा और समय के अनुसार ज्ञान-साधना एव स्मृति मे कमी आती रही।

मथुरा-परिषद्

पाटलिपुत्र मे श्रुत-परपरा के प्रवाह को प्रवहमान रखने का प्रयत्न किया गया। परन्तु, आगम-साहित्य के छिन्न-भिन्न होने के प्रसग आते रहे। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् तीसरी शताब्दी के अन्त मे (वीर० स २९१) आर्य सुहस्ती सूरि के समय में सप्रति राजा के राज्य मे फिर बारह वर्ष का भयकर दुष्काल पडा। इसके पश्चात् आर्य श्री स्कदिल और वज्र स्वामी के समय मे पुन भयकर दुष्काल पडा। इस दुष्काल का वर्णन नन्दी सूत्र की चूर्णि मे किया गया है। उस समय (वी० स० ८२७ और ८४० के मध्य मे) आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे श्रमण-संघ का सम्मेलन हुआ। आगमो को व्यवस्थित करने का यह दूसरा प्रयत्न था। इस प्रयत्न को माथुरी वाचना या मथुरा परिषद् कहते हैं। इसी समय आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व मे वल्लभी मे भी कुछ श्रमणो का सम्मेलन हुआ और उन्होने अपनी स्मृति मे रहे हुए आगमो को व्यवस्थित रूप दिया। इसे नागार्जुनीय वाचना कहते हैं। आगम-साहित्य के व्याख्याकारो ने जब आगमो पर टीकाएँ लिखी, तब उन्हे कही-कही पाठभेद दिखाई दिया, तो उन्होंने उसका पाठान्तर के रूप मे उल्लेख किया है। उस जगह ऐसा पाठ

मिलता है "वायणतरे पुण, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति।" इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पूर्व वल्लभी मे आचार्य नागार्जुनके सान्निध्य मे एक आगम वाचना हुई थी। इस समय आचार्य आर्य रक्षित ने अनुयोगद्वार की रचना की।

वल्लभी-परिषद्

मथुरा आगम परिपद् के करीव डेढ सौ वर्प वाद वल्लभी मे आगमो को व्यवस्थित रूप देने के लिए तृतीय वार श्रमण-सघ का मिलन हुआ। वीर स० ९८० और वि० स० ५१० मे आचार्य देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे आगमो के पाठो को व्यवस्थित किया गया और स्मृति मे अत्यधिक कमी आ जाने के कारण आगमो को लिपिवद्ध भी किया गया। आगम-साहित्य मे पुनरुक्ति अधिक स्थानो पर दिखाई देती है। साधक को सावधान करने एव उसके अन्तर मन मे वीतराग वाणी को जमाने के लिए एक ही वात कई वार दुहराई गई। अत जव लिखने का प्रसग आया तो उनके सामने कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हुई। क्योकि एक वात अनेक आगमो मे अनेक स्थनो पर होने के कारण वहुत लिखना पडता था। अत आगमो को लिपिवद्ध करते समय पुनरुक्ति को कम करने के लिए हर आगम मे इस वात को न लिखकर एक-दूसरे आगम का उल्लेख कर दिया गया। जैसे कोई वात रायपसेणीय सूत्र मे लिखी जा चुकी है, तो उस आगम मे यह सकेत कर दिया गया—"जहा रायपसेणीय"। इससे अनेक अगो मे वर्णित विपय, जो पहले उपागो मे लिखे जा चुके थे, उनके लिए भी पश्चात् लिए जाने वाले अगो मे उपागो का सकेत किया गया।

यह आगमो की अन्तिम वाचना थी। इसके पश्चात् इतने विशाल रूप मे कोई सर्वमान्य आगम-परिषद् नही हुई। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पश्चात् कोई पूर्वधर भी नही रहा। इस समय आचार्य देवर्द्धिगणि ने नन्दी सूत्र की रचना की। इसमे आगम-साहित्य का परिचय भी दिया गया है। और उसी समय सकलित एव व्यवस्थित किए गए समवायाग सूत्र मे भी आगमो का परिचय जोडा गया—ऐसा प्रतीत होता है।

आगम-विच्छेद का इतिहास

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके द्वितीय पट्टधर आचार्य जम्बू अन्तिम सर्वज्ञ थे। उनके निर्वाण के वाद भरत क्षेत्र मे कोई सर्वज्ञ नही हुआ। उनके पश्चात् चतुर्दश पूर्वधरो की परपरा चलती रही। आचार्य भद्रवाहु अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर थे। उनका स्वर्गवास वीर-निर्वाण स० १७० मे हुआ। अर्थ की दृष्टि से इसी समय चार पूर्वो का विच्छेद हो गया। दिगवर परपरा के अनुसार आचार्य भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर निर्वाण के १६२ वर्प वाद हुआ।

आचार्य स्थूलभद्र मूल सूत्रपाठ से चतुर्दश पूर्वधर थे। परन्तु उनके स्वर्गवास (वीर० स० २१६) के वाद शब्द—मूल रूप से भी चार पूर्वो का लोप हो गया। आचार्य आर्यरक्षित तक दश पूर्वो की परपरा

चलती रही। वीर निर्वाण स० ५७१ और वि० स० १०१ मे उनका स्वर्गवास हो गया। उसके बाद दशम पूर्व भी विच्छिन्न हो गया। और वीर-निर्वाण स० ६०४ (वि० स० १३४) मे आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के निधन के साथ नवम पूर्व भी लुप्त हो गया और आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्ग-वास के बाद पूर्वो का पूर्णत लोप हो गया। वीर निर्वाण के एक हजार (वि० स०५३०) के पश्चात् कोई भी पूर्वधर श्रमण नही रहा।

दिगम्बर परपरा के अनुसार वीर निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवल ज्ञान का अस्तित्व रहा। आचार्य जम्बू स्वामी अन्तिम केवल ज्ञानी हुए। उनके निर्वाण के बाद १०० वर्ष तक चौदह पूर्वो का ज्ञान रहा। आचार्य भद्रबाहु अन्तिम चौदह पूर्वधर थे। उनके पश्चात् १८३ वर्ष तक दश पूर्व रहे। आचार्य धर्म-सेन दश वर्प पूर्व के अन्तिम ज्ञाता थे। उनके पश्चात् पूर्वो का लोप हो गया, २२० वर्प तक एकादश अगो का ज्ञान रहा। एकादश, अग-साहित्य के अन्तिम अध्येता आचार्य ध्रुवसेन थे। उनके पश्चात् ११८ वर्ष तक केवल एक अग-आचाराग सूत्र का अध्ययन चलता रहा। इसके अन्तिम ज्ञाता आचार्य लोहार्य थे। वीर-निर्वाण ६८३ (वि० स० २१३) के पश्चात् आगम-साहित्य का पूर्णत लोप हो गया।

केवल ज्ञान के विच्छिन्न होने की मान्यता मे दोनो परपराएँ—श्वेताम्वर और दिगम्बर एक मत है। चार पूर्वो का लोप आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् हुआ, इसमे भी दोनो एकमत हैं। केवल समय मे थोडा-सा अन्तर है। श्वेताम्बर परपरा भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर-निर्वाण स० १७० मे मानती है, और दिगम्वर परम्परा १६२ मे केवल ८ वर्प के समय का अन्तर है। यहाँ तक उभय परपराएँ एक-दूसरे के साथ-साथ चलती रही हैं। इसके पश्चात् दोनो परपराओ की मान्यताओ मे दूरी बढती गई। दशम पूर्व के लोप होने की मान्यता मे दोनो मे समय का बहुत लम्बा अन्तर है। श्वेताम्बर परपरा के अनुसार दश पूर्वो के ज्ञाता वीर-निर्वाण से ५८४ वर्प तक हुए और दिगम्बर परपरा दश पूर्वधर का समय वीर-निर्वाण स० २४५ तक ही मानती है। श्वेताम्वर परम्परा एक पूर्व की परपरा को देवर्द्धिगणी के समय तक मानती है और एकादश अगो को वर्तमान काल तक सुरक्षित मानती है, जबकि दिगम्बर परपरा वीर-निर्वाण ६८३ वर्ष के पश्चात् आगम-साहित्य का पूर्णत लोप स्वीकार करती है।

आगम-साहित्य का मौलिक रूप

वर्तमान मे उपलब्ध आगम-साहित्य मौलिक है या नही ? इसके सम्बन्ध मे जैन-परपरा मे दो विचारधाराएँ है— १ दिगम्बर विचारधारा और २ श्वेताम्बर विचारधारा। दिगम्बर विचारधारा के अनुसार श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्प के बाद आगम-साहित्य का सर्वथा लोप हो गया। वर्तमान मे उपलब्ध एक भी आगम मौलिक नही है।

श्वेताम्बर परपरा की मान्यता के अनुसार आगम-साहित्य का बहुत वडा भाग लुप्त हो गया, परन्तु उसका पूर्णत लोप नही हुआ। उसका कुछ अश आज भी विद्यमान है। द्वादशागी मे से एकादश अग वर्तमान मे विद्यमान हैं और पाटलिपुत्र, मथुरा एव वल्लभी मे उन्हे व्यवस्थित रूप दिया गया।

इसमे कोई सन्देह नही है कि विभिन्न समयो मे हुई विभिन्न वाचनाओ मे आगम-साहित्य मे कुछ परिवर्तन भी हुआ है। स्थानाग और समवायाग मे जोडे गए कुछ पाठ तो स्पष्ट रूप से उत्तरकालीन परिलिक्षित होते है। सात निह्नव और नव गणो का उल्लेख स्पष्ट रूप से भगवान महावीर और सुधर्मा गणधर के बाद का है और भी कई स्थल ऐसे है, जो बाद मे सख्या की दृष्टि से उनके साथ जोड दिए गए है। भगवती सूत्र और प्रश्न व्याकरण-सूत्र का विषय वर्णन जैसा था, वर्तमान मे पूर्णत उसी रूप मे उपलब्ध नही होता। इतना होने पर भी हम यह नही कह सकते कि अग-साहित्य मे मौलिकता का सर्वथा अभाव है। उसमे बहुत भाग मौलिक है और भाषा एव शैली की अपेक्षा से वह प्राचीन भी है। आचाराग का प्रथम श्रुतस्कध भाषा एव शैली की दृष्टि से सब अगो से भिन्न है और आगम-साहित्य मे सबसे प्राचीन है। वर्तमान युग के भाषा शास्त्री और पाश्चात्य एव पौर्वात्य विद्वान उसे ईसा से चौथी-पॉचवी शताब्दी पहले की रचना स्वीकार करते है। सूत्रकृताग, स्थानाग, भगवती आदि अग-सूत्र भी काफी प्राचीन है। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आगम का मूल रूप वर्तमान मे भी सुरक्षित है।

आगम-साहित्य में अनुयोग-व्यवस्था

आगम-युग मे अग-साहित्य का नय के आधार से अध्ययन करने की परपरा रही है। प्रत्येक सूत्र एव पद को नय की अपेक्षा से लगाया जाता था। परन्तु दृष्टिवाद का लोप होने के बाद नय के स्थान मे अनुयोग की परपरा चालू की गई। अनुयोग का अर्थ है—सूत्र और अर्थ का उचित सम्बन्ध। ये चार प्रकार के है—१ चरणकरणानुयोग २. धर्मकथानुयोग ३ गणितानुयोग और ४ द्रव्यानुयोग। आचार्य आर्यव्रज तक अनुयोगो के प्रतिपादन की कोई व्यवस्था नही थी। प्रत्येक सूत्र के साथ चारो अनुयोगो का प्रतिपादन किया जाता था। इससे शिष्य एव गुरु दोनो को अध्ययन-अध्यापन करवाने मे कठिनता पडती थी। इसलिए आचार्य आर्यरक्षित ने अनुयोग प्रतिपादन की पद्धित मे परिवर्तन किया। आर्य रक्षित के चार प्रमुख शिष्य थे—१. दुर्बलिका पुष्य, २. फल्गुरक्षित, ३ विन्ध्य और ४ गोष्ठामाहिल। उनके शिष्य परिवार मे विन्ध्य प्रबल मेधावी था। उसने आचार्य से प्रार्थना की कि सहपाठ मे बहुत देर लगती है, अत ऐसी व्यवस्था करे कि मुझे पाठ शीघ्र मिल जाए। आचार्य ने उसके अध्ययन का भार दुर्बलिका पुष्य को सौपा। कुछ दिन तक अध्ययन चलता रहा। परन्तु अध्ययन कराने मे ही अधिक समय लग जाने के कारण दुर्बलिका पुष्य अपना स्वाध्याय व्यवस्थित रूप से चालू नही रख सका। इससे वह नवम पूर्व को भूलने लगा। अत उसने आर्य रक्षित से कहा कि यदि मै इसे वाचना दूंगा, तो मेरा नवम पूर्व विस्मृत हो जाएगा। अपने शिष्य की यह स्थिति देखकर आर्य रक्षित ने सोचा कि स्मृति मन्द हो रही है। अत प्रत्येक सूत्र मे चारो अनुयोगो को धारण करने वाले श्रमण अब अधिक लम्बे समय तक नही रहेगे। इसलिए आर्यरक्षित ने पूरे श्रुत-साहित्य को ही चार भागो मे विभक्त कर दिया। इससे आगमो की व्याख्या करने मे दुरूहता नही रही। चार अनुयोगो मे आगमो का विभाग निम्न प्रकार से किया गया—

१ चरण-करणानुयोग	कालिक सूत्र
२ धर्मकथानुयोग	उत्तराध्ययन, ऋषि-भाषित आदि
३ गणितानुयोग	सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि
४ द्रव्यानुयोग	दृष्टिवाद[1]

दिगम्बर परंपरा मे भी चार अनुयोगो का वर्णन मिलता है, परन्तु वह कुछ रूपान्तर मे उपलब्ध होता है। उनके नाम निम्न है —

१ प्रथमानुयोग, २ करणानुयोग, ३ चरणानुयोग और ४ द्रव्यानुयोग।

श्वेताम्बर परपरा के अनुसार चार अनुयोगो के विषय निम्न है —

१ चरणकरणानुयोग	आचार
२ धर्मकथानुयोग	चरित्र, दृष्टान्त, कथा आदि
३ गणितानुयोग	गणित, काल
४. द्रव्यानुयोग	द्रव्य, तत्त्व

दिगम्बर सरपरा के अनुसार अनुयोगो का विषय निम्न प्रकार से है —

१ प्रथमानुयोग	महापुरुषो के जीवन चरित्र
२ करणानुयोग	लोकालोक-विभक्ति, काल, गणित
३ चरणानुयोग	आचार,
४ द्रव्यानुयोग	द्रव्य, तत्त्व

दिगम्बरा, परम्परा मे आगम-साहित्य को सर्वथा लुप्त मानते हैं। इसलिए वर्तमान मे वे निम्न ग्रन्थो को निम्न अनुयोगो मे समाविष्ट करते है—

१ प्रथमानुयोग	पुराण, महापुराण
२ करणानुयोग	त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोक-सार
३ चरणानुयोग	मूलाचार
४. द्रव्यानुयोग	प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि[2]

---

[1] दशवं कालिक निर्युक्ति, ३

[2] रत्नकाण्ड श्रावकाचार, अधिकार १, पृष्ठ ७१-७३

लेखन-परम्परा

आगम-साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखन कला का प्रादुर्भाव प्रागैतिहासिक युग मे हो गया था। भगवान् ऋषभदेव ने कर्म-भूमि के प्रारम्भ मे जनता को असि, कसि और मषि की कला सिखाई। तलवार अर्थात् राज्य और शासन करने की कला के साथ कृषि और लेखन की कला का भी उन्होने शिक्षण दिया। भगवान् ऋषभदेव द्वारा सिखाई गई ७२ कलाओ मे लेख-कला को सर्व-प्रथम स्थान दिया गया है।[१] भगवान ने अपनी ज्येष्ठ पुत्री ब्राह्मी को लिपि एव लेखन कला की शिक्षा दी थी, उसे १८ लिपियाँ सिखाई[२] और उसी के नाम पर लिपि को ब्राह्मी लिपि की सज्ञा दी गई। उक्त वर्णनो मे प्रयुक्त लेख-कला, लिपि एव मषि शब्द लेखन कला की परम्परा को कर्म-युग के प्रारम्भ तक ले जाते है। इसके अतिरिक्त प्रज्ञापना सूत्र मे भी १८ लिपियो का उल्लेख मिलता है।[३] भगवती सूत्र मे मगलाचरण के रूप मे ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है।[४] नन्दी सूत्र मे भी अक्षर-श्रुत तीन प्रकार का बताया है—१ सज्ञा-अक्षर, २ व्यजन-अक्षर, और ३. लब्धि-अक्षर।[५] इसमे प्रयुक्त सज्ञा-अक्षर का अर्थ है—अक्षर की आकृति, सस्थान और उस आकृति को दी गई 'अ, आ' आदि की सज्ञा। इससे उस युग मे लिपि के होने का प्रमाण मिलता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल मे लिखने की परम्परा रही है। परन्तु हम यह निश्चय पूर्वक नही कह सकते कि उस युग मे लेखन के साधन क्या थे। शिलापट एव गुफाओ की दीवारो पर अकित शब्द तो अवश्य मिलते है। परन्तु इसके अतिरिक्त और कोई सामग्री उपलब्ध हुई हो ऐसा ज्ञात नही होता। परन्तु आगमो मे पुस्तको एव लेखन सामग्री के सम्बन्ध मे अनेक साधनो का वर्णन अवश्य मिलता है। रायप्रश्नीय सूत्र मे कम्बिका—कामी, मोरा, गॉठ, लिपियासन—मषि-पात्र—दवात, छन्दन—ढक्कन, साकली, मषि और लेखनी का उल्लेख मिलता है। प्रज्ञापना-सूत्र मे 'पोत्थारा' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है—पुस्तक लिखने वाला लेखक।[६] उक्त आगम मे पुस्तक लेखन को शिल्पआर्य मे समाविष्ट किया है और अर्धमागधी भाषा एव ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले लेखक को भाषा आर्य कहा है।[७] स्थानाग सूत्र मे पाच प्रकार की पुस्तको का उल्लेख किया है—१ गण्डी, २ कच्छवी, ३ मुष्ठि, ४ सपुट फलक, और ५ सृपाटिका।[८] दशवैकालिक-सूत्र की

---

[१] समवायाग सूत्र, ७२

[२] विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति, १३२

[३] प्रज्ञापना सूत्र, पद १

[४] नमो बंभीए लिविए —भगवती सूत्र

[५] नन्दी सूत्र, ३८, मूल सुत्ताणि, पृ. ३०६

[६] प्रज्ञापना सूत्र, पद १

[७] वही

[८] स्थानांग सूत्र, स्थान ५

टीका मे आचार्य हरिभद्र ने और निशीथ चूर्णिकार ने भी इसका उल्लेख किया है।[1] टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताडपत्र, सपुट का पत्र सचय और कर्म का अर्थ मषि एव लेखनी से लिखना किया है। और पोत्थारा या पोत्थकार शब्द का अर्थ टीकाकार ने पुस्तक के माध्यम से जीविका चलाना किया है।

आगम के अतिरिक्त भी प्राचीन युग मे लेखन कला के प्रमाण मिलते है। बौद्ध और वैदिक साहित्य इसके साक्षी है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक उल्लेख भी उपलब्ध होते है। वीर-निर्वाण की द्वितीय शताब्दी मे आक्रान्ता सम्राट् सिकन्दर के सेनापति निआर्क्स ने अपनी भारत-यात्रा के वर्णन मे लिखा है—"भारतवासी लोग कागज बनाते थे।[2] ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी मे लिखने के लिए ताड-पत्र और चतुर्थ शताब्दी मे भोज-पत्र का उपयोग किया जाता था।[3] वर्तमान काल मे उपलब्ध लेखन साहित्य मे ईसा की पाचवी शताब्दी के लिखित पत्र मिलते है।"[4] उक्त अध्ययन के आधार पर हम यह कह सकते है कि भारत मे लिखने की कला प्राचीनतम है और हमारे प्रागेतिहासिक पूर्वज लेखन कला से परिचित थे। परन्तु फिर भी इस बात को स्वीकार करना पडेगा कि उस समय आगम-साहित्य को लिपि-बद्ध करने की परम्परा नही थी।[5] उस युग मे श्रुत-साहित्य कण्ठस्थ करने एव करवाने की परम्परा रही है। जैनो मे ही नही, वैदिक एव बौद्ध सम्प्रदायो मे भी यही परम्परा थी और इसी कारण तीनो परम्पाओ मे आगम के लिए श्रुत, श्रुति एव सुत्त शब्द का प्रयोग हुआ।

आगम-लेखन युग

जैन परम्परा की मान्यता के अनुसार ज्ञान का विशाल पुञ्ज चौदह पूर्वो मे सचित है। वह विराट साहित्य कभी लिपिबद्ध नही किया गया। परन्तु आचार्यो ने उसकेलिए यह कल्पना अवश्य की, कि वह अमुक-अमुक परिमाण मे स्याही से लिपिबद्ध किया जा सकता है। चौदह पूर्व तो क्या, आगम युग मे एकादश अग भी लिपिबद्ध नही किए गए। उस युग मे ज्ञान को अक्षरो मे अकित करने की अपेक्षा, उसे मस्तिष्क एव हृदय मे अकित करने का अधिक महत्व था। लिखने मे समय अधिक लगता था और लिखित ग्रन्थो का प्रतिलेखन करने एव उन्हे सम्भालने मे भी समय व्यय करना पडता था। और

---

[1] दशवैकालिक टीका, पृ. २५, निशीथ चूर्णि, उ, १२

[2] भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ. २

[3] वही

[4] वही

[5] आगम-साहित्य के लिखने की परम्परा का सकेत अनुयोग-द्वार सूत्र मे मिलता है। उसमे श्रुत-अधिकार मे लेखन सामग्री के द्वारा लिखित पत्रो को द्रव्य-श्रुत कहा है। और इसका रचनाकाल वीर-निर्वाण की ६ वीं शताब्दी का अन्तिम समय माना जाता है। इससे पहले आगम-लिखने की परम्परा का सकेत नहीं मिलता।

लिखित ग्रन्थ बढ जाने से स्वाध्याय मे भी विघ्न पडता था। साधक स्वाध्याय, चिन्तन-मनन और निदिध्यासन की परम्परा को छोडकर पुस्तक-पन्नो के पीछे लग जाता। इसी कारण लेखन परम्परा को महत्व नही दिया गया। सत्य तो यह है कि उस युग मे लेखन परम्परा को दोषयुक्त माना गया। वृहत्कल्प और निशीथ भाष्य मे स्पष्ट शब्दो मे कहा गया कि "श्रमण जितनी वार पुस्तक को खोलता और बाँधता है या जितने अक्षर पन्नो पर अकित करता है, लिखता है, उसे उतने ही चतुर्लघुको का प्रायश्चित आता है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार के युग तक आगम लिखना दोष रूप माना जाता था। इसके बाद भी निकट भविष्य मे लिखने की परम्परा को कोई उत्साह या प्रेरणा मिली हो ऐसा उल्लेख नही मिलता।

आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् द्वितीय आगम वाचना मथुरा मे हुई, इसका समय वीर-निर्वाण ८२७ से ८४० है और करीब इसी समय आचार्य नागार्जुन के सान्निध्य मे एक वाचना वल्लभी मे भी हुई और दोनो वाचनाओ मे एकादश अगो के पाठो को व्यवस्थित किया गया। इसी समय आचार्य आर्य-रक्षित ने अनुयोगद्वार सूत्र को रचना की। इसमे द्रव्य श्रुत के लिए 'पत्तय-पोत्थय लिहिअ'[2] लेखन सामग्री के द्वारा पन्नो पर लिखित आगम शब्द का प्रयोग किया है। इससे पहले किसी आगम के लिखने का प्रमाण नही मिलता। इससे हम ऐसा अनुमान कर सकते है कि भगवान् महावीर के निर्वाण की ९ वी शताब्दी के अन्त मे आगमो के लिखने की परम्परा चल पडी थी। परन्तु आगमो को लिपिवद्ध करने का स्पष्ट उल्लेख आचार्य देवर्द्धि गणी क्षमाश्रमण के सान्निध्य मे वल्लभी मे हुई तृतीय आगम-परिपद् के समय का मिलता है।

साधु-साध्वियो की स्मृति को मन्द होते देखकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने आगमो को लिखने का पूरी तरह प्रयत्न किया, ऐसा प्रतीत होता है। इसके पीछे उनका एक ही पावन-पुनीत ध्येय था कि समय की गति को देखकर भी न लिखने की रूढ परम्परा को ही चालू रखा गया, तो एक दिन श्रुत-साहित्य का ही लोप हो जायगा। अत उस महापुरुष ने युग के अनुरूप लेखन परम्परा को स्थापित करने की दिशा मे एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। उसके बाद लेखन कला का निरन्तर विकास होता रहा। आगम ही क्या, निर्युक्त, चूर्णि, भाष्य, टीकाएँ आदि भी लिखी जाने लगी और आचार्यो ने स्वतन्त्र रूप से सूत्र एव दर्शन साहित्य भी लिखा। वर्तमान युग का साधक तो लेखन से मुद्रण तक पहुँच गया है और प्रायश्चित्त की बात विस्मृति के एक अँधेरे कोने मे ढकेल दी गई है।

---

[1] जत्तियमेत्ता वारा, उ मु चई-बधई व जति वारा।
जति अक्खराणि लिहति व तति लहुँगा ज च आवज्जे॥
—बृहत्कल्प भाष्य, उ. ३, गाथा ३८३१, निशीथ भाष्य, उ. १२, गाथा ४००८.

[2] अनुयोग-दार सूत्र, श्रुत-अधिकार ३७.

आगमो का वर्गीकरण

आगमो मे द्वादशागी को तीर्थकर प्रणीत कहा गया है। भगवान् महावीर के युग मे द्वादशागी के अतिरिक्त आगमो के अन्य नामो का उल्लेख नही मिलता। उनके निर्वाण के वाद अन्य आगमो की रचना की गई, तव यह प्रश्न उठा कि इन आगमो को क्या सज्ञा दे, उस समय आगमो को दो भागो मे विभक्त किया गया—१ अग-प्रविष्ट, और २ अग-वाह्य। दिगम्वर साहित्य मे और स्थानाग एव नन्दी सूत्र मे आगमो का यही वर्गीकरण मिलता है।

परन्तु जव पूर्व-साहित्य का लोप होने लगा और स्थविरो ने पूर्वो एव अग साहित्य मे से अन्य आगमो का निर्यूहण किया और कुछ आगमो की रचना की, तव उन्हे भिन्न सज्ञा दी गई। मूल वर्गीकरण तो अग और अग वाह्य के रूप मे ही रहा, परन्तु अग-वाह्य को चार भागो मे विभक्त किया गया—१ उपाग, २ छेद, ३ मूल और ४ आवश्यक।

आगमो का वर्गीकरण करते समय आगम-पुरुष की कल्पना की गई और अग-प्रविष्ट को पुरुष के अग—स्थानीय और उपागो को उपाग-स्थानीय माना गया। पुरुष के दो पैर, दो जघाएँ, दो उरू, दो गात्रार्ध, दो वाहु, ग्रीवा और शिर—ये १२ अग होते है, वैसे श्रुत-पुरुष के आचाराग आदि १२ अग है।[1] कर्ण, नासिका, चक्षु, हाथ आदि उपाग है। श्रुत-पुरुष के भी औपपातिक आदि द्वादश उपाग है। द्वादश-अग और द्वादश-उपाग साहित्य का विवरण निम्न है—

	अग	उपाग
१	आचाराग	औपपातिक
२	सूत्रकृताग	रायप्रश्नीय
३	स्थानाग	जीवाभिगम
४.	समवायाग	प्रज्ञापना
५	भगवती	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
६.	ज्ञातधर्मकथाग	सूर्य प्रज्ञप्ति
७	उपासकदशाग	चन्द्र प्रज्ञप्ति
८.	अन्तकृद्दशाग	कल्पिका
९	अनुत्तरोपपातिक दशाग	कल्पावतसिका

---

[1] पायदुगं जघोरु गायदुगद्धं तु दोय बाहू य।
गीवा सिर च पुरिसो वारस अगो सुयविसिट्ठो ॥ —नन्दी सूत्र, टीका—आचार्य मलयगिरि, ४३

१०.	प्रश्न-व्याकरण	पुष्पिका
११	विपाक	पुष्प-चूलिका
१२	दृष्टिवाद	वृष्णि-दशा

उपाग-साहित्य का आचार्य उमास्वाति ने अपने भाष्य मे उल्लेख किया है और छेद सूत्रो का भी उनके भाष्य मे उल्लेख मिलता है। अत उपाग और छेद सूत्रो का वर्गीकरण आचार्य उमास्वाति के पूर्व ही हो गया था। मूल आगमो का नाम करण सवने अर्वाचीन है, ऐसा प्रतीत होता है। छेद और मूल आगमो की सख्या मे सभी आचार्य एकमत नही है। कुछ आचार्य छेद-सूत्रो की सख्या चार मानते है—१ निशीथ, २ व्यवहार, ३ वृहत्कल्प और ४ दशा-श्रुत-स्कध। कुछ आचार्य महानिशीथ और जीत कल्प को मिलाकर छेद-सूत्रो की सख्या छह मानते है और कुछ जीत कल्प के स्थान मे पञ्चकल्प को छेद-सूत्र मानते हैं।

मूल सूत्रो की सख्या मे भी एकरूपता नही है। कुछ आचार्य चार मूल-सूत्र मानते है—१ दश-वैकालिक २ उत्तराध्ययन, ३ नन्दी और ४ अनुयोग द्वार। कुछ आचार्य आवश्यक और ओघ-निर्युक्ति को भी मूल-सूत्रो मे सम्मलित करके उनकी सख्या छह मानते हैं। कुछ ओघ-निर्युक्ति के स्थान मे पिण्ड-निर्युक्ति को मूल सूत्र मानते है। कई आचार्य नन्दी और अनुयोग द्वार को मूल सूत्र नही मानते। उनकी दृष्टि मे ये दोनो चूलिका-सूत्र हैं। इस तरह अग-वाह्य आगमो का विभिन्न समयो मे विभिन्न रूप से वर्गीकरण एव नामोल्लेख होता रहा है।

वर्तमान मे आगम-साहित्य और उनकी संख्या

यह हम वता चुके है कि अग-साहित्य के प्रणेता तीर्थंकर है और उनके सूत्रकार गणधर है। अग वाह्य आगमो के रचयिता स्थविर है। जैन-परम्परा मे आगमो को लिखने की नही, स्मृति मे रखने की, कण्ठस्थ करने की परम्परा रही है। जव विस्मृति होने लगी, तो आगमो के प्रवाह को प्रवहमान रखने के लिए पाटलिपुत्र, मथुरा और वल्लभी मे श्रमण-सघ का मिलन हुआ और तीनो वाचनाओ मे आगम-पाठो को व्यवस्थित किया गया। अन्तिम वाचना के समय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वल्लभी मे सम्मिलित श्रमण सघ से प्राप्त पाठो को व्यवस्थित रूप से सपादित करके उन्हे लिपिवद्ध कर दिया। अत आगम-साहित्य के लिपिकार या सपादक देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को माना गया है।

नन्दी सूत्र की रचना देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने की। इसमे पांच ज्ञान की व्याख्या की गई है और आगम साहित्य का भी परिचय दिया गया है। नन्दी सूत्र मे आगम साहित्य की सूची निम्न प्रकार से दी गई है—

[1] नन्दी सूत्र, ४३, मूल-सुत्ताणि पृ० ३११

नन्दी सूत्र मे आगम-साहित्य की जो सूची दी गई है, वे सब आगम वर्तमान मे उपलब्ध नही है। अत वर्तमान मे जो आगम उपलब्ध हैं, उसके अनुसार आगमो को प्रामाणिक मानने की परम्परा मे एकरूपता नही है। श्वेताम्बर मूर्तिपूर्जक समाज उपलब्ध आगमो मे कुछ निर्युक्तियो को जोडकर ४५ आगमो को प्रामाणिक मानती है। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मे एक परपरा आगमो की सख्या ८४ भी मानती है। स्थानकवासी और तेरहपथ परपरा ३२ आगमो को प्रामाणिक मानती है। उसमे भी दोनो परपराएँ ११ अग-सूत्रो को स्वत प्रमाण मानती है और १२ उपाग, ४ मूल, ४ छेद और आवश्यक, इन २१ आगमो को परत प्रमाण मानती है।

४५ आगमों के नाम

एकादश-अग

१	आचाराग	२	सूत्रकृताग	३	स्थानाग
४	समवायाग	५	भगवती	६	ज्ञातृधर्मकथा
७	उपासकदशा	८	अन्तकृद्दशा	९	अनुत्तरौपपातिक
१०	प्रश्न-व्याकरण	११	विपाक		

द्वादश उपाग

१	औपपातिक	२	रायप्रश्नीय	३	जीवाभिगम
४	प्रज्ञापना	५	जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति	६	सूर्य-प्रज्ञप्ति
७	चन्द्र-प्रज्ञप्ति	८	निरयावलिका	९	कल्पवतसिका
१०	पुष्पिका	११	पुष्प-चूलिका	१२	वृष्णिदशा

छह मूल सूत्र

१	आवश्यक	२.	दशवैकालिक	३.	उत्तराध्ययन
४	नन्दी	५	अनुयोगद्वार	६	पिण्ड-निर्युक्ति या ओघ-निर्युक्ति

छह छेद सूत्र

१	निशीथ	२	महा-निशीथ	३	बृहत्कल्प
४	व्यवहार	५	दशा-श्रुतस्कध	६	पचकल्प

दस पयन्ना

१	आतुर-प्रत्याख्यान	२.	भक्त-परिज्ञा	३.	तन्दुल-वैचारिक
४	चन्द्र-वेध्यक	५.	देवेन्द्र-स्तव	६.	गणि-विद्या
७	महाप्रत्याख्यान	८	चतु शरण	९	वीर-स्तव
१०.	संस्तारक				

८४ आगमो के नाम

१ से ४५ तक पूर्वोक्त

४६ कल्प-सूत्र (पर्युषण-कल्प, जिन-चरित्र, स्थविरावली, समाचारी आदि

४७ यति-जीत-कल्प —सोमप्रभ सूरि } दोनो जीत कल्प
४८ श्राद्ध-जीत-कल्प —धर्मघोष सूरि }

४९. पाक्षिक-सूत्र } आवश्यक सूत्र के अग है।
५० क्षमापना-सूत्र }

५१.	वदित्तु	६९	अग-चूलिया
५२	ऋषिभाषित	७०.	वग-चूलिया
५३	अजीव-कल्प	७१.	वृद्ध-चतु शरण
५४.	गच्छाचार	७२	जम्बू-पयन्ना
५५	मरण-समाधि	७३	आवश्यक-निर्युक्ति
५६	सिद्ध-प्राभृत	७४	दशवैकालिक-निर्युक्ति
५७	तीर्थोद्गार	७५	उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
५८	आराधनापताका	७६	आचाराग-निर्युक्ति
५९	द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति	७७	सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
६०	ज्योतिष-करण्डक	७८	सूर्य-प्रज्ञप्ति
६१.	अग-विद्या	७९	बृहत्कल्प-निर्युक्ति
६२.	तिथि-प्रकीर्णक	८०	व्यवहार-निर्युक्ति
६३	पिण्ड-विशुद्धि	८१	दशाश्रुत-स्कध-निर्युक्ति
६४	सारावली	८२	ऋषिभाषित-निर्युक्ति
६५	पर्यन्ताराधना	८३	ससक्त-निर्युक्ति
६६.	जीव-विभक्ति	८४	विशेषावश्यक भाष्य
६७	कवच-प्रकरण		
६८.	योनि-प्राभृत		

स्थानकवासी और तेरहपन्थ सम्प्रदाय द्वारा मान्य बत्तीस आगमो के नाम

श्वेताम्बर परपरा की तीनो सम्प्रदायो—१ मूर्तिपूजक, २ स्थानकवासी और तेरहपन्थ द्वारा मान्य आगम साहित्य के नामो का ऊपर उल्लेख कर दिया है। अब निम्न पक्तियो मे ४५ आगमो का सक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है, जिससे आगमो मे वर्णित एव चर्चित विषय का पाठको को परिचय मिल जाए।

१ आचारांग-सूत्र

आचाराग-सूत्र का द्वादशागी मे या श्रुत-साहित्य मे मूर्धन्य स्थान है। प्रस्तुत आगम मे आचार का वर्णन है और आचार साधना का प्राण है, मुक्ति का मूल है। इसलिए आगम-साहित्य के व्याख्याकारो ने इसे अग-साहित्य का सार, निचोड या नवनीत कहकर इसके महत्व को स्वीकार किया है।[1] भाषा, शैली एव विषय की दृष्टि से भी यह सब आगमो से प्राचीन एव महत्वपूर्ण प्रतीत होता है पौर्वात्य विद्वानो ने ही नही, बल्कि डा० हरमन याकोवी और शुब्रिग जैसे पाश्चात्य विद्वानो ने भी इसके महत्व को स्वीकार किया है।

---

[1] अगाणा कि सारो ? आयारो। —आचाराग निर्युक्ति

प्रस्तुत आगम मे श्रमण भगवान् महावीर ने यह उपदेश दिया है कि साधु को अपने आचार का किस तरह परिपालन करना चाहिए। जैन परपरा की यह मान्यता रही है कि जो ज्ञान आचार का साकार रूप नही ले सकता, साधक की साधना मे आचरित नही होता, वह जीवन-विकास के लिए, साध्य को सिद्ध करने के लिए उपयोगी नही है। वही ज्ञान महत्वपूर्ण है और साधक को बन्धन से मुक्त करा सकता है, जो उसके आचरण मे उतरता है।

प्रस्तुत आगम मे ज्ञान और आचार के सम्बन्ध तथा महत्व को बताया गया है। आचार एव साधना को प्राणवन्त बनाने के लिए इसमे अहिसा का उपदेश देने के पहले यह बताया गया है कि ससार मे कितने प्रकार के जीव है। सर्व-प्रथम उनका परिबोध कराकर हिसा से विरक्त होने का उपदेश दिया है। इसमे भगवान् महावीर ने एक महत्वपूर्ण बात कही है कि "जो साधक एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।"[1] जो व्यक्ति एक वस्तु की सब पर्यायो को जान लेता है, वह निश्चित रूप से सब वस्तुओ का परिज्ञान कर सकता है। जो एक आत्मा को स्व और पर पर्याय एव द्रव्य रूप से जान लेता है, वह पुद्गल की स्व और पर रूप सब पर्यायो को स्वत ही जान लेता है। क्योकि एक वस्तु को स्व और पर पर्याय की अपेक्षा से भिन्न करके उसके पूर्ण रूप को सम्पूर्ण ज्ञान की विवक्षा किए बिना जानना असभव है। अत एक वस्तु को सपूर्ण रूप से जानने का अर्थ है, समस्त वस्तुओ का स्व और पर पर्याय की अपेक्षा से सम्पूर्ण रूप से परिबोध करना। और जो सब वस्तुओ को सम्पूर्ण रूप से जान लेता है, वह एक वस्तु को भी सम्पूर्ण रूप से जान लेता है, यह तो स्वत ही स्पष्ट है। इस तरह आचाराग मे ज्ञान और साधना के सम्बन्ध मे गभीर वर्णन मिलता है।

प्रथम-श्रुतस्कंध

प्रस्तुत आगम दो श्रुतस्कधो मे विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कध मे नव अध्ययन है। इसे ब्रह्मचर्य अध्ययन भी कहते है। ब्रह्म का अर्थ है—सयम और चर्या का अभिप्राय है—आचरण करना। अत सयम का आचरण करना ब्रह्मचर्य है। आगम-साहित्य मे अहिसा, समभाव या समत्व की साधना का नाम ही सयम है।[2] इसी साधना को सामायिक भी कहा है।[3] प्रस्तुत आगम मे अहिसा और समत्व-भाव की साधना का उपदेश दिया गया है, अत इसका ब्रह्मचर्य अध्ययन नाम सार्थक है।

इसके प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा है। इसका तात्पर्य यह है कि 'ज्ञ' परिज्ञा से शस्त्रो की भयकरता एव उनके प्रयोग से बढने वाले वैर-भाव और ससार अभिवृद्धि को जानकर, प्रत्याख्यान

---

[1] जे एग जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एग जाणइ। —आचाराग, ३, ४

[2] स्थानाग सूत्र, ४२९-३०, समवायाग सूत्र, १७

[3] आवश्यक सूत्र, सामायिक अध्ययन.

परिज्ञा से शस्त्रो का परित्याग करना चाहिए। वस्तुत इस अध्ययन मे भगवान् ने नि शस्त्रीकरण का उपदेश दिया है। उन्होने साधना-पथ पर गतिशील साधक को द्रव्य और भाव—तलवार आदि द्रव्य हथियारो एव राग-द्वेष आदि भाव शस्त्रो के परित्याग करने की बात कही है। जब तक साधक शस्त्रो के प्रयोग का त्याग नही करेगा, तब तक विश्व मे उसे शान्ति नही मिल सकती।

प्रथम अध्ययन के सात उद्देश है। प्रथम उद्देश मे समुच्चय रूप से जीव हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया है। शेष छह उद्देशो मे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय के जीवो का परिज्ञान कराया है और साधक को यह बोध कराया गया है कि इन योनियो मे तू स्वय उत्पन्न हो आया है। जगत के सभी जीव तुम्हारे जातीय भाई है। उन सब मे तुम्हारे जैसी ही चेतना शक्ति है, उन्हे भी तुम्हारे जैसा ही सुख-दुख का सवेदना होता है। अत किसी भी तरह के शस्त्र के द्वारा तुम्हे उनका वध नही करना चाहिए। उन्हे ताप-परिताप नही देना चाहिए। उन्हे बन्धन मे नही बान्धना चाहिए, गुलाम नही बनाना चाहिए।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोक-विजय है। यह छह उद्देशो मे विभक्त है। इसमे यह बताया गया है कि व्यक्ति किस प्रकार से ससार मे आबद्ध होता है और कैसे छुटकारा पाता है। इसके छह उद्देशो मे क्रमश ये भाव बताए हैं—१ स्वजन-स्नेहियो के साथ निहित राग-भाव एव आसक्ति का परित्याग करना। २ सयम-साधना मे प्रविष्ट होने वाले साधक को शिथिलता का परित्याग करना। ३ अभिमान और धन-सम्पति मे सार दृष्टि नही रखना। ४ भोगासक्ति से दूर हटना। ५ लोक के आश्रय से सयम का पालन करना। ६ लोक के आश्रय से सयम का निर्वाह होने पर भी लोक मे ममत्व भाव नही रखना।

लोक शब्द की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है। परन्तु प्रस्तुत मे लोक का अर्थ है—ससार। वह दो प्रकार का है—१ द्रव्य लोक और २ भाव लोक। जिस क्षेत्र मे मनुष्य, पशु-पक्षी, देव-नारक आदि रहते है, उसे द्रव्य लोक कहते है और कषायो को भाव लोक कहते है। वस्तुत कषाय लोक ही द्रव्य लोक मे परिभ्रमण का मूल कारण है। इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ मे ससार की यह परिभाषा दी है—जो गुण है, वे ही मूल स्थान है और जो मूल स्थान है, वे गुण है। इस गभीर वाक्य का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जहाँ विषय-कषाय है, वहाँ ससार है और जहाँ ससार है, वहाँ विषय-कषाय है। अत विषय-कषाय पर विजय पाने वाला साधक ही सच्चा विजेता है।

तृतीय अध्ययन का नाम शीतोष्णीय है। प्रस्तुत मे शीत और उष्ण का अर्थ है—अनुकूल और प्रतिकूल परीषह। स्त्री और सत्कार परीषह को शीत और शेष २० परीषहो को उष्ण कहा है। साधना के मार्ग मे कभी अनुकूल परीषह उत्पन्न होते है, तो कभी प्रतिकूल। साधु को चाहिए कि अनुकूल एव प्रतिकूल सब तरह के परीषहो को समभाव पूर्वक सहन करे। परीषहो के उत्पन्न होने

पर वह साधना के क्षेत्र से पलायन न करे, प्रत्युत धैर्य-पूवक उन्हे सहते हुए सयम का परिपालन करे। यह अध्ययन चार उद्देशो मे विभक्त है। इसमे साधक को सदा जागृत रहने का उपदेश दिया गया है। भगवान् महावीर का यह वज्र-आघोप स्पष्ट रूप से सुनाई दे रहा है—"सुपुप्त साधक मुनि नही है क्योकि मुनि सदा-सर्वदा जागृत रहता है।"[1] वह कभी भी भाव-निद्रा मे नही सोता है, प्रमाद और आलस्य मे निमज्जित नही रहता है।

चतुर्थ-अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देश है। सम्यक्त्व का अर्थ है—श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास। प्रश्न हो सकता है कि साधक किस पर श्रद्धा करे? इस अध्ययन मे वताया गया हे—"अतीत, अनागत एव वर्तमान मे होने वाले समस्त तीर्थंकरो का एक ही उपदेश रहा है कि सर्व-प्राण, सर्व-भूत, सर्व-जीव और सर्व-सत्व की हिसा मत करो, उन्हे पीडा एव सताप-परिताप मत दो। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है।"[2] अत सम्यक्त्व का अर्थ है—अहिसा दया सत्य आदि पर श्रद्धा-निष्ठा रखना एव यथाशक्ति उसे आचारण मे उतारने का प्रयत्न करना।

पञ्चम अध्ययन लोकसार है। वस्तुत लोक मे सारभूत तत्त्व है, तो केवल धर्म ही है। धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार सयम है और सयम का सार निर्वाण है। प्रस्तुत अध्ययन के छह उद्देशो मे इसी वात का विस्तृत विवेचन किया गया है।

षष्ठम अध्ययन का नाम धुत है। इसके पाँच उद्देश है। धुत का अर्थ है—वस्तु पर लगे हुए मैल को दूर करके वस्तु को साफ करना। प्रस्तुत अध्ययन मे तप-सयम की साधना के द्वारा आत्मा पर लगे हुए कर्म मल को दूर करके आत्मा के शुद्ध रूप को प्रकट करने की प्रक्रिया वताई है।

सप्तम अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है। इसके सात उद्देश है। आचार्य शीलाक का कहना है कि इसमे मोह के कारण उत्पन्न होने वाले परिपहो से वचने एव जन्त्र-मन्त्र से वचकर रहने का उपदेश दिया गया है। वर्तमान मे यह अध्ययन उपलब्ध नही है।

अष्टम अध्ययन विमोक्ष आठ उद्देशो मे विभक्त है। इसमे कल्प्य-अकल्प्य वस्तुओ का वर्णन किया गया है और समान आचार वाले साधु की आहार-पानी से सेवा करने और असमान आचार वाले की सेवा न करने का उपदेश दिया गया। और हर परिस्थिति मे सयम-साधना मे दृढ रहने का उपदेश दिया है।

---

[1] सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति।—आचाराग, १, ३, १, १

[2] आचाराग, १, ४, १, १

नवम अध्ययन के चार उद्देश है। इसमे एक भी सूत्र नही है। गाथाओ मे भगवान् महावीर की साधना का सजीव वर्णन किया है।

द्वितीय-श्रुतस्कंध

इसमे चार चूलिकाएँ और १६ अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन के ग्यारह, द्वितीय के तीन, तृतीय के तीन, चतुर्थ से लेकर सप्तम अध्ययन तक प्रत्येक के दो-दो और शेष नव अध्ययनो मे एक-एक उद्देशक है।

प्रथम पिंडैषणा अध्ययन है, इसमे यह बताया गया है कि साधु को किस तरह का आहार लेना चाहिए और आहार के कितने दोष है। साधु उक्त दोषो से रहित आहार ग्रहण करे। इस अध्ययन मे कुछ अपवादो का भी उल्लेख है। जैसे—यदि दुर्भिक्ष आदि के अवसर पर गृहपति ने मुनि को आहार दिया और अपने द्वार पर अनेक भिक्षुओ को खडे देख कर यह कहा कि तुम यह सब आहार साथ बैठकर खा लेना या सब को बॉट देना। ऐसे जैन साधु अन्य सम्प्रदाय के साधुओ को आहार नही देते और न उनके साथ बैठकर खाते है। परन्तु द्वितीय श्रुतस्कध के दसवे उद्देश मे यह स्पष्ट आदेश दिया गया है कि ऐसे अपवाद मार्ग मे साधु—यदि सब भिक्षु चाहे कि साथ बैठ कर खा ले तो, सब के साथ बैठकर खा ले और यदि वे अपना विभाग चाहते हो, तो उन सबको बराबर विभाग कर दे। इसमे अन्य अपवादो का भी उल्लेख है और अपवाद को भी उत्सर्ग की तरह मार्ग माना है, उन्मार्ग नही। क्योकि अपवादो के लिए आगम मे कही भी प्रायश्चित का विधान नही है।

दूसरे अध्ययन मे शय्या के सम्बन्ध मे, तीसरे मे ईर्या—गमन करने के सम्बन्ध मे, चौथे मे भाषा के सम्बन्ध मे, पॉचवे मे वस्त्र, छट्ठे मे पात्र, सातवे मे मकान, आठवे मे खडे रहने के स्थान, नवमें मे स्वाध्याय भूमि, दसवे मे उच्चार-पासवण—मल-मूत्र त्यागने की भूमि आदि के सम्बन्ध मे बताया गया है कि उसे इनमे सदोषता से बचना चाहिए। इनमे भी कई स्थलो पर अपवाद मार्ग का उपदेश दिया है। चतुर्थ अध्ययन मे बताया है कि साधु ने विहार करते समय जगल मे मृग को जाते हुए देखा हो और उसके निकल जाने पर शिकारी वहाँ आ पहुँचे और मुनि से पूछे कि मृग किधर गया है, उस समय मुनि मौन रहे। यदि शिकारी के विवश करने पर उसे बोलना ही पडे, तो वह जानते हुए भी यह कहे कि मैं नही जानता — "जाण वा णो जाणति वदेज्जा।"

ग्यारहवे और बारहवे अध्ययन मे शब्द की मधुरता एव सौन्दर्य मे आसक्त नही होने का उपदेश दिया है। तेरहवे अध्ययन मे यह बताया है कि दूसरे व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया मे मुनि को किस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिए। चौदहवे अध्ययन मे बताया है कि मुनियो मे परस्पर होने वाली क्रियाओ मे उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए। पन्द्रहवे अध्ययन मे भगवान् महावीर के

जीवन और पाँच महाव्रतो की पच्चीस भावनाओ का वर्णन है। सोलहवे अध्ययन मे हित-प्रद शिक्षाएँ दी गई है।

२ सूत्रकृतांग-सूत्र

प्रस्तुत आगम मे ज्ञान, विनय, क्रिया आदि दार्शनिक विषयो का और अन्य धर्मो एव दर्शनो एव दार्शनिको तथा धर्माचार्यो की मान्यता का विवेचन है। इसमे श्रमण भगवान् महावीर के समय मे प्रचलित ३६३ मतो—सम्प्रदायो[1] की मान्यता के आचार-विचार की जैन परपरा के आचार-विचार के साथ तुलना की गई है और साथ मे यह स्पष्ट कर दिया है कि अहिसा, सत्य आदि महाव्रत धर्म के मूल है, धर्म के प्राण है। अत साधक को अहिसा आदि की साधना पर श्रद्धा-निष्ठा रखते हुए अपने साध्य को सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे आठ प्रकार के—जाति मद, कुल मद, धर्म मद, बल मद, तप मद, लाभ मद, अधिकार मद और ऐश्वर्य मद का परित्याग करके निरहकार भाव से साधना करनी चाहिए। मद-अहकार आत्मा को पतन के महागर्त मे गिराता है। अत साधक को अपने जीवन मे अहभाव को नही, विनय-नम्रता को स्थान देना चाहिए। वस्तुतः विनय धर्म का भूषण है, साधना का सर्व-श्रेष्ठ अलकार है और समस्त सिद्धियो का दाता है।

प्रथम-श्रुतस्कंध

प्रस्तुत आगम भी दो श्रुतस्कधो मे विभक्त है। प्रथम-श्रुतस्कध मे १६ अध्ययन है। पहला समयाख्य अध्ययन है। इसमे स्व-मत और पर-मत का वर्णन है। इसमे पञ्च-महाभूतवादी (Materialists), आत्माद्वैतवादी (वैदान्ती) तज्जीव-तच्छरीरवादी (Other Materialists)—आत्मा और शरीर को एक मानने वाले, अक्रियावादी, आत्मषष्ठवादी, पञ्च-स्कन्धवादी, क्षणिकवादी (बौद्ध), ज्ञानवादी, विनयवादी, नियतिवादी (गोशालक), लोकवादी आदि परमत-मतान्तरो के सैद्धान्तिक एव आचार सम्बन्धी दोषो एव भूलो को बताकर स्व-मत अर्थात् अपने सिद्धान्त की प्ररूपणा की है।

दूसरा वैतालीय अध्ययन है। इसमे हितप्रद और अहितप्रद मार्ग बताया गया है। साधक को हिसा आदि दोषो से युक्त मार्ग का और कषाय भाव का त्याग करके शुद्ध सयम की साधना करनी चाहिए।

तीसरे अध्ययन का नाम उपसर्ग-परिज्ञा है। इसमे यह उपदेश दिया गया है कि साधक को शीत आदि अनुकूल एव प्रतिकूल उपसर्गो को सहन करना चाहिए। माता-पिता एव स्नेही-परिजनो के राग-भाव एव विलाप आदि से विकम्पित होकर साधना पथ का त्याग नही करना चाहिए। उपसर्ग से होने वाले आध्यात्मिक एव मानसिक विषाद और कुशास्त्रो एव कुतर्कवादियो के कुतर्को से घायल होकर सयम-साधना से भ्रष्ट नही होना चाहिए। साधक को हर परिस्थिति मे धैर्य एव समभाव से समस्त परीषहो को सहन करना चाहिए और अपनी श्रद्धा-निष्ठा को सदा विशुद्ध रखना चाहिए।

---

[1] उस युग मे प्रचलित ३६३ मत ये है—१८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी और ३२ विनयवादी। —सूत्रकृताग

चतुर्थ अध्ययन स्त्री-परिज्ञा है। स्त्री—विषय-वासना के व्यामोह मे नही फँसना। जो साधक भोग-विलास की आसक्ति मे आकर अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है, वह सदा दु ख पाता है।

पाँचवे अध्ययन का नाम नरक-विभक्ति है। इसमे नरक एव नारकीय जीवन का वर्णन है। नरक मे प्राप्त होने वाली वेदना एव दु खो को देख-समझकर साधक पर-धर्म एव सासारिक विषय-कषायो का त्याग करके स्व-धर्म स्वीकार करे।

छट्ठा वीर-स्तुति अध्ययन है। इसमे गणधर सुधर्मा स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर की स्तुति की है, उनका गुण-कीर्तन किया है।

सातवाँ कुशील-परिभाषा अध्ययन है। इसमे शुद्ध आचार से विपरीत यज्ञ-याग, स्नान, पचाग्नि आदि कुशील को धर्म मानने का निषेध किया है और बताया है कि इन मे धर्म मानने वाले ससार मे परिभ्रमण करते है। शुद्ध चरित्र इन से सर्वथा भिन्न है। साधक को शुद्ध-आचार का पालन करना चाहिए।

आठवाँ अध्ययन वीर्य अध्ययन है। इसमे बाल और पडित वीर्य—बल, शक्ति एव पराक्रम-पुरुषार्थ का वर्णन है।

नववे, दसवे और ग्यारहवे अध्ययन मे क्रमश. धर्म, समाधि और मोक्ष-मार्ग का वर्णन है। इनमे इन्द्रियो के विषय एव कषाय भाव का त्याग करके आत्म-धर्म मे रमण करने का उपदेश दिया है।

बारहवाँ समवसरण अध्ययन है। इसमे क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी (Agnostics) और विनयवादी पर-मत के दोषो को दिखाकर स्व-दर्शन के सिद्धान्त को समझाया है।

तेरहवे से पन्द्रहवे तक के तीन अध्ययनो मे क्रमश यथा-तथ्य—धर्म के यथार्थ स्वरूप और पार्श्वस्थ साधुओ के स्वरूप, ग्रन्थ-परित्याग—परिग्रह के त्याग और आदान-समिति का वर्णन है। उक्त तीनो अध्ययनो मे शुद्ध चरित्र का वर्णन किया है।

सोलहवे अध्ययन का नाम गाथा है। इसमे माहण—ब्राह्मण, श्रमण, निर्ग्रन्थ और भिक्षु इन चारो का विस्तार से वर्णन किया है।

द्वितीय-श्रुतस्कंध

दोनो श्रुतस्कधो के कर्ता एक नही है। प्रथम श्रुतस्कध गणधर कृत है, द्वितीय से प्राचीन है और मौलिक है। द्वितीय श्रुतस्कध स्थविर-कृत है और प्रथम के साथ बाद मे जोडा गया है। इसमे सात अध्ययन है। प्रथम अध्ययन पौडरीक है। इसमे बताया है कि क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मुक्ति को प्राप्त करने का सकल्प करते है, परन्तु वे ससार से विरक्त होकर सयम का

पालन नही करते कामभोगो मे लिप्त रहते है। अत वे विषय-भोग के पक से छुटकारा नही पा सकते। जो साधक आरम्भ-परिग्रह से मुक्त है, विषय-कषाय का परित्याग कर चुका है और काम-भोगो को ससार का कारण समझता है, वही सयम का शुद्ध पालन करके मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

दूसरा अध्ययन क्रिया स्थान है। इसमे बताया है कि जहाँ इच्छा है, वही कषाय है और कषाय ही ससार है। अत जहाँ इच्छा का अभाव है, वहाँ कषाय का भी अभाव है और कषायाभाव ही मोक्ष है। इसलिए प्रस्तुत अध्ययन मे यह बताया है कि साधक को सासारिक क्रिया का त्याग करके ईर्याविही क्रिया को स्वीकार करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि साधक को वीतराग भाव को प्राप्त करना चाहिए।

तीसरा आहार-परिज्ञा अध्ययन है। इसमे शुद्ध एषणीय आहार ग्रहण करने का वर्णन किया है।

चौथा प्रत्याख्यान-परिज्ञा अध्ययन है। इसमे बताया है कि जब तक व्यक्ति किसी क्रिया का त्याग नही करता, तब तक उसे सब क्रियाएँ लगती रहती हैं। अत उसे क्रिया से होने वाले कर्म-बन्ध एव ससार-परिभ्रमण का ज्ञान करके सासारिक क्रियाओ का त्याग करना चाहिए।

पाँचवाँ आचार-अनाचार श्रुत अध्ययन है। इसमे शुद्ध आचार और उसमे लगने वाले अनाचारो—दोषो का वर्णन है। साधक को अनाचारो से रहित शुद्ध-निर्दोष आचार का पालन करना चाहिए।

छट्ठा आर्द्रकीय अध्ययन है। इसमे अन्य दार्शनिको एव अन्य धर्म के आचार्यो तथा साधुओ के साथ आर्द्रक कुमार की जो विचार-चर्चा हुई, उसका उल्लेख है।

सातवें नालन्दीय अध्ययन मे श्रावक—गृहस्थ के आचार का वर्णन है। इसमे गृहस्थ जीवन का आदर्श बताया गया है।

३. स्थानांग-सूत्र

प्रस्तुत आगम मे षट् द्रव्यो—१ धर्म, २ अधर्म, ३ आकाश, ४. काल, ५ जीव, और ६ पुद्गल का वर्णन है। इनमे जीव को छोडकर शेष पाँचो द्रव्य अजीव हैं। एक से लेकर चार तक के द्रव्य अरूपी हैं। काल को छोडकर शेष पाँचो द्रव्य अस्तिकाय—समूह रूप से है। काल द्रव्य समूह रूप से नही है। धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है, लोक परिमाण है, वर्ण, गध, रस, स्पर्श से रहित है, अरूपी है और जीव एव पुद्गल की गति मे सहायक द्रव्य है। अधर्मास्तिकाय का भी यही स्वरूप है, इसमे केवल अन्तर इतना ही है कि यह जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक है। आकाशास्तिकाय भी एक द्रव्य है, लोक-अलोक व्यापी है, वर्ण, गध, रस और स्पर्श से रहित है, अरूपी है, जीव और पुद्गल आदि पदार्थों को स्थान देता है, अवकाश देना आकाश का गुण है। काल द्रव्य अनन्त है, लोक व्यापी है, वर्ण, गध, रस और स्पर्श से रहित है, अरूपी है और यह नए पदार्थो को पुरातन बनाता है, पुरानो को समाप्त

करता है। ये चारो अजीव द्रव्य है। जीव चेतना से युक्त है, ज्ञानमय है। जीव द्रव्य अनन्त है, लोक व्यापी है, वर्ण, गध, रस, स्पर्श से रहित है, अरूपी है। पुगलास्तिकाय अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु है, लोक व्यापी है, वर्ण, गध, रस और स्पर्श से युक्त है, सडन-गलन और विध्वश को प्राप्त होते है। यह भी अजीव है, इसे अन्य दर्शनो की भाषा मे जड, प्रकृति और माया कहा गया है।

इसमे दस अध्ययन है। इन्हे स्थान कहते है और इन दस स्थानो मे जीव-अजीव आदि के भेद और उनके गुण-पर्यायो के भेदो की सख्याओ मे गणना की है। यह सख्या एक से लेकर दस तक है। प्रथम स्थान मे एक-एक सख्या वाले पदार्थ गिनाए है, दूसरे मे दो-दो सख्या वाले और इस तरह दशम स्थान मे दस-दस की सख्या वाले पदार्थो की गणना की है। बौद्धो के अगुत्तरनिकाय मे भी एक से लेकर दस-दस तक सख्याओ के पदार्थो की गणना की है। दोनो की वर्णन शैली एक-सी है।

४ समवायॉग-सूत्र

प्रस्तुत आगम स्थानाग की शैली मे रचा गया है। स्थानाग मे एक से लेकर दस तक सख्या के पदार्थो का वर्णन है और इसमे एक से लेकर कोडा-कोडी सख्या तक जीव-अजीव के भेद और उनके गुण-पर्यायो का वर्णन है। और उस सख्या के समुदाय को समवाय सज्ञा दी है।

५ व्याख्या-प्रज्ञप्ति–भगवती-सूत्र

प्रस्तुत आगम का नाम व्याख्या-प्रज्ञप्ति है। व्याख्या का अर्थ है—विभिन्न प्रकार से किया गया कथन और प्रज्ञप्ति का अभिप्राय है—प्ररूपणा। यह आगम सब आगमो मे विशाल है। इसमे भिन्न-भिन्न समयो मे विभिन्न व्यक्तियो द्वारा पूछे गए प्रश्नो का भगवान् महावीर ने जो उत्तर दिया, उसका सकलन है। इसमे ३६,००० प्रश्नो के उत्तर है। इसमे प्रमुख प्रश्नकर्ता गौतम गणधर है। ऐसे गागेय अणगार, खधक सन्यासी, जयन्ती श्राविका आदि अनेक व्यक्तियो ने भगवान् से प्रश्न पूछे और उन्होने उनका समाधान किया। परन्तु इस आगम का अधिकाश भाग गौतम के प्रश्नो ने घेर रखा है। इसमे साधु-साध्वियो और श्रावक-श्राविकाओ के आचार, लोक-अलोक और पदार्थो के सम्बन्ध मे सूक्ष्म विचार चर्चा भी है। उस युग मे उठने वाले लोक-परलोक के अस्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, उसके परिणाम एव जीव आदि के अस्तित्व नास्तित्व पर गहराई से विचार किया गया है।

इसमे आजीविक आदि अन्यतीर्थियो और पार्श्वपत्य—भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणो का उल्लेख किया है। इसमे भगवान् महावीर के वैशालीय, निग्रन्थ आदि नामो का, इन्द्रभूति आदि ११ गणधरो, रोह, खदक, कात्याय, तिसय, नारदपुत्र, सामहस्ति, आनन्द, सुनक्षत्र, मागन्दिय पुत्र आदि श्रमणो और पोखलि, धम्मघोष, सुमगल आदि श्रमणोपासको के नामो का उल्लेख भी मिलता है। इसमे भगवान् महावीर से अलग होकर अपनी सम्प्रदायो की स्थापना करने वाले जमाली और गौशालक का भी विस्तार से उल्लेख मिलता है। इसमे गौशालक के द्वारा छोडी गई तेजोलेश्या से भगवान् के दो शिष्यो

को मारने और भगवान् पर प्रहार करने का वर्णन है। इसमे कौशाम्बी के शतानीक राजा की बहिन जयन्ती के द्वारा किए गए प्रश्नो और भगवान् के द्वारा दिए गए उत्तर तथा भगवान् के उपदेश से प्रभावित होकर साध्वी बनने की घटना का उल्लेख भी है। इसके अतिरिक्त इसमे भगवान् महावीर के समय के काशी-कौशल, मगध, वैशाली आदि देशो के और नव मल्लवी और नव लिच्छिवी राजाओ के नाम तथा वज्जि-विदेह पुत्र ने विजय प्राप्त की उसका उल्लेख भी है। भगवती के नवम शतक मे एक पूँजीपति ब्राह्मण का वर्णन है। उसके यहाँ रहने वाली दासियो के पल्हवीया, आरबी, बहाँली, मुरदी, पारसी आदि नामो से यह ज्ञात होता है कि ये विदेशी दासियाँ थी। उस समय भारत का विदेशो से भी सम्बन्ध था। भगवती के अध्ययन से भगवान् महावीर के जीवन काल पर विशेष प्रकाश पडता है।

प्रस्तुत आगम मे दार्शनिक, तात्त्विक, आध्यात्मिक, सामाजिक एव गणित सम्बन्धी विभिन्न विषयो पर प्रश्नोत्तर है। इसमे कुछ जीवन घटनाओ और कथाओ का भी उल्लेख है। अस्तु, यह विविध विषयो का एक कोष है।

६. ज्ञाताधर्मकथाँग-सूत्र

प्रस्तुत आगम मे दृष्टान्त एव उदाहरण देकर साधना के स्वरूप को समझाया गया है। ज्ञाता का अर्थ है—उदाहरण रूप और धर्म-कथा का अर्थ है—धर्मप्रधान कथानक। अस्तु ज्ञाता-धर्मकथा का अभिप्राय यह है कि साधक के सन्मुख धर्म-प्रधान दृष्टान्त एव उदाहरण प्रस्तुत करके उसे साधना-पथ पर बढने की प्रेरणा देना।

इसमे उदाहरणो एव रूपको के द्वारा साधुओ के विनय, ज्ञान, वैराग्य का, साधना के पथ से विचलित एव तप एव परीषहो से घबराकर ससार की ओर झुकने वाले मन्द बुद्धि साधको को पुन धर्म मे स्थिर करने का और ज्ञान, दर्शन एव चरित्र से भ्रष्ट होने वाले साधक की ससार मे किस प्रकार दुर्गति होती है, उसे कैसा दु ख उठाना पडता है, इसका विस्तार से वर्णन किया है।

इसमे उन महापुरुषो के जीवन पर भी प्रकाश डाला है—जिन्होने राग-द्वेष, कषाय एव परीषहो की विशाल सेना पर विजय प्राप्त करली है, सयम-साधना को ही सर्व-श्रेष्ठ धन समझकर श्रद्धा-निष्ठा से ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की आराधना-साधना के माध्यम से साध्य को सिद्ध कर लिया है और अनुपम भोग-विलास का त्याग करके अनन्त और अव्याबाध सुख को प्राप्त कर चुके है।

इसके अतिरिक्त इसमे उक्त दृष्टान्त, रूपक एव कथाओ मे आने वाले नगरो, गाँवो, उद्यानो, जगलो, सर-सरिताओ, राजाओ, सेठो, दास-दासियो, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, लोक-परलोक के ऐश्वर्य, भोग-विलास, भोग-साधनो के त्याग, स्वर्ग, नरक और मोक्ष के सम्बन्ध मे विस्तार से उल्लेख मिलता है।

प्रथम-श्रुतस्कध

प्रस्तुत आगम दो श्रुत-स्कधो मे विभक्त है। प्रथम-श्रुतस्कध मे १६ अध्ययन है—१ उत्क्षिप्त अध्ययन—इसमे श्रेणिक राजा के पुत्र मेघकुमार की कथा है, २ सघाटक अध्ययन—इसमे धन्य सेठ और विजय चोर का दृष्टान्त दिया है, ३ अडक अध्ययन—इसमे मोर के अडो के उदाहरण के माध्यम से धर्मोपदेश दिया है, ४ कूर्म अ०—इसमे कच्छवे का दृष्टान्त है, ५ शैलक अ०—शैलक राजर्षि की कथा है, ६ तुम्ब अ०—इसमे तुम्बे का रूपक देकर जीव की उर्ध्वगति का निरूपण किया है, ७ रोहिणी अ०—इसमे एक सेठ की पुत्रवधू रोहिणी का उदाहरण है, ८ मल्ली अ०—इसमे स्त्री-लिग मे तीर्थंकर होने वाले १६ वे तीर्थंकर मल्लीनाथ की कथा है, ६ माकन्दी अ०—इसमे माकन्दी नामक वणिक के जिनपाल और जिनरक्षित दो पुत्रो की कथा है, १० चन्द्रमा अ०—इसमे चन्द्रमा का उदाहरण है, ११ दावद्दव अ०—समुद्र तट पर अकुरित एव पल्लवित होने वाले इस नाम के वृक्ष का दृष्टान्त है, १२ उदक—शहर के बाहर पोखर मे सडने वाले पानी को किस तरह शुद्ध किया जा सकता है, इसका उदाहरण है, १३ मडुक अ०—नन्दन-मणिकार की कथा है, १४ तेतली अ०—तेतलिसुत नामक मत्री की कथा है, १५ नन्दी फल अ०—उक्त वृक्ष एव उसके फलो का वर्णन है, १६ अवरकका अ०—धातकी खड मे स्थित भरत क्षेत्र की राजधानी, उसके राजा और उसके द्वारा द्रौपदी के हरण का वर्णन और द्रौपदी एव पाडवो की कथा है, १७ आकीर्ण अ०—समुद्र मे रहने वाले इस नाम के अश्वो—घोडो का वर्णन है, १८ सुसमा—उक्त नाम की श्रेष्ठि-कन्या का उदाहरण है, और १६ पु डरीक अ०—पु डरीक की कथा है। इस प्रकार उक्त १६ अध्ययनो मे कथाएँ, उपकथाएँ, दृष्टान्त, उपदृष्टान्त एव उदाहरण है। इसमे अनेक कथाएँ घटित है और कुछ उदाहरण साधक को समझाने के लिए बनाए गए है।

द्वितीय श्रुतस्कध

प्रस्तुत श्रुतस्कध परिशिष्ट के रूप मे है। इसमे एक अध्ययन है और वह दस भागो मे विभक्त है, जिन्हे वर्ग सज्ञा दी गई है। और विभिन्न कथाओ के द्वारा साधना के महत्व को समझाया गया है। सामावायाग सूत्र मे दिए गए परिचय के अनुसार इसमे एक-एक धर्मकथा मे पाँच-सौ-पाच-सौ आख्यायिकाएँ है। एक-एक आख्यायिका मे इतनी ही उपाख्यायिकाएँ है और प्रत्येक उपाख्यायिका मे पाँच-सौ आख्यायिका-उपाख्यायिका है। इस तरह समस्त कथाओ, आख्यायिकाओ एव उपाख्यायिकाओ को मिलाकर इनकी साढे तीन करोड सख्या होती है। परन्तु, वर्तमान मे इसमे इतनी कथाएँ उपलब्ध नही है।

७. उपाशक-दशाँग सूत्र

प्रस्तुत आगम मे श्रमण भगवान् महावीर के दस उपासको का वर्णन है। जो साधक हिसा झूठ आदि दोषो का पूर्णतया त्याग करके और सासारिक भोगो एव कार्यो से निवृत्त होकर सयम-पथ

को स्वीकार करता है, उसे श्रमण, निर्ग्रन्थ, मुनि, साधु या भिक्षु कहा है। परन्तु जो साधक सासारिक विषयो का पूर्णत त्याग नही कर सकता, आशिक त्याग करता है, वह श्रमणोपासक श्रावक या उपासक कहा गया है।

आगमो मे श्रावक के लिए उपासक एव श्रमणोपासक दोनो शब्दो का प्रयोग मिलता है। प्रस्तुत आगम मे भी श्रमणोपासक शब्द का उल्लेख है। फिर प्रस्तुत आगम का नाम श्रमणोपासक दशा न रखकर उपासक दशा क्यो रखा, यह एक प्रश्न है? इसके सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट समाधान नही मिलता है। परन्तु आगम-साहित्य का अध्ययन करने पर इतना ही कहा जा सकता है कि प्रारम्भ मे श्रावक के लिए उपासक शब्द का सम्बोधन रहा हो, और इसी कारण आगम का नाम भी उपासक-दशा रखा गया। बौद्ध साहित्य मे श्रावक के लिए उपासक शब्द मिलता है और सभव है, अन्य परपराओ मे भी उपासक शब्द प्रयुक्त होता रहा होगा। अस्तु उनसे भिन्नता बताने के लिए 'उपासक' शब्द के साथ 'श्रमण' शब्द जोडा गया हो, जिससे श्रमण भगवान् महावीर के उपासक है, ऐसा स्पष्ट परिज्ञान हो सके।

इसमे भगवान् महावीर के दस उपासको का दस अध्ययनो मे वर्णन है—१ आनन्द, २ कामदेव, ३ चुलणीपिता, ४ सुरादेव, ५ कुण्डकोलिक, ६ शकडाल पुत्र, ७ महाशतक, ८ नदनी पिता, ९ शालनि पिता और १० तेतली-पिता—शालिक-पुत्र।

इसमे उक्त उपासको के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा और माता-पिता का वर्णन है। उनके वैभव, भोग-विलास के साधन, दास-दासी, खेत-मकान व्यापार, वेश-भूषा और रहन-सहन का भी वर्णन है। उनके शहर मे भगवान् के पधारने, समवसरण मे जाने, धर्म कथा सुनने और अपने जीवन को नया मोड देने का, श्रावक व्रत स्वीकार करने का वर्णन है। श्रावक बनने के बाद उनके जीवन मे क्या परिवर्तन आया, अपनी इच्छाओ को कितना सिमित-परिमित किया और रहन-सहन एव व्यापार कैसा रहा, इसका भी उल्लेख है। इसके पश्चात् उनके द्वारा की गई साधना, श्रुत अभ्यास, तपश्चर्या, प्रतिमा, उपसर्ग, सलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान या पादपोपगम अनशन व्रत का उल्लेख है और समाधि मरण के बाद वे किस देवलोक मे गए और देव ऐश्वर्य का भोग करके वे मनुष्य भव मे जन्म लेकर किस प्रकार मुक्ति को प्राप्त करेंगे, इसका विस्तृत वर्णन है।

८ अन्तकृतदशांग-सूत्र

प्रस्तुत आगम मे उन ९० महान्-आत्माओ के जीवन का वर्णन है, जिन्होने अपने जीवन के अन्तिम समय मे केवल ज्ञान को प्राप्त करके कर्मो का अन्त किया है, समस्त कर्म-बन्धन से मुक्त-उन्मुक्त हुए है। इसमे उन महान् आत्माओ के नगर, उद्यान, चैत्य, धन-वैभव, माता-पिता एव परिजनो का वर्णन है। इसमे यह भी बताया है कि वे किस प्रकार भगवान् के समवसरण मे पहुँचे, और भगवान् का प्रवचन सुनकर उन्हे कैसे वैराग्य हुआ और दीक्षा ग्रहण करने के बाद उन्होने किसके सान्निध्य मे श्रुत

अभ्यास किया, क्या साधना की, कितना घोर तप किया और किस प्रकार कर्म-बन्धनो को तोडकर मुक्ति को प्राप्त किया।

प्रस्तुत आगम मे आठ वर्ग है। वर्ग का अर्थ है अध्ययनो का समूह। इन आठ वर्गो मे वर्तमान कालचक्र मे होने वाले २४ तीर्थकरो मे से २२ वे नेमिनाथ और २४ वे भगवान् महावीर के शासन मे होने वाले ९० श्रमण-श्रमणियो का वर्णन है। प्रथम वर्ग मे गौतम कुमार आदि १० श्रमणो का वर्णन है। द्वितीय वर्ग मे अक्षोभ कुमार आदि आठ श्रमणो का, तृतीय मे अणीयस कुमार, गज सुकमाल आदि के १३ अध्ययन है। चतुर्थ वर्ग मे जाली आदि के दस अध्ययन है, पञ्चम वर्ग मे, पद्मावती आदि दस महाराणियो के दस अध्ययन है। उक्त पाँचो वर्ग मे भगवान् नेमिनाथ के शासन मे होने वाले श्रमण-श्रमणियो का उल्लेख है। षष्ठम वर्ग मे मकाई गाथापति, अर्जुन मालाकार, अतिमुक्त कुमार आदि के १६ अध्ययन है, सप्तम वर्ग मे श्रेणिक राजा की नन्दा आदि तेरह महाराणियो के तेरह अध्ययन है और अष्टम वर्ग मे श्रेणिक की काली आदि दस महाराणियो के दस अध्ययन है।

९ अनुत्तरोपपातिक-दशांग[1]-सूत्र

प्रस्तुत आगम मे उन दिव्य साधको की ज्योतिर्मय साधना का वर्णन है, जिसके द्वारा उन्होंने अनुत्तर विमान के सुखो को प्राप्त किया है और वहाँ के सुखो का उपभोग करके मनुष्य भव मे जन्म लेकर साधना के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करेंगे। अनुत्तर का अर्थ है—जिससे कोई प्रधान, श्रेष्ठ, या उत्तम नही है और उपपात का अर्थ है—जन्म ग्रहण करना। इसका अभिप्राय यह हुआ कि देवलोक के सर्वश्रेष्ठ या सर्वोत्तम विमानो मे जन्म लेने वाले साधक। ये अनुत्तर विमान पाँच है—१ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त, ४ अपराजित और ५ सर्वार्थ सिद्ध। इन विमानो को प्राप्त करने वाले सभी देव सम्यग् दृष्टि होते है और मनुष्य भव को प्राप्त करके सर्व कर्म-बन्धन से मुक्त-उन्मुक्त हो जाते है।

[1] 'दशा' का अर्थ दस अध्ययन करने की परम्परा रही है। कुछ आगमो मे इसका अर्थ घटित भी होता है। जैसे उपासक-दशा, इसमे दस अध्ययन ही है। परन्तु कुछ आगम ऐसे है कि उनमे दस से अधिक अध्ययन होने पर भी उन के साथ 'दशा' शब्द जुडा हुआ है। जैसे प्रस्तुत आगम और अन्त-कृत्दशा इनमे दस से अधिक अध्ययन हैं। प्रस्तुत आगम के तृतीय वर्ग के १० अध्ययन है और अन्तकृत्दशा मे प्रथम एव अन्तिम अष्टम वर्ग के दस-दस अध्ययन है। इसी के आधार पर टीकाकारो ने इनके साथ सम्बन्ध 'दशा' शब्द को सार्थक माना है। परन्तु 'दशा' शब्द का दूसरा अर्थ स्थिति, प्रसग या अवस्था भी होता है अर्थात् प्रस्तुत आगम मे अनुत्तर विमान स्वर्ग को प्राप्त करने वाले व्यक्तियो की स्थिति या प्रसग का वर्णन है और यह अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। क्योकि यह अर्थ मान लें तो फिर प्रथम या अन्तिम वर्ग के अध्ययनो की सख्या को घसीट कर अर्थ को बैठाने का प्रयत्न नहीं करना पडेगा और यह अर्थ सब जगह घटित भी हो जाएगा।

इसमे दस अध्ययन है। यह तीन वर्गों मे विभक्त हैं। तीन वर्गो मे ३३ दिव्य पुरुपो के जीवन का वर्णन है। प्रथम और द्वितीय वर्ग मे क्रमश श्रेणिक राजा के पुत्र जालिकुमार आदि के १० अध्ययन और दीर्घसेन आदि के १३ अध्ययन है। तृतीय वर्ग मे १ धन्य–धन्ना अणगार, २ सुनक्षत्र, ३ ऋपिदास, ४ पेलक, ५ राम-पुत्र, ६ चन्द्रकुमार, ७. पोष्ठी-पुत्र, ८ पेढालकुमार, ९ पोटिलकुमार और १० बहलकुमार के दस अध्ययन हैं। ये सभी साधक अपने साधना काल को पूरा करके अनुत्तर विमान मे गए है और वहाँ से च्युत होकर मनुष्य भव को प्राप्त करेंगे और पुन साधना करके सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त बनेंगे।

इसमे तीर्थंकर भगवान् के समवसरण, उनके अतिशय और परीपहो पर विजय प्राप्त करके यशस्वी, तेजस्वी बने हुए, तपोनिष्ठ एव ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा अन्य अनेक गुणो से सुशोभित शिष्यो और विशिष्ट ज्ञानी श्रमणो का वर्णन है। तीर्थंकर भगवान् का शासन जीवो के लिए कैसा हितप्रद और सुखद है, देवो का वैभव कैसा है, देव किस प्रकार से तीर्थंकरो के पास आते है, किस प्रकार से सेवा-भक्ति करते है, तीर्थंकर देव और मनुष्यो को किस प्रकार धर्मोपदेश देते है, उनके प्रवचन को सुनकर मनुष्य किस प्रकार विषय-कपाय एव भोगोपभोगो का त्याग कर तप, सयम एव साधना-पथ को स्वीकार करते है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की किस प्रकार से साधना-आराधना करके तथा ध्यान, चिन्तन-मनन एव अनशन व्रत की साधना के द्वारा किस प्रकार से समाधि मरण को प्राप्त करके अनुत्तर विमान मे जन्म ग्रहण करते है, इसका और इसके अतिरिक्त अन्य विपयो का विस्तार से वर्णन है।

प्रस्तुत आगम आकार की दृष्टि से बहुत छोटा है। इसके प्रत्येक वर्ग मे पहले अध्ययन का विस्तार से वर्णन है, पहली कथा पूरे रूप मे दी गई है। शेप अध्ययनो की कथाओ मे इतना ही सकेत किया गया है कि इसे प्रथम कथावत् समझें।

१० प्रश्न व्याकरण-सूत्र

इस आगम का नाम प्रश्न-व्याकरण है। प्रश्न का अर्थ है—विद्या विशेप और व्याकरण का अभिप्राय है उसका प्रतिपादन, विवेचन या व्याख्या। समवायाग सूत्र मे दिए गए परिचय के अनुसार इसमे आदर्श, अगुष्ठ, बाहु, असि, मणि, वस्त्र और आदित्य विपयक प्रश्नो का, विविध महाप्रश्न विद्या, मन प्रश्न विद्या, जिस विद्या से प्रभावित होकर देव मनो-कामना पूर्ण करते है, वह विद्या, विस्मयकारी प्रश्नो का स्व-समय और पर-समय का निरूपण करने मे प्रवीण प्रत्येक बुद्ध श्रमणो द्वारा अनेकान्त भापा मे दिए गए उत्तरो की या भगवान् महावीर के द्वारा जगत के जीवो के हित के लिए किए समाधान की प्ररुपणा की गई है। यह विषय पूर्व काल मे था।[1] वर्तमान मे प्रस्तुत आगम मे दस द्वार है—

[1] प्रश्न-व्याकरण के वर्तमान मे १० अध्ययन मिलते है। टीकाकार किसी अन्य वाचना के अनुसार ४५ अध्ययन बताते हैं। परन्तु वर्तमान मे उपलब्ध आगम मे ४५ अध्ययन और उसमे दिए गए विषयो का नामोनिशान नही मिलता और टीकाकार भी इस विषय मे मौन है। टीकाकार ने केवल इतना ही उल्लेख किया है कि पूर्व काल मे इस शास्त्र मे ये सब विद्याए थी, परन्तु वर्तमान काल मे तो उसमे पाँच आस्रव और पाँच सवर का ही वर्णन है।—प्रश्न व्याकरण टीका

पहले पाँच द्वारो मे हिंसा, झूठ, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच आस्रवो का और अन्तिम पाँच द्वारो मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच सवरो का वर्णन है। इसमे लगभग ५४ प्रकार की अनार्य जाति के नामो[1] एव नव ग्रहो[2] और २८ नक्षत्रो का उल्लेख भी मिलता है, जबकि प्राचीन आगमो मे ८१ ग्रहो की मान्यता का उल्लेख मिलता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत आगम उत्तरकालीन रचना है। इसी कारण इसमे उत्तर-काल मे आचार्यो द्वारा मान्य ९ ग्रहो का वर्णन उपलब्ध होता है।

११. विपाक-सूत्र

प्रस्तुत आगम मे आत्मा द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मो के विपाक का वर्णन है। इसे कर्म विपाक दशाग भी कहते है। भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य, प्रथम गणधर गौतम स्वामी भिक्षा के लिए शहर मे जाते है और वहाँ किसी व्यक्ति को पीडित एवं दु खित देखते है, तो उनका हृदय दया एव करुणा से भर जाता है। उसकी स्थिति को देखकर वे यह तो समझ लेते है कि यह व्यक्ति अशुभकर्म का फल भोग रहा है। परन्तु, यह नही समझ पाते कि इसने कैसा क्रूर कर्म किया था, जिसका प्रतिफल यह भोग रहा है। इसके सम्बन्ध मे वे भिक्षा से लौटकर भगवान् से प्रश्न करते है और इसके उत्तर मे भगवान् उन्हे उसके पूर्वभव की कथा सुनाते है और उनके द्वारा सेवित हिंसा, झूठ, चोरी, जारी-व्यभिचार, परिग्रह सचय के लिए लूट-खसोट, तीव्र कषाय, प्रमाद, पाप-प्रवृत्ति, अशुभ अध्यवसाय एव आर्त-रौद्र ध्यान आदि दोषो का वर्णन करते है और साथ मे यह भी बताते है कि यह नरक, तिर्यञ्च एव मनुष्य योनि मे भयकर वेदना सह आया है, यहाँ दारुण दु ख उठा रहा है और अभी इतने लम्बे समय तक यह ससार मे विभिन्न गतियो मे परिभ्रमण करेगा। परन्तु इतना सुनाने के बाद भी भगवान् उसकी विशुद्ध आत्मा को नही भूलते। वे गौतम को स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि इतना लम्बा ससार परिभ्रमण करने के बाद ये आत्माएँ—जिन्हे आज लोग दुष्ट, पापी एव दुराचारी कहकर धिक्कारते है, मुक्ति को प्राप्त करेंगी। इस वर्णन का इतना ही अभिप्राय है कि व्यक्ति अपने क्रूर एव दुष्कर्म का फल अवश्य पाता है, परन्तु उसके दुष्ट कर्म से उसकी आत्मा दुष्ट नही बनती। अस्तु तुम दुष्टता से दूर रहो, दुष्ट व्यक्ति से नही। क्योकि दुष्टता का परित्याग करने के बाद एक दिन वह भी सिद्ध-बुद्ध बन जाएगा।

इसके पश्चात् प्रस्तुत आगम मे भगवान् सुख प्राप्त करने वाले व्यक्तियो के जीवन की तसबीर भी गौतम के सामने रखते है। सुबाहुकुमार आदि के पूर्व भव का वर्णन करते हुए भगवान् यह बताते है कि सयम-निष्ठ, तपस्वी, शीलवन्त और गुणवान साधु को मन, वचन और काय की प्रसन्नता से एव भावना से दान देने वाला व्यक्ति किस प्रकार नरक के बन्धन को तोड लेता है, ससार-सागर से पार हो जाता है, सम्यक्त्व के ज्योतिर्मय आलोक से अपने जीवन को आलोकित करता है और सब के हित प्रद सुखप्रद बनता है, सबको प्रिय लगता है और सुख-पूर्वक साधना करके ७-८ भव मे मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि शुभ कार्य करने वाला सुख को प्राप्त करता है और सुख-पूर्वक अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है।

---

[1]. प्रश्न-व्याकरण, १, ४.

[2]. प्रश्न-व्याकरण, ५, १८.

इसमे दो श्रुत-स्कध हैं—१ दु ख-विपाक और २ सुख-विपाक। पहले मे दस अध्ययन हैं—१ मृगापुत्र, २ उज्जित, ३ अभग्न सेन, ४ शकट, ५ वृहस्पत्तिदत, ६ नन्दिपेण, ७ उम्वर दत्त, ८ सोरियदत्त, ६ देवदत्ता, और १० अजूदेवी। द्वितीय मे भी सुवाहुकुमार, भद्रनंदी आदि के दम अध्ययन हैं। इसमे सुवाहुकुमार के जीवन का पूरा वर्णन है। शेप नव अध्ययनो मे केवल नाम निर्देश किया है।

उपांग-साहित्य

१. औपपातिक सूत्र—इस आगम मे चम्पा नगरी, पूर्णभद्र उद्यान, वन-खण्ड, अशोक वृक्ष, पृथ्वी-शिला का और चम्पा के अधिपति कौणिक राजा, महाराणी धारणी, और उसके राज परिवार तथा भगवान् महावीर का वर्णन है। कोणिक किस प्रकार भगवान् को वन्दन करता था, उनकी सेवा करता था, इसका भी वर्णन है। चम्पा के नागरिको का, कोणिक की सेना का, भगवान् की उपासना करने के लिए आने वाले नगर वासियो का, भगवान् द्वारा अर्ध मागधी भाषा मे दिए जाने वाले प्रवचन का और समवशरणका विस्तृत उल्लेख है। इसमे विभिन्न सम्प्रदायो के तापस, श्रमणो एव भिक्षुओ, परिव्राजको, आजीवको, निन्हवो और तत्तत् साधना के द्वारा प्राप्त होने वाली देवगति मे उपपात आदि का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त कर्म-वन्ध के कारण, केवली समुद्घात और सिद्ध स्वरूप का भी वर्णन है।

२ राजप्रश्नीय-सूत्र[1]—नन्दी सूत्र मे इसे रायपसेणिय कहा है। आचार्य मलयगिरि ने रायपसेणीय नाम स्वीकार किया है। डॉ० विन्टजर का कथन है कि इसमे पहले राजा प्रसेनजित की कथा थी। परन्तु उत्तर काल मे प्रसेनजित के स्थान मे पएस लगाकर प्रदेशी के साथ इसका सम्वन्ध जोडने का प्रयत्न किया गया। वर्तमान मे इसमे प्रदेशी राजा के जीवन एवं केशी-श्रमण के साथ हुए सवाद का विस्तृत विवेचन मिलता है।

इसमे भगवान् पार्श्वनाथ की परपरा के केशी-श्रमण के साथ एक नास्तिक राजा प्रदेशी के सवाद का एव उसके जीवन परिवर्तन का उल्लेख है। राजा के जीवन परिवर्तन के कारण अर्थात् नास्तिक से आस्तिक वनकर श्रावक धर्म का परिपालन करते हुए समाधि-पूर्वक मरण से वह सूर्याभ नाम देव वना और देव वनने के वाद वह भगवान् के समवशरण मे उनका दर्शन करने आया तथा उसने भगवान् के सामने अपना नाटक प्रस्तुत किया। इसके आरम्भ मे सूर्याभदेव का वर्णन है। इसके वाद केशी-श्रमण द्वारा राजा प्रदेशी के तर्कों के दिए गए उत्तर एव प्रतिवोध का वर्णन है। डॉ० विन्टजर का कथन है कि इस सवाद के कारण प्रस्तुत आगम एक सरस एव रसप्रद ग्रन्थ वन गया है।

३. जीवाभिगम—प्रस्तुत आगम मे जीव, अजीव, द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी आदि का विस्तृत वर्णन है। जीवाभिगम का अर्थ है—जिस आगम मे जीव और अजीव का अभिगम-ज्ञान है। प्रस्तुत आगम मे नव-प्रकरण —प्रतिपत्ति है। इसमे तृतीय प्रकरण सव से विस्तृत है, जिसमे देवो एव द्वीप-

---

[1] दीघनिकाय के पायासिसुत्त मे भी प्रदेशी का प्राय. ऐसा ही वर्णन मिलता है।

सागरो का विस्तृत वर्णन है। इस प्रकरण मे रत्न, अस्त्र-शस्त्र, धातु, मद्य, पात्र, आभूषण, भवन, वस्त्र, मिष्ठान, दास, त्योहार, उत्सव, यान और रोग आदि के भेदो का उल्लेख है। जम्बू द्वीप के वर्णन प्रसग मे पद्मवरवेदिका की दहलीज, नीव, खम्भे, पटिए, साँधे, नली, छाजन आदि का उल्लेख किया है, जो स्थापत्य-कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

४ प्रज्ञापना-सूत्र—प्रज्ञापना का अर्थ है—प्र—प्रकर्ष रूप से ज्ञापन-करना—जानना। जिस आगम के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को प्रकर्ष—व्यवस्थित रूप से जाना-समझा जाए, उसे प्रज्ञापना कहते है। इसमे जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष का वर्णन है। इसके १, ३, ५, १० और १३ वे पद मे जीव-अजीव का, १६ और २२ वे मे मन, वचन और काय इन योग और आस्रव का, २३ वे पद मे बन्ध का, ३६ वे पद मे केवली समुद्घात के साथ सवर, निर्जरा और मोक्ष का वर्णन है। अन्य पदो मे लेश्या, समाधि और लोक-स्वरूप को समझाया है।

प्रस्तुत आगम के ३६ पद हैं—१ प्रज्ञापना, २ स्थान, ३ अल्पाबहुत्व, ४ स्थिति, ५ पर्याप्ति, ६ उपपातोद्वर्तन, ७ उच्छ्वास, ८ सज्ञा, ९ योनि, १० चरम, ११ भाषा, १२ शरीर, १३ परिणाम, १४ कषाय, १५ इन्द्रिय, १६ प्रयोग, १७ लेश्या, १८ कायस्थिति, १९ सम्यक्त्व, २०. अन्त-क्रिया, २१ अवगाहना, २२ क्रिया, २३ कर्म-प्रकृति, २४ कर्म-बन्ध, २५ कर्म-वेद, २६ कर्म-वेद-बन्ध, २७ कर्म-प्रकृति-वेद, २८ आहार, २९ उपयोग, ३० पश्यत, ३१ सज्ञा, ३२ सयम, ३३ ज्ञान-परिणाम, ३४ प्रविचार परिणाम, ३५ वेदना, और ३६, समुद्घात।

५. जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति—इसमे जम्बू-द्वीप एव उसमे स्थित भरतक्षेत्र का विस्तृत वर्णन है। यह आगम भूगोल विषयक है। इसका अधिकाश भाग भारत के वर्णन मे चक्रवर्ती सम्राट भरत की कथाओ ने घेर रखा है। इसमे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मे होने वाले सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा, दुषमा-दुषमा इन कालो का वर्णन है। इनमे प्रथम, द्वितीय और तृतीय आरे मे होने वाले १० कल्पवृक्षो और तृतीय चतुर्थ मे होने वाले तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव एव वासुदेव आदि का वर्णन है।

६. सूर्य प्रज्ञप्ति—इसमे सूर्य आदि ज्योतिष चक्र का वर्णन है। यह खगोल शास्त्र है। इसमे २० प्राभृत है—१ मडलगति-सख्या, २. सूर्य का तिर्यक परिभ्रमण, ३ प्रकाश्य क्षेत्र परिमाण, ४. प्रकाश-सस्थान, ५. लेश्या-प्रतिघात, ६. प्रकाश कथन, ७ प्रकाश-सक्षिप्त, ८. उदय-अस्त सस्थिति ९ पौरुषी छाया परिमाण, १० योग-स्वरूप, ११ सवत्सरो का आदि-अन्त, १२. सवत्सरो के भेद, १३ चन्द्र की वृद्धि-क्षय, १४. ज्योत्स्ना परिमाण, १५ शीघ्र-मन्द गति निर्णय, १६. ज्योत्स्ना लक्षण, १७. च्यवन और उपपात, १८ ज्योतिषी विमानो की ऊँचाई, १९ चन्द्र-सूर्य सख्या, २० चन्द्र-सूर्य अनुभाव।

डॉ० विन्टजर ने सूर्य प्रज्ञप्ति को वैज्ञानिक ग्रन्थ स्वीकार किया है। अन्य पाश्चात्य विचारको ने इसमे उल्लिखित गणित और ज्योतिप विज्ञान को महत्वपूर्ण माना है। डॉ० शुब्रिंग ने हेमवर्ग यूनिवर्सिटी, जर्मन मे दिए गए अपने एक भाषण मे उल्लेख किया है—"जैन विचारको ने जिन तर्क सम्मत एव सुसम्बद्ध सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया, वे आधुनिक विज्ञान वेत्ताओ की दृष्टि मे भी अमूल्य एव महत्वपूर्ण है। विश्व रचना के सिद्धान्त के साथ-साथ उसमे उच्च कोटि का गणित एव ज्योतिप विज्ञान भी मिलता है। सूर्य प्रज्ञप्ति मे गणित एव ज्योतिप पर गहराई से विचार किया गया है। अत सूर्य प्रज्ञप्ति का उल्लेख किए बिना भारतीय ज्योतिप का इतिहास अधूरा एव अपूर्ण रहेगा।"[१] अस्तु पाश्चात्य विचारको एव ऐतिहासक विद्वानो की दृष्टि मे ज्योतिप एव गणित की दृष्टि से अन्वेपको एव चिन्तनशील विचारको के लिए सूर्य प्रजप्ति एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे हम ज्योतिप और गणित का कोप भी कह सकते है।

७. **चन्द्र प्रज्ञप्ति**—इसमे चन्द्र ज्योतिप चक्र का वर्णन है। इसका वर्णन प्राय सूर्य-प्रज्ञप्ति जैसा है।

डा० विन्टजर का कथन है कि जम्बू-द्वीप प्रजप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति और चन्द्र प्रज्ञप्ति वैज्ञानिक ग्रन्थ (Scientific Works) है। इनमे भूगोल, खगोल, विश्व-विद्या और काल के भेदो का उल्लेख।

८. **निरयावलिका-सूत्र**—निरयावलिका का अर्थ है—निरय—नरक की आवलि करने वाले व्यक्तियो का वर्णन करने वाला ग्रन्थ। इसमे मगध के सम्राट श्रेणिक के काली कुमार आदि दस पुत्रो का वर्णन है, जो अपने ज्येष्ठ भ्राता कोणिक के पक्ष मे अपने नाना चेटक से युद्ध करते हुए मरकर नरक मे गए और वहाँ से निकल कर मोक्ष जाएँगे।

९ **कल्पावतसिका-सूत्र**—इसमे मगध देश के सम्राट् श्रेणिक के पद्मकुमार आदि दस पौत्रो का वर्णन है, जो दीक्षा ग्रहण करके विभिन्न कल्पो—देवलोको मे उत्पन्न हुए और वहाँ के सुख-वैभव एव आयु का भोग करके मनुष्य भव मे आकर मोक्ष जाएँगे।

१० **पुष्पिका-सूत्र**—इसमे दस देवो का वर्णन है, जो अपने पुष्पक विमानो मे बैठकर भगवान महावीर का दर्शन करने आते है और उस समय गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् उन्हे १ चन्द्र, २ सूर्य,

---

[१] He who has a through knowledge of the structure of the world cannot but admire the inward logic and harmony of Jain ideas Hand in hand with the refind cosmographical ideas goes a high standard of astronomy and mathematics A history of Indian astronomy is not conceivable without the famous 'Surya Pragypati'

—*Dr Schubing*

३ महाशुक्र, ४ वहु-पुत्तोया, ५ पूर्णभद्र, ६ मणिभद्र ७ दत्त ८ बल, ९ शिव, और १० अनादीत देवो के पूर्व भव एव उनके द्वारा की गई साधना का वर्णन सुनाते हे।

११ पुष्पचूलिका-सूत्र—इसमे दस अध्ययन है और हरि देवी आदि दस-देवियाँ अपने पुष्प-चूलिका विमान मे बैठकर भगवान् का दर्शन करने आती है और गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् उन देवियो के पूर्व-भव एव उनके द्वारा की गई साधना का वर्णन करते है।

१२ वृष्णि-दशा-सूत्र–प्रस्तुत आगम मे १२ अध्ययन है। इसमे वृष्णिवश के बलभद्र जी के निषढ कुमार आदि १२ पुत्र भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षित हुए और साधना करके सर्वार्थसिद्ध विमान मे गए और वहाँ सुख-वैभव एव आयु को भोग कर महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर मोक्ष जाएँगे, इसका वर्णन है।

मूल-साहित्य

१ दशवैकालिक-सूत्र—चतुर्दश पूर्वधर आचार्य शय्यभव ने अपने पुत्र मनक की साधना को सफल न ाने के लिए दशवैकालिक-सूत्र की रचना की।[1] इसमे दस अध्ययन और दो चूलिकाएँ है। इसमे साध्वाचार का वर्णन है।

यह दस अध्ययनो मे विभक्त है। प्रथम द्रुम-पुष्पिक अध्ययन है। इसमे समस्त पुरुषार्थो मे धर्म को प्रधान माना है। इसकी प्रथम गाथा मे बताया है—अहिंसा, सयम और तप उत्कृष्ट मगल रूप धर्म है।[2] अस्तु साधक को अपनी वृत्ति मधुकर की तरह ऐसी बनानी चाहिए कि जिससे वह किसी पर भार-भूत न बने, उसके कारण किसी गृहस्थ को कष्ट न उठाना पडे और न अन्य जीवो को पीडा प्राप्त हो।

दूसरे श्रामण्य-पूर्वक अध्ययन मे राजमती और रथनेमि का सवाद दिया गया है। इससे यह बताया है कि साधक के मन मे सासारिक विपयो के प्रति राग-भाव पैदा न हो और यदि कभी मोहवश हो रहा हो, तो वह रथनेमि की तरह अपने जीवन को सभाल ले।

तृतीय क्षुल्लिकाचार-कथा मे ५२ अनाचारो का वर्णन है, जो साधु के आचरण करने योग्य नही है। चतुर्थ-षट्-जीवनिका अध्ययन मे छह काय के जीवो का, उनकी रक्षा करने और पाँच महाव्रतो एव छट्ठे रात्रि भोजन के निषेध का वर्णन है। पाँचवे पिण्डैपणा अध्ययन मे साधु को कैसा आहार, किस प्रकार से लेना, इसका वर्णन है। छट्ठे महाचार कथा मे यह बताया है कि भिक्षा आदि के लिए जाते

---

[1] आचार्य भद्रबाहु ने दशवैकालिक निर्युक्ति मे लिखा है कि चौथा अध्ययन, आत्म प्रवाद पूर्व से, पाचवाँ कर्म-प्रवाद से, सातवाँ सत्य-प्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन नवमे प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु मे से उद्धृत किए हैं। —दशवैकालिक निर्युक्ति

[2] दिगम्बर-साहित्य के धवला, जयधवला ग्रन्थो मे भी यह गाथा परिलक्षित होती है।

समय साधु को रास्ते मे मिलने वाले महाजन आदि के सामने किस प्रकार बात करनी चाहिए। सातवें भाषा अध्ययन मे यह बताया है कि साधु को किस प्रकार से साध्वाचार का वर्णन करना चाहिए। आठवे आचार प्रणिधि अ० मे विशुद्ध आचार का वर्णन है। नववे विनय अध्ययन के चार उद्देशो मे विनय एव साधु जीवन का विस्तृत वर्णन है और दसवें भिक्षु अध्ययन मे बताया है कि जो श्रमण इसमे वर्णित आचार का पालन करता है, वही भिक्षु है।

यदि कभी मोह कर्म के उदय से कोई साधु साधना से पतित हो रहा हो, तो उसे स्थिर करने के लिए इसमे दो चूलिकाएँ जोड दी गई है—१. रति वाक्य और २ विविक्त चर्या। प्रथम मे साधु को सयम मे स्थिर रखने के लिए नरक आदि का वर्णन है और दूसरी मे अपने मन को शान्त करने के लिए एकान्त स्थान मे साधना करने का उपदेश दिया है।

२. उत्तराध्ययन-सूत्र—जैन परपरा की यह मान्यता रही है कि प्रस्तुत आगम मे भगवान् महावीर की अन्तिम देशना का सकलन है। कुछ आचार्यो की यह मान्यता है कि भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्ति के पहले ५५ अध्ययन दु ख-विपाक के और ५५ सुख-विपाक के कहे[1], उसके वाद बिना पूछे उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनो का वर्णन किया। इसलिए इसे अपुट्ठ वागरणा—अपृष्ट देशना कहते है। ऐसा भी कहा जाता है कि ३६ अध्ययन समाप्त करके भगवान् मरुदेवी माता का प्रधान नामक ३७ वे अध्ययन का वर्णन करते हुए अन्तर्मुहूर्त का शैलेशीकरण करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। कुछ आचार्य इसे भगवान् की अन्तिम देशना नही मानते।[2] प्रस्तुत आगम के वर्णन को देखते हुए ऐसा लगता है कि स्थविरो ने इसका बाद मे सग्रह किया है। कुछ अध्ययन ऐसे है, जिनमे प्रत्येक बुद्ध एव अन्य विशिष्ट श्रमणो के द्वारा दिए गए उपदेश एव सवाद का सग्रह है। आचार्य भद्रबाहु ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि इसमे के कुछ अध्ययन अग-साहित्य से लिए है, कुछ जिन-भाषित है और कुछ प्रत्येक-बुद्ध श्रमणो के सम्वाद रूप मे है।[3]

जो भी कुछ हो, इतना तो मानना ही पडेगा कि प्रस्तुत आगम भाषा, भाव एव शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमे सरल एव सरस पद्यो मे साध्वाचार एव आध्यात्मिक विषय का सुन्दर निरूपण किया है।

प्रस्तुत आगम मे ३६ अध्ययन है—१ विनय, २ परीषह, ३ चतुरगीय, ४ प्रमादाप्रमाद, ५ अकाम-मरण, ६ क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय, ७ औरभ्रीय, ७ कापिलीय, ९ नमिपवज्जा, १० द्रुमपत्र, ११ बहुश्रुत १२ हरिकेशीय, १३ चित्त-सभूति, १४ इक्षुकारीय, १५ सुभिक्षुक, १६ ब्रह्मचर्य-गुप्ति, १७ पाप-श्रमण, १८ सयतीय, १९ मृगापुत्रीय, २० महानिर्ग्रन्थीय, २१ समुद्रपालीय, २२ रथनेमीय, २३ केशी-गौतमीय,

---

[1] वर्तमान मे दु ख विपाक और सुख विपाक मे दस-दस अध्ययन हैं।

[2] जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर। —आचार्य आत्माराम जी (विजयानन्द सूरि)

[3] उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४।

२४ प्रवचन-माता, २५ यज्ञीय, २६ समाचारी, २७ खलुकीय, २८ मोक्षमार्ग, २९ सम्यक्त्व-पराक्रम, ३० तपोमार्ग, ३१ चरण-विधि, ३२ प्रमाद-स्थान, ३३ कर्म-प्रकृति, ३४ लेश्या, ३५ अनगार-मार्ग, और ३६ जीवाजीव-विभक्ति है।

३ नन्दी-सूत्र—प्रस्तुत आगम मे तीर्थंकरो, गणधरो के नाम, उनकी स्तुति, स्थविरावली, त्रिविध परिषदा, अवधि-ज्ञान, मन पर्यव-ज्ञान, केवल-ज्ञान, मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान और श्रुत-साहित्य का वर्णन है।

४ अनुयोग द्वार-सूत्र[1]—इसमे आवश्यक श्रुत-स्कध के निक्षेपो, उपक्रम-अधिकार, आनुपूर्वी, दस नाम, प्रमाण द्वार, निक्षेप, अनुगम और नय का वर्णन है। इसमे नव रस, काव्य-शास्त्र से सबद्ध कुछ बातो, महाभारत रामायण, कौटिल्य-शास्त्र, घोटक-मुख आदि का उल्लेख है।

५ आवश्यक[2]—साधु के लिए जो क्रिया अवश्य करने योग्य है उसे आवश्यक कहते है। उसके छह अध्ययन है—१ सामायिक, २ चतुर्विंशति-स्तव, ३ वन्दन, ४ प्रतिक्रमण, ५ कायोत्सर्ग और ६ प्रत्याख्यान।

६ पिंड-निर्युक्ति या ओघ-निर्युक्ति

पिंड निर्युक्ति मे आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख है। इसमे आहार-लेने और उद्गम उत्पादन, एषणा और ग्रासैषणा के दोषो का वर्णन किया है।

ओघ-निर्युक्ति मे सामान्य-विशेष की गहराई मे न उतर कर चरण-सत्तरी, करण-सत्तरी, प्रति-लेखन, पिंड-ग्रहण, उपधि-निरूपण, अयतना का त्याग, प्रतिषेवणा, आलोचना और विशुद्धि द्वार का वर्णन है। इसमे मुख्य रूप से चरण-करण का वर्णन है।

छेद-साहित्य

१. निशीथ—छेद-सूत्रो मे श्रमण-श्रमणी के आचार, गोचरी—भिक्षाचरी, कल्प, क्रिया आदि सामान्य नियमो का वर्णन है। इसमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का भी वर्णन

---

[1] स्थानकवासी और तेरहपथ परम्परा उक्त चार आगमो को मूल सूत्र मानती है। मूर्ति पूजक सम्प्रदाय के कुछ आचार्य ६ मूल सूत्र मानते हैं, और कुछ चार। जो चार मानते हैं, वे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आवश्यक और पिंडनिर्युक्ति या ओघ-निर्युक्ति को मूल-सूत्र मानते है। नन्दी और अनुयोग-द्वार को चूला मानते हैं और छह मानने वाले नन्दी और अनुयोगद्वार को भी उसमे समाविष्ट कर लेते हैं।

[2] स्थानकवासी और तेरहपंथी इसे मूल-सूत्र नहीं, स्वतंत्र आगम मानते हैं।

है। सामान्य रूप से छेद-सूत्र अपवाद मार्ग के सूत्र कहलाते है। इसमे मुख्य रूप से साध्वाचार का वर्णन है। फिर भी उसमे कही-कही श्रावक के आचार का भी उल्लेख है। जैसे श्रावक की ११ प्रतिमा, गुरु की ३३ आशातना नही करना, और आलोचना करना आदि श्रमण के आचार का वर्णन है।

निशीथ-सूत्र आचाराग-सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध की पाँचवी चूला है। इसका अयारप्पकप्प—आचार-प्रकल्प नाम है। इसमे साध्वाचार मे दोष लगाने वाले साधक के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई थी। अत इसे आचाराग से पृथक कर दिया और जब छेद-सूत्रो की व्याख्या की गई, तब इसे छेद-सूत्रो मे स्व स्थान दे दिया।

इस आगम मे २० उद्देशक है। पहले में ६० वोल है, उनका सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने वाले को मासिक प्रायश्चित आता है। दूसरे मे ६०, तीसरे मे ८१, चौथे मे सौ से कुछ अधिक और पाँचवे मे ८० वोल है, उनका सेवन करने-कराने और अनुमोदन करने वाले को लघु-मासिक प्रायश्चित आता है। छट्ठे से उन्नीस तक मे क्रमश ७७, ९१, १७, २८, ४७, ९२, ३०, ६०, ४५, १५४, ५०, १५१, ६४, और ३६ वोल है और इनका सेवन करने, करवाने और अनुमोदन करने वाले को चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है। २० वे उद्देशक मे मासिक, लघु-मासिक और चातुर्मासिक प्रायश्चित की विधि का उल्लेख है। निशीथ भाष्यकर ने छेद-सूत्रो को उत्तम—श्रेष्ठ सूत्र माना है।[1] क्योकि इसमे आचार-शुद्धि का वर्णन है।

२ बृहत्कल्प-सूत्र—कल्प या बृहत्कल्प का कल्पाध्ययन नाम भी मिलता है। यह पर्युषण-कल्प या कल्प-सूत्र से भिन्न है। यह आगम श्रमण आचार के प्राचीनतम ग्रन्थो मे से एक है। निशीथ और व्यवहार की तरह इसकी भाषा भी प्राचीन है। इसमे श्रमण—श्रमणियो के सयम मे साधक—कल्पनीय और सयम मे वाधक—अकल्पनीय स्थान, वस्त्र, पात्र आदि विस्तृत विवेचन है, इसलिए इसे कल्प कहते है। आचार्य मलयगिरि का कथन है कि प्रस्तुत आगम नवमे पूर्व के आचार नामक तृतीय वस्तु के ३० वे प्राभृत मे से लिया गया है, जिसमे प्रायश्चित का विधान है।

इसमें छह उद्देशक है। इसमे मुख्य रूप मे साधु-साध्वियो के आचार का वर्णन है। इसमे सयम मे वाधक वनने वाले पदार्थो के लिए 'न कप्पई'—ग्रहण करना नही कल्पता कह कर ग्रहण का निषेध किया है और सयम मे सहायक पदार्थो के लिए 'कप्पई'—कल्पता है, करने का प्रयोग करके उसको ग्रहण करने का आदेश दिया है। दस प्रकार के प्रायश्चित का तथा किस प्रकार के दोष का सेवन करने वाले को कैसा प्रायश्चित देना इसका वर्णन है। इसमें करप के ६ भेदो का भी उल्लेख है।

३. व्यवहार-सूत्र—इसमे १० उद्देशक है। प्रथम उद्देशक मे वताया है कि आलोचना (confession) सुनने वाला और करने वाला श्रमण कैसा होना चाहिए, आलोचना कैसे करनी चाहिए और

---

[1] निशीथ भाष्य, गाथा, ६१८४।

उसे कितना प्रायश्चित्त देना चाहिए। दूसरे उद्देशे मे अनेक साधु एक साथ विहार कर रहे है, उसमे से एक या अनेक साधु दोप का सेवन करे तो साथ के साधुओ को या अन्य साधुओ को क्या करना चाहिए, इसका वर्णन है। तीसरे मे गणि बनाने और कैसे साधु को आचार्य उपाध्याय आदि सात पदवियें देने या न देने का वर्णन है। चौथे मे बताया है, कि साधु-साध्वी को कितने साधु-साध्वी के साथ विहार एव चातुर्मास करना चाहिए। पाँचवे मे साध्वियो की प्रवर्त्तिनी आदि पदवियो का वर्णन है। छट्ठे मे गोचरी, स्थडिल स्वाध्याय भूमि आदि के सम्बन्ध मे वर्णन है। सातवें मे दूसरी सम्प्रदाय से आने वाली साध्वी के साथ कैसा व्यवहार करना इसका तथा साध्वियो के अन्य नियमो का वर्णन है। आठवे मे गृहस्थ के मकान, तख्त आदि को कैसे काम मे लेना इसका उल्लेख है। नववें मे शय्यान्तर—मकान मालिक के सम्बन्ध मे वर्णन है और दशवे मे दो प्रकार की प्रतिमा, दो तरह का परीपह, पाँच व्यवहार, चार तरह के साधु, चार प्रकार के आचार्य और अमुक-अमुक आगम कितने वर्प की दीक्षा पर्याय होने पर सीखना चाहिए आदि बातो का वर्णन है।

४. दशा श्रुतस्कंध-सूत्र[१]—इसमे दस १० अध्ययन है। पहले अ० मे २० असमाधि दोप, दूसरे अ० मे २१ सबल दोप, तीसरे अ० मे ३३ आशातना, चौथे अ० मे आचार्य की आठ सपदा, पाँचवे मे चित्त समाधि के १० स्थान, छट्ठे मे श्रावक की ११ प्रतिमा, सातवे मे भिक्षु प्रतिमा, आठवें मे भगवान महावीर के च्यवन, जन्म, सहरण, दीक्षा, केवल ज्ञान और मोक्ष जाने का समय, नववे मे मोहनीय कर्म वन्ध के ३० स्थान और दसवे मे नव निदानो का वर्णन है।

प्रस्तुत आगम के दशा, आयारदशा और दसासुय नामो का भी उल्लेख मिलता है। इसके आठवे अध्ययन मे भगवान महावीर के च्यवन, जन्म, सहरण, दीक्षा, केवल ज्ञान और मोक्ष का तथा २४ तीर्थकरो का काव्यमय भापा मे वर्णन है। इसका पज्जोसणा कप्प अथवा कल्पसूत्र नाम है। इस नाम से यह अध्ययन स्वतत्र आगम रूप से भी उपलब्ध है।

५. पचकल्प-सूत्र—प्रस्तुत आगम वर्तमान मे उपलब्ध नही है। पच कल्प-सूत्र और पच कल्प-महाभाप्य दोनो दो भिन्न ग्रन्थ नही, एक ही है। ऐसा विद्वानो का अभिमत है। जैसे पिंड निर्युक्ति और ओघ-निर्युक्ति स्वतत्र ग्रन्थ न होकर क्रमश दशवैकालिक निर्युक्ति और आवश्यक निर्युक्ति से लिया गया अश है, उसी प्रकार पचकल्प या पचकल्पभाप्य वृहत्कल्प-भाप्य का अश है। आचार्य मलयगिरि और क्षेमकीर्ति ने भी इसका स्पप्ट उल्लेख किया है। इस भाप्य के कर्ता सघादास गणि क्षमाश्रमण हैं।[२]

---

[१] बृहत्कल्प भाष्य (स० मुनि पुण्य विजय जी) भाग ६, प्रस्तावना पृ० ५६।

[२] स्थानक वासी और तेरह पथी निशीथ से लेकर दशाश्रुतस्कध तक के चार सूत्रों को छेद सूत्र मानते हैं। शेष दो सूत्रो को मिलाकर मूर्ति पूजक सप्रदाय छेद सूत्रो की सख्या छह मानती है।

६. महानिशीथ-सूत्र—इसमे आलोचना और प्रायश्चित्त का वर्णन है। महाव्रत का और विशेष करके चतुर्थ महाव्रत का खण्डन करने वाले साधक को कितना दुख सहन करना पडता है, इसका वर्णन करके कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसमे आचार-निष्ठ, आचार-हीन साधुओ का वर्णन है और कमलप्रभ आदि आचार्यो की कथाएँ भी है। भाषा और विषय की दृष्टि से इसकी प्राचीन आगमो मे गणना नही की जा सकती। इसमे तान्त्रिक विषय एव जैनागमो के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेख मिलता है।

प्रकीर्णक[1]

१. चतुःशरण—इसमे यह बताया है, कि चार व्यक्तियो—१ अरिहन्त, २ सिद्ध, ३ साधु, और ४ धर्म का शरण लेने से दुष्कृत का नाश और सुकृत का उदय होता है। ये चारो शरण कुशल शुभ कार्य के कारण हैं। इसमे उक्त चारो के स्वरूप का भी वर्णन है। इसमे कुल ६३ गाथाएँ है। उक्त शास्त्र का दूसरा नाम कुशलानुबन्ध भी है।

२. आतुर-प्रत्याख्यान—इसमे यह समझाया गया है कि बालमरण, बाल-पडित मरण और पडित-मरण किस व्यक्ति का होता है। इसमे इसका विस्तार से वर्णन है, कि पडित रोग-शय्या मे या मृत्यु का समय निकट जानकर किस प्रकार सब से क्षमत-क्षमापना, त्याग-प्रत्याख्यान, सलेखना एव अनशन व्रत स्वीकार करता है।

३. भक्त-परिज्ञा—इसमे मृत्यु के समय किए जाने वाले भक्त-परिज्ञा, इगित-मरण और पादपोगमन तीन प्रकार के अनशन व्रत एव उनके भेदोपभेदो का विस्तार से वर्णन है।

४. संस्तारक—इसमे सस्तारक—मृत्यु के समय अनशन व्रत स्वीकार करते समय तृण की शय्या बिछाने का वर्णन है और इसके लिए अनेक दृष्टान्त भी दिए हैं। इसमे कुल १२३ गाथाएँ है।

५. तन्दुल वैचारिक—इसमे सौ वर्ष की आयु वाला व्यक्ति प्रतिदिन जितना तन्दुल—चावल खाता है, उसका इसमे विचार किया गया है। इसमे मनुष्य की आहार विधि, गर्भ अवस्था, शरीर के उत्पादक कारण, सहनन, सस्थान, तन्दुल गणना आदि का वर्णन है। इसमे अधिकाश वर्णन गर्भ के सम्बन्ध मे है। इसमे कुल १३९ गाथाएँ और थोडा-सा गद्य भाग है।

६. चन्द्र वेध्यक—इसमे राधा-वेध्य का वर्णन है। इसका उदाहरण देकर साधक को यह उपदेश दिया गया है कि उसे आत्मा मे एकाग्र ध्यान करना चाहिए, जिससे उसे मोक्ष प्राप्त होगा।

---

[1] दस पयन्ना को मूर्तिपूजक समाज आगम रूप से स्वीकार करती है। और स्थानक वासी एव तेरह पथ इन्हे आगम-साहित्य मे समाविष्ट नहीं करते।

७. देवेन्द्र स्तोत्र—इसमे देवेन्द्र द्वारा भगवान् महावीर की की गई स्तुति का वर्णन है। इसमे ३२ देवेन्द्रो और उनके अधीन रहने वाले सूर्य-चन्द्र आदि देवो, उनके निवास स्थानो, उनकी स्थिति, उनके भवन और उनके परिग्रह आदि का वर्णन है।

८. गणिविद्या—इसमे ज्योतिप विद्या का वर्णन है। इसमे बलाबल विधि, दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रह-दिवस, मुहूर्त, शकुन, लग्न और निमित्त आदि का वर्णन है। इसमे कुल ८२ गाथाएँ है।

९. महाप्रत्याख्यान—प्रस्तुत आगम मे महाप्रत्याख्यान कराने की विधि का वर्णन है। इसमे यह बताया है कि जीवन मे पाप दोष के लगे हुए शूलो की आत्म आलोचना के द्वारा जीवन से निकाल कर साधक को शल्य-रहित बनना चाहिए। इसमे ससार के दु खद स्वरूप का वर्णन है। इसमे कुल १४२ गाथाएँ है।

१० गच्छाचार—इसमे गच्छ के स्वरूप का वर्णन है। आचार-निष्ठ आचार्य एव उसके चरित्र निष्ठ शिष्यो से गच्छ उज्ज्वल बनता है। इसलिए इसमे आचार्य के शिष्य और गच्छ के लक्षणो का उल्लेख है। इसमे कुल १३७ गाथाएँ है। ४० गाथाओ मे आचार्य के स्वरूप का वर्णन है, ४१ से १०६ तक साधु के स्वरूप का और १०७ से १३४ तक गच्छ के स्वरूप का वर्णन है। अन्तिम तीन गाथाओ मे यह बताया गया है, कि यह प्रकीर्णक महानिशीथ, वृहत्कल्प और व्यवहार—इन तीन छेद सूत्रो मे से लिया गया है।

उपसंहार

आगम-साहित्य बहुत विशाल है। उसमे प्रसगानुसार विविध विपयो की चर्चा है। उसमे केवल धर्म, दर्शन एव आचार से सम्बन्धित बातो की नही, प्रत्युत सास्कृतिक, ऐतिहासिक एव वास्तु-कला आदि विषयो का भी उल्लेख मिलता है। कोई भी आगम ऐसा नही है, जिसमे केवल एक ही विपय हो। प्रत्येक आगम मे अनेक विपयो का उल्लेख मिलता है। फिर भी कुछ आगम ऐसे है, जिनमे एक विषय की प्रधानता है। उसमे प्रसगानुसार अन्य विपय भी आए है, परन्तु वे गौण रूप से आए है, और उनका उस विषय को पुष्ट करने के लिए प्रयोग किया गया है। अत विपय की प्रधानता की दृष्टि से हम यहाँ आगमो का वर्गीकरण कर रहे है।

कुछ आगम आचार से सम्बन्ध रखते है। आचाराग और दशवैकालिक आचार सूत्र है। अन्य आगमो मे भी साध्वाचार का वर्णन आता है। उत्तराध्ययन मे भी साध्वाचार का वर्णन है। परन्तु उक्त उभय आगमो मे साध्वाचार का वर्णन ही मुख्य है। इसके अतिरिक्त छेद सूत्रो का मुख्य विषय भी आचार का निरूपण करना है। आचाराग और दशवैकालिक मे साधुओ के आचार का निरूपण है। उसमे प्राय उत्सर्ग मार्ग का ही विधान मिलता है। कही-कही प्रसगानुसार आपवादिक सूत्र आ गए हैं। परन्तु छेद

सूत्रो का निर्माण उत्सर्ग और अपवाद दोनो मार्गो का निरूपण करने के लिए किया गया। उनमे औत्सर्गिक एव आपवादिक नियमो का तथा प्रमादवश अथवा मोह कर्म के उदय से आचार मे दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित का विधान है।

कुछ आगम ऐसे है, जिनमे श्रमणो एव श्रमणोपासको के जीवन वृत्त दिए हुए है। उपासक दशाग, अनुत्तरोपपातिक दशाग और अन्तकृद्दशाग सूत्र श्रमण-सस्कृति की दिव्य विभूतियो के ज्योतिर्मय जीवन की आभा से आलोकित है। ज्ञाता-धर्मकथा मे कुछ घटित घटनाओ के माध्यम से आत्म-साधना का उपदेश दिया गया है। विपाक सूत्र मे पाप और पुण्य के कथानको के द्वारा शुभाशुभ कर्मो के फल का निरूपण किया है। उक्त आगमो मे प्रसगानुसार वास्तुकला एव ऐतिहासिक विषयो का वर्णन भी मिलता है। और अनेक स्थलो पर उस युग के सास्कृतिक जीवन की झाकी भी देखने को मिलती है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति और सूर्य प्रज्ञप्ति—तत्कालीन भूगोल-खगोल से सम्बद्ध है। उत्तराध्ययन और प्रकीर्णक आदि आगम उपदेश प्रधान है।

सूत्रकृताग, स्थानाग, प्रज्ञापना, समवायाग, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, भगवती, नन्दी और अनुयोगद्वार आदि आगम दार्शनिक विषयो से सम्बन्धित है।

सूत्रकृताग मे भगवान् महावीर के समय मे प्रचलित मत-मतान्तरो के सिद्धान्तो का निराकरण करके स्वमत की प्ररूपणा की गई है। इसमे भूतवादियो के मत का खण्डन करके पञ्चभूतो से अलग आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया है। अद्वैतवाद की एक आत्मा की मान्यता के स्थान मे अनेक आत्माओ के अस्तित्व को माना है। ससार की उत्पत्ति के विषय मे ईश्वर-कृतित्व का निराकरण करके उसे अनादि-अनन्त माना है।

स्थानाग-समवायाग मे पदार्थो की गणना की शैली मे आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, कर्म, नय-प्रमाण आदि विषयो का उल्लेख किया है। प्रज्ञापना मे जीव के विभिन्न भावो का विस्तार से वर्णन है। जीवाभिगम मे जीव-अजीव से सम्बन्धित विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। राज प्रश्नीय मे भगवान पार्श्वनाथ की परपरा के केशीश्रमण के द्वारा विभिन्न तर्को से समझाकर श्रावस्ती के नास्तिक राजा प्रदेशी को आस्तिक बनाने का उल्लेख है। इसमे आत्मा भौतिक तत्वो से सर्वथा भिन्न है, यह स्पष्ट किया है।

भगवती सूत्र प्रश्नोत्तर की शैली मे है। इसके अनेक प्रश्नो मे नय, प्रमाण, जीव, अजीव, लोक, आदि अनेक दार्शनिक प्रश्न बिखरे पडे है। इसके अतिरिक्त इसमे सास्कृतिक एव ऐतिहासिक वर्णन भी उपलब्ध होता है।

अनुयोगद्वार सूत्र मे मुख्य रूप से आगमो का शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का उल्लेख है। परन्तु प्रसगानुसार नय, प्रमाण एव तत्वो का भी सुन्दर ढग से निरूपण किया गया है।

व्याख्या-साहित्य : एक परिशीलन

●

विजय मुनि शास्त्री. साहित्यरत्न

भारत की सांस्कृतिक त्रिपथगा : वैदिक, जैन और बौद्ध

वेद, जिन और बुद्ध—भारत की परम्परा तथा भारत की सस्कृति के मूल-स्रोत है। हिन्दू धर्म के विश्वास के अनुसार वेद "ईश्वर की वाणी" है। वेदो का उपदेष्टा, कोई व्यक्ति विशेष नही था, स्वय ईश्वर ने उनका उपदेशन किया था। अथवा वेद ऋषियो की वाणी है, ऋषियो के उपदेशो का सग्रह है। मूल मे वेद तीन थे। अत वेदत्रयी उसको कहा गया। आगे चल कर अथर्ववेद को मिला कर चार वेद हो गए। अथर्व भी स्वतन्त्र वेद है। वेद की विशेष व्याख्या, ब्राह्मण ग्रन्थ और आरण्यक ग्रन्थ है। यहाँ तक कर्म-काण्ड मुख्य है। उपनिषदो मे ज्ञान-काण्ड की ही प्रधानता है। उपनिषद् वेदो का अन्तिम भाग होने से वेदान्त कहा जाता है। वेदो को प्रमाण मान कर स्मृति-शास्त्र तथा सूत्र-साहित्य की रचना की गई। मूल मे इनके वेद होने से ही ये प्रमाणित हैं। वैदिक परम्परा का जितना भी साहित्य विस्तार है, वह सब वेद मूलक है। वेद और उसका परिवार, सस्कृत भाषा मे है। अत वैदिक सस्कृति के विचारो की अभिव्यक्ति सस्कृत भापा के माध्यम से ही हुई।

बुद्ध की वाणी : त्रिपिटक

बुद्ध ने अपने जीवन-काल मे अपने भक्तो को जो उपदेश दिया था—त्रिपिटक उसी का सकलन है। बुद्ध की वाणी को त्रिपिटक कहा जाता है। बौद्ध परम्परा के समग्र विचार और समस्त विश्वासो का मूल त्रिपिटक है। पिटक तीन है—सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक। पिटक मे बुद्ध के उपदेश है।

विनय पिटक मे आचार है और अभिधम्म पिटक मे तत्व-विवेचन है। बौद्ध परम्परा का साहित्य भी विशाल है, परन्तु पिटको मे बौद्ध सस्कृति के विचारो का सारा सार आ जाता है। अत बौद्ध विचारो का एव विश्वासो का मूल केन्द्र–त्रिपिटक हैं। बुद्ध ने अपना उपदेश भगवान महावीर की तरह, उस युग की जन-भाषा मे दिया था। बुद्धिवादी वर्ग की उस युग मे, यह एक बहुत बडी क्रान्ति थी। बुद्ध ने जिस भाषा मे उपदेश दिया, उसको पाली कहते है। अत' त्रिपिटको की भाषा, पालि भाषा है।

महावीर की वाणी : आगम

जिन की वाणी मे, जिन के उपदेश मे, जिसको विश्वास है, वह जैन है। राग और द्वेष के विजेता को जिन कहते है। भगवान् महावीर ने राग और द्वेष पर विजय प्राप्त की थी, अत वे जिन थे, तीर्थङ्कर भी थे। तीर्थङ्कर की वाणी को जैन परम्परा मे आगम कहते है। भगवान् महावीर के समग्र विचार और समस्त विश्वास तथा सम्पूर्ण आचारो का सग्रह जिसमे हो, उसको "द्वादशाग वाणी" कहते है। भगवान् ने अपना उपदेश उस युग की जन-भाषा मे, जन-बोली मे दिया था। जिस भाषा मे महावीर ने अपने विश्वास, अपने विचार और अपने आचार पर प्रकाश डाला, उस भाषा को हम अर्ध-मागधी कहते है। अर्ध-मागधी को देव-वाणी भी कहते है। जैन-सस्कृति तथा जैन-परम्परा के मूल विचारो का और आचारो का मूल-स्रोत आगम-वाड्मय है। जैन परम्परा का साहित्य बहुत विशाल है। प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश, गुजराती, हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे भी विराट् साहित्य लिखा गया है। परन्तु यहाँ प्रस्तुत मे अन्य साहित्य चर्चा न करके केवल आगम-साहित्य की ही विचारणा की जाएगी।

आगम-युग

वर्तमान युग के महामनीषी पण्डित सुखलालजी ने सम्पूर्ण जैन-साहित्य को पाँच कालो मे, किवा पाच युगो मे विभाजित किया है। जैसे कि—आगम युग, अनेकान्त स्थापन युग, प्रमाणशास्त्र व्यवस्था युग, नव्य न्याय युग एव आधुनिक युग–सम्पादन एव अनुसन्धान युग। उक्त विभाजन इतनी दीर्घ दृष्टि से किया है, कि जैन वाड्मय का सम्पूर्ण रूप इसमे गर्भित हो जाता है। पण्डित महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य, पण्डित दलसुख मालवणिया जी और प्रोफेसर मोहनलाल मेहता ने भी अपने ग्रन्थो मे इस विभाजन को अपनाया है। अन्य विषयो की विचारणा प्रस्तुत न होने से, और आगम की विचारणा प्रस्तुत होने से, हम यहाँ पर मूल आगम और उसके परिवार के सम्बन्ध मे सक्षेप मे विचार करेंगे।

आगम युग का काल-मान, भगवान् महावीर के निर्वाण अर्थात् विक्रम पूर्व ४७० से आरम्भ होकर प्राय एक हजार वर्ष तक जाता है। वैसे, किसी न किसी रूप मे, आगम युग की परम्परा वर्तमान युग मे भी चली आ रही है।

आगम प्रणेता कौन ?

जैन परम्परा के अनुसार आगमो के प्रणेता अर्थ रूप मे तीर्थकर और शब्द रूप मे गणधर कहे जाते है। भगवान् महावीर की वाणी का सार, गणधरो ने शब्द-बद्ध किया। स्वय भगवान् ने कुछ भी

नही लिखा। अत अर्थ, भगवान् का और सूत्र, गणधर का। उक्त कथन का फलितार्थ यह हुआ, कि अर्थागम के प्रणेता तीर्थंकर होते है, और शब्दागम के प्रणेता गणधर। परन्तु आगमो का प्रामाण्य, गणधर कृत होने से नही है, अपितु तीर्थङ्कर की वाणी होने से है। गणधरो के सिवा स्थविर भी आगम रचना करते है। गणधर कृत आगमो मे और स्थविर कृत आगमो मे, एक बहुत बडा अन्तर यह रह जाता है, कि गणधर कृत आगम अङ्ग प्रविष्ट कहे जाते है, और स्थविर कृत अनग प्रविष्ट अर्थात् अङ्ग बाह्य कहे जाते है। तीर्थङ्कर के मुख्य शिष्य गणधर होते है, और अन्य श्रमण जो या तो चतुर्दश पूर्वी है, अथवा दशपूर्वधर है—स्थविर होते है। परन्तु गणधर कृत और स्थविर कृत आगमो का आधार तीर्थङ्कर वाणी ही होती है, इसी आधार पर उनकी रचना प्रमाण भूत होती है। गणधर कृत आगम तो प्रमाणित होते ही है, परन्तु स्थविर कृत आगम भी इस आधार पर मान लिए गए है, कि चतुर्दश पूर्वी और दश-पूर्वधर नियमत सम्यग्दृष्टि होते है। अत उनके ग्रन्थ भी मूल आगमो के अविरुद्ध ही होते है। उक्त तर्क पर ही गणधर कृत और स्थविर कृत आगमो का प्रामाण्य, जैन परम्परा को स्वीकृत है। इस दृष्टिकोण से आगम प्रणेता तीन है–तीर्थङ्कर, गणधर एव स्थविर अर्थात् चतुर्दश पूर्वी और दश-पूर्वधर। शेप आचार्यो की कृतियो के सम्बन्ध मे यह विचार है, कि जो बात वीतराग वाणी के अनुकूल है, वह प्रमाणित और शेप सब अप्रमाणितहै।

वाचना-त्रयी

पहली वाचना—वर्तमान मे उपलब्ध आगम वाङ्मय, अपने प्रस्तुत रूप मे देवर्धि गणि क्षमाश्रमण के युग मे लिखित हुए है। महावीर निर्वाण के बाद मे, एक लम्बे दुर्भिक्ष के कारण समग्र श्रमण-सघ इधर-उधर बिखर गया था। स्थिति सुधरने पर पाटलीपुत्र मे, आचार्य भद्रबाहु की अध्यक्षता मे श्रमण-सघ एकत्रित हुआ और समस्त श्रमणो ने मिल कर एकादश अङ्गो को व्यवस्थित किया। परन्तु बारहवाँ अङ्ग दृष्टिवाद का विलोप अथवा विस्मरण हो चुका था।

दूसरी वाचना—मथुरा मे, आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता मे की गई। जो श्रमण वहाँ एकत्रित हुए थे, उन्होने एक-दूसरे से पूछ कर, जो स्मृति मे रह सका, उसके आधार पर श्रुत को सकलित करके व्यवस्थित किया गया। जैन अनुश्रुति के अनुसार लगभग इसी समय वल्लभी मे भी नागार्जुन सूरि ने श्रमण-सघ को एकत्रित करके श्रुत-साहित्य को व्यवस्थित करने का सत्प्रयत्न किया था।

तीसरी वाचना—वल्लभीनगर मे देवर्धि गणि क्षमा-श्रमण की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुई। काल-दोप से और परिस्थिति-वश, विस्मृत श्रुत-साहित्य को फिर से सगृहीत एव सकलित करने का श्रमणो ने प्रयत्न किया। वर्तमान मे आगमो का जो प्रारूप है, वह इसी तीसरी वाचना का अमृत-फल है। देवर्धिगणि ने उक्त सकलित श्रुत साहित्य को लिपिबद्ध भी करा लिया था। अत उनका प्रयत्न, पूर्व प्रयत्नो की अपेक्षा अधिक स्थायी रह सका, और आज भी वह उपलब्ध हो रहा है—वर्तमान प्रस्तुत आगमो के रूप मे।

वर्तमान काल में

धर्म, दर्शन, सस्कृति और आगमो की दशा देख कर, यह विचार पैदा होता है, कि क्या आज के सभी श्वेताम्बर सम्प्रदाय-मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापन्थी—मिलकर, उपलब्ध आगमो का सुन्दर सम्पादन करने के लिए एकत्रित होकर विचार नही कर सकते ?

आगमो की भाषा

आगमो की भाषा, अर्ध-मागधी है। जैन अनुश्रुति के अनुसार तीर्थङ्कर अर्ध-मागधी मे उपदेश करते हैं। इसको देव-वाणी कहा गया है। अर्ध-मागधी को बोलने वाला भाषार्य कहा जाता है। यह भाषा मगध के एक भाग मे बोली जाती है, इसलिए इसको अर्ध-मागधी कहते हैं। इसमे अठारह देशी भाषाओ के लक्षण मिश्रित है। भगवान् महावीर के शिष्य—मगध, मिथिला, काशी, कौशल आदि अनेक देशो के थे। आगमो की भाषा मे देश्य शब्दो की प्रचुरता है। जिनदासमहत्तर की व्याख्या के अनुसार मागधी और देश्य शब्दो का मिश्रण अर्ध-मागधी है। कुछ विद्वान इसको प्राकृत भाषा भी कहते हैं।

विषय-प्रतिपादन

आगमो मे धर्म, दर्शन, सस्कृति, तत्व, गणित, ज्योतिष, खगोल, भूगोल, इतिहास—सभी प्रकार के विषय यथाप्रसङ्ग आ जाते है। दश वैकालिक और आचाराग मे मुख्य रूप से साधु के आचार का वर्णन है, सूत्रकृताग मे दार्शनिक विचारो का गहरा मन्थन है। स्थानाग और समवायाग मे आत्मा, कर्म, इन्द्रिय, शरीर, भूगोल, खगोल, प्रमाण, नय और निक्षेप आदि का वर्णन है। भगवती मे गौतम गणधर और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर हैं। ज्ञाता मे विविध विषयो पर रूपक और दृष्टान्त है। उपासक दशा मे दश श्रावको के जीवन का सुन्दर वर्णन है। अन्तकृत् और अनुत्तरोपपातिक मे साधको के त्याग एव तप का बडा सजीव चित्रण है। प्रश्न व्याकरण मे पाँच आस्रव और पाँच सवर का सुन्दर वर्णन किया है। विपाक मे कथाओ द्वारा पुण्य और पाप का फल बताया गया है। उत्तराध्ययन मे अध्यात्म उपदेश दिया गया है। नन्दी मे पाँच ज्ञान का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। अनुयोगद्वार मे नय एव प्रमाण का वर्णन है। छेद सूत्रो मे उत्सर्ग-अपवाद का वर्णन है। राज-प्रश्नीय मे राजा प्रदेशी और केशीकुमार श्रमण का अध्यात्म-सम्वाद सजीव एव मधुर है। प्रज्ञापना मे तत्व-चिन्तन गम्भीर, पर बहुत ही व्यवस्थित है। आगमो मे सर्वत्र जीवन-स्पर्शी विचारो का प्रवाह परिलक्षित होता है।

आगम-प्रामाण्य के विषय में मतभेद

आगम-प्रामाण्य के विषय मे एक मत नही है। श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा ११ अङ्ग, १२ उपाग, ४ मूल, २ चूलिका सूत्र, ६ छेद, १० प्रकीर्णक—इसी प्रकार ४५ आगमो को प्रमाण मानती

है। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका–इन सबको भी प्रमाण मानती है, और आगम के समान ही इनमे भी श्रद्धा रखती है।

श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा और श्वेताम्बर तेरापन्थी परम्परा केवल ११ अङ्ग, १२ उपाग, ४ मूल, ४ छेद, १ आवश्यक—इस प्रकार ३२ आगमो को प्रमाण-भूत स्वीकार करती है, शेष आगमो को नही। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओ को भी सर्वाशत प्रमाण-भूत स्वीकार नही करती।

दिगम्बर परम्परा उक्त समस्त आगमो को अमान्य घोषित करती है। उसकी मान्यता के अनुसार सभी आगम लुप्त हो चुके है। अत वह ४५ या ३२ तथा निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका–किसी को भी प्रमाण नही मानती।

दिगम्बर आगम

दिगम्बर परम्परा का विश्वास है, कि वीर निर्वाण के बाद श्रुत का क्रमश ह्रास होता गया। यहाँ तक ह्रास हुआ कि वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष के बाद कोई भी अगधर अथवा पूर्वधर नही रहा। अग और पूर्व के अशधर कुछ आचार्य अवश्य हुए है। अश और पूर्व के अग ज्ञाता आचार्यों की परम्परा मे होने वाले पुष्पदन्त और भूतिबलि आचार्यों ने पट् खण्डागम की रचना द्वितीय अग्राह्यणीय पूर्व के अंश के आधार पर की और आचार्य गुणधर ने पाचवे पूर्व ज्ञान-प्रवाद के अश के आधार पर कषाय पाहुड की रचना की। भूतबलि आचार्य ने महाबन्ध की रचना की। उक्त आगमो का विषय मुख्य रूप मे जीव और कर्म है। बाद मे उक्त ग्रन्थो पर आचार्य वीर सेन ने धवला और जय धवला टीकाएँ की। ये टीकाएँ भी उक्त परम्परा को मान्य हैं। दिगम्बर परम्परा का सम्पूर्ण साहित्य आचार्य द्वारा रचित है।

आचार्य कुन्द-कुन्द के प्रणीत ग्रन्थ–समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि भी आगमवत् मान्य है–दिगम्बर परम्परा मे। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के ग्रन्थ—गोमटसार, लब्धि-सार और द्रव्य-सग्रह आदि भी उतने ही प्रमाण-भूत तथा मान्य है। आचार्य कुन्द-कुन्द के ग्रन्थो पर आचार्य अमृतचन्द्र ने अत्यन्त प्रौढ एव गम्भीर टीकाएँ की है। इस प्रकार दिगम्बर साहित्य भले ही बहुत प्राचीन न हो, फिर भी वह परिमाण मे विशाल है, और उर्वर एव सुन्दर है।

आगम-साहित्य की परिचय-रेखा

आगम-साहित्य विपुल, विशाल और विराट् है, उसका पूर्ण परिचय एक लेख मे नही दिया जा सकता। प्रस्तुत लेख मे, आगम और उसके परिवार की केवल परिचय रेखा ही दी गई है। यदि आगम के एक-एक अग का पूर्ण परिचय दिया जाए, तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही रचना हो जाए। आवश्यकता तो इस बात की है, कि आगम, निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि, टीका, टब्बा और अनुवाद—सभी पर एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की जाए, जिससे आगम साहित्य का सर्वाङ्गीण परिचय जन-चेतना के सम्मुख प्रस्तुत किया जा

सके। फिर आज तो मूल आगमो के अनुसधान की बहुत बडी आवश्यकता है। मूल आगमो मे जो विभिन्न विषय आए है, उन पर भी तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार होना चाहिए। आगमो मे तथा उसके परिवार मे धर्म, दर्शन और सस्कृति के मूल तत्व भरे पडे है। अभी तक आगमो का अध्ययन-अध्यापन केवल धार्मिक दृष्टि से ही होता रहा है, परन्तु अब समय आ गया है, कि उसका अध्ययन, मनन और मन्थन-सस्कृति, समाज और इतिहास की दृष्टि से भी हो। हर्ष है, कि कुछ विद्वानो का ध्यान इस विषय पर गया है, और कुछ ने तो उस प्रकार के अध्ययन ग्रन्थ के रूप मे प्रस्तुत भी किए है। किन्तु इस दृष्टिकोण का व्यापक प्रचार और प्रसार होना चाहिए। मूल आगमो के विभिन्न विषयो पर विभिन्न दृष्टि-कोण से लिखने का यह युग है। केवल सस्कृत और प्राकृत टीकाओ से आज का जन-मानस सन्तुष्ट नही हो सकता।

निर्युक्ति-परिचय

यह आगमो पर सब से पहली और सब से प्राचीन व्याख्या मानी जाती है। निर्युक्ति प्राकृत-भाषा मे और पद्यमयी रचना है। सूत्र मे कथित अर्थ जिस मे उपनिबद्ध हो, उसे निर्युक्ति कहा गया है—"णिज्जुता ते अत्था, ज बद्धा तेण होइ णिज्जुती।" आचार्य हरिभद्र ने निर्युक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है—"निर्युक्तानामेव सूत्रार्थाना युक्ति—परिपाटया योजनम्।" 'निर्युक्ति' शब्द की प्राकृत और सस्कृत दोनो परिभाषाओ से यही फलितार्थ होता है, कि सूत्र मे कथित एव निश्चित अर्थ को स्पष्ट करना, निर्युक्ति है। दूसरे शब्दो मे "निर्युक्ति प्राकृत-गाथाओ मे आगमो पर लिखा सक्षिप्त विवरण है।" आगे चलकर निर्युक्ति पर भाष्य और टीका लिखी गई।

निर्युक्ति की उपयोगिता यह है, कि सक्षिप्त और पद्यबद्ध होने के कारण यह साहित्य सुगमता के साथ मे कण्ठस्थ किया जा सकता था। निर्युक्ति की भाषा प्राकृत और रचना छन्द मे होने से इसमे सहज ही सरसता और मधुरता की अभिव्यक्ति होती है।

निर्युक्ति के प्रणेता आचार्य भद्र बाहु माने जाते है। कौन-से भद्रबाहु ? प्रथम अथवा द्वितीय। इस विषय मे सभी विद्वान एकमत नही है। परन्तु कुछ इतिहास-विदो का अभिमत है, कि निर्युक्ति रचना का प्रारम्भ तो प्रथम भद्रबाहु से ही हो जाता है। निर्युक्तियो का समय सवत् ४०० से ६०० तक माना गया है। किन्तु ठीक-ठीक काल निर्णय अभी तक नही हो पाया है। काल निर्णय करना, यहाँ अभीष्ट नही है।

आगमो के निगूढ-भावो को स्पष्ट करना ही एक मात्र निर्युक्तिकार का लक्ष्य होते हुए भी प्रसंग-वश इनमे धर्म, दर्शन, सस्कृति, समाज, इतिहास और विविध विषयो पर बडा सुन्दर विवेचन उपलब्ध हो जाता है। कुछ प्रसिद्ध निर्युक्तियाँ ये है—

१ आवश्यक
२ दशवैकालिक
३ उत्तराध्ययन
४ आचाराग
५ सूत्रकृताग
६ दशाश्रुत स्कन्ध
७ बृहत्कल्प
८ व्यवहार
९ ओघ
१० पिण्ड
११. ऋषि-भाषित

इनके अतिरिक्त निशीथ निर्युक्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति, ससक्त निर्युक्ति, गोविन्द निर्युक्ति और आराधना निर्युक्ति भी प्रसिद्ध है। निर्युक्तियो का अनुसन्धान अभी नही हो पाया है। अत निर्युक्तियो की सख्या का निर्धारण नही किया जा सकता। यहाँ पर उपलब्ध निर्युक्तियो का सक्षिप्त परिचय देना ही अभीष्ट है।

आवश्यक-निर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु की यह सर्व प्रथम कृति है। विपय-बहुलता की दृष्टि से और विपुल परिमाणता की दृष्टि से यह बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसकी उपयोगिता और लोकप्रियता का सबसे प्रबल प्रमाण यही है, कि इस पर अनेक आचार्यो ने सक्षिप्त और विस्तृत टीकाएँ लिखी है। टीकाकारो मे—जिनभद्र, जिनदास गणि, हरिभद्र, कोटयाचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र और माणिक्य शेखर जैसे समर्थ विद्वान है। आवश्यक निर्युक्ति पर आचार्य जिनभद्र-कृत विशेषावश्यक-भाष्य एक विशालकाय ग्रन्थराज है। प्रत्येक विषय को स्पष्ट और विस्तार से समझाने का सफल प्रयास है। सस्कृत टीकाकारो मे आचार्य मलयगिरि ने प्राञ्जल भाषा मे विशद व्याख्या की है।

इसमे ज्ञानवाद, गणधरवाद और निन्हववाद का सक्षेप मे कथन है। सामायिक के स्वरूप का वर्णन गम्भीर होते हुए भी रुचिकर है। शिल्प, लेखन और गणित आदि कलाओ का उल्लेख ऋषभ जीवन के प्रसग मे हुआ है। व्यवहार, नीति और युद्ध का वर्णन भी आया है। चिकित्सा, अर्थशास्त्र और उत्सवो का वर्णन भी यथा प्रसग आया है। उस युग के प्रसिद्ध नगर अयोध्या, हस्तिनापुर, श्रावस्ती

राजगृह, मिथिला, द्वारवती और कोल्लाक ग्राम आदि का उल्लेख है। विवाह, मृतक पूजन, दत्ति और स्तूप आदि सामाजिक परम्पराओं का वर्णन मिलता है। वन्दन, ध्यान, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग आदि की निक्षेप पद्धति से व्याख्या की गई है।

वर्णन में कहीं-कहीं पर यथा प्रसग सुन्दर सूक्तियाँ सहज ही प्रकट हो जाती है। जैसे—

"जहा खरो चवण-भार-वाही,
भारस्स भागी न हु चदणस्स।"

गर्दभ कभी भी चदन के महत्व का अकन नहीं कर सकता। वह केवल उसके भार का ही अनुभव कर पाता है।

"हय नाण किया-हीण।"

क्रिया-रहित ज्ञान व्यर्थ है। ज्ञान की सफलता तभी है, जब वह आचार में उतरे।

"न हु एग-चक्केण रहो पयाइ।"

एक पहिये से रथ कभी नहीं चलता। रथ की गति के लिए दोनो चक्र स्वस्थ और सशक्त होने चाहिए।

इसमें धर्म, दर्शन, तत्त्व और सस्कृति के उपकरण बिखरे पडे है।

दशवैकालिक-निर्युक्ति

इसमें साधु के आचार का वर्णन किया गया है। अहिंसा, सयम और तप का सुन्दर वर्णन है। श्रमण की विहगम से तुलना की है। यथा प्रसग धान्य, रत्न और अनेक विध पशुओं का वर्णन किया है। भोग और काम से दूर रहने का हृदय-स्पर्शी उपदेश दिया है। दो प्रकार के कामो का कथन है— सप्राप्त और असप्राप्त।

इस पर भी अनेक टीकाएँ और चूर्णि लिखी गई है। जिनदास महत्तर की चूर्णि प्रसिद्ध है। इसमें बताया गया है, कि साधक को साधना के मार्ग पर किस प्रकार स्थिर रहना चाहिए। पतन से कैसे बचना चाहिए। कथा के चार भेदो का—आक्षेपणी, विक्षेपनी, सवेगनी और निर्वेदनी का सुन्दर वर्णन है। यथाप्रसग सुभाषित वचन भी आते रहते है।

उत्तराध्ययन-निर्युक्ति

इसमें उत्तर और अध्ययन शब्दो की व्याख्या की है। श्रुत और स्कन्ध को समझाया गया है। गलि और आकीर्ण का दृष्टान्त देकर शिष्यो की दशा का वर्णन किया है। कपिल और नमि का उल्लेख

है। इसमे शिक्षाप्रद कथानको की बहुलता है। मरण की व्याख्या के प्रसग पर सतरह प्रकार के मरण का उल्लेख किया गया है। इस निर्युक्ति मे गन्धार श्रावक, तोसलि पुत्र, स्थूलभद्र, कालक, स्कन्दक पुत्र और करकण्डू आदि का जीवन सकेत है। निन्हवो का वर्णन है। राजगृह के वैभार आदि पर्वतो का उल्लेख है। सूक्ति-वचनो की मधुरिमा पाठक के मन को उल्लसित कर देती है। एक नारी अपनी सखी से अपने पति के आलस्य के सम्बन्ध मे क्या कहती है—

"अइरुग्गयए य सूरिए,
चेइयथूभगए य वायसे।
भित्ती-गयए व आयवे;
सहि! सुहिओ हु जणो न बुज्झइ।"

सूर्य का उदय हो चुका है। चैत्य स्तम्भ पर बैठ-बैठ कर काक बोल रहे हैं। सूर्य का प्रकाश ऊपर दीवारो पर चढ गया है, किन्तु फिर भी हे सखि! यह अभी सो ही रहे है। इस प्रकार के अन्य भी बहुत से प्रसग इस उत्तराध्ययन निर्युक्ति मे आते है।

आचाराग-निर्युक्ति

इसमे विविध विषयो का वर्णन उपलब्ध होता है। आचार क्या है? इस पर गम्भीरता से विचार किया गया है। प्रारम्भ मे आचाराग प्रथम अग क्यो है? और इसका परिमाण क्या है? इस पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य जाति के वर्ण और वर्णान्तरो का वर्णन किया गया है। लोक, विजय, कर्म, सम्यक्त्व, विमोक्ष, श्रुत, उपधान और परिज्ञा आदि शब्दो की सुन्दर व्याख्या की है।

आचाराग-सूत्र के मूल पर और इसकी निर्युक्ति पर आचार्य शीलाक ने बडे विस्तार के साथ मे बहुत ही गम्भीर टीका की है। आचाराग को समझने के लिए शीलाक की टीका का अध्ययन करना ही पडेगा। शीलाक के पाण्डित्य की कदम-कदम पर अभिव्यक्ति होती है। इसमे आचाराग को प्रवचन का सार बताया गया है। देखिए—

"अगाण किं सारो? आयारो।"

अर्थात् आचाराग समस्त अगो का सार है।

सूत्रकृतांग-निर्युक्ति

प्रारम्भ मे "सूत्रकृताग" शब्द की व्याख्या की है। प्रसगवश गाथा, षोडश, विभक्ति, समाधि, आहार और प्रत्याख्यान आदि शब्दो की व्याख्या भी दी है। सब पर निक्षेप घटाने का सफल प्रयत्न है। इसमे ३६३ मतो का भी उल्लेख है। मुख्य रूप मे चार भेद है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और वैनयिक। निर्युक्ति मे जो विषय सक्षिप्त है, टीका मे उसका विस्तार कर दिया गया है।

आचाराग के समान सूत्रकृताग सूत्र की निर्युक्ति और मूल दोनो पर ही आचार्य शीलाक की विस्तृत एव गम्भीर टीका है। दार्शनिक मान्यताओ का खण्डन और मण्डन बडे विस्तार से किया गया है।

दशाश्रुत स्कन्ध-निर्युक्ति

इसके प्रारम्भ मे चरम सकल श्रुतज्ञानी भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है। समाधि, आशातना और शवल शब्द की सुन्दर व्याख्या की है। गणी और उसकी सम्पदाओ का विस्तृत वर्णन है। चित्र, उपासक, प्रतिमा और पर्युषण आदि का निक्षेप-पद्धति के साथ विवेचन किया गया है। इसमे पर्युषण के पर्याय-वाची शब्द इस प्रकार है—पर्युषण, पर्युषणमना, परिवसना, वर्षावास, स्थापना और ज्येष्ठग्रह आदि। अज्ज मगू का भी इसमे उल्लेख है। यह निर्युक्ति बहुत महत्वपूर्ण है।

बृहत्कल्प-निर्युक्ति

यह निर्युक्ति स्वतन्त्र न रहकर बृहत्कल्प भाष्य मे मिश्रित हो चुकी है। दोनो की गाथओ मे भेद करना कठिन हो गया है। इसमे ताल और प्रलम्ब का विस्तृत वर्णन है। ग्राम क्या है ? नगर क्या है ? पत्तन क्या है ? द्रोणमुख क्या है ? निगम क्या है ? और राजधानी क्या है ? आदि का रोचक वर्णन है। उपाश्रय और उपाधि की व्याख्या की है। कल्प और अधिकरण का सुन्दर विवेचन है। यथाप्रसग लोक-कथाओ का उल्लेख है।

साधु और साध्वी के आचार का, आहार का और विहार का वर्णन सक्षेप मे होते हुए भी बहुत सुन्दर है। इस निर्युक्ति को समझने के लिए इसके भाष्य और भाष्य की सस्कृत टीका का सहारा लेना पडता है।

व्यवहार-निर्युक्ति

यह निर्युक्ति भी अपने भाष्य मे विलीन हो चुकी है। इसमे साधु-जीवन से सबद्ध अनेक महत्वपूर्ण बातो का सक्षेप मे वर्णन है। कल्प और व्यवहार की निर्युक्ति, परस्पर शैली, भाव और भाषा मे बहुत कुछ मिलती-जुलती-सी है। साधना के तथ्य सिद्धान्तो का दोनो मे प्राय समान वर्णन है।

निशीथ-निर्युक्ति

निशीथ-सूत्र की सब से पहले निर्युक्ति व्याख्या बनी। सूत्र-गत शब्दो की व्याख्या निक्षेप पद्धति से की है। बृहत्कल्प और व्यवहार निर्युक्ति के समान निशीथ निर्युक्ति भी अपने भाष्य मे मिल गई है। चूर्णिकार जहाँ सकेत कर देते है, वही पर पता लगता है, कि यह निर्युक्ति गाथा है और यह भाष्य गाथा है। निर्युक्ति और भाष्य दोनो मिलकर एक ग्रन्थ बन गया है। उसकी सत्ता अलग नही रही। कहने को उसे आज भी हम अलग कहते है।

निशीथ निर्युक्ति आचार्य भद्रबाहु-कृत है, इसका स्पष्ट उल्लेख चूर्णिकार ने स्वय इस प्रकार किया है—"आचार्य भद्रबाहु स्वामी निर्युक्ति-गाथा माह ।"

निशीथ सूत्र मूल, उसकी निर्युक्ति उसका भाष्य और उसकी चूर्णि—इन चारो का प्रकाशन सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से हो चुका है। इसका सम्पादन उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज ने बडे श्रम के साथ किया है। चार भागो मे प्रकाशन हुआ है।

निशीथ, कल्प और व्यवहार—तीनो निर्युक्तिया अपने-अपने भाष्यो मे विलीन हो जाने से स्वतन्त्र न रह सकी। फिर भी बीच-बीच मे चूर्णिकार और टीकाकार कही-कही पर सकेत कर देते है। जैसे—"एसा चिरतण-गाहा।"

उक्त तीनो निर्युक्तियो का विषय प्राय समान है। अधिकतर साधु के आचार का वर्णन है। यथाप्रसग अन्य बहुत-से विषय आ जाते है।

पिण्ड-निर्युक्ति

पिण्ड का अर्थ है—भोजन। इसमे आहार के उद्गम, उत्पादन, एषणा आदि दोषो का विस्तृत वर्णन है। यह आचार्य भद्रबाहु की कृति है। इसमे साधु-जीवन की आहार-विधि का वर्णन है। इसकी गणना मूल सूत्रो में की है।

इसमे आठ अधिकार है—उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजना, प्रमाण, अगार, धूम और कारण। इस पर सस्कृत मे आचार्य मलयगिरि ने बृहद् वृत्ति लिखी और आचार्य वीर ने लघुवृत्ति लिखी।

ओघ-निर्युक्ति

ओघ का अर्थ है—सामान्य, साधारण। साधु-जीवन की सामान्य समाचारी का इसमे वर्णन किया गया है। इसके प्रणेता आचार्य भद्रबाहु है। आवश्यक निर्युक्ति का ही यह एक अग है। ओघ निर्युक्ति की गणना मूल सूत्रो मे की गई है। आचार्य द्रोण और आचार्य मलयगिरि ने इस पर सस्कृत टीका लिखी है। इसमे प्रतिलेखन, उपधि, प्रतिसेवना आलोचना और विशुद्धि आदि विषयो पर लिखा गया है।

ससक्त-निर्युक्ति

यह निर्युक्ति किस आगम पर लिखी गई ? इसका उल्लेख नही मिलता। वैसे चौरासी आगमो मे उसका उल्लेख है। कहा जाता है, कि यह भी आचार्य भद्रबाहु की एक लघु रचना थी।

गोविन्द-निर्युक्ति

इस निर्युक्ति को दर्शन-प्रभावक शास्त्र कहा जाता है। इससे प्रतीत होता है, कि इसमे दर्शन-शास्त्र के तथ्यो का वर्णन होगा। एकेन्द्रिय जीवो की सिद्धि करने के लिए आचार्य गोविन्द ने इसकी रचना की। बृहत्कल्प भाष्य मे, आवश्यक चूर्णि मे और निशीथ चूर्णि मे इसका उल्लेख है। यह किसी आगम पर न होकर स्वतन्त्र थी। पर आज यह उपलब्ध नही है।

आराधना-निर्युक्ति

आराधना निर्युक्ति अभी उपलब्ध नही है। चौरासी आगमो मे "आराधना पताका" एक आगम था। सम्भवत उसी पर यह निर्युक्ति हो? इस विषय मे अनुसन्धान की आवश्यकता है। वट्टकेर ने अपने मूलाचार मे इसका उल्लेख किया है।

ऋषि-भाषित-निर्युक्ति

चौरासी आगमो मे ऋषि-भाषित भी एक आगम है। प्रत्येक बुद्धो द्वारा भाषित होने से इसे ऋषि-भाषित कहा जाता है। इसके चव्वालीस अध्ययनो मे प्रत्येक बुद्धो के जीवन दिए गए हैं।

इस पर आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी थी, जो आज उपलब्ध नही है।

सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु ने सूर्यप्रज्ञप्ति पर भी निर्युक्ति की रचना की थी। परन्तु वह आज अनुपलब्ध है। आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका मे इसका उल्लेख किया है। परम्परा मे कहा जाता है, कि इसमे ज्योतिष-शास्त्र के तथ्यो का बहुत सुन्दर वर्णन था। सूर्य की गति आदि का भी वर्णन था।

भाष्य-परिचय

भाष्य भी आगमो की व्याख्या है। परन्तु निर्युक्ति की अपेक्षा भाष्य विस्तार मे होता है। भाष्यो की भाषा प्राकृत होती है, और निर्युक्ति की तरह भाष्य भी पद्य मे होते है। भाष्यकारो मे सघदास गणि और जिनभद्र क्षमाश्रमण विशेष रूप से प्रसिद्ध है। विद्वान इनका समय विक्रम की सातवी शती मानते है।

बृहत्कल्प भाष्य, व्यवहार भाष्य और निशीथ भाष्य—ये तीनो भाष्य बहुत विस्तृत है, इनमे साधु के आचार का मुख्य रूप मे वर्णन होते हुए भी यथाप्रसग इनमे धर्म, दर्शन, सस्कृति और परम्परा के भी मौलिक तत्व बिखरे पडे है। विविध देशो का, विविध भाषाओ का और समुद्र-यात्राओ का बडा ही रोचक वर्णन है।

आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यक भाष्य मे जैन तत्व-ज्ञान को बहुत ही विस्तार के साथ मे प्रस्तुत किया है। यह ज्ञान का एक महासागर है। तत्व ज्ञान के क्षेत्र मे इतना विशाल अन्य कोई ग्रन्थ नही है। मुख्य रूप मे नीचे लिखे भाष्य ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है —

१ बृहत्कल्प
२ व्यवहार
३ निशीथ
४ विशेषावश्यक
५ पञ्चकल्प
६ जीतकल्प
७ लघुभाष्य

बृहत्कल्प-भाष्य

यह भाष्य बडा ही महत्वपूर्ण है। इसमे साधु-जीवन के आचार का विस्तार से वर्णन है। साधु के आहार, और दिन-चर्या का मौलिक रूप मे वर्णन किया है। उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का वर्णन बहुत विस्तृत है।

सम्यक्त्व और पाँच ज्ञान का सक्षिप्त मे उल्लेख है। साध्वियो को दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध है। आचार्य कालक सुवर्ण-भूमि गए थे, इसका उल्लेख है। जिन-कल्प और स्थिर-कल्प मे क्या भेद है? इसका बडे विस्तार से वर्णन किया गया है। सूत्र परिषदा और लौकिक परिषदा का मनोरजक वर्णन है। प्रशस्त भावना क्या है? अप्रशस्त भावना क्या है? उस युग मे लोगो के रहने के घर कैसे होते थे? और वे कैसे बनाए जाते थे। साधु को देशाटन करना चाहिए, और वहाँ की विभिन्न भाषाओ को सीखना चाहिए। रुग्ण साधु की चिकित्सा कैसे करना। विचार-भूमि, विहार-भूमि और आर्य-क्षेत्र की व्याख्या बहुत सुन्दर है।

राग और द्वेष नही करना चाहिए। राग कैसे उत्पन्न होता है, इसका सुन्दर और मनोवैज्ञानिक वर्णन है। कहा गया है कि—

"संदसणेण पीई, पीईउ रईउ वीसंभो ।
वीसंभाओ पणओ, पचविहं वड्ढए पिम्म ॥

परिचय से प्रीति, प्रीति से रति, रति से विश्वास और विश्वास से प्रणय की अभिवृद्धि होती है। रति का अर्थ है—आसक्ति और प्रणय का अर्थ है–राग। अत साधु को कभी किसी के साथ रति और प्रणय नही करना चाहिए। इससे साधु के सयमी जीवन का पतन हो जाता है।

सघ की रक्षा कैसे की जाए? विशेपत तरुणी साध्वियो की रक्षा का प्रश्न बडा ही पेचीदा था। विहार-यात्रा मे आहार-पानी की समस्या विकट बन जाती थी। अत उस युग के आचार्य एक देश से दूसरे देश मे जाने के लिए सार्थवाहो की खोज मे रहते थे। सार्थवाहो का वर्णन बहुत ही रोचक है।

आचार्य अपने शिष्यो को उपदेश दिया करता था, कि स्वाध्याय मे कभी प्रमाद मत करो। प्रमाद से सचित ज्ञानराशि विस्मृत हो जाती है। आचार्य कहता है—

"जागरह नरा! णिच्चं,
जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवति ण सो धण्णो;
जो जग्गति सो सया धण्णो॥"

साधको! सदा सावधान रहो। कभी प्रमाद मत करो। जागरण-शील साधक की बुद्धि सदा विकसित रहती है। जो सोता है, वह अपने ज्ञान-धन को खोता है, और जो जागता है, वह नये ज्ञान को प्राप्त करता है।

इस भाष्य मे पाँच प्रकार के वस्त्रो का वर्णन है—जागमिक, भागिक, सानक, पोतक और तिरीट। भाण्डशालाओ का वर्णन है। उस युग मे खाने-पीने की बहुत-सी वस्तुओ का उल्लेख है।

शील और लज्जा को नारी-जीवन का विशेप भूपण बताया है। नारी का आभूपण वस्तुत शील और लज्जा ही है—

"ण भूसण भूसयते सरीर
सील-हिरी य इत्थिए।
गिरा हि सखार-जुया वि ससती;
अपेसला होइ असाहु-वादिणी॥"

आभूपणो से नारी का शरीर शोभित नही होता, उसका भूपण तो शील और लज्जा ही है। मधुरा गिरा सबको प्रिय लगती है, और कटु वचन सब को पीडा देता है।

उज्जयिनी, राजगृह और तोसली नगर के विशाल बाजारो का वर्णन है, जहाँ पर सब कुछ मिलता, कुछ भी अप्राप्य नही था। अनेक प्रकार के परकोटो का वर्णन भी है। आहार-विधि, पाक-विधि,

अधिकरण, मोक और परिवासित आदि का विस्तार से वर्णन है। कटक, उद्धरण, दुर्ग और क्षिप्तचित्त आदि का विवेचन किया है, मथुरा मे देवनिर्मित स्तूप का वर्णन है, जिसके लिए कभी जैन और बौद्धो मे तीव्र सघर्ष चला था। जीर्ण, खण्डित और अल्पवस्त्र धारण करने वाले निर्ग्रन्थ को भी अचेलक कहा गया है। आठ प्रकार के राज-पिण्ड का वर्णन किया हे।

कभी किसी वस्तु विशेप पर यदि साधुओ मे मतभेद अथवा सघर्प हो जाए, तो क्या करना चाहिए ? कहा गया है कि—

"विणास-धम्मीसु हि किं ममत्त।"

ससार की वस्तुएँ विनाश-शील है। अत उन पर ममता क्यो की जाए ? ऐसा विचार करो।

सबको अपने समान समझो। कभी किसी के साथ बुरा व्यवहार मत करो। कहा है—

"ज इच्छसि अप्पणतो, ज च ण इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि या, एत्तियग जिण-सासणय।"

जैसा व्यवहार तुम दूसरो से चाहते हो, वैसा ही तुम भी दूसरो के साथ करो। भगवान् के उपदेश का सार यही है, और अहिंसा का व्यापक दृष्टिकोण भी यही है।

व्यवहार-भाष्य

परिमाण मे व्यवहार-भाष्य बृहत्कल्प भाष्य से कुछ ही छोटा होगा, अन्यथा बराबर है। व्यवहार भाष्य पर मलयगिरि ने विवरण लिखा है। व्यवहार मे साधु और साध्वियो के आचार, विचार, तप, प्रायश्चित्त और चर्या का वर्णन है। आलोचना का बहुत विस्तार किया गया है। शुद्ध भाव से आलोचना करना साधु-जीवन के लिए प्रधान कर्तव्य माना है। जैसे बालक अपने माता-पिता के सामने अपने अच्छे और बुरे कर्मों को स्पष्ट रूप मे कह देता है, वैसे ही शिष्य को भी अपने आचार्य के समक्ष अपने अपराध को स्पष्ट स्वीकार कर लेना चाहिए, जिससे उस का प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि की जा सके। जीवन की परम-शुद्धि साधक के जीवन को पावन और पवित्र बना देती है।

गण के अथवा गच्छ के सचालन के लिए आचार्य की परम आवश्यकता है। नृत्य के बिना नट का मूल्य नही, नर के बिना नारी का मूल्य नही, धुरी के बिना चक्र का मूल्य नही, वैसे ही आचार्य के बिना गण अथवा गच्छ का मूल्य नही। जैसे बल और वाहन के बिना राजा अपने राज्य की रक्षा नही कर सकता, वैसे ही आचार्य भी अपनी सम्पदाओ से ही अपने गण की रक्षा कर सकता है, अन्यथा नही।

कदम-कदम पर साधुओ को साधना पथ पर अडोल और अकम्प रहने के लिए कहा गया है। तोन प्रकार के हीन-जन होते है—जाति-जुगित, जैसे श्वपच, डोम्ब और किणिक। कर्म-जुगित, जैसे नट व्याध और रजक आदि। शिल्प-जुगित, जैसे पट्टकार और नापित।

इसमे आर्य रक्षित, आर्य कालक, सातवाहन, प्रद्योत और चाणक्य का उल्लेख है। कुशिष्य को महाकल्प श्रुत पढाने का निषेध है। जहाँ कुत्ते अधिक हो, वहाँ साधु को विहार का निषेध है। तप, सत्व, एकत्व, सूत्र और बल—इन पाँच भावनाओ का विवेचन है। मथुरा मे देव-निर्मित स्तूप का वर्णन यहाँ पर भी है। भिन्न-भिन्न देशो की भाषा और भूषा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

प्रतीत होता है, उस युग मे, नारी की स्वतन्त्रता को अच्छा नही समझते थे। व्यवहार भाष्य युग की नारी मे और मनु स्मृति की नारी मे बहुत कुछ समानता है। भाष्य मे नारी के लिए कहा गया है—

जाया पितिव्वसा नारी, दत्ता नारी पतिव्वसा।
विहवा पुत्तवसा नारी, नत्थि नारी सयवसा॥

बचपन मे लडकी पिता की सरक्षा मे रहती है, यौवन मे पति के हाथो मे, और विधवा हो जाने पर पुत्र के अधिकार मे। बेचारी नारी के भाग्य मे तो दासता ही लिख दी गई है। यहाँ भाष्यकार वैदिक सस्कारो से प्रभावित प्रतीत होते है। अथवा उस युग मे यही सामाजिक नियम होगा। भारत मे तो आज भी अधिकतर यही परम्परा चालू है।

भाष्य मे इस बात का भी उल्लेख है, कि राजसभा मे, वाद-विवाद मे पराजित होने पर अपमानित होना पडता था। अन्य लोगो द्वारा भी साधुओ को पीडा मिलती थी। वर्षा-काल मे किस स्थान मे रहकर वर्षा-वास करना, यह भी उस युग की एक समस्या थी। इस प्रकार साधु-जीवन से सम्बद्ध अनेक वर्णन व्यवहार मे आते है।

निशीथ-भाष्य

चूर्णिकार के मतानुसार निर्युक्ति की प्राकृत पद्यमयी व्याख्या का नाम भाष्य है। निशीथ भाष्य भी कल्प और व्यवहार की भाँति बहुत विशाल है। इसमे साधु-जीवन के आचार का विस्तार के साथ वर्णन है। इतिहास, सस्कृति, धर्म, दर्शन, ज्योतिष और भाषा की सामग्री इसमे सर्वत्र बिखरी पडी है। इसमे निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी सघ के कर्तव्य और अकर्तव्य के विधि-विधान के मौलिक उपदेशो का सुन्दर सग्रह किया गया है। उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का सागोपाग कथन किया है। विवेक-शून्य आचार से या तो शिथिलाचार का पोषण होता है, या फिर केवल अर्थ-शून्य बाहरी आडम्बर की अभिवृद्धि होती है।

निशीथ-भाष्य की बहुत-सी गाथाएँ कल्प और व्यवहार से मिलती-जुलती है। इसमे बताया गया है, कि साधक को सदा राग-द्वेष की भावनाओ से दूर रहना चाहिए। विवेक से किया गया कार्य निर्दोष होता है —

"जइ सव्वसो अभावो,
रागादीण हवेज्ज णिद्दोसो।"

साधक के जीवन मे यदि किसी प्रकार का राग और द्वेष नही है, तो वह साधक एक निर्दोष साधक है। सदोष साधक के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। पतन का अवसर आने पर श्रावक कैसा सकल्प करे। कहा गया है, कि अपने चिरसचित व्रत को किसी भी प्रकार भग न होने दे। क्योकि स्वीकृत व्रत उसके जीवन का धन है।

रात्रि-भोजन मे क्या दोष है? इसके लिए कहा गया है, कि रात्रि मे भोजन करने से मक्खी, मच्छर, बिच्छू, चीटी, पुष्प, बीज और विष आदि भोजन मे मिश्रित हो सकते है। साधु और साध्वियो का परस्पर सपर्क न करने के सम्बन्ध मे निशीथ-भाष्य मे अत्यन्त कठोर नियमो का विधान किया है। कुलटा नारियो से सावधान करने को कहा है।

विभिन्न देशो की विभिन्न भाषाओ और वेष-भूषा का वर्णन भी बीच-बीच मे यथा-प्रसग आता है। विभिन्न देशो के विभिन्न लोगो के स्वभाव का वर्णन मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। बडे-बडे सार्थवाहो का वर्णन बडा ही रोचक किया गया है। मार्ग मे उन्हे कैसी-कैसी बाधाओ का सामना करना पडता था।

कागणी और दीनार आदि प्राचीन सिक्को का उल्लेख है। खाने और पीने की बहुत-सी चीजो का उल्लेख है, जो आज के युग मे उपलब्ध नही है। तोसली नगर मे तालोदक और राजगृह के तापोदक कुण्ड का भी उल्लेख मिलता है। सिद्धसेन और गोविन्द वाचक का उल्लेख है। अन्य बहुत-से नगरो का, वहाँ की रीति-नीतियो का वर्णन है।

उस युग की लोक-कथाओ का, लोक परम्पराओ का और लोक-सस्कृतियो का सजीव वर्णन निशीथ भाष्य मे उपलब्ध होता है। समाज-शास्त्र के नियम, अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त और राजनीति के भेदो का वर्णन भी उपलब्ध होता है। निशीथ भाष्य का सम्पादन पूज्य गुरुदेव उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज ने किया है, और सन्मति ज्ञानपीठ ने चार बडे भागो मे उसका प्रकाशन करके महान् साहित्य-सेवा की है।

जीतकल्प-भाष्य

आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने प्राकृत गाथाओ मे जीतकल्प सूत्र की रचना की थी। उसमे जीत व्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्तो का सक्षिप्त वर्णन किया है। साधक के जीवन मे प्रायश्चित्त का महत्व-पूर्ण स्थान है, क्योकि मोक्ष के कारणभूत चारित्र के साथ उसका सम्बन्ध है। इस मे प्रायश्चित्त के दश भेदो का वर्णन है।

आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण कृत जीतकल्प-भाष्य इसी जीतकल्प सूत्र पर है। यह भाष्य केवल जीतकल्प सूत्र पर होते हुए भी इसमे समस्त छेद सूत्रो का रहस्य आचार्य ने भर दिया है। इसमे मूलसूत्र

के एक-एक शब्द का अर्थ करने के बाद उसका भावार्थ भी स्पष्ट किया गया है। अनेक शब्दो की व्युत्पत्ति भी बहुत सुन्दर रूप मे लिखी है।

भाष्य मे सबसे पहले प्रवचन को नमस्कार किया गया है। फिर प्रवचन शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। इसके बाद मे विस्तार के साथ प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या की है? कहा गया है—

"पाव छिंदति जम्हा,
पायच्छित्त ति भण्णेति तेण।"

क्योकि यह पाप का छेदन करता है, इसलिए प्रायश्चित्त कहा जाता है।

पाँच प्रकार के व्यवहारो का वर्णन किया गया है—जीत, आगम, श्रुत आज्ञा और धारणा। पाचो का विस्तार के साथ मे वर्णन है। जीत व्यवहार को व्याख्या की है, कि जो परम्परा से प्राप्त हो, महाजन सम्मत हो और जिसका सेवन बहुश्रुत पुरुषो ने बार-बार किया हो। यथाप्रसग अन्य बातो का भी उल्लेख किया है।

सक्षेप मे पाँच ज्ञानो का वर्णन बहुत सुन्दर किया है। भक्त परिज्ञा, इंगिनी मरण और पादपोप-गमन इन तीन प्रकार की मारणान्तिक साधनाओ का विवेचन किया है।

जीत कल्प सूत्र और उसके भाष्य का सम्पादन आगम प्रभाकर श्री पुण्य विजय जी महाराज ने किया है। उसका प्रकाशन भी हो चुका है। जीतकल्प भाष्य पर आचार्य सिद्धसेन ने चूर्णि लिखी थी। यह सिद्धसेन, दिवाकर सिद्धसेन से भिन्न है। चन्द्र सूरि ने चूर्णि पर विषम पद व्याख्या लिखी है। जीतकल्प सूत्र पर भी एक चूर्णि लिखी थी। ऐसा उल्लेख सिद्धसेन ने किया है।

पञ्चकल्प-भाष्य

पञ्चकल्प सूत्र की परिगणना छेद सूत्रो मे की जाती है। इसमे साधु के आचार और विचार का वर्णन था। इस पर एक भाष्य लिखा गया था, जिसे पञ्चकल्प भाष्य कहा जाता है। कहा जाता है कि यह आज कल उपलब्ध नही है। परन्तु "जैन-भारती" के वर्ष ११ अक २८ मे श्री अगरचन्द्र जी नाहटा का एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमे पञ्चकल्प के विषय मे लिखा है—

"पञ्चकल्प को अनुपलब्ध बताया गया था। पर बृहत् टिप्पणी मे पञ्चकल्प का परिमाण ११३३ श्लोको का पाया जाता है और मुझे प्राप्त प्रति मे केवल १८४ गाथाएँ ही है।"

कल्प का अर्थ है—आचार। साधु के आचार का ही इसमे वर्णन है। पञ्चकल्प का अर्थ है-पाँच प्रकार का आचार। बृहत्कल्प भाष्य मे छह प्रकार के, सात प्रकार के, दश प्रकार के, बीस प्रकार के और बयालीस प्रकार के कल्पो का भी उल्लेख है। पञ्चकल्प के विषय मे अधिक ज्ञातव्य उपलब्ध नही होता।

पिण्ड-निर्युक्ति-भाष्य

इस भाष्य मे ४६ गाथाएँ है। यह भाष्य पिण्ड निर्युक्ति पर लिखा गया है। पिण्ड निर्युक्ति की मूल सूत्रो मे परिगणना की गई है। इसमे साधु जीवन के आचार और विचार के सम्बन्ध मे वर्णन किया गया है। विशेष करके इसमे साधुओ के दान लेने की विधि पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि भाष्य का परिमाण बहुत लघु है, फिर भी उनमे यथाप्रसङ्ग अन्य बातो का उल्लेख भी उपलब्ध होता है।

इसमे पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त और उसके महामन्त्री चाणक्य का उल्लेख है। पाटलिपुत्र मे जो भयकर दुर्भिक्ष पडा था, उसका भी उल्लेख है। आचार्य सुस्थित और उसके शिष्यो के सम्बन्ध मे भी वर्णन मिलता है। इस सम्बन्ध मे एक कथानक भी दिया गया है।

ओघ-निर्युक्ति-भाष्य

पिण्ड निर्युक्ति की भाँति ओघ निर्युक्ति मे भी साधु जीवन के आचार-विचार का वर्णन किया गया है। इसमे ३२२ गाथाएँ है। इस पर आचार्य द्रोण ने वृत्ति लिखी है। साधु के आचार के अतिरिक्त इसमे प्रसङ्गवश अन्य वर्णन भी आ जाते है।

किसी किसी देश मे वहाँ के लोग प्रात काल साधुओ के दर्शन को अपशकुन मानते थे। साधुओ का अनेक प्रकार से परिहास किया जाता था। इसमे कलिंग देश के काञ्चनपुर नगर मे जो भयकर बाढ आयी थी, उसका भी उल्लेख है। सास्कृतिक दृष्टि से ओघ निर्युक्ति भाष्य वडा ही महत्वपूर्ण माना जाता है। मालवा देश के सम्बन्ध मे उल्लेख आया है, कि वहाँ के लोग साधुओ को वहुत पीडा देते थे। अत भाष्याकर उनसे सतर्क रहने का सकेत करते है। इसमे शुभ और अशुभ तिथियो पर भी विचार किया गया है।

दशवैकालिक-भाष्य

दशवैकालिक-सूत्र की गणना मूल सूत्रो मे है। इस पर भी एक छोटा सा भाष्य है, जिसमे कुल ६३ गाथाएँ है। इस पर आचार्य हरिभद्र की एक टीका है।

इसमे मूल गुण और उत्तर गुणो का कथन है। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणो की चर्चा है। जीव की सिद्धि अनेक प्रमाण और तर्क से की है। यह भी बताया है, कि वैदिक और बौद्ध, जीव का क्या स्वरूप मानते हैं।

इसमे साधु के आचार और विचार । भी वर्णन है। प्रसगवश बीच-बीच मे अन्य बातो का भी ल्लेख किया गया है। छोटा होते हुए भी यहभाष्य बडे महत्त्व का है।

उत्तराध्ययन-भाष्य

इसकी गणना भी मूल सूत्र मे है। इस पर शान्ति सूरि ने प्राकृत मे एक विस्तृत टीका लिखी है। इस पर एक लघु भाष्य भी लिखा गया है, जिसकी गाथाएँ इसकी निर्युक्ति मे मिश्रित हो गई है।

इसमे बोटिक की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थो का स्वरूप बताया गया है। पाँच भेद इस प्रकार से है—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। प्रसङ्गवश अन्य भी वर्णन किया गया है, जो बहुत सुन्दर है।

उत्तराध्ययन सूत्र पर सस्कृत मे बहुत सी टीकाएँ लिखी गई है। इन टीकाओ मे कुछ विस्तृत है. और कुछ सक्षिप्त है।

आवश्यक-भाष्य

आवश्यक सूत्र मे जैन साधना का बडा ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस पर तीन भाष्य लिखे गए है

लघु-भाष्य

महाभाष्य

विशेषावश्यक-भाष्य

इसमे बताया गया है, कि कालिक श्रुत मे चरण करणानुयोग का वर्णन है। ऋषि-भाषित मे धर्म कथानुयोग का वर्णन है। दृष्टिवाद मे द्रव्यानुयोग का वर्णन किया है।

निन्हवो का और करकण्डू आदि प्रत्येक बुद्धो के जीवन का विस्तार के साथ कथन किया गया है। अस्वाध्याय का वर्णन भी संक्षेप में किया है। अश्वमित्र के सम्बन्ध मे कहा गया है, कि वह अनुप्रवाद के नैपुणिक वस्तु मे पारगत था। अन्य बहुत-से विषयो का इसमे वर्णन है।

विशेषावश्यक-भाष्य

आवश्यक-सूत्र पर यह एक विस्तृत, विशाल और बृहत्काय महाभाष्य है। जैन ज्ञान का यह एक महाकोष है। आगमो पर जितने भी अन्य भाष्य है, उन सब मे यह विशाल भाष्य है। आगमो मे बिखरे तत्व ज्ञान को इसमे एकत्रित, सुसगत और तर्क-शैली मे प्रस्तुत किया है। जैन तत्व ज्ञान की परिभाषाओ को स्थिर किया है। इसकी रचना के उत्तर काल मे जितने भी आगम के व्याख्याकार आचार्य हुए है, उन सबने अपनी व्याख्या का आधार इसी महाभाष्य को बनाया है। आगम मे कोई ऐसा तत्व नही है, जिसकी आचार्य ने इसमे विस्तार से व्याख्या अथवा चर्चा न की हो। आचार की चर्चा इसमे भले ही सक्षेप मे हो, परन्तु विचार की चर्चा तो विस्तार के साथ मे की है।

विशेषावश्यक-भाष्य का प्रत्येक प्रकरण और प्रत्येक अध्याय अपने आप मे एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही है। ज्ञानवाद मे पांच ज्ञानो की विचारणा इतने विस्तार से की है, कि बाद के आचार्यों ने अपने ग्रन्थो

मे उसी को ग्रहण किया, नया कुछ भी लिख नही सके। आचार्य ने पुरातन शैली से ही ज्ञान का वर्णन किया, उसे तर्क-शैली से प्रस्तुत करके दार्शनिक-युग की समग्र प्रमाण विवेचना को आत्मसात् कर लिया। इसकी ज्ञानवाद की विवेचना का गम्भीर अध्ययन करने के बाद मे अध्येता के मुख से एक ही बात निकलती है, कि 'जो कुछ यहाँ पर है, वही अन्यत्र भी है, और जो कुछ यहाँ पर नही है, वह अन्यत्र कही पर भी दृष्टि-गोचर नही होता। ज्ञानवाद की गम्भीरता का इसमे यथार्थ दर्शन उपलब्ध होता है।"

इसका गणधरवाद भी बहुत विशाल और गम्भीर है। समग्र भारतीय दर्शन का इसमे निचोड आ जाता है। एक प्रकार से गणधरवाद भारतीय दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है। दर्शन-शास्त्र का ऐसा कोई विचार नही, जो इसमे न आ गया हो। जीव और आत्मा, बन्ध और मोक्ष, लोक और परलोक, पुण्य और पाप, स्वर्ग और नरक तथा भूतवाद और अध्यात्मवाद, सब पर आचार्य ने अधिकार पूर्वक लिखा है। ग्यारह गणधरो का तत्वज्ञान इसमे समाहित हो जाता है। पूर्वपक्ष गणधरो का और उत्तरपक्ष महाश्रमण भगवान् महावीर का। अपनी शका का समाधान मिल जाने पर सब गणधर भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार कर लेते है। इसी आधार पर यह गणधरवाद कहा जाता है।

इसका निन्हववाद भी कम विशाल नही है। इसमे निन्हवो के विचार भेद को लेकर बहुत विस्तार से लिखा गया है। अत यह भी ज्ञानवाद और गणधरवाद की भाँति एक स्वतन्त्र ग्रन्थ कहा जा सकता है। निन्हवो की चर्चा बहुत ही रोचक और सुन्दर है। तर्क और प्रतितर्को का दगल देखने योग्य है। आचार्य की शैली इतनी प्रशस्त और सुबोध्य है, कि विषय गम्भीर होने पर भी अध्येता उसके अध्ययन से ऊबता नही है। जैन सस्कृति मे भी समय-समय पर कैसे और कितने विचार भेद होते रहे है। इस बात का प्रमाण इस निन्हववाद के अध्ययन से मिल जाता है। इससे मिथ्या आग्रह और सम्यग् आग्रह का पता लगता है। इसमे एकान्त और अनेकान्त की चर्चा बहुत मधुर है।

सामायिक का स्वरूप बहुत विस्तार से और निक्षेप पद्धति से बताया गया है। वस्तुत विशेपावश्यक भाष्य आवश्यक के प्रथम सामायिक आवश्यक पर ही लिखा गया है। एक मे ही आचार्य ने सब कुछ कह दिया, फिर आगे कुछ कहना ही शेप नही रहा।

नमस्कार प्रकरण भी बहुत लम्बा है। नमस्कार क्या है? उसका फल क्या है? आदि पर गम्भीर विचार किया गया है। इसमे भी निक्षेप पद्धति से कथन है।

निक्षेपो की विचारणा लम्बी और बहुविध है। निक्षेप की परिभापा देकर, फिर उसके भेद बताकर अन्त मे उसे घटाने की विधि अथवा पद्धति का वर्णन है। मुख्य रूप मे निक्षेप के चार भेद होते है।

नयाधिकार मे नयो का विस्तार से कथन किया गया है। नयो का स्वरूप, नयो के भेद और नयो की योजना पद्धति का कथन किया गया है। मूल मे दो नय और फिर उसके सात भेदो का वर्णन किया है। प्रसगवश अन्य भी बहुत से विपयो की चर्चणा विस्तार के साथ की है।

विशेपावश्यक-भाप्य पर अनेक समर्थ आचार्यों ने टीका की है, परन्तु उन मे तीन टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं —

१ स्वय ग्रन्थकार की स्वोपज्ञवृत्ति
२ कोटयाचार्य की विस्तृत टीका
३ आचार्य मलधारी हेमचन्द्र कृत विशाल टीका

आगम ग्रन्थो मे ही नही, समग्र जैन तत्व-ज्ञान के ग्रन्थो मे इस भाप्य का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है, और भविप्य मे भी रहेगा। यह भाप्य, वस्तुत महाभाप्य है। आगमो के रहस्य को समझने के लिए इसका अध्ययन परम आवश्यक है। आगम-गत तत्ववाद का इसमे बहुत ही स्पप्ट वर्णन किया गया है।

चूर्णि-परिचय

निर्युक्ति और भाष्य की भाँति चूर्णि भी आगमो की व्याख्या है। परन्तु यह पद्य मे न होकर गद्य मे होती है। केवल प्राकृत मे न होकर प्राकृत और सस्कृत दोनो मे होती है। चूर्णियो की भापा सरल और सुवोध्य होती है।

चूर्णियो का रचना समय लगभग सातवी-आठवी शती है। चूर्णिकारो मे जिनदास महत्तर का नाम विशेप उल्लेखनीय है। इनका समय विक्रम की सातवी शती माना जाता है। इन्होने बहुत-से आगमो पर चूर्णियाँ लिखी है। परन्तु इनकी निशीथ चूर्णि तो बडे विस्तार मे हैं। चूर्णिकारो मे सिद्धसेन सूरि, प्रलम्ब सूरि और अगस्त्यसिंह सूरि का नाम भी उल्लेखनीय है। निशीथ और आवश्यक की चूर्णि को विशेप चूर्णि कहा गया है।

प्रसिद्ध और उपलब्ध चूर्णियाँ इस प्रकार हैं —

१. आवश्यक
२ आचाराग
३. सूत्रकृताग
४. दशवैकालिक
५ उत्तराध्ययन
६. नन्दी
७ अनुयोगद्वार
८ व्याख्या-प्रज्ञप्ति
९. जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति
१० जीवाभिगम
११. निशीथ
१२ महानिशीथ
१३. वृहत्कल्प
१४ व्यवहार
१५ दशाश्रुत स्कन्ध
१६ जीतकल्प
१७ पञ्चकल्प
१८. ओघ

इन चूर्णियो मे धर्म, दर्शन, सस्कृति, समाज और इतिहास की विपुल सामग्री उपलब्ध होती है। इनके अध्ययन से जैन आचार्यो के व्यापक ज्ञान का पता लगता है।

आवश्यक-चूर्णि

अन्य चूर्णियो की भाति इसमे केवल शब्दो के अर्थ का ही कथन नही है। विषय और विवेचन की दृष्टि से यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन गया है। इसमे विविध विषयो का विस्तार से उपन्यास किया है। भाषा इसकी प्राञ्जल है।

इसमे पॉच ज्ञानो का विवेचन है। गणधरो का सम्वाद है। ऋषभदेव के जन्म से लेकर निर्वाण तक की घटनाओ का वर्णन क्रम-बद्ध है। कलाओ का कथन है। शिल्प-शास्त्र के तत्वो का प्रतिपादन है। पॉच प्रकार के शिल्प-कारो का उल्लेख है। पॉच शिल्पकार है—कुम्भकार, चित्रकार, वस्त्रकार, कर्मकार और काश्यप। अग्नि के आविष्कार का उल्लेख है।

इसमे यह भी कथन है, कि ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लेखनकला की, सुन्दरी को गणित की और अपने पुत्र भरत को चित्रकला और राजनीति की शिक्षा दी। भरत की दिग्विजय और उसके राज्याभिषेक का विस्तार के साथ मे वर्णन किया गया है।

महावीर के जन्म और जन्मोत्सव का रोचक वर्णन है। महावीर की दीक्षा, साधना, उपसर्ग और कैवल्य आदि का वर्णन किया गया है। पार्श्व-परम्परा के अनेक सन्तो का परिचय दिया है।

मखलिपुत्र गोशालक महावीर को नालन्दा मे मिला। महावीर ने लाढ, वज्रभूमि और शुभ्र भूमि मे जो उपसर्ग सहन किए थे, उनका उल्लेख है। यह वर्णन बहुत ही द्रावक है। प्रसंग-वश जमालि, आर्यरक्षित, तिष्यगुप्त, वज्र स्वामी और वज्रसेन आदि का वर्णन किया गया है, जो इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। दशपुर, दशार्ण भद्र और मथुरा का भी उल्लेख है।

चेलना के अपहरण की घटना है। कोणिक और सेचनक हाथी की उत्पत्ति कथा दी है। कोणिक का चेटक के साथ युद्ध हुआ था। मगध की प्रसिद्ध गणिका मागधी का और कोणिक ने उसकी कैसे सहायता ली?

राजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार के जीवन की अनेक घटनाओ का वर्णन भी इसमे मिलता है। उसकी बौद्धिक सूझ की अनेक कथाओ का उल्लेख है। कोणिक के पुत्र उदायी ने पाटलिपुत्र कैसे बसाया? इसका वर्णन है।

यथाप्रसग नन्द राजा का वर्णन, शकटाल और वररुचि की घटना, स्थूलभद्र का ससार त्याग कर दीक्षा ग्रहण करना और कोशा को प्रतिबोध करना आदि का वर्णन इतिहास की दृष्टि से उपयोगी है।

आचारांग-चूर्णि

इसमे साधु के आचार का वर्णन है। प्रसगवश अन्य भी बहुत-से वर्णन आ जाते हैं। चूर्णि सस्कृत और प्राकृत का मिश्रित रूप होता है। भाषा सरल और सुबोध्य होती है। बीच-बीच मे विषय को स्पष्ट करने के लिए कथानक भी आ जाते है। कथानको मे लोक-कथाएँ बहुत हैं। यहाँ पर एक लोक-कथा का नमूना देखिए —

"एगम्मि गामे एक्को कोडुबिओ धणमन्तो बहुपुत्तो य। सो वुड्ढी भूतो पुत्तेसु भर सणसति।"

"एक्कम्मि गामे सुइवादी। तस्स गामस्स एगस्स गिहे केणइ चिछप्पति, तो चउसट्ठीए मट्टियाहि सण्हाति। अण्णदा यस्स गिहे बलद्दो मतो।"

उक्त दोनो खण्डो के अध्ययन से अध्येता भली-भाति समझ सकता है, कि चूर्णि की भाषा कितनी सरल और शैली कितनी रोचक है।

चूर्णिकार शब्दो का अर्थ भी बहुत सरल भाषा मे समझाता है। यहाँ पर "मूअ, खुज्ज और वडभ" शब्द की व्याख्या देखिए —

"बहिरत ण सुणेति, मूओ। खुज्जो वामणो। वडभेत्ति, जस्स वडभ पिट्ठीए णिग्गत।"

सूत्रकृतांग-चूर्णि

इसमे दार्शनिक तत्त्वो की व्याख्या की है। लोक-कथाओ का उल्लेख इसमे भी बहुत है। प्रसगवश विभिन्न देशो की रीति-नीतियो का वर्णन आता है। जैसे गोल्ल देश मे यह प्रथा थी, कि यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति की हत्या करदे, तो वह उसी प्रकार निन्दा का पात्र होता था, जैसे ब्राह्मण की घात करने वाला। ताम्रलिप्ति नगरी मे डाँस बहुत होते थे। मल्ल जाति के लोगो मे यह परम्परा थी, कि यदि कोई अनाथ मल्ल मर जाए, तो सब मिल कर उसका सस्कार किया करते थे। इससे सहयोग की भावना अभिव्यक्त होती है।

इसमे आगम प्रसिद्ध आर्द्रकुमार की जीवन घटना का वर्णन है। वह अनार्य देश का रहने वाला था। फिर भी आर्य देश के रहने वाले अभयकुमार के साथ उसकी मित्रता थी। इससे प्रकट है, कि प्रेम-भाव मे आर्य और अनार्य-भाव बाधक नही होता है।

दशवैकालिक-चूर्णि

इसमे साधु के आचार का वर्णन है। जिनदास महत्तर की यह प्रसिद्ध कृति एव रचना है। भावना, भाषा और शैली की दृष्टि से यह चूर्णि बहुत सुन्दर है। इसमे प्राकृत भाषा के शब्दो की व्युत्पत्ति बडे

रोचक ढग से दी है। उदाहरण के लिए "द्रुम, रुक्ख और पादप" शब्दो की व्युत्पत्ति और व्याख्या का नमूना देखिए —

"दुमा नाम भूमीए, आगासे य दोसु माया, दुमा। रुत्ति पुहवी, खत्ति आगास, तेसु दोसु वि जहा ठिया, तेण रुक्खा। पादेहिं पिबन्तीति पादपाः। पादा मूल भण्णति।"

इसमे कही-कही पर कथोपकथन की शैली भी उपलब्ध होती है। इसके पढने से एकाकी और नाटको जैसा आनन्द मिलता है। देखिए, कितना सुन्दर सम्वाद है —

"किं मच्छे मारेसि !
न सिक्केमि पातु ।
अरे, तुम मज्ज पियसि !"

इस चूर्णि मे भी बहुत-सी लोक-कथाओ का, लोक परम्पराओ का वर्णन यथाप्रसग दिया गया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी चूर्णियो का अध्ययन बहुत महत्त्व रखता है।

उत्तराध्ययन-चूर्णि

यह चूर्णि भी जिनदास महत्तर की एक सुन्दर कृति है। यह बहुत विस्तृत नही है। सस्कृत और प्राकृत मिश्रित एक लोक-कथा का नमूना देखिए —

"एगो पसुवालो प्रतिदिन मध्याह्न-गते रवौ अजासु महान्यग्रोध-तरु-समाश्रितासु तस्युणओ निवन्नो वेणुविदलेण अजोद्गीर्ण कोलास्थिभि. तस्य वटस्य छिद्रीकुर्वन् तिष्ठति।"

इसमे काश्यप शब्द की व्युत्पत्ति देखने के योग्य है। देखिए, क्या व्युत्पत्ति है —

"काश=उच्छु, तस्य विकार, कास्य, रस , स यस्य पान, काश्यप=उसभसामी, तस्य जोगा जे जाता ते कासवा, वद्धमाणो सामी कासवो।"

प्रसगवश इस चूर्णि मे तत्त्व-चर्चा और लोक-चर्चा भी उपलब्ध होती है।

नन्दी-चूर्णि

इसमे पाँच ज्ञानो का वर्णन है। इस चूर्णि मे माथुरी वाचना का उल्लेख मिलता है। द्वादश वर्ष का अकाल पडने पर समस्त साधु सघ बिखर गया और बाद मे एकत्रित हुआ था। कहा जाता है, कि आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा मे आकर साधु-सघ को अनुयोग की शिक्षा दी थी। प्रसगवश इसमे अन्य भी बहुत-सी बातो का उल्लेख है, जो इतिहास की दृष्टि से बहुत उपयोगी और महत्व-पूर्ण है। लोक-कथाएँ और लोक-रूपक बहुत है।

अनुयोगद्वार-चूर्णि

यह चूर्णि बहुत महत्वपूर्ण है। अनुयोगद्वार मे आगत तत्वो का इसमे सुन्दर विवेचन किया गया है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से भी यह कृति सुन्दर है। यथाप्रसग अन्य बहुत से विषय इसमे आए हुए है। जैसे इभ्य किसे कहते है ? श्रेष्ठो की परिभाषा क्या है ? सेनापति और सार्थवाहो का वर्णन। सभा और प्रथा, कानन और वन, रथ और यान आदि शब्दो के अर्थ किए गए है।

व्याख्या-प्रज्ञप्ति-चूर्णि

व्याख्या-प्रज्ञप्ति को भगवती भी कहते है। भगवती सूत्र वर्तमान मे उपलब्ध समस्त सूत्रो मे सबसे बडा और विस्तृत है। परन्तु इस की चूर्णि बहुत छोटी है। इसमे शब्दो की व्युत्पत्ति बहुत सुन्दर की है।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति चूर्णि

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति उपाग सूत्रो मे है। इसमे जम्बूद्वीप का विस्तार से वर्णन है। इसकी चूर्णि भी बहुत छोटी है। यथाप्रसग अन्य विषय भी सक्षेप मे वर्णित है।

जीवाभिगम-चूर्णि

जीवाभिगम की गणना उपागो मे की जाती है। इसमे जीव और अजीव का विस्तार से वर्णन है। इसमे गणधर गौतम और भगवान् महावीर के प्रश्न और उत्तर के रूप मे जीव और अजीव के भेद और प्रभेदो का विस्तार के साथ मे वर्णन किया गया है। इस पर मलयगिरि की टीका है। हरिभद्र और देवसूरि की लघु वृत्तियाँ भी है। इस पर एक छोटो-सी अवचूर्णि भी थी।

दशाश्रुत स्कन्ध-चूर्णि

दशाश्रुत स्कन्ध की गणना छेद सूत्रो मे है। भद्रबाहु इसके प्रणेता है। कहा जाता है कि दृष्टि-वाद के असमाधिस्थान नाम के प्राभृत से इसका उद्धार किया गया। इस पर एक लघुचूर्णि है। इसमे दशा, कल्प और व्यवहार को प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत कहा गया है। आचार्य कालक की कथा का इसमे उल्लेख है। प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन का वर्णन भी इसमे आया है। सिद्धसेन का उल्लेख है। गोशालक का वर्णन भी आया है। तापसो का वर्णन आया है।

ओघ-चूर्णि

इसकी परिगणना मूल सूत्रो मे की जाती है। ओघ शब्द का अर्थ है—सामान्य अथवा साधारण। यह सामान्य समाचारी को लेकर लिखी गई है। ओघ पर एक लघु चूर्णि है। इसके अतिरिक्त आचार्य

मलयगिरि ने ओघ की निर्युक्ति पर वृत्ति की रचना की है। ओघ का विषय है, साधु जीवन की समाचारी। सयम का परिपालन कैसे करना चाहिए। असयम से सयम की रक्षा कैसे की जाए।

निशीथ-चूर्णि

चूर्णियो मे सबसे बडी चूर्णियाँ दो है—आवश्यक-चूर्णि-और निशीथ-चूर्णि। अत इन्हे विशेष चूर्णि कहा जाता है। निशीथ की चूर्णि आवश्यक चूर्णि से भी अधिक विस्तृत है, क्योकि यह मूल पर, निर्युक्ति पर और भाष्य पर, तीनो पर है। निशीथ निर्युक्ति पर, निशीथ भाष्य पर जो प्राकृत गद्य मे व्याख्या है, उसका नाम विशेष चूर्णि है। चूर्णिकार स्वय कहता है—

"पुव्वायरिय - कय चिय अह् पि
त चेव उ विसेसा।"

जिस प्रकार जिनभद्र क्षमाश्रमण का भाष्य आवश्यक की विशेष बातो का विवरण करता है, अत वह् विशेषावश्यक भाष्य कहा जाता है, उसी प्रकार निशीथ-भाष्य की विशेष बातो का विवरण करने वाली चूर्णि को भी विशेष चूर्णि कहा जाता है। इसका अर्थ यह है, कि इसके पूर्व भी इस पर अन्य विवरण अथवा वृत्ति लिखी जा चुकी है।

चूर्णि को प्राकृत की गद्य व्याख्या कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि इस मे प्राकृत अधिक और सस्कृत अल्प है। निशीथ चूर्णि की भाषा बहुत मधुर, सुबोध्य और सरल है। इसकी शैली बहुत सुन्दर है। भावो की अभिव्यक्ति मे चूर्णिकार बहुत ही सिद्धहस्त है। गम्भीर विषय को भी वह सरल भाषा मे अभिव्यक्त कर जाता है। निशीथ चूर्णि स्वय अपने आप मे एक विशाल-काय स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा ही प्रतीत होता है। क्योकि इसमे सभी विषयो की व्याख्या विस्तार से देने का प्रयत्न किया है।

यह बात असदिग्ध है, कि जिनदास महत्तर ही इस चूर्णि के प्रणेता है। आचार्य ने स्वय इसमे अपना, अपने परिवार का और जन्म भूमि का भी उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है, कि निशीथ चूर्णि की रचना आचार्य जिनदास महत्तर ने की है।

निशीथ चूर्णि मे बडे विस्तार के साथ मे साधु जीवन के आचार का वर्णन किया गया है, उत्सर्ग और अपवाद का तो इसमे बहुत ही अधिक विस्तार किया है। यह विषय जितना गम्भीर है, आचार्य ने उसे उतने ही अधिक विस्तार से उठाया है और बडी गम्भीरता के साथ उसे पूरा भी किया है। उत्सर्ग और अपवाद की परिभाषा देकर, किस प्रसग पर अपवाद का सेवन किया जाता है, यह भी बताया है। निशीथ चूर्णि की प्राकृत भाषा कितनी प्राञ्जल, कितनी ओजपूर्ण, कितनी मधुर और कितनी स्पष्ट है, इसका एक नमूना यह है —

"भायणुकपाए सुकुमालिया अणसण पव्वज्जति ।
बहुदिण-खीणा सा मोहंगता । तेहि णाय कालगय त्ति ।
ताहे तं एगो गेण्हति, बितिओ उपकरण गेण्हति ।
ततो सा पुरिस-फासेण रातो य सीयल-वातेण णिज्जति,
अप्पातिता सचेयणा जाया ।"

निशीथ चूर्णि मे लोक-कथाएँ बहुत है । उन कथाओ के बीच-बीच मे पद्य भी आते है, जो बहुत सरल और मधुर होते हैं, भाषा की दृष्टि से देखिए—

"णागा जलवासीया, सुणेह तस - थावरा ।
सरडा जत्थ भडन्ति, अभावो परियत्तई ॥"

निशीथ-चूर्णि मे सवाद, आलाप और वार्तालाप के भी अनेक प्रसग आते है । सवादो की शैली बहुत रोचक होती है । ऐसा प्रतीत होता है, जैसे हम कोई एकाकी अथवा नाटक पढ रहे हो ? सवाद बहुत ही सजीव और रोचक है । देखिए, एक सवाद—

"किं ण गतासि भिक्खाए !
अज्ज ! खमणं मे ।
किं निमित्तं ?
मोह-तिगिच्छं करेमि ।
अहं पि करेमि ।"

कहीं-कहीं निशीथ चूर्णि मे तत्त्व-चर्चाएँ आती है, जिनमे धर्म और दर्शन के गूढ-तत्त्वो को आचार्य ने अपनी शैली से सुबोध्य बना दिया है । सस्कृति और समाज के अनेक सुन्दर चित्रण उपलब्ध होते है । इतिहास की विपुल सामग्री इसमे है । वस्तुत. निशीथ चूर्णि एक महासागर है । इसमे बताया गया है, कि राजा सम्प्रति का राज्य-शासन चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार और अशोक—तीनो से अच्छा था । सम्प्रति राजा का जैनधर्म पर अत्यन्त अनुराग था । वह जैन श्रमणो का परम भक्त था । उसने अनेक राज्यो मे यह व्यवस्था की थी, कि वहाँ पर साधुओ को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए । आचार्य कालक की कथा यहाँ पर बडे विस्तार के साथ दी है । राजा चण्ड प्रद्योत की कथा दी है, इसमे यह भी बताया गया है, कि पुष्कर तीर्थ की उत्पत्ति कैसे हुई ? अन्य बहुत सी कथाओं का इसमे उल्लेख किया गया है ।

लोक-प्रकृति का चित्रण करते हुए बताया है, कि मालवा और सिन्धु देश के लोग अप्रिय-भाषी होते हैं । महाराष्ट्र के लोग अधिक वाचाल होते हैं । अन्य बहुत से देशो को रीति का वर्णन किया गया है । विभिन्न देशो का वर्णन है ।

श्रमण शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है, कि श्रमण पाँच प्रकार के होते है—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक । निर्ग्रन्थ का अर्थ है—जैन श्रमण । आजीवक का अर्थ है—

गोशालक अनुयायी। शाक्य का अर्थ है—बौद्ध भिक्षु। तापस और गैरिक—इनका भी कभी सम्प्रदाय रहा होगा।

दृष्टिवाद को उत्तमश्रुत बताते हुए कहा है, कि द्रव्यानुयोग-चरणानुयोग, धर्मकथानुयोग और गणितानुयोग का वर्णन होने से यह श्रुत सर्वोत्तम है। इसके अतिरिक्त इस मे जोणि-पाहुड का भी उल्लेख है। इसमे मन्त्र-विद्या का वर्णन है। तरगवती, मलयवती, धूर्ताख्यान और वसुदेव चरित्र आदि ग्रन्थो का उल्लेख है।

महानिशीथ-चूर्णि

महानिशीथ की गणना छेदसूत्रो मे की जाती है। यह उपलब्ध नही था। इसमे छह अध्ययन और दो चूलाएँ थी। कहा जाता है, कि बाद मे हरिभद्र सूरि ने इसका अनुसधान किया। वृद्धवादी, सिद्धसेन और देवगुप्त आदि आचार्यों ने इसे मान्य किया। इस पर भी किसी ने चूर्णि लिखी थी।

बृहत्कल्प-चूर्णि

कल्प अथवा वृहत्कल्प को कल्पाध्ययन भी कहा गया है। साधु-जीवन का यह एक प्रसिद्ध आचार-शास्त्र है। कल्प शब्द का अर्थ भी आचार किया जाता है। इसका विस्तार बहुत है। इस पर निर्युक्ति, भाष्य और टीकाएँ लिखी गई है। इस पर एक चूर्णि भी लिखी गई थी।

व्यवहार-चूर्णि

व्यवहार चूर्णि को द्वादशाग का नवनीत अथवा सार कहा गया है। निशीथ और कल्प के समान यह भी छेदसूत्र है। इसमे भी साधु के आचार का वर्णन है। इस पर निर्युक्ति, भाष्य और टीकाएँ है। व्यवहार पर एक चूर्णि भी लिखी गई थी।

जीतकल्प-चूर्णि

जीतकल्प सूत्र की गणना छेदो मे की जाती है। इसमे साधुओ के पाँच व्यवहारो का विवेचन किया गया है। विशेषत दश प्रकार के प्रायश्चित्तो का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसके प्रणेता जिनभद्र क्षमाश्रमण है। स्वय ने इस पर भाष्य भी लिखा है। आचार्य सिद्धसेन ने इस पर एक चूर्णि लिखी है। उस पर चन्द्रसूरि ने विषम पद टीका लिखी है। इसकी चूर्णि मे सिद्धसेन ने दश प्रकार के प्रायश्चित्तो का बहुत अच्छा विवेचन किया है। चूर्णि की भाषा सुबोध्य और मधुर है।

पञ्चकल्प-चूर्णि

पञ्चकल्प की गणना भी छेद सूत्रो मे की जाती है। कहा जाता है, कि बृहत्कल्प भाष्य का ही

यह एक भाग है। इसमे पाँच प्रकार के कल्पो का अर्थात् आचारो का वर्णन है। इस पर एक भाष्य भी लिखा गया है, जिसके प्रणेता आचार्य सघदास गणि है। इस पर निर्युक्ति भी है। एक चूर्णि भी इस पर लिखी गई है।

चूर्णियो मे अभी तक बहुत-सी अनुपलब्ध है, कुछ अभी तक प्रकाशित नही हो सकी है, कुछ का प्रकाशन हो रहा है। निशीथ चूर्णि का प्रकाशन अभी सन्मति ज्ञानपीठ आगरा से हुआ है, जिसका सम्पादन उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज ने बडे श्रम से किया है। इसका प्रकाशन चार भागो मे हुआ है, जिसमे मूल सूत्र, उसकी निर्युक्ति, उसका भाष्य और उसकी विशेष चूर्णि भी है। अगस्त्य सिंह सूरी की चूर्णि का प्रकाशन भी होने वाला है। श्री पुण्यविजय जी इसका प्रकाशन कर रहे है। भण्डारो के अनुसन्धान से भी बहुत-सा प्राचीन साहित्य प्रकट हो रहा है।

टीका-परिचय

प्राकृत-युग मे मूल आगम, निर्युक्ति और भाष्यो का गुम्फन हुआ। चूर्णि-युग मे प्रधानता प्राकृत की होने पर भी उसमे सस्कृत का प्रवेश हो चुका था। टीकाएँ सस्कृत-युग की कृतियाँ है। आगम-साहित्य मे चूर्णि-युग के बाद मे सस्कृत टीकाओ का युग आया। टीका के अर्थ मे इतने शब्दो का प्रयोग होता रहा है—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, विवृत्ति, वृत्ति, विवरण, विवेचना, अवचूरि, अवचूर्णि, दीपिका, व्याख्या, पञ्जिका, विभाषा और छाया।

सस्कृत टीका-युग जैन-साहित्य मे एक स्वर्णिम-युग कहा जा सकता है। इस युग मे केवल आगमो पर ही टीकाएँ नही लिखी गईं, अपितु आगमो की निर्युक्तियो पर और भाष्यो पर भी टीकाएँ लिखी गई, बल्कि टीकाओ पर भी टीकाएँ हुई। इस दृष्टि से टीका-युग साहित्य की समृद्धि का युग कहा जा सकता है।

मूल आगमो के निर्युक्ति-युग मे केवल आगमो के शब्दो की व्याख्या अथवा व्युत्पत्ति हो पाई थी। आगे भाष्य-युग मे भावो का विवेचन प्रारम्भ हुआ। वह बडे विस्तार के साथ मे किया गया। चूर्णि-युग मे गूढ-भावो को लोक-कथाओ के आधार पर समझाने की कला का प्रयोग किया गया। परन्तु टीका-युग मे आगमो की दार्शनिक व्याख्या का युग प्रारम्भ होता है। अत सस्कृत टीकाओ मे दार्शनिक विश्लेषण और विवेचन अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इस युग मे सक्षिप्त और विस्तृत सभी प्रकार की टीकाएँ लिखी गई। अत विकास की दृष्टि से टीका-युग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

प्रसिद्ध टीकाकार

जैन-साहित्य मे चूर्णि-युग के बाद मे सस्कृत टीकाओ का युग आया। सस्कृत टीकाकारो मे आचार्य हरिभद्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होने प्राकृत चूर्णियो के आधार से टीका की। आगमो के अतिरिक्त

अन्य ग्रन्थो पर भी इनकी टीकाएँ उपलब्ध है। आपकी विपुल ग्रन्थ-राशि सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ मे है। दोनो भाषाओ पर आपका असाधारण अधिकार था।

हरिभद्र के बारे मे आचार्य शीलाक ने सस्कृत टीकाएँ लिखी। आचाराग और सूत्रकृताग पर आपकी विस्तृत और महत्त्वपूर्ण टीकाएँ है, जिनमे दार्शनिकता की प्रधानता है। आपने सूत्रकृताग-टीका मे भूतवाद और ब्रह्मवाद की बहुत ही गम्भीर समीक्षा की है। भाषा प्राञ्जल और भावो की गम्भीरता है।

शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन पर अत्यन्त विस्तृत टीका लिखी है। यह प्राकृत और सस्कृत दोनो मे है। परन्तु प्राकृत की प्रधानता है। अत इसका नाम पाइय टीका प्रसिद्ध है। इसमे धर्म और दर्शन का अतिसूक्ष्म विवेचन हुआ है।

मलधारी हेमचन्द्र भी प्रसिद्ध टीकाकार है। इन्होने विशेषावश्यक भाष्य पर विस्तृत सस्कृत वृत्ति लिखी है। यह एक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर टीका है। विशेषावश्यक भाष्य पर कोट्याचार्य की टीका भी बहुत प्रसिद्ध है।

सस्कृत टीकाकारो मे सबसे विशिष्ट स्थान आचार्य मलयगिरि का है। मलयगिरि वस्तुत टीका-साहित्य मे महागिरि के तुल्य है। इनकी टीकाओ मे भाव गम्भीर, भाषा प्राञ्जल और शैली प्रौढ है। जिस किसी भी आगम पर अथवा ग्रन्थ पर टीका की, उसमे वह तन्मय हो गए। जिस प्रकार वैदिक परम्परा मे वाचस्पति मिश्र ने षड्दर्शनो पर प्राञ्जल भाषा मे और प्रौढ शैली मे विशद टीकाएँ लिखकर आदर्श उपस्थित किया है, ठीक वैसा ही आदर्श जैन-साहित्य मे आचार्य मलयगिरि ने किया है। दर्शन-शास्त्र के तो आप विशाल और विराट विद्वान थे। विभिन्न दर्शन-शास्त्रो का जैसा और जितना गम्भीर विवेचन एव विश्लेषण आपकी टीकाओ मे हो सका, वैसा और उतना अन्यत्र कही पर भी न मिल सकेगा। आचार्य मलयगिरि अपने युग के महान् तत्त्व-चिन्तक, महान् टीकाकार और महान व्याख्याता थे। आगमो के गुरु-गम्भीर भावो को तर्क-पूर्ण शैली मे उपस्थित करने की आप मे अद्भुत क्षमता, योग्यता और कला थी। अत आचार्य मलयगिरि एक सफल टीकाकार थे।

आगमो के टीकाकारो मे अभयदेव सूरि भी एक सुप्रसिद्ध टीकाकार है। अभय देव सूरि को नवाङ्गी वृत्तिकार कहा जाता है। अभयदेव का स्थान जैन-साहित्य मे बडा ही गौरवपूर्ण है, जिन्होने नव अङ्गो पर टीका लिखकर, विलुप्त होते हुए श्रुत की सरक्षा करके, एक महान् कार्य किया था। इनकी टीकाएँ अधिक विस्तृत नही है, मूल से अधिक निकट है। परन्तु बहुत से स्थलो पर गहन-गम्भीर विचारणा भी उपलब्ध हो जाती है। आचार्य ने नव-अङ्ग सूत्रो पर टीका लिखकर, वस्तुत महती श्रुत-सेवा की है।

समस्त टीकाओ का विस्तृत परिचय देना, यहाँ सम्भव नही है। क्योकि यह विषय बहुत विस्तृत

और गम्भीर है, फिर भी सक्षेप मे यह बताना आवश्यक है, कि किस आगम पर किस आचार्य ने टीका लिखी है। आगमो की टीकाओ का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार से है —

अङ्ग	टीकाकार
१ आचाराग	आचार्य शीलाक, जिनहस
२ सूत्रकृताग	आचार्य शीलाक, हर्षकुल
३ स्थानाग	अभयदेव सूरि, नागर्षि
४. समवायाग	"
५. भगवती	"
६ ज्ञाता धर्मकथाग	"
७ उपासक दशाग	"
८ अन्तकृत दशाग	"
९ अनुत्तरोपपातिक दशाग	"
१० प्रश्नव्याकरण	अभयदेव सूरि, ज्ञानविमल
११. विपाक	प्रद्युम्न सूरि
१२. दृष्टिवाद (विलुप्त)	

उपांग	टीकाकार
१. ओपपातिक	अभयदेव सूरि
२. राजप्रश्नीय	हरिभद्र, मलयगिरि, देवसूरि
३ जीवाभिगम	मलयगिरि
४ प्रज्ञापना	मलयगिरि, हरिभद्र, कुलमण्डन
५. सूर्य-प्रज्ञप्ति	मलयगिरि
६. जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति	मलयगिरि, शान्तिचन्द्र, ब्रह्मर्षि
७. चन्द्र-प्रज्ञप्ति	मलयगिरि
८. कल्पिका	चन्द्रसूरि, लाभ श्री
९ कल्पावतसिका	"
१० पुष्पिका	"
११. पुष्पचूलिका	"
१२ वृष्णिदशा	"

मूल	टीकाकार
१ दशवैकालिक	हरिभद्र, समयसुन्दर गणि, तिलकाचार्य, सुमति सूरि, अपराजित सूरि, विनय हंस
२. उत्तराध्ययन	वादिवेताल शान्ति सूरि नेमिचन्द्र, कमलसयम, लक्ष्मीवल्लभ भावविजय
३ आवश्यक	हरिभद्र, मलयगिरि, तिलकाचार्य कोटयाचार्य, नमि साधु, माणिक्यशेखर
४ पिण्ड-निर्युक्ति	मलयगिरि, वीराचार्य,
अथवा	
ओघ-निर्युक्ति	द्रोणाचार्य, मलयगिरि,

चूलिका	टीकाकार
१ नन्दी	हरिभद्र, मलयगिरि
२ अनुयोगद्वार	हरिभद्र, मलधारी हेमचन्द्र,

छेद	टीकाकार
१ निशीथ	प्रद्युम्न सूरि
२ महानिशीथ	"
३ व्यवहार	मलयगिरि
४ दशाश्रुत स्कन्ध	ब्रह्मर्षि
५ वृहत्कल्प	मलयगिरि, क्षेमकीर्ति सूरि
६ पञ्च कल्प	"

प्रकीर्णक	टीकाकार
१ चतु शरण	गुणरत्न सूरि
२ आतुर-प्रत्याख्यान	"
३. महाप्रत्याख्यान	,
४. भक्त-परिज्ञा	गुणरत्न,
५. तन्दुल वैचारिक	विजय विमल,

६	सस्तारक	गुणरत्न
७	गच्छाचार	विजय विमल
८	गणि-विद्या	"
९	देवेन्द्र-स्तव	"
१०.	मरण-समाधि	"

यहाँ पर उपलब्ध टीकाओ का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। कुछ पर टीकाएँ उपलब्ध नही है। कुछ पर विस्तृत टीकाएँ है, कुछ पर सक्षिप्त टीकाएँ है। प्राचीन भण्डारो के अनुसधान से कुछ टीकाएँ अब प्रकाश मे आ रही है।

टब्बा-परिचय

टीका-युग की परिसमाप्ति पर टब्बा-युग प्रारम्भ होता है। टब्बा भी एक प्रकार से आगमो पर सक्षिप्त टीका ही है। परन्तु यह सस्कृत-युग न होकर अपभ्रश-युग है। टब्बा मे गुजराती और राजस्थानी भाषा का मिश्रण होता है। सम्भवत इसका कारण यह हो, कि टब्बाकार सन्त प्राय गुजरात और राजस्थान मे ही अधिक विचरण करते थे। टब्बाकारो मे पार्श्वचन्द्र और धर्मसिंह जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका समय अठारहवी शती माना गया है। टब्बा बहुत ही सक्षिप्त शैली मे लिखे गए है।

अपभ्रंश-काल

सस्कृत भाषा केवल पण्डितो की भाषा बन चुकी थी। प्राकृत और सस्कृत मे से ही अपभ्रश भाषा की उत्पत्ति हुई। एक युग ऐसा आया, जिसमे जैन सन्त प्राकृत और सस्कृत दोनो को भूल कर अपनी कृतियो की रचना अपभ्रश मे ही करने लगे थे। जब निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओ को समझने वाले विरले रह गए, अधिकतर लोग अपने व्यवहार मे अपभ्रश का ही प्रयोग करते थे। लोक-रुचि को देखकर जैन आचार्यो ने अपनी साहित्य रचना का माध्यम अपभ्रश को ही बना लिया। कथा, कहानी, जीवन चरित्र और अध्यात्म ग्रन्थ अपभ्रश मे लिखे जाने लगे। क्योकि जैन आचार्यो ने सदा से ही जन बोली का आदर किया है। जिस भाषा मे लोग समझें, उसी भाषा मे वे अपनी कृतियाँ लिखने बैठ जाते थे। आगे चलकर आगमो की व्याख्या भी उन्होने अपभ्रश मे प्रारम्भ कर दी। परन्तु शैली का विस्तार वे नही कर सके। सक्षिप्त शैली मे और जन बोली मे जो आगमो की व्याख्या की गई, उसी को टब्बा कहा गया।

टब्बाकार

टब्बाकार कौन-कौन थे ? इस विषय मे अधिक ज्ञात अभी तक नही हो सका है। परन्तु टब्बा

कारो मे दो का नाम विशेप प्रसिद्ध है। एक पार्श्वचन्द्र जी, जिनको पायचन्द सूरि भी कहा जाता है, यह मन्दिर मार्गी परम्परा के थे और दूसरे थे, धर्मसिंह जी महाराज। यह स्थानक वासी परम्परा के प्रसिद्ध सन्त थे। धर्मसिंह जी महाराज ने सताईस सूत्रो पर टब्बे लिखे थे। टब्बे बहुत सुन्दर और स्पष्ट लिखे हुए हैं। परन्तु टब्बो का प्रकाशन अभी तक नही हुआ है। अन्य भी कोई टब्बाकार हुआ हो, ऐसा ज्ञात नही हो सका है। तेरापन्थ परम्परा मे भी सम्भवत कोई टब्बाकार हुआ हो ?

टब्बा की उपयोगिता

आज के युग ने वस्तुत टब्बा की उपयोगिता को समाप्त कर दिया है। जब से आगमो का अनुवाद प्रारम्भ हुआ है और उसका प्रचलन बढा है, तब से टब्बा-युग समाप्त हो गया। जो लोग सस्कृत और प्राकृत भाषाओ को नही जानते थे, उनके लिए टब्बा का बहुत बडा उपयोग था। विस्तृत टीकाओ का अध्ययन करने की जिनमे क्षमता नही थी, उन लोगो के लिए टब्बा का बहुत महत्व था। अथवा वे छात्र जिन्हे सस्कृत और प्राकृत नही आती थी, टब्बा के द्वारा ही वे आगमो का परिज्ञान करते थे। इसी आधार पर टब्बाओ को बालावबोध भी कहा जाता था। टब्बा और बालावबोध दोनो का अर्थ एक ही है।

अनुवाद-परिचय

आगम-साहित्य के टब्बा-युग के बाद मे अनुवाद-युग आया। अनुवाद का अर्थ है—भाषान्तर। अनुवाद मे अनुवादक को अपने विचारो को व्यक्त करने का अवसर नही मिलता। इस दृष्टि से अनुवाद को व्याख्या नही कहा जा सकता। यही बात टब्बा के विषय मे भी है। फिर भी अनुवाद को व्याख्या साहित्य मे परिगणित करना इसलिए अपेक्षित है, कि इससे भी अध्येता को मूल आगम के भावो को समझने का अवसर मिलता है। आगमो का अनुवाद मुख्यरूप मे तीन भाषाओ मे उपलब्ध होता है —

१ अँग्रेजी
२ गुजराती
३ हिन्दी

आगमो के अनुवाद का सत्प्रयत्न मूर्तिपूजक समाज की ओर से और स्थानक वासी समाज की ओर से बहुत पहले प्रारम्भ हो चुका है। अब तेरापन्थ समाज भी इस प्रयत्न मे है। तीनो परम्पराओ की ओर से प्रयत्न होने पर भी अभी तक समस्त आगमो पर सुन्दर अनुवाद उपलब्ध नही हो पाया है। फिर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओ की तो बात ही अलग है, उस ओर तो अभी प्रयत्न ही नही है।

अंग्रेजी अनुवाद

समस्त आगमो का अंग्रेजी अनुवाद नही हो सका है। परन्तु जर्मन विद्वान हरमन जैकोवी ने आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन और कल्पसूत्र इन चार आगमो का बहुत सुन्दर अनुवाद किया है। आचाराग और कल्पसूत्र के अनुवाद की भूमिका अत्यन्त सुन्दर और उपयोगी है। उससे बहुत-सी प्राचीन मान्यताओ पर अच्छा प्रकाश पडता है। आगमो की महत्ता का परिज्ञान होता है। उक्त विद्वान ने जैन धर्म के अन्य ग्रन्थो का भी अनुवाद और सम्पादन किया है। आचार्य हरिभद्र की समरादित्य की कथा का सम्पादन और सशोधन बहुत ही सुन्दर हुआ है। उसकी भूमिका भी महत्वपूर्ण है।

अभ्यकर ने दशवैकालिक सूत्र का अंग्रेजी अनुवाद बहुत सुन्दर किया है। उपासक दशाग का भी अंग्रेजी अनुवाद बहुत सुन्दर हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्तकृत-दशा और अनुत्तरोपपातिक दशा का भी अग्रेजी अनुवाद हो चुका है। विपाक सूत्र और निरयावलिका सूत्र का भी अग्रेजी अनुवाद हो चुका है। विदेशी विद्वानो ने आगमो के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो का भी अग्रेजी अनुवाद किया है।

गुजराती अनुवाद

आगम-वाङ्मय के विराट विद्वान महामनीपी पण्डित बेचरदास जी ने अनेक आगमो का सशोधन सम्पादन और अनुवाद किया है। आपने आगमो का गहरा अनुशीलन करके, उनका सशोधन और सम्पादन करके श्रुत की महती सेवा की है। भगवती-सूत्र, कल्प सूत्र, राजप्रश्नीय-सूत्र, ज्ञाता-सूत्र और उपासक दशा सूत्र का बहुत सुन्दर अनुवाद ही नही किया, बल्कि विशेप स्थलो पर महत्त्वपूर्ण टिप्पण भी लिखे है और प्रारम्भ की भूमिका।

जीवाभाई पटेल ने अनेक आगमो का सुन्दर शैली मे अनुवाद किया है। उन पर महत्त्वपूर्ण टिप्पण भी लिखे है। जीवा भाई पटेल के प्रकाशन बडे ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

दार्शनिक विद्वान पण्डित दलसुख जी मालवणिया ने स्थानाग सूत्र और समवायाग सूत्र का सयुक्त अनुवाद विपयवार वर्गीकरण और महत्त्वपूर्ण टिप्पणो से सयुक्त अभिनव प्रकाशन किया है, जो अपनी शैली का सुन्दर प्रकाशन है।

पण्डित श्री सौभाग्य मुनि जी "सन्त वाल" ने पूर्व आचाराग का बहुत सुन्दर अनुवाद किया है। विशेप स्थलो पर और विशेप शब्दो पर गम्भीर टिप्पण लिखे है और प्रारम्भ मे विस्तृत भूमिका भी लिखी है, जो तुलनात्मक है। दशवैकालिक सूत्र और उत्तराध्ययन सूत्र का भी आपने अनुवाद और सटिप्पण सम्पादन किया है।

मूर्ति पूजक-परम्परा के अनेक विद्वान मुनिवरो ने अनेक आगमो का सुन्दर अनुवाद किया है। केवल आगमो का ही नही, कुलक और अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेखनीय अनुवाद किया है।

हिन्दी अनुवाद

हिन्दी अनुवाद के क्षेत्र मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवमय कार्य पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ने किया है। बत्तीस आगमो का अनुवाद कर डालना, कोई साधारण बात नही है। और वह भी आज की अपेक्षा उस साधन-हीन युग मे वस्तुत बहुत बडी बात है।

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज तो आगमो के एक सुप्रसिद्ध अनुवादक और व्याख्याकार थे। स्थानकवासी समाज के आप एक युगान्तरकारी व्यक्ति थे। अनेक आगमो पर आपने विशद व्याख्याएँ प्रस्तुत की है। आप के द्वारा व्याख्यात उत्तराध्ययन सूत्र, दशवैकालिक-सूत्र, अनुत्तरोपपातिक सूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र समाज मे प्रभूत प्रचारित और सर्वप्रिय प्रकाशन है। आप की श्रुत सेवा समाज का गौरव है। आपके शिष्य पण्डित ज्ञान मुनि जी ने विपाक-सूत्र का विस्तृत हिन्दी विवेचन प्रस्तुत किया है। आपके द्वारा सम्पादित आगम सर्व-प्रिय है।

पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज ने बडी महत्वपूर्ण आगम सेवा की है। आपके द्वारा लगभग बीस आगमो का प्रकाशन हो चुका है। आपने उन पर स्वतन्त्र रूप से सस्कृत टीका की है। स्थानकवासी परम्परा मे आप सर्व प्रथम सस्कृत टीकाकार है। आपकी श्रुत-सेवा प्रशसनीय है।

मरुधर-धरा के ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज की देख-रेख मे सूत्रकृताग की आचार्य शीलाक कृत टीका का हिन्दी अनुवाद हुआ है। इसका प्रकाशन चार भागो मे हुआ है। प्रथम भाग मे मूल और टीका—दोनो का हिन्दी अनुवाद हुआ है। बाद के तीन भागो मे केवल मूल मात्र का हिन्दी अनुवाद किया गया है।

उपाध्याय हस्तीमल जी महाराज ने अनेक आगमो का अनुवाद किया है। दशवैकालिक सूत्र का, नन्दी सूत्र का और प्रश्नव्याकरण का हिन्दी अनुवाद और सम्पादन किया है। बृहत्कल्प सूत्र की एक लघु टीका का भी प्रकाशन किया है।

प्रसिद्ध वक्ता पण्डित सौभाग्यमल जी महाराज ने पूर्व आचाराग-सूत्र का हिन्दी अनुवाद और हिन्दी विवेचन प्रकाशित किया है।

उपाध्याय श्री अमर चन्द्र जी महाराज ने सामायिक-सूत्र और श्रमण-सूत्र पर हिन्दी भाषा मे विस्तृत भाष्य लिखा है। दोनो ग्रन्थ आगम-साहित्य की सेवा मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है। भाव, भाषा और शैली सभी दृष्टि से उक्त दोनो ग्रन्थ बहुत ही लोक-प्रिय सिद्ध हुए हैं। सन्मति ज्ञान पीठ से अनुत्तरोपपातिक सूत्र का एक बहुत सुन्दर प्रकाशन हुआ है, जिसमे विस्तृत भूमिका, हिन्दी अनुवाद और हिन्दी टिप्पण है, जिसका सम्पादन विजय मुनि जी ने किया है।

परिशिष्ट

मूल आगम

अङ्ग

१ आचार
२ सूत्रकृत
३ स्थान
४ समवाय
५ व्याख्या-प्रज्ञप्ति
६ ज्ञाता-धर्म कथा
७ उपासक दशा
८ अन्तकृद् दशा
९ अनुत्तरोपपातिक दशा
१० प्रश्न व्याकरण
११ विपाक
१२ दृष्टिवाद (विलुप्त)

उपांग

१. औपपातिक
२ राजप्रश्नीय
३ जीवाभिगम
४ प्रज्ञापना
५ सूर्य-प्रज्ञप्ति
६ चन्द्र-प्रज्ञप्ति
७ जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति
८ कल्पिका
९ कल्पावतसिका
१० पुष्पिका
११. पुष्प चूलिका
१२. वृष्णिदशा

मूल

१ दशवैकालिक
२ उत्तराध्ययन
३ आवश्यक
४ पिण्ड-निर्युक्ति
अथवा
ओघ-निर्युक्ति

छेद

१ निशीथ
२ महानिशीथ
३ बृहत्कल्प
४ व्यवहार
५ दशाश्रुत स्कन्ध
६ पञ्चकल्प

चूलिका

१. नन्दी
२. अनुयोग द्वार

प्रकीर्णक

१. चतु शरण
२. आतुर प्रत्याख्यान
३. महाप्रत्याख्यान
४ भक्त-परिज्ञा
५. सस्तारक

६. तन्दुल वैचारिक
७ देवेन्द्र स्तव
८ गच्छाचार
९. गणि-विद्या
१०. मरण-समाधि

आगम-युग

आगमो की भाषा अर्ध मागधी है। जैन अनुश्रुति के अनुसार तीर्थङ्कर अर्ध मागधी मे देशना करते है। अत इसको देव-वाणी भी कहा गया है। अर्ध मागधी भापा को बोलने वाला भापार्य कहा जाता है। यह भापा मगध के अर्ध भाग मे बोली जाती थी। इसमे अट्ठारह देशी भापाओ के लक्षण मिश्रित है। महावीर के शिष्य—मगध, मिथिला, काशी, कौशल आदि अनेक देशो के थे। अत आगमो की भापा मे देश्य शब्दो की प्रचुरता है। चूर्णिकार जिनदास महत्तर की व्याख्या के अनुसार .गधो और देश्य शब्दो का मिश्रण अर्ध मागधी है।

आगम-युग का काल-मान, लगभग विक्रम पूर्व ४७ से प्रारम्भ होकर एक हजार वर्ष तक जाता है। वैसे किसी न किसी रूप मे, आगम-युग की परम्परा वर्तमान मे चल रही है।

जैन परम्परा के अनुसार आगमो के प्रणेता अर्थ-रूप मे तीर्थङ्कर और शब्द-रूप मे गणधर होते है। महावीर की वाणी का सार उनके गणधरो ने शब्द-बद्ध किया। फलत अर्थागम के प्रणेता तीर्थङ्कर और शब्दागम के प्रणेता गणधर। परन्तु आगमो का प्रामाण्य गणधरकृत होने से नही, अपितु तीर्थङ्कर वाणी होने से माना जाता है।

आगमो की सख्या कितनी है? इस विषय मे एक मत नही है। आगमो की सख्या के सम्बन्ध मे इस प्रकार की धारणा है—८४, ४५, ३२।

आगमो मे धर्मद, र्शन, सस्कृति, तत्त्व, गणित, ज्योतिष, खगोल भूगोल और इतिहास—सभी प्रकार के विपय यथाप्रसग आ जाते है। फिर भी मुख्यता, धर्म, दर्शन, सस्कृति, साधना और तत्त्व की रहती है। अध्यात्म-वाद आगमो मे सर्वत्र व्याप्त है। आगमो मे सर्वत्र जीवन-स्पर्शी विचारो का प्रवाह परिलक्षित होता है। विचार और आचार के जो मूल तत्त्व आगमो मे है, निर्युक्ति, भाप्य, चूर्णि और टीका ग्रन्थो मे उन्ही का विस्तार आचार्यो ने अपने-अपने युग की आवश्यकताओ के अनुसार किया है।

निर्युक्ति-युग

निर्युक्ति	निर्युक्तिकार
१ आवश्यक	आचार्य भद्रबाहु
२. दशवैकालिक	"

३.	उत्तराध्ययन	"
४.	आचाराग	"
५.	सूत्रकृताग	"
६.	दशाश्रुतस्कन्ध	"
७.	बृहत्कल्प	"
८.	व्यवहार	"
९.	ओघ	"
१०.	पिण्ड	"
११	ऋषिभाषित	"
१२.	सूर्य-प्रज्ञप्ति	"
१३.	ससत्त	"
१४	आराधना	"
१५.	गोविन्द	आचार्य गोविन्द

मूल आगमो के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए जो व्याख्या-साहित्य लिखा है, उनमे निर्युक्ति सबसे प्राचीन है। जिस प्रकार वैदिक पारिभाषिक शब्दो को विस्तृत करने के लिए महर्षि यास्क ने निघण्टु—भाष्य रूप निरुक्त लिखा, उसी प्रकार जैन आगमो के पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य मे निर्युक्तियो की रचना की। किन्तु भद्रबाहु अनेक हुए है। कम से कम दो तो हुए ही है—प्रथम और द्वितीय। कुछ विद्वान प्रथम भद्रबाहु को निर्युक्तियो का प्रणेता मानते है तथा कुछ दूसरे को। अभी अनुसन्धान चालू है।

लगभग वल्लभी वाचना के समय—ईसवी पूर्व पाँचवी-छठी शताब्दी मे निर्युक्तियो की रचना प्रारम्भ हो चुकी थी। क्योकि नय-चक्र के प्रणेता मल्लवादी नें, जो कि विक्रम की पाँचवी शती मे थे—अपने ग्रन्थ मे निर्यक्ति गाथा का उद्धरण दिया है।

भाष्य-युग

	भाष्य	भाष्यकार
१	बृहत्कल्प	सघदास गणि
२.	व्यवहार	"
३.	निशीथ	"
४.	पञ्चकल्प	"
५	जीतकल्प	जिनभद्र क्षमाश्रमण

६. विशेषावश्यक „
७. दशवैकालिक „
८. उत्तराध्ययन „
९. ओघ „
१०. पिण्ड „

निर्युक्तियो की व्याख्या पद्धति बहुत ही गूढ और सक्षिप्त थी। किसी भी विषय का विस्तार से विचार उसमे नही था। अत विस्तार की आवश्यकता ने भाष्यो का आविष्कार किया। निर्युक्तियो के गूढ अर्थ को प्रकट करने के लिए आचार्यो ने विस्तृत टीका लिखना आवश्यक समझा। निर्युक्तियो के ऊपर जो पद्यात्मक टीकाएँ लिखी गई, वे भाष्य के रूप मे प्रसिद्ध है। भाष्यो की भाषा भी प्राकृत ही है।

आवश्यक-सूत्र पर तीन भाष्य है—मूल-भाष्य, भाष्य और विशेपावश्यक भाष्य। प्रथम के दो सक्षेप मे है और तीसरा विस्तार मे।

भाष्यो का समय लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी माना जाता है। भाष्यो की भाषा प्राञ्जल है। भाष्यकार अनेक हुए है। किन्तु उल्लेख दो भाष्यकारो का ही मिलता है—सघदास गणि और जिन भद्र क्षमा श्रमण। आगम प्रभाकर श्री पुण्य विजय जी के विचारानुसार कम से कम चार भाष्यकार हुए है। उनमे दो का नाम तो उपलब्ध है और शेष दो का उल्लेख नही मिलता। पण्डित दलसुख जी निशीथ भाष्य के प्रणेता के रूप मे सिद्धसेन क्षमाश्रमण को मानते है।

चूर्णि-युग

चूर्णि	चूर्णिकार
१. आवश्यक	आचार्य जिनदास महत्तर
२. आचाराग	„
३. सूत्रकृताग	„
४. दशवैकालिक	„
५. उत्तराध्ययन	„
६. नन्दी	„
७. अनुयोगद्वार	„
८. व्याख्या-प्रज्ञप्ति	„
९. जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति	„
१०. जीवाभिगम	„
११. निशीथ	„
१२. महानिशीथ	„

१३	वृहत्कल्प	प्रलम्ब सूरि
१४.	व्यवहार	"
१५.	दशा श्रुत स्कन्ध	"
१६.	जीत कल्प	सिद्धसेन सूरि
१७.	पञ्च कल्प	"
१८	ओघ	"

निर्युक्ति और भाष्य की भाँति चूर्णि भी आगमो की व्याख्या है। परन्तु यह पद्य मे न होकर गद्य मे होती है और केवल प्राकृत मे न होकर प्राकृत एव सस्कृत दोनो मे होती है। अधिकता प्राकृत की होती है। चूर्णि की भाषा सरल और सुबोध्य होती है।

चूर्णियो का समय अभी पूर्णतया स्थिर नही हो पाया है। परन्तु इतिहासकार प्रसिद्ध चूर्णिकार आचार्य जिनदास महत्तर का समय छठी शताब्दी के आस-पास मानते है। चूर्णिकारो मे सिद्धसेन सूरि और प्रलम्ब सूरि का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु शेष का नही मिलता है।

आगमो के कुछ विशिष्ट शब्द

शब्द	अर्थ
विण्णू	विद्वान
अतिविज्ज	अति विद्वान
सागारिक	मैथुन
हुरत्था	अन्यत्र
खद्ध-खद्ध	शीघ्र-शीघ्र
वियड	प्रासुक जल
विह	मार्ग
णीहट्टु	निकाल कर
णूम	माया
कण्हुई	कही पर
विभज्जवाय	विभज्यवाद=स्याद्वाद
वुसी	साधु
गारत्थ	गृहस्थ
बोंदि	शरीर
वग्गू	वचन
अट्टण-साला	व्यायाम-शाला

जवणिया	पर्दा
दसद्ध	पाँच
नट्टुलग	नृत्य
मेढी	आधार
पोट्ट	पेट
पेयाल	प्रधान
निडाल	ललाट
णिदू	वाझ
डिभ	शिशु
महेलिया	महिला
चगेरी	फूलो की डलिया
हुड	वेडोल
गोमिया	ग्वाला
लउह	न्दर
आहिवच्च	आधिपत्य
वेसवार	वेश्या
खिप्पामेव	शीघ्र ही
देवाणुप्पिय	देवो को प्रिय
हडाहड	बहुत अधिक
वग्गुरा	समूह
माउग्गाम	स्त्री
सुब्भि	शुभ
वुग्गह	कलह
मेरा	मर्यादा
मोय	मूत्र
दोगच्च	दरिद्रता
तुप्प	घी
डहर	बालक
गोर	गोधूम=गेहूँ
गोणी	बोरी

निर्युक्तियो के कुछ विशिष्ट शब्द

शब्द	अर्थ
लच	घूस

मज्यक	नाप
वाउल्लग	पुतला
रेल्लिया	पानी की बाढ
उद्देहिया	दीमक
चेल्लग	चेला
उड्डाह	बदनामी
वच्चगिह	पाखाना
कमढग	कमण्डल
सेयपड	श्वेताम्बर
मिलक्खू	म्लेच्छ
लख	नट
मच्छिगा	मच्छीमार
पणिय-साला	भण्ड-शाला
मडग-गिह	मृतक-गृह
इन्द-मह	इन्द्रोत्सव

भाष्यों के कुछ विशिष्ट शब्द

शब्द	अर्थ
वाउल्ल	गुडिया
जड्ड	हाथी
कोल्लुग	शृगाल
वरिल्ल	श्येन पक्षी
केवडिय	कितना
पिहलि	शिखा
उसु	तिलक
कामजल	स्नान करने की चौकी
दमअ	दरिद्र
नेड्ड	घर
ओम	दुर्भिक्ष
कोणय	लाठी
कमणी	जूते
भदत	पूज्य
अगुरगा	गाडी

आयमणी	लुटिया
मन्नु	क्रोध
सरडू	गुठली रहित फल
कोनाली	गोष्ठी
वाडु	नाश
सभलि	दूती
वोद	मूर्ख
रकडुय	मृतक भोजन
सगिल्ल	समूह
खरिका	गर्दभी
खरिका-मुखी	दासी
किढग	वृद्ध
मरुग	ब्राह्मण
किढी	स्थविर
तालायर	नट
उम्मरी	देहली
वेट्टिका	राजकन्या
बोद्द	तरुण

चूर्णियों के कुछ विशिष्ट शब्द

शब्द	अर्थ
गोधम्म	मैथुन
सीता	श्मशान
खट्टिक	खटीक जाति
लोमसी	ककडी
इलय	छुरी
रिणकठ	पानी का किनारा
अद्धाणकप्प	रात्रि भोजन
सइज्भिय	पडौसी
पाइल्लग	फावडा
चिलिचिल्ल	आर्द्र
तच्चण्णिय	बौद्ध भिक्षु

भाषा विज्ञान

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी आगमो का अध्ययन परम आवश्यक है। आगम, निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि—इन चारो युगो मे प्राकृत-भाषा मे बहुत परिवर्तन हुआ है। यहाँ पर केवल कुछ शब्दो का ही दिशा-दर्शन दिया गया है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यदि आगम और उसके व्याख्या-साहित्य की छान-बीन की जाए, तो बहुत से तथ्य प्रकट हो सकते है। उक्त साहित्य मे प्राचीन शब्द प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हो सकते है, जिनका आज की भाषा मे व्यवहार नही होता है।

★

जैन अंग सूत्रों के विशेष विचारणीय कुछ शब्द और प्रसंग

प्राध्यापक—पण्डित बेचरदास जीवराज दोशी

१. मडाई

जिस प्रकार वैदिक सन्यासी निर्दोप भिक्षा के द्वारा अपना सावनामय जीवन यापन करता था, उसी प्रकार जैन श्रमण भी अपने चित्त के राग-द्वेषात्मक वैभाविक सस्कारो को हटाने के लिए और अन्तर्वृत्ति को समता-पूर्ण बनाने के लिए, देह के माध्यम से ज्ञान और तपोमय साधना को विवेक पूर्वक सम्पन्न करते हुए, निरवद्य भिक्षा से ही अपना संयमी जीवन यापन करता रहा है। इसी कारण जैन श्रमण का एक "भिक्षु" नाम भी सुप्रसिद्ध हो गया है।

व्याख्या-प्रज्ञप्ति—भगवती सूत्र नामक पांचवें अग सूत्र मे एक जगह "भिक्षु" के स्थान पर जैन-निर्ग्रन्थ को "मडाई" विशेपण से भी सम्बोधित किया गया है। भगवती सूत्र शतक २, उद्देशक १ प्रश्न १३ के मूल पाठ मे "मडाई" शब्द का प्रयोग इस प्रकार है :—

"मडाई णं भंते ! निग्गंठे·········।"

भगवती सूत्र के वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरी उक्त "मडाई" शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं, कि "मड"+"आई" इन दो शब्दो से "मडाई" शब्द बना है :—"मृतादी प्रासुक-भोजी उपलक्षणत्वात् एषणीयादी च—।" वृत्तिकार की सूचना के अनुसार "मृतम् अत्ति इति मृताऽऽदी-" इस प्रकार मृतादी शब्द निप्पन्न होता है। और इस मृतादी का ही प्राकृत भापा मे "मडाई" रूपान्तर होता है। सर्व साधारण

जनता मे "मृत" शब्द मृतक-मडा-मुर्दा-मरे हुए के अर्थ मे रूढ है। यद्यपि "मृत" शब्द वनस्पति आदि के मृत शरीर के प्रति भी सूचना करता है, परन्तु मृत (मुर्दा) शब्द सुनते ही जितना शीघ्र मनुष्य एव पशु के मृत देह का बोध होता है, उतना वनस्पति आदि के मृत शरीर का नही। मृत शब्द वनस्पति के मृत शरीर के लिए रूढ भी नही है। अतएव जैन मुनि के लिए प्रयुक्त "मृतादी" शब्द थोडा सा घृणास्पद एव अरुचिकर लगता है।

भगवती सूत्र का यह मृतादी-शब्दगत 'मृत' शब्द वस्तुत किस अर्थ का वाचक है, यह विचारणीय है। क्या यथाश्रुत मृत-मृतक-मुर्दा अर्थ का ही सूचक है, या मृत का कोई और भी अर्थ हो सकता है ? मृत का एक अर्थ याचित अर्थात् भिक्षा भी होता है। अमरकोश, द्वितीयकाण्ड, १६ वा वैश्यवर्ग तथा श्लोक ३ मे लिखा है—"द्वे याचित-अयाचितयो : यथासंख्यं मृत-अमृते।" अर्थात् जो पदार्थ याचित है—याचना के द्वारा प्राप्त होता है, उसको मृत कहते हैं और जो अयाचित है—याचना के विना ही मिल जाता है, उसको अमृत कहते हैं।[1] अमरकोश के सुप्रसिद्ध टीकाकार महेश्वर याचित और मृत शब्दों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—"याचिते प्रत्यहं तण्डुलादियाञ्चायाम् मृतम् इति एकम् 'मृतं तु नित्ययाञ्चा स्यात् इति उक्तेः।" उक्त विवेचना पर से मृत शब्द का भाव, आशय और परमार्थ भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

अमरकोश ही नही, दूसरे कोशो मे भी मृत का याचित अर्थ किया गया है। प्रमाण-स्वरूप सुप्रसिद्ध कोशो मे से वह अश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है

"मृतं स्याद् याचिते।"

—विश्वप्रकाश, तद्विक श्लो० ४, चौखवा सिरीज मुद्रण।

"मृतं मृतौ याचिते च।"—द्विस्वर काण्ड, श्लो० २०१

—जैनाचार्य हेमचन्द्र रचित, "अनेकार्थ सग्रह", निर्णयसागर मुद्रण।

"मृतं तु याचितम्। अयाचित स्याद् अमृतम्।"

—आचार्य हेमचन्द्र रचित, अभिधान चिन्तामणि, का० ३, श्लो० ५३०

इस प्रकार अमरकोश आदि इतर कोशो मे और स्वय जैनाचार्य प्रणीत कोशो मे भी, जब कि मृत शब्द याचित अर्थात् भिक्षा के अर्थ मे सुप्रसिद्ध है, तब भगवती सूत्र के 'मडाई'—'मृतादी' शब्द का

---

[1] प्रस्तुत सन्दर्भ मे मनु स्मृति का उल्लेख भी दृष्टव्य है :

ऋतं उञ्छशिलं ज्ञेयं, अमृत स्याद् अयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥

—अध्या० ४ श्लोक ५

यथाश्रुत शब्दार्थरूप मे मृतकभोजी एव फलितार्थ रूप मे अचित्त-भोजी अर्थ ही क्यो ग्रहण किया जाए ? मनुस्मृति एव कोशकारो के परम्परागत आधार पर तो भगवती सूत्र के 'मडाई' शब्द का भी उक्त सन्दर्भ मे मृतादी, अर्थात् याचित-भोजी भिक्षु अर्थ ही विशेप सुसगत प्रतीत होता है।

२ फासुय

भगवती सूत्र के वृत्तिकार ने 'मृताऽऽदी' का पर्याय शब्द 'प्रासुकभोजी' बताया है। यह अर्थ भी विचारणीय है। जैन परम्परा मे प्रासुक शब्द 'प्र+'असुक'—इस प्रकार दो शब्दो के सम्बन्ध से निर्मित माना जाता है। उक्त शब्द का बहुव्रीहि समास इस प्रकार किया जाता है—प्रगता. असव. यस्मात् तत् प्रासुकम्।" समासलभ्य अर्थ यह हुआ कि जिसमे से असु-प्राण-जीव निकल गया है, वह पदार्थ। शब्दार्थ-की दृष्टि से मृत शब्द का जो 'मुर्दा' अर्थ लोक-प्रसिद्ध है, वही प्रासुक शब्द का भी है। दोनो मे कोई अन्तर नही है। परन्तु प्रासुक शब्द की शोध करने से मालूम हुआ कि अमरकोश, विश्व प्रकाश, अनेकार्थ सग्रह और अभिधानचिन्तामणि नामक कोशो मे कही भी मृत अर्थ मे प्रासुक शब्द उपलब्ध नही है। स्वय जैनाचार्य भी अपने कोशो मे उक्त प्रसिद्ध शब्द का कोई उल्लेख नही करते। अतएव प्रासुक शब्द का मूल भी विचारणीय है कि यह वस्तुत है क्या ? कहाँ और किस मूल शब्द से यह प्रचलित हुआ है ?

प्राचीन जैन आगमो मे भिक्षा के विशेषण रूप मे कही 'फासुअ' तो कही 'फासु' शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है। 'फासुअ' शब्द प्राकृत अर्धमागधी का है। मालूम होता है, कि इसी के लिए किसी उत्तरकालीन जैन पण्डित ने शब्द साम्य की दृष्टि से सस्कृत रूप प्रासुक की कल्पना की है। केवल शब्द-साम्य की दृष्टि से यदि प्राकृत शब्दो के मन चाहे सस्कृत रूपान्तर कल्पित किए जाने लगे, तो अर्थबोध होना ही दुष्कर हो जाएगा। इतना ही नही, कही-कही तो अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। मेरे विचार मे प्रासुक शब्द भी इसी प्रकार प्राकृत 'फासुअ' का एक कल्पित सस्कृत रूप है, जो अपने मूल प्राकृत शब्द के वास्तविक अर्थ को व्यक्त नही करता है।

प्राचीन पाली-मागधी भाषा मे भी 'फासु' शब्द का प्रयोग विद्यमान है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने प्राकृत व्याकरण (८, ४, १, २) मे 'फासु' धातु का उल्लेख किया है। अत. प्रासुक के मूल प्राकृत शब्द 'फासु' या 'फासुअ' का सम्बन्ध 'फास' धातु के साथ अथवा मागधी भाषा के 'फासु' शब्द के साथ जोडना विशेष उचित एव अभिप्रेत अर्थ का द्योतक होगा। यदि विद्वान इस दिशा मे कुछ भी यथार्थ-मूलक विचार करेगे, तो उन्हे फासुअ के सस्कृत रूप प्रासुक शब्द की अनर्थकता स्वत परिलक्षित हो जाएगी।

अभिधानप्पदीपिका नामक मागधी भापा के शब्द कोश मे 'फासु' शब्द 'सुख' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[1] जब हम फासु शब्द का 'सुख' अर्थ मागधी भाषा मे देखते है, तब हमे फासु-भोजी का अर्थ

---

[1] "सुखं सात फासु"—अभिधानप्पदीपिका, सर्ग १, श्लोक ८८,—गुजरात पुरातत्व मन्दिर प्रकाशन

'सुख-भोजी' करना चाहिए, न कि 'प्रासुकभोजी'। फासु-भोजी शब्द मे 'फासु' क्रिया विशेषण रूप मे है, अस्तु मागधी भाषा के अनुसार सुख वाचक 'फासु' क्रियाविशेषण से निर्मित 'फासु भोजी' शब्द का अर्थ होता है—'सुखपूर्वक भोजन करने वाला।' जो भिक्षु अपनी साधना के लिए सुखरूप या अनुकूल खान-पान तथा वस्त्र-पात्र आदि का उपभोग करता है, वह फासुभोजी अथवा फासुअभोजी कहलाता है। यह अर्थ जैन परम्परा मे भी स्पष्टरूप से सगत होता है। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा कथित प्राकृत 'फास' धातु से मागधी-प्राकृत "फासुअ" शब्द को निष्पन्न मानकर फासुअभोजी का सस्कृत रूपान्तर स्पर्शुक भोजी करना ही उपयुक्त-प्रतीत होता है। प्र+असुक=प्रासुक—इस प्रकार फासुअ शब्द पर से मृतवाचक प्रासुक शब्द की व्युत्पत्ति करने की अपेक्षा उपर्युक्त पद्धति से "फासुअ" का मागधी भाषा के "फासु" शब्द के साथ सम्बन्ध जोडना, और स्पर्श-वाचक फास धातु से अर्थानुकूल प्रथम स्पर्श और अनन्तर स्पर्शुक सस्कृतरूप बनाना, अधिक तर्क-सगत, विशेष सुगम एव सुबोध है।

३ नायपुत्त

कुछ समय पूर्व अनेकान्त नामक जैन मासिक पत्र मे, एक जैन मुनि ने नायपुत्त का सस्कृत रूपान्तर नागपुत्र करके श्रमण भगवान् महावीर को नागवशी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न जैन और बौद्ध साहित्य तथा ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से सर्वथा असगत है। जबकि बौद्ध त्रिपिटक ग्रन्थो के मूल मे **"दीघतपस्सी निग्गठो नातपुत्तो"**, के रूप मे अनेकश भगवान् महावीर के लिए "नातपुत्त" शब्द का प्रयोग हुआ है और वह साक्षी रूप मे आज भी निर्विवाद रूप से पाली त्रिपिटक मे उपलब्ध है, तब प्राकृत जैनागमो मे प्रयुक्त नायपुत्त का सस्कृत रूप नागपुत्र समझना और भगवान महावीर को इतिहास-प्रसिद्ध ज्ञातृवश से सम्बन्धित न मानकर उनका नागवश से सम्बन्ध जोडना, स्पष्ट ही निराधार कल्पना नही तो और क्या है? आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र आदि प्राचीन बहुश्रुत आचार्यो ने भी नायपुत्त का ज्ञातपुत्र ही सस्कृत रूप बताया है और अनेकत्र उनका ज्ञातनन्दन के रूप मे उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति मे व्यर्थ की निराधार एव भ्रान्त कल्पनाओ के आधार पर हम अपने प्राचीन उल्लेखो एव मान्यताओ को सहसा कैसे झुठला सकते है?

चाहे "फासुअ" शब्द को लीजिए, चाहे 'नायपुत्त' शब्द को, या किसी और शब्द को। प्राचीन प्राकृत विशेष नामो के सस्कृत रूपान्तर की कल्पना करते समय बहुत बडी सावधानी की अपेक्षा है। अन्यथा स्वकल्पना प्रेरित मात्र शब्द-साम्य की दृष्टि से सस्कृतीकरण की प्रवृत्ति से, केवल एक और अधिक नई भ्रान्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त और, कुछ भी परिणाम नही होगा।

४ महारह

सूत्र कृताग सूत्र के प्रथम स्कन्धवर्ती तृतीय उपसर्ग नामक अध्ययन के प्रथम उद्देशक की प्रथम गाथा मे "महारह" शब्द का प्रयोग है—**"जुज्झंत दढ्ढधम्माण सिसुपालो व महारह।"** उक्त महारह शब्द, जिसका सस्कृत रूप महारथ होता है, केवल सामान्य विशेषण नही है। यद्यपि महारथ का "महान्

रथो यस्य स महारथ." इस प्रकार बहुव्रीहि समास के द्वारा "महान् रथ वाला योद्धा" यही अर्थ होता है, फिर भी यह केवल यौगिक रूप मे सामान्य योद्धा का वाचक न होकर योगरूढरूप कृष्ण का पर्यायवाची नामान्तर है। यद्यपि कोशो मे महारथ शब्द कृष्ण के पर्यायवाची नामो मे नही मिलता है। परन्तु कवि-प्रयोग मे महारथ का अर्थ कृष्ण मिलता है। माघ आदि काव्य ग्रन्थो मे "महारथ" शब्द कृष्ण के अर्थ मे सुप्रसिद्ध है। महाकवि माघ अपने शिशुपाल बध (माघ) नामक महाकाव्य के सर्ग ३, श्लो० २२ मे कहते है:—

"महारथः पुष्यरथं रथाङ्गी,
क्षिप्र क्षपा-नाथ इवाधिरूढः॥"

उक्त श्लोक की टीका मे श्री मल्लिनाथ ने महारथ शब्द की व्याख्या करते हुए एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है —

"आत्मान सारथि चान्यान्, रक्षन् युध्येत यो नरः;
स महारथसज्ञः स्यात् इत्याहुर्नीति-कोविदाः।"

उपर्युक्त समग्र प्रमाणो से महारथ पद का अर्थ यहाँ प्रसगतः व्यक्ति-विशेष रूप कृष्ण ही सिद्ध होता है, न कि जिसका रथ महान् है, ऐसा कोई मात्र सामान्य मानवरूप अर्थ।

सूत्र कृताग के प्रस्तुत प्रसग मे स्पष्टत शिशुपाल का उल्लेख है, अत शिशुपाल का प्रतिपक्षी महारथ योद्धा पौराणिक अनुश्रुति के आधार से कृष्ण के अतिरिक्त दूसरा और कोई नही हो सकता। अत यहाँ महारह-महारथ शब्द से कृष्ण का ही ग्रहण करना चाहिए।

५. वीस-सेण

सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम स्कन्धवर्ती वीर स्तुति नामक छठे अध्ययन की २२ वी गाथा मे 'वीससेण' शब्द का उल्लेख है—"जोहेसु नाए जह वीससेणे।" उक्त गाथाश का तात्पर्य है, कि भगवान् महावीर रागद्वेष रूप अन्तरग शत्रुओ के साथ युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त करने वाले वैसे ही असाधारण आध्यात्मिक योद्धा थे, जैसे कि समस्त योद्धाओ मे विशेष रूप से ज्ञात-ख्यात-सुप्रसिद्ध "वीससेण" नामक योद्धा। "वीससेण" पद उपमान रूप है और भगवान् महावीर उपमेय रूप है।

प्रस्तुत प्रसग मे 'वीससेण' शब्द का सस्कृत रूप क्या होना चाहिए, और वह किस अर्थ का वाचक है, यह विचारणीय है। सूत्रकृताग सूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शीलाक ने वीससेण का सस्कृत रूप 'विश्वसेन' और उसका अर्थ 'चक्रवर्ती' किया है—"योधेषु मध्ये ज्ञातः विदितः दृष्टान्तभूतो वा, विश्वा हस्त्यश्वरथ पदाति चतुरङ्ग बलसेना यस्य स विश्वसेनः चक्रवर्ती यथा असौ प्रधान.।"

जैन परम्परा मे १२ चक्रवर्ती माने गए है। उनके नाम प्राचीन आगमो मे तथा जैन ग्रन्थो मे सुप्रसिद्ध है, उनमे विश्वसेन नाम का कोई चक्रवर्ती नही है। यदि "विश्वसेन" चक्रवर्ती का मात्र पर्यायवाची शब्द माना जाए, जैसा कि टीका मे व्युत्पत्ति करते हुए सूचित किया है, तो वह भी सिद्ध नही होता। किसी भी कोश मे चक्रवर्ती के लिए विश्वसेन शब्द का पर्यायवाची के रूप मे उल्लेख नही है। अमरकोशकार ने "चक्रवर्ती सार्वभौम" (द्वितीय काण्ड, क्षत्रिय वर्ग, श्लो० २) लिखकर चक्रवर्ती के लिए 'चक्रवर्ती' और 'सार्वभौम'—इन दो ही शब्दो का उल्लेख किया है। जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने अभिधान चिन्तामणि कोश (मर्त्यकाण्ड ३, श्लो० ३३५) मे चक्रवर्ती के लिए उक्त दो शब्दो को ही पर्यायवाची के रूप मे बताया है। इसके अतिरिक्त आचार्य हेमचन्द्र ने "शेषश्चात्र" कह कर चक्रवर्ती का "अधीश्वर' भी एक पर्याय बताया है—"**चक्रवर्तिनि अधीश्वरः।**" परन्तु विश्वसेन शब्द चक्रवर्ती के लिए कही भी उल्लिखित नही है।

अब प्रश्न है, कि यदि सूत्रकृताग मे निर्दिष्ट 'वीससेण' शब्द चक्रवर्ती का वाचक नही है, तो वह फिर किस का वाचक है? और उक्त शब्द का सस्कृत रूप 'विश्वसेन' ही है या और कोई? सूत्रकृताग मे जिस प्रकार पहले उपमान रूप से 'महारथ' शब्द शूरवीर योद्धा के लिए आया है, उसी प्रकार यहाँ उपमान रूप से प्रयुक्त 'वीससेण' शब्द भी प्रसिद्ध योद्धा का ही वाचक है। आगमो मे इस प्रकार उपमान उपमेय की शैली से अनेक वर्णन उपलब्ध है। श्रीकृष्ण भारतीय इतिहास मे शूरवीर योद्धा के रूप मे सुप्रसिद्ध है। अतः 'वीससेण' से कृष्ण अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए, चक्रवर्ती अर्थ नही।

श्रीकृष्ण के लिए, सस्कृत कोशो मे, पर्यायवाची शब्द के रूप मे 'विष्वक्सेन' शब्द सुप्रसिद्ध है, अत 'वीससेण' का संस्कृत रूप 'विष्वक्सेन' होना चाहिए, न कि 'विश्वसेन'। अमरकोश प्रथम काण्ड, स्वर्ग वर्ग १, श्लो० १९ मे लिखा है—"**विष्वक्सेनो जनार्दनः।**"

अमर कोश के टीकाकार ने तालव्य शकार से भी "विश्वक्सेन" शब्द की सूचना दी है। जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरी ने भी अभिधान चिन्तामणि (देवकाण्ड २, श्लोक १२८) मे "**विष्वक्सेन-नारायणो**" लिख कर विष्वक्सेन शब्द को श्री कृष्ण का पर्याय बताया है। आचार्य श्री ने अभिधान चिन्तामणि कोश की अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति मे विष्वक्सेन शब्द की व्युत्पत्ति भी दी है—**विष्वक् सर्वव्यापिनी विषूची वा सेना अस्य विष्वक्सेनः।**"

केवल कोशकार ही नही, भारतीय काव्य साहित्य मे भी कृष्ण के लिए विष्वक्सेन शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए रघुवश और शिशुपाल वध के कुछ उद्धरण पर्याप्त होगे।

महाकवि कालिदास ने रघुवश (सर्ग १५, श्लो० १०३) मे लिखा है—

विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत् सर्वलोक-प्रतिष्ठम्।"

महाकवि माघ ने शिशुपाल वध (सर्ग १०, श्लो० ५५) मे कहा है,

"**साम्यमाप कमलासख विष्वक्सेनसेवितयुगान्तपयोधेः।**"

उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर स्पष्ट है, कि सूत्रकृताग सूत्र का "वीससेण" शब्द श्रीकृष्ण का ही एक नाम है, किसी चक्रवर्ती विशेष का नाम नही है और इस पद का सामान्य चक्रवर्ती अर्थ भी नही है। सस्कृत रूपान्तर भी वीससेण का विष्वक्सेन होना चाहिए, विश्वसेन नही। शब्दो का अर्थ अपनी इच्छा से मनचाहा नही बनाया जा सकता। यदि इस दिशा मे कल्पना-प्रधान पद्धति से यो ही कोई-न-कोई अर्थ घटित किया जाए, तो फिर शब्दार्थ की कोई मर्यादा ही न रहेगी। मात्र शब्दसाम्य की दृष्टि से प्राकृत शब्दो के मन चाहे सस्कृत रूप बनाना और उसे स्वकल्पित किसी भी अर्थ मे यो ही घटित करना शब्द-शास्त्र के प्रति अन्याय है। शब्दो के अर्थ की प्रामाणिकता के लिए रूढि, कवि प्रयोग और कोश आदि सामग्री ही उपयुक्त है और यही परिपाटी सर्व-सम्मत है।

६. दंतवक्क

सूत्रकृताग सूत्र के वीर स्तुति नामक छठवें अध्ययन की २२ वी गाथा के उत्तरार्ध में 'दतवक्क' शब्द आता है—"खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के।" "क्षत्रियो मे श्रेष्ठ जैसे दतवक्क है"। " आचार्य शीलाक सूरी ने "दतवक्क" शब्द का सस्कृत रूप "दान्तवाक्य" बनाया है, जो कि असगत है। मात्र कल्पना की दौड़ से अर्थ की सगति नही बैठा करती। जो शब्द जहाँ प्रयुक्त हुआ है, वहाँ उसका सदर्भ देखना आवश्यक होता है। सन्दर्भ के अनुसार ही अर्थ की सगति ठीक होती है। सूत्रकृताग का यह सदर्भ इस प्रकार है —

प्रस्तुत अध्ययन मे भगवान् महावीर की यशोगाथा का वर्णन है। भगवान् महावीर की उपमान-उपमेय के सम्बन्ध से स्तुति की गई है। भगवान उपमेय है और दन्तवक्क उपमान है। अर्थात् भगवान् महावीर को दन्तवक्क की उपमा दी गई है। सूत्रकार कहते है— "जिस प्रकार क्षत्रियो मे "दतवक्क" श्रेष्ठ है, उसी प्रकार तत्त्वदर्शी ऋषियो मे 'भगवान वर्द्धमान' श्रेष्ठ है। उपमान-उपमेय मे उपमेय तो विशेप नाम-स्वरूप व्यक्ति होता ही है, किन्तु उपमान भी, जिसके द्वारा उपमा दी जा रही है, विशेप नाम-रूप कोई व्यक्ति-विशेप ही होना चाहिए, तभी उपमान-उपमेय भाव की यथार्थ सगति होगी, अन्यथा नही। यदि उपमेय व्यक्तिरूप विशेप है और उपमान केवल विशेपण रूप सामान्य ही है, तो उपमान उपमेय का सम्बन्ध यथोचित रूप से घटित नही होगा। "पृथ्वीराज अर्जुन जैसा है"—उक्त वाक्य मे पृथ्वीराज उपमेय है और अर्जुन उपमान है। यदि उक्त वाक्यगत अर्जुन व्यक्ति-विशेप रूप न होकर केवल एक विशेपण ही हो तो उपमान उपमेय की सगति किसी भी तरह घटित नही होगी। निष्कर्ष यह है, कि व्यक्ति विशेप की ही उपमा दी जा सकती है, विशेपण की नही।

प्रस्तुत प्रसग मे यदि आचार्य शीलाक के द्वारा कल्पित 'दान्तवाक्य' को ही 'दतवक्क' का सस्कृत रूप माना जाए, तो वह एक सामान्य विशेपण ही होगा, किसी व्यक्ति-विशेप का नाम नही। और भगवान् महावीर का उत्कर्ष बताने वाला वह "दान्तवाक्य" केवल एक विशेपण ही हो, कोई विशिष्ट व्यक्ति नही, तो, भला, यह कैसे सगत हो सकता है? आचार्य शीलाक के अनुसार "दान्त वाक्य" शब्द से केवल इतना ही ध्वनित होता है, कि जिसके वाक्य बोलने मात्र से शत्रु शान्त हो जाते है या दमनयुक्त हो

जाते है, वह कोई भी मनुष्य। परन्तु वह कौन व्यक्ति है, कहाँ का है, और किस युग का है ? यह कुछ पता नही लगता है ? इस स्थिति मे तो वह मात्र एक विशेषण रूप सामान्य अज्ञात मानव ही रह जाता है, जो प्रस्तुत प्रसग मे कथमपि अभिप्रेत नही है।

आचार्य शीलाक ने उक्त शब्द की—**"दान्ताः-उपशान्ता. यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यः चक्रवर्ती"**—इस प्रकार व्याख्या की है और उसका चक्रवर्ती अर्थ किया है। कोशो मे चक्रवर्ती के अनेक पर्यायवाची नाम है, परन्तु उनमे "दान्तवाक्य" शब्द का कही भी उल्लेख नही है। और न काव्य-साहित्य आदि मे ही ऐसा कोई प्रयोग है। एक बात और है। वह यह कि व्याकरण की दृष्टि से भी आचार्य शीलाक द्वारा निर्दिष्ट दान्तवाक्य का समास असगत है। "दान्तवाक्य" का व्याकरण-सम्मत समास **"दान्तं वाक्य यस्य स."** इस प्रकार होता है **"दान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः"** नही। टीकाकार ने दान्त-वाक्य के समास मे "शत्रु" पद या अर्थ कैसे जोडा और लगाया है, यह समझ मे नही आता।

निषेधचर्चा लम्बी हो रही है। पाठक जानना चाहेगे, कि यदि "दन्तवक्क" का सस्कृतरूप "दान्तवाक्य" कल्पित है, प्रस्तुत प्रसग मे उपयुक्त नही है, तो फिर उसका वास्तविक सस्कृत रूप और अर्थ क्या है ? "दन्तवक्क" का सस्कृत रूप "दन्तवक्त्र" उचित प्रतीत होता है। "दन्तवक्त्र" महाभारत युग का एक सुप्रसिद्ध क्षत्रिय है, जो उत्तम जाति वाला एव उत्तम गुणो वाला माना गया है। दन्तवक्त्र का शब्दार्थ है—जिसके वक्त्र अर्थात् मुख मे जन्म से ही दान्त हो, वह व्यक्ति दन्तवक्त्र कहलाता है। यह केवल यौगिक नही, किन्तु योगरूढ शब्द है, जो वीर क्षत्रिय विशेष का वाचक है। स्तुतिकार भगवान् महावीर की श्रेष्ठता दन्तवक्त्र से बताना चाहता है, अत वह एक सामान्य व्यक्ति नही, किन्तु इतिहास-प्रसिद्ध वीर क्षत्रिय होना चाहिए। और वह महाभारतकालीन दन्तवक्त्र है, दान्त वाक्य नही। इतिहास मे दान्तवाक्य नामक कोई प्रसिद्ध व्यक्ति नही मिलता है।

महाभारत के सभापर्व (अध्याय ३२, श्लोक० ३) मे दन्तवक्त्र का राजाधिप और महाबली के रूप मे उल्लेख है—**"अधिराजाधिप चैव दन्तवक्त्रं महाबलम् ।"** उक्त कथन पर से दन्तवक्त्र की क्षत्रियो मे श्रेष्ठता प्रमाणित हो जाती है, फलत भगवान् महावीर की श्रेष्ठता के लिए उसकी सूत्रकृता-गोक्त तुलना भी ठीक बैठ जाती है।

७ वेणुदेव

वेणुदेव शब्द भी सूत्रकृताग के वीर स्तुति अध्ययन मे प्रयुक्त हुआ है। गाथा २१ का उत्तरार्ध है—**"पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे, निव्वाणवादीणिह नायपुत्ते ।"** गाथोक्त "वेणुदेव" वैनतेय शब्द का प्राकृत रूपान्तर है। पक्षियो मे गरुड पक्षी सर्वश्रेष्ठ है, वह वैदिक पुराणो मे विष्णु का वाहन माना गया है। अत वह पक्षी होते हुए भी दिव्यकोटि मे गिना जाता है। गरुड के लिए प्रयुक्त होने वाले वैनतेय शब्द के लिए निम्नोक्त कोश प्रमाण स्वरूपेण उपस्थित है—

"गरुत्मान् गरुड तार्क्ष्य वैनतेयः खगेश्वरः ।" —अमरकोश १०, ३१

"वैनतेयस्तु वाहनम् ।" —अभिधान चिन्तामणि २, १३५

"गरुडः ···सौपर्णेयः वैनतेयः सुपर्णः

पक्षिस्वामी काश्यपिः स्वर्णकायः ।" —अभिधान चिन्तामणि २, १४५

अमर कोश मे गरुड को 'खगेश्वर' और अभिधान चिन्तामणि मे 'पक्षिस्वामी' कहा है, इस पर से वैनतेय—वेणुदेव की पक्षियो मे श्रेष्ठता भलीभाति प्रमाणित हो जाती है। मूल प्राकृत पद्य मे "वेणुदेव" शब्द के अन्त मे जो "देव" शब्द आता है, उस पर से वेणुदेव पक्षी न होकर कोई विशिष्ट जाति का देव है, यह कल्पना करना सर्वथा निराधार है। जबकि मूल पाठ मे ही पक्षियो मे वेणुदेव गरुड को श्रेष्ठ बताया है, तब वह पक्षी जाति का न होकर कोई देव जाति का देव है, यह कैसे माना जा सकता है ?

८. आयभाव-वत्तव्वया

भगवती सूत्र शतक २ उद्देशक ५ मे एक चर्चा आती है, कि यदि सयम और तप का फल अनास्रव है, आत्मशुद्धि है, तो फिर सयमी एवं तपस्वी साधक देवगति मे क्यो जाते हैं ? देवगति आस्रव निमित्तक है, अनास्रवनिमित्तक नही। देव-जीवन भोगपरायण जीवन है, अत. वहा अनास्रवत्व एव आत्म-शुद्धि सभव नही है।

तुगिया नगरी के श्रावक स्थविर कालियपुत्त, स्थविर आणंदरक्खिय तथा स्थविर कासव के साथ उपर्युक्त चर्चा करते हैं। इस सन्दर्भ मे स्थविरो द्वारा कहा गया है कि–१ पूर्व तप और पूर्व संयम से, २ कर्मिता होने से, ३ सगिता के कारण सयमी और तपस्वी मनुष्य भी देव लोक मे जाते है। पूर्व तप और पूर्व सयम का अर्थ आसक्तियुक्त तप एव सयम है, कर्मिता का अर्थ रागद्वेषयुक्त स्थिति है और सगिता का अर्थ अभिष्वंग–आसक्ति है। उक्त चर्चा के सम्बन्ध मे श्री गौतम गणधर ने जब भगवान् महावीर से उनका अपना अभिप्राय पूछा, तो भगवान महावीर ने स्वय भी वही उत्तर दिया और स्थविरो की बात का समर्थन किया। अन्त मे उपसहार करते हुए भगवान् ने कहा कि—"सच्चे णं एस अट्ठे, नोचेव णं आयभाववत्तव्वयाए।" भगवती सूत्र के उक्त प्राकृत पाठ का भावार्थ इस प्रकार है—हे गौतम ! मैं भी उन स्थविरो के कथनानुसार ही मानता हूँ और कहता हूँ—यह सब अर्थ-कथन सच है। परन्तु उक्त अर्थ मे आत्म-भाव वक्तव्यता की अपेक्षा नही होनी चाहिए, अर्थात् प्रस्तुत देवलोकगमनरूप अर्थ मे यदि आत्म-भाव की विवक्षा है, तो तप एव सयम से साधक स्वर्ग मे नही जाता, प्रत्युत वह वीतराग हो जाता है, फलस्वरूप निर्वाण-परमशान्ति को ही प्राप्त करता है।

उपर्युक्त वक्तव्य का विशेष स्पष्टीकरण यह है, कि सयम और तप के दो उद्देश्य हो सकते हैं। जो लोग जैनपरिभाषा के अनुसार बालकोटि के हैं, विवेक-हीन हैं, उनकी साधना का उद्देश्य पुद्गल-भावप्रधान होता है अर्थात् वे लोग अपने तप और सयम से स्वर्गादि का सुख पाना चाहते है अथवा

इहलोक सम्वन्धी सुख-सम्पत्ति, वैभव, भोगविलास आदि की सामग्री, स्त्री एव पुत्रादि के सुख तथा शत्रु नाश आदि की कामना रखते हैं। यह साधना सकाम होने से निम्न स्तर की साधना है। इससे स्वर्ग तो प्राप्त हो सकता है, निर्वाण नही। और जो साधक जैन परिभाषा के अनुसार पण्डित कोटि के होते है विवेकशील आत्मज्ञानी होते है, उनका उद्देश्य केवल शुद्ध आत्मभाव-स्वरूप की उपलब्धि ही होता है, और कुछ नही। वे तप और सयम के द्वारा अपने राग-द्वेष को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, मानसिक सकुचिता को हटाकर अभेदभाव की साधना करते हैं अर्थात् सर्वत्र आत्म-भाव को अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं। अहिंसा, सत्य एव अपरिग्रह तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य एव त्याग भाव का जीवन मे विकास करते हुए उक्त विकास को चरम सीमा तक पहुँचाने का अहर्निश बिना किसी प्रकार की खेदानुभूति के सतत सोत्साह प्रयत्न करते रहते हैं। अस्तु प्रस्तुत चर्चा मे आत्म-भाव का आशय उक्त द्वितीय पण्डित कोटि से सम्बन्धित है। बिना किसी प्रकार की लोक-कामना के जो साधना शुद्ध आत्म-भाव-लक्षी होती है, वह देवगति का कारण नही होती, अपितु मुक्ति का ही कारण होती है।

परन्तु आचार्य अभयदेव सूरी उक्त "आत्म-भाव वक्तव्यता" का स्पष्टीकरण करते हुए अपनी भगवती-सूत्र वृत्ति मे लिखते हैं कि "आत्मभाववक्तव्यता-अहंमानिता-तया, न वयम् अहंमानितया एवं ब्रूमः, अपितु परमार्थ एव अयम् एवंविध. इति भावना।" वृत्तिकार के उक्त सस्कृत-लेख का भाव यह है, कि "हम आत्मभाव-अहंकार या स्वच्छन्दता से ऐसा नही कहते हैं, अपितु यह इस प्रकार परमार्थ ही है। स्पष्ट है, कि आचार्य अभयदेव "आत्मभाव वक्तव्यता" का अर्थ 'अहकार' करते हैं। परन्तु यह अर्थ प्रकरण-सगत नही है। यदि चर्चा करने वाला वीतराग आत्मा नही है, साधारण जन है, तब तो यह अथ सगत हो सकता है। परन्तु जब चर्चा करने वाले वीतराग है, तब यह अर्थ किस प्रकार सगत होगा? प्रस्तुत चर्चा मे गौतम का समाधान करने वाले भगवान महावीर पूर्ण वीतराग पुरुष है। भला, वे ऐसा कैसे कह सकते हैं कि—मैं यह बात अभिमान से या स्वच्छन्दता से नही कह रहा हूँ। और यहाँ अभिमान का प्रसग भी क्या है? अतएव आचार्य अभय देव के आत्मभाववक्तव्यता से सम्बन्धित अहकार अर्थ की किसी प्रकार भी सगति नही बैठती। आत्मभाववक्तव्यता का वही अर्थ सगत लगता है, जिसका कि हम पूर्व निरूपण कर आए हैं। वह अर्थ जैन सिद्धान्त-सगत भी है, और प्रकरण-सगत भी।

आचार्य अभयदेव ने प्रस्तुत चर्चा मे एक प्राचीन शास्त्र की गाथा का अवतरण देकर पूर्व सयम एव पूर्व तप को रागयुक्त और पश्चिम सयम एव पश्चिम तप को वीतरागवृत्ति-युक्त बताया है। परन्तु पूर्व शब्द के सम्बन्ध से सयम और तप सराग हो जाते है। और इसके विपरीत पश्चिम शब्द के सम्बन्ध से सयम और तप वीतरागवृत्तियुक्त हो जाते हैं। कैसे हो जाते है? इसका कुछ भी खुलासा नही किया गया है। अतएव वृत्तिकार का यह कथन भी स्पष्ट विचार की अपेक्षा रखता है।

जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ और प्रकरण के साथ सगति लगा पाया हूँ, पूर्व तप और पूर्व संयम का अर्थ है—साधक की पूर्वावस्था अर्थात् प्रारम्भिक दशा का सयम और तप। जैन परिभाषा के अनुसार बालकोटिस्थित दशा का तप और सयम सकाम होता है, शुद्धभावलक्षी नही होता। अब रहा पश्चिम संयम और पश्चिम तप, उसका अर्थ यह होता है, कि पश्चिम अवस्था का अर्थात् परिपक्व दशा का सयम

और तप। साधना की परिपक्व दशा पण्डित कोटि की स्थिति है। इस अवस्था का सयम और तप शुद्धात्मभाव लक्षी होने से वीतराग वृत्ति वाला होता है, अतः उससे निर्वाण भाव की प्राप्ति होती है। सयम और तप के ये पूर्व और पश्चिम विशेषण महत्वपूर्ण है और उनकी अर्थ-सगति उपर्युक्त विचारणा के अनुसार ही ठीक बैठती है।

६. प्राणातिपातविरमण और धर्मास्तिकाय

भगवतीसूत्र शतक २०, उद्देशक २ मे धम्मत्थिकाय-धर्मास्तिकाय, अधम्मत्थिकाय-अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—उक्त पाच अस्तिकायो के पर्याय शब्दो का उल्लेख है।

आकाश के पर्याय मूल सूत्र मे इस प्रकार बताए गए है—आगास[1] आगासत्थिकाय, गगण, नभ, सम, विसम, खह, विह, वीथी (वियत्), विवर, अम्बर, अम्बरस, छिड्ड (छिद्र), झुसिर (शुषिर), मग्ग, विमुह, अद्द (अब्द अथवा आर्द्र) वियद्द, आधार, वोम भायण, अन्तरिक्ख (अन्तरिक्ष), साम, उवासतर (अवकाशान्तर), अगम, फलिह (स्फटिक), अनन्त।

इसी प्रकार जीव और पुद्गल के पर्याय वाची शब्दो का भी उल्लेख है।[2] जीव और पुद्गल के पर्यायवाची शब्दो के लिए पाठक के मन मे किसी प्रकार की शका या विवाद नही होता। परन्तु

---

[1] यास्क के निरुक्त मे आकाश के १६ नाम इस प्रकार हैं—
अम्बरम्, वियत्, व्योम, बर्हि, धन्व, अन्तरिक्षम्, आकाशम्, आप., पृथिवी, भू॰, स्वयम्भु॰, अध्वा, पुष्करम्, सगरः, समुद्रः, अध्वरम्। इनके अतिरिक्त खः, ष्टद्गिन, नाक, गौ, विष्टपम्, नभ.—इन नामों का भी उल्लेख है।

निरुक्त-निर्दिष्ट नामो मे से भगवती सूत्र में आए नाम इस प्रकार है-आकाश, नभ, ख, अबर, मग्ग-मार्ग। (निरुक्त मे मार्गवाची अध्वा है)। व्योम, वियत् (मूल मे वीथी है) अद्द (निरुक्त मे आपः है) अतरिक्ख-अन्तरिक्ष।

भगवती सूत्र मे एक "विहे" नाम भी है, सभव है-वह निरुक्त के "बर्हि" शब्द का ही रूपान्तर हो। भगवती सूत्र मे "अद्द" है और निरुक्त मे "आप." है। अद्द का सस्कृतरूप अब्द-मेघ प्रसिद्ध है। अत॰ अद्द और आपः नाम मे समानता परिलक्षित होती है। भगवती सूत्र का अबरस नाम भी निरुक्तनिर्दिष्ट आपः के अर्थ के साथ मिलता जुलता है।

[2] जीव, जीवत्थिकाय, प्राण, भूत, सत्त्व, विज्ञ, चेता, जेता, आता, रंगण, हिंडक, पुद्गल, मानव, कर्ता, विकर्ता, जय (जगत), जंतु, योनि, स्वयम्भू, सशरीरी, नायग (ज्ञायक) और अन्तरात्मा—ये सब जीव के पर्याय वाची शब्द हैं।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के जो पर्याय दिए है, वे अवश्य विवादग्रस्त है, पाठक के मन को शकाकुल बना देते है।

धर्मास्तिकाय के पर्यायो मे धम्म, धम्मत्थिकाय, पाणाइवायवेरमण, मुसावायवेरमण, परिग्गह-वेरमण , कोहविवेग मिच्छादसण-सल्लविवेग ' इरियासमिई " इत्यादि अनेक नाम गिनाए है। उक्त नामो मे प्रथम के दो नाम तो उपयुक्त है, जैन-दर्शन मे सर्वत सुविदित है। परन्तु अहिंसा (प्राणातिपातविरमण), सत्य (मृषावाद विरमण), अपरिग्रह (परिग्रहविरमण) और क्रोध-विवेक आदि अनेक नामो के सम्बन्ध मे प्रश्न होता है, कि धर्मास्तिकाय के साथ इन नामो का क्या सम्बन्ध है ? जैन परिभाषा के अनुसार धर्मास्तिकाय एक तत्व है, पदार्थ है। वह अस्पर्श है, अरूप है, और समग्र लोक मे व्याप्त है। जिस प्रकार जल मे तैरती हुई मछली के लिए जल तटस्थ सहायक है, उसी प्रकार लोक व्यापी धर्मास्तिकाय तत्व भी जीव और पुद्गल (जड) पदार्थो की गति-क्रिया मे तटस्थ सहायक होता है। जैन धर्म की सभी परम्पराओ मे धर्मास्तिकाय के सम्बन्ध मे उक्त विचार सर्वसम्मत है।

अब प्रश्न है, कि अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह आदि तो जीवन के सम्यग्रूप है, चैतन्य के गुण है। ये द्रव्य नही है, और न लोक-व्यापी ही है। धर्मास्तिकाय द्रव्य और अहिसा आदि सद्-गुणो का स्वर परस्पर इतना भिन्न है, कि इनमे किसी प्रकार का सम्बन्ध (मेल) ही नही बैठ सकता। ऐसी स्थिति मे सूत्रकार ने जो अहिसा सत्य आदि चैतन्य धर्मो को अचेतन धर्मास्तिकाय द्रव्य के पर्याय वाचक शब्द बताए है, यह कैसे सगत हो सकता है ?

जो शका धर्मास्तिकाय के प्रसग मे है, वही अधर्मास्तिकाय के प्रसग मे उपस्थित है। अधर्मास्तिकाय के पर्याय स्वरूप हिसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि को गिनाया गया है। हिंसा, असत्य आदि दुष्प्रवृत्तिरूप होने से क्रियारूप है। जीवमात्र के लिए अनाचाररूप है, चेतन के विकारी भाव है। और अधर्मास्तिकाय एक अचेतनतत्व है, जड द्रव्य है, लोकव्यापी है, और जीव एव पुद्गलो की स्थिति-क्रिया मे वैसे ही तटस्थ सहायक है, जैसे कि विश्रान्त प्रवासी यात्री को वृक्ष की छाया बैठने के लिए तटस्थ निमित्त है। हिसा आदि अनाचार और अधर्मास्तिकाय जड द्रव्य इन दोनो मे ऐसा कोई भी मेल नही है, जिसके आधार पर हिसा आदि अधर्मास्तिकाय के पर्याय शब्द स्वीकार किए जाएँ ? यदि सर्वथा

जीव के उक्त पर्यायवाची शब्द जीव के साथ तथा जीव की चेष्टा प्रवृत्ति एव स्वरूप आदि के साथ सम्बन्ध रखते है, अत. ये सब निर्विवाद रूप से जीव के पर्याय हो सकते है।

पुद्गल के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं--पुद्गल, पुद्गलास्तिकाय, परमाणु पुद्गल, द्विप्रदेशिक पुद्गल, त्रिप्रदेशिक पुद्गल, यावत् असख्येय प्रदेशिक पुद्गल और अनन्त प्रदेशिक पुद्गल।

पुद्गल के उक्त पर्याय सबके सब पुद्गलस्वरूप ही है, अत इन नामो के पुद्गल-पर्याय होने मे भी किसी प्रकार की शका के लिए अवकाश नहीं है।

विभिन्न रूप वालो को भी एक दूसरे का पर्याय माना जाए, तब तो गधा और हाथी भी एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हो सकते है।[1]

विद्वानो को पर्यायवाची प्रकरण के उक्त वैषम्य पर गभीरता से विचार करना चाहिए। जब तक प्रस्तुत वैषम्य का निराकरण करके कोई एक यथार्थ समन्वय स्थापित नही किया जाएगा, तब तक भगवती सूत्र का उक्त पाठ विवादग्रस्त ही बना रहेगा।

१०. एक विवादास्पद गाथा

सूत्रकृताग के प्रथम स्कन्धवर्ती समय नामक प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की २८ वी गाथा बडी ही विवादास्पद है। अर्थ काफी उलझा हुआ है। पाठभेद भी कुछ कम नही है। चूर्णि और आचार्य शीलाकृत वृत्ति मे पाठभेद की झलक स्पष्ट है। उक्त गाथा पर सक्षेप मे प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है। चूर्णि का पाठ इस प्रकार है—

> पुत्त[2] पि ता समारभ,[3] आहारट्ठ[4] असजते।
> भुजमाणो[5] वि मेघावी, कम्मुणा नोवलिप्पते ॥१, १, २, २८

---

[1] आचार्य अभयदेव ने भगवती सूत्र-वृत्ति मे उक्त शका का इस प्रकार समाधान किया है—पर्यायवाची शब्द दो प्रकार के होते हैं, एक तो अर्थ की समानता से और दूसरे व्यञ्जनों की समानता से। अतएव यहां धर्म शब्द के अर्थ को लक्ष्य में रखकर अहिंसा आदि को धर्मास्तिकाय का पर्याय कहा है। यही बात अधर्मास्तिकाय और हिंसा आदि के सम्बन्ध मे भी समझ लेनी चाहिए। ये पर्याय भी अधर्म शब्द के अर्थ को लक्ष्य मे रखकर कहे गए हैं। यह समाधान कहा तक सिद्धान्त और तर्क से सगत है, पाठक स्वय विचार सकते हैं।

[2] बौद्ध-पिटक साहित्य मे वर्णन है कि-भगवान् बुद्ध ने सूकरमद्दव खाया था। बौद्ध-व्याख्याकारों ने सूकर मद्दव मे के सूकर शब्द को प्राणी वाचक भी माना है। सूकर का अर्थ है—वराह अर्थात् बड़ा और तगडा सूअर। मालूम होता है, उक्त गाथा मे इसी ओर सकेत है। क्योंकि मांस खाने वाले के लिए मेघावी विशेषण दिया है। अतः सभावना है, कि मूल सूत्रकार को यहा भगवान् बुद्ध ही विवक्षित हैं।

यदि यह कल्पना अनुचित नही है, तो पुत्त शब्द का निम्नोक्त अर्थ संगत प्रतीत होता है। अमरकोश (काण्ड २, श्लो० २ सिंहादिवर्ग) मे शूकर के लिए पोत्रीशब्द का भी उल्लेख है—"वराह शूकरः घृष्टिः कोलः पोत्री किरीः किटिः।" द्वितीया विभक्ति के एक वचन मे पोत्री का प्राकृत उच्चारण "पोत्ति" अथवा "पुत्ति" होता है। अस्तु, यदि हम सूत्रकृतांग सूत्र की उक्त गाथा के "पुत्त" शब्द के स्थान मे "पोत्ति" पाठ की कल्पना करें, तो भगवान् बुद्ध की सूकर मद्दव भोजन की वह समग्र घटना प्रस्तुत प्रसग मे निर्दिष्ट है, यह स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता है।

चूर्णि व्याख्या—"पुत्त पि ता समारम्भ सिलोगो। अपि पदार्थं सभावने। उक्तं हि—'प्राणिनः प्रियतरा पुत्राः। तेन पुत्रम् अपि तावत् समारभ्य, समारम्भो नाम विक्रीय मारयित्वा तन्मांसेन वा द्रव्येण वा, किमग णर-पुत्रं शूकर छागल वा आहारार्थं कुर्यात् भक्तं भिक्खण ? असंजतो णाम भिक्खु-व्यतिरिक्तः स पुनर्, उपासकः अन्यो वा। तं च भिक्षुः त्रिकोटिशुद्ध भुञ्जानोऽपि मेधावी कम्मुणा णो उवलिप्यते। तत्र उदाहरणम्—

उपासिकाया भिक्षुः पाहुणओ गओ। ताए लावगो मारेऊण ओवक्खडेता तस्स दिण्णो। घरसामि-पुच्छा। अहो ! णिग्घण त्ति। ताघे तेण भिक्खुणा कृतकशूल कृतम्। मा कप्परेण, हस्ताभ्या गृहीत्वा स्वेदय, मा अङ्गारान् इति। त्वमेव दह्यसे न अहम्। एव मत्कृते घातक एव बध्यते न अहम्।

—सूत्रकृताग चूर्णि, पृ० ४७, स० श्री पुण्यविजयजी मुनिराज

उक्त चूर्णिव्याख्या का तात्पर्य यह है, कि भिक्षु से भिन्न कोई भी असयत उपासक अथवा अन्य मनुष्य आहार के लिए मानव-पुत्र, शूकर या छाग (बकरा) को खरीद कर मारे और उसका मास बौद्ध भिक्षु को खाने के लिए दे, और वह मेधावी भिक्षु उस मास को त्रिकोटि-परिशुद्ध मानता हुआ खाए, तो कर्म से लिप्त नही होता है। अर्थात् हिंसा का पाप मारने वाले असयत को लगता है त्रिकोटि-परिशुद्ध समझकर मास खाने वाले भिक्षु को नही लगता।

उक्त गाथा मे चर्चास्पद वस्तु अनेक है, परन्तु उन सब की चर्चा करने से लेख का कलेवर काफी बढ जाता, अत गाथागत अमुक मुद्दे के सम्बन्ध मे ही कुछ लिखना उपयुक्त रहेगा।

चूर्णिकार द्वारा किए गए गाथा के विवेचन पर से यह फलित होता है, कि—त्रिकोटिशुद्ध-मासभक्षी बौद्ध भिक्षुओ को मास खाने पर भी कर्म-बन्ध नही होता। यह मान्यता सौगत-सम्प्रदाय की है। परन्तु उसकी मान्यता के अनुसार भी मास खरीदने और पकाने वाले उपासक को या अन्य किसी साधारण मनुष्य को तो घातक होने के कारण कर्म-बन्ध होता ही है।

यदि "पुत्त" पाठ रखकर भी उक्त बुद्ध—सम्बन्धित घटना के साथ अर्थ योजना करें, तो इस प्रकार कर सकते हैं। अमरकोश (नानार्थवर्ग २३, श्लो० १८०) मे पोत्र शब्द के दो अर्थ किए हैं—एक शूकर का मुख और दूसरा कृषि-कर्म मे उपयुक्त खेत जोतने वाले हल का मुख। "मुखाग्रे क्रोड-हलयो.।"

"पोत्रं" का भी प्राकृत मे "पुत्त" उच्चारण होता है। अतः प्रस्तुत गाथा के 'पुत्तं' का शूकर का मुखाग्र—यह अर्थ भी ठीक-ठीक सघटित हो जाता है।

[३] "समारब्भ" पाठान्तर

[४] "आहारेज्ज असंजते"—पाठान्तर

[५] "य"—पाठान्तर

आचार्य शीलाक-कृत टीका के अनुसार पाठ इस प्रकार है —

पुत्तं पिया समारब्भ आहारट्ठं असंजए ।
भु जमाणो य मेहावी, कम्मणा नोवलिप्पइ ॥२८॥

वृत्ति—भावशुद्धया प्रवर्तमानस्य कर्मवन्धो न भवति-इत्यत्रार्थे दृष्टान्तम् आह-पुत्रम् अपत्यम्, पिता जनकः, समारभ्य व्यापाद्य आहारार्थं-कस्यांचित् तथाविधायाम् आपदि तदुद्धरणार्थम् । अरक्तद्विष्ट. असयत. गृहस्थ. तत्पिशित भुञ्जानोऽपि "च" शब्दस्य अपि शब्दार्थत्वात् इति । तथा मेधावी अपि सयत अपि इत्यर्थ । तदेव गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशय पिशिताशी अपि कर्मणा पापेन न उपलिप्यते-न आश्लिष्यते इति । यथा च अत्र पितु पुत्रं व्यापादयत तत्र अरक्तद्विष्टमनस. कर्मबन्धो न भवति तथा अन्यस्य अपि अरक्तद्विष्टान्त करणस्य प्राणिवधे सति अपि न कर्म-बन्धो भवति इति ॥२८॥

उपर्युक्त शीलाककृत वृत्ति मे दो बाते विचारणीय हैं । सर्व-प्रथम पाठ भेद की विचारणीयता है । पाठ भेद काफी विशिष्ट है और वह केवल पदच्छेद के हेर-फेर से हो गया है । चूर्णिकार "पुत्त पि ता" इस प्रकार मूल गाथा मे तीन पृथक् पृथक् पद समझते है, जवकि वृत्तिकार "पुत्त पिया" इस प्रकार दो ही पद की उद्भावना करते हैं । गाथा के उत्तरार्घ मे चूर्णिकार—भुजमाणो वि" पाठ स्वीकार करते है, जव कि वृत्तिकार को "भुजमाणो य" पाठ अभीष्ट है । फिर भी "य" कार का अर्थ "अपि" ही करते है ।

अब जरा गाथा के अर्थ पर विचार कर लीजिए । इस सम्बन्ध मे चूर्णिकार का आशय यह है, कि "मास खाने पर भी, चूकि यह तथाकथित मास त्रिकोटि शुद्ध है, अत बौद्ध भिक्षु कर्म-वन्धन मे लिप्त नही होता । परन्तु माम तैयार करने वाला घातक व्यक्ति हिंसक होने के कारण कर्म-वन्ध से लिप्त होता है, फिर भले ही वह उपासक हो या अन्य कोई ।"

पूर्व पक्ष की दृष्टि से विचार करने पर चूर्णिकार का प्रतिपाद्य अर्थ युक्तियुक्त एव उचित प्रतीत होता है । विवेच्य गाथा से पूर्व २७ वी गाथा मे पूर्वपक्षी बौद्ध सम्प्रदायवादी कहता है "एव भाव-विसोहीए निव्वाणमभिगच्छइ"—अर्थात् भाव की विशुद्धि होने से साधक निर्वाण को प्राप्त करता है । प्रस्तुत भावविशुद्धि पक्ष को ही उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने के लिए अग्रिम २८ वी गाथा की अवतारणा की गई है । अतएव विवादास्पद २८ वी गाथा भी नि सन्देह पूर्व पक्ष की ही है, उत्तर पक्ष की नही । पूर्वपक्षी बौद्ध अपने भावविशुद्धि वाले पक्ष को समझाने के लिए कहता है कि—"यदि भाव-विशुद्धि हो, तो यथाप्राप्त त्रिकोटि शुद्ध मास खाने पर भी मेधावी भिक्षु पाप से लिप्त नही होता है ।" परन्तु वह पूर्व पक्षी हिंसा की स्वप्रतिपादित व्याख्या के अनुसार यह अवश्य कह सकता है और कहता ही है, कि "जो घातक है, या पाचक है, वह भले ही हमारी सम्प्रदाय का अनुयायी हो या और कोई हो, वह चूकि मारने वाला या पकाने वाला है, अत हिंसा-दोष से युक्त होने कारण पाप से अवश्य लिप्त होता है । इसके विपरीत जिसको हिंसा मे मूलत प्रवृत्ति नही है, वह भिक्षु तो त्रिकोटि शुद्ध जैसा आहार पाता है,

वैसा खाता है, अत वह पाप से कैसे लिप्त हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता ।" चूर्णिकार ने उक्त गाथा की चूर्णि मे पूर्व पक्ष के इस प्रतिपाद्य का अतिथि भिक्षु के उदाहरण द्वारा खूब स्पष्टता के साथ उल्लेख किया है । वस्तुतः पूर्व-पक्ष की अपेक्षा से चूर्णिकार का अभिमत ही हमे उचित प्रतीत होता है ।

आश्चर्य है, कि आचार्य शीलाक का मार्ग चूर्णिकार से सर्वथा भिन्न है । शीलाक अपनी टीका मे मूल पाठ के "अपि" अर्थ सूचक "य" कार को मेधावी के साथ जोडते है और "मेधावी अपि" इस प्रकार विचित्र दूरान्वय का फलितार्थ यह निकालते है, कि मेधावी भिक्षु भी और हिंसा मे सीधी प्रवृत्ति करने वाला उपासक या अन्य कोई साक्षात् घातक भी पाप से लिप्त नही होता है । कितना वैचित्र्य है, कि बहु-श्रुत वृत्तिकार साक्षात् हिंसा करने वाले घातक को भी निष्पाप बता रहे है । वृत्तिकार का कथन युक्तियुक्त प्रतीत नही होता । और तो क्या, पहले की २६ और २७ वी गाथा के अर्थ के साथ भी वृत्तिकार के प्रतिपाद्य अर्थ की कोई ठीक सगति नही बैठती । भला, पूर्वपक्षी अपने ही सिद्धान्त के विरुद्ध ऐसा कैसे कह सकता है, कि "साक्षात् हिसा करने वाला भी पाप से लिप्त नही होता है ।"

प्रसगवश यह भी निवेदन कर दूँ, कि चूर्णि का सूत्रपाठ और वृत्तिकार-सम्मत सूत्रपाठ अनेक स्थानो मे भिन्न-भिन्न परिलक्षित होते है । कितने ही स्थल तो ऐसे है, जहाँ अर्थ-दृष्टि से भी काफी अन्तर है । इतना ही नही, पूर्वपक्षी के मत की अपेक्षा से भी अर्थ-व्यवस्था नही रह पाई है । आश्चर्य तो इस बात का है, कि क्या वृत्तिकार ने चूर्णि का पाठ सचमुच नही देखा था, या उसे समझा नही था ? प्रस्तुत विवादास्पद प्रसग मे वृत्तिकार स्वय भी उक्त २८ वी गाथा को पूर्वपक्ष की ही मानते है और यह भी कहते है, कि अब मूल सूत्रकार २९ वी गाथा से पूर्व पक्ष को दूषित करने का उपक्रम करते है । जब वृत्तिकार विवादास्पद गाथा को पूर्वपक्ष की मानते है, तब उन्होने पूर्व पक्ष के सिद्धान्त के विरुद्ध क्यो विचित्र कल्पना की, यह विद्वद्वर्ग के लिए विचारणीय हो जाता है ।

आगमो के शुद्ध मूल पाठ और उसके विवेचन मे हमारी चिरकाल से किस प्रकार असावधानी चली आ रही है, उक्त गाथा की वृत्ति उसका एक नमूना है । सक्षेप मे यह सब केवल सूचना की दृष्टि से लिखा गया है, ताकि हम लोग आगम क्षेत्रो मे प्रवहमान असावधानता को दूर करने का यथोचित पुरुषार्थ करे ।

११. जाणइ पासइ

जैन परिभाषा मे दर्शन शब्द सामान्य ज्ञान, अस्पष्ट ज्ञान—अनिर्णायक ज्ञान का सूचक माना गया है, और ज्ञान शब्द विशेष ज्ञान, स्पष्ट ज्ञान—निर्णायक ज्ञान का सूचक बतलाया गया है । दर्शन और ज्ञान के सम्बन्ध मे यह भी मान्यता है, कि जीवमात्र को प्रथम दर्शन होता है और उसके पश्चात् ज्ञान । उक्त क्रम सिद्धान्त का अपवाद भी है कि जो मनुष्य केवली होते है, अर्थात् केवलज्ञानी होते है, उनको प्रथम ज्ञान होता है, और बाद मे दर्शन । केवल ज्ञान और केवल दर्शन मे प्रथम केवल ज्ञानोपयोग होता है, पश्चात् केवल दर्शनोपयोग । यह पूर्व क्रम की अपेक्षा व्युत्क्रम है । यह क्रमवाद की चर्चा जैन दर्शन साहित्य मे काफी विस्तार से उपलब्ध है । इस सम्बन्ध मे विभिन्न मत मतान्तर प्रचलित है ।

आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण सुप्रसिद्ध क्रमवादी आचार्य हैं। वे केवल ज्ञान और केवल दर्शन में भी क्रमवादिता स्वीकार करते हैं। उनका ही उपरिप्रतिपादित मत है, कि केवल ज्ञान और केवल दर्शन में प्रथम ज्ञान होता है, पश्चात् दर्शन। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है, कि मूल आगमों में सर्वत्र केवलज्ञानी के लिए "जाणइ पासइ"—इस प्रकार दो क्रियाओं वाला पाठ आता है। प्रथम "जाणइ" पाठ है, पश्चात् 'पासइ' पाठ है। अत आगम पाठ से स्पष्ट है, कि केवली को पहले ज्ञानोपयोग होता है, पश्चात् सामान्य बोध। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य मल्लवादी तार्किक के मत, आचार्य जिन भद्रगणी से भिन्न हैं। यहाँ चूंकि उक्त चर्चा के विस्तार में नहीं जाना है, केवल "जाणइ पासइ" क्रिया शब्दों की ही अर्थ-मीमांसा करनी है, अत हम विशेषावश्यक—भाष्य के प्रणेता श्री जिन भद्र गणी क्षमाश्रमण के मत के ही सम्बन्ध में यथावश्यक विचार चर्चा करेंगे।

धुरन्धर आगमवादी क्षमाश्रमण जी अपने पक्ष की इस प्रकार स्थापना करते हैं, कि "चूंकि सूत्रों में केवल ज्ञानियों के प्रसंग में सर्वत्र प्रथम "जाणइ" पाठ आता है, और पश्चात् "पासइ"। अत केवल ज्ञानी को प्रथम ज्ञान होता है, पश्चात् दर्शन—यह क्रमिक विचार आगम-सम्मत है।"

गणीजी के उक्त सिद्धान्त की सक्षिप्त शब्दों में समालोचना है, कि आगम-सूत्रों में तो मात्र केवल ज्ञानियों के प्रसंग में ही नहीं, छद्मस्थों के प्रसंग में भी 'जाणइ पासइ" इस प्रकार क्रमिक क्रिया पदों का पाठ आता है। यही नहीं, कुछ स्थलों पर तो केवल "पासइ" का ही प्रयोग मिलता है। जिस श्रुत ज्ञान और मन पर्याय ज्ञान के साथ दर्शन का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, उनके प्रसंग में भी "जाणइ पासइ" का क्रमिक प्रयोग उपलब्ध होता है। अत उक्त "जाणइ पासइ" के क्रमिक प्रयोग से केवल ज्ञानी में प्रथम ज्ञान और पश्चात् दर्शन का क्रम-विषयक मत कैसे सिद्ध हो सकता है? यदि समग्र सूत्रों में मात्र केवल ज्ञानी के विषय में ही ऐसा क्रमिक प्रयोग आता, तब तो अवश्य गणी श्री जी के क्रम-विषयक विचार का समर्थन हो सकता था। परन्तु यहाँ तो केवल ज्ञानी और अकेवलज्ञानी अर्थात् छद्मस्थ सबके लिए "जाणइ पासइ" का प्रयोग हुआ है और दर्शन के सम्बन्ध से रहित श्रुतज्ञान एवं मन पर्याय ज्ञान के लिए भी उक्त दोनों क्रिया पदों का क्रमिक उल्लेख हुआ है। अत जिस "जाणइ पासइ" पाठ से गणी जी अपना क्रम-विषयक सिद्धान्त स्थापित कर रहे हैं, वह स्पष्ट ही अतिव्याप्त है। और इस स्थिति में मात्र "जाणइ पासइ' के पाठ से ही केवल ज्ञानी के लिए दर्शन ज्ञानविषयक व्युत्क्रम का सिद्धान्त कैसे युक्तियुक्त माना जा सकता है?

पाठकों की जानकारी के लिए "जाणइ पासइ" के जिन प्रसंगों की चर्चा हमने ऊपर में की है, वे सक्षेप में यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं—

"जे इमे भंते! बेइंदिया···पंचिंदिया जीवा, एएसिं आणामं वा पाणामं वा, उस्सासं वा निस्सासं वा जाणामो पासामो।"

—भगवती सूत्र शतक २ उद्देशक १

"जे इमे पुढविकाइया· ·एगिंदिया जीवा, एएसि ण आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा न जाणामो न पासामो।"

—भगवती सूत्र, शतक २, उद्देशक १

श्री गौतम गणधर छद्मस्थ है। वे उपर्युक्त पाठो मे कहते है, कि द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेंद्रिय जीवो तक के उच्छ्वास आदि को तो हम जानते है और देखते है, परन्तु पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवो के उच्छ्वास आदि को हम न जानते है और न देख सकते है।

"अणगारे ण भते! भावियप्पा अप्पणो कम्मलेस न जाणइ न पासइ, त पुण जीव सरूवि सकम्मलेस जाणइ पासइ ?

"हता गोयमा! अणगारे ण भावियप्पा अप्पणो· ·· जाव ·· पासति।"

—भगवती सूत्र शतक १४, उद्देशक ९

छउमत्थे ण भते! मणूसे अणतपएसिय खध किं· ··· पुच्छा ?

"गोयमा! अत्थेगतिए जाणति पासति।" —भगवती सूत्र शतक १८ उद्देशक ९

उवासगदसाओ सूत्र मे छद्मस्थ आनन्द श्रावक को अवधि ज्ञान होने का वर्णन है, वहा पर भी सर्वत्र "जाणइ पासइ" पाठ ही दिया हुआ है।

"तएण तस्स आणदस्स समणोवासगस्स अन्नयाकयाइ सुभेण अज्झवसाणेण ·····तदावरणिज्जाण कम्माण खओवसमेण ओहिनाणे समुप्पन्ने—पुरत्थिमेण ··खेत्त जाणइ पासइ, एव दक्खिणेण पच्चत्थिमेणं य उत्तरेण जाव चुल्लहिमवतं वासधरपव्वय जाणइ पासइ, उड्ढ जाव सोहम्म कप्प जाणइ पासइ, अहे जाव····लोलुयच्चुय नरय · ··जाणइ पासइ।"

—उवासग दसाओ, प्रथम अध्ययन

आनन्द श्रावक जब गणधर गौतम से अपने अवधिज्ञान के सम्बन्ध मे बात करता है, तब स्वय भी प्रथम "जाणामि" और पश्चात् "पासामि" क्रिया पदो का क्रमिक प्रयोग करता है —

"एव भते! मम वि गिहिणो गिहमज्झावसतस्स ओहिनाणे समुप्पन्ने—पुरत्थिमेण लवणसमुद्दे पचजोयणसयाइ जाव···नरय जाणामि पासामि।"

—उवासगदसाओ, प्रथम अध्ययन

उपरिर्निदिष्ट समस्त पाठो मे छद्मस्थ और केवली दोनो के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर है और जिस प्रकार केवली के लिए प्रथम 'जाणइ' और पश्चात् 'पासइ' है, उसी प्रकार छद्मस्थ के लिए भी है। यह नही, कि छद्मस्थ के लिए प्रथम "पासइ" और पश्चात् "जाणइ" पाठ दिया हो। यदि आचार्य जिनभद्र गणी की मान्यता के अनुसार आगमकारो का यह अभिमत रहा होता, कि छद्मस्थ को प्रथम दर्शन और

पश्चात् ज्ञान होता है, तथा इसके विपरीत केवली को प्रथम ज्ञान और पश्चात् दर्शन होता है, तो निश्चित रूप से छद्मस्थो के प्रसग मे प्रथम 'पासइ' और पश्चात् 'जाणइ' का पाठ आना चाहिए था। परन्तु इस प्रकार का पाठ कही पर भी नही है, प्रत्युत केवली के समान ही प्रथम 'जाणइ' का पाठ है। इस स्थिति मे यह कैसे माना जाए, कि "जाणइ पासइ" पाठ जैन दर्शन-सम्मत ज्ञानदर्शन के पारिभाषिक विशेष एव सामान्य बोधरूप अर्थ को सूचित करते है, अथवा तद्विपयक क्रम या व्युत्क्रम-सम्बन्धी कोई विशिष्ट सूचना देते है। प्रस्तुत प्रसग मे एक बात और भी विचारणीय है। वह यह कि आनन्द श्रावक सम्यग्-दृष्टि है, भगवान् महावीर का श्रद्धालु विचारक उपासक है। यदि वस्तुत "जाणइ' पाठ विशेष बोध स्वरूप ज्ञान का और "पासइ" पाठ सामान्यबोध स्वरूप दर्शन का सूचक है, साथ ही क्रम-व्युत्क्रम के प्रश्न पर भी निर्णायक प्रकाश डालता है, तो आनन्द अवधिज्ञानी होते हुए स्वय कैसे "जाणामि पासामि" कहता है। आनन्द जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानी को तो ज्ञानदर्शन की वास्तविक परिभाषा तथा उसके क्रम व्युत्क्रम का ख्याल अवश्य होना चाहिए। और यदि सचमुच ही उन्हे कुछ ख्याल होता, तो वे अपने लिए छद्मस्थ होने के कारण "पासामि जाणामि" ही बोलते, "जाणामि पासामि" नही।

उक्त चर्चा के प्रारम्भ मे मैंने सकेत दिया था, कि आगमो मे कुछ प्रसग ऐसे भी है, जहाँ केवल "पासइ" पाठ ही आता है। भगवती सूत्र मे गणधर गौतम द्वारा प्रात कालीन बालसूर्य को देखने का एक प्रसग वर्णित है—

"तेण कालेण तेण समएण भगव गोयमे अचिरुग्गय बालसूरिय जासुमणाकुसुमपुंजप्पगास लोहितग पासइ, पासित्ता जायसड्ढे--जाव--समुप्पन्नकोउहल्ले जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ.....एव वयासी–किमिद भते सूरिए ?"

—भग० शतक १४, उद्देशक ६

उपर्युक्तपाठ मे भगवान् गौतम तत्काल उदयगत सूर्य को देखते है। सूर्य को देखकर गौतम के मन मे कुतूहल होता है, कि यह सूर्य क्या है ? अनन्तर गौतम भगवान महावीर के पास जाते है और अपने मन के कुतूहल को व्यक्त करते हुए प्रश्न पूछते है, कि "किमिद भते ! सूरिए ?" अर्थात् भगवन् ! यह सूर्य क्या है ?[1]

भगवती सूत्र के उपरि उद्धृत पाठ मे केवल "पासइ" पाठ है, "जाणइ" पाठ पहले या पीछे कही है ही नही। तो, क्या इसका तात्पर्य यह लिया जाए, कि गौतम स्वामी को बाल सूर्य का केवल अनाकार

---

[1] श्री गौतम मुख्य गणधर हैं, द्वादशागी के प्रणेता हैं, और ज्ञान से युक्त भी है। यह सब वर्णन भगवती सूत्र के प्रारम्भ मे ही किया हुआ है। ऐसी स्थिति मे नवोदित बालसूर्य को देखकर उनके मन मे कुतूहल का होना, कैसे सगत माना जाए ? यह कुतूहल की बात आगमाभ्यासियो के लिए सविशेष ,वचारणीय है।

—लेखक

दर्शन ही हुआ, साकार ज्ञान नही। यदि प्रस्तुत प्रसग मे केवल अनाकार दर्शन ही मान लिया जाए तो प्रश्न है, कि फिर उन्हे यह सूर्य क्या है ? इस प्रकार इदता के रूप मे सूर्य का परिबोध कैसे है ? अर्थात् उन्हे यह सूर्य है, इस प्रकार निश्चित अपाय-अवाय स्वरूप ज्ञान विद्यमान है। अत यहा केवल अनाकार दर्शन मात्र होने की कुछ भी सभावना नही है।

उपासकदशा सूत्र मे केवल "पासइ" पाठ का दूसरा प्रसग भी महत्वपूर्ण है। गौतम आनन्द के घर जाने का विचार करते है, तब गौतम स्वामी स्वय एक "पासामि" क्रियापद का ही प्रयोग करते है। और जब गौतम अवधिज्ञानी सम्यग्दृष्टि आनन्द श्रावक के पास पहुँचते है, तब आनन्द भी उनको आते देखता है—"पासइ"। केवल "पासइ" के उपरि चर्चित दोनो पाठ इस प्रकार है —

"त गच्छामि ण आणद समणोवासयं पासामि।"
"भगव गोयम एज्जमाण पासइ।"

अत केवल "पासइ" से यह अर्थ नही लगाया जा सकता, कि गौतम और आनन्द को केवल अनाकार दर्शन ही हुआ था, ज्ञान नही।

आगम साहित्य मे आने वाले "जाणइ पासइ" शब्दो का स्वतन्त्र रूप से कोई विशेप अर्थ नही है। यदि उनका परस्पर भिन्न कोई विशेप अर्थ होता, तो नन्दी सूत्र मे ऋजुमति और विपुलमति—उभय-प्रकारक मन पर्याय ज्ञान के लिए "जाणइ पासइ" पाठ कैसे दिया जाता ? केवल "जाणइ" पाठ ही होना चाहिए था, "पासइ" नही। क्यो कि जैन-परिभाषा के अनुसार मन पर्याय ज्ञान ही होता है, दर्शन नही।

"दव्वओ ण उज्जुमई अ णते खधे जाणइ पासइ, ते चेवविउलमई वितिमिरतराए जाणइ पासइ।"

—नन्दीसूत्र-सूत्र १८

जैन दर्शन की परिभाषा के अनुसार दर्शन केवल सामान्य सत्ता मात्र का ही ग्राहक होता है, कभी भी विशेषरूप पर्यायो का ग्राहक नही होता। फिर भी आगम के कुछ पाठ ऐसे है, जिनमे दर्शन के साथ भी विशेपरूप पर्यायो का सम्बन्ध वताया गया है।

"केवलदसण केवलदसणिस्स सव्वदव्वेसु अ सव्वपज्जवेसु य।"

—अनुयोग द्वार सूत्र, सूत्र १४४

जब कि जैन परिभाषा दर्शन को पर्यायो का ग्राहक मानती ही नही है, तब अनुयोग द्वार सूत्र मे यह कैसे कहा गया, कि केवल दर्शनी सब पर्यायो को देखता है।

श्रुतज्ञान के लिए भी सब द्रव्यो को जानने और देखने का उल्लेख है —

"सुअणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाई जाणइ पासइ।"

—नन्दी सूत्र, सूत्र ५८

श्रुतज्ञान ज्ञानरूप ही है, दर्शन रूप नही। और जब वह दर्शनरूप नही है, तब उसके लिए "जाणइ" के साथ "पासइ" का पाठ किस आधार पर है? जब कि "पासइ" पद को केवल सामान्य-बोध स्वरूप दर्शन के लिए ही प्रयुक्त माना जाता हो।

प्रस्तुत प्रसग मे अन्य सूत्रो के भी अनेक पाठ दिए जा सकते है, परन्तु पाठाधिक्य से हम लेख को व्यर्थ ही दीर्घकाय नही बनाना चाहते। विवादास्पद स्थिति की स्पष्टता के लिए उल्लिखित पाठ ही पर्याप्त प्रकाश डाल देते है।

उक्त पाठो पर से यह स्पष्ट हो जाता है, कि सूत्रोक्त "जाणइ पासइ" पद यथाक्रम विशेष ज्ञान और सामान्य ज्ञान के सूचक नही है, जैसा कि कहा जाता है। और न ये पद ज्ञान दर्शन के क्रम या व्युत्क्रम के सम्बन्ध मे ही निर्णायक हैं। यदि ऐसा कुछ विशेष गूढ आशय नही है, जैसा कि हमने प्रतिपादित किया है, तो सहज ही प्रश्न खडा होता है, कि फिर "जाणइ पासइ" के रूप मे दो दो क्रियापदो के कथन का क्या आशय है? उक्त प्रश्न के समाधान मे हमारा अपना अभिमत सक्षेप मे इस प्रकार है—

प्राचीन आगम-साहित्य की परापूर्व से एक अपनी विशिष्ट कथन शैली चली आ रही है। उक्त शैली मे अनेक जगह ऐसे उल्लेख आते हैं—जहाँ एक ही भाव-प्रकाशन के लिए अनेक क्रियापदो का एक साथ प्रयोग किया गया है। आइक्खामि, भासामि, पण्णवेमि, परूवेमि,—इस प्रकार अग सूत्रो मे चार क्रिया पदो के एक साथ ही प्रचुर प्रयोग मिलते है। सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिणिव्वाइ, सव्वदुक्खाण अत करेइ—इस प्रकार चार से अधिक क्रियापदो का एक साथ प्रयोग भी सूत्रो मे स्थान-स्थान पर आता है। क्रियापद ही नही, हट्ठ तुट्ठ चित्ते आणदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए धाराहयनीवसुरहिकुसुमचु चुमालियरोमकूवे-इत्यादि एकार्थक नाम शब्दो के प्रयोग भी, एक ही भाव को अतिशयित रूप से बताने के लिए प्राचीन साहित्य मे व्यवहृत हुए हैं। यह एक कथन शैली है, अत इस पर से प्रत्येक शब्द के लिए भिन्नार्थ की उद्भावना करना निराधार है।

यह शैली केवल जैन साहित्य मे ही हो, यह बात नही है। प्राचीन वैदिक तथा बौद्ध साहित्य मे भी उक्त शैली का प्रयोग होता रहा है। प्राचीन काल मे इस प्रकार के प्रयोग करने की एक विशिष्टभाषा शैली ही प्रचलित थी। बौद्ध पिटक ग्रन्थो मे "जानतो पस्सतो"—(मज्झिम निकाय, सव्वासवसुत्त) जैसे दो वर्तमान कृदन्त शब्द भगवान् बुद्ध के विशेपण रूप मे प्रयुक्त हुए है। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक एकार्थसूचक नामो एव क्रियापदो के प्रयोग बौद्ध पिटक ग्रन्थो मे उपलब्ध है। पूर्वकाल मे ही नही, वर्तमान मे भी प्रवचन करने वाले प्रवक्ता प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए अपने व्याख्यानो मे क्रियापदो एव नामो के एकार्थक प्रयोग करते ही रहते हैं। जैसे कि मै मानता हूँ, मै समझता हूँ, मै अनुभव करता हूँ और मै प्रत्यक्ष देख रहा हूँ आदि आदि। और भी आप देखिए, सोचिए, समझिए, विचारिए इत्यादि। यह एक प्रकार से बोलने की और अपनी बात पर बल देने की शैली ही है, और कुछ नही। प्राचीन काल से लेकर अब तक साहित्य एव लोक भापा मे इस शैली का निराबाध प्रयोग होता चला आ रहा है। अत इन पदो का प्रत्येक के लिए कोई विशेप या व्यावर्तक अर्थ होना ही चाहिए, ऐसा कुछ नही

है। और न इस शैली के प्रयोगो से किसी विशेष सिद्धान्त या मान्यता का सम्बन्ध ही जोडना चाहिए। अतएव आगम-साहित्य मे आए "जाणइ पासइ" अथवा केवल "पासइ" जैसे युगल प्रयोग तथा एकाकी प्रयोग का भी इधर कोई विशेष अर्थ लगाना, युक्ति युक्त नही मालूम होता।

प्रस्तुत लेख मे अग सूत्रो के ११ मुददो पर सक्षेप मे विचार किया गया है। आगमाभ्यासी या आगम-विशारद श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकाओ से लेखक का सविनय एव सादर निवेदन है, कि वे उक्त विषयो पर तथा इन्ही जैसे अन्य विषयो पर भी तटस्थ-भाव से विचारणा करे, ताकि आगमाभ्यास का दुरुह मार्ग प्रशस्त हो सके।

लेखक जिज्ञासु है, आगमो का अभ्यासी भी है और भगवान् महावीर के प्रति महामानव के रूप मे पूज्यभाव से श्रद्धा भी रखता है। अतएव सूत्रो मे उनके अपने अभ्यासकाल मे जो-जो बाते विशेष विचारणीय, सशोधनीय एव तटस्थ भाव से चिन्तन करने योग्य प्रतीत हुई, उनमे से कुछ ही बातो पर प्रस्तुत लेख मे चर्चा करने का अवसर मिला है। और भी बहुत से विचारणीय विषय है, जिनकी चर्चा, सभव है, किसी अन्य प्रसग पर की जा सके।

जैन-दर्शन में सप्तभंगीवाद

उपाध्याय अमरमुनि

साख्य दर्शन का चरम विकास प्रकृति पुरुष-वाद मे हुआ, वेदान्त दर्शन का चिद्अद्वैत मे, बौद्ध दर्शन का विज्ञानवाद मे और जैन दर्शन का अनेकान्त एव स्याद्वाद मे। स्याद्वाद जैन दर्शन के विकास की चरम-रेखा है। इसको समझने के पूर्व प्रमाण एव नय को समझना आवश्यक है, और प्रमाण एव नय को समझने के लिए सप्तभगी का समझना भी आवश्यक ही नही, परमआवश्यक है। जहा वस्तुगत अनेकान्त के परिबोध के लिए प्रमाण और नय है, वहा तत्प्रतिपादक वचन-पद्धति के परिज्ञान के लिए सप्त भंगी है। यहाँ पर मुख्य रूप मे सप्त भगीवाद का विश्लेपण ही अभीप्ट है। अत प्रमाण और नय की स्वतन्त्र परिचर्चा मे न जाकर सप्त भगी की ही विवेचना करेंगे।

सप्तभंगी

प्रश्न उठता है, कि सप्तभगी क्या है ? उसका प्रयोजन क्या है ? उसका उपयोग क्या है ? विश्व की प्रत्येक वस्तु के स्वरूप-कथन मे सात प्रकार के वचनो का प्रयोग किया जा सकता है, इसी को सप्तभगी कहते है।[1]

---

[1] सप्तभिः प्रकारैं वंचन-विन्यास : सप्तभङ्गीति गीयते

—स्याद्वाद मंजरी, का० २३ टीका

धर्म और दर्शन

वस्तु के यथार्थ परिबोध के लिए जैन दर्शन ने दो उपाय स्वीकार किए है—प्रमाण[1] और नय। ससार की किसी भी वस्तु का अधिगम (बोध) करना हो, तो वह बिना प्रमाण और नय के नही किया जा सकता।

अधिगम के दो भेद होते है—स्वार्थ और परार्थ[2]। स्वार्थ ज्ञानात्मक होता है, परार्थ शब्दात्मक। भग का प्रयोग परार्थ (दूसरे को परिबोध कराने के लिए किए जाने वाले शब्दात्मक अधिगम) मे किया जाता है, स्वार्थ (अपने आप के लिए होने वाले ज्ञानात्मक अधिगम) मे नही। उक्त वचन-प्रयोग रूप शब्दात्मक परार्थ अधिगम के भी दो भेद किए जाते है—प्रमाण-वाक्य, और नय-वाक्य। उक्त आधार पर ही सप्तभगी के दो भेद किए है—प्रमाण-सप्तभगी, और नय-सप्त भगी। प्रमाण-वाक्य को सकलादेश और नय-वाक्य को विकलादेश भी कहा गया है। वस्तुगत अनेक धर्मों के बोधक वचन को सकलादेश और उसके किसी एक धर्म के बोधक-वचन को विकलादेश कहते है। जैन दर्शन मे वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना[3] गया है। वस्तु की परिभाषा इस प्रकार की है—जिसमे गुण और पर्याय रहते है, वह वस्तु है।"[4] तत्त्व, पदार्थ और द्रव्य—ये वस्तु के पर्यायवाची शब्द हैं।

सप्तभगी की परिभाषा करते हुए कहा गया है, कि—"प्रश्न उठने पर एक वस्तु मे अविरोध-भाव से जो एक धर्म-विषयक विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभगी कहा जाता है।"[5] भग सात ही क्यो है ? क्योकि वस्तु का एक धर्म-सम्बन्धी प्रश्न सात ही प्रकार से किया जा सकता है। प्रश्न सात ही प्रकार का क्यो होता है ? क्योकि जिज्ञासा सात ही प्रकार से होती है। जिज्ञासा सात ही प्रकार से क्यो होती है ? क्योकि सशय सात ही प्रकार से होता है। अत किसी भी एक वस्तु के किसी भी एक धर्म के विषय मे सात ही भग होने से इसे सप्तभगी कहा गया है। गणित शास्त्र के नियमानुसार भी तीन मूल वचनो के सयोगी एव असयोगी अपुनरुक्त भग सात ही हो सकते है, कम और अधिक नही। तीन असयोगी मूल भंग, तीन द्विसयोगी भग और एक त्रिसयोगी भग। भग का अर्थ है—विकल्प, प्रकार और भेद।

---

[1] प्रमाणनयैरधिगम·—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र १, ६

[2] अधिगमो द्विविधः स्वार्थः परार्थश्च, स्वार्थो ज्ञानात्मकः परार्थः शब्दात्मकः।
स च प्रमाणात्मको नयात्मकश्च···इयमेव प्रमाण-सप्तभगी च कथ्यते।

सप्तभङ्गीतरंगिणी, पृ० १

अधिगमहेतु द्विविधः···—तत्त्वार्थ राज वार्तिक १, ६, ४

[3] अनन्त धर्मात्मक मेव तत्त्वम्—अन्ययोग व्यवच्छेदिका, का० २२

[4] वसन्ति गुण-पर्याया अस्मिन्निति वस्तु—धर्माधर्माऽऽकाश-पुद्गल-काल जीवलक्षण द्रव्यषट्कम्।

—स्याद्वाद मंजरी, कारिका, २३ टीका

[5] प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि-प्रतिषेध विकल्पना सप्तभङ्गी।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १, ६, ५ ?

सप्तभंगी और अनेकान्त

वस्तु का अनेकान्तत्व और तत्प्रतिपादक भाषा की निर्दोष पद्धति स्याद्वाद, मूलत सप्तभगी मे सन्निहित हैं। अनेकान्त दृष्टि का फलितार्थ है, कि प्रत्येक वस्तु मे सामान्य रूप से और विशेष रूप से, भिन्नता की दृष्टि से और अभिन्नता की दृष्टि से, नित्यत्व की अपेक्षा मे और अनित्यत्व की अपेक्षा से तथा सद्रूप से और असद्रूप अनन्त धर्म होते हैं। सक्षेप मे—"प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु मे रहता है"—यह परिबोध अनेकान्त दृष्टि का प्रयोजन है। अनेकान्त स्वार्थाधिगम है प्रमाणात्मक श्रुतज्ञान है। परन्तु सप्तभङ्गी की उपयोगिता इस बात मे है, कि वह वस्तु-गत अनेक अथवा अनन्त धर्मो की निर्दोष भाषा में अपेक्षा बताए, योग्य अभिव्यक्ति कराए। उक्त चर्चा का साराश यह है कि अनेकान्त अनन्त-धर्मात्मक वस्तु स्वरूप की एक दृष्टि है, और स्याद्वाद अर्थात् सप्तभगी उस मूल ज्ञानात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा-सूचिका एक वचन-पद्धति है। अनेकान्त एक लक्ष्य है, एक वाच्य है और सप्तभगी स्याद्वाद एक साधन है, एक वाचक है, उसे समझने का एक प्रकार है। अनेकान्त का क्षेत्र व्यापक है, जब कि स्याद्वाद का प्रतिपाद्य विषय व्याप्य है, दोनो मे व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध है। अनन्तानन्त अनेकान्तो मे शब्दात्मक होने से सीमित[1] स्याद्वादो की प्रवृत्ति नही हो सकती, अत स्याद्वाद अनेकान्त का व्याप्य है, व्यापक नहीं।

भंग कथन-पद्धति

शब्द-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक शब्द के मुख्यरूप मे दो वाच्य होते हैं—विधि और निषेध। प्रत्येक विधि के साथ निषेध है और प्रत्येक निषेध के साथ विधि है। एकान्त रूप से न कोई विधि है, और न कोई निषेध। इकरार के साथ इन्कार और इन्कार के साथ इकरार सर्वत्र लगा हुआ है। उक्त विधि और निषेध के सब मिलाकर सप्तभग होते हैं। सप्त भगो के कथन की पद्धति यह है —

१—स्याद् अस्ति
२—स्याद् नास्ति
३—स्याद् अस्ति-नास्ति
४—स्याद् अवक्तव्य

---

[1] अभिलाप्य भाव, अनभिलाप्य भावों के अनन्तवें भाग हैं—'पण्णवणिज्जा भावा, अणन्तभागो दु अणभिलप्पाण"—गोमट्टसार। अनन्त का अनतवां भाग भी अनन्त ही होता है, अत. वचन भी अनन्त हैं। तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १, ६, ५२ के विवरण मे कहा है —"एकत्र वस्तुनि अनन्तानां धर्माणा मभिलापयोग्यनामुपगमादनन्ता एव वचनमार्गाः स्याद्वादिना भवेयुः।" यह ठीक है कि वचन अनन्त है, फलत. स्याद्वाद भी अनन्त है, परन्तु वह अनेकान्त धर्मो का अनन्तवां भाग होने के कारण सीमित है, फलतः व्याप्य है।

५—स्याद् अस्ति अवक्तव्य
६—स्याद् नास्ति अवक्तव्य
७—स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य

सप्तभगी मे वस्तुत मूल भग तीन ही है—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। इसमे तीन द्विसयोगी और एक त्रिसयोगी—इस प्रकार चार भग मिलाने से सात भग होते है। द्विसयोगी भग ये है—अस्ति-नास्ति, अस्ति अवक्तव्य और नास्ति अवक्तव्य। मूल भग तीन होने पर भी फलितार्थ रूप से सात भगो का उल्लेख भी आगमो मे उपलब्ध होता है। भगवती सूत्र मे जहाँ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध का वर्णन आया है, वहा स्पष्ट रूप से सात भगो का प्रयोग किया गया है।[१] आचार्य कुन्दकुन्द ने सात भगो का नाम गिना कर सप्त भग का प्रयोग किया है।[२] भगवती सूत्र मे अवक्तव्य को तीसरा भग कहा है।[३] जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण भी अवक्तव्य को तीसरा भग मानते है।[४] कुन्दकुन्द ने पञ्चास्तिकाय मे इसको चौथा माना है, पर अपने प्रवचन सार मे इसको तीसरा माना है।[५] उत्तरकालीन आचार्यों की कृतियो मे दोनो क्रमो का उल्लेख मिलता है।

प्रथम भंग . स्याद् अस्ति घट

उदाहरण के लिए घटगत सत्ता धर्म के सम्बन्ध मे सप्त भगी घटाई जा रही है। घट के अनन्त धर्मो मे एक धर्म सत्ता है, अस्तित्व है। प्रश्न है कि वह अस्तित्व किस अपेक्षा से है ? घट है, पर वह क्यो है और कैसे है ? इसी का उत्तर प्रथम भग देता है।

घट का अस्तित्व स्यात् है, कथ-चित् है, स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से है। जब हम कहते है कि घडा है, तब हमारा अभिप्राय यही होता है, कि घडा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की दृष्टि से है। यहाँ घट के अस्तित्व की विधि है, अत यह विधि भग है। परन्तु यह अस्तित्व की विधि स्व की अपेक्षा है पर की अपेक्षा से नही है। विश्व की प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व स्वरूप से ही होता है, पर रूप से नही। "सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च।" यदि स्वय से भिन्न अन्य समग्र पर स्वरूपो से भी घट का अस्तित्व हो, तो घट, फिर एक घट ही क्यो रहे, विश्व रूप क्यो न बन जाए ? और यदि विश्व रूप बन जाए, तो फिर मात्र अपनी जलाहरणादि क्रियाएँ ही घट मे क्यो हो, अन्य पटादि की प्रच्छादनादि क्रियाएँ क्यो न हो ? किन्तु कभी ऐसा होता नही है। एक बात और है। यदि वस्तुओ मे अपने स्वरूप के समान पर

---

[१] भगवती सूत्र, श० १२, उ०१०, प्र० १९-२०
[२] पचास्तिकाय, गाथा १४
[३] भगवती सूत्र, श० १२, उ०१०, प्र० १९-२०
[४] विशेषावश्यक भाष्य, गा० २.-३२
[५] प्रवचनसार ज्ञेयाधिकार, गा० ११५

स्वरूप की सत्ता भी मानी जाए[1], तो उनमे स्व-पर विभाग कैसे घटित होगा ? स्व-पर विभाग के अभाव मे सकर दोष उपस्थित होता है, जो सब गुड-गोबर एक कर देता है। अत प्रथम भग का यह अर्थ होता है कि घट की सत्ता किसी एक अपेक्षा से है, सब अपेक्षाओ से नही। और वह एक अपेक्षा है, स्व की, स्व-चतुष्टय की।

द्वितीय भंग : स्याद् नास्ति घट

यहाँ घट की सत्ता का निषेध पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा से किया गया है। प्रत्येक पदार्थ विधि रूप होता है, वैसे निषेध रूप भी। अस्तु, घट मे घट के अस्तित्व की विधि के साथ घट के अस्तित्व का निषेध-नास्तित्व भी रहा हुआ है। परन्तु वह नास्तित्व अर्थात् सत्ता का निषेध, स्वाभिन्न अनन्त पर की अपेक्षा से है। यदि पर की अपेक्षा के समान स्व की अपेक्षा से भी अस्तित्व का निषेध माना जाए, तो घट नि स्वरूप हो जाए।[2] और यदि नि स्वरूपता स्वीकार करे, तो स्पष्ट ही सर्वशून्यता का दोप उपस्थित हो जाता है। अत द्वितीय भग सूचित करता है कि घट कथचित् नही है। घट भिन्न पटादि की, पर-चतुष्टय की अपेक्षा से नही है। स्व-रूपेण ही सदा स्व है, पर-रूपेण नही।

तृतीय भंग : स्याद् अस्ति नास्ति घट

जहाँ प्रथम समय मे विधि की और द्वितीय समय मे निषेध की क्रमश विवक्षा की जाती है, वहाँ तीसरा भग होता है। इसमे स्व की अपेक्षा सत्ता का और पर की अपेक्षा असत्ता का एक साथ, किन्तु क्रमश कथन किया गया है। प्रथम और द्वितीय भंग विधि एव निषेध का स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करते है, जब कि तृतीय भग एक साथ, किन्तु क्रमश विधि-निषेध का उल्लेख करता है।

चतुर्थ भग : स्याद् अवक्तव्य घट

जब घटास्तित्व के विधि और निषेध दोनो की युगपत् अर्थात् एक समय मे विवक्षा होती है, तब दोनो को एककालावच्छेदेन एक साथ अक्रमश बताने वाला कोई शब्द न होने से घट को अवक्तव्य कहा जाता है। शब्द की शक्ति सीमित है। जब हम वस्तुगत किसी भी धर्म की विधि का उल्लेख करते हैं, तो उसका निषेध रह जाता है, और जब निपेध कहते है तो विधि रह जाती है। यदि विधि—निषेध का पृथक्-पृथक् या क्रमश एक साथ प्रतिपादन करना हो तो प्रथम के तीन भगो मे यथाक्रम 'अस्ति', 'नास्ति' और अस्ति-नास्ति शब्दो के द्वारा काम चल सकता है, परन्तु विधि-निषेध की युगपद् वक्तव्यता मे कठिनाई है, जिसे अवक्तव्य शब्द के द्वारा हल किया गया है। स्याद् अवक्तव्य भग बताता है कि घट-वक्तव्यता क्रम मे ही होती है, युगपद् मे नही। स्याद् अवक्तव्य भग एक और ध्वनि भी देता है।

---

[1] स्वरूपोपादानवत् पररूपोपादाने सर्वथा स्वपर-विभागाभावप्रसंगात्। स चायुक्त.।

—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १, ६, ५२

[2] पररूपापोहनवत् स्वरूपापोहने तु निरुपाख्यत्व-प्रसगात्। —तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १, ६, ५२

वह यह कि घट के युगपद् अस्तित्व नास्तित्व का वाचक कोई शब्द नही है, अत विधि-निषेध का युगपत्त्व अवक्तत्व है। परन्तु वह अवक्तव्यत्व सर्वथा सर्वतो भावेन नही है। यदि सर्वथा सर्वतो भावेन अवक्तव्यत्व माना जाए, तो एकान्त अवक्तव्यत्व का दोप उपस्थित होता है, जो जैन दर्शन मे मिथ्या होने से मान्य नही है। अतः स्याद् अवक्तव्य सूचित करता है कि यद्यपि विधि निषेध का युगपत्त्व विधि या निषेध शब्द से वक्तव्य नही है, अवक्तव्य है, परन्तु वह अवक्तव्य सर्वथा अवक्तव्य नही है, 'अवक्तव्य' शब्द के द्वारा तो वह युगपत्त्व वक्तत्व ही है।

पञ्चम भग : स्याद् अस्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर प्रथम समय मे विधि और द्वितीय समय मे युगपत् विधि निषेध की विवक्षा करने से घट को स्याद् अस्ति अवक्तव्य कहा गया है। इसमे प्रथमाश अस्ति, स्वरूपेण घट की सत्ता का कथन करता है और द्वितीय अवक्तव्य अश युगपत् विधि-निषेध का प्रतिपादन करता है। पचम भग का अर्थ है—घट है, और अवक्तव्य भी है।

षष्ठ भंग : स्याद् नास्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर प्रथम समय मे निषेध और द्वितीय समय मे एक साथ युगपद् विधि-निषेध की विवक्षा होने से घट नही है, और वह अवक्तव्य है—यह कथन किया गया है।

सप्तम भंग : स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर क्रम से प्रथम समय मे विधि और द्वितीय समय मे निषेध तथा तृतीय समय एक साथ मे युगपद् विधि-निपेध को अपेक्षा से—"घट है, घट नही है, घट अवक्तव्य है।" यह कहा गया है।

चतुष्टय की व्याख्या

प्रत्येक वस्तु का परिज्ञान विधि-मुखेन और निपेध-मुखेन होता है। स्वात्मा से विधि है और परात्मा से निपेध है,[1] क्योकि स्वचतुष्टयेन जो वस्तु सत् है, वही वस्तु पर-चतुष्टयेन असत् है।[2] द्रव्य,

---

[1] जिसमे घट बुद्धि और घट शब्द की प्रवृत्ति (व्यवहार) है, वह घट का स्वात्मा है, और जिसमे उक्त दोनो की प्रवृत्ति नही है, वह घट का पटादि परात्मा है। "घट बुद्धयभिधान प्रवृत्तिलिङ्गः स्वात्मा, यत्र तयोरप्रवृत्ति. स परात्मा पटादिः।"

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १, ६, ५

[2] अथ तद्‌यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्क च;
द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाऽथवापि भावेन।

—पचाध्यायी १, २६३

क्षेत्र, काल और भाव–इसको चतुष्टय कहते हैं। घट स्व-द्रव्य रूप मे पुद्गल है, चैतन्य आदि पर द्रव्य रूप मे नही है। स्वक्षेत्र रूप मे कपालादि स्वावयवो मे है, तन्त्वादि पर अवयवो मे नही है। स्वकाल रूप मे अपनी वर्तमान पर्यायो मे है, पर पदार्थो की पर्यायो मे नही है। स्वभाव रूप मे स्वय के रक्तादि गुणो मे है, पर पदार्थो के गुणो मे नही है।[1] अत प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से सत् है, और पर द्रव्य, पर क्षेत्र पर काल और पर-भाव से असत् है। इस अपेक्षा से एक ही वस्तु के सत् और असत् होने मे किसी प्रकार की वाधा अथवा किसी प्रकार का विरोध नही है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से है, और पर चतुष्टय की अपेक्षा से वह नही भी है।

स्यात् शब्द की योजना

सप्तभगी के प्रत्येक भग मे स्व-धर्म मुख्य होता है, और शेष धर्म गौण अथवा अप्रधान होते हैं। इसी गौण-मुख्य विवक्षा की सूचना "स्यात्" शब्द करता है। "स्यात्" जहाँ विवक्षित धर्म की मुख्यत्वेन प्रतीति कराता है, वहाँ अविवक्षित धर्म का भी सर्वथा अपलापन न करके उसका गौणत्वेन उपस्थापन करता है। वक्ता और श्रोता यदि शब्द-शक्ति और वस्तुस्वरूप की विवेचना मे कुशल हैं,[2] तो "स्यात्" शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नही रहती। विना उसके प्रयोग के भी अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है। "अहम् अस्मि" मैं हूँ। यह एक वाक्य प्रयोग है। इसमे दो पद हैं—एक "अहम्" और दूसरा "अस्मि"। दोनो मे से एक का प्रयोग होने पर दूसरे का अर्थ स्वत ही गम्यमान हो जाता है, फिर भी स्पष्टता के लिए दोनो पदो का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'पार्थो धनुर्धर' इत्यादि वाक्यो मे 'एव' कार का प्रयोग न होने पर भी तन्निमित्तक 'अर्जुन' ही धनुर्धर है—यहाँ अर्थवोध होता है, और कुछ नही।[3] प्रकृत मे भी यही सिद्धान्त लागू पडता है। स्यात्-शून्य केवल "अस्ति घट" कहने पर भी यही अर्थ निकलता है, कि "कथचित् घट है, किसी अपेक्षा से घट है।" फिर भी भूल-चूक को साफ करने के लिए किंवा वक्ता के भावो को समझने मे भ्रान्ति न हो जाए, इसलिए 'स्यात्" शब्द का प्रयोग अभीष्ट है। क्योकि ससार मे विद्वानो की अपेक्षा साधारणजनो की सख्या ही अधिक है। अत सप्त-

---

[1] स्याद्वाद मजरी (का० २३) मे घट का स्वचतुष्टय क्रमश. पार्थिवत्व, पाटलिपुत्रकत्व, शैशिरत्व और श्यामत्वरूप मे छपा है, जो व्यवहार दृष्टि प्रधान है।

[2] अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते;
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र, कुशलश्चेत्प्रयोजक ॥६३॥

—लघीयस्त्रय, प्रवचन प्रवेश

[3] सोऽप्रयुक्तोऽपि तज्ज्ञै., सर्वत्रार्थात्प्रतीयते;
तथैवकारो योगादिव्यवच्छेद प्रयोजनः ॥

—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १, ६, ५६

भगी जैसे गम्भीर तत्त्व को समझने का वहुमत-सम्मत राज मार्ग यही है ,कि सर्वत्र "स्यात्"[1] शब्द का प्रयोग किया जाए।

अन्य दर्शनो मे भंग-योजना का रहस्य

भगो के सम्बन्ध मे स्पष्टता की जा चुकी है, फिर भी अधिक स्पष्टीकरण के लिए इतना समझना आवश्यक है, कि सप्तभगी मे मूल भग तीन ही हैं—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। शेष चार भग सयोग जन्य है। तीन द्विसयोगी और एक त्रिसयोगी है। अद्वैत वेदान्त, बौद्ध और वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से मूल तीन भगो की योजना इस प्रकार की जाती है।

अद्वैत वेदान्त मे एक मात्र तत्त्व ब्रह्म ही है। किन्तु वह "अस्ति" होकर भी अवक्तव्य है। उसकी सत्ता होने पर भी वाणी से उसकी अभिव्यक्ति नही की जा सकती। अत वेदान्त मे ब्रह्म "अस्ति" होकर भी 'अवक्तव्य' है। बौद्ध-दर्शन मे अन्यापोह "नास्ति" होकर भी अवक्तव्य है। क्योकि वाणी के द्वारा अन्य का सर्वथा अपोह करने पर किसी भी विधि रूप वस्तु का बोध नही हो सकता। अत बौद्ध का अन्यापोह "नास्ति" होकर भी अवक्तव्य रहता है। वैशेषिक दर्शन मे सामान्य और विशेष दोनो स्वतन्त्र है। सामान्य-विशेष अस्ति-नास्ति[2] होकर भी अवक्तव्य है। क्योकि वे दोनो किसी एक शब्द के वाच्य नही हो सकते है और न सर्वथा भिन्न सामान्य-विशेष मे कोई अर्थक्रिया ही हो सकती है। इस दृष्टि से जैन सम्मत मूल भगो की स्थिति अन्य दर्शनो मे भी किसी न किसी रूप मे स्वीकृत है।[3]

सकलादेश और विकलादेश

यह वताया जा चुका है कि प्रमाण वाक्य को सकलादेश और नय-वाक्य को विकलादेश कहते है। फिर भी उक्त दोनो भेदो को और अधिक स्पष्टता से समझने की आवश्यकता है। पाच ज्ञानो मे श्रुत ज्ञान भी एक भेद है। उस श्रुतज्ञान के दो[4] उपयोग है—स्याद्वाद और नय। स्याद्वाद सकलादेश है और नय विकलादेश। ये सातो ही भग जब सकलादेशी होते है, तब प्रमाण और जब विकलादेशी होते है, तब

---

[1] स्यादित्यव्ययम् अनेकान्त द्योतकम्—स्याद्वाद मजरी का० ५ आचार्य हेमचन्द्र स्यात् को अनेकान्त बोधक ही मानते हैं; अत' उन्हे स्यात् प्रमाण मे अभीष्ट है, नय मे नहीं।—सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थ· अयोग० का० २८। जबकि भट्टाकलंक लघीय स्त्रय ६२ मे स्यात् को सम्यग् अनेकात और सम्यग् एकात उभय का वाचक मानते है, अत उन्हे प्रमाण और नय-दोनो मे ही स्यात् अभीष्ट है।

[2] विशेष व्यावृत्तिहेतुक होने से नास्ति है

[3] प० महेन्द्रकुमार संपादित—जैन दर्शन, पृ० ५४३

[4] उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ, स्याद्वाद नय-सज्ञितौ।
स्याद्वाद. सकलादेशो नयो विकलसंकथा॥

—लघीयस्त्रय, श्लो० ६२

नय कहे जाते है। वस्तु के समस्त धर्मो को ग्रहण करने वाला सकलादेश और किसी एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाला[1] तथा शेष धर्मो के प्रति उदासीन अर्थात् तटस्थ रहने वाला विकलादेश कहा जाता है। आचार्य सिद्धसेन के शब्दो मे—स्याद्वाद सम्पूर्णार्थ-विनिश्चायी है।[2] अत वह अनेकान्तात्मक पूर्ण अर्थ को ग्रहण करता है। जैसे "जीव" कहने से जीव के ज्ञान आदि असाधारण धर्म, सत्त्व आदि साधारण धर्म और अमूर्तत्व आदि साधारणासाधारण आदि सभी गुणो का ग्रहण होता है। अत यह प्रमाण-वाक्य है—स्याद्वाद वचन है। नय-वाक्य वस्तु के किसी एक धर्म का मुख्य रूप से कथन करता है। जैसे "जो जीव" कहने से जीव के अनन्त गुणो मे से केवल एक ज्ञान गुण का ही बोध होता है, शेष धर्म गौण रूप से उदासीनता के कक्ष मे पडे रहते हैं। सकलादेशी वाक्य के समान विकलादेशी वाक्य मे भी "स्यात्' पद का प्रयोग अनेक आचार्यो ने किया है। क्योकि वह शेष धर्मो के अस्तित्व की गौणरूप मे मूक सूचना करता है। इस आधार से सप्तभगी के दो भेद किए जाते है—प्रमाण-सप्तभगी और नय-सप्तभगी।

प्रमाण-सप्तभगी

आगम और युक्ति से यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि वस्तु मे अनन्त धर्म हैं। अत किसी भी एक वस्तु का पूर्णरूप से कथन करने के लिए तत् तद् अनन्त धर्म-बोधक अनन्त शब्दो का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु न यह सम्भव है, और न व्यवहार्य ही। अनन्त धर्मो के लिए पृथक्-पृथक् अनन्त शब्दो के प्रयोग मे अनन्त काल बीत सकता है, और तव तक एक पदार्थ का भी समग्र बोध न हो सकेगा। अस्तु, कुछ भी हो, हमे किसी एक शब्द से ही सम्पूर्ण अर्थ के बोध का मार्ग अपनाना पडता है। वह एक शब्द ध्वनि-मुखेन भले ही बाहर मे एक धर्म का ही कथन करता-सा लगता है, परन्तु अभेद प्राधान्य वृत्ति अथवा अभेदोपचार से वह अन्य धर्मो का भी प्रतिपादन कर देता है। उक्त अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार से एक शब्द के द्वारा एक धर्म का कथन होते हुए भी अखण्ड रूप से अन्य समस्त धर्मों का भी युगपत् कथन हो जाता है। अत इसको 'प्रमाण-सप्त' भगी कहते है।

प्रश्न है, कि यह अभेद वृत्ति अथवा अभेदोपचार क्या चीज है ? जबकि वस्तु के अनन्त धर्म परस्पर भिन्न हैं, उन सब की स्वरूप सत्ता पृथक् है, तब उनमे अभेद कैसे माना जा सकता है ? सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए केवल कथन मात्र अपेक्षित नही होता, उसके लिए कोई ठोस आधार चाहिए।

---

[1] अनेक-धर्मात्मक-वस्तुविषयक-बोधजनकत्व सकलादेशत्वम्।
एकधर्मात्मक-वस्तु-विषयक-बोधजनकत्व विकलादेशत्वम्।

—सप्तभगी तरगिणी, पृ० १६

[2] नयनामेकनिष्ठानां, प्रवृत्ते श्रुतवर्त्मनि,
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि, स्याद्वाद श्रुतमुच्यते।

—न्यायावतार सूत्र, श्लोक, ३०

समाधान है कि वस्तु-तत्त्व के प्रतिपादन की दो शैलियाँ है—अभेद और भेद। अभेद-शैली भिन्नता मे भी अभिन्नता का पथ पकडती है और भेद-शैली अभिन्नता मे भिन्नता का पथ प्रशस्त करती है। अस्तु, अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार विवक्षित वस्तु के अनन्त धर्मो को काल, आत्म, रूप, अर्थ, सम्वन्ध उपकार, गुणिदेश, ससर्ग और शब्द की अपेक्षा से एक साथ अखण्ड एक वस्तु के रूप मे उपस्थित करता है। इस प्रकार एक और अखण्ड वस्तु के रूप मे अनन्त धर्मो को एक साथ प्रतिपादित करने वाले सकलादेश से वस्तु के समस्त धर्मो का एक साथ समूहात्मक परिज्ञान हो जाता है।

अभेदावच्छेक कालादि का निरूपण

जीव आदि पदार्थ कथचित् अस्तिरूप है, उक्त एक अस्तित्व-कथन मे अभेदावच्छेदक काल आदि की घटन पद्धति इस प्रकार है—

१ वस्तु मे जो अस्तित्व धर्म का समय है, काल है, वही शेष अनन्त धर्मो का भी है, क्योकि उस समय वस्तु मे अन्य भी अनन्त धर्म उपलब्ध होते है। अतः एक अस्तित्व के साथ काल की अपेक्षा अस्तित्व आदि सब धर्म एक है।

२ जिस प्रकार वस्तु का अस्तित्व स्वभाव है, उसी प्रकार अन्य धर्म भी वस्तु के आत्मीय-रूप है, स्वभाव है। अत आत्म-रूप की अपेक्षा से अस्तित्व आदि सब धर्म अभिन्न है।

३ जिस प्रकार वस्तु अस्तित्व का अर्थ है, आधार है, वैसे ही अन्य धर्मो का भी वह आधार है। अत अर्थ अर्थात् आधार की अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न है।

४ जिस प्रकार पृथक्-पृथक् न होने वाले कथचित् अविष्वग्भावरूप तादात्म्य सम्वन्ध से अस्तित्व धर्म वस्तु मे रहता है, उसी प्रकार अन्य धर्म भी रहते हैं। अत. सम्वन्ध की अपेक्षा से भी अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न है।

५ अस्तित्व धर्म के द्वारा जो स्वानुरक्तत्व करण रूप उपकार वस्तु का होता है, वही उपकार अन्य धर्मो के द्वारा भी होता है। अत उपकार की अपेक्षा से भी अस्तित्व आदि धर्मों मे अभेद है।

६ जो क्षेत्र द्रव्य मे अस्तित्व का है, वही क्षेत्र अन्य धर्मो का भी है। अत. अस्तित्व आदि धर्मों मे अभेद है। इसी को गुणि-देश[१] कहते है।

---

[१] अर्थ पद से लम्बी-चौडी अखण्ड वस्तु पूर्णरूप से ग्रहण की जाती है और गुणि-देश से अखण्ड वस्तु के बुद्धि-परिकल्पित देशाश ग्रहण किए जाते हैं।

७. जो एक वस्तु-स्वरूप से वस्तु मे अस्तित्व धर्म का ससर्ग है, वही अन्य धर्मो का भी है। अत ससर्ग[1] की अपेक्षा से भी सभी धर्मो मे अभेद है।

८. जिस प्रकार 'अस्ति' शब्द अस्तित्व धर्म-युक्त वस्तु का वाचक है, उसी प्रकार 'अस्ति' शब्द अन्य अनन्त धर्मात्मक वस्तु का भी वाचक है। 'सर्वे सर्वार्थवाचका ।' अत शब्द की अपेक्षा से भी अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न है।

कालादि के द्वारा यह अभेद व्यवस्था पर्याय स्वरूप अर्थ को गौण और गुणपिण्डरूप द्रव्य पदार्थ को प्रधान करने पर सिद्ध हो जाती है। प्रमाण का मूल प्राण—अभेद है। अभेद के बिना प्रमाण की कुछ भी स्वरूप-स्थिति नही है।

नय-सप्तभंगी

नय वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्यरूप मे ग्रहण करता है, वस्तुगत शेष धर्मो के प्रति वह तटस्थ रहता है। न वह उन्हे ग्रहण करता है और न उनका निषेध ही करता है। न हाँ और न ना. एक मात्र उदासीनता। इसको 'सुनय' कहते है। इसके विपरीत, जो नय अपने विषय का प्रतिपादन करता हुआ दूसरे नयो का खण्डन करता है, उसे 'दुर्नय' कहा जाता है। नय सप्तभगी सुनय मे होती है, दुर्नय मे नही। वस्तु के अनन्त धर्मो मे से किसी एक धर्म का काल आदि भेदावच्छेदको द्वारा भेद की प्रधानता अथवा भेद के उपचार से प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलादेश कहलाता है। इसी को 'नय-सप्तभगी' कहते है। नय सप्त भगी मे वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन भेद-मुखेन किया जाता है।

नय-सम्बन्धित भेदावच्छेदक कालादि

नय सप्त भगी मे गुणपिण्डरूप द्रव्य पदार्थ को गौण और पर्याय स्वरूप अर्थ को प्रधान माना जाता है। अत नय सप्त भगी भेद-प्रधान है। उक्त भेद भी कालादि के द्वारा ही प्रमाणित होता है।

१ वस्तुगत-गुण प्रत्येक क्षण मे भिन्न-भिन्न रूप से परिणत होते हैं। अत जो अस्तित्व का काल है, वह नास्तित्व आदि का काल नही है। भिन्न-भिन्न धर्मो का भिन्न-भिन्न काल होता है, एक नही। यदि बलात् अनेक गुणो का एक ही काल माना जाए, तो जितने गुण है, उतने ही आश्रयभेद से वस्तु भी होनी चाहिए। इस प्रकार एक वस्तु मे अनेक वस्तु होने का दोष उपस्थित होता है। अत. काल की अपेक्षा वस्तुगत धर्मो मे भेद है, अभेद नही।

---

[1] पूर्वोक्त सम्बन्ध और प्रस्तुत संसर्ग में यह अन्तर है कि तादात्म्य सम्बन्ध धर्मों की परस्पर योजना करने वाला है और ससर्ग एक वस्तु मे अशेष धर्मों को ठहराने वाला है।

२ पर्याय-दृष्टि से वस्तुगत गुणो का आत्मरूप भी भिन्न-भिन्न है। यदि अनेक गुणो का आत्म-स्वरूप भिन्न न माना जाए, तो गुणो मे भेद की बुद्धि कैसे होती है ? एक आत्म-स्वरूप वाले तो एक-एक ही होगे, अनेक नही। आत्म-स्वरूप से भी अभेद नही, भेद ही सिद्ध होता है।

३ नाना धर्मो का अपना-अपना आश्रय अर्थ भी नाना ही होता है। यदि नाना गुणो का आधार भूत पदार्थ अनेक न हो, तो एक को ही अनेक गुणो का आश्रय मानना पडेगा, जो कि तर्क-सगत नही है। एक का आधार एक ही होता है। अत अर्थ-भेद से भी सब धर्मो मे भेद है।

४ सम्बन्धियो के भेद से सम्बन्ध मे भी भेद होता है। अनेक सम्बन्धियो का एक वस्तु मे एक सम्बन्ध घटित नही होता। देवदत्त का अपने पुत्र से जो सम्बन्ध है, वही पिता, भ्राता आदि के साथ नही है। अत भिन्न धर्मो मे सम्बन्ध की अपेक्षा से भी भेद ही सिद्ध होता है, अभेद नही।

५ धर्मो के द्वारा होने वाला उपकार भी वस्तु मे पृथक्-पृथक् होने से अनेक रूप है, एक रूप नही। अत उपकार की अपेक्षा से भी अनेक गुणो मे अभेद (एकत्व) घटित नही होता।

६ प्रत्येक गुण की अपेक्षा से गुणी का देश भी भिन्न-भिन्न ही होता है। यदि गुण के भेद से गुणी मे देश भेद न माना जाए, तो सर्वथा भिन्न दूसरे पदार्थो के गुणो का गुणी देश भी अभिन्न ही मानना होगा। इस स्थिति मे एक व्यक्ति के दु ख, सुख और ज्ञानादि दूसरे व्यक्ति मे प्रविष्ट हो जाएँगे, जो कि कथमपि इष्ट नही है। अत गुणी-देश से भी धर्मो का अभेद नही, किन्तु भेद ही सिद्ध होता है।

७ ससर्ग भी प्रत्येक ससर्ग वाले के भेद से भिन्न ही माना जाता है। यदि सम्बन्धियो के भेद के होते हुए भी उनके ससर्ग का अभेद माना जाए, तो फिर ससर्गियो (सम्बन्धियो) का भेद कैसे घटित होगा ? लोक-व्यवहार मे भी दान्तो का मिश्री, पान, सुपारी और जिह्वा के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का ससर्ग होता है एक नही। अत ससर्ग से भी अभेद नही, भेद ही सिद्ध होता है।

८ प्रत्येक वाच्य (विषय) की अपेक्षा से वाचक शब्द भिन्न-भिन्न होते है। यदि वस्तुगत सम्पूर्ण गुणो को एक शब्द के द्वारा ही वाच्य माना जाए, तब तो विश्व के सम्पूर्ण पदार्थो को भी एक शब्द के द्वारा वाच्य क्यो न माना जाए ? यदि एक शब्द द्वारा भिन्न-भिन्न समस्त पदार्थों की वाच्यता स्वीकार करली जाए, तो विभिन्न पदार्थो के लिए विभिन्न शब्दो का प्रयोग व्यर्थ सिद्ध होगा। अत वाचक शब्द की अपेक्षा से भी अभेद वृत्ति नही, भेद वृत्ति ही प्रमाणित होती है।

प्रत्येक पदार्थ गुण और पर्याय स्वरूप है। गुण और पर्यायो मे परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है। जब प्रमाण-सप्तभगी से पदार्थ का अधिगम किया जाता है, तब गुण-पर्यायो मे कालादि के द्वारा अभेद वृत्ति या अभेद का उपचार होता है और अस्ति या नास्ति आदि किसी एक शब्द के द्वारा ही अनन्त गुण पर्यायो के पिण्ड स्वरूप अखण्ड पदार्थ का, अर्थात् अनन्त धर्मो का युगपत परिबोध होता है। और जब नय-सप्तभगी से पदार्थ का अधिगम किया जाता है, तब गुण और पर्यायो मे कालादि के द्वारा भेद वृत्ति

अथवा भेदोपचार[1] होता है और अस्ति या नास्ति आदि किसी एक शब्द के द्वारा द्रव्यगत अस्तित्व या नास्तित्व आदि किसी एक विवक्षित गुण-पर्याय का क्रमश मुख्यरूप से निरूपण होता है। विकलादेश (नय) वस्तु के अनेक धर्मो का क्रमश निरूपण करता है और सकलादेश (प्रमाण) सम्पूर्ण धर्मो का युगपत् निरूपण करता है। सक्षेप मे इतना ही विकलादेश और सकलादेश मे, अर्थात् नय और प्रमाण मे अन्तर है। प्रमाण सप्तभगी मे अभेद वृत्ति या अभेदोपचार का और नय सप्तभगी मे भेद वृत्ति या भेदोपचार का जो कथन हैं, उसका अन्तर्मर्म यह है कि प्रमाण सप्तभगी मे जहाँ द्रव्यार्थिक भाव है, वहाँ तो अनेक धर्मों मे अभेद वृत्ति स्वत है और जहाँ पर्यायर्थिक भाव है वहाँ अभेद का उपचार—आरोप करके अनेक धर्मो मे एक अखण्ड अभेद प्रस्थापित किया जाता है। और नय सप्तभगी मे जहाँ द्रव्यार्थिकता है, वहाँ अभेद मे भेद का उपचार करके एक धर्म का मुख्यत्वेन निरूपण होता है, और जहाँ पर्यायार्थिकता है, वहाँ तो भेदवृत्ति स्वय सिद्ध होने से उपचार की आवश्यकता नही होती।

व्याप्य-व्यापक-भाव

स्याद्वाद और सप्तभगी मे परस्पर क्या सम्बन्ध है? यह भी एक प्रश्न है। दोनो मे व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध माना जाता है। स्याद्वाद 'व्याप्य' है और सप्तभगी 'व्यापक'। क्योकि जो स्याद्वाद है, वह सप्तभगी होता ही है, यह तो सत्य है। परन्तु जो सप्तभगी है, यह स्याद्वाद है भी और नही भी। नय स्याद्वाद नही है, फिर भी उसमे सप्तभगीत्व एक व्यापक धर्म है। जो स्याद्वाद और नय-दोनो मे रहता है। "अधिक देश-वृत्तित्व व्यापकत्वम् अल्प देश वृत्तित्व व्याप्यत्वम्।"

अनन्त भंगी क्यो नहीं ?

सप्तभगी के सम्बन्ध मे एक प्रश्न और उठता है और वह यह है कि जब जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म है, तब सप्तभगी के स्थान पर अनन्त भगी स्वीकार करनी चाहिए, सप्त-भगी नही? उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म है, और उसके एक-एक धर्म को लेकर एक-एक सप्तभगी बनती है। इस दृष्टि से अनन्त सप्तभगी स्वीकार करने मे जैन दर्शन का कोई विरोध नही है, वह इसको स्वीकार करता है। किन्तु वस्तु के किसी एक धर्म को लेकर, एक ही सप्त भगी बन सकती है, अनन्त भगी नही। इस प्रकार जैन-दर्शन को अनन्त सप्त भगी का होना, तो स्वीकार है,[2] परन्तु अनन्त भगी स्वीकार नही है।

---

[1] सकलादेशो हि यौगपद्येन अशेषधर्मात्मक वस्तु कालादिभिरभेदवृत्या प्रतिपादयति, अभेदोपचारेण वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात्।

विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण, भेद-प्राधान्येन वा, तस्य नयायत्तत्वात्।

—तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक १, ६, ५४

[2] प्रतिपर्याय सप्तभगी वस्तुनि-इति वचनात् तथाऽनन्ता• सप्तभंग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टम्।

—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १, ६, ५२

सकलता-विकलता का विचार भेद

आचार्य सिद्धसेन और अभयदेव सूरि ने "सत्, असत् और अवक्तव्य" इन तीन भगो को सकलादेशी और शेप चार भगो को विकलादेशी माना है।[1] न्यायावतार-सूत्रवार्तिक वृत्ति मे[2] आचार्य शान्तिसूरि ने भी "अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य" को सकलादेश और शेप चार को विकलादेश कहा है। उपाध्याय यशोविजय ने जैन-तर्क भापा और गुरुतत्त्व-विनिश्चिय मे उक्त परम्परा का अनुगमन न करके सातो भगो को सकलादेशी और विकलादेशी माना है। परन्तु अपने अष्ट सहस्री विवरणो[3] मे उन्होंने तीन भगो को सकलादेशी और शेप चार को विकलादेशी स्वीकार किया है। अकलक और विद्यानन्द आदि प्राय सभी दिगम्बर जैनाचार्य सातो ही भगो का सकलादेश और विकलादेश के रूप मे उल्लेख करते हैं।

सत् असत् और अक्तव्य भगो को सकलादेशी और शेप चार भगो को विकलादेशी मानने वालो का यह अभिप्राय है, कि प्रथम भग मे द्रव्यार्थिक दृष्टि के द्वारा "सत्" रूप से अभेद होता है, और उसमे सम्पूर्ण द्रव्य का परिवोध हो जाता है। दूसरे भग मे पर्यायार्थिक दृष्टि के द्वारा समस्त पर्यायो मे अभेदोपचार से अभेद मानकर असत् रूप से भी समस्तद्रव्य का ग्रहण किया जा सकता है, और तीसरे अवक्तव्य भग मे तो सामान्यत भेद अविवक्षित ही है। अत सम्पूर्ण द्रव्य के ग्रहण मे कोई कठिनाई नही है।

उक्त तीनो भग अभेदरूपेण समग्र द्रव्य-ग्राही होने से सकलादेशी है। इसके विपरीत अन्य शेप भग स्पष्ट ही सावयव या अशग्राही होने मे विकलादेशी है। सातवे भग मे अस्ति आदि तीन अश है, और शेप मे दो-दो अश। इस सदर्भ मे आचार्य शान्तिसूरि ने लिखा है—"ते च स्वावयवापेक्षया विकलादेशा.।"[4]

परन्तु आज के कतिपय विचारक उक्त मत भेद को कोई विशिष्ट महत्व नही देते। उनकी दृष्टि मे यह एक विवक्षाभेद के अतिरिक्त कुछ नही है। जब कि एक सत्व या असत्व के द्वारा समग्र वस्तु का ग्रहण हो सकता है, तब सत्त्वासत्त्वादि रूप से मिश्रित दो या तीन धर्मो के द्वारा भी अखण्ड वस्तु का बोध क्यो नही हो सकता ? अत सातो ही भगो को सकलादेशी और विकलादेशी मानना तर्क-सिद्ध राजमार्ग है।

सप्तभंगी का इतिहास

भारतीय दर्शनो मे विश्व के सम्बन्ध के सत्, असत्, उभय और अनुभय—ये चार पक्ष बहुत

[1] पं० सुखलाल जी और प० बेचरदास जी द्वारा सपादित—सन्मति तर्क, सटीक पृ० ४४६

[2] प० दलसुख मालवणिया सपादित, पृ० ९४

[3] पृष्ठ २०८

[4] न्यायावतार सूत्र वार्तिक वृत्ति—पृ० ९४

प्राचीन काल से ही विचार-चर्चा के विषय रहे हैं। वैदिक काल में[1] जगत् के सम्बन्ध में सत् और असत् रूप से परस्पर विरोधी दो कल्पनाओं का स्पष्ट उल्लेख है। जगत् सत है या असत्?—इस विषय में उपनिषदों में भी[2] विचार उपलब्ध होते हैं। वहीं पर सत् और असत् की उभयरूपता और अनुभयरूपता के अर्थात् वचनागोचरता[3] के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। अवक्तव्य तो उपनिषत्साहित्य का एक मुख्य सूत्र है, यह निर्विवाद ही है। बुद्ध के विभज्यवाद और अव्याकृतवाद में भी उक्त चार पक्षों का उल्लेख मिलता है। महावीर कालीन तत्त्व-चिन्तक संजय के अज्ञानवाद में भी उक्त चार पक्षों की उपलब्धि होती है। भगवान् महावीर ने अपनी विशाल एवं तत्त्व-स्पर्शिनी दृष्टि से वस्तु के विराट् रूप को देखकर कहा—वस्तु में उक्त चार पक्ष ही नहीं, अपितु एक-एक वस्तु में अनन्त पक्ष हैं, अनन्त विकल्प हैं, अनन्त धर्म हैं। विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अतएव भगवान् महावीर ने उक्त चतुष्कोटि से विलक्षण वस्तुगत प्रत्येक धर्म के लिए सप्त भंगी का और इस प्रकार अनन्त धर्मों के लिए अनन्त सप्त-भंगी का प्रतिपादन करके वस्तु बोध का सर्वग्राही एवं वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया।

भगवान् महावीर से पूर्व उपनिषदों में वस्तु-तत्त्व के सदसद्वाद को लेकर विचारणा प्रारम्भ हो चुकी थी, परन्तु उसका वास्तविक निर्णय नहीं हो सका। संजय ने उसे अज्ञान कहकर टालने का प्रयत्न किया। बुद्ध ने कुछ बातों में विभज्यवाद का कथन करके शेष बातों में अव्याकृत कहकर मौन स्वीकार किया। परन्तु भगवान् महावीर ने वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादन में उपनिषद् के अनिश्चयवाद को, संजय के अज्ञानवाद को और बुद्ध के एकान्त एवं सीमित अव्याकृतवाद को स्वीकार नहीं किया। क्योंकि तत्त्व चिन्तन के क्षेत्र में किसी वस्तु को केवल अव्याकृत अथवा अज्ञात कह देने भर से समाधान नहीं होता। अतएव उन्होंने अपनी तात्त्विक दृष्टि और तर्क-मूलक दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का यथार्थ और स्पष्ट निर्णय किया। उनकी उक्त निर्णय-शक्ति के प्रतिफल हैं—अनेकान्तवाद, नयवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद।

विभज्यवाद

एक बार बुद्ध के शिष्य शुभमाणवक ने बुद्ध से पूछा—'भन्ते! सुना है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता। आपका क्या अभिप्राय है?" बुद्ध ने इसका जो उत्तर दिया वह मज्झिम निकाय (सुत्त, ९, ९,) में उपलब्ध है उन्होंने कहा—"माणवक! मैं यहाँ विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं हूँ।' इस प्रसंग पर बुद्ध ने अपने आपको विभज्यवादी स्वीकार किया है। विभज्यवाद

---

[1] एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति,—ऋग्वेद १, १६४, ४६
सदसत् दोनों के लिए देखिए ऋग्वेद १०, १२९

[2] सदेव सौम्येदमग्र आसीत्—छान्दोग्योपनिषद् ६, २
असदेवेदमग्र आसीत्—वही, ३, १९ १

[3] यतो वाचो निवर्तन्ते—तैत्तिरीय २, ४

का अभिप्राय है—प्रश्न का उत्तर एकाशवाद मे नही, परन्तु विभाग करके अनेकाशवाद मे देना। इस वर्णन पर से विभज्यवाद और एकाशवाद का परस्पर विरोध स्पष्ट हो जाता है। परन्तु बुद्ध सभी प्रश्नो के उत्तर मे विभज्यवादी नही थे। अधिकतर वे अपने प्रसिद्ध अव्याकृतवाद का ही आश्रय ग्रहण करते है।

जैन आगमो मे भी 'विभज्यवाद' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करे ? इसके उत्तर मे[१] सूत्रकृताग मे कहा गया है कि उसे विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए। मूल-सूत्रगत विभज्यवाद' शब्द का अर्थ, टीकाकार शीलाक 'स्याद्वाद' और 'अनेकान्तवाद' करते है। बुद्ध का विभज्यवाद सीमित क्षेत्र मे था, अत. वह व्याप्य था। परन्तु महावीर का विभज्यवाद समग्र तत्व-दर्शन पर लागू होता था, अत व्यापक था। और तो क्या, स्वय अनेकान्त पर भी अनेकान्त का सार्वभौम सिद्धान्त घटाया गया है। आचार्य समन्तभद्र कहते है,[२]—"अनेकान्त भी अनेकान्त है। प्रमाण अनेकान्त है और नय एकान्त।" इतना ही नही, यह अनेकान्त और एकान्त सम्यग् है या मिथ्या है—इस प्रश्न का उत्तर भी विभज्यवाद से दिया गया है। आचार्य अकलक की वाणी है[३]—अनेकान्त और एकान्त दोनो ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते है। एक वस्तु मे युक्ति और आगम से अविरुद्ध परस्पर विरोधी-से प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यग् अनेकान्त है, तथा वस्तु मे तद् वस्तु स्वरूप से भिन्न अनेक धर्मो की मिथ्या कल्पना करना केवल अर्थशून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है। इसी प्रकार हेतु-विशेप के सामर्थ्य से प्रमाण-निरुपित वस्तु के एक देश को ग्रहण करने वाला सम्यग् एकान्त है और वस्तु के किसी एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य अशेप धर्मो का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है, अर्थात् नय सम्यग् एकान्त है और दुर्नय मिथ्या एकान्त है।

जैन-दर्शन का यह अनेकान्तरूप ज्योतिर्मय नक्षत्र मात्र दार्शनिक चर्चा के क्षितिज पर ही चमकता नही रहा है। उसके दिव्य आलोक से मानव जीवन की प्रत्येक छोटी-बडी साधना प्रकाशमान है। छेद सूत्र, मूल, उनकी चूर्णियाँ और उनके भाष्यो मे उत्सर्ग और अपवाद के माध्यम से साध्वाचार का जो सूक्ष्म तत्वस्पर्शी चिन्तन किया गया है, उसके मूल मे सर्वत्र अनेकान्त और स्याद्वाद का ही स्वर मुखर है। कि-बहुना, जैन-दर्शन मे वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन सर्वत्र अनेकान्त और स्याद्वाद के माध्यम से ही हुआ है, जो अपने आप मे सदा सर्वथा परिपूर्ण है। यह वाद व्यक्ति, देश और काल से अबाधित है, अतएव अनेकान्त विश्व का अजर, अमर, शाश्वत और सर्वव्यापी सिद्धान्त है।

---

१ विभज्ज वाय च वियागरेज्जा—सूत्रकृताग १, १४, २२

२ अनेकातोप्यनेकान्त:, प्रमाण-नय साधन.—स्वयम्भू स्तोत्र

३ तत्त्वार्थराजवार्तिक १, ६, ७

जैन-बौद्ध दर्शन : एक तुलना

उदयचन्द जैन, एम० ए० (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

दर्शन का अर्थ

मनुष्य विचारशील प्राणी है। वह प्रत्येक कार्य के समय अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करता है। इसी विचार-शक्ति को विवेक कहते है। मनुष्य और पशुओ मे भेद भी यही है कि पशुओ की प्रवृत्ति अविवेक पूर्वक होती है और मनुष्य की प्रवृत्ति विवेक पूर्वक होती है। यदि कोई मनुष्य अविवेक पूर्वक प्रवृत्ति करता है, तो उसे नाम से ही मनुष्य कहा जा सकता है, वास्तव मे नही। मनुष्य मे जो विचार-शक्ति या विवेक है, उसी का नाम दर्शन है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का एक दर्शन होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने। दर्शन हमारे जीवन का एक अभिन्न अग है, हम उसे अपने जीवन से पृथक् नही कर सकते।

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति

'दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्'—अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाए, वह दर्शन है। यह ससार नित्य है या अनित्य ? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नही ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? इसका पुनर्जन्म होता है या यह इसी शरीर के साथ समाप्त हो जाती है ? ईश्वर की सत्ता है या नही ? इत्यादि प्रश्नो का समुचित उत्तर देना दर्शनशास्त्र का काम है। वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने से दर्शनशास्त्र वस्तु-परतन्त्र है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि और महर्षियो ने अपनी तात्त्विक दृष्टि से जिन जिन तथ्यो का साक्षात्कार किया, उनको दर्शन शब्द के द्वारा कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है, तो फिर विभिन्न दर्शनो मे पारस्परिक

भेद का कारण क्या है। इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को विभिन्न ऋषियो ने अपने अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया और तदनुसार ही उसका प्रतिपादन किया। अत यदि हम 'दर्शन' शब्द का अर्थ भावनात्मक साक्षात्कार के रूप मे ग्रहण करे, तो उपर्युक्त प्रश्न का समाधान हो सकता है। क्योकि विभिन्न ऋषियो ने अपने-अपने दृष्टिकोणो से वस्तु के स्वरूप को जानकर उसी का बार-बार मनन और चिन्तन किया और इसके फलस्वरूप उन्हे अपनी-अपनी भावना के अनुसार वस्तु के स्वरूप का दर्शन हुआ। भावना के द्वारा वस्तु के स्वरूप का स्पष्ट प्रतिभास होता है, यह बात अनुभव से सिद्ध है। काम, शोक, भय, उन्माद आदि के वशीभूत होकर मनुष्य अविद्यमान पदार्थों को सामने विद्यमान सरीखे देखते है। कहा भी है—

> काम-शोक-भयोन्माद-चौर-स्वप्नाद्युपप्लुता ।
> अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ।। —प्रमाण वार्तिक २ । २८२

कारागार मे बन्द कामी पुरुष रात्रि के गहन अन्धकार मे आँखो के बन्द होने पर भी कान्ता की सतत भावना के द्वारा कान्ता के मुख को स्पष्ट देखता है। यथा—

> पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्र-दुर्भेद्ये ।
> मयि च निमीलित नयने तथापि कान्तानन व्यक्तम् ।।

भारतीय दर्शन मे जैन-बौद्ध दर्शन का स्थान

भारतीय दर्शन को हम दो भागो मे विभक्त कर सकते है—वैदिक दर्शन, और अवैदिक दर्शन। वेद की परम्परा मे विश्वास रखने वाले न्याय, वैशेपिक, साख्य, योग, मीमासा और वेदान्त—ये छह् दर्शन वैदिक दर्शन है। तथा वेद को प्रमाण न मानने के कारण चार्वाक, बौद्ध और जैन—ये तीन दर्शन अवैदिक दर्शन है। कुछ लोग जैन और बौद्ध दर्शन को वैदिक दर्शन की शाखा के रूप मे ही स्वीकार करते है, उनकी ऐसी मान्यता ठीक नही है। क्योकि ऐतिहासिक खोजो के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि श्रमण परम्परा के अनुयायी उक्त दोनो धर्मों और दर्शनो का स्वतन्त्र अस्तित्व है। भारतीय दर्शन के विकास मे जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन ने महत्वपूर्ण योग दिया है। यदि भारतीय दर्शन मे से उक्त दोनो दर्शनो को पृथक कर दिया जाए तो भारतीय दर्शन मे एक बहुत बडी कमी दृष्टिगोचर होगी।

जैन-दर्शन का प्रारम्भ और विकास

जैन-दर्शन की मान्यतानुसार जैन-दर्शन की परम्परा अनादि काल से प्रवाहित होती चली आ रही है। इस युग मे आदि तीर्थकर ऋषभनाथ से लेकर चौबीसवे तीर्थकर महावीर पर्यन्त २४ तीर्थकरो ने कालक्रम से जैन-दर्शन और धर्म के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। जो लोग जैन-दर्शन को अनादि नही मानना चाहते है, उन्हे कम से कम जैन दर्शन को उतना प्राचीन तो मानना ही पडेगा, जितना प्राचीन और कोई दूसरा दर्शन है। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्दि, माणिक्यनन्दि,

प्रभाचन्द, हेमचन्द्र, आदि आचार्यों ने जैन-दर्शन के विकास मे महत्वपूर्ण योग दिया है। इन आचार्यों ने इतर दर्शनो के सिद्धान्तो का निराकरण करके अपने सिद्धान्तो का प्रमाण के बल पर व्यापक रूप से समर्थन किया है। भारतीय दर्शन के इतिहास मे जैन-दर्शन का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न दार्शनिको ने अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या भावना से जिस वस्तु-तत्त्व को देखा, उसी को दर्शन के नाम से कहा। लेकिन किसी भी तत्व के विषय मे कोई भी तात्विक दृष्टि ऐकान्तिक नही हो सकती है। सर्वथा भेदवाद या अभेदवाद, सर्वथा नित्यैकान्त या क्षणिकैकान्त एकान्त दृष्टि है, क्योकि प्रत्येक तत्व अनेक धर्मात्मक है। कोई भी दृष्टि उन अनेक धर्मों का एक साथ प्रतिपादन नही कर सकती है। इस सिद्धान्त को जैनदर्शन ने अनेकान्त दर्शन के नाम से कहा है। जैन-दर्शन का मुख्य ध्येय अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतो का समन्वय करना है। अत भारतीय दर्शन के विकास को समझने के लिए जैन दर्शन का विशेष महत्व है।

बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ और विकास

वैदिक दर्शन की परम्परा मे परिस्थिति वश उत्पन्न होने वाली बुराइयो और त्रुटियो को दूर करने के लिए सुधारक के रूप मे महात्मा बुद्ध के द्वारा बौद्ध धर्म का उदय हुआ। और महात्मा बुद्ध के बाद बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ हुआ। बुद्ध ने विशेष रूप से धर्म का ही उपदेश दिया था, न कि दर्शन का। अध्यात्म-शास्त्र की गुत्थियो को शुष्क तर्क की सहायता से सुलझाना बुद्ध का उद्देश्य न था, किन्तु दु खमय ससार से प्राणियो का उद्धार करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। 'बुद्ध' ने देखा कि लोग पारलौकिक जीवन की समस्याओ मे उलझकर ऐहिक जीवन की समस्याओ को भूलते जा रहे है। इसीलिए उन्होने सरल आचार मार्ग का प्रतिपादन करने के लिए अष्टाग मार्ग (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया। तथा आत्मा और शरीर भिन्न है या अभिन्न ? लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? इत्यादि प्रश्नो को अव्याकृत (अकथनीय) बतलाया। बुद्ध ने जिन बातों को अव्याकृत कहकर टाल दिया था, बाद मे उनके अनुयायी दार्शनिको ने उन्ही बातो पर विशेष ऊहापोह करके बौद्ध-दर्शन को प्रतिष्ठित किया। वसुबन्धु, नागार्जुन, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त आदि आचार्यों ने इतर दर्शनो के सिद्धान्तो का निराकरण पूर्वक स्वसिद्धान्तो का व्यापकरूप से समर्थन किया है। बौद्ध दर्शन ससार के दार्शनिक इतिहास मे अपना विशेष स्थान रखता है।

जैन-बौद्ध दर्शन में समानता

जैन और बौद्ध दर्शन मे कुछ बातों की अपेक्षा से समानता है तथा अन्य बातो की अपेक्षा से असमानता भी है। समानता सूचक बातें निम्न हैं—

१ दोनो ही दर्शन श्रमण-सस्कृति के अनुयायी है।

२. दोनो ही दर्शन वैदिक क्रियाकाण्ड के विरोधी हैं। बुद्ध और महावीर—दोनो ही समकालीन थे और दोनो ने ही यज्ञो मे विहित क्रियाकाण्डो का विरोध करके समाज को नैतिक पतन से बचाया था।

३. दोनो ही दर्शन अहिसा के अनुयायी है। यद्यपि अन्य दर्शनो ने भी अहिसा को माना है लेकिन बुद्ध और महावीर ने यज्ञ-विहित हिंसा का निषेध करके अहिसा को विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया है। महावीर ने तो प्राणीमात्र के प्रति हिंसा को त्याज्य बतलाकर तथा काम, क्रोध, लोभ आदि को भी हिंसा बतलाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहिसा का प्रतिपादन किया है।

४ दोनो ही दर्शन कर्म (कार्य) के अनुसार वर्ण-व्यवस्था को मानते है, न कि जन्म के अनुसार। वैदिक दर्शन ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णो की व्यवस्था को जन्म के द्वारा माना है। लेकिन जैन-बौद्ध दर्शन के अनुसार कोई जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण या क्षत्रिय नही कहला सकता है, किन्तु ब्राह्मण या क्षत्रिय के कार्य करके ही वैसा बन सकता है।

५ दोनो ही दर्शन सब मनुष्यो मे समानता के प्रतिपादक है। सब मनुष्य समान है, सबको अपना अपना विकास करने का अधिकार है, कोई उच्च या नीच नही है तथा स्त्री और शूद्र को भी ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है।

६ दोनो ही दर्शन वेद को पौरुषेय मानते हैं। मीमासको ने वेद को अपौरुषेय माना है। दोनो ही दर्शनो ने मीमासको की इस मान्यता का सप्रमाण खण्डन करके वेद को पौरुषेय सिद्ध किया है।

७ दोनो ही दर्शन ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नही मानते है। नैयायिक-वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि इस विश्व की सृष्टि एक ऐसे ईश्वर के द्वारा हुई है, जो नित्य, व्यापक और सर्वज्ञ है। दोनो ही दर्शनो ने प्रबल प्रमाणो के आधार पर सृष्टि कर्तृत्व का खण्डन करके सिद्ध किया है कि यह ससार अनादि परम्परा से इसी प्रकार चला आया है और इसका रचयिता ईश्वर नही है।

८ दोनो ही दर्शन शुभ और अशुभ कर्मो का फल मानते है तथा परलोक मे विश्वास रखते है।

दोनों दर्शनो मे तत्त्व व्यवस्था

जैन दर्शन मे द्रव्य या वस्तु का लक्षण सत् बतलाया गया है और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से सहित वस्तु को सत् कहा गया है—सद्द्रव्य लक्षणम् उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्। प्रत्येक पदार्थ त्रयात्मक है। एक पर्याय का नाश होते ही दूसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है तथा उन दोनो पर्यायो मे एक तत्त्व अविच्छिन्न रूप से बना रहता है। यह बात अनुभव मे भी आती है। हम देखते है कि स्वर्ण के चूडा को तुड़वाकर जब हम उसका कुण्डल बनवा लेते हैं तो चूड़ारूप पर्याय का नाश, कुण्डलरूप पर्याय की उत्पत्ति और उन दोनो मे स्वर्णरूप द्रव्य की अविच्छिन्नता दृष्टिगोचर होती है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से द्रव्य छह है और प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। मूल मे जीव और अजीव—ये दो ही द्रव्य है। जीव और अजीव के सयोग और वियोग जन्य कुछ ऐसी पर्याय उत्पन्न होती है जिन्हें तत्त्व के नाम से कहा गया है। अत जैन दर्शन मे तत्त्व ७ माने गए हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। इन्ही मे पुण्य और पाप को मिलाकर ९ पदार्थ कहे गए हैं।

बौद्ध दर्शन मे स्वलक्षण और सामान्य लक्षण के भेद से दो तत्त्व मानकर भी यथार्थ मे स्वलक्षण को ही परमार्थ सत् माना गया है और सामान्य लक्षण को मिथ्या माना गया है। वस्तु मे दो प्रकार का तत्त्व देखा जाता है। असाधारण और साधारण। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी विशेपता को लिए हुए है, यही असाधारण (स्वलक्षण) तत्त्व है। सब मनुष्यो मे मनुष्यत्व नामक एक साधारण धर्म की कल्पना की जाती है, अत मनुष्यत्व मनुष्यो का साधारण धर्म है। वौद्ध दर्शन के अनुसार वस्तु का लक्षण—अर्थक्रिया कारित्व है। वस्तु वह है, जो अर्थक्रिया करे—'अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुन।' घट की अर्थ-क्रिया जल धारण है, पट की अर्थक्रिया आच्छादन है। इस प्रकार प्रत्येक अर्थ की अपनी-अपनी अर्थ-क्रिया होती है। यह अर्थक्रिया स्वलक्षण मे ही बनती है, सामान्य मे नही। घटत्व मे कभी भी जल-धारण रूप अर्थक्रिया सम्भव नहीं है, अत सामान्य मिथ्या है।

जैन दर्शन मे पदार्थ को सत् माना गया है तथा उस सत् के विपय मे कोई विवाद नही है। किन्तु बौद्ध दर्शन मे सत् की व्याख्या को लेकर बौद्ध दार्शनिको मे मुख्य रूप से चार भेद पाए जाते है—वैभापिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। वैभापिक वाह्यार्थ की सत्ता मानते है तथा उसका प्रत्यक्ष भी मानते है। सौत्रान्तिक वाह्यार्थ की सत्ता मानकर भी उसे प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते है। योगाचार के अनुसार ज्ञानमात्र ही तत्त्व है और माध्यमिको के अनुसार शून्य की ही प्रतिष्ठा है। इन चारो सिद्धान्तो का वर्णन निम्न श्लोक मे सुन्दर रूप से किया गया है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिल शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासा विवर्तोऽखिल.।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिक,
प्रत्यक्ष क्षणभङ्गुर च सकलं वैभाषिको भाषते॥

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अन्य दार्शनिको ने 'शून्य' शब्द का अर्थ 'अभाव' किया है, किन्तु माध्यमिक दर्शन के आचार्यों के मौलिक ग्रन्थो के अनुशीलन से शून्य का अभाव रूप अर्थ सिद्ध नही होता है। किसी पदार्थ के स्वरूप निर्णय के लिए अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय—इन चार कोटियो का प्रयोग सम्भव है। परन्तु परमार्थ तत्त्व का विवेचन इन चार कोटियो से नही किया जा सकता। अत अनिर्वचनीय होने के कारण परमार्थ तत्त्व को शून्य शब्द से कहा गया है। यथा—

न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदु.॥ —माध्यमिक कारिका १।७

आत्म-व्यवस्था

जैन दर्शन आत्मा को चैतन्य मानकर अनादि और अनन्त मानता है। आत्मा का स्वभाव अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य है। ससार अवस्था मे कर्मो के द्वारा आवृत्त होने के कारण इन गुणो का पूर्ण विकास नही हो पाता है। लेकिन कर्मों के नाश होने पर ये गुण अपने स्वाभाविक

रूप मे प्रगट हो जाते है। ससारी आत्मा कर्म के वश होकर मनुष्य गति, तिर्यञ्च गति, नरक गति और देवगति—इन चार गतियो मे भ्रमण करता रहता है और काललब्धि आने पर क्रमश कर्मो का नाश करके वह भगवान् भी बन सकता है।

आत्मा के विषय मे बौद्ध दर्शन की मान्यता जैन दर्शन से बिल्कुल विपरीत है। बौद्ध दर्शन ने चित्र (ज्ञान) को तो माना है, लेकिन एक स्वतन्त्र आत्म-द्रव्य को नही माना है। रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और 'विज्ञान' इन पाँच स्कन्धो के समुदाय का नाम ही 'आत्मा' है। इनके अतिरिक्त आत्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। प्रत्येक आत्मा नामरूपात्मक है। यहाँ रूप से अभिप्राय शरीर के भौतिक भाग से है और नाम से तात्पर्य मानसिक प्रवृत्तियो से है। वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान—ये नाम के ही भेद है। इन पाँच स्कन्धो की सन्तान (परम्परा) बराबर चलती रहती है। अत आत्मा के न होने पर भी जन्म, मरण और परलोक की व्यवस्था बन जाती है। आत्मा को न मानने का कारण यह है कि आत्मा का सद्भाव सब अनर्थो की जड है। आत्मा के सद्भाव मे ही अहकार का उदय होता है। आत्मा के होने पर 'स्व' और 'पर' का विभाग होता है। इससे स्व के लिए 'राग' और पर के लिए 'द्वेष' उत्पन्न होता है। और राग-द्वेष के कारण अन्य समस्त दोप उत्पन्न होते है। अत आत्मा समस्त दोपो की उत्पत्ति का कारण है। यथा—

आत्मनि सति पर-सज्ञा स्व-पर विभागात् परिग्रह-द्वेषौ।
अनयो' सप्रतिबन्धात् सर्वे दोषा. प्रजायन्ते ॥

इस प्रकार सब अनर्थो की जड होने के कारण बौद्ध दर्शन मे आत्मा का निपेध किया गया है।

निर्वाण-व्यवस्था

जैन दर्शन मे ससार, ससार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणो को माना गया है। कर्मो का आस्रव और बन्ध ससार के कारण है, सवर और निर्जरा मोक्ष के कारण है। बौद्ध दर्शन मे इन्ही चार बातो को चार आर्य सत्य के नाम से कहा गया है। दु ख, समुदय निरोध और मार्ग—ये चार आर्य सत्य है। ससार दु खरूप है। दु ख के कारण तृष्णा को समुदय कहते है। दु खो के नाश का नाम निरोध या निर्वाण है और निरोध के उपाय का नाम मार्ग है। इस प्रकार दोनो दर्शनो मे निर्वाण को माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार कर्मो के नाश होने पर आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम निर्वाण या मोक्ष है। मोक्ष मे आत्मा अनन्तकाल तक अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य सम्पन्न रहता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्वाण के स्वरूप मे बडा विवाद है। हीनयान के अनुसार निर्वाण मे क्लेशावरण का ही अभाव होता है, किन्तु महायान के अनुसार निर्वाण मे ज्ञेयावरण का भी अभाव हो जाता है। एक दु खा-भावरूप है, तो दूसरा आनन्द रूप। भदन्त नागसेन की सम्मित मे निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है। निर्वाण का अर्थ है—बुझ जाना। जब तक दीपक जलता रहता है, तभी तक उसकी सत्ता है, और दीपक के बुझ जाने पर उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाती है। पञ्च स्कन्ध की सन्तान रूप आत्मा का भी निर्वाण दीपक की तरह ही है। महाकवि अश्व घोष का कहना है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिश न काञ्चिद् विदिश न काञ्चिद् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिश न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
—सौन्दरनन्द १६।२८,२९

निर्वाण का मार्ग

जैन दर्शन मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है—'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि-मोक्ष मार्गः। ये तीनो एक साथ मिलकर मोक्ष के मार्ग है, न कि पृथक् पृथक्। बौद्ध दर्शन मे अष्टाग मार्ग या मध्यम-मार्ग को निरोध का मार्ग कहा गया है। सम्यग्दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि—ये मार्ग के आठ अग है। इसके आठ अग होने से इसका नाम अष्टाग-मार्ग है। इसे मध्यम मार्ग भी कहते है, क्योकि बुद्ध ने प्रत्येक बात मे दो अन्तो को छोडने का उपदेश दिया था। जैसे अत्यधिक भोजन करना और बिल्कुल भोजन न करना—ये भोजन के विषय मे दो अन्त (छोर) है। इन्हे छोडना चाहिए, क्योकि दोनो से ही अहित की सभावना है। अत प्रत्येक विषय मे दो अन्तो को छोडकर मध्यम मार्ग पर चलना चाहिए।

सर्वज्ञ-व्यवस्था

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञानावरण कर्म का पूर्ण नाश हो जाने पर एक ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, जो समस्त द्रव्यो की त्रिकालवर्ती पर्यायो को एक साथ हस्तामलकवत् जानता है। इसे केवल ज्ञान कहते हैं। अत चार घातिया कर्मो के अभाव मे आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञ की सिद्धि युक्ति के द्वारा भी की जाती है। सूक्ष्म (परमाणु आदि), अन्तरित (राम, रावणादि) और दूरवर्ती (सुमेरु आदि) पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योकि वे अनुमेय है। जो अनुमेय होता है, वह किसी के प्रत्यक्ष भी होता है। जैसे पर्वत मे अग्नि। इस अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है। यथा—

सूक्ष्मान्तरित दूरार्था प्रत्यक्षा. कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति· ॥

बौद्ध दर्शन के अनुसार ऐसा कोई सर्वज्ञ नही है, जो सब पदार्थो को एक साथ जानता हो। बुद्ध को ऐसा सर्वज्ञ न मानकर हेय और उपादेय तत्त्वो का ज्ञाता होने से ही प्रमाण माना गया है। स्व-पर कल्याण के लिए जो आवश्यक बातें हैं, उनका ज्ञान होना चाहिए, सारे कीडे-मकोडो के जानने से क्या लाभ है। कोई दूर की बात जाने, या न जाने लेकिन इष्ट तत्त्व को जानना आवश्यक है। यदि दूरदर्शी को प्रमाण माना जाए, तो फिर गृद्धो की भी उपासना करनी चाहिए। तथाहि

हेयोपादेय-तत्वस्य साभ्युपायस्य वेदक. ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदक. ।।

तस्मादनुष्ठेयगत ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीट संख्या परिज्ञानं तस्य न. क्वोप युज्य ते ।

दूर पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु ।
प्रमाण दूरदर्शी चेदेतान् गृध्रानुपास्महे ।।

—प्रमाण वार्तिक

तीर्थंकर पद की प्राप्ति के कारण

जैन दर्शन मे दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओ को तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण बतलाया गया है। बौद्ध दर्शन मे दान, शील, प्रज्ञा, वीर्य क्षान्ति और समाधि इन छह पारमिताओ को बुद्धत्व प्राप्ति का कारण माना गया है। बुद्ध ने अपने पूर्वजन्मो मे इन पारमिताओ का अभ्यास करके बुद्धत्व को प्राप्त किया था। पारमिता का अर्थ है—पूर्णता। दान की पूर्णता-दान पारमिता है। इस प्रकार छह पारमिताओ की पूर्णता होने पर बुद्धत्व की प्राति होती है।

प्रमाणवाद

जैन दर्शन मे अपने और अपूर्व पदार्थ के निश्चयात्मक ज्ञान को 'प्रमाण' माना गया है—'स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानंप्रमाणम् ।' बौद्ध दर्शन मे अविसवादी तथा अज्ञात अर्थ को जानने वाले ज्ञान का नाम प्रमाण है—'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमज्ञातार्थ प्रकाशो वा ।' जैन दर्शन मे प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो भेद करके पुन साव्यवहारिक प्रत्यक्ष तथा मुख्य प्रत्यक्ष के भेद से प्रत्यक्ष के दो भेद तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से परोक्ष के ५ भेद किए गए है। विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञान को परोक्ष माना गया है। जैन दर्शन मे वास्तविक प्रत्यक्ष उसे ही माना गया है, जो इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है। अत अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवल ज्ञान को ही मुख्य प्रत्यक्ष माना है। पाँच इन्द्रियो से जन्य और मनोजन्य ज्ञान को लोक व्यवहार की अपेक्षा से ही प्रत्यक्ष कहा गया है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेप रूप है और ऐसा ही पदार्थ प्रमाण का विषय होता है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार कल्पना से रहित और अभ्रान्त ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष है—'कल्पनापोढम-भ्रान्त प्रत्यक्षम् ।' वस्तु मे नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि की योजना करना 'कल्पना' है। प्रत्यक्ष इस कल्पना से रहित अर्थात् निर्विकल्पक होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष-स्वसवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष के भेद से प्रत्यक्ष के चार भेद है। प्रत्यक्ष का विपय स्वलक्षण है और अनुमान का विपय सामान्य लक्षण है। बौद्ध—प्रत्यक्ष और अनुमान—ये दो ही प्रमाण मानते है।

अन्यापोहवाद

जैन दर्शन आप्त के वचन आदि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आगम-प्रमाण मानता है और अर्थ को शब्द का वाच्य स्वीकार करता है। किन्तु बौद्ध-शब्द और अर्थ मे—सर्प और नकुल जैसा वैर मानते है। उनका कहना है कि शब्द और अर्थ मे किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने के कारण शब्द अर्थ का प्रतिपादन न करके अन्यापोह अर्थात् अन्य के निषेध को कहता है। 'गो' शब्द गाय को न कहकर अगोव्या-वृत्ति अर्थात् गाय से भिन्न अन्य सब पदार्थो के निषेध को कहता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के अनुसार शब्द का वाच्य अर्थ न होकर अन्यापोह होता है।

नित्यानित्यवाद

जैन दर्शन पदार्थ को न तो सर्वथा नित्य मानता है और न सर्वथा अनित्य, किन्तु कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य मानता है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य है। इस मान्यता के विपरीत बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि पदार्थ सर्वथा क्षणिक है। प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण मे स्वत विनिष्ट होता रहता है। पदार्थ स्वभाव से ही विनाशशील है। 'सर्व क्षणिकं सत्वात्' इस अनुमान से सब पदार्थो मे क्षणिकत्व की सिद्धि की जाती है। बौद्धो की मान्यता है कि नित्य पदार्थ मे न तो युगपत् अर्थक्रिया बन सकती है और न क्रम से। अत क्षणिक पदार्थ मे ही अर्थ-क्रियाकारित्व रूप सत् की व्यवस्था होती है। सत् होने से ही सब पदार्थ क्षणिक है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन मे सर्वथा क्षणिकवाद को माना गया है।

ध्यान-योग

जैन दर्शन मे आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के भेद से चार ध्यान बतलाए गए है और इनमे से प्रत्येक के चार-चार भेद किए गए है। बौद्ध दर्शन मे भी चार प्रकार के ध्यानो का वर्णन उपलब्ध होता है। दीर्घनिकाय के अनेक सूत्रो मे चारो ध्यानो के स्वरूप का विवेचन किया गया है। यथा—

प्रथम ध्यान मे वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता इन पाँच चित्तवृत्तियो की प्रधानता रहती है।

द्वितीय ध्यान इसमे वितर्क और विचार का अभाव हो जाता है।

तृतीय ध्यान इसमे प्रीति भी नही रहती है, और

चतुर्थ ध्यान इसमे सुख का भी अभाव हो जाने पर केवल एकाग्रता शेप रह जाती है। इस प्रकार साधक स्थूलता तथा बहिरगता से आरम्भ कर सूक्ष्मता तथा अन्तरङ्गता मे प्रवेश करता है। ध्यान के विषय मे चित्त का प्रथम प्रवेश वितर्क कहलाता है तथा उस विपय मे चित्त का अनुमज्जन करना विचार है। इससे चित्त मे जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह प्रीति है। इसके अनन्तर शरीर मे जो शान्ति या स्थिरता का भाव उत्पन्न होता है, वह सुख है। प्रीति मानसिक आनन्द है, और सुख शारीरिक स्थिरता। विपय मे चित्त का पूर्ण रूप से समाहित हो जाना एकाग्रता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद

बौद्ध दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त है—प्रतीत्यसमुत्पाद। इसका अर्थ है—सापेक्ष कारणतावाद। अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति। अस्मिन् सति इद भवति। अस्योत्पादादयमुत्पद्यते इति इद प्रत्ययार्थं प्रतीत्य समुत्पादार्थं। ततश्च हेतु प्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पाद प्रतीत्य समुत्पादार्थं। घट की उत्पत्ति मिट्टी, कुभकार, दण्ड, चक्र आदि से होती है। मिट्टी घट का हेतु है और कुभकार, दण्ड, चक्र आदि प्रत्यय हैं। अत हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से होने वाली पदार्थ की उत्पत्ति को प्रतीत्य समुत्पाद कहते है। अविद्या, सस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण—ये प्रतीत्यसमुत्पाद के १२ अग है। इन अगो की सज्ञा निदान भी है। इसे भवचक्र भी कहते है।

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्त सिद्धान्त जैनदर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त है, जिसे अन्य किसी दर्शन ने नही माना है, लेकिन जिसका मानना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। दूसरे दर्शनो ने अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक धर्म को लेकर उसका प्रतिपादन किया है और जैनदर्शन ने स्याद्वाद के द्वारा उन अनेक दृष्टियो का समन्वय किया है। यदि अन्य दर्शन भी स्याद्वाद सिद्धान्त को अपनाले, तो फिर उनमे कोई विरोध शेष नही रहेगा और आपेक्षिक दृष्टि से उन सबका कथन सत्य सिद्ध हो जाएगा। जैनदर्शन ने वस्तु मे अनेक धर्मो को मानकर स्याद्वाद के द्वारा उनका प्रतिपादन किया है। वस्तु के उन अनेक धर्मों को आपेक्षिक दृष्टि से कथन करने की शैली का नाम स्याद्वाद है। यह स्याद्वाद न तो सशयवाद है और न अनिश्चयवाद किन्तु अपेक्षावाद है। यहाँ 'स्यात्' शब्द एक निश्चित अपेक्षा को बतलाता है। जब हम कहते हैं कि वस्तु स्यात् सत् है और स्यात् असत् तो यहाँ प्रथम स्यात् का अर्थ है—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से, तथा दूसरे स्यात् का अर्थ है, परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से। कोई भी वस्तु स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से सत् है और वही वस्तु परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से असत् है। यही स्याद्वाद है। स्याद्वाद के द्वारा विवक्षित किसी एक धर्म का प्रतिपादन मुख्य रूप से होता है तथा अन्य समस्त धर्मो का प्रतिपादन गौण रूप से। इस प्रकार स्याद्वाद के द्वारा हम विचार के क्षेत्र मे होने वाले समस्त विरोधो और सघर्षो को दूर कर सकते है तथा समस्त दर्शनों मे सामञ्जस्य स्थापित कर सकते हैं। अनेकान्त और स्याद्वाद-जैनदर्शन की महत्त्वपूर्ण देन है। अनेकान्त और स्याद्वाद-जैनदर्शन का प्राण है।

इस प्रकार यहाँ जैन-बौद्ध दर्शन के कुछ प्रमुख विपयो पर सक्षेप मे प्रकाश डाला गया है। जिज्ञासुओ को दोनो दर्शनो के सिद्धान्तो को विस्तार से जानने के लिए उनके मौलिक ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही दर्शन का अध्ययन नही करना चाहिए, किन्तु यथामभव और यथाशक्ति इतर दर्शन के ग्रन्थो का भी अध्ययन करना चाहिए। ऐसा करने से ही हम वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर सकते है। हमे युक्तिवादी होना चाहिए।

बुद्ध और महावीर पूर्णत युक्तिवादी थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार जौहरी आग मे तपा-कर, काट कर और कसौटी पर कसने के बाद स्वर्ण को ग्रहण करता है, उसी प्रकार हे भिक्षुओ! अच्छी तरह से परीक्षा करने के बाद ही हमारे वचनो को ग्रहण करना, न कि इसलिए कि ये बुद्ध या महावीर के वचन है—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डित ।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ॥
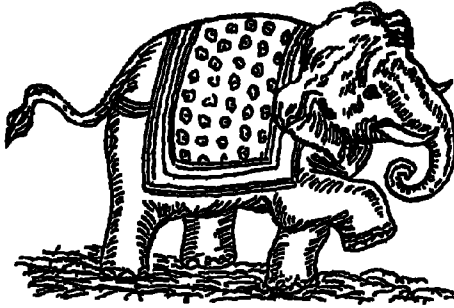
ब्रह्म और सम

पूज्यपाद पण्डित सुखलाल जी सघवी

भारतीय तत्त्व विचार के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है, कि उस तत्त्व विचार के अलग-अलग दो उद्गम स्थान है—एक तो है स्वात्मा, और दूसरा प्रकृति। पहला आतर है और दूसरा बाह्य।

समता का प्रेरक तत्त्व सम

किसी अज्ञात काल मे मनुष्य अपने विषय मे विचार करने के लिए प्रेरित हुआ कि मै खुद क्या हूँ? कैसा हूँ? और अन्य जीवो के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? ऐसे कई प्रश्न उद्भूत हुए। इनका उत्तर पाने के लिए वह अन्तर्मुख हुआ और अपने सशोधन के परिणाम-स्वरूप उसे ज्ञात हुआ कि मैं एक सचेतन तत्त्व हूँ और अन्य प्राणी वर्ग मे भी ऐसी ही चेतना है। इस विचार ने उसे अपने और दूसरे प्राणीवर्ग के बीच समता का दर्शन कराया। उस दर्शन मे से समभाव के विविध अर्थ और उसकी भूमिकाएँ तत्त्व-विचार मे सामने आई। बुद्धि के इस प्रवाह को 'सम' के नाम से पहचाना जाता है।

ब्रह्म और उसके विविध अर्थ

बुद्धि का दूसरा प्रभवस्थान है, बाह्य प्रकृति। जो लोग विश्वप्रकृति के विविध पहलुओ, घटनाओ और उसके प्रेरक बल की ओर आकर्षित हुए थे, उनको उससे कवित्व की, बल्कि कहना चाहिए कि कवित्वमय चिन्तन की भूमिका मिली। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद के जिस कवि ने उषा के उल्लास-प्रेरक और रोमाचकारी दर्शन का सवेदन किया, उसने उषा का गान एक रक्तवस्त्रा तरुणी रूप मे उषा सूक्त मे

किया। समुद्र की उछलती हुई तरगो और तूफानो के बीच नौका विहार करते हुए ऋग्वेद के जिस कवि को समुद्र के अधिष्ठायक वरुण का रक्षणहार के तौर पर स्मरण हो आया, उसने वरुणसूक्त मे उस वरुण देव का अपने सर्वशक्तिमान रक्षणहार के तौर स्तवन किया। जिसको अग्नि की ज्वालाओ और प्रकाश-उत्पादक शक्तियो का रोमाचक सवेदन हुआ, उसने रात्रि-सूक्त की रचना की। इसी प्रकार वाक्, स्कभ, काल आदि सूक्तो के बारे मे भी कहा जा सकता है। प्रकृति के ये अलग-अलग पहलू हो या उनमे कोई दिव्य सत्त्व हो या फिर इन सबकी पृष्ठ-भूमि मे कोई एक परम गूढ तत्त्व हो, परन्तु इन भिन्न-भिन्न कवियो की प्रार्थनाएँ, दृश्यमान प्रकृति के किसी न किसी प्रतीक का आश्रय लेकर उद्भूत हुई है। इस प्रकार की भिन्न-भिन्न प्रतीको को स्पर्श करती हुई प्रार्थनाएँ 'ब्रह्म' रूप से पहचानी जाती थी।

ब्रह्म के इस प्राथमिक अर्थ से क्रमश अनेक अर्थ फलित हुए। जिन यज्ञो मे इन सूक्तो का विनियोग होता है, वे भी ब्रह्म कहलाए। उनके निरूपक ग्रन्थ और विधिविधान करने वाले पुरोहित भी ब्रह्म, ब्रह्मा या ब्राह्मण के तौर पर व्यवहार मे आए। और प्राचीन काल मे ही प्रकृति के वे विविध पहलू या दिव्य सत्त्व, इन सभी की एक ही तत्त्व के रूप मे पहचान कराई गयी। और ऋग्वेद के प्रथम मडल मे ही स्पष्ट दिखलाया गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि इत्यादि अलग-अलग नामो से जिनका स्तवन या गान होता है—वे सभी आखिर मे तो एक ही तत्त्व है और वह तत्त्व है सत्। इस प्रकार प्रकृति के अनेक प्रतीको का विश्राम अपने अतिम सत्‌रूप मे ही हुआ। यह विचार अनेक रूप से आगे चलकर विकसित और विस्तृत होता गया।

श्रमण और ब्राह्मण विचारधारा की एक भूमिका

समभाव के उपासक समन या समण कहलाए। सस्कृत मे उसका शमन और श्रमण रूपान्तर हुआ है। परन्तु 'सम' शब्द सस्कृत होने के कारण सस्कृत मे उसका रूप 'समन' होता है। ब्रह्म के उपासक और चिन्तक ब्राह्मण कहलाए। प्रथम वर्ग मुख्यरूप से आत्मलक्षी रहा, दूसरे वर्ग ने विश्व-प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त की थी और वह उसी के प्रतीको द्वारा सूक्ष्मतम तत्त्व तक पहुँचा था, अतएव मुख्यरूप से वह प्रकृतिलक्षी बना रहा। इस प्रकार दोनो वर्गो की बुद्धि का आद्यप्रेरक स्थान अलग-अलग था, परन्तु दोनो वर्गो का बुद्धि-प्रवाह तो किसी अन्तिम सत्य की ओर ही बहता चला जा रहा था।

बीच के अनेक कालखण्डो मे इन दोनो प्रवाहो की दिशा पृथक् होती या पृथक् होती-सी जान पड़ती थी। कभी-कभी उनमे संघर्ष भी होता। परन्तु सम का आत्मलक्षी प्रवाह अन्त मे समग्र विश्व मे चेतन तत्त्व है, और ऐसा तत्त्व सभी देहधारियो मे स्वभाव से ही समान है—इस स्थापना मे जाकर अटका। और इसीलिए उसने पृथ्वी, जल और वनस्पति तक मे चेतन तत्त्व को देखा और अनुभव किया। दूसरी तरफ प्रकृतिलक्षी दूसरा विचार प्रवाह विश्व के अनेक बाह्य पहलुओ को स्पर्श करता हुआ अन्तर की ओर मुडा और उपनिषद्‌काल मे उसने यह स्पष्ट रूप से स्थापित कर दिया कि अखिल विश्व की जड़ मे जो एक सत् या ब्रह्म तत्त्व है, वही देहधारी जीवित सभी व्यक्ति मे भी है। इस तरह पहले प्रवाह मे व्यक्तिगत चिन्तन समग्र विश्व के समभाव मे परिणत हुआ और उसी के आधार पर जीवन का

आचार मार्ग भी ग्रथित हुआ। दूसरी ओर विश्व के मूल मे दृष्ट परम तत्त्व ही व्यक्तिगत जीव है, जीव व्यक्ति परम तत्त्व से भिन्न है ही नही, इस प्रकार का अद्वैत भी स्थापित हुआ। और उसी अद्वैत के आधार पर ही अनेक आचारो की योजना भी हुई। गगा और ब्रह्मपुत्र के उद्गम स्थान तो अलग-अलग है, परन्तु अन्त मे वे दोनो प्रवाह एक ही महासमुद्र मे जा मिलते है। ठीक उसी प्रकार आत्मलक्षी और प्रकृतिलक्षी दोनो—विचारधाराएँ अत मे एक ही भूमिका पर आ मिली। भेद अगर कही भी दिखाई देता है, तो वह मात्र शाब्दिक है और ज्यादातर तो बीच मे समय के होने वाले सघर्ष से उत्पन्न सस्कारो के कारण ही है।

शाश्वत विरोध परन्तु एकता की प्रेरक परमार्थ दृष्टि

यह सत्य ह कि समाज मे, शास्त्रो मे, और शिलालेख आदि मे भी 'ब्रह्म' और 'सम' के आसपास प्रवर्तित विचार और आचार के भेदो या विरोधो का लेखा-जोखा है, बौद्ध पिटको, जैन आगमो और अशोक के शिलालेखो, तथा दूसरे अनेक ग्रथो मे ब्राह्मण और श्रमण—इन दोनो वर्गो के उल्लेख हम देखते है। महाभाष्यकार पतजली ने इन दोनो वर्गो का शाश्वत विरोध के रूप मे भी निर्देश किया है। फिर भी, जैसा कि ऊपर कहा गया है, वे दोनो प्रवाह अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार एक ही परम तत्त्व का स्पर्श करते है—यदि ऐसा प्रतिपादन किया जाए, तो किस दृष्टि से ? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दिए बिना तत्त्व जिज्ञासा को सतुष्ट नही किया जा सकता।

वह दृष्टि है परमार्थ की। परमार्थ दृष्टि कुल, जाति, वश, भाषा, क्रियाकाण्ड और वेश आदि के भेदों का अतिक्रमण करके वस्तु के मूलभूत स्वरूप को देखती है। अत वह स्वाभाविक रूप से अभेद या समता की ओर झुकती है। व्यवहारजन्य भेद और विरोध सप्रदायो तथा उनके अनुगामियो मे प्रवर्तित हुए थे और उसके फलस्वरूप यदा-कदा उनमे सघर्ष भी उत्पन्न हुआ था। उस सघर्ष के सूचक ब्राह्मण-श्रमण वर्गो का लेखा-जोखा तो सुरक्षित रहा, परन्तु साथ ही साथ परमार्थ दृष्टि को प्राप्त ऐसे प्राज पुरुषो ने जिस ऐक्य को देखा या अनुभव किया उसका लेखा-जोखा भी अनेक परम्परा के शास्त्रो मे सुरक्षित है। जैन आगम जिनमे कि ब्राह्मण और श्रमण वर्गो के भेद का निर्देश है, उन्ही मे सच्चे ब्राह्मण और श्रमण वर्गो का समीकरण दिखाई देता है। बौद्ध पिटको मे भी वैसा ही समीकरण है। महाभारत मे व्यास ने स्थान-स्थान पर सच्चे ब्राह्मण की व्याख्या सच्चे श्रमण के रूप मे ही की है। वनपर्व मे अजगर के रूप मे अवतीर्ण नहुष ने सच्चा ब्राह्मण कौन ? इस प्रकार का प्रश्न युधिष्ठिर से पूछा था। उत्तर मे युधिष्ठिर के मुख से महर्षि व्यास ने कहा है कि हर जन्म लेने वाला सकर प्रजा है। मनु के शब्दो को उद्धृत करके व्यास ने समर्थन किया है कि प्रजामात्र सकरजन्मा है। और सद्वृत्ति वाला शूद्र भी जन्म के ब्राह्मण से भी उत्तम है। व्यक्ति मे सच्चरित्र और प्रज्ञा के होने पर भी वह सच्चा ब्राह्मण बनता है। यह हुई परमार्थ दृष्टि। गीता मे ब्रह्मपद का अनेक जगह उल्लेख मिलता है। साथ ही सम पद भी उच्च अर्थ मे मिलता है। "पडिता समदर्शिन" यह वाक्य तो सुप्रसिद्ध है। सुत्तनिपात नामक बौद्ध ग्रथ मे एक परमट्ठ-सुत्त है, जिसमे जोर देकर कहा गया है कि दूसरे निम्न या झूठे और मैं श्रेष्ठ—यह परमार्थ दृष्टि नही है।

गगा और ब्रह्मपुत्र के उद्गम स्थान अलग-अलग हैं। तिस पर भी दोनो महानदियो के प्रवाह अलग, किनारे की वसतियाँ अलग, उनकी भाषा और आचार भी अलग-अलग हैं। इस जुदाई मे रत रहने वाले मिलन स्थान की एकता को देख ही नही पाते। फिर भी वह एकता तो सच्ची है ही। उसी तरह भिन्न-भिन्न प्रभवस्थान से उदभूत विचार प्रवाह भिन्न भिन्न प्रकार से पुष्ट होने से उनके स्थूल आवरण मे रत ऐसे अनुगामी, दोनो प्रवाहो का समीकरण नही देख पाते, परन्तु वह तथ्य तो अवाधित है। उसको देखने वाले प्रतिभासम्पन्न पुरुष समय-समय पर जन्म लेते ही रहे हैं, और सो भी उन्ही सब परंपराओ मे। श्रमण परम्परा का मुद्रालेख समत्व है। फिर भी जैन और बौद्ध जैसी श्रमण परम्पराओ मे ब्रह्मचर्य और ब्रह्म-विहार शब्द इतने प्रचलित हुए हैं कि उनको उन परम्पराओ से अलग किया ही नही जा सकता। उसी प्रकार जिनका मुद्रालेख ब्रह्मतत्त्व है, उस वर्ग मे भी सम पद ऐसा एकरस हो गया है कि ब्रह्मभाव से ने या ब्राह्मी स्थिति मे उसे अलग करना सम्भव ही नही है।

प्राचीन काल से चली आ रही इस परमार्थदृष्टि का उत्तरकाल मे भी सावधानी से पोषण हुआ है। इसलिए जन्म से ब्राह्मण परन्तु सप्रदाय से बौद्ध ऐसे वसुवन्धु ने अभिधर्मकोष में स्पष्ट कहा है कि—"श्रामण्यममलो मार्ग. ब्राह्मण्यमेव तत्।" उसके ज्येष्ठ वन्धु असग ने भी इसी से मिलती-जुलती सूचना कही दी है।

साम्प्रदायिक कहे जा सकें, ऐसे नरसिंह महेता मे परमार्थदृष्टि की यह परम्परा व्यक्त हुई है। अखिल विश्व मे एक ही तत्त्व के रूप मे उन्होने हरि का कीर्तन किया है और फिर उस हरि के भक्त वैष्णवजन के एक लक्षण रूप समदृष्टि और तृष्णात्याग को कहा है। उसी तरह साम्प्रदायिक माने जाने वाले उपाध्याय यशोविजयजी ने भी कहा है कि—समत्व को प्राप्त करना ही ब्रह्मपद की प्राप्ति है।

अन्त मे इस परमार्थ और व्यवहार दृष्टि का भेद और परमार्थ दृष्टि की यथार्थता डा० ए० वी० ध्रुव ने भी दिखाई है। एक ब्राह्मणी के हाथ के भोजन को अस्वीकार करते हुए उन्होने कहा कि यह तो मेरा एक कुटुम्बगत नागर सस्कार है, उसके औचित्य को मैं तर्क-सिद्ध नही मानता, केवल सस्कार का ही अनुसरण करता हूँ। सच्ची दृष्टि का उन्होने दूसरी जगह निर्देश किया है। जैन आगम सूत्रकृताग की प्रस्तावना लिखते हुए उन्होने कहा है कि जैन (श्रमण) वने विना ब्राह्मण नही बना जा सकता, और ब्राह्मण वने विना जैन नही वना जा सकता। तात्पर्य यह कि जैन धर्म का तत्त्व इद्रियो को और मनोवृत्तियो को जीतने में है और ब्राह्मण धर्म का तत्त्व विश्व की विशालता को आत्मगत करने में है।

इस सक्षिप्त निरूपण से हम इतना प्राप्त कर सकते है कि बुद्धि आखिरकार एक ही सत्य पर जा अटकती है और साथ ही यह भी समझ सकते हैं कि व्यवहार के चाहे जितने भेद और विरोध अस्तित्व में हो, फिर भी परमार्थ दृष्टि कभी लुप्त नही होती।

—अनुवादक : रमेश मालवणिया

यज्ञ और अहिंसक परम्पराएँ

आचार्य श्री तुलसीजी

'यज्ञ' भारतीय साहित्य का बडा विश्रुत शब्द है। इसका सामान्य अर्थ था देवपूजा। वैदिक विचार-धारा के योग से यह विशेष अर्थ मे रूढ हो गया—वैदिक कर्म-काण्ड का वाचक बन गया। एक समय भारतीय जीवन मे यज्ञ सस्था की धूम थी, आज वह निष्प्राण-सी है। वेद-काल मे उसे बहुत महत्व मिला और उपनिषद्-काल मे उसका महत्व कम होने लगा।

ऋग्वेदकालीन मान्यता थी—"जो यज्ञ रूपी नौका पर सवार न हो सके, वे अधर्मी है, ऋणी है और नीच अवस्था मे दबे हुए है।"[1]

इसके विपरीत मुण्डकोपनिषद् मे कहा गया है—"यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन है। जो मूढ इनको श्रेय मानते है, वे बार-बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते है।"[2]

यज्ञ का विरोध

श्रमण सस्थाएँ अहिंसा-निष्ठ थी, इसलिए वे प्रारम्भ से यज्ञ का विरोध कर रही थी। उसका प्रज्वलित रूप हमे जैन, बौद्ध साहित्य और महाभारत मे मिलता है। महाभारत यद्यपि श्रमणो का विचार-

---

[1] ऋग्वेद सहिता १०।४४।६

न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपय.।

[2] मुण्डकोपनिषद् १।२।७

प्लावा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा, अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा, जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति॥

ग्रथ नही हैं, पर उसका एक बहुत बडा भाग उनकी विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है। सांख्य और शैव भी यज्ञ-सस्था के उतने ही विरोधी रहे हैं, जितने जैन और बौद्ध। प्रजापति दक्ष के यज्ञ मे शिव का आह्वान नही किया गया। महर्षि दधीचि ने अपने योग-बल से जान लिया कि ये सब देवता एक मत हो गए हैं, इसलिए उन्होंने शिव को निमन्त्रित नही किया है।[1] उन्होंने प्रजापति दक्ष से कहा—"मैं जानता हूँ, आप सब लोगो ने मिल-जुलकर, शिव को निमन्त्रित न करने का निश्चय किया है, परन्तु मैं शकर से बढकर किसी को देव नही मानता। प्रजापति दक्ष का यह विशाल यज्ञ नष्ट हो जाएगा।"[2]

आखिर वही हुआ। पार्वती के अनुरोध पर शिव ने वीरभद्र की सृष्टि की। उसने प्रजापति दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर डाला।[3]

यह कथा बताती है कि शिव उस सस्कृति के थे, जिसे यज्ञ मान्य नही था। इसीलिए देवताओ ने उन्हे निमन्त्रित नही किया था।

साख्य-कारिका मे स्पष्ट है कि साख्य लोग यज्ञ मे विश्वास नही करते थे। वे इसे हेय मानते थे।

महर्षि कपिल और स्यूमरश्मि के सवाद मे भी यही प्राप्त होता है। स्यूमरश्मि हिंसा का समर्थन करता है और महर्षि कपिल अहिंसा की प्राचीन परम्परा को पुष्ट करते हैं। उन्होंने त्वष्टा के लिए नियुक्त गाय को देखकर नि श्वास लेते हुए कहा—हा वेद! तुम्हारे नाम पर लोग ऐसा-ऐसा अनाचार करते हैं।

स्यूमरश्मि ने कहा—आप वेदो की प्रामाणिकता मे सदेह करते हैं। महर्षि कपिल बोले—मैं वेदो की निन्दा नही करता हूँ। किन्तु वैदिक मत मे भिन्न दूसरा मत है—कर्मो का आरम्भ न किया जाए—उसका प्रतिपादन कर रहा हूँ। यज्ञ आदि कार्यो मे आलम्बन (पशु-वध) न करने पर दोष नही होता और आलम्बन करने पर महान दोष होता है। मैं अहिंसा से परे कुछ भी नही देखता।[4]

राक्षस, नाग आदि यज्ञ विरोधी थे। पुराणो के अनुसार असुर आर्हत धर्म के अनुयायी हो गए थे।[5] रावण ने भी राजा मरुत्त को हिंसात्मक यज्ञ से विमुख किया था।[6]

---

[1] महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २८४। १६

[2] वही अध्याय २८४। २१

[3] वही अध्याय २८४। २९-५०।

[4] वही अध्याय २६८, श्लोक ७-१७।

[5] विष्णु पुराण ३। १७, १८।

[6] त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ७, सर्ग २, पत्र ७।

यज्ञ के प्रकार

यज्ञ के मुख्य तीन प्रकार मिलते है—

(१) औषधि-यज्ञ—जिसमे फल-फूल आदि का व्यवहार होता।
(२) प्राणी-यज्ञ—जिसमे पशु और मनुष्य की बलि दी जाती।
(३) आत्म-यज्ञ—जो आध्यात्मिक व्रत से सम्पन्न होता।

१. औषधि-यज्ञ

'अजैर्यष्टव्यम्'—इस वैदिक श्रुति का अर्थ-परिवर्तन किया गया, तब पशु-बलि प्रचलित हुई। इससे पूर्व औषधि-यज्ञ किए जाते थे। महाभारत का एक प्रसग है—एक बार ब्रह्म-ऋषि यज्ञ के लिए एकत्रित हुए। उस समय देवताओ ने कहा—'अज' से यज्ञ करना चाहिए और इस प्रकरण मे अज का अर्थ 'बकरा' ही है।। ब्रह्मर्षियो ने कहा—यज्ञ मे बीजो द्वारा यजन करना चाहिए, यह वैदिक श्रुत है। बीज का नाम ही अज है, बकरे का वध करना उचित नही। यह सत्युग चल रहा है, इसमे पशु का वध कैसे किया जा सकता है?[1] देवता और ऋषि सवाद कर रहे थे, इतने मे राजा वसु उस मार्ग से निकला। वह सत्यवादी था। सत्य के प्रभाव से उपरिचर था—आकाश मे चलता था। उसे देख ब्रह्मर्षियो ने देवताओ से कहा—वसु हमारा सन्देह दूर कर देगा। वे सब उसके पास गए। प्रश्न उपस्थित किया। राजा ने दोनो का मत जान अपना निर्णय देवताओ के पक्ष मे दिया। वह जान-बूझकर असत्य बोला, अत ब्रह्मर्षियो ने उसे शाप दिया और वह आकाश से नीचे गिर पाताल मे चला गया।[2]

जैन साहित्य में भी अजैर्यष्टव्यम्—इस विवाद का उल्लेख मिलता है। एक बार साधु-परिषद् मे अज' शब्द को लेकर विवाद उठ खडा हुआ। उस समय ऋषिनारद ने कहा—जिसमें अकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई, वैसा तीन वर्ष पुराना जौ 'अज' कहलाता है। पर्वत ने इसका प्रतिवाद किया। वह बोला—अज का अर्थ बकरा है।[3]

---

[1] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७। ३-५

[2] वही अध्याय ३३७। ६-१७

[3] उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३२९-३३२

गच्छत्येव तयो काले कदाचित्साधुससदि।
अजैर्होतव्यमित्यस्य वाक्यस्यार्थप्ररूपणे॥
विवादोऽभून्महांस्तत्र विगताङ्कुरशक्तिकम्।
यवबीज त्रिवर्षस्थमज मित्यभिधीयते॥
तद्विकारेण सप्तार्चिर्मुखे देवार्चन विद।
वदन्ति यज्ञमित्यास्यदनुपद्धति नारदः॥
पर्वतोप्यजशब्देन पशुभेद. प्रकीर्तित.।
यज्ञोऽग्नौ तद्विकारेण होत्रमित्यवदद्द्विषी.॥

उस परिषद् में पर्वत का अर्थ मान्य नही हुआ। वह क्रुद्ध होकर वहाँ से चला गया। उसने महाकाल असुर से मिलकर जाल रचा। स्थान-स्थान पर यह प्रचार शुरु किया—"पशुओ की सृष्टि यज्ञ के लिए की गई है। उनका वध करने से पाप नही होता, किन्तु स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं।" राजा सगर को विश्वास दिलाकर पर्वत ने साठ हजार पशु यज्ञ के लिए प्राप्त किए। मन्त्रोच्चारण पूर्वक उन्हे यज्ञ-कुण्ड मे डालना शुरु किया। महाकाल असुर ने दिखाया कि वे सब पशु विमान मे बैठकर सदेह स्वर्ग जा रहे हैं। उस माया मे लोग मूढ हो गए। यज्ञ मे मरने को स्वर्ग प्राप्ति का उपाय मानने लगे।[1] राजा वसु की सभा मे भी नारद और पर्वत का विवाद हुआ। राजा वसु ने पर्वत की माँ (अपने गुरु की पत्नी) के आग्रह से पर्वत का पक्ष ले 'अज' का अर्थ बकरा किया। उसने कहा—पर्वत जो कहता है, वह स्वर्ग का साधन है। भय-मुक्त होकर सब लोग उसका आचरण करें। इस असत्यवाणी के साथ-साथ वसु का सिंहासन भूमि मे धस गया।[2]

इन दोनो आख्यानो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रारम्भ मे वैदिक लोग भी यज्ञ मे पशु-बलि नही देते थे। महाभारत के अनुसार वह देवताओ और उत्तर पुराण के अनुसार महाकाल असुर और पर्वत ब्राह्मण के आग्रह से शुरु हुई।

राजा वसु पहले पशु-यज्ञ का विरोधी और अहिंसा प्रिय था। उसने एक बार यज्ञ किया। उसमे किसी पशु का वध नही हुआ। उसने जगल मे उत्पन्न फल-फूल आदि पदार्थ ही देवताओ के लिए निश्चित किए। उस समय देवाधिदेव भगवान नारायण ने प्रसन्न होकर राजा को प्रत्यक्ष दर्शन दिया, किन्तु दूसरे किसी को उनका दर्शन नही हुआ।[3]

इस प्रकरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वसु अहिंसा-धर्मी और निरागी कामनाओ से मुक्त था। उसने सभव है, परम्परा के निर्वाह के लिए यज्ञ किया। पर उसका यज्ञ-पूर्णत औषधि-यज्ञ था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण भी पशु-बलि के नितान्त विरोधी थे। उन्होने वसु को दर्शन इसीलिए दिया कि उसने अपने यज्ञ मे पशु-बलि का सर्वथा तिरस्कार किया था।

---

[1] उत्तर पुराण, पर्व ६७ श्लोक ३४३-३६२

[2] वही, पर्व ६७, श्लोक ४१३-४३६

सम्भूता . सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैव स्थितोऽभवत्॥
अहिंस्र. शुचिरक्षुद्रो निराशी कर्मसंस्तुतः।
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिता॥
प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेव पुरातन।
साक्षात् तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित्॥

[3] महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३३६, श्लोक १०-१२

प्राणी-यज्ञ

जैन-पुराणो के अनुसार पशु-बलि वाले यज्ञो का प्रारम्भ बीसवे तीर्थंकर मुनि सुव्रत के तीर्थकाल में हुआ। यही काल राम-लक्ष्मण का अस्तित्व काल है। इस काल मे महाकाल असुर और पर्वत के द्वारा पशु-यज्ञ का विधान किया गया।[1] महर्षि नाद ने उसका घोर विरोध किया था।[2]

वैश्य तुलाधार ने पशु-हिंसा का विरोध किया तो मुनि जाजलि ने उसे नास्तिक कहा। इस पर तुलाधार ने कहा—जाजले! मैं नास्तिक नही हूँ, और यज्ञ का निन्दक भी नही हूँ। मैं उस यज्ञ की निन्दा करता हूँ, जो अर्थ लोलुप नास्तिक व्यक्तियो द्वारा प्रवर्तित है।[3] हिंसक यज्ञ पहले नही थे। यह महाभारत से प्रमाणित होता है। राजा विचरन्नु ने देखा—यज्ञशाला मे एक बैल की गर्दन कटी हुई है, बहुत-सी गौएँ आर्तनाद कर रही है और कितनी ही गौएँ खडी है। यह देख राजा ने कहा—गौओ का कल्याण हो। यह तब कहा जब हिंसा प्रवृत्त हो रही थी।[4] जैन साहित्य मे मिलता है कि ऋषभ पुत्र भरत के द्वारा वेदो की रचना हुई थी। उसमे हिंसा का विधान नही था। बाद मे कुछ व्यक्तियो द्वारा उनमे हिंसा के विधान कर दिए गए। इस विषय मे महाभारत की भी सहमति है कि वेदो मे पहले हिंसात्मक विधान नही थे। वहाँ लिखा है—सुरा, आसव, मधु, मास, मछली, तिल और चावल की खिचडी—इन सब वस्तुओ को धूर्तो ने यज्ञ मे प्रचलित कर दिया है। वेदो मे इसके उपयोग का विधान नही है। उन धूर्तो ने अभिमान, मोह, और लोभ के वशीभूत होकर उन वस्तुओ के प्रति अपनी लोलुपता ही प्रगट की है।[5]

जैन साहित्य का उल्लेख है—ऋषभ पुत्र भरत द्वारा स्थापित ब्राह्मण स्वाध्यायलीन थे। फिर बाद मे उनका स्थान लालची ब्राह्मणो ने ले लिया। महाभारत मे भी ऐसा उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है—प्राचीन काल के ब्राह्मण सत्य-यज्ञ और दम-यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। वे परम पुरुषार्थ—मोक्ष के प्रति लोभ रखते थे। उन्हे धन की प्यास नही रहती थी। वे उससे सदा तृप्त थे। वे प्राप्त वस्तु का त्याग करने वाले और ईर्ष्या-द्वेष से रहित थे। वे शरीर और आत्मा के तत्त्व को जानने वाले और आत्मयज्ञ परायण थे।

---

[1] उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३२७-३८४

[2] वही, पर्व ६७, श्लोक ३८५-४४५

[3] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६३। २-१८
छिन्नस्थूण वृष दृष्ट्वा विलाप च गवा भृशम्।
गोग्रहेऽयज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः॥
स्वस्ति गोभ्यो ऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचन कृतम्।
हिंसाया हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता॥

[4] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५। २३
सुरा मत्स्या मधु मासमासव कृसरौदनम।
धूर्तै प्रवर्तित ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥

[5] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक ९-१०

वे ब्राह्मण वेद के अध्ययन मे तत्पर रहते थे। स्वय सन्तुष्ट थे और दूसरो को सतोष की शिक्षा देते थे।[1]

वैश्य तुलाधार ने उक्त बात ब्राह्मण ऋषि जाजलि से कही। इसमे उस प्राचीन परम्परा की सूचना है, जिसके अनुयायी ब्राह्मण भी अहिंसा-प्रधान थे।

आत्म-यज्ञ

नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर—इन चार तीर्थंकारो के काल मे हिंसा-पूर्ण यज्ञ का प्रतिरोध होता रहा। हिंसा के जो सस्कार सुदृढ हो गए थे, वे एक साथ ही नही टूटे। उन्हे टूटते-टूटते लम्बा समय लगा।

तीर्थकर अरिष्टनेमि के तीर्थकाल मे हिंसक यज्ञ के विरोध मे आत्म-यज्ञ का स्वर प्रबल हो उठा था। श्रीकृष्ण, जो अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे, आत्म-यज्ञ के प्रतिपादन मे बहुत प्रयत्नशील थे। अरिष्टनेमि और कृष्ण दोनो के समवेत प्रयत्न ने जो विशेष स्थिति का सूत्रपात किया, उसका परिणाम भगवान् महावीर और बुद्ध के अस्तित्वकाल मे सदृष्ट हुआ।

राजा विचरन्नु का वह स्वप्न साकार हो उठा—"धर्मात्मा मनु ने सब कामो मे अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। मनुष्य अपनी ही इच्छा से यज्ञ की बाह्य वेदी पर पशुओ का बलिदान करते है। विद्वान् पुरुष प्रमाण के द्वारा धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का निर्णय करे। अहिंसा सब धर्मो मे ज्येष्ठ है। यह वेद की फल-श्रुतियो—काम्य कर्मों का परित्याग करदे। सकाम कर्मो के आचरण को अनाचार समझ उनमे प्रवृत्त न हो।"[2]

उञ्छ वृत्ति ऋषि के यज्ञ मे धर्म ने मृग का रूप धारण कर यही कहा था—"अहिंसा ही पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है।"[3]

---

[1] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६३, श्लोक १८-२१

[2] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, ५-७
अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहित

[3] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २७२, श्लोक २०

भारतीय संस्कृति में बुद्ध और महावीर

मुनि श्री नथमलजी

ढाई हजार वर्ष पहले का काल धर्म-दर्शन का उत्कर्ष काल था। उस समय विश्व के अनेक अचलो मे महान् धर्म-पुरुष अवतीर्ण हुए थे।

उसी समय भारतीय क्षितिज पर दो पुरुष अवतीर्ण हुए। दोनो क्षत्रिय, दोनो राजकुमार और दोनो जन सत्ताक राज्य के अदिवासी। एक का नाम था 'सिद्धार्थ' और एक का नाम था 'वर्द्धमान'। सिद्धार्थ ने नेपाल की तराई मे अवस्थित कपिलवस्तु मे जन्म लिया। वर्द्धमान का जन्म वैशाली के उपनगर क्षत्रिय कुण्डपुर मे हुआ। सिद्धार्थ के माता-पिता थे—माया और शुद्धोदन। वर्द्धमानके माता-पिता थे—त्रिशला और सिद्धार्थ। दोनो श्रमण-परम्परा के अनुयायी थे। दोनो श्रमण बने और दोनो ने उसका उन्नयन किया।

सिद्धार्थ का धर्म-चक्र प्रवर्तन

सिद्धार्थ गुरु की शोध मे निकले। वे कालाम के शिष्य हुए। सिद्धान्तवादी हुए, पर उन्हे मानसिक शान्ति नही मिली। वे वहाँ से मुक्त होकर उद्रक के शिष्य बने। समाधि का अभ्यास किया। पर उससे भी उन्हे सन्तोप नही हुआ। वे वहाँ से मुक्त हो, गया के पास उरुवेल गाँव मे गए। वहाँ देह-दमन की अनेक क्रियाओ का अभ्यास किया। उनका शरीर अस्थि-पजर हो गया, पर शान्ति नही मिली। देह-दमन मे उन्हे कोई सार नही दीखा। अब वे स्वय अपने मार्ग की शोध मे लगे। वैशाखी पूर्णिमा को उन्हे बोधि-लाभ हुआ। महाभिनिष्क्रमण के छह वर्ष बाद बुद्ध बने। सारनाथ मे उन्होने धर्म-चक्र प्रवर्तन किया।

वर्द्धमान का धर्म-तीर्थ प्रवर्तन

वर्द्धमान प्रारम्भ से ही अपने निश्चित मार्ग पर चले। उन्होंने कोई गुरु नही बनाया न केवल कठोर तप ही तपा और न केवल ध्यान ही किया। तप भी तपा और ध्यान भी किया। उनका तप ध्यान के लिए था, लेकिन ध्यान तप के लिए नहीं। उन्हे अपनी साधना पद्धति से पूर्ण सन्तोष था। महाभिनिष्क्रमण के साढे बारह वर्ष के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। वे वर्द्धमान से महावीर बन गए। मध्यम पावापुरी मे उन्होंने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति श्रमण और वैदिक—इन दो धाराओं का संगम है। फिर भी कुछ विद्वान् इस विषय में उलझे हुए हैं। श्रमण संस्कृति को वैदिक संस्कृति की शाखा मानने में गौरव का अनुभव करते हैं। लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने लिखा है—'जैन तथा बौद्ध धर्म भी वैदिक संस्कृति की ही शाखाएँ हैं, यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हें वैदिक नहीं मानता। सामान्य मनुष्य की इस भ्रान्त धारणा का कारण है—मूलत इन शाखाओं के वेद-विरोध की कल्पना। सच तो यह है कि जैनों और बौद्धों की तीन अन्तिम कल्पनाएँ—कर्म-विपाक, संसार का बन्धन और मोक्ष या मुक्ति—अन्ततोगत्वा वैदिक ही हैं।

हिन्दू संस्कृति को वैदिक संस्कृति का विकास तथा विस्तार मानने में बीती हुई सदी के उन आधुनिक विद्वानों को आपत्ति है, जिन्होंने भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म का अध्ययन किया है। वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि विद्यमान हिन्दू संस्कृति असल मे वैदिक तथा अवैदिक, आर्य और अनार्य लोगों की विविध संस्कृतियों का सम्मिश्रण स्वरूप है। इन मनीषियों के मत मे मूर्तिपूजा करने वालों की पौराणिक संस्कृति अवैदिक एवं अनार्य समूहों द्वारा निर्मित संस्कृतियों की उत्तराधिकारिणी है और जैन तथा बौद्ध धर्म वैदिक धर्म के प्रतिद्वन्द्वी हैं, वैदिकों को परास्त करने वाले प्रबल विद्रोही हैं। इनके कथनानुसार विद्यमान् हिन्दू संस्कृति भिन्न-भिन्न विचारकों की चार धाराओं के मेल से बनी है। पहली धारा है वेदों के पूर्ववर्ती अनार्यों की मूल संस्कृति की, दूसरी वेदों के पूर्ववर्ती काल के भारतीय अनार्यों पर विजय पाने वाले आर्यों द्वारा स्थापित वैदिक संस्कृति की, तीसरी वेदों के विरुद्ध विद्रोह करने वाले जैनों तथा बौद्धों के द्वारा निर्मित संस्कृति की, और चौथी वेदपूर्व संस्कृति के आविष्कार के रूप में अवस्थित मूर्तिपूजक पौराणिक धर्म की।"[1]

शास्त्रीजी ने जिन अन्तिम कल्पनाओं—कर्म-विपाक, संसार का बंधन और मोक्ष या मुक्ति—को अन्ततोगत्वा वैदिक कहा है, वे मूलत. अवैदिक हैं।

वैदिक साहित्य मे आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नही है। इनके बिना कर्म-विपाक और बन्धन की कल्पना का विशेष अर्थ नही रहता। ए० ए० मैक्डॉनल का अभिमत है—"बाद मे विकसित पुनर्जन्म

[1] 'वैदिक संस्कृति का विकास' पृ० १५, १६

के सिद्धान्त का वेदो मे कोई सकेत नही मिलता, किन्तु एक ब्राह्मण मे यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् सस्कारादि नही करते वह मृत्यु के बाद पुन जन्म लेते है, और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते है।"[१]

वैदिक सस्कृति के मूल तत्त्व

वैदिक सस्कृति के मूल तत्त्व है—यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था। यज्ञ के मुख्य प्रकार तीन हैं—पाक-यज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ[२]।

ऋण तीन प्रकार के माने जाते थे—देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण। यज्ञ और होम से देव-ऋण चुकाया जाता है। वेदाध्ययन के द्वारा ऋषि-ऋण चुकाया जाता है। सतान उत्पन्न कर पितृ-ऋण चुकाया जाता है।[3] शतपथ ब्राह्मण मे चौथे ऋण—मनुष्य-ऋण का भी उल्लेख है। उसे औदार्य या दान से चुकाया जाता है।[४]

वर्ण-व्यवस्था का आधार है—सृष्टि का उत्पत्ति-क्रम। ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य ऊरु से और शूद्र पैरो से।[५]

यज्ञ की कल्पना लौकिक और पारलौकिक दोनो है। उसका लौकिक फल है—सुख-शान्ति और पारलौकिक फल है स्वर्ग।[६] ऋण और वर्ण-व्यवस्था इन—दोनो का फल है समाज की सस्थापना और सघटना। तीन ऋण ब्रह्मचर्य और गृहस्थ-इन दो आश्रमो के मूल है। ब्रह्मचर्य आश्रम मे रहकर वेदाध्ययन किया जाता और गृहस्थ आश्रम मे प्रविष्ट होकर सतान का उत्पादन। वानप्रस्थ और सन्यास जैसे आश्रम उस व्यवस्था मे अपेक्षित नही थे।

वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त ने जातिवाद को तात्विक रूप दिया और ऊँच-नीच आदि विषमताओ की सृष्टि की।

---

[1] Vedic Mythology, p. 326.

[२] विशद विवरण के लिए देखिए—वैदिककोश, पृ० ३९१–४२५

[3] तैत्तिरीय सहिता, ६।३।१०।५

[४] शतपथ ब्राह्मण, १।७।२। १-६

[५] ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्य. कृत.।
ऊरू तदस्य यद् वैश्य, पद्भ्यां शूद्रो अजायत.॥
ऋग्वेद सहिता, १०।९०।१२

[6] Vedic Mythology, p. 320.

श्रमण-सस्कृति के मूल तत्त्व

श्रमण-सस्कृति के मूल तत्त्व है–व्रत, सन्यास और समता। व्रत और सन्यास का मूल है—मोक्षवाद। समता का मूल है—आत्मवाद। आत्मा का ध्येय है बन्धन से मुक्ति की ओर प्रयाण। श्रमण-सस्कृति मे समाश्वस्त समाज का ध्येय भी यही है। इसीलिए सामाजिक जीवन समानता की अनुमति से परिपूर्ण हुआ। आर्थिक जीवन को व्रत से नियमित किया गया। वैयक्तिक जीवन को सन्यास से साधा गया। इस प्रकार जीवन के तीनो पक्ष—वैयक्तिक, आर्थिक, और सामाजिक—विशुद्धि से प्रभावित किए गए। इन्ही तत्त्वो के आलोक मे बुद्ध और महावीर ने वैदिक सस्कृति के मूल-तत्त्वो—यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था।

संस्कृति-संगम

वैदिक और श्रमण सस्कृति का यह विचार-द्वन्द्व बुद्ध-महावीर कालीन नही था। वह बहुत पहले से ही चला आ रहा था। इसमे कोई सदेह नही कि भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने उस विचार-क्रान्ति को इतना तीव्र स्वर दिया कि हिंसा, अहिंसा के सामने निष्प्राण बन गई। "अहिंसा परमोधर्म" का स्वर प्रबल हो उठा। "अपुत्रस्य-गतिर्नास्ति" के स्थान पर सन्यास की महिमा गाई जाने लगी। जन्मना जाति का स्वर कर्मणा जाति के स्वर मे विलीन हो गया। भगवान् पार्श्व के काल मे श्रमण और वैदिक सस्कृति का जो सगम आरब्ध हुआ था, वह अपने पूरे यौवन पर पहुँच गया।

श्रमण परम्परा मुख्यत क्षत्रियो की, और वैदिक परम्परा ब्राह्मणो की है। क्षत्रियो ने आत्म-विद्या और अहिंसा का विस्तार किया और आगे चलकर वे दोनो परम्पराओ की सगम स्थली बन गई। क्षत्रियो ने 'आर्य' शब्द वैदिक आर्यों से लिया।

क्षत्रियो ने वैदिक परम्परा या आर्य जाति को महत्व देते हुए 'आर्य' शब्द को अपनाया किन्तु उसका अर्थ अपनी परम्परा के अनुसार किया। वैदिक आर्य यज्ञ अनुष्ठान मे हिंसा करते थे उसे प्रतिपक्ष मे क्षत्रिय परम्परा मे यह घोप उठा कि प्राणियो की हिंसा करने वाला आर्य नही होता। आर्य वह होता है जो किसी की हिंसा न करे—अर्थात् अहिंसा ही आर्य है।[1] सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व हन्तव्य है, यह अनार्य वचन है। सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व हन्तव्य नही है, यह आर्य वचन है।[2]

इस प्रकार भारतीय सस्कृति का वर्तमान रूप अनेक धाराओ का सगम है।

---

[1] धम्मपद धम्मट्ठवग्ग
न तेन अरियोहोति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सव्व पाणान, अरियो ति पवुच्चति ॥ १५ ॥

[2] आचारांग, १।४।२

बुद्ध-महावीर की भारतीय संस्कृति को देन

व्रत, सन्यास और समता की स्थापना तथा यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था का प्रतिकार बुद्ध और महावीर की देन नही है, वह श्रमण-परम्परा को देन है। उसमे उन दोनो व्यक्तियो का महान् योग है। उन्होने प्राचीन परम्परा की समृद्धि मे केवल योग ही नही दिया, किन्तु उसे नए उन्मेष भी दिए।

बुद्ध ने दो नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किए—(१) प्रतीत्य-समुत्पाद वाद, (२) और आर्य-चतुष्टय।

प्रतीत्यसमुत्पाद

भिक्षुओ ! जो कोई प्रतीत्य (समुत्पाद) को समझता है, वह धर्म को समझता है। जो धर्म को समझता है, वह प्रतीत्य-समुत्पाद को समझता है। जैसे भिक्षुओ, गो से दूध, दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी, घी से घीमण्डा होता है। जिस समय मे दूध होता है, उस समय न उसे दही कहते है, न मक्खन, न घी, न घी का मण्डा। जिस समय वह दही होता है, उस समय न उसे दूध कहते है, न मक्खन, न घी, न घी का मण्डा। इसी प्रकार भिक्षुओ ! जिस समय मेरा भूतकाल का जन्म था, उस समय मेरा भूतकाल का जन्म ही सत्य था, यह वर्तमान और भविष्यत् का जन्म असत्य था। जब मेरा भविष्यत् काल का जन्म होगा, उस समय मेरा भविष्यत् काल का जन्म ही सत्य होगा, यह वर्तमान और भूतकाल का जन्म असत्य होगा। यह जो अब मेरा वर्तमान मे जन्म है, सो इस समय मेरा यही जन्म सत्य है, भूतकाल का और भविष्यत् काल का जन्म असत्य है।

भिक्षुओ ! यह लौकिक सज्ञा है, लौकिक निरुक्तियाँ है, लौकिक व्यवहार है, लौकिक प्रज्ञप्तियाँ है— इनका तथागत व्यवहार करते है, लेकिन इनमे फँसते नही। भिक्षुओ ! जीव (आत्मा) और शरीर भिन्न-भिन्न है, ऐसा मत रहने से श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नही किया जा सकता। और जीव (आत्मा) तथा शरीर—दोनो एक है, ऐसा मत रहने से भी श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नही किया जा सकता।

इसलिए भिक्षुओ ! इन दोनो सिरे की बातो को छोडकर तथागत बीच के धर्म का उपदेश देते है—

अविद्या के होने से सस्कार, सस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नामरूप, नामरूप के होने से छ आयतन, छ आयतन के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढापा, मरना शोक, रोना-पीटना दु ख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है।

इस प्रकार इस सारे के सारे दु ख स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भिक्षुओ ! इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते है।[1]

---

[1] बुद्ध वचन, पृ० २९-३०

आर्य-चतुष्टय

आर्य सत्य चार है—(१) दुख, (२) दुख समुदय, (३) दुःख निरोध, (४) दुख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग।

भिक्षुओ ! दुख-आर्य सत्य क्या है ?

पैदा होना दुख है, बूढा होना दुख है, मरना दुख है, शोक करना दुख है, रोना-पीटना दुख है, पीडित होना दुख है, चिन्तित होना दुख है, परेशान होना दुख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुख है—थोडे मे कहना हो, तो पाँच उपादान स्कन्ध ही दुख है।[1]

भिक्षुओ ! यह जो फिर-फिर जन्म का कारण है, यह जो लोभ तथा राग से युक्त है, यह जो जही-कही मजा लेती है, यह जो तृष्णा है, जैसे—काम-तृष्णा, भव-तृष्ण तथा विभव-तृष्णा—यही दुख के समुदय के बारे मे आर्य सत्य है।[2]

भिक्षुओ ! दुख के निरोध के बारे मे आर्य सत्य क्या है ? उसी तृष्णा से सम्पूर्ण वैराग्य, उस तृष्णा का निरोध, त्याग, परित्याग, उस तृष्णा से मुक्ति, अनासक्ति—यही दुख के विरोध के बारे मे आर्य सत्य है।[3]

अष्टागिक मार्ग दुख निरोध की ओर ले जाने वाला है, जो कि इस प्रकार है—

[प्रज्ञा]
१—सम्यक् दृष्टि
२—सम्यक् सकल्प

[शील]
३—सम्यक् वाणी
४—सम्यक् कर्मान्त
५—सम्यक् आजीविका

[समाधि]
६—सम्यक् व्यायाम
७—सम्यक् स्मृति
८—सम्यक् समाधि

महावीर ने तीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किए—१ त्रिपदी, २ रत्नत्रयी ३ स्याद्वाद।

महावीर की इस चिन्तन-धारा ने सत्य को सर्व-सग्राही बना दिया। उसके फलित हुए—सह-अस्तित्व और समन्वय। इन तत्वो ने भारतीय मानव को इतना प्रभावित किया कि ये भारतीय-सस्कृति के मूल आधार बन गए।

---

[1] दीघनिकाय, पृ० २२
[2] वही, पृ० २२
[3] वही, पृ० २२
[4] सयुक्त निकाय, पृ० २२

त्रिपदी

गौतम ने पूछा—भन्ते ! तत्त्व क्या है ?
भगवान् ने उत्तर दिया—उत्पन्न होना।
फिर पूछा—भन्ते ! तत्त्व क्या है ?
फिर उत्तर मिला—विपन्न होना।
प्रश्न आगे बढा—तत्त्व क्या है ?
उत्तर मिला—बने रहना।

फलित यह हुआ—जो उत्पन्न और विपन्न होते हुए भी बना रहता है, अथवा जो अपना अस्तित्व रखते हुए भी उत्पन्न और विपन्न होता है, वही सत् है और जो सत् है वही तत्त्व है।

रत्नत्रयी

गौतम ने पूछा—भते ! क्या ज्ञानयोग मोक्ष का मार्ग है ?
भगवान्—नही।
तो भते ! दर्शनयोग (भक्ति योग) मोक्ष का मार्ग है ?
भगवान्—नही।
तो भते ! चारित्र-योग (कर्म-योग) मोक्ष का मार्ग है ?
भगवान्—नही।
तो फिर मोक्ष का मार्ग क्या है ?

भगवान्—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्विति ही मोक्ष का मार्ग है।

स्याद्वाद

महावीर सत्याश और पूर्ण सत्य—इन दोनो को न सर्वथा अभिन्न मानते थे और न सर्वथा भिन्न। पूर्ण रूप से सर्वथा वियुक्त होकर सत्याश मिथ्या हो जाता है और पूर्ण सत्य से सर्वथा अभिन्न होकर वह वचन द्वारा अगम्य बन जाता है। अतः सत्य की उपलब्धि के लिए अनेकान्त और उसके प्रतिपादन के लिए स्याद्वाद अपेक्षित है। एकान्तवादी धारणाएँ इसीलिए मिथ्या है कि वे पूर्ण सत्य से वियुक्त हो जाती है। नित्यता मिथ्या नही है, क्योकि एक बार भी जिसका अस्तित्व प्रमाणित होता है, उसका अस्तित्व पहले भी था और बाद मे भी होगा। अनित्यता भी मिथ्या नही है, क्योकि रूपान्तरण की प्रक्रिया अस्तित्व का अनिवार्य अग है। किन्तु नित्यता और अनित्यता दोनो अविच्छिन्न है। वे सापेक्ष रहकर सत्याश बनती है और निरपेक्ष स्थिति मे वे मिथ्या बन जाती हैं। खुले रत्न रत्न ही कहलाएँगे। एक धागे मे पिरो लेने पर उसका नाम हार होगा। इसी प्रकार जो दार्शनिक दृष्टियाँ निरपेक्ष रहती है, वे सम्यग्-दर्शन नही कहलाती। वे परस्पर सापेक्ष होकर ही सम्यग्-दर्शन कहलाती है ?[१]

---

[१] सन्मति प्रकरण १।२२-२५

जैन-दर्शन : एक चिन्तन

●

हीराकुमारी व्याकरण-साख्य-वेदान्त-तीर्थ

जैनदर्शन—इस वाक्य मे 'दर्शन' एक पद है और इसका व्युत्पत्तिगत अर्थ है "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाता है, उसका नाम है दर्शन। यहाँ देखने का अर्थ केवल आँखो से से देखना ही नही, बल्कि अन्य चारो इन्द्रियो, मन तथा ज्ञान से देखना अर्थात् जानना है। इस व्यापक अर्थ मे इसका प्रयोग किया जाता है। कौन जानता है ? किसे जानता है ? जानने वाले का स्वरूप क्या है ? इत्यादि प्रश्न तथा उन प्रश्नो के विचार पूर्वक समाधान को ही हम दर्शनशास्त्र कहते है। जब हम विचार करना आरम्भ करते है, तो पहले हमारे सामने जो वस्तु उपस्थित होती है, उसके सम्बन्ध मे विचार करते हैं। तब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मुझे जो पदार्थ जिस रूप मे भासित होता है, क्या वही रूप उसका सही रूप है ? सरसरी तौर पर इसका उत्तर है "हाँ", अर्थात् मुझे जिस वस्तु का जो रूप भासित होता है, वही उसका यथार्थ रूप है। पर जब हम सोचते है, तो कहना कठिन है कि मुझे भासित होने वाला स्वरूप ही उसका यथार्थ स्वरूप है। मेरे सामने कोई चीज है, उसे मै जिस रूप से देखना चाहता हूँ, दूसरे व्यक्ति को उसी समय वही वस्तु दूसरी तरफ से दूसरे रूप मे भासित होती है। तीसरा व्यक्ति उसे तीसरे रूप मे देखेगा। प्रकाश के तारतम्य से अथवा निकटता और दूरता के कारण से एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूप मे भासित होती है। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न व्यक्ति विविध रूप से सुनता है। स्पर्शादि के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे जब विभिन्न व्यक्ति विचार करते है, तो प्रत्येक का विचार तो भिन्न होता ही है पर एक ही व्यक्ति का विचार भी एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे समयान्तर मे बदल जाता है। अतएव कैसे कहा जा सकता है कि मुझे भासित होने वाला वस्तु का स्वरूप सत्य है और उसका अन्य रूप सत्य नही है। वस्तु का जितना भी रूप भासित होता है, वह सब काल्पनिक है और इसका मौलिक रूप कुछ और ही है

यह कहना पडेगा। या तो वस्तु के स्वरूप ही अनेक है, अर्थात् वस्तु अनेक धर्मात्मक है यह कहना पडेगा। कालिक, दैशिक और वैयक्तिक भेद से उसका विविध रूप ग्रहण होता है और विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने ढग से उन्हे समझते है और समझाने की कोशिश करते है।

परिदृश्यमान जगत् का स्वरूप क्या है ? इसको जानने वाला इन्द्रिय, मन तथा ज्ञान का स्वरूप क्या है ? इत्यादि विपय के प्रश्न को भिन्न-भिन्न रूप से सुलझाने के प्रयत्न को हम 'दर्शन' शब्द मे जैन, बौद्ध, साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त आदि विशेपण लगाकर सूचित करते है। दर्शन-शास्त्र परिदृश्य-मान जागतिक वस्तु को प्रधानत दो दृष्टियो से विचार करता है, अतएव हम दर्शन-शास्त्र को दो भागो मे विभाजित कर सकते है—पहला वास्तववादी दर्शन, दूसरा मायावादी दर्शन। जैन-दर्शन वास्तववादी दर्शन है। वह जागतिक प्रत्येक वस्तु को, और उस वस्तु के प्रत्येक रूप को सत्य मानता है। कार्य-कारण दोनो की वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है। कारण यद्यपि विनिप्ट हो जाता है, तथापि जैन-दर्शन कार्य-रूप मे परिणत वस्तु की सत्ता को यथार्थ कहता है। न्याय-वैशेपिक, साख्य योग, बौद्धो के सौत्रान्तिक और वैभापिक मत वाले दर्शन वास्तववादी दर्शन है। अद्वैत वेदान्त, विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध दर्शन को हम मायावादी दर्शन कह सकते है। मायावादी दर्शन परिदृश्यमान जागतिक वस्तुओ की पारमार्थिक सत्ता नही मानता है। इन सब कल्पित रूपो के मूल मे वह एक मात्र तत्त्व को स्वीकार करता है और उसी एकमात्र तत्त्व को सत्य भी मानता है, परिदृश्यमान शेप सभी वस्तुओ को कल्पित कहता है। जैनदर्शन जागतिक वस्तु को जिस दृष्टि से विचार करता है, उस दृष्टि बिन्दु को हम अनेकान्त दृष्टि कह सकते है। क्योकि वह वस्तु के स्वरूप का अनेक रूप से विश्लेपण करता है। सभी दर्शन अपने-अपने प्रतिपादित वस्तु के स्वरूप को सत्य और अन्य दर्शन प्रतिपादित वस्तु के स्वरूप को मिथ्या कहते हे। पर जैन दर्शन अन्य दर्शन प्रति-पादित वस्तु के स्वरूप को सर्वथा मिथ्या न कहकर, उसे किसी न किसी रूप मे सत्य भी कहता है। मै पहले ही बतला चुकी हूँ कि उसके मत से वस्तु अनेक धर्मात्मक है। अतएव प्रतीयमान विरोधी धर्म भी एक ही वस्तु मे किसी अपेक्षा से रह सकता है, और सदृश-विसदृश गुणो का एक ही वस्तु मे प्रतीत होना असम्भव-सा दीखने पर भी वस्तु का वही यथार्थ स्वरूप है। जैन-दर्शन वस्तु के प्रत्येक रूप को सत्य मानकर अनेकान्त दृष्टि से उसका विचार करता है। अब देखना है कि जैन-दर्शन का मुख्यरूप से विचारणीय विपय क्या है ? जागतिक वस्तु का मौलिक तत्त्व क्या है ? मौलिक कारण, कार्यरूप मे कैसे परिणत होता है ? यदि एक से अधिक मौलिक तत्त्व हो, तो परस्पर का सम्बन्ध किस प्रकार का है—इन्ही तीन प्रश्नो के विचार की भित्ति पर ही सारा दर्शनशास्त्र निर्मित है।

जैन-दर्शन जब जागतिक वस्तु का विश्लेपण करता है, तो मौलिक रूप से दो तत्त्वो को पाता है। पहला चैतन्य तत्त्व, और दूसरा जड तत्त्व।

मैं जानता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं जाता हूँ—इत्यादि वाक्यो मे ज्ञातारूप से या कर्त्ता रूप से जो वस्तु भासित होती है, वही वस्तु चैतन्य तत्त्व है। हम चैतन्य तत्त्व को अस्वीकार नही कर सकते, क्योकि जिस ज्ञान के द्वारा चैतन्य को अस्वीकार किया जाता है, उसी ज्ञान के आधार रूप मे चैतन्य या आत्मा आप ही सिद्ध हो जाता है।

गुण और क्रिया अथवा पर्याय के आधार को 'द्रव्य' कहा जाता है। आत्मा एक द्रव्य है और ज्ञानादि को उसका विशेष गुण माना गया है। आत्मद्रव्य अनन्त, नित्यानित्य तथा शरीर परिमित है। आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है, पर इसका विशेष गुण स्वकीय रूप मे नित्य होने पर भी अवस्थान्तर को प्राप्त होता रहता है, अतएव गुण की पर्यायदृष्टि से आत्मा अनित्य भी है। कारण, इस दर्शन मे गुण को गुणी से कथञ्चित् अर्थात् कुछ अगो मे भिन्न तथा अभिन्न—दोनो कहा गया है। इसलिए गुण मे परिवर्तन होने के कारण उसके आधार द्रव्य मे भी परिवर्तन होना अनिवार्य है। आत्मा स्वय जिसको प्रकाशित करता है तथा स्वातिरिक्त दूसरे को भी प्रकाशित करता है, यह इसका विशेष गुण है। यही गुण चैतन्य को जड से भिन्न करता है। एक ही आत्मा शुद्ध और अशुद्ध—दो रूप मे भासित होता है। हम जब कोई अच्छा या बुरा कार्य करते है, तो आत्मा अपने ही आप को कहता है कि अरे! यह कार्य तुमने अच्छा किया, यह कार्य तुम्हे नही करना चाहिए था। यहाँ विचार करने वाला आत्मा शुद्ध रूप से और जिसके बारे मे विचार किया जाता है, वह आत्मा राग-द्वेष-अज्ञान आदि से युक्त होकर अशुद्ध रूप से भासित होता है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि अज्ञान, रागद्वेष आदि से युक्त जो आत्मस्वरूप भासित होता है, वह या जो विशुद्धस्वरूप भासित होता है, वह—इन दोनो मे कौन-सा स्वरूप यथार्थ है? इन प्रश्नो के जवाब मे जैन दार्शनिको ने अनन्त ज्ञानादियुक्त राग-द्वेषादि विरहित अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप को ही आत्मा का सत्य स्वरूप बतलाया है, तथा उसे मुक्तात्मा या परमात्मा कहते है। शुद्धाशुद्ध स्वरूप वाले आत्मा को ससारी आत्मा कहा गया है।

ससारी आत्मा या जीव कितने प्रकार के होते है? उनका किन नामो से उल्लेख किया जाता है? इत्यादि विषयो का वर्णन नही करके मैं अब जड-तत्त्व के सम्बन्ध मे कुछ कहना चाहती हूँ।

जैनदर्शन जिसमे ज्ञान नही है, अथवा जिसमे अनुभव करने की शक्ति नही है, उसे जड कहता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और काल रूप से जड पाँच प्रकार का है। वे अपने विशेष गुणो के कारण परस्पर भिन्न है। आकाश एक व्यापक पदार्थ है। पर इसे कल्पित रूप से दो भागो मे विभक्त किया गया है। धर्म, अधर्म, काल, आत्मा और पुदगल के आधारभूत आकाश को 'लोकाकाश' तथा तद्व्यतिरिक्त आकाश को 'अलोकाकाश' कहा जाता है। सभी को अपने मे स्थान देना, यही इसका विशेष गुण है। धर्म, अधर्म एक-एक अखण्ड द्रव्य है, और लोकाकाश को व्याप्त करके रहते हैं। जीव और पुद्गल को क्रिया करने मे तथा स्थिर रहने मे सहायता करना, यही इन दोनो का विशेष गुण है। अनन्त समयात्मक द्रव्य को काल कहा जाता है।[१] द्रव्यो मे जो परिवर्तन होता रहता है, वह द्रव्य का स्वभाव-सिद्ध गुण है। पर इस परिवर्तन का परिचय हम काल के द्वारा देते है और कहते है कि काल ही सब वस्तुओ मे परिवर्तन लाता है। इसलिए परिवर्तन करना, यही इसका विशेष गुण है। पुद्गल के दो रूप है—अणु और स्कन्ध। पुद्गल का सूक्ष्मतम अश जिसका विभाग नही किया

---

[१] श्वेताम्बर-शास्त्रो मे काल को पचास्तिकाय का पर्याय बताकर उपचार से द्रव्य माना है।

जा सकता, उसे परमाणु कहते है। पुद्‌गल-परमाणु अनन्त और निरवयव है। दो या दो से अधिक परमाणुओ का परस्पर सम्बन्ध होने से स्कन्ध बनता है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द आदि को पुद्‌गल गुण कहा गया है। जब मूल तत्त्व के रूप मे चैतन्य और जड स्वीकृत हो जाता है, तब इन दोनो तत्त्वो का आपस मे कोई सम्बन्ध है, या दोनो परस्पर निरपेक्ष होकर अपना कार्य करते है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। जैन-दर्शन पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार करता है। जीव और पुद्‌गल के साथ धर्म, अधर्म, काल और आकाश के सम्बन्ध को साधारण सम्बन्ध कहा जा सकता है। क्योकि जीव या पुद्‌गल को यदि क्रिया करना हो तो धर्म, स्थिर रहना हो तो अधर्म, स्थान पाना हो तो आकाश, अवस्थान्तर प्राप्त करना हो तो काल, उन्हे सहायता मात्र देता है। वे चारो जीव और पुद्‌गल पर अपना प्रभाव विस्तार नही करते है, न सृष्टि विचित्रता मे उनकी कोई शक्ति ही है। पर आत्मा के साथ पुद्‌गल का सम्बन्ध, घनिष्ठ सम्बन्ध है। अचेतन होने पर भी पुद्‌गल अपनी शक्ति से आत्मा को प्रभावित करता है। आत्मा भी पुद्‌गल पर अपना प्रभाव विस्तार करता है। यो तो पुद्‌गल द्रव्य बहुत प्रकार के है, पर जो पुद्‌गल परमाणु आत्मा पर अपना प्रभाव विस्तार करता है, उसे कर्म कहा जाता है। जीव और पुद्‌गल का सम्बन्ध अनादि सिद्ध है। जीव और पुद्‌गल का सम्बन्ध अनादि क्यो है ? यह प्रश्न युक्तिसगत नही है। क्योकि उन दोनो का स्वभाव ही वैसा है। युक्ति या तर्क से हम वस्तु के स्वभाव को बदल नही सकते तथा अस्वीकार भी नही कर सकते। कहा भी गया है—"यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।" पुद्‌गल के साथ आत्मा का सम्बन्ध अनादि होने के कारण कर्म पुद्‌गल आत्मा के विशुद्ध ज्ञानादि गुण को प्राय. आवृत कर देता है और जीव अज्ञानता और मोहवश पुद्‌गल को अपना कहकर अपना लेता है। फलस्वरूप वह राग-द्वेष के वशीभूत होकर कही चैन नही पाता है और उसे अपना समझ कर विविध रूप मे रूपान्तरित करता है। इस चैतन्य तथा पुद्‌गल का जो परस्पर प्रभाव है तथा इसके कारण जो सुख-दु ख, व्याकुलता आदि उत्पन्न होती है, उससे आत्मा को ही क्षति पहुँचती है न कि पुद्‌गल को। आत्मा मे अनुभव-शक्ति है, इसलिए दु खादि का अनुभव करता है और अपने ज्ञानमय, आनन्दमय स्वरूप से प्रच्युत रहता है। दूसरी तरफ पुद्‌गल का विचित्र रूप मे परिणत होना स्वभाव ही है। अतएव आत्मा पुद्‌गल के विचित्र परिणामो मे सहायक ही बनता है।

पुद्‌गल के बन्धन मे आबद्ध आत्मा उस बन्धन को तोड सकता है या नही, इस पर जैनदर्शन ने काफी विचार किया है। पाप, पुण्य, आस्रव, सवर, बन्ध, कर्म, कर्म का स्वरूप इत्यादि विपयक विचार भी इस विचार से फलित होता है। जैन-दर्शन आत्मा मे एक ऐसी शक्ति स्वीकार करता है कि जिसके बल से आत्मा अनादि पौद्‌गलिक सम्बन्ध को छिन्न-भिन्न करके अपने स्वरूप को पा जाता है। जीव सुख पाने के लिए सब समय प्रयत्न करता है और पौद्‌गलिक साधनो का सग्रह करता है। जब उससे सुख नही मिलता तो और अधिकाधिक पौद्‌गलिक साधनो का सग्रह करता है। फिर भी जब वह उससे सुख-शान्ति नही पाता, तो सब जीव नही, पर विकसित होने वाला जीवात्मा अशान्ति के कारणो की खोज मे लग जाता है। धीरे-धीरे उसका चित्त बाह्य विषयो से हटकर अन्तर्मुखी होता रहता है और जैसे-जैसे उसे आत्म-उपलब्धि होती जाती है, वैसे-वैसे उसे पौद्‌गलिक स्वरूप भासित होता है और उससे उसका सम्बन्ध छूटता

जाता है। आखिर मे वह पूर्णरूप से पौद्गलिक सम्बन्ध को विच्छिन्न कर देता है और अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है।[1]

तीसरा प्रश्न यह है कि—परिदृश्यमान जगत का मौलिक कारण कार्यरूप मे कैसे परिणत होता है? इसके उत्तर मे दर्शनशास्त्र मे चार विभिन्न प्रकार की चार प्रक्रियाएँ बतलाई गई हैं। आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद और प्रतीत्य-समुत्पादवाद नाम से उन चारो प्रक्रियाओ का परिचय दिया जाता है।

आरम्भवाद—इसमें परमाणुओ को परिदृश्यमान इन्द्रियग्राह्य जागतिक वस्तुओ का मौलिक कारण कहा गया है। परमाणु अनन्त, नित्य और अविभाज्य है। वे परमाणु जब आपस मे सम्बन्धित होते है, तो उससे स्थूल एक नया कार्य उत्पन्न होता है। वह कार्य अपने कारण से अत्यन्त भिन्न है तथा उत्पन्न होने से पहले कारण मे उसकी कोई सत्ता नही रहती है। परिमाण मे वह अपने कारण से बृहत् होता है। उदाहरण के तौर पर वस्त्र को लीजिए। कुछ सूत्रो को एकत्रित करके बुनने पर वस्त्र उत्पन्न होता है, कार्यरूप वस्त्र अपने कारण रूप सूत्र से परिमाण मे बृहत् ही होता है तथा उत्पन्न होने के पहले वस्त्र की सत्ता भी उसके कारणभूत सूत्र मे प्रतीत नही होती है, न्याय, वैशेषिक और मीमासक इस मत के समर्थक हैं।

परिणामवाद—यह ठीक आरम्भवाद के विपरीत है। वह परिदृश्यमान जागतिक वस्तु के मौलिक कारण को अतिसूक्ष्म, व्यापक, एक तथा परिणामी नित्यानित्य मानता है। वह कार्य को कारण से अत्यन्त भिन्न मानता है तथा कारण मे कार्य की सत्ता को स्वीकार करता है। समुद्र के उदाहरण से हम इस विषय को स्पष्ट कर सकते है। समुद्र मे तरग के बाद तरग उत्पन्न होता है, और उसी मे विलीन हो जाता है। परिणामवादी कहता है कि कारणरूप समुद्र मे कार्यरूप तरग की सत्ता विद्यमान रहती है, तभी तरग उसमे आविर्भूत होता है और उसी मे विलीन हो जाता है। कारणरूप समुद्र से कार्यरूप तरग क्षुद्र ही होता है। इस मत मे प्रधानरूप कारण से क्षुद्र कार्य स्थूलरूप मे आविर्भूत होता है और उसी मे विलीन होता है। यह मत साख्य और योग दर्शन का है। जैन दर्शन कारण का कार्यरूप मे परिणत होने के बारे मे अपने विशेष तरीके से आरम्भवाद तथा परिणामवाद—इन दोनो प्रक्रियाओ को मानता है। कारणरूप से वह परमाणुओ को तथा एकत्रित परमाणुओ से कार्य को स्थूलरूप मे उत्पन्न होना मानता है। इसलिए इस अश मे जैन दर्शन आरम्भवादी और कारण मे कार्य की सत्ता को स्वीकार करने मे तथा कारण का ही कार्यरूप मे परिणत होना मानने मे इस अश मे परिणामवादी है।

---

[1] आत्मा का क्रोधादिक स्वभाव जब तथाभव्यता के आधार पर व्यक्त होता है, तब उसकी सांसारिक अवस्था रहती है। और जब तथाभव्यता के आधार से ज्ञानादि स्वाभाव का आविर्भाव होता है, तब उसकी मोक्षावस्था आविर्भूत होती है। कषायादिक और ज्ञानादिक—दोनों आत्म-पदार्थ के स्वभाव हैं। मोक्षावस्था के आविर्भाविक स्वभावो के उपादेय होने की अपेक्षा कषायादि भाव हेय होने से वैभाविक स्वभाव कहे जाते हैं। वैभाविक और स्वाभाविक कहे जाने वाले सभी स्वभाव आत्मद्रव्य के पर्याय हैं।

जैन-दर्शन मे प्रतीत्य-समुत्पादवाद और विवर्तवाद—इनका कोई स्थान नही है। क्योकि प्रतीत्य-समुत्पाद वाद प्रत्येक वस्तु को अनित्य और क्षण-स्थायी मानता है और विवर्तवाद जगत् को स्वप्न के समान अलीक मानता है।[1]

भारतीय दर्शनशास्त्र शुष्क ज्ञान मात्र अथवा विद्वानो के मनोविनोद का साधन मात्र नही है। भारत मे दर्शन तथा धर्म का, तत्त्व-ज्ञान और जीवन का गहरा सम्बन्ध है। जीव विविध प्रकार का क्लेश पाता है—इन क्लेशो की निवृत्ति कैसे हो, जीव जड के बन्धन से कैसे मुक्त हो सकता है ? यह बतलाना भारतीय दर्शन का एकमात्र लक्ष्य है। जड पदार्थो के विश्लेषण से नाना प्रकार की सासारिक उन्नति होती है। सुख प्राप्ति के लिए विविध प्रकार का साधन बनता है। पर भारतीय दर्शन ने इन सुखो को दुःख मिश्रित सुख कहकर इसकी उपेक्षा की है, और आत्मविश्लेषण पर अधिक भार देता है। आत्मविश्लेपण का फल है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि नैतिकता। इसी नैतिकता का अभाव मानव जीवन को दु खपूर्ण बनाता है। क्योकि जितना ही नैतिकता का विकास होता है, उतना ही मानव जीवन सुखी होता है। इसलिए आज के जगत् मे इतनी यान्त्रिक उन्नति होने पर भी, सुख के प्रचुर साधन उपस्थित होने पर भी इन सभी के पीछे आत्मविश्लेपण नही रहने से नैतिकता के अभाव मे आज का मानव समाज धीरे-धीरे सुख और शान्ति से दूर होता हुआ, न तो स्वय ही सुख पाता है और न दूसरे को शान्ति देता है।

---

[1] दृश्यमान जगत् का मौलिक तत्त्व क्या है ? यदि स्वप्न से अधिक मौलिक तत्त्व हो, तो परस्पर का सम्बन्ध है या नहीं ? मौलिक कारण कार्यरूप मे कैसे परिणत होता है ? मैंने पूर्वोक्त इन तीन प्रश्नो का उत्तर जैन-दर्शन के अनुसार सक्षेप मे वर्णन किया है।

जैन मतानुसार अभाव-प्रमाण-मीमांसा

साध्वी श्री निर्मलाश्रीजी, एम. ए., साहित्यरत्न

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण द्वारा होती है। जैसा कि कहा गया है—मेयसिद्धिर्मानाधीनत्वात्।[1] प्रमाण के द्वारा प्रमेयात्मक वस्तु स्वरूप को जानने के पश्चात् ही मानव अपने इष्ट विषय की प्राप्ति और अनिष्ट विषय के परिहार के लिए तत्पर होते है। जैसा कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने लिखा है—प्रमाणेन खल्वय ज्ञातार्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा।[2]

जिसका निश्चय किया जाए उसे प्रमेय कहते है, और जिस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु तत्त्व का निश्चय किया जाए, उस सर्वांशग्राही बोध को प्रमाण कहते है। प्रमेयात्मक पदार्थों का दुर्नय, नय और प्रमाण से निश्चय किया जाता है। नय का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा अनन्त धर्मो मे से किसी विवक्षित एक धर्म का निश्चय किया जाए, अर्थात् अनेक दृष्टिकोण से परिष्कृत वस्तु तत्त्व के एकाश-ग्राही ज्ञान को नय कहते है। नय, प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नही है, अभिन्न भी नही है। प्रमाण यदि अशी है, तो नय अश है। प्रमाण यदि सूर्य है, तो नय रश्मिजाल। प्रमाण सत् को ग्रहण करता है और नय स्यात्सत्—इस तरह सापेक्ष रूप से जानता है, जबकि दुर्नय 'सदेव ऐसा अवधारण कर अन्य का तिरस्कार करता है। जैसा कि आचार्य श्री हेमचन्द्र ने कहा है—सदेव सत् स्यात् सदितित्रिधार्थो मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणै:, (अन्ययोगव्य० श्लोक) २८ निष्कर्ष यह है कि सापेक्षता ही नय का प्राण है। जैसा कि स्वामी समतभद्र ने कहा है—निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् (आप्त—मीमासा श्लोक १०८)। प्रमाण सर्वनयरूप है। नय वाक्यो मे 'स्यात्' शब्द लगाकर बोलने को प्रमाण कहते है। जिस प्रकार रसो के सयोग से लोहा अभीष्ट फल को देने वाला बन जाता है, उसी तरह नय

---

[1] न्यायदर्शन प्रसन्नपदा १

[2] न्यायदर्शन, पृ० १

मे स्यात् शब्द लगाने से इष्टफल देते है। जैसा कि स्वामी समतभद्र ने बृहत्स्वयभू स्तोत्र (का० ६५) मे विमलनाथ भगवान् के स्तवन मे लिखा है—

नयास्तव स्यात्पदलाछना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातव'।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिण.॥

नय, नैगमादि भेद से सात प्रकार का होता है। जिसके द्वारा वस्तु मे अनेक धर्मो का ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते है। प्रमाण स्याद्वादरूप होता है। जैसा कि आचार्य श्री मल्लिषेण ने लिखा है—प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽर्थोऽनेकान्तविशिष्टोऽनेन इति प्रमाणम्।[1] प्रमाण का सामान्य लक्षण है—प्रमाया करणप्रमाणम्। प्रमा का करण ही प्रमाण है। तद्वति तत्प्रकारानुभव प्रमा—जो वस्तु जैसी है उसको वैसे ही जानना प्रमा है। करण का अर्थ है, साधकतम। प्रमाण के सामान्य लक्षण मे किसी को आपत्ति नही है। विवाद का विपय करण बनता है। बौद्ध दार्शनिक सारूप्य और योग्यता को करण मानते है, नैयायिक इन्द्रिय को, और जैन दार्शनिक केवल ज्ञान को ही करण मानते है। प्रमाण के फल की सिद्धि उस (प्रमाण) को ज्ञानस्वरूप माने बिना नही हो सकती। अत करण बनने का श्रेय ज्ञान को ही मिल सकता है।

ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनो प्रकार का होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है और सशय, विपर्यय आदि ज्ञान अयथार्थ। केवल यथार्थज्ञान प्रमाण होता है। अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है। जैसा कि आचार्य श्री हेमचन्द्र ने लिखा है—सम्यगर्थनिर्णय प्रमाणम्।[2] यह जैन-सम्मत प्रमाण का परिष्कृत लक्षण है।

प्रमाण की सख्या सब दर्शनो मे एक-सी नही है। नास्तिक (चार्वाक) केवल एक प्रत्यक्ष मानते है। वैशेषिक दो—प्रत्यक्ष और अनुमान। साख्य तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। नैयायिक चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द (आगम)। मीमासा (प्रभाकर) पॉच—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति। मीमासा (भाट्ट, वेदान्त) छ—प्रत्यक्षादि पूर्वोक्त और अभाव। पौराणिक इनके अतिरिक्त सभव, ऐतिह्य भी प्रमाण मानते है। जैन दार्शनिक दो प्रमाण मानते है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जैसा कि वादि-देवसूरि ने लिखा है—तच्च द्विभेद प्रत्यक्ष च परोक्ष चेति।[3]

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने इसी का समर्थन इस प्रकार किया है—प्रमाण द्विधा। प्रत्यक्ष परोक्ष च।[4] साव्यवहारिक और पारमार्थिक—प्रत्यक्ष के ये दो भेद है। साव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन से पैदा

[1] स्याद्वाद मजरी, पृ० ३२१

[2] प्रमाण-मीमासा, १।१।२

[3] प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार, परि० २, सूत्र १

[4] प्रमाण-मीमासा, पृ० ७

होता है। इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा भेद से चार प्रकार हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में केवल आत्मा की सहायता रहती है।

प्रत्येक द्रव्य का अपना असाधारण स्वरूप होता है। उसके अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव होते हैं जिनमें उसकी सत्ता सीमित रहती है। सूक्ष्म-विचार करने पर द्रव्य क्षेत्र काल, भाव भी अनन्त द्रव्य की असाधारण स्थितिरूप ही फलित होते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप चतुष्टय से सत् होता है और पररूप चतुष्टय से असत्। पदार्थ स्वरूप से सत् और पररूप से असत् होने के कारण भाव और अभाव रूप है। जैसा कि आचार्य मल्लिषेण ने कहा है—स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वात् भावाभावात्मकं वस्तु।[1] यदि वस्तु को सर्वथा भावरूप स्वीकारा जाए, तो एक वस्तु के सद्भाव में सम्पूर्ण वस्तुओं का सद्भाव मानना चाहिए। आचार्य श्री हेमचन्द्र इसी बात को इस प्रकार कहते हैं—सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च। अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः।[2]

पदार्थ सद्-असदात्मक है। उसके सद् अंश को भाव और असद् अंश को अभाव या प्रतिषेध कहा गया है। वह अभाव पुनः चार प्रकार का है। जैसे—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। जैसा कि वादिदेव सूरि ने कहा है—विधि-सदंश इति। प्रतिषेधोऽसदंश इति। स चतुर्धा प्रागभावः प्रध्वंसाभाव इतरेतराभावोऽत्यन्ताभावश्च।[3]

यह तो ध्रुव सत्य है कि द्रव्य की न उत्पत्ति होती है और न विनाश। किन्तु जो उत्पत्ति और विनाश होते हैं, वे पर्याय के। द्रव्य अपने द्रव्यरूप से कारण होता है और पर्यायरूप से कार्य। जो पर्याय उत्पन्न होने जा रहा है, वह उत्पत्ति के पहले पर्याय रूप में नहीं है। अतः उसका जो यह अभाव है, वह प्रागभाव है। घट-पर्याय जब तक उत्पन्न नहीं हुआ तब तक वह असत् है और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होने वाला है, उसे घट का प्रागभाव कहा जाता है।

द्रव्य का विनाश नहीं होता है। विनाश होता है पर्याय का। अतः कारण-पर्याय का नाश कार्य-पर्यायरूप होता है। कोई भी विनाश सर्वथा अभावरूप या तुच्छ न होकर उत्तरपर्यायरूप होता है। घट पर्याय नष्ट होकर कपाल-पर्याय बनता है। अतः घट-विनाश कपालरूप है, जिसे प्रध्वंसाभाव कहा जाता है।

एक पर्याय का दूसरे पर्याय में जो अभाव है वह इतरेतराभाव है जिसे अन्यापोह भी कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव से निश्चित है। एक का स्वभाव दूसरे का नहीं होता। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में जो त्रैकालिक अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है।

---

[1] स्याद्वाद मंजरी, पृ० १७६

[2] प्रमाण-मीमांसा, पृ० १२

[3] प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, परि० ३, सूत्र ५२-४

जैन मतानुसार अभाव-प्रमाण मीमासा

इस अभाव प्रमेय को लेकर दार्शनिको मे विभिन्न प्रकार के विचार प्रवृत्त है। कोई दार्शनिक अभाव को मानते ही नही है, कोई उसे कल्पित मानते है, कोई उसे स्वतन्त्र पदार्थ मानते है, कोई उसे अभावात्मक मानते है, और कोई उसे भावस्वरूप मानते है।

पुन इस अभाव पदार्थ के ग्राहक—प्रमाण के बारे मे भी कई मत है। प्रमाण, प्रमेय-साधक होता है, इसमे कोई विवाद नही है। फिर भी सत्य की कसौटी सबकी एक नही है। एक ही पदार्थ के निर्णय के लिए दार्शनिको द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रमाण माने गए है।

यदि कहा जाए कि अभाव नि स्वरूप होने के कारण असिद्ध है, तो यह शका अनुचित है, क्योकि जैन मतानुसार अभाव पदार्थ भाव स्वभाव वाला है, अत नि स्वरूप नही है। यह भी शका नही करनी चाहिए कि भाव स्वभाव वाले प्रागभावादि अभाव की सिद्ध कैसे हो सकती है ? जैन दार्शनिको के मतानुसार ऋजुसूत्र नय और प्रमाण के द्वारा उन (प्रागभावादि अभाव) की सिद्धि हो जाती है। जैसा कि वादिदेव सूरि ने कहा है—नय-प्रमाणादिति, और विद्यानन्दस्वामी ने भी 'अष्टसहस्री' मे इसी बात को इस प्रकार कहा है, ऋजुसूत्रनयापर्णाद्धिति।[१] वर्तमान क्षण के पर्यायमात्र की प्रधानता से वस्तु का कथन करना, ऋजुसूत्र है। जैसा कि आचार्य मल्लिषेण ने लिखा है—ऋजु वर्तमान-क्षणस्थायि पर्यायमात्र प्राधान्यत सूत्रयन्नभिप्राय' ऋजुसूत्र।[२] ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से प्रागभाव घटादिकार्य के अव्यवहितपूर्व मे रहने वाला उपादान-परिणाम अर्थात् मृत्पिण्ड स्वरूप ही है, और व्यवहार नय की अपेक्षा से मृदादि द्रव्य ही घट-प्रागभाव है।

प्रध्वसाभाव की सिद्धि भी ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से होती है। प्रध्वसाभाव स्थल मे उपादेय क्षण (घटोत्पत्तिस्थितिक्षण) ही उपादान (मृत्पिण्डरूपकारण) का प्रध्वसाभाव है। उपादेय क्षण को को ही उपादान का प्रध्वसक्षण माने जाने पर यह शका हो सकती है कि उपादेय के उत्तरोत्तर क्षण मे प्रध्वसाभाव का अभाव होने से घटादि की पुनरुत्पत्ति की आपत्ति होगी। पर ऐसी शका उचित नही, क्योकि कारण मे कार्य का नाशकत्व नही है, अर्थात् उपादान कारण का नाश होने पर उत्तर प-र्याय रूप कार्य की उत्पति होती है, न कि कार्य के नाश मे कारण की उत्पति का नियम है। प्रागभाव उपादान है और प्रध्वस उपादेय। प्रागभाव का नाश करता हुआ प्रध्वस उत्पन्न होता है। घट-पर्याय कपाल-पर्याय का प्रागभाव है, और कपाल-पर्याय घट-पर्याय का प्रध्वस। पर यहाँ शका हो सकती है कि दो अभाव पदार्थो मे उपादान-उपादेय सम्बन्ध कैसे होगा ? किन्तु जैन दर्शन के अनुसार प्रागभाव पूर्वक्षण-वर्ती कारण रूप तथा प्रध्वस उत्तरक्षणवर्ती कार्य रूप है, अर्थात् वस्तुत दोनो अभाव कथचित् भावरूप है, अतएव उक्त स्थल मे दो अभावो मे सम्बन्ध मानने का प्रसग ही नही है। व्यवहार नय की अपेक्षा से मृदादि स्वद्रव्य ही घटोत्तर-काल मे घट-प्रध्वस कहलाता है। जैसा कि वादिदेव सूरि ने कहा है—

---

[१] स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० ५७५। अष्ट सहस्री, पृ० १००

[२] स्याद्वाद मजरी, पृ० ३१७

व्यवहारनयादेशात् मृदादि स्वद्रव्य घटोत्तरकालवर्ति घटाकार-विशिष्ट घट-प्रध्वंस । स चानन्त समवतिष्ठते ।[1]

मीमासक अभाव को अनुपलब्धि नामक स्वतन्त्र प्रमाण द्वारा ग्राह्य मानते हैं । उनका कथन है कि भावरूप प्रमेय का ग्राहक प्रमाण जैसे भावात्मक होता है, उसी तरह अभावरूप प्रमेय के लिए अभावरूप अनुपलब्धि प्रमाण की ही आवश्यकता है । जैसा कि कुमारिल ने श्लोकवार्तिक मे कहा है—

मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम् । ४५
भावात्मके यथामेये नाभावस्य प्रमाणता ।
तथैवाभावमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता ॥ ४६[2]

जहाँ भाव पदार्थ के ग्राहक पाच प्रमाणो की प्रवृत्ति नही होती वहाँ अभाव बोध के लिए अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता हे । जैसा कि कुमारिल ने लिखा है—

प्रमाण-पचकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्त्वाववोधार्थं तत्राभाव प्रमाणता ॥[3]

वस्तु सत् और असत् उभयरूप है ।[4] उनमे इन्द्रिय आदि के द्वारा सदंश का ग्रहण हो जाने पर भी असदश के ज्ञान के लिए अभाव प्रमाण अपेक्षित होता है । आचार्य हेमचन्द्र ने 'प्रमाणमीमासा' मे कुमारिल के इसी आशय को इस प्रकार व्यक्त किया है—भवतु भावाभावरूपता वस्तुनः कि नश्छिन्नम् ? वयमपि हि तथैव प्रत्यपीपदाम । केवल भावाश इन्द्रिय-सन्निकृष्टत्वात् प्रत्यक्ष-प्रमाणगोचरः अभावाशस्तु न तथेत्यभावप्रमाणगोचर इति ।[5] कुमारिल के मतानुसार जिस पदार्थ के अभाव का ज्ञान करना है, उसके अधिकरण का प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रतियोगी का स्मरण होने पर जो मानस नास्तिता-ज्ञान होता है, वह अभाव है । जैसा कि कुमारिल ने कहा है—गृहीत्वा वस्तु-सद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिता-ज्ञान जायतेऽक्षानपेक्षया ।[6] अभाव को यदि न माना जाए, तो प्रागभावादि-मूलक समस्त व्यवहार नष्ट हो जाएँगे, क्योकि पदार्थ की स्थिति अभाव के अधीन है । दूध मे दही का अभाव प्रागभाव है दही मे दूध का अभाव प्रध्वसाभाव है । घट मे पट का अभाव अन्योन्याभाव है और शश मे शृंग का अभाव अत्यन्ताभाव है ।

---

[1] स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० ५७८
[2] मी० श्लो० अभाव, श्लोक ४५-४६
[3] वही, श्लोक १
[4] वही, श्लोक १२-१४
[5] प्रमाण-मीमासा, पृ० ६
[6] मी०श्लो० अभाव श्लोक २७

जैन मतानुसार अभाव-प्रमाण मीमांसा

वस्तु सदसदात्मक है, इसमे विवाद नही है। पर अभावांश भी वस्तु का धर्म होने से यथासभव भावग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणो से गृहीत होता है। जैसा कि वादिदेव सूरि ने कहा है—

अभाव-प्रमाणतु प्रत्यक्षादावेवान्तर्भवतीति।[1]

जिस व्यक्ति को घटयुक्त भूतल का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे ही घट के अभाव मे घटाभाव का भी प्रत्यक्षादि से ज्ञान होता है। यह कोई नियम नही है कि भावात्मक प्रमेय के ग्राहक प्रमाण को भावरूप और अभावात्मक प्रमेय के ग्राहक प्रमाण को अभावात्मक ही होना पडेगा। अभाव के द्वारा भी भाव का ज्ञान सभव है। जैसे—मेघाच्छन्न आकाश मे वृष्टि के अभाव से आकाश मे वायु की सत्ता रूप भाव पदार्थ प्रतीत होता है, इसी प्रकार भाव के द्वारा भी अभाव का ज्ञान होता है। वह्नि की सत्ता के ज्ञान से शीताभाव का ज्ञान लोक प्रसिद्ध है। मुद्गरादि से घटाभाव की उत्पत्ति, भाव पदार्थ द्वारा अभावपदार्थ की उत्पत्ति का दृष्टान्त है।

यदि ऐसा न माना जाए, तो कुमारिल के 'सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानमन्यवस्तुनि'[2]—इस कथन का आशय क्या है? क्या आत्मा सर्वथा ज्ञानरूप से अपरिणत है? या कथचित् अपरिणत है? इनमे से प्रथम पक्ष मे तो 'मेरी माता वन्ध्या है' इत्यादि वाक्य के सदृश स्व-वचन विरोध है, कारण यदि आत्मा सर्वथा ज्ञान शून्य है, तो वह अभाव का परिच्छेदक (ज्ञाता) कैसे बन सकता है? परिच्छेदक होने का अर्थ ही है—ज्ञानयुक्त होना। और यदि आत्मा को कथचित् ज्ञानयुक्त मानकर यह कहे कि अभाव-विषयक ज्ञान है, किन्तु निषेध्य-पदार्थ विषयक ज्ञान नही है, तो यह भी उचित नही। कारण, ऐसा मानने पर अभाव-विषयक वह ज्ञान ही अभाव प्रमाण सिद्ध हुआ और वह ज्ञान इन्द्रियजन्य होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत है। भावांश ज्ञान के समान अभावांश ज्ञान कराने मे चक्षु की प्रवृत्ति अविरुद्ध है। शुद्ध भूतलग्राही प्रत्यक्ष से घटाभाव का बोध प्रसिद्ध है। कुमारिल के उपरोक्त कथन के 'विज्ञानमन्यवस्तुनि' अंश मे तो अभावज्ञान को भावात्मक माना ही गया है।

प्रागभावादि के स्वरूप का निषेध नही किया जा सकता। अर्थात् वे नि स्वरूप नही हैं। वे वस्तुरूप ही है। घटका प्रागभाव मृत्पिण्ड को छोडकर अन्य कुछ नही है। अभाव भावान्तर रूप है, यह अनुभव सिद्ध बात है।

अभाव-प्रमाण का खण्डन करते हुए आचार्य श्री हेमचन्द्र ने कहा है—भावाभावात्मकत्वाद् वस्तुनो निर्विषयोऽभाव।[3] अर्थात् जब भावाभावात्मक अखड वस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा गृहीत हो जाती है, तो फिर अभावांश के ग्रहण के लिए पृथक् अभाव नामक प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नही रह जाती।

---

[1] स्याद्वाद रत्नाकर, पृ० ३१०

[2] श्लोकवार्तिक, अभाव० श्लोक ११

[3] प्रमाण-मीमांसा, अ० १, आ० १, सू० १२

अभाव-प्रमाण का अन्तर्भाव नैयायिको ने प्रत्यक्ष प्रमाण मे किया है और साख्य-दर्शन मे भी उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही माना गया है। किन्तु उसके उत्पादन का मार्ग तीनो ही दार्शनिको का भिन्न-भिन्न है। साख्य के मतानुसार भूतल के स्वरूप मे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। कभी भूतल घट-युक्त होता है और कभी घट के हट जाने से केवल भूतल शेष रह जाता है। जब केवल भूतल रह जाता है, तब इसी अवस्था को घटाभाववद् भूतल कहते है। अत घटाभाव भी भूतल का स्वरूप विशेष ही है। भूतल का ग्रहण इन्द्रिय से होता है। अत उसका कैवल्यरूप भेद भी जिसे घटाभाववद् भूतल कहा जाता है, प्रत्यक्ष ही है। इसलिए उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे ही हो जाता है। नैयायिक विशेष्य-विशेषणभावरूप सन्निकर्ष के द्वारा अभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष मानते है। वैशेषिक ने अभाव का अनुमान मे अन्तर्भाव दिखाते हुए कहा है—अभावोऽप्यनुमानमेव यथोत्पन्न कार्यकारणसद्भावे लिंगम् एवम नुत्पन्न कार्य कारणासद्भावे लिंगम्।[1] वेदान्तियो के मत मे घटाभावदि अभावो के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध सम्भव नही होने से प्रत्यक्ष द्वारा अभाव का ग्रहण नही हो सकता है। अत वे अभाव के ग्रहण के लिए अभाव या अनुपलब्धि नामक एक पृथक् प्रमाण मानते है। बौद्ध दार्शनिक भी अपने कल्पित अभाव की सिद्धि अनुपलब्धि-हेतुक अनुमान के द्वारा ही मानते है।

"अभाव प्रमाण के पृथक् अस्तित्व का वाद बहुत पुराना जान पडता है, क्योकि न्यायसूत्र[2] और उसके बाद के सभी दार्शनिक ग्रन्थो मे तो उसका खण्डन पाया ही जाता है, पर अधिक प्राचीन माने जाने वाले कणाद-सूत्र मे भी प्रशस्तपाद की व्याख्या[3] के अनुसार उसके खण्डन की सूचना है।

विचार करने से जान पडता है कि यह पृथक् अभाव प्रमाणवाद मूल मे मीमासक परम्परा का ही होना चाहिए[4]। अन्य सभी दार्शनिक परम्परा उस वाद के विरुद्ध है। शायद इस विरोध का मीमासक परम्परा पर भी असर पडा और प्रभाकर उस वाद से सम्मत न रहे (अस्ति चेय प्रसिद्धि मीमासकाना षष्ठ किलेद प्रमाणमिति 'केय तर्हि प्रसिद्धि ? प्रसिद्धिर्वट यक्षप्रसिद्धिवत्[5] यदि तावत् केचिन् मीमासका प्रमाणान्यत्व मन्यन्ते ततश्च वय किं कुर्म[6]। ऐसी स्थिति मे कुमारिल ने उस वाद के समर्थन मे बहुत जोर लगाया, और सभी तत्कालीन विरोधियो का सामना किया।"[7] कुमारिल ने कहा है—

---

[1] प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० १११। वै० सू० ६-२-५

[2] न्यायसूत्र २,२,२

[3] प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० २२५। वै० सू० ६-२-५

[4] शाबर भा० १-१-५

[5] बृहती, पृ० १२०

[6] वही, बृ० पृ० ६ १२३ प्रकरण०, पृ० ११८-१२५

[7] प्रमाणमीमासा का टीप्पण (पडित श्री सुखलाल कृत), पृ० २६ से उद्धृत

जैन मतानुसार अभाव-प्रमाण मीमासा

अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते।
प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्माद्भावात्मकात् पृथक्॥[1]

कुमारिल ने श्लोकवार्तिक मे प्रागभावादि अभाव विचार के प्रसग मे क्षीरे दध्यादि इत्यादि श्लोक द्वारा निम्नोक्त आशय को व्यक्त किया है[2]—दूध मे दही का अभाव प्रागभाव है, दही मे दूध का अभाव प्रध्वसाभाव है, घट मे पटका अभाव अन्योन्याभाव है, और खरविषाण का अभाव अत्यन्ताभाव है। पर अभाव को भावस्वभाव बिना माने ये चारो ही अभाव नही घट सकते। अत अभाव प्रकारान्तर से भावरूप ही है। अभाव स्वतन्त्र पदार्थ नही है, किन्तु वह भी वस्तु का उसी तरह एक धर्म है, जिस प्रकार भावाश। अर्थात् वस्तु भावाभावात्मक है और इसलिए अनुपलब्धि नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है।

---

[1] श्लोक वा०, अ० श्लो० ५५

[2] मी०, श्लो० अभाव० श्लो० २-४

स्याद्वाद की सर्वप्रियता

●

चन्द्रशंकर शुक्ल
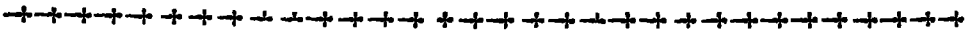
स्याद्वाद' अथवा 'अनेकान्तवाद' जैन दर्शन का शब्द है। एक हाथी को देखने वाले सात अंधो का दृष्टान्त स्याद्वाद के समर्थन के रूप मे प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का सार यह है कि किसी एक पदार्थ का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। वह वर्णन अपनी-अपनी दृष्टि से सच्चा होता है। किन्तु समग्र सत्य की दृष्टि से अधूरा ही रहता है। जिस समय वर्णन की सभी दृष्टियाँ एकत्र की जाती है, उसी समय पदार्थ का यथार्थ वर्णन हो सकता है। तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न अनेक दृष्टिकोणो से वस्तु का दर्शन करना ही सम्यग् दर्शन का वास्तविक मार्ग है और वही 'अनेकान्त' है। एक ही दृष्टि से किया हुआ वर्णन एकान्त अर्थात्, अधूरा होता है, इसलिए वह मिथ्या है। इसी बात को दार्शनिक परिभाषा मे हेमचन्द्र ने यो कहा है—'अनन्त धर्मात्मकमेव तत्वम्" अर्थात् तत्त्व अनन्त धर्मयुक्त है। उन्होने और स्पष्ट करते हुए कहा कि दीपक से लगाकर व्योम पर्यन्त वस्तु का यही स्वभाव है। कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लघन नही कर सकता-"आदीपमाव्योम समस्वभाव स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु" (अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, ५)

उपनिषद् मे एक शिष्य ने गुरु से पूछा—"हे भगवन् ! ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसके ज्ञान से वस्तुमात्र का ज्ञान हो जाए ?"—(मुण्डक १-१-३) ऐसा ही एक प्रश्न पूछने वाले दूसरे विद्यार्थी श्वेतकेतु को उसके पिता आरुणि ने कहा कि मिट्टी के लोदे को जान लेने से मिट्टी की बनी हुई सभी वस्तुओ का ज्ञान हो जाता है—"एकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन मृण्मय विज्ञातं स्यात्"—(छान्दोग्य ६-१-४)। जैन दर्शन ने यह बात तो बताई सो बताई, किन्तु साथ ही मे उससे फलित होने वाले एक उपसिद्धान्त का भी निर्माण किया और स्याद्वाद का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा कि जो एक पदार्थ को सर्वथा जानता

है, वह सभी पदार्थों को सर्वथा जानता है। जो सर्व पदार्थों को सर्वथा जानता है वह एक पदार्थ को भी सर्वथा जानता है।

"एको भाव. सर्वथा येन दृष्टः,
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा.
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥"

अर्थात्—"सभी पदार्थों को उनके सभी रूपान्तरो सहित जानने वाला सर्वज्ञ ही एक पदार्थ को पूर्ण रूप से जान सकता है। सामान्य व्यक्ति एक ही पदार्थ को पूरा नही जान सकता। ऐसी अवस्था मे अमुक व्यक्ति ने अमुक बात मिथ्या कही, ऐसा कहने का हमे कोई अधिकार नही। यह अधिकार तो सर्वज्ञ को ही है। व्यक्ति का पदार्थ-विषयक ज्ञान अधूरा होता है। अत यदि कोई अपने अधूरे ज्ञान को पूर्ण ज्ञान के रूप मे दूसरो के सामने रखने का साहस करता हो और वही सच्चा और दूसरे सब झूठे, ऐसा कहता हो, तो हम उसे इतना अवश्य कह सकते हैं कि "तुम अपनी मर्यादा का उलघन कर रहे हो।" इससे अधिक उसे हम कुछ नही कह सकते। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित "स्याद्वाद" सिद्धान्त से ऐसा फलित होता है।

'स्याद्वाद' का सुव्यवस्थित निरूपण जैन-दर्शन ने किया, यह ठीक हैं, किन्तु यह नियम तो जगत् जितना ही प्राचीन तथा व्यापक है। मल्लिषेण के कथनानुसार स्याद्वाद ससार विजयी और निष्कटक राजा है—"एव विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्रे।" इस सिद्धान्त का उल्लेख ऋग्वेद तक मे मिलता है—"एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।" (ऋग्वेद १,१६४-४६) एक ही सत् तत्व का विप्र अर्थात् विद्वान् विविध प्रकार से वर्णन करते हैं—यह स्याद्वाद का बीजवाक्य है। जैन-दर्शन की दृष्टि के अनुसार एक ही पदार्थ के विपरीत वर्णन अपनी-अपनी दृष्टि से सच्चे है। पारिभाषिक शब्दो मे कहा जाए, तो प्रत्येक पदार्थ मे "विरुद्धधर्माश्रयत्व" है। इस प्रकार का परस्पर विरोधी वर्णन उपनिषद् मे भी एक जगह आता है। आत्मा के विषय मे उपनिपद्कार कहते हैं—"वह चलता है, वह स्थिर है, वह दूर है, वह समीप है, वह सर्वान्तर्गत है, वह सभी से बाहर है।" ···"तेदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः।"—(ईश ५)

सोक्रेटीस को अपने ज्ञान की अपूर्णता का–उसकी अल्पता का पूरा भान था। इस मर्यादा के भान को ही उसने ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता कहा है। वह कहता था कि मैं ज्ञानी हूँ, क्योकि मै जानता हूँ कि मैं अज्ञ हूँ। दूसरे ज्ञानी नही है, क्योकि वे यह नही जानते कि वे अज्ञ है।

प्लेटो ने इस स्याद्वाद अथवा सापेक्षवाद का निरूपण विस्तार से किया। उसने कहा कि हम लोग महासागर के किनारे खेलने वाले उन बच्चो के समान है, जो अपनी सीपियो से सागर के पूरे पानी को नापना चाहते है। हम उन सीपियो से महोदधि का पानी खाली नही कर सकते, फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियो मे जो पानी इकट्ठा करना चाहते है, वह उस अर्णव के पानी का ही एक अश है, इसमे कोई

संशय नही। उसने और भी कहा है कि भौतिक पदार्थ सम्पूर्ण सत् और असत् के बीच अर्धसत् जगत् मे रहते है।[१] जैन की तरह उसने भी जगत् को सदसत् कहते हुए यह समझाया कि न्यायी, वृक्ष, पक्षी अथवा मनुष्य आदि "है" और "नही" है, अर्थात् एक दृष्टि से "है" और अन्य दृष्टि से "नही है", अथवा एक समय मे "है" और दूसरे समय मे "नही है" अथवा न्यून या अधिक है अथवा परिवर्तन या विकास की क्रिया से गुजर रहे हैं। वे सत् और असत्—दोनो के मिश्रणरूप से है अथवा सत् और असत् के बीच मे है।[२] उसकी व्याख्या के अनुसार नित्यवस्तु का आकलन अथवा पूर्ण आकलन "सायन्स" (विद्या) है, और असत् अथवा अविद्यमान वस्तु का आकलन अथवा सम्पूर्ण अज्ञान "नेस्यन्स" (अविद्या) है, किन्तु इन्द्रियगोचर जगत्—सत् और असत् के बीच का है। इसीलिए उसका आकलन भी सायन्स तथा नेस्यन्स के बीच का है।[३] इसके लिए उसने 'ओपिनियन' शब्द का प्रयोग किया है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि "नालेज" का अर्थ—पूर्णज्ञान है और "ओपिनियन" का अर्थ अश-ज्ञान है। अपने "ओपिनियन" की व्याख्या "सम्भावना विषयक विश्वास" (Trust in Probabilties) भी की है—अर्थात् जिस व्यक्ति मे अपने अशज्ञान या अल्पज्ञान का भान जगा हुआ होता है, वह नम्रता से पद-पद पर कहता है कि ऐसा होना ही सम्भव है—मुझे ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए स्याद्वादी पद-पद पर अपने कथन को मर्यादित करता है। स्याद्वादी जिद्दी की तरह यह नही कहता कि मै सच्चा हूँ, और बाकी झूठे है। लुई फिशर ने गाधी जी का एक वाक्य लिखा है—"मै विश्वास से ही समझौता पसन्द व्यक्ति हूँ, क्योकि मैं ही सच्चा हूँ, ऐसा मुझे कभी विश्वास नही होता।"[४]

बौद्ध भी इसी तरह स्याद्वाद की दिशा मे है। क्योकि वे भी मध्यममार्गी है। मध्यमार्ग स्याद्वाद का ही एक रूप है। जैन स्याद्वादी जिस प्रकार से जगत् को सदसत् कहता है, उसी प्रकार से माध्यमिक बौद्ध भी कहता है कि अस्ति और नास्ति—ये दोनो अन्त है, शुद्धि और अशुद्धि—ये दोनो भी अन्त है। इसीलिए ज्ञानी मनुष्य इन दोनो अन्तो का त्याग करके मध्य मे स्थित होता है—

> अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता,
> शुद्धि - अशुद्धीति इमे पि अन्ता ।
> तस्मादुभे अत विवर्जयित्वा,
> मध्ये हि स्थान प्रकरोति पण्डित. ॥
>
> —(समाधिराजसूत्र)

माध्यमिको ने परमार्थ, लोकसवृत्ति और अलोकसवृत्ति—इस प्रकार से सत्य की तीन अवस्थाएँ स्वीकृत की है। यह भी स्याद्वाद है।

---

[१] सी० ई० एन० जोड—फिलासोफी फार आवर टाइम्स पृ० ४१

[२] एरिक-लेअन—प्लेटो, पृ० ६०

[३] वही, पृ० ६४

[४] "I am essentiality a man of compromise because I am never sure I am right."—*Louis Fischer* —The Great Challenge.

स्याद्वाद की सर्वप्रियता

शकर तो तत्व-ज्ञान के क्षेत्र मे स्याद्वाद का अधिक से अधिक प्रयोग करने वाला एक चिन्तक है। उसने भी माध्यमिको की भाति सत्य की तीन अवस्थाएँ मानी और उन्हे नाम दिया—परमार्थ, व्यवहार और प्रतिभास।

वास्तविक रीति से देखा जाए तो शकर ने किसी भी मत का खण्डन नही किया। उसने यह वताया कि प्रत्येक मत किस दृष्टि से और किस अवस्था मे सच्चा है, और उसने अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करके वोलने का अनुरोध किया। दूसरे ढग से कहा जाए, तो शकर ने जो-जो विषय अपने हाथ मे लिए, उन्हे तालाव के ऊँचे-नीचे सोपान वाले घाटो का रूप दिया। इसीलए शकर को सोपानवादी कह सकते है। हिरियन्ना ने अच्छी तरह स्पष्ट किया है, कि शकर के मतानुसार प्रत्येक उपलब्धि अपनी-अपनी सीमा तक तो सत्य है, किन्तु अपनी सीमा का अतिक्रमण करने पर वह उपलब्धि मिथ्या हो जाती है। स्वप्न-दशा की दृष्टि से स्वप्न सत्य होता है, किन्तु जागृति की दृष्टि से वही स्वप्न मिथ्या हो जाता है। उसी प्रकार जागृतावस्था का ज्ञान व्यवहार की दृष्टि से तो सत्य है, किन्तु परमार्थ की दृष्टि से मिथ्या है।[१]

इस 'मिथ्या' शब्द का विशिष्ट अर्थ जो शाकर वेदान्त मे है, वह स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। मिथ्या अर्थात् अविद्यमान नही, सम्पूर्ण सत् अथवा नित्य नही—अर्थात् सत् और असत् के बीच का मिथ्या है। शाकर वेदान्त मे भ्रान्ति (Error) मात्र अशत भ्रान्ति है, क्योकि प्रत्येक भ्रान्ति मे सत्य का यत् किंचित् अश तो रहता ही है।[२] दूसरे शब्दो मे शाकर वेदान्त के अनुसार व्यवहार दशा मे सम्पूर्ण ज्ञान अथवा सम्पूर्ण अज्ञान—इन दोनो मे से एक भी सम्भव नही है, अर्थात् ऐसा जो कुछ ज्ञान है, वह अशज्ञान है। दूसरी ओर उसने यह भी कहा है कि जिसकी उपलब्धि होती हो वह वस्तु असत्, अर्थात् अविद्यमान नही कही जा सकती।[3] इन दोनो वातो को एकत्र करके ब्रेडले ने एक ही वाक्य मे कहा कि–"झूठी से झूठी वात मे भी सत्य रहता है। अल्प से अल्प पदार्थ मे भी सत् तत्व रहता है।"[४] इसलिए शाकर मतानुसार किसी भी व्यक्ति का कथन सर्वथा झूठ नही हो सकता।

इसलिए सभी धर्म और सभी दर्शन जैसा कि गाधी जी ने कहा है, सच तो है, किन्तु अधूरे है, अर्थात् प्रत्येक मे सत्य का न्यूनाधिक अश है। किसी एक मे सम्पूर्ण सत्य नही है। टेनिसन ने कहा है कि "सभी धर्म और दर्शन ईश्वर के ही स्फुलिग है। किन्तु सत्यनारायण स्वय उन सभी मे बद्ध न होकर उनसे दशांगुल ऊँचा ही रहता है।"[५]

---

[१] हिरियन्ना—**Outlines of Indian Philosophy p. 361**

[२] वही, पृ० ३६१

[3] "न चैवोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति।" ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य, २-२-२७

[४] **"There is truth in every idea however false There is reality in every existence however slight Bradley : Appearance and Reality.**

[५] ऋग्वेद १०-९-१

They are but broken Light of thee
And then O Lord ! art more than they [1]

नीति और सदाचार के विषय मे भी यही बात है। एक तामिल लोकोक्ति मे कहा है कि 'मलयतन पापई कडिय तन पुण्य" अर्थात् मलय पर्वत जितने पाप मे भी तृण जितना पुण्य रहता हीहै। पुण्य के आधार या अधिष्ठान के बिना पाप खडा नही रह सकता। बडे से बडे पापी मनुष्य मे भी पुण्य का कुछ अश तो होता ही है। एक सस्कृत वाक्य मे इसी बात को यो कहा है—इस जगत् मे दोष-रहित और गुणरहित वस्तु या मनुष्य कही भी नही है—"दृष्ट किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोष न निर्गुणम्।"

इस निरूपण मे दो बाते फलित होती है—एक तो यह कि हमे सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नही हो सकता। अतएव जब-जब हमे जो-जो सत्य मालूम हो, तदनुसार ही चलना चाहिए। दूसरे के पास भले ही सौ कैण्डिल पावर का देदीप्यमान दीप हो, किन्तु वह हमारे लिए किस काम का ? हमारे पास भले ही कॉंच की बत्ती के अन्दर रखा हुआ तेल का छोटा-सा दीपक ही क्यो न हो, आखिर पथ-प्रदर्शन तो वही करेगा।

ऐसा होने हुए भी हमारे दृष्टिबिन्दु के साथ ही साथ अन्य दृष्टिबिन्दु भी हैं, ऐसा जानने और समझने के बाद हम उन्हे समझने का प्रयास करते हैं अथवा यो कहिए कि उन्हे समझने का प्रयास करना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब हम अपने आपको दूसरे के स्थान पर रखें। इसी बात को अग्रेजी मे यो कहा है—**To Put one self into another shoes** (दूसरे के जूते मे अपना पैर डालना) और **To get under his skin** (उसकी चमडी मे घुस जाना)। यह क्रिया उस समय तक के लिए परकाया प्रवेश रूप है। इसी का नाम **Sympathy** सहानुभूति (सह अनुभूति) है। **Sympathy** शब्द की व्याख्या डॉ० क्विन्सी ने इस प्रकार की है—**Act of reproducing in our minds the feelings of another**—किसी अन्य व्यक्ति की भावनाओ की अपने मन मे पुनरुत्पत्ति की क्रिया। डॉ० क्विन्सी ने कहा कि सहानुभूति अर्थात् दया या अनुमति नही, अपितु सहृदयता अर्थात् दूसरे की भावनाओ मे प्रवेश करके उन्हे समझने की क्रिया। गाँधीजी ने १९३३ मे डा० पट्टाभि से कहा था कि जब मैं किसी मनुष्य को सलाह देता हूँ, तब अपनी दृष्टि से नहीं, किन्तु उसी की दृष्टि से देता हूँ। इसके लिए मैं अपने को उस स्थान मे रखने का प्रयत्न करता हूँ। जहाँ मैं यह क्रिया नही कर सकता, वहाँ सलाह देने से इन्कार कर देता हूँ। **I advise a man not from my stand point but from his, I try to put myself in his shoes when I cannot do so I refuse to advise'** [1]

उनकी इस आदत का परिणाम यह हुआ, कि कितना भी मतभेद रखने वाले के प्रति भी वे सहिष्णु रहते और उसके साथ मित्रता रखने मे समर्थ होते। १९२६ मे साबरमती आश्रम मे गाधी जी ने एक बार मुझे कहा (उन्ही के शब्दो मे) मैं स्वय Puritan हूँ, किन्तु दूसरो के लिए Catholic हूँ। [2]

★

[1] **More conversations of Gandhiji—by** *Chaudra Shanker Shukla* **(Unpublished).**

[2] गाँधी जी ना समागमो—स० चन्द्रशकर शुक्ल

जैन-दर्शन का इतिहास और विकास

पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

'दर्शन' शब्द का सीधा अर्थ देखना या साक्षात्कार करना होता है, पर यदि दर्शनशास्त्र के 'दर्शन' शब्द का अर्थ साक्षात्कार होता, तो दर्शनो मे परस्पर इतना मतभेद नही हो सकता था। प्रत्यक्ष तो मतभेदो का अन्त कर देता है। 'आत्मा नित्य है या अनित्य' इन दो पक्षो मे से यदि किसी एक पक्ष का दर्शन साक्षात्कारात्मक होता, तो आत्मा का नित्यत्व या अनित्यत्व सिद्ध करने के लिए साख्य और बौद्धो को दिमागी कसरत न करनी पडती। अत' दर्शन शास्त्र का दर्शन शब्द 'दृष्टिकोण' के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ जान पडता है। बल्कि सत्य तो यह है, कि पदार्थ के जिस अश का प्रत्यक्ष हो सकता है, उस अंश की चर्चा दर्शनशास्त्रो मे बहुत कम है। जिन आत्मा, परमात्मा, जगत् का पूर्ण रूप परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष नही हो सकता, उन्ही पदार्थो के विचार मे विभिन्न दर्शनो ने अपने-अपने दृष्टिकोण रक्खे है, और उनके समर्थन मे पर्याप्त कल्पनाओ का विकास किया है। विशेष बात तो यह है, कि प्रत्येक दर्शन अपने-अपने आदि पुरुष को उनमे बताए गए अतीन्द्रिय पदार्थो के स्वरूप का द्रष्टा, साक्षात्कर्ता मानता है, और दर्शन शब्द के 'दृष्टिकोण' विचार की दिशा इन अर्थों को गौण करके उसके साक्षात्कार अर्थ की आड मे अपनी सत्यता की छाप लगाने का प्रयत्न करता है। दर्शन शब्द के अर्थ मे यह घोटाला होने से एक ओर जहाँ तर्क-बल से पदार्थ के स्वरूप की सिद्धि करने मे तर्क का सार्वत्रिक प्रयोग किया जाता है, तो 'तर्काप्रतिष्ठानात्' जैसे सूत्रो द्वारा उसकी अप्रतिष्ठा कर दी जाती है और वस्तु के स्वरूप को अनुभव-गम्य या शास्त्रगम्य कह दिया जाता है। दूसरी ओर जब पदार्थ का उस रूप से अनुभव नही होता, तब अधूरे तर्कों का आश्रय लिया जाता है। अत दर्शन-शास्त्र की निर्णयरेखाएँ

उतनी स्पष्ट और सुनिर्णीत नहीं हैं, जितनी विज्ञान की। आचार्य हरिभद्र[1] तो अतीन्द्रिय पदार्थों के तर्कवाद की निरर्थकता ही एक प्रकार से बताते हैं। इस तरह दर्शन-शास्त्र के 'दर्शन' शब्द के अर्थ की पेचीदगी ने भारतवर्ष के विचारकों में जबरदस्त बुद्धिभेद उत्पन्न किया था। एक ही वस्तु को एकवादी 'सत्' मानता था दूसरा 'असत्', तीसरा 'सदसत्' तो चौथा 'अनिर्वचनीय'। इन मतभेदों ने अपना विरोध विचार के क्षेत्र तक ही नहीं फैलाया था, किन्तु वह कार्यक्षेत्र में भी पूरी तरह जम गया था। एक-एक विचार-दृष्टि ने दर्शन का रूप लेकर दूसरी विचारदृष्टि का खण्डन करके अहंकार का दुर्दम मूर्त रूप लेना प्रारम्भ कर दिया था। प्रत्येक दर्शन को जब धार्मिक रूप मिल गया, तो उसके संरक्षण और प्रचार के लिए बहुत से अवांछनीय कार्य करने पड़े। प्रचार के नाम पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुए। शास्त्रार्थों में पराजित विरोधी को कोल्हू में पेल डालना, तप्त तेल के कड़ाहों में डाल देना जैसी कठोर शर्तें लगाई जाने लगीं। राजाश्रय पाकर इन शास्त्रार्थियों ने भारतीय जल्पकथा के इतिहास को भीषण हिंसाकांडों द्वारा रक्तरंजित कर दिया था।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत के आध्यात्मिक क्षितिज पर भगवान् महावीर और बुद्ध दो महान् नक्षत्रों का उदय हुआ। इन्होंने उस समय के धार्मिक वातावरण में सर्वतोमुखी अद्भुत क्रान्ति की। उस समय धर्म के नियम उपनियमों के विषय में वेद और तदुपजीवी स्मृतियों का ही एक मात्र निर्बाध अधिकार था। उसमें पुरुष के अनुभव का कोई स्थान नहीं था, और इसी आधार से धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के मेध, जिनमें अजमेध से नरमेध तक शामिल थे। रक्तवती और चर्मणवती जैसी सार्थक नामवाली नदियों की सृष्टि कर रहे थे। इन दो महापुरुषों ने धर्म के नाम पर होने वाली विडम्बना के विरुद्ध आवाज उठाई और स्पष्ट शब्दों में घोषित किया, धर्म का साक्षात्कार किया जा सकता है, वह अनुभव के आधार पर रचा जा सकता है। 'उन्होंने प्राणिमात्र को सुख सन्तोष और शान्ति देने वाली अहिंसा' की पुनः प्रतिष्ठा की। वीतरागी और तत्त्वज्ञ व्यक्ति अनुभव से धर्म और उसके नियमोपनियम का यथार्थ ज्ञान कर सकता है, इस प्रकार की अनुभव-प्रतिष्ठा के बल से वेद धर्म के नाम पर होने वाले क्रियाकांडों का तात्त्विक और व्यावहारिक विरोध हुआ। अहिंसक वातावरण ने जगत् को शान्ति की साँस लेने का क्षण मिला। महात्मा बुद्ध ने आत्मा आदि अनेक अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में प्रश्न किए जाने पर उन्हें अव्याकृत या अव्याकरणीय बताया। उन्होंने सीधी सादी भाषा में जगत् को दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्यों के स्वरूप का स्पष्ट निरूपण किया और दुःखसन्तप्त जगत् को निराकुलता की ओर ले जाने का अतुल प्रयत्न किया। उन्होंने जगत् को शून्य, क्षणिक, मायोपम जलबुद्बुदोपम बताकर प्राणियों को विज्ञानरूप अर्न्तमुख होने की ओर प्रेरित किया। आगे जाकर इन्हीं क्षणिक, शून्य आदि भावात्मक शब्दों ने क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि वादों का रूप धारण किया।

---

[1] "ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैते तेषां कृतः स्यादर्थनिर्णयः॥

अर्थात् यदि तर्कवाद से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान किया जा सकता होता, तो इतने काल में अनेकों प्रखर तर्कवादी हुए उनके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय कभी का हो गया होता।

भगवान् महावीर अहिंसा के उत्कट साधक थे। वे मातृहृदय बुद्ध की तरह मृदुमार्गी न होकर पितृचेतस्क दीर्घतपस्वी थे। अहिंसा के कायिक, वाचिक तथा मानसिक स्वरूपो को आत्मसात् करना तथा सघ मे उनका ही जीवन्त रूप लाना उनका जीवन-कार्य था। विषय-कषाय ज्वालाओ से झुलसे हुए इस जगत् को सर्वांगीण अहिंसा द्वारा स्थायी शान्ति की ओर ले जाना, उनका जीवन-व्रत था। कायिक अहिंसा के लिए जिस प्रकार व्यक्तिगत सम्यक् प्रवृत्ति, अप्रमत्त आचरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार वाचनिक अहिंसा के लिए वचन की अमुक शैली तथा मानसिक अहिंसा के लिए विचारसहिष्णुता एवं पदार्थ के विराट् स्वरूप के यथार्थ ज्ञान की विशेष आवश्यकता होती है। भगवान् महावीर ने वस्तु के विराट्स्वरूप का अनुभव करके बताया कि अचेतन जगत् का प्रत्येक अणु तथा चेतन जगत् का हर एक आत्मा अनन्त धर्मवाला है। उसके पूर्ण रूप को पूर्णज्ञान ही जान सकता है। उसके अनन्त स्वरूप को हमारा क्षुद्र ज्ञानकण अशतः ही स्पर्श कर सकता है। उस समय प्रचलित सत्, असत् अवक्तव्य, क्रिया, अक्रिया, नियति, यदृच्छा, काल आदि वादो का उन्होने अपने पूर्ण ज्ञान से ठीक स्वरूप देखा और वस्तुस्थिति के आधार से विचार की उस मानस-अहिंसा पोषणी दिशा की ओर ध्यान दिलाया, जिससे वस्तु के यथार्थ ज्ञान के साथ ही साथ चित्त मे समता और विचार-सहिष्णुता जैसे अहिंसा के अकुरो का आरोपण हो सकता था। उन्होने आत्मा, परलोक आदि के विषय मे प्रश्न होने पर मौनावलम्बन नही किया और न उन्हे अव्याकरणीय बताया, किन्तु उन पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का विवेचन किया। उन्होने अपनी पहली देशना मे "उपन्नइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा (स्थानाग—स्थान १०) इस त्रिपदी का उच्चारण किया था। यह मातृकात्रिपदी कही जाती है। इसका तात्पर्य है कि जगत् का प्रत्येक चेतन अचेतन पदार्थ उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और स्थिर भी रहता है। मूल अस्तित्व स्थिर रहता है, अवस्थाओ मे उत्पाद और विनाशरूप परिवर्तन होता रहता है। साख्य और योग परम्परा मे ऐसा परिणामवाद केवल अचेतन प्रकृतितत्व मे माना है। पुरुषतत्त्व इस परिणाम से सर्वथा अछूता कूटस्थ नित्य स्वीकार किया गया है।

भगवान् महावीर के उपदेशो का अतिम सग्रह देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने वि० स० ५१० मे किया था। ये आगम उस समय की लोक-भाषा अर्धमागधी मे रचे हुए है। भगवान् महावीर और बुद्ध ने अपने उपदेश जनता की बोली मे ही दिए थे। आगमो की रचना शैली मे तर्क के स्थल-स्थल पर दर्शन होते है। महावीर के मुख्य गणधर गौतम स्वामी भगवान के हर एक उपदेशो मे तर्क करते है, "से केणट्ठेण भन्ते एवमुच्चइ" अर्थात्—भगवन ऐसा क्यो कहते है ? इस तर्क गर्भ प्रश्न के उत्तर मे महावीर अपने द्वारा उपदिष्ट मार्ग की सत्यता तथा प्रमाणिकता को युक्तियो से सिद्ध करते है।

इस तरह आगमो मे जैनदर्शन के बीज बिखरे हुए है। उनका सस्कृत भाषा मे सर्वप्रथम सग्रह आ० उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे किया। तत्त्वार्थ सूत्र के "प्रमाणनयैरधिगमः"[1] 'उत्पादव्ययध्रौव्य-

---

[1] त० सू० १।६

युक्तंसत्"[1]"अर्पितानर्पितसिद्धि[2]" "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्[3]" इत्यादि सूत्र ऐसे है, जिन पर जैन-दर्शन का महाप्रासाद खडा किया गया है। इनके समय की उत्तरावधि वि० स० ४०० तक हो सकती है। इनका 'तत्वार्थसूत्र' ग्रन्थ जैनमत की दिगम्बर श्वेताम्बर उभय शाखाओ को मान्य है। जैनदर्शन के विकास का कुछ विचार ही (१) उपाय या ज्ञापक तत्त्व (२) उपेय या ज्ञेयतत्त्व इन दो स्थूल भागो मे विभाजित कर सकते हैं।

ज्ञापक-तत्व

(१) आगमिक परपरा मे मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल ये पाच ज्ञान मुख्यतया ज्ञेय के जानने के साधन माने गए है। उत्तराध्ययनसूत्र (२८/२४) मे प्रमाण और नय को भी उपाय तत्व बताया है। आगमिक काल मे ज्ञान की सत्यता और असत्यता बाह्य पदार्थों को ठीक प्रकार से जानने और न जानने के ऊपर निर्भर नही थी, किन्तु जो ज्ञान आत्मसशोधन और अन्तत मोक्षमार्गोपयोगी होते थे, वे सच्चे तथा जो मोक्षमार्गोपयोगी नही थे, वे झूठे कहे जाते थे। लौकिक दृष्टि से शतप्रतिशत सत्यज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी नही है, तो वह झूठा और लौकिक दृष्टि से मिथ्या ज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी है, तो वह सच्चा। इस तरह सत्यता और असत्यता की कसौटी बाह्यपदार्थों के अधीन न होकर उसकी मोक्षमार्गोपयोगिता के अधीन थी। इसीलिए सम्यक्दृष्टि के सभी ज्ञान सच्चे और मिथ्या दृष्टि के सभी ज्ञान झूठे कहलाते थे। वैशेषिक सूत्र मे विद्या और अविद्या शब्द के प्रयोग कुछ इसी भूमिका पर हैं।

इन पाँच ज्ञानो का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विभाजन आगमकाल मे एक विभिन्न आधार पर ही था। वह आधार था—आत्ममात्रसापेक्षत्व। अर्थात् जो ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष था, वह प्रत्यक्ष तथा जिनमे इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित होती थी, वे परोक्ष। लोक मे जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानो को प्रत्यक्ष कहते थे, वे ज्ञान आगमिक परम्परा मे परोक्ष थे। आगमो मे प्रमाण, नय, निक्षेप आदि साधन बताए तो गए है, पर उनकी विभाजन रेखाएँ इस काल मे उतनी स्पष्ट नही थी, जितनी कि आगे जाकर हुई।

कुन्दकुन्द और उमास्वाति के "तत्वार्थसूत्र" और कुन्दकुन्द के "प्रवचनसार" मे "स्थानागसूत्र" (२/१/७१) की तरह ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष विभाग स्पष्ट है। इनके युग मे ज्ञान की सत्यासत्यता का आधार तथा लौकिक प्रत्यक्ष को परोक्ष कहने की परम्परा जैसी-की-तैसी चालू रही। कुन्दकुन्द के "प्रवचनसार" और "पचास्तिकाय" ग्रन्थ तर्कगर्भ आगमिक शैली के सुन्दर नमूने है। इनके युग की भी उत्तरावधि चौथी शताब्दी तक मानी जा सकती है।

---

[1] त० सू० ५।३०

[2] त० सू० ५।३२

[3] त० सू० ५।३८

समन्तभद्र-सिद्धसेन—जब बौद्ध दर्शन मे नागार्जुन, वसुबन्धु, असग तथा बौद्धन्याय के पिता दिङ्नाग का युग आ गया और दर्शनशास्त्रियो मे बौद्धदार्शनिको के प्रबल तर्क-प्रहारो से बैचेनी पैदा हो रही थी, वह एक तरह से दर्शनशास्त्र के तार्किक अश या परपक्ष खडन अश का प्रारम्भकाल था। उस समय जैन परम्परा मे सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र का उदय हुआ। इनके सामने आगमिक परिभाषाओ और शब्दो को तर्कशास्त्र के चौखटे मे बैठाने का महत्वपूर्ण कार्य था। इस युग मे जो धर्मसस्था प्रतिवादियो के आपेक्षो का निराकरण कर स्वदर्शन प्रभावना नही कर सकती थी, उसका अस्तित्व ही खतरे मे था। अत. परचक्र से रक्षा के लिए अपना दुर्ग स्वत सवृत करने के महत्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ इन दो आचार्यों ने किया।

दिङ् नाग ने बौद्धन्याय मे प्रवेश पाने के लिए 'न्यायप्रवेश' ग्रन्थ तथा "प्रमाणसमुच्चय" आदि प्रकरणो की रचना की। सिद्धसेन दिवाकर ने जैनन्याय का अवतार स्वरूप "न्यायावतार" ग्रन्थ तथा "सन्मतितर्क" और 'द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशतिका" की रचना की। इन्होने "न्यायावतार" मे प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद करके परोक्ष का वर्णन अनुमान और आगम इन दो विभागो मे किया। अर्थात् इनके मत से साख्य परम्परा की तरह प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण फलित होते है। यह प्रमाण त्रित्ववाद सिद्धसेन दिवाकर से प्रारम्भ हुआ और यही तक सीमित रहा। उत्तरकालीन आचार्यों ने इसे नही अपनाया। इन्होने न्यायावतार के प्रथम श्लोक मे ही ज्ञान की प्रमाणता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान मे "मेयविनिश्चय" बताया है अर्थात् जो ज्ञान पदार्थो का यथार्थ निश्चय करे, वह प्रमाण, अन्य अप्रमाण।

स्वामी समन्तभद्र ने "आप्तमीमासा" (का० ८७) मे बुद्धि और शब्द की प्रमाणता और अप्रमाणता बाह्यार्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से होती है, यह लिखा है। अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा प्रतिभासितपदार्थ ठीक उसी रूप मे उपलब्ध हो जाए, वह प्रमाण, अन्य अप्रमाण। इस तरह सिद्धसेन और समन्तभद्र के युग मे ज्ञान की सत्यता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान मे मेयविनिश्चय या अर्थप्त्यानाप्ति-अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति—बनी।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि० ७ वी० शताब्दी) ने लौकिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को जिसे अभी तक परोक्ष ही कहा जाता था और इससे एक प्रकार से लोक व्यवहार मे असमजता आती थी, अपने "विशेषावश्यक भाष्य (गा० ६५) मे सव्यवहार प्रत्यक्ष सज्ञा दी, अर्थात् आगमिक परिभाषा के अनुसार यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष ही है, पर लोक-व्यवहार के निर्वाहार्थ इन्द्रियजन्य ज्ञान को सव्यवहार प्रत्यक्ष कह सकते है। इस तरह आगमिक तथा दर्शनान्तरीय एव लौकिक परम्परा का समन्वय किया गया।

भट्टारक अकलकदेव ने (वि० ८ वी), जो सचमुच ही जैन प्रमाण-शास्त्र के सजीव प्रतिष्ठापक कहे जाते है, अपने 'लघीयस्त्रय' (का० ३,१०) मे प्रथमत प्रमाण के दो भेद करके फिर प्रत्यक्ष के स्पष्टत मुख्यप्रत्यक्ष और सव्यवहारप्रत्यक्ष—ये दो भेद किए है। और परोक्ष प्रमाण के भेदो मे स्मृति

प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाच को स्थान दिया। इस तरह प्रमाण-शास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा यहाँ से प्रारम्भ होती है।

अनुयोगद्वार, स्थानाग, और भगवतीसूत्र मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और आगम इन चार प्रमाणो का निर्देश है। यह परम्परा न्यायसूत्र की है। पर तत्त्वार्थधिगमभाष्य मे इस परम्परा को 'नयवादान्तरेण' कह कर जैन परम्परा के रूप मे स्पष्ट स्वीकार नही किया है, और न उत्तराकालीन किसी जैनतर्कग्रन्थ मे इसका कुछ भी विवरण या निर्देश ही है। समस्त उत्तराकालीन जैनदार्शनिको ने अकलकदेव द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण पद्धति को पल्लवित और पुष्पित करके जैनन्यायाराम को सुवासित किया है।

उपायतत्व

उपायतत्व मे महत्वपूर्ण स्थान नय तथा स्याद्वाद का है। नय एक जैन पारिभाषिक शब्द है, जो सापेक्ष दृष्टि का नामान्तर है। स्याद्वाद, भाषा का वह निर्दोष प्रकार है, जिसके द्वारा वस्तु के परिपूर्ण या यथार्थरूप के अधिक से अधिक समीप पहुँचा जा सकता है। मैं पहले लिख आया हूँ कि भगवान् महावीर ने वस्तु के अनन्त धर्मात्मक विराट्रूप के दर्शन किए और उन्हे उस समय के प्रचलित सभी सद्वाद और असद्वाद या अनिर्वचनीय आदि वाद वस्तु के एक-एक अश को स्पर्श करने वाले प्रतीत हुए। यहाँ तक तो ठीक था, पर जब महावीर ने उन वादियो को अपने-अपने वाद की सत्यता को चौराहो पर उद्घोषणा कर दूसरो का प्रतिक्षेप करते देखा, तो उनका तत्त्वद्रष्टा अहिसक हृदय इस अज्ञान एव हिंसा से अनुकपित हुआ। उन्होने उन सब के लिए वस्तु के विराटस्वरूप का निरूपण किया। कहा देखो, वस्तु के अनन्तधर्म है, लोगो का ज्ञान स्वल्प है, वह वस्तु के अश को स्पर्श करता है, अपने दृष्टिकोण को ही सत्य मान कर या अपने ज्ञान पल्लव मे वस्तु के अनन्त रूप को समाया समझकर दूसरे वादी के दृष्टिकोण का प्रतिक्षेप करना मिथ्यात्व है। उसका भी दृष्टिकोण वस्तु के दूसरे अश को स्पर्श करता है। अत अपनी अपनी दृष्टि मे पूर्णसत्य का मिथ्या अहकार करके दूसरो के प्रति असत्यता का आरोप करके उनसे हिंसक व्यवहार करना, तत्वज्ञो का कार्य नही है। उसके स्वरूप का वर्णन करने वाली प्रत्येक दृष्टि नय है, वह अपने मे उतनी ही सत्य है, जितनी उसकी विरुद्ध दृष्टि। शर्त यह है कि कोई भी दृष्टि दूसरी दृष्टि का प्रतिक्षेप न करे, उसके प्रति सापेक्ष भाव रक्खे। यह नयदृष्टि विचार का निर्दोष प्रकार है, तथा स्याद्वाद भाषा की समता का प्रतीक है। स्याद्वाद मे "स्यात्" शब्द एक "निश्चित दृष्टिकोण" का प्रतिपादन करता है, अर्थात् अमुक निश्चित दृष्टिकोण से वस्तु सत् है, अमुक निश्चित दृष्टिकोण से असत्। स्यात् को शायद का पर्यायवाची कहकर उसे ढुलमुल यकीनी की कक्षा मे डालना, उसके ठीक स्वरूप के अज्ञान का फल है। मालूम होता है, शकराचार्य जी ने भी स्यात् और शायद को पर्यायवाची समझकर उसमे सशय दूषण देने का विफल प्रयास किया है। भगवती-सूत्र मे हम "सिया अत्थि, सिया णत्थि, सिया अवतव्व"—इन तीन भगो का निर्देश पाते है। अर्थात् वस्तु एक दृष्टिकोण से सत् है, दूसरे दृष्टिकोण से असत् तथा तीसरे दृष्टिकोण से अवक्तव्य। वस्तुतः मनुष्य एक विराट अखड अनन्त वस्तु को पहले

सद्रूप से वर्णन करने का प्रयत्न करता है, और देखता है कि उसकी दूसरी बाजू अभी वर्णन मे नही आई, तब उसका असद्रूप से विवेचन करता है। पर जब वह देखता है कि सद् और असत् जैसे अनन्त विरोधी धर्मो की लहरे वस्तु के असीम समुद्र मे लहरा रही है, जिन्हे एक साथ वर्णन करना वचनो की शक्ति के बाहर है, तो वह कह उठता है "यतो वाचो निवर्तन्ते" । इस तरह वस्तु का परिपूर्ण रूप अवक्तव्य है, उसका एक-एक रूप से आशिक वर्णन होता है। जैन-दर्शन मे अवक्तव्य को भी एक दृष्टि माना है, जिस प्रकार वक्तव्य को।

आचार्य कुन्दकुन्द के पचास्तिकाय मे सर्व प्रथम सत्, असत् और अवक्तव्य के सयोग के बनने वाले सात भगो का उल्लेख है। इसे सप्तभगी-नय कहते है। स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमासा मे इसी सप्तभगी का अनेक दृष्टियो से विवेचन है। उसमे सत्, असत् एक, अनेक, नित्य, अनित्य, द्वैत, अद्वैत, देव और पुरुपार्थ आदि अनेक दृष्टिकोणो का जैन-दृष्टि से सुन्दर समन्वय किया है। सिद्धसेन के सन्मतितर्क मे अनेकान्त और नय का विशद वर्णन है। इन युग प्रधान आचार्यो ने उपलब्ध समस्त जैनेतर दृष्टियो का नय या स्याद्वाद दृष्टि से वस्तुस्पर्शी समन्वय किया। देव और पुरुपार्थ का जो विवाद उस समय दृढमूल था, उसके विपय मे स्वामी समन्तभद्र ने आप्त-मीमासा (७ वा परिच्छेद) मे हृदयग्राही सापेक्ष विवेचन किया है। उन्होने लिखा है कि कोई भी कार्य न केवल देव से होता है और न केवल पुरुपार्थ से। दोनो रस्सियो से दधि-मथन होता है। हाँ, जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के अभाव मे फल-प्राप्ति हो, वहाँ देव को प्रधान मानना चाहिए तथा पुरुपार्थ को गौण तथा जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से कार्यसिद्ध हो, वहा पुरपार्थ प्रधान तथा देव गौण। किसी एक का निराकरण नही किया जा सकता, इन मे गौण-मुख्य भाव है। इस तरह सिद्धसेन और समन्तभद्र के युग मे नय, सप्तभगी, अनेकान्त आदि जैनदर्शन के आधारभूत पदार्थो का सागोपाग विवेचन हुआ। इन्होने उस समय के प्रचलित सभी वादो का नय-दृष्टि से जैन दर्शन मे समन्वय किया। और सभी वादियो मे परस्पर विचार सहिष्णुता और समता लाने का प्रयत्न किया। इसी युग मे न्यायभाष्य, योगभाष्य, शावरभाष्य आदि भाष्य रचे गए है। यह युग भारतीय तर्क शास्त्र के विकास का प्रारम्भयुग था। इसमे सभी दर्शन अपनी अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। अपने तर्कशास्त्र रूपी शस्त्र पैना कर रहे थे। सबसे पहला आक्रमण बौद्धो की ओर से हुआ, जिसमे मुख्य सेनापति का कार्य आचार्य दिडनाग ने किया। इसी समय वैदिक दार्शनिक परम्परा मे न्यायवार्तिककार उद्योतकर, मीमासा श्लोकवार्तिककार कुमारिलभट्ट आदि हुए। इन्होने वैदिकदर्शन के सरक्षण मे पर्याप्त प्रयत्न किया। इसके बाद (वि० ६वी सदी) पूज्यवाद ने सर्वार्थसिद्धि तथा मल्लवादी ने नय-चक्र नामक महान् आकर ग्रन्थ बनाए। नय-चक्र मे नय के विविध भगो द्वारा जैनेतर दृष्टियो के समन्वय का सफल प्रयत्न हुआ। यह ग्रथ आज मूलरूप मे उपलब्ध नही है। इसकी सिहगणि क्षमाश्रमण की टीका मिलती है। इसी युग मे सुमति, श्रीदत्त, पात्रस्वामी आदि आचार्यो ने जैन न्याय के विविध अगो मे स्वतन्त्र तथा व्याख्यारूप ग्रन्थो का निर्माण किया।

वि० ७ वी सदी दर्शनशास्त्र के इतिहास मे विप्लव का युग था। इस समय नालन्दा विश्व-विद्यालय के आचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति का सपरिवार उदय हुआ। शास्त्रार्थों की धूम थी।

धर्मकीर्ति तथा उनकी शिष्यमडली ने प्रवल तर्कवल से वैदिक दर्शनो पर प्रचड प्रहार किए। जैन दर्शन पर भी आक्षेप किए जाते थे। यद्यपि अनेक मुद्दो मे जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन समानतन्त्रीय थे। परन्तु क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्धवादो का दृष्टिकोण ऐकान्तिक होने के कारण जैनदर्शनो मे इनका उसी प्रवलता के साथ विशद खडन किया गया है। धर्मकीर्ति की मंडली के आक्षेपो के उद्धारार्थ इसी समय प्रभाकर व्योमशिव, मडनमिश्र, शकराचार्य, भट्टजयन्त, वाचस्पति मिश्र, शालिकनाथ आदि वैदिक दार्शनिको का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होने वैदिक दर्शनो के संरक्षणार्थ अच्छे प्रयत्न किए। इसी सघर्ष युग मे जैन न्याय के प्रस्थापक दो महान आचार्य हुए। वे हैं—अकलक और हरिभद्र। अकलक और हरिभद्र के बौद्धो से जम कर शास्त्रार्थ हुए। इनके ग्रन्थो का बहुभाग बौद्ध दर्शन के खंडन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक का खडन अकलंक के सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, अष्टशती आदि प्रकरणो मे पाया जाता है। हरिभद्र की 'अनेकान्त-जय-पताका' और 'अनेकान्त-वाद-प्रवेश इसके लिए खास द्रष्टव्य हैं। एक वात विशेष ध्यान देने योग्य है, कि जहाँ वैदिक दर्शनो के ग्रन्थो मे इतर मतो का मात्र खडन ही खडन है, वहाँ जैन दर्शन के ग्रन्थो मे इतर मतो नय और स्याद्वाद दृष्टि से विशिष्ट समन्वय भी किया गया है। इस तरह मानस-अहिंसा की उस उदारदृष्टि का परिपोषण किया गया है।

समन्तभद्र की 'आप्त-मीमासा' हरिभद्र के 'शास्त्र-वार्तासमुच्चय' 'षड्दर्शन-समुच्चय और धर्म सग्रहणी आदि इसके विशिष्ट उदाहरण है। अकलकदेव ने अपने लघीयस्त्रय आदि प्रकरणो मे जैन न्याय की रूप रेखाएँ वाँधकर उसकी हदवन्दी करने का स्थिर प्रयत्न किया है। यहाँ यह लिखना अप्रासगिक न होगा, कि चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, एव मीमासक आदि मतो के खडन मे धर्मकीर्ति ने जो अथक श्रम करके एक मार्ग दर्शन किया, उससे इन आचार्यो का उक्त मतो के खडन का कार्य वहुत कुछ सरल बन गया था।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित, अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिक-टीका, प्रमाण-वार्तिकालकार, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्तिटीका, तत्त्व सग्रह, वाद-न्यायटीका, हेतुविन्दु-टीका आदि ग्रन्थ रच चुके, और इनमे कुमारिल्ल, ईश्वरसेन, मडनमिश्र आदि के मतो का खडन कर चुके और वाचस्पति मिश्र, जयन्त आदि उस खण्डोद्धार के कार्य मे व्यस्त थे, इसी युग मे जैन दार्शनिक अनन्तवीर्य ने भी बौद्ध दर्शन के खडन मे अपनी सिद्धि-विनिश्चय टीका बनाई। विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक अष्ट सहस्री, आप्त-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा जैसे जैन न्याय के मूर्धन्य ग्रन्थ बना कर, अपने नाम को सार्थक किया। इसी समय उदयनाचार्य, भट्ट श्रीधर आदि वैदिक दार्शनिको ने वाचस्पति मिश्र के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया। यह युग विक्रम की ८ वी और नवी सदी का युग था। इसी समय माणिक्यनन्दि आचार्य ने परीक्षामुख सूत्रो मे अकलकन्याय का सग्रह किया।

वि० १० वी सदी सिद्धर्षिसूरि ने न्यायावतार पर टीका रची।

वि० ११-१२ वी सदी का युग जैनदर्शन का एक प्रकार से मध्याह्नोत्तर युग समझना चाहिए। इसमे वादिराज सूरि ने न्यायविनिश्चयविवरण, प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे

बृहत्काय टीका ग्रन्थो का निर्माण किया। शान्तिसूरि ने जैनतर्कवार्तिक, अभयदेव ने सन्मतितर्क टीका, जिनेश्वरसूरि का प्रमाण-लक्षण, हेमचन्द्रसूरि की प्रमाण-मीमासा, वादिदेवसूरि का प्रमाण नयतत्त्वालोकालकार और स्याद्वादरत्नाकार, और मुनिचन्द्रसूरि का अनेकान्तजयपताका-टिप्पण आदि ग्रन्थ इसी युग की कृतियाँ है। तेरहवी शताब्दी मे मलयगिरि आचार्य एक समर्थ टीकाकार हुए। इनके टीका ग्रन्थो मे दार्शनिकता की अद्‌भुत छाप है। इसी तरह प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य, जिनेश्वरसूरि, रत्नप्रभसूरि, गुणरत्नसूरि, मल्लिषेणसूरि आदि आचार्यो ने प्रचुर ग्रथराशि का निर्माण कर भारतीय भण्डार मे अपनी पूजी जमा की है। धर्मभूषणयति ने न्यायदीपिका रची।

अन्त मे १८ वी सदी के उपाध्याय यशोविजय जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होने नव्यन्याय की परिष्कृत शैली मे अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया, और उस युग तक के विचारो का समन्वय तथा जैन परिभाषाओ को नव्य ढग से परिष्कृत करने का आद्य प्रयत्न किया है। विमलदास की "सप्तभगिनीतरगिणी" सप्तभगी का प्रतिपादन करने वाली अकेली और अनूठी रचना है। इस प्रकार जैनतार्किको के जैन-दर्शन ने विकास मे जो भगीरथ प्रयत्न किए है, उनकी एक झलक दिखाने का मैंने यह एक लघु प्रयत्न किया है।

ज्ञेय-तत्त्व

जैन दर्शन मे प्रमेयतत्त्व छह है—

१ जीव
२ पुद्‌गल
३ धर्म
४ अधर्म
५ आकाश
६ काल

जीव अनन्त है। ज्ञान, दर्शन और सुख आदि उसके स्वभावभूत गुण है, यह मध्यम परिमाण वाला या शरीर परिमाण वाला है, कर्त्ता है एव भोक्ता है। रूप, रस, गध तथा स्पर्श वाले सभी पदार्थ पुद्‌गल हैं। ये पुद्‌गल अणुरूप है, अनन्त हैं। जीव और पुद्‌गल की गति का माध्यम धर्मद्रव्य तथा स्थिति का माध्यम अधर्मद्रव्य होता है। ये लोकपरिमाण हैं, एक-एक द्रव्य है, अमूर्तिक है। आकाश अनन्त है, अमूर्तिक है। काल अणुरूप असख्यात द्रव्य है। श्वेताम्बर परम्परा मे कुछ आचार्य कालद्रव्य को नही मानते। इस तरह प्रमेय तत्त्वो का प्रारम्भ से ही एक जैसा निरुपण सभी दार्शनिक ग्रन्थो मे है। जैन लोग महावीर की आद्य उपदेश वाणी "उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।" के अनुसार प्रत्येक द्रव्य मे पर्याय-अवस्था की दृष्टि से उत्पादन और व्यय तथा द्रव्यमूल अस्तित्व की दृष्टि से ध्रौव्य स्वीकार करते हैं। जो भी सत् है, वह परिवर्तनशील है, परिवर्तनशील होने पर भी वह अपनी मौलिकता नही खोता, अपना द्रव्यत्व कायम रखता है। जैसे एक पुद्‌गल मिट्टी के पिंड की

हालत से घडे की आकृति मे आया, घडा फूटकर खपरियाँ बनी, खपरिया चूर्ण होकर खेत मे जा पडी ? उसके कुछ परमाणु गेहूँ बने। इस तरह अवस्थाओ मे परिवर्तन होते हुए भी मूल अणुत्व का नाश नही हुआ। यही परिणाम जैनियो के प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है। गीता का यह सिद्धान्त—नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" अर्थात असत् का उत्पाद नही और सत् का सर्वथा अभाव नही होता। इसी परिणामवाद को सूचित करता है। जगत् मे कोई नया द्रव्य उत्पन्न नही होता। जितने द्रव्य है, उनमे से एक अणु का भी सर्वथा विनाश नही होता। उनकी अवस्थाओ मे परिवर्तन होते रहते है, एक दूसरे के सयोग से विचित्र प्रकार के भौतिक-अभौतिक परिवर्तन हमारी दृष्टि से छिपे नही हैं। इस तरह उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्यवाद या परिणामवाद जैनतार्किको को प्रारम्भ से ही इष्ट रहा है, और इसी का द्रव्यपर्यायवाद, गुणपर्यायवाद आदि नामो से प्रत्येक ग्रन्थ मे उत्कट समर्थन है। नय-दृष्टि मे पर्यायदृष्टि से बौद्धो के क्षणिकवाद का तथा द्रव्य दृष्टि से साख्यो के कूटस्थनित्यवाद तक का समन्वय जैनाचार्यो ने किया है। यहा तक कि चार्वाक मत का भी सग्रह किया गया है। साराश यह है, कि जैनाचार्यो ने यद्यपि परपक्ष का खडन किया है, फिर भी उनमे समन्वय की अहिंसा और उदारता बराबर जागृत रही, जो भारत के अन्य दार्शनिको मे कम देखी जाती है। इसी समन्वय-शालिता के कारण उन्होंने नयदृष्टि या स्याद्वाद के द्वारा प्रत्येक मत का समन्वय कर, अपनी विशाल-दृष्टि तथा तटस्थता का परिचय दिया है।

मूलत जैन परम्परा आचार प्रधान है। इसमे तत्वज्ञान का उपयोग भी आचार शुद्धि के लिए ही है। यही कारण है कि तर्कशास्त्र जैसे शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यो ने समन्वय और समता के स्थापन मे किया। इसका अनेकान्तवाद या स्याद्वाद, मति-सहिष्णुता की ही प्रेरणा देता है। दार्शनिक कटाकटी के युग मे भी इस प्रकार की समता उदारता तथा एकता के लिए प्रयोजन समन्वय-दृष्टि का कायम रखना अहिंसा के पुजारियो का ही कार्य रहा है। इस स्याद्वाद के स्वरूप-निरूपण तथा प्रयोग करने के प्रकारो का विवेचन करने के लिए भी जैनाचार्यो ने अनेक ग्रन्थ लिखे है। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करने मे जैनदर्शन का अद्भुत और स्थायी प्रयत्न रहा है। इस जैसी उदार-सूक्तियाँ अन्यत्र कम मिलती है। यथा—

"भवबीजाङकुर-जनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।"

अर्थात् जिसके ससार को पुष्ट करने वाले रागादि दोष विनष्ट हो गए है, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन, उसे नमस्कार हो।

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥"

अर्थात् मुझे महावीर से राग नही है और न कपिल आदि से द्वेष है। जिसके भी युक्ति-युक्त वचन हो, उनको ग्रहण करना चाहिए। ★

निक्षेप सिद्धान्त : संज्ञा शब्दों के विविध अर्थ

पण्डित चैनसुखदास न्याय-तीर्थ
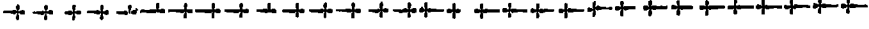
मनुष्य को अपने विचार दूसरो के प्रति प्रकट करने के लिए भाषा का प्रयोग करना पडता है। यह उसके जीवन की एक अत्यन्त आवश्यक प्रवृत्ति है, उसके बिना उसके जीवन का व्यावहारिक विकास भी रुक जाता है। इतना ही नही, जगत का कोई भी व्यवहार, भाषा विना नही चल सकता और न ठीक रूप से मनुष्य दूसरो के काम का ही सिद्ध हो सकता है।

ससार मे हजारो भाषाएँ अथवा बोलियाँ है और वे शब्दो से बनती है। भाषा अवयवी है और शब्द उसके अवयव। अवयवी के ज्ञान के लिए अवयव का ज्ञान बहुत जरूरी है। अत भाषा का ठीक प्रयोग करने के लिए शब्दो का यथावत् प्रयोग आवश्यक है। शब्दो का समुचित प्रयोग भी एक सिद्धान्त है और उस सिद्धान्त को जैन दर्शन मे निक्षेपवाद या निक्षेपनत्व कहा गया है। निक्षेप का दूसरा नाम न्यास भी है। तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने निक्षेप के स्थान मे न्यास शब्द का ही प्रयोग किया है।[1]

शब्दो का अर्थो मे और अर्थो का शब्दो मे आरोप करना, न्यास अथवा निक्षेप कहलाता है।

शब्दो के भेद

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के भेद से शब्द चार प्रकार के होते है। घट, पट, मनुष्य, देव, गो, आदि नाम शब्द है। गच्छति, तिष्ठति इत्यादि आख्यात अथवा क्रिया शब्द है। प्र, परा, उप, सम्,

[1] नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यास सू० ५ प्रथम अध्याय

आदि उपसर्ग शब्द हैं और एव आदि निपात कहलाते है। इन चार प्रकार के शब्दो मे निक्षेप का सबध केवल नाम शब्दो से है, अन्य तीन प्रकार के शब्दो से नही। क्योकि क्रिया शब्द, उपसर्ग शब्द और निपात शब्द वस्तु वाचक नही होते। वस्तु वाचक तो केवल नाम शब्द अर्थात् सज्ञा शब्द ही होते हैं। सर्वार्थ सिद्धिकार श्री पूज्यपाद आचार्य ने कहा है कि निक्षेप विधि से नाम शब्द के अर्थो का विस्तार किया जाता है।[1] निक्षेप हमे यह वतलाता है कि प्रत्येक नाम शब्द के कम से कम चार अथवा आठ या छह सात अर्थ अवश्य होगे। गो, हरि एव राजन् आदि शब्दो के कोश से जो अनेक अर्थ होते है, उन अर्थों से यहाँ कोई प्रयोजन नही है। यहाँ तो कोश से जिस शब्द का केवल एक ही अर्थ होता है, उसके भी निक्षेप के अनुसार अनेक अर्थ जरूर होगे। निक्षेप सिद्धान्त अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण कर प्रस्तुत अर्थ के प्रयोग की दिशा वतलाता है। जैसे किसी ने कहा 'राजा तो मेरे हृदय मे है' यहाँ राजा शब्द का अर्थ राजा का ज्ञान है, क्योकि शरीरधारी राजा का किसी के हृदय मे रहना असम्भव है। उक्त वाक्य मे 'राजा का ज्ञान' यह अर्थ प्रस्तुत है, न कि स्वय राजा। इसलिए इस अप्रस्तुत अर्थ को यहाँ कभी नही लेना चाहिए। निक्षेप सिद्धान्त की यही उपयोगिता है कि वह अप्रासगिक अर्थ का निराकरण कर प्रासगिक अर्थ का निरूपण करता है। निक्षेप तत्त्व का उपयोग केवल शास्त्रो मे ही नही, अपितु व्यावहारिक क्षेत्र मे ही वरावर होता है। यदि निक्षेपानुसार शब्द प्रयोग न हो, तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है। विभिन्न निक्षेपो के स्वरूप के निरूपण के अवसर पर यह बातें आगे स्वय ही स्पष्ट हो जाएँगी।

निक्षेप के भेद और नाम-निक्षेप

निक्षेप के चार भेद हैं—नाम-निक्षेप, स्थापना-निक्षेप, द्रव्य-निक्षेप और भाव-निक्षेप। लौकिक व्यवहार चलाने के लिए किसी वस्तु का कोई नाम रख देना नाम निक्षेप कहलाता है। जैसे किसी व्यक्ति का नाम महावीर रख देना। यहाँ महावीर शब्द का जो अर्थ है, वह विल्कुल अपेक्षित नही है। मनुष्य अपनी इच्छानुसार किसी का कोई भी नाम रख सकता है। नाम निक्षेप मे नामानुसार जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया की आवश्यकता नही है। क्योकि यह नाम तो केवल व्यवहार चलाने के लिए ही रखा जाता है, अन्यथा महावीर केवल उसी का नाम रखा जाता है, जो वास्तव मे वहुत वडा वहादुर है। किन्तु ऐसा तो कभी नही होता है।

किन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि कोई वीरता गुण की अपेक्षा से किसी का महावीर नाम रखे, तो क्या वह नाम निक्षेप न कहलावेगा? इसका उत्तर यह है कि वह भाव निक्षेप कहलावेगा, नाम निक्षेप नही। यदि ऐसा न माना जावे, तो 'महावीर तो वास्तव मे महावीर है' इस वाक्य मे दोनो महावीर शब्दो के भिन्न-भिन्न अर्थ कैसे किए जा सकेंगे। स्पष्ट है कि उक्त वाक्य मे पहला महावीर शब्द नाम-निक्षेप और दूसरा भाव-निक्षेप की अपेक्षा से है।

---

[1] स किमर्थं ? अप्रकृत-निराकरणाय प्रकृत-निरूपणाय च।

—सर्वार्थ-सिद्धि

स्थापना-निक्षेप

किसी वस्तु की किसी अन्य वस्तु मे यह कल्पना करना कि 'यह वह है' स्थापना निक्षेप कहलाता है। इसके दो भेद है–एक तदाकार-स्थापना दूसरी अतदाकार-स्थापना। मूर्ति अथवा चित्र आदि मे किसी की स्थापना करना तदाकार और मूर्ति रहित शतरज के मौहर आदि मे हाथी, घोडे, वजीर, वादशाह आदि को कल्पना अतदाकार स्थापना है। मूर्तिमान अथवा मूर्तिरहित वस्तु मे यह राजा है, इस प्रकार की कल्पना स्थापना राजा कहलाता है। इसका मतलव यह हुआ कि जैसे राजा शब्द का एक वाच्य वह है, जिसका नाम राजा है, उसी तरह राजा शब्द का अर्थ वह प्रतिमा भी है, जिसमे राजा की स्थापना की गई है।

प्रश्न—नाम-निक्षेप मे भी किसी का कोई नाम रखा जाता है और स्थापना-निक्षेप मे भी मूर्ति आदि का राजा नाम रखा जाता है, तो फिर इन दोनो मे क्या भेद रह जाता है, जिससे इसकी भिन्नता जानी जा सके।

उत्तर—नाम विशेप मे आदर या अनादर आदि की वुद्धि नही होती, जवकि स्थापना-निक्षेप मे यह अवश्य होती है। महावीर नाम वाले व्यक्ति का भगवान् महावीर की तरह आदर आदि नही होता, किन्तु महावीर की प्रतिमा के तो महावीर की तरह ही आदर, भक्ति, पूजा उपासना आदि किए जाते हैं।

प्रश्न—कई लोग किसी की मूर्ति मे भी आदर अनादर नही करते, इसलिए यह उत्तर सर्वाश मे ठीक नही है।

उत्तर—जो मूर्ति आदि मे स्थापना ही नही करते, उनके लिए आदर अनादर आदि का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। किन्तु जो लोग स्थापना का आरोप करते है, वे उन मूर्ति आदि मे आदर अनादर आदि भी करते ही है।

प्रश्न—कुछ लोग नाम मे भी आदर अनादर बुद्धि करते है, तव यह कैसे कहा जा सकता है कि इस प्रकार की बुद्धि केवल स्थापना-निक्षेप मे ही होती हे।

उत्तर—यदि कोई किसी के देवता आदि के नाम वाले व्यक्ति अत्यन्त भक्ति के वश से उसी प्रकार आदर आदि करते हो, तो वहाॅ स्थापना-निक्षेप ही कहलावेगा, नाम निक्षेप नही।

यहाॅ पर शका उपस्थित होती है कि किसी मे भी स्थापना किसी नाम वाले पदार्थ की ही की जाती है और नाम का व्यवहार तो चारो ही निक्षेपो से होता है। इसलिए किस नाम वाले पदार्थ की स्थापना की जाती है? इसका उत्तर यह है कि चारो ही नामो मे स्थापना की जा सकती है। महावीर आदि पूज्य पुरुपो की जो मूर्ति वगैरह मे स्थापना की जाती है, वह नाम निक्षेप से रखे गए नाम वाले पदार्थो की स्थापना है। तथा जो महावीर आदि की प्रतिमा के चित्र मे महावीर आदि की स्थापना

की जाती है, वह स्थापना-निक्षेप से निक्षिप्त नाम वाले पदार्थों की स्थापना है। द्रव्य-निक्षेप से युवराज भी राजा कहा जाता है। अत युवराज की मूर्ति आदि मे राजा की स्थापना द्रव्य-निक्षेप से रखे हुए नाम वाले पदार्थ की स्थापना कहलाती है और भाव-निक्षेप मे जो राजा है, उसकी स्थापना भाव-निक्षेप से निक्षिप्त नाम वाले पदार्थ की स्थापना है।

स्थापना नित्य भी होती है और अनित्य भी। नन्दीश्वर आदि द्वीपो मे स्थित जो नित्य चैत्य है, उनकी स्थापना नित्य और अनित्य प्रतिमा एव चित्र आदि की स्थापना अनित्य कहलाती है।

द्रव्य-निक्षेप

होने वाली पर्याय वाला पदार्थ द्रव्य-निक्षेप कहलाता है। उसके दो भेद हैं—एक आगम द्रव्य-निक्षेप और दूसरा नो आगम द्रव्य-निक्षेप। तद्विपयक शास्त्र का जानने वाला अनुपयुक्त आत्मा आगम द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। जैसे राजा के ज्ञान वाला अनुपयुक्त (उस समय राजा के ज्ञान के उपयोग रहित) आत्मा आगम द्रव्य राजा है। यहाँ विषयी अर्थात् ज्ञान मे विषय अर्थात ज्ञेय पदार्थ का उपचार किया जाता है। इसलिए विपय-विषयी-भाव सबध से राजा का ज्ञान ही राजा कहलाता है। जैसा कि पहले हुआ है। जब कोई कहता है कि राजा तो मेरे हृदय मे है, तव उसका अर्थ होता है कि राजा का ज्ञान मेरे हृयय मे है। क्योकि लवे चौडे राजा का कभी किसी के हृदय मे रहना सभव नही है।

प्रश्न—यदि यहाँ ज्ञान मे ज्ञेय का उपचार किया गया है, तो ज्ञान मे निक्षेप होना चाहिए, न कि ज्ञाता मे। इसलिए ज्ञाता को निक्षेप का आधार मानना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

उत्तर—यह प्रश्न बिल्कुल उचित है और ज्ञान मे ज्ञेय के उपचार से उसका ज्ञान ही वह वस्तु कहलाती है, तो भी ज्ञान ज्ञाता के बिना नही रहता। अत ज्ञाता आत्मा ही आगम निक्षेप कहा जाता है।

दूसरे नो आगम निक्षेप के तीन भेद है—पहला ज्ञान-शरीर दूसरा भावि और तीसरा तद्व्यतिरिक्त। पहले भेद से राजा के जानने वाले का शरीर राजा कहलाता है। ज्ञाता और शरीर का एक क्षेत्रावगाह सबध होने से ज्ञाता का त्रिकाल गोचर शरीर ही इसका विषय है।

कार्य का उपादान कारण ही भावि नो आगम द्रव्य कहलाता है। इस भेद के अनुसार युवराज भी राजा कहा जा सकता है। क्योकि वह भावी राजा का उपादान कारण है द्रव्य-निक्षेप के इस भेद मे उपादानोपादेय भाव की प्रयोजकता है।

पदार्थ के निमित्त कारण उसके आधार आदि अन्य सभी वस्तुएँ तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य कहलाती है। जैसे राजा के शरीर आदि। द्रव्य-निक्षेप के इस भेद के अनुसार न केवल राजा का शरीर, अपितु राजा की माता, राजा का पिता एव उसके अन्यान्य परिवार आदि सभी राजा कहला सकते है। यहाँ यह ध्यान रखने की जरूरत है कि सभी शुद्ध पदार्थो मे तद्व्यरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप

भी नही होता। जैसे कि मुक्तात्मओ के। इसी प्रकार नित्य पदार्थो मे नो आगमभावि द्रव्य-निक्षेप भी नही होता। क्यो कि वे उपादेय (कार्य) नही होते। यही कारण है कि वहाँ उपादान की जरूरत नही होती।

शका—स्थापना-निक्षेप से द्रव्य-निक्षेप का क्या भेद है?

समाधान—इन दोनो मे यही भेद है कि स्थापना-निक्षेप भिन्न पदार्थो मे होता है और द्रव्य-निक्षेप अभिन्न मे।

आपत्ति—आप॰ यह युक्ति उचित नही है कि द्रव्य निक्षेप अभिन्न पदार्थो मे ही होता है। क्यो कि जैसे देव और देव प्रति॰ भिन्न है, वैसे ही राजा और राजा का शरीर भी भिन्न है।

समाधान—यह आप॰ ठीक नही है। क्यो कि ज्ञान ज्ञेयादि सबधो से भिन्न वस्तुओ मे भी अभिन्नत्व का उपचार कर लिया ज॰ है। अत वे अभिन्न रूप से प्रतीत होने लगती है। ऐसे ही पदार्थ द्रव्य-निक्षेप के विषय बनते है, किन्तु स्॰ना-निक्षेप मे यह बात नही है। स्थापना मे जो अभिन्नत्व है, वह निक्षेप के द्वारा किया जाता है। कि॰ द्रव्य निक्षेप मे तो उपचार से अभिन्नत्व, पहले ही है। बात यह है कि स्थापना निक्षेप मे अभिन्नता काय॰ जब कि द्रव्य निक्षेप मे वह कारण है। यही इन दोनो मे भेद है।

भाव-निक्षेप

वर्तमान पर्याय सहित द्रव्य को भाव निक्षेप कहते है। इसके भी द्रव्य निक्षेप की तरह दो भेद है—एक आगम-भाव निक्षेप और दूसरा नो आगमभाव निक्षेप। तत् तत् वस्तु विषयक शास्त्र को जानने वाला वर्तमान मे उपयोग सहित आत्म आगमभाव निक्षेप है। जैसे राजा के ज्ञान से सयुक्त उपयोग सहित मनुष्य भावागम राजा है। वर्तमान मे इस पर्याय सहित वस्तु को नो आगमभाव-निक्षेप कहते है, जैसे जो वस्तुत राजा है, उसे राजा कहना नो आगम निक्षेप ही वास्तविक वस्तु को कहता है। आग को आग, पानी को पानी, घडे को घडा, निक्षेप के इसी भेद से कह सकते है। भाव निक्षेप का सम्बन्ध केवल वर्तमान पर्याय से ही है। अत इस निक्षेप मे द्रव्य-निक्षेप की तरह ज्ञायक-शरीर आदि भेद नही होते। इन दोनो निक्षेपो मे यही भेद है।

प्रश्न—नाम-निक्षेप और भाव-निक्षेप मे क्या भेद है?

उत्तर—नाम-निक्षेप मे व्यक्ति वाचकत्व और भाव-निक्षेप मे भाव वाचकत्व अथवा जाति वाचकत्व है।

नय और निक्षेप का सम्बन्ध

नय और निक्षेप मे विषय और विषयि-भाव सबध है। नय ज्ञानात्मक है और निक्षेप क्रियात्मक। निक्षेप को जानने वाला नय है। शब्द-अर्थ मे जो वाच्य-वाचक सबध है, उसके स्थापन की क्रिया का नाम निक्षेप है और वह नय का विषय है, तथा नय उसका विषयी है।

आदि के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय और अतिम निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है। बाल, युवा एव मनुष्य आदि भिन्न भिन्न अवस्थाओ वाले मनुष्य मे नाम का विच्छेद नही देखा जाता। अतः नाम निक्षेप अन्वयी है और यही कारण है कि वह द्रव्यार्थिक का विषय है इसी प्रकार तीर्थङ्कर की प्रतिमा आदि मे काल भेद होने पर भी स्थापना ज्यो की त्यो बनी रहती है। इसलिए अन्वयी होने के कारण स्थापना निक्षेप भी द्रव्यार्थिक नय का विषय मानने मे तर्क की जरूरत ही नही है, किन्तु इस प्रकार का अन्वयित्व भाव-निक्षेप मे नही है। इसलिए यह पर्यायार्थिक नय का विषय माना गया है।

निक्षेप का विवेचन भाषा को शुद्ध बनाने की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण विषय है, और इसलिए इस निबध मे इसे विस्तार से बतलाया गया है।
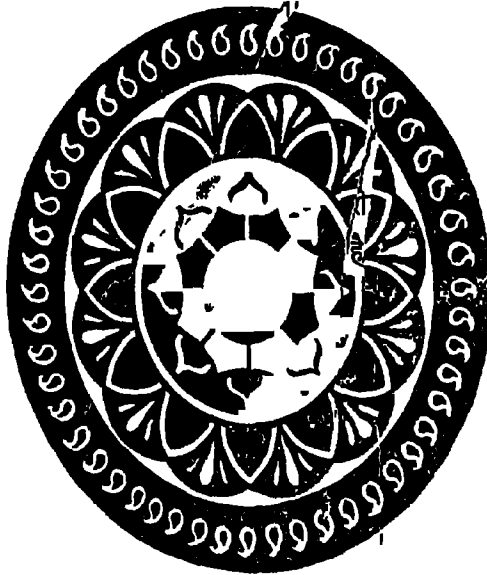
यथार्थवाद और भारतीय दर्शन

डा० सुरेन्द्र बारलिंगे
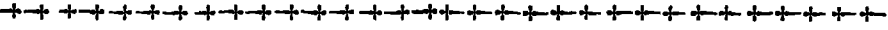
'यथार्थवाद' शब्द का Realism के प्रतिशब्द जैसा प्रयोग किया जाता है। 'यथार्थवाद' शब्द बहुत सदिग्ध है। बहुधा यही आक्षेप Realism शब्द के प्रति भी किया जा सकता है। किन्तु Realism शब्द का अर्थ पाश्चात्य तत्वज्ञान मे बहुताश निश्चित हुआ है। वैसा 'यथार्थवाद' का अर्थ निश्चित नही हुआ है। एक दृष्टि से देखा जाए तो भारत के सभी दर्शन विश्व का या ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप सोचने का प्रयत्न करते है। किन्तु जब तक वे उसका यथार्थ स्वरूप निश्चित रूप से नही समझते—और वह समझना मेरे मत मे मुश्किल है—तब तक किसी भी दर्शन को यथार्थ-दर्शन नही कह सकते। पुनश्च, 'यथार्थ' शब्द मे 'अर्थ' शब्द अति सदिग्ध है। उसका एक अर्थ 'वस्तु' ऐसा है। और दूसरा अर्थ 'अर्थ' है। वस्तु और अर्थ का सम्बन्ध महत्वपूर्ण होने के बाद भी वस्तु और अर्थ एक नही हो सकते। अतः यथार्थ मे के 'अर्थ का अर्थ, याने meaning लिया तो विषय की सदिग्धता और बढेगी। अत लेख के लिए 'यथार्थ' का अर्थ 'यथावस्तु' ऐसा ही लेना होगा। किन्तु 'यथावस्तु' यह भी विकट समस्या है। अतः यथावस्तु की इस लेख के लिए व्याख्या इस प्रकार करनी पडेगी, वस्तु, वह जो अपने अस्तित्व के लिए ज्ञाता पर (या मन पर) अवलबित नही है। अधिकाश लोग घट पट आदि वस्तु को एव प्रकार मानते हैं। किन्तु घटपदादि वस्तु एव प्रकार हो या न हो, ज्ञातृ स्वतन्त्र वस्तु है, यह यथार्थवाद का मतलब है। अत यथार्थवाद का मतलब "अ-विज्ञान-वाद" इस प्रकार लेना होगा।

यथार्थवाद या Realism का इस प्रकार अर्थ निश्चित करने के बाद यह भी समझना जरूरी है कि Realism की कल्पना, जिस प्रकार आज पैदा की जाती है, पाश्चात्य है। और वहाँ भी बीसवी शताब्दी के पहले कुछ दशको मे खासकर इस कल्पना का अधिकाश प्रसार हुआ। किन्तु किसी भी मान्यवर तत्वज्ञ

ने, सामान्यत विश्व के बारे म सामान्य जन का जिस प्रकार दृष्टिकोण रहता है—(और उसमें भी कई विरोधी मत एक जगह रह सकते है) उस प्रकार का दृष्टिकोण नही रखा है। आधुनिक इतिहास मे अनुभववादी 'लॉक' की परिणति ह्यूम मे हुई और बुद्धिवादी 'डेकार्ट' की परिणति 'स्पायनोजा' और 'लायब्निज' मे हुई। इस परिणाम मे यह स्पष्ट होता है कि बुद्धि या अनुभव को प्रमाण मानने पर भी—यथार्थवाद का पूर्णतया अवलम्ब कोई भी नही कर सका। बीसवी शताब्दी मे Common sense realist, Realist और Critical Realist पैदा हुए। किन्तु उनके तत्व ज्ञान के आलोडन मे यह साफ होता है कि सामान्य जन की कल्पना मे उनकी जगत् के स्वरूप की कल्पना बहुत दूर है। ये विज्ञानवादी नही, इतना ही उनके बारे मे कह सकते है। मार्क्सवाद के तत्वज्ञान को कभी-कभी Realist तत्वज्ञान कहते है, किन्तु समाज, जगत् इत्यादि मार्क्सवाद के लिए गृहीत प्रमेय है। गृहीत प्रमेय का स्वरूप ढूंढने का मार्क्सवाद सामान्य दृष्टि मे प्रयत्न नही करता। मार्क्सवाद को यदि Realism का सिद्धान्त समझना है तो कोई भी अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र या डार्विन जैसे जीवशास्त्रज्ञ का सिद्धान्त भी Realism का सिद्धान्त बनकर रहेगा। वस्तुस्थिति यह है कि विश्व को आज सामान्यत कोई 'असत्' 'अजात' ऐसा नही मानता। किन्तु Realism जैसे प्रश्न की चर्चा भी आज प्राय नही होती। तत्वज्ञान मे या दर्शनशास्त्र मे आज अन्य प्रश्नो की चर्चा की जाती है। इस दृष्टि मे भी इस समय भारतीय दर्शन मे यथार्थवाद का संशोधन करना एक दृष्टि मे अनावश्यक सा मालूम हो सकता है।

मेरी दृष्टि मे प्राचीन काल मे भारतीय दर्शनो का विभाजन यथार्थवाद और अयथार्थवाद, इस तत्त्व पर नही हुआ। भारतीय दर्शनो के सामने बहुत भिन्न प्रश्न थे—व्याकरण, वैशेषिक, न्याय या साख्य दर्शन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। पूर्व मीमासा-कर्मकाण्ड का पुरस्कार करने वाले इस दर्शन का स्वरूप भी मूल मे यथार्थवादी-अयथार्थवादी इस प्रकार के मानदण्ड से तौल नही सकते। जैसे कोई वस्तु मन से स्वतन्त्र जैसे अस्तित्व मे रह सकती है, वैसे ही कोई वस्तु मन के सयोग से भी रह सकती है। वैशेषिको का 'पदार्थ' का सिद्धान्त, या साख्य का तन्मात्र और महाभूत का सम्बन्ध या व्याकरणशास्त्र का नाम, विशेषण, क्रियापद आदि भेद, यह मेरी दृष्टि मे इसके द्योतक है कि भारतीय दर्शनो मे मूल मे 'यथार्थवाद' जैसा प्रश्न ही नही था।

भारतीय दर्शन मे यथार्थवाद जैसा प्रश्न प्रारम्भ मे उत्पन्न नही हुआ। बौद्ध तत्वज्ञान के एक उप-दर्शन ने विज्ञानवाद का सिद्धान्त पेश किया। इस सिद्धान्त की परिणति प्रथम माध्यमिक सिद्धान्त मे हुई। और पश्चात् शकराचार्य के विवर्तवाद या मायावाद द्वारा बौद्ध विज्ञानवाद के बहुताश का ग्रहण करने से, विज्ञानवाद का धर्म जैसा प्रचार भारत मे हुआ। ऐसे प्रचार मे आद्य शकराचार्य का हिस्सा कितना है, यह मैं नही कह सकता। (इतना ही नही, एक प्रकरण मे शकराचार्य ने जगत् के यथार्थवाद का Defence भी दिया है। (बॉन युनिवर्सिटी के प्राध्यापक डा० पॉल हैकर का यह मत है कि जगन्मिथ्यावादी शकर-तत्वज्ञान का प्रचार विद्यारण्य के समय हुआ) । मूलत मिथ्या शब्द का असार यह अर्थ नही है। किन्तु शकराचार्य के बाद यह अर्थ प्रसृत हुआ। और जगत् असत् है याने वह वास्तव मे नही है, यह कल्पना दृढमूल हुई। इस कल्पना के साथ जीव ब्रह्म की एक होने की कल्पना, और जगत् ब्रह्म के

एकत्व की कल्पना इतनी पक्की हो गई कि रामानुज, मध्व और अभिनवगुप्त जगत् का सत्यत्व मानने के बाद भी एक दृष्टि से विज्ञानवाद के, कर्मकाण्ड के या तन्त्र के उपासक बने रहे।

शकराचार्य और उनके अद्वैतवाद का इतना प्रभाव भारत मे पडा कि यद्यपि शकराचार्य के बाद घट, पट आदि वस्तु के सत्यत्व की चर्चा न्यायशास्त्र ने जारी रक्खी, फिर भी वह केवल एक प्रकार की ग्राथिक चर्चा रही। अद्वैत वेदान्त मे, साख्य, योग, मीमासा और न्याय, इनको एक प्रकार—मेरी दृष्टि मे गैर प्रकार—सम्मिलित किया गया। इस प्रकार का सबसे अच्छा उदाहरण श्रीमद्भगवद्गीता मे पाया जाता है, जो कि हिन्दू धर्म का आज एक प्रधान ग्रन्थ है।

यथार्थवाद का अर्थ अ-विज्ञानवाद जैसा लेना चाहिए, यह मैंने कहा। किन्तु आज का मूल-विज्ञानवाद मूल स्वरूप मे केवल ग्रथो मे ही दिखाई देता है। मूल विज्ञानवाद से मुझको बौद्ध दर्शन का योगाचार और माध्यमिकवाद अभिप्रेत है। किन्तु मूल-विज्ञानवाद के हिन्दुस्तान मे नष्ट होने के बाद भी विज्ञानवाद की जडे भारत मे पक्की हो गई,—और उसने उत्तर मीमासा दर्शन को ग्रस लिया। अद्वैत दर्शन का मायावाद, दृष्टि-सृष्टिवाद, या अजातवाद—ये विज्ञानवाद के ही तीन रूप है। (मूल उत्तर मीमासा शास्त्र या उपनिषद् ग्रथ विज्ञानवादी है या नही, इसमे मुझ को बहुत सन्देह है। इतना ही नही, वे विज्ञानवादी नही है, ऐसी मेरी भावना है।) अद्वैत दर्शन का यह परिणाम होने से अद्वैतवाद और विज्ञानवाद सामान्य जनो के लिए समानार्थी हो गए। और अद्वैत का, या अद्वैत-विचारधारा का सबसे बडा असर जनता पर होने से, और अद्वैत के धर्म का स्वरूप धारण करने से उत्तर मीमासा, उपनिषद् और गीता यानी अद्वैत, यह समीकरण हो गया। सामान्य लोगो के लिए यथार्थवाद या विज्ञानवाद, यह सचमुच महत्वपूर्ण वस्तु नही है। अपना सारा जीवन स्वार्थ मे व्यतीत करते हुए भी मनुष्य ससार को असार मान सकता है। और ससार को असार मानना सामान्य मनुष्य के लिए वेदान्ती और विज्ञानवादी सिद्धान्त मे श्रद्धा रखने के लिए काफी है। 'असार' से 'अजात' या 'असत्' यह केवल एक और कदम है। अत ससार को असार मानने वाले मनुष्य का विज्ञानवाद का अनुयायी बनना बहुत सीधी-सी बात है। वेद-प्रामाण्य, धर्म पर श्रद्धा, जगत् मे दु ख का अनुभव, ईश्वर-शरण्यता आदि सभी घटक भारतीय मनुष्य को वेदान्ती बनाने के लिए कारण हुए। और सामान्य मनुष्य के लिए 'विष्णु' और 'कृष्ण' या 'विष्णु' और 'शकर' जैसे देवता जिस प्रकार एक ही है, वैसे सब वेदान्त भी एक ही है। भारतीय दशन अयथार्थवादी है, ऐसा समझे जाने का कारण इस प्रकार है।

किन्तु वेद-प्रामाण्य, धर्म-श्रद्धा, जगत् मे दु ख का अनुभव, ईश्वर-शरण्यता आदि घटक यथार्थवादी के विरोधी नही है। अश मे या पूर्ण मे यह घटक मानने के बाद भी मनुष्य बाह्य जगत् को सत्य मान सकता है। वैसे देखा जाए, तो वेद-प्रामाण्यादि विज्ञानवाद के ही विरोध मे है। अद्वैत वेदान्त के दृष्टि-कोण से, ईश्वर का, (जगत् के कर्ता का) भी अस्तित्व नही मान सकते। किन्तु यह भारतीय तत्त्वज्ञान के इतिहास की घटना है, कि यह सब घटक जगन्मिथ्यावाद की पूर्ति के लिए काम मे लाए गए।

इस दृष्टि से भी सभी भारतीय दर्शन विश्व का सत्य स्वरूप जानने की इसलिए इच्छा करते है कि

निष्कर्ष मैं नही कर सकता। भारतीय दर्शन यथार्थवाद विरोधी नही है, यह बात कला-स्वरूप के दृष्टान्त से और स्पष्ट हो जाएगी।

'यथार्थवादी' शब्द का साहित्य और कला मे भी प्रयोग होता है। किन्तु दर्शनशास्त्र का यथार्थवाद और कला का यथार्थवाद, इनके तादृश सम्बन्ध नही है। सृष्टि और समाज को सत्य मानकर जब उसका "जैसे का तैसा" चित्रण कलाकार कला मे करता है, तब उस कला को यथार्थवादी कला कहते है। यथार्थवादी कला कोई खास आदर्श अपने सामने नही रखती। फिर भी—"जैसे के तैसे चित्रण" मे यथार्थवादी कला मे, क्या कलाकार का कर्तृत्व कुछ भी नही? वास्तविक अनुभव का सस्करण करके, उसको स्फुटित करके उनके परमाणुओ का फिर से नया सश्लेषण क्या कलाकार नही करता? यदि ऐसा नही होता, तो यथार्थवादी कथा और चरित्र मे भेद नही होता। एक दृष्टि से देखा जाए, तो सभी कला, फिर वह आदर्शवादी हो या यथार्थवादी—"शशश्रृग" या 'वन्ध्या-पुत्र' या 'रज्जुसर्प' की तरह ही होती है। किन्तु शशश्रृग और वन्ध्यापुत्र या रज्जुसर्प असत्य होने पर भी शश, श्रृग, वन्ध्या, पुत्र, रज्जु और सर्प, ये वस्तुएँ असत्य नही होती। दिक्काल-सापेक्ष सृष्टि मे बिखरे हुए सृष्टिकण को इकट्ठा करके ही असत् की या कला की निर्मिति हो सकती है। कोई भी असत् सत् के अधिष्ठान पर ही जीता है। हम जब यथार्थवादी साहित्य की बात करते है, तब हम यह चीज मान लेते है कि एक दृष्टि से मनुष्य-निर्मिति होने के बाद भी साहित्य मे मानव-निरपेक्ष सत्य का अश होता है। वैसे ही दर्शन-शास्त्र मे ज्ञातृसापेक्ष सृष्टि का अधिष्ठान ज्ञातृनिरपेक्ष सृष्टि पर ही होना चाहिए। अत किसी भी दर्शनशास्त्र की मूल सृष्टि ज्ञातृनिरपेक्ष ही माननी चाहिए, ऐसा मै समझता हूँ। मै जानता हूँ कि अपनी विचारधारा मैंने सप्रमाण सिद्ध नही की। उस पर कई आक्षेप किए जा सकते है। लेकिन अपनी विचारधारा को सप्रमाण सिद्ध करना इस लेख का उद्देश्य नही है। अपनी विचारधारा का निष्कर्ष प्रस्तुत करना इतना ही प्रस्तुत लेख का विषय है।

तात्पर्य यह कि विज्ञानवादी दर्शन मानना मैं आवश्यक नही समझता। भारतीय दर्शन ने विज्ञानवाद का ही अवलम्ब लिया है, ऐसा भी मै नही समझता। यथार्थवाद का विचार करते समय बालिश यथार्थवाद (Naive Realism) की विचार धारा को स्वीकार करना भी अत्यन्त कठिन समस्या है, यह जानना चाहिए। विश्व के दो यथार्थवादी भी ऐसे यथार्थवाद का स्वरूप निश्चित करने मे सहमत नही होगे। ऐसा स्वरूप निश्चित करना यथार्थवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध है। किन्तु अनुभव की सृष्टि की सभी वस्तुओ को सत्य मानना, यह भी यथार्थवाद के उतने ही विरोध मे है, जितने सभी असत्य है। दोनो का परिणाम एक ही है। विज्ञानवाद वन्ध्यापुत्र, या Square Circle ऐसी कल्पना हम करते है, इसीलिए उन्हे कही तो सत्य होना चाहिए, यही तो Platonism का प्रमुख सिद्धान्त है। सत्य और असत्य का नीरक्षीर विवेक करने जाएँ, तो यथार्थवाद के सामने एक पेचीदा प्रसग उत्पन्न हो जाता है। ऐसा पेचीदा प्रसग निर्माण करना, यही विज्ञानवाद का सबसे बडा शस्त्र है। वस्तु के या विश्व के स्वरूप का जब हम निर्णय करने जाते है, हमारे सामने अन्तर्विरोध पैदा हो जाते है कि हम सोचने लगते है कि यथार्थवाद सत्य नही है। किन्तु क्या ये अन्तर्विरोध या अवलम्बन करने से मिट जाते है? अतः

ऐकान्तिक यथार्थवाद या विज्ञानवाद विश्व का गूढ रहस्य सुलझाने मे समर्थ है, ऐसा मानना मै गैर समझता हूँ। बहुधा विश्व का, इस प्रकार का सच्चा स्वरूप जानना मानव को शक्य ही नही। उसकी दो आँखे है, इसलिए उसको विश्व त्रिमित (Thiee Dimensional) दिखाई देता है। और उसके नासिका और कान है, इसलिए उसको सुगन्ध और आवाज आती है। विश्व का सभी प्रकार का 'नाद' वह सुन नही सकता। यह तो विज्ञान (Science) ने सिद्ध किया है। किन्तु क्या हम जिसका अनुभव करते है, वह विश्व का 'सच्चा' स्वरूप नही है ? क्या विज्ञान के Laws को ही विश्व का सच्चा स्वरूप मान सकते है ? वैसा ही यदि हुआ तो विश्व को 'Electio-Magnetic Quanta' ही समझना पडेगा। केवल कारण ही 'सत्य' है, ऐसा मानने की ही आवश्यकता है ? सत् कारणवाद से ही तो अद्वैत वेदान्त उत्पन्न हो गया। परिणाम भी उतना ही सत्य है, जितना कि कारण। फिर उस परिणाम मे कुछ मानसिक अश क्यो न हो। मेरी दृष्टि से भारत के अधिकाश दर्शनो ने विश्व का इस प्रकार का स्वरूप मान लिया था। अत. उसके सामने पाश्चात्य 'Naive Realism' के सामने जिस प्रकार के प्रश्न उत्पन्न हो जाते है, उस प्रकार के प्रश्न कभी उत्पन्न ही नही हुए। जिस प्रकार मार्क्सवाद Matter को सत्य मानता है, लेकिन साथ-साथ समाज को भी सत्य मानता है, Mattei से ही समाज निर्माण हो गया, ऐसा मानता है। उसी प्रकार ज्ञातृ-निरपेक्ष 'कण' को या 'तन्मात्र' को सत्य मानने के बाद भी न्याय, वैशेपिक या साख्य जैसे दर्शन पदार्थ को या पञ्चमहाभूतो को सत्य मान सकते है। ऐसा मानना विज्ञानवाद नही किन्तु यथार्थवाद का यथार्थवादी स्वरूप समझना है

विश्व का कुछ अश ज्ञातृनिरपेक्ष है, यह समझना सच्चे यथार्थवाद का तत्व है। विश्व को इस प्रकार ज्ञातृस्वतन्त्र होने से ही विश्व मे व्यवहार हो सकता है। और विश्व केवल मानसिक और वैयक्तिक खेल नही रहता। विश्व मे दो या अनेक व्यक्तियो मे व्यवहार होता है, यही मेरी दृष्टि से इस प्रकार यथार्थवाद के सिद्धान्त का सबसे बडा गमक है। विश्व का स्वरूप एव प्रकार यथार्थवादी होने से ही समाज, शासन, शास्त्र, विद्या और कला उत्पन्न हो सकते है। जब यह ससार केवल मृगजल या स्वप्न है, ऐसी पूरे समाज की धारणा हो जाती है, तब समाज की अवनति शुरू होती है—कम से कम उसकी मानसिक पार्श्वभूमि निर्माण हो जाती है। ग्यारहवी शताब्दी से हमारी जो अवनति शुरू हो गई, उसका केवल इतना ही कारण है, ऐसा यद्यपि मैं नही मानूँगा, तथापि ससार को 'असार', 'असत्य', 'अजात' ओर केवल मनोनिर्मित या विज्ञान का खेल मानना, यह उस अवनति का सबसे बडा कारण है, ऐसा मै समझता हूँ। अवनति की पार्श्वभूमि उत्पन्न होने के बाद अवनति को देर नही लगती।

धर्म की, ईश्वर की, या वेद-प्रामाण्य की कल्पना यथार्थवाद की विरोधी नही है। जगत्, ससार 'असत्य' है, यही एक कल्पना यथार्थवाद की विरोधी है। जगत् मिथ्या है, यह कल्पना भी सचमुच यथार्थवाद की विरोधी नही है। जब मिथ्या असत्य का दूसरा नाम हो जाता है, तभी जगत् मिथ्यावाद यथार्थवाद का विरोधी तत्व बनता है। और यह कल्पना कि ससार मेरे विकार जैसी मेरी कृति है, और वह मुझ पर अस्तित्व के लिए अवलम्बित है, इस प्रकार के दृष्टिकोण से पैदा होती है। "आप मर गए, डूब गई दुनियाँ"—यह तत्व स्वीकार करने के बाद सामान्य मानव ससार से निवृत होगा या पूरा स्वार्थी

बनकर, नीति और मूल्य की कदर न करते हुए निज आत्मा को फँसाएगा। मेरी दृष्टि मे भारत मे कुछ हद तक ये दोनो परिणाम दिखाई देते है। अत यद्यपि 'यथार्थवाद की कल्पना' दर्शन शास्त्र मे आज महत्त्व की कल्पना नही है, फिर भी भारत के लिए आज भी वह महत्त्वपूर्ण कल्पना है, भारतीय दर्शन मे केवल विज्ञानवाद ही है और यथार्थवाद दिखाई नही देता, ऐसी विचारधारा का त्याग करना आवश्यक है। इतना ही नही, यह जानना जरूरी है कि उपनिषद् की भी अजातवादी व्याख्या करना जरूरी नही और इष्ट तो बिल्कुल नही। रामानुज और मध्व ससार को असत्य मानते है। शंकराचार्य भी जगत् को मिथ्या मानते है, तब वे जगत् को 'असत्य' नही समझते (यद्यपि जगत् को असत्य समझने का यह एक प्रकार प्रारम्भ है), यह जानना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शन यथार्थवाद के विरोधी है, यह कल्पना सत्य नही है।
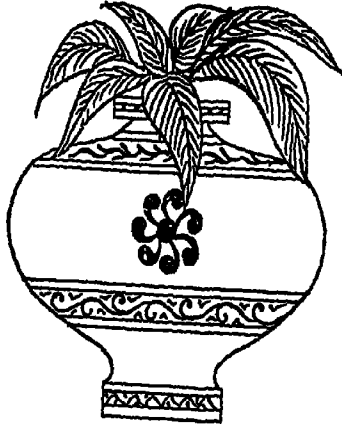
कुण्डलिनी-योग का महत्त्व

मुनि सुशील कुमारजी

आत्मा की खोज करते हुए अनेक प्रकार की नई विधाओ का सिंहद्वार खुला है। वे सब आत्म-विद्या के अन्तर्गत भी है और उनका सम्बन्ध जीवन के बाह्य क्षेत्रो से भी है। धर्म-विद्या, दार्शनिक-चिन्तन और यौगिक अनुसन्धान ये सब आत्म-विद्या की आनुषगिक विद्याएँ है। इन सबके सम्बन्ध मे हजारो वर्षों से गहरी शोध हुई है। धर्म के अभ्यासियो ने, दर्शन के आचार्यों ने और योग के साधको ने जीवन की अनुभूतियो को और चमत्कारी शक्तियो को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, कि सारा विश्व इन उपलब्धियो के पीछे अभिभूत हो गया है।

इन पिछले पाँच हजार वर्षो से अकेला धर्म सारे विश्व के तन्त्र को सचालित करता रहा है। दर्शन ने मनुष्य की बुद्धि को अनेको विश्वासो के साँचे मे ढाला है और योग ने देश मे विदेह और अणु मे महत्-तत्व की प्रतिष्ठा की है। आखिर हम सब अपने सम्बन्ध मे और इस दृश्य या अदृश्य-जगत के सम्बन्ध मे जितनी भी धारणा या विश्वास बनाए बैठे है, ये सब हमारे पूर्वज विचारको की ही तो देन है।

आत्मा, अन्त करण, चेतना, रूह, सोल या पदार्थो का सघीभूत पुद्गल-पिण्ड आदि जितने भी शब्द है, जिनके पीछे हम अपने स्वरूप को स्थापित किए बैठे है, और अपने को चेतनावान् या आत्मवान् माने बैठे है, ये सब हमारे विश्वास ही तो है। हमारे इन विश्वासो के पीछे सत्य कितना है और असत्य का कुहरा कितना छाया हुआ है, यह तो शोध का विषय है। किन्तु अगर धर्म सत्य है, तो दर्शन भी सत्य है। योग भी सत्य है चाहे आंशिक रूप मे ही या सर्वांश मे।

धर्म का क्षेत्र इन पिछले हजारो वर्षो मे इतना विस्तृत हो गया, कि जीवन के सभी क्षेत्रो मे

उसका आधिपत्य जम गया। मानवीय सभी समस्याओ मे व जागतिक व्यवस्थाओ और ब्रह्माण्ड की विविध रचनाओ मे धर्म ही एक ऐसा प्रवक्ता बन गया कि उसने जीवन और जगत के सभी क्षेत्रो को अपने अन्तर्गत कर लिया। धीरे धीरे विश्व-विद्यालयो ने और शोध-शालाओ ने धर्म से कितने ही क्षेत्रो को छीन लिया, जैसे पदार्थ-विद्या, वनस्पति-विज्ञान, नक्षत्र-विद्या आदि सैकडो प्रकार के विद्या के क्षेत्रो को विश्वविद्यालयो एव शोध-शालाओ ने अपना स्वतन्त्र विपय बना लिया है।

धार्मिक विश्वासो के साथ उनका किसी प्रकार से भी सम्बन्ध नही रह गया है। अब धर्म केवल आत्म-विद्या और आध्यात्मिक विकास के क्रमिक रूप के सिवाय और कुछ नही रहा है। धर्म का राजनीतिक या सामाजिक जीवन की उपेक्षा आध्यात्मिक जीवन से ही यथार्थ सम्बन्ध है, यही सिद्धान्त सर्वसम्मत मान लिया गया है।

इसी प्रकार योग के सम्बन्ध मे भी हमे ध्यान रखना होगा, कि योग का सम्बन्ध शारीरिक विकास के साथ-साथ प्राणोत्थान, मानसिक एकता और आत्म-साक्षात्कार ही है। मन की एकता से आत्मा के साथ मिलन हो सके और हम अपनी देह-गत सभी द्वद्वात्मक अवस्थाओ से ऊपर उठ कर प्राण, मन, बुद्धि और अहकर के लोक से आगे जा सकें, और देह मे रही हुई चेतना के साथ-साथ अनन्त-शक्ति स्रोतो को उद्‌बुद्ध कर सकें और इस नियति के अधीन विश्व की व्यवस्था के चक्कर से परम चैतन्य तत्व को उन्मुक्त कर सकें, यही योग का सबसे बडा ध्येय है।

दर्शन, भारतीय धर्माचार्यों के अनुसार धर्म के सिद्धान्तो की बुद्धि-सगत व्याख्या है। इसी प्रकार योग भी धर्म के द्वारा परम पुरुषार्थ की सिद्धि का श्रेष्ठतम उपाय है। धर्म, अगर हमारे जीवन की व्यवस्था का नाम है, तो योग जीवन की उस परम सिद्धि का नाम है, जिस अमृत को पाकर के कुछ भी पाने की इच्छा नही रहती। अत धर्म और दर्शन के क्षेत्र से योग हटा दिया जाए, तो हमारे हाथ मे धर्म की आचार-पद्धति, और कुछ पारम्परिक विश्वास व दर्शन की बौद्धिक व्याख्याएँ ही रह जाएँगी, किन्तु आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्म-बल का सहारा सदा के लिए हम से विलग हो जाएगा। योग, धर्म की साक्षात् अनुभूति है। उसके बिना न अमृतत्व की प्राप्ति होती है, न धर्म का सर्वस्व ही प्राप्त होता है।

योग इतना व्यापक शब्द है और इस पर हजारो वर्षो से इतनी खोज हुई है कि हम उसे किसी एक विश्वास मे, पद्धति मे या अनुशासन मे बाध नही सकते। ससार मे जितने महात्मा-पुरुष हुए हैं, उन सब के पास जो शक्ति या चमत्कार था, वह सब उन्हे योग के द्वारा ही प्राप्त हुआ था। और जिस-जिस महात्मा को, जिस-जिस ढग की साधना सयोग-सिद्धि प्राप्त हुई, उस-उस महात्मा ने उसी पद्धति को सर्वश्रेष्ठ उद्‌घोषित कर दिया। सहज-योग, हठ-योग, मत्र-योग, लय-योग, राज-योग, कुण्डलिनी-योग, कुल-कुण्डलिनी-योग, चक्र-भेदन, बिन्दु-भेद, त्राटक, छाया-पुरुष आदि आदि अनेको यौगिक साधनो का इतने विस्तृत रूप से विकास हुआ है कि उन सब यौगिक-पद्धतियो को सकलित किया जाए, तो हम इस छोटे से लेख मे उनका नामोल्लेख भी नही कर सकते। योग के सभी साधनो मे कुण्डलिनी-योग की चर्चा

करना इसलिए अभीष्ट लगता है कि इसमे वास्तविकता सबसे अधिक है। हठ-योग हमारे प्राणो को उत्थापित कर मन को सुषुम्णा मे खेलने का अवसर दे सकता है। मन्त्र-योग अभीष्ट दिव्य-शक्ति को साकार बना सकता है, किन्तु यह सब विश्वास के बल पर या सकल्प-शक्ति पर आधारित है।

कुण्डलिनी-योग मे भी सकल्प-बल की बहुत बडी आवश्यकता है। किन्तु मूल मे कुण्डलिनी शरीर का एक अवयव है। जिसे हमे खोलना है, जागृत करना है, उद्बुद्ध करना है। कुण्डलिनी-योग की विलक्षणता यह है कि वह शारीरिक भी है और आध्यात्मिक भी। शारीरिक इसलिए कि वह मूलाधार के पास पायु और उपस्थ के बीच योनि-कन्द के निकट, सर्पणी के आकार की एक ऐसी स्नायु है, जो मकडी-जाले के तन्तु के समान सूक्ष्म, स्वर्ण के समान उद्दीप्त और प्रकाश-पुज की तरह आलोकित है। जन्म-जन्म से कुण्डलिनी सोई पडी है, उसी स्थान पर सूक्ष्म-तम स्वयभू, शिवलिंगाकृति के चारो ओर सर्पणी की तरह त्रिबली डाले हुए अपनी पूंछ को अपने मुख मे दबाए हुए गाढी निद्रा मे आबद्ध है। उसको जगाने के अनन्तर जब उसका परम-ब्रह्मरन्ध्र की ओर सहस्रार-चक्र मे परम आत्म-तत्व के साथ सायुज्य कराया जाता है। उस कुण्डलिनी-जागरण के अलौकिक क्षणो मे मनुष्य बाहर से तो सज्ञाहीन, चेतना-रहित और चेष्टा-रहित हो जाता है, किन्तु साधक के अन्दर मे अलौकिक प्रकाश, प्रगाढ रसास्वादन और अनन्त ज्ञान-गरिमा के सब द्वार खुल जाते है। ससार के चिकित्सक किसी भी साधन के द्वारा, अथवा शल्य-चिकित्सक के द्वारा इस स्नायु-शक्ति को जागृत कर सकें, तो अज्ञान की समस्या समाप्त हो जाएगी। कोई जड नही रहेगा, किसी मे मूढता नही रहेगी। परम-ज्ञान, परम-सिद्धि प्रत्येक पुरुष प्राप्त कर सकेगा।

अभी तक दिव्य-योगियो ने कुण्डलिनी-साधना के जो क्रम बताए है, वे इतने सरल नही हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हे अपनी साधना का विषय बना सके। वैसे तो ससार मे भी ऊर्ध्व-चेता, विराट्-व्यक्तित्व और अनुपम-तेजस्वी महापुरुष पैदा हुए है, उन सब का महापुरुषत्व उनके कुण्डलिनी-जागरण मे निहित होता है। निसर्ग से ही प्रत्येक प्राणी मे उस सूक्ष्म-तन्तु का किसी न किसी रूप मे उन्नयन तो होता ही है, किन्तु यह व्यक्ति मे चमकने वाला प्रकाश, अलौकिक मेधा, विलक्षण प्रतिभा और आत्म-स्थिति की अवस्थाएँ, कुण्डलिनी के जागरण और उद्बोध से ही सम्बन्धित होती है।

भारत के महान दार्शनिक श्रीशकराचार्य या उनके गुरु गोविन्दपाद, आचार्य समन्तभद्र और आचार्य कुन्दकुन्द, हरिभद्र सूरि या मस्त आध्यात्मिक योगी आनन्दघन, सिद्ध-पुरुष कबीर, सत नानक या भक्त-हृदया मीरा, ये सब उस कुण्डलिनी के ही साधक थे, जिसके उद्बोध से उन्हे यह अवस्था प्राप्त हुई थी। इन सब महात्माओ ने अलग-अलग पद्धतियो का निर्माण किया है, किसी ने सहज-योग के द्वारा और किसी ने हठ-योग के द्वारा। मन्त्र-जप करते हुए जो विद्युत् का प्रवाह हमारे शरीर मे बहा करता है, व्याख्यान देते हुए जब विषय और वक्ता की तन्मयता इतनी बढ जाती है कि जनता उस प्रेम-प्रवाह मे बेसुध हो जाती है, यह सब क्या होता है, इस का उत्तर एक ही है कि यह सब कुण्डलिनी-योग का ही चमत्कार है।

आसन से उसे जगाया जा सकता है, ध्यान से उसे सचालित किया जा सकता है। और जप से उसे उद्‌बुद्ध किया जा सकता है। सकल्प-वल की तो आवश्यकता है ही। किन्तु यह विश्वास रखिए कि कुण्डलिनी-जागरण के पीछे आप लगते है, तो चक्र-भेद, विन्दु-भेद या यौगिक हठ-क्रिया के झमेले मे पडने की आपको जरूरत नही रहेगी। जब कुण्डलिनी जरा सी भी करवट वदल लेगी, तो आपका मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणीपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रा-चक्र सब जगमगा उठेगे। परामुख से उन्मुख हो जाएँगे, विरसता से सरसता बहने लगेगी। शरीर के सभी तन्त्र सभी चक्र और सभी नाडिया अमृत और आनन्द को इस तरह उँडेलना शुरू करेगी कि आप उस परमानन्द मे वेसुध होकर लय हो जाएँगे।

दैनिक कुण्डलिनी का अभ्यास करने से देह-अध्यास छोड देने से इम आनन्द का कुछ न कुछ अनुभव हर साधक को अवश्य मिल जाता है। यदि व्यवस्थित रूप से इस की साधना की जाए, तो इसका कहना ही क्या। अरिहन्त या सिद्ध-प्रभु की शरण लेकर आसन-शुद्धि कर ली जाए, इसके लिए आवश्यक है कि पद्‌मासन या सिद्धासन लगाना सही आना चाहिए। मूलबन्ध लगाकर प्राण और अपान का ग्रन्थी बन्धन कर धीरे-धीरे प्राण-प्रवाह के साथ-साथ चक्रमण करते हुए, लम्बे श्वास के साथ-साथ कुण्डलिनी पर प्राण को केन्द्रित कर दिया जाए और सकल्प वल से और प्राणोत्थान क्रिया के सहारे, सुषुम्ना के द्वार के ब्राह्मी नाडी के बीच मे कुण्डलिनी को सहस्र की ओर उत्कपर्ण किया जाए, तो कुण्डलिनी जागरण का कुछ न कुछ रसास्वादन मिल जाता है। खैर, मेरा उद्देश्य कुण्डलिनी-जागरण की साधना स्पष्ट करने का नही है, अपितु कुण्डलिनी-योग के प्रति पाठको की रुचि बढे, उसे जानने की जिज्ञासा जागे, कुण्डलिनी जागरण के रसास्वादन के लिए उत्कण्ठा बढे, यही इस लेख का उद्देश्य है।

मेरा विश्वास है कि कुण्डलिनी-योग से बढ कर द्वद्वातीत बनाने के लिए इससे वढकर कोई दूसरी साधना नही है। जहाँ सत्य अभय के साथ खेलता है, जहाँ शक्ति शिव के साथ मे विहार करती है, जहाँ कर्म और क्लेश विदग्ध हो जाते है, जहाँ महापरिनिर्वाण की अवस्था साक्षात् हो जाती है, वही कुण्डलिनी-योग का जागरण होता है।
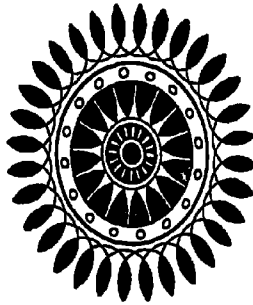
अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान

श्री काका कालेलकर

जैन-दृष्टि की जीवन-साधना मे, अहिंसा का विचार काफी सूक्ष्मता तक पहुँचा है। उसमे अहिंसा का एक पहलू है—जीवो के प्रति करुणा और दूसरा है, स्वय हिंसा के दोष से बचने की उत्कट भावना। दोनो मे फर्क है। करुणा मे प्राणी के दुःख-निवारण करने की शुभ भावना होती है। प्राणियो का दु ख दूर हो, वे सुखी रहे उनके जीवनानुभव मे बाधा न पडे। जिस इच्छा के कारण मनुष्य जीवो के प्रति अपना प्रेम बढाता है, सहानुभूति बढाता है और जितनी हो सके सेवा करने दौडता है।

इसके विपरीत दूसरी दृष्टि वाला कहता है, कि सृष्टि मे असख्य प्राणी पैदा होते है, जीते है, मरते है, एक-दूसरे को मारते हैं, अपने को बचाने की कोशिश करते है। यह तो सब दुनियाँ मे चलेगा ही। हर एक प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दु ख का अनुभव करेगा। हम कितने प्राणियो को दु ख से बचा सकते है ? दु ख से बचाने का ठेका लेना या पेशा बनाना अहकार का ही एक रूप है। इस तरह का ऐश्वर्य कुदरत ने या भगवान ने मनुष्य को दिया नही है। मनुष्य स्वय अपने को हिंसा से बचावे। न किसी प्राणी को मारे, न मरावे और न मारने मे अनुमोदन देवे। अपने आप को हिंसा के पाप से बचाना यही है—अहिंसा।

इस दूसरी दृष्टि मे यह भी विचार आ जाता है, कि हम ऐसा कोई काम न करें, कि जिसके द्वारा जीवो की उत्पत्ति हो और फिर उनको मरना पडे। अगर हमने आस-पास की जमीन अविवेक से गीली कर दी, कीचड इकट्ठा होने दिया, तो वहाँ कीट-सृष्टि पैदा होने के बाद उसे मरना ही है। वह सारा पाप हमारे सिर पर रहेगा। इसलिए हमारी ओर से जीवोत्पत्ति को प्रोत्साहन न मिले, उतना तो हमे देखना ही चाहिए। यह भी अहिंसा की साधना है।

इसी दृष्टि से ब्रह्मचर्य का पालन भी अहिंसा की साधना ही होगी। जीव को पैदा नही होने दिया, तो उसे पैदा करके मरणाधीन बनाने के पाप से हम बच जाएँगे।

करुणा इससे कुछ अधिक बढती है। उसमे कुछ प्रत्यक्ष सेवा करने की बात आती है। प्राणियो को दु ख से बचाना, उनके भले के लिए स्वय कष्ट उठाना, त्याग करना, सयम का पालन करना, यह सब क्रियात्मक बाते अहिंसा मे आ जाती है।

आजकल जैन समाज-मे इसकी चिन्ता नही चलती कि हम हिंसा के दोष से कैसे बचे। जो कुछ जैनो के लिए आचार बताया गया है, उसका पालन करके लोग सन्तोष मानते है। धर्मबुद्धि जागृत है, लेकिन धार्मिक पुरुषार्थ कम है, तो साधक अणुव्रत का पालन करेंगे। साधना बढने पर दीक्षा लेकर महाव्रतो का पालन करेंगे।

अब जिन लोगो ने जीवनदया के अहिंसक आधार का विस्तार किया, उन लोगो ने अपने जमाने के ज्ञान के अनुसार बताया कि पानी गरम करके एक दम ठण्डा करके पीना चाहिए। आलू, बैंगन जैसे पदार्थ नही खाने चाहिए। क्योकि हर एक बीज के साथ और हर एक अकुर के साथ जीवोत्पत्ति की सम्भावना होती है। एक आलू खाने से जितने अकुर उतने जीवो की हत्या करने का पाप लगेगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवो की हत्या से बचने के लिए इतना सतर्क रहना पडता है, कि वही जीवन व्यापी साधना बन जाती है। पानी गरम करके एकदम ठण्डा करना, मुँह पत्ती लगाना, शाम के बाद भोजन नही करना आदि रीति-धर्म का विकास हुआ।

शुरू-शुरू मे यह वैज्ञानिक शोध-खोज थी। हमारा वैज्ञानिक ज्ञान जैसा बढेगा उसके अनुसार हमारा अहिंसा-धर्म भी। कपिल ने जब साम्य-दृष्टि और आत्मौपम्य भावना के रूप मे धर्म-व्यवस्था कायम की, तब उसका नाम तक जैन धर्म नही था। यह कहा जा सकता है, कि इस धर्म-व्यवस्था का श्री गणेश हुआ, उस साम्य भावना से जिसका सम्बन्ध था, मानव के पारस्परिक बाहरी व्यवहार के साथ। आत्म-तत्व की जीवमात्र मे अनुभूति होने पर आत्मौपम्य भावना जागृत हुई। इस दृष्टि और भावना मे से ही अहिंसा-तत्व का प्रादुर्भाव हुआ। तब तक जैन धर्म निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था। भगवान् नेमिनाथ और भगवान् पार्श्वनाथ ने उसमे अपरिग्रह भावना का समावेश किया, क्योकि इसके बिना सामान्य जन के लिए अहिंसा धर्म का पूर्ण रूपेण पालन कर सकना सम्भव न था। भगवान पार्श्वनाथ के बाद वे "जिन" प्रकट होते है, जो वीतरागता पर जोर देते है। उनकी दृष्टि यह होती है कि कठोर इन्द्रिय के निग्रह के बिना राग-द्वेष, कलह, वैमनस्य तथा विरोधभाव पैदा करने वाली दुर्वासनाओ पर विजय प्राप्त नही की जा सकती। ऐसा विचार करने वाले जिनो मे भगवान महावीर का स्थान सर्वोपरि है। "जिन" का अभिप्राय है जितेन्द्रियता। इन्द्रिय-निग्रह की कठोर साधना को जीवन-व्यवहार मे पूरा उतारने वाले "जिन" कहे गए और उन्ही के नाम पर "जिन" शब्द से "जैन" शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान् महावीर ने ३०-३१ वर्ष की आयु मे साढे बारह वर्ष लोकोत्तर तपस्या की, कठोरतम साधना से वीतराग स्थिति का जो उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित किया, उसी के कारण उन्हे

उच्चतम पद व प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और जन सामान्य के लिए वे उपास्य बन गए। इस भावना को ब्रह्म-चर्य नाम दिया गया और अणुव्रतों तथा महाव्रतो मे उसका भी पाचवें व्रत के रूप मे समावेश किया गया। वैसे तो अपरिग्रह मे भी इन्द्रिय निग्रह की भावना निहित थी। परन्तु उसका सम्बन्ध सामान्य जनो के लिए जैसा चाहिए, वैसा आन्तरिक निग्रह के साथ नही था। आन्तरिक निग्रह के बिना इन्द्रिय निग्रह पूर्णता पर नहीं पहुँच सकता। इस प्रकार वीतराग भावना का समावेश होने पर जैनधर्म की परिकल्पना को पूर्णता प्राप्त हुई और जन सामान्य ने महावीर को ही जैनधर्म का प्रवर्तक मान लिया। वस्तु-स्थिति यह नही है। यह कहा जा सकता है कि भगवान महावीर की लोकोत्तर साधना से जैनधर्म को जो नाम व रूप प्राप्त हुआ, वह अवश्य ही भगवान महावीर की विरासत है।

भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक जैन धर्म मे निरन्तर जो उत्क्राति हुई, उसको क्रमश साम्य, आत्मौपम्य, अहिंसा, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य शब्दो मे व्यक्त किया जा सकता है। इन्हीं को अणु-व्रत तथा महाव्रत का रूप मिला। साम्य का ही नाम सत्य और आत्मौपम्य का अस्तेय हो गया।, क्यो कि सत्य के बिना साम्य और अस्तेय के बिना आत्मौपम्य तत्त्वों का पालन नहीं किया जा सकता। विकास का यह क्रम भगवान् महावीर के बाद भी जारी रहा। ऐतिहासिक आधार पर यह नहीं कहा जा सकता, कि जैनधर्म मे मन्दिर मूर्ति-मार्ग का समावेश कब और कैसे हुआ, परन्तु यह स्पष्ट है कि इस मार्ग मे विकार पैदा होने के कारण जो पाखण्ड, आडम्बर तथा प्रपच उत्पन्न होते है, उससे जैन धर्म भी बच नहीं सका। मध्यकाल मे मन्दिर मूर्तिमार्ग के विरोध मे एक जबरदस्त लहर पैदा हुई। जैन धर्म मे वह लहर स्थानकवासी शाखा के रूप मे प्रकट हुई। उसके प्रवर्त्तक वीर लोकाशाह ने अपने गभीर अध्ययन के आधार पर यह मत व्यक्त किया, कि जैन आगमो मे मन्दिरमूर्ति-मार्ग का विधान नहीं है। उनको यह मत प्रकट करने पर बडे विरोध का सामना करना पडा और अन्य अनेक क्रान्तिकारी सुधा-रकों की तरह धोखे से आहार मे दिए गए विष से उनका प्राणान्त हुआ। वे जैन धर्म मे बहुत बडी क्रान्ति करने मे सफल हुए। उसके रूप को वे ऐसा पखार गए कि वह उस समय की एक जबरदस्त लहर को झेल गया। इसी प्रकार वर्तमान युग मे पश्चिम मे वैसी ही एक लहर और उठी। सनातन हिन्दू धर्म को उस लहर से बचाने के लिए जो काम ब्रह्म-समाज, रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना-समाज तथा आर्य समाज आदि ने किया, वही काम जैन धर्म मे प्रस्फुटित स्थानकवासी धर्म ने किया। इस प्रकार जैन धर्म को प्रपंच व आडम्बर से और अधिक बचा लिया गया। उसको विशुद्ध रूप मे जीवन व्यवहार का धर्म बनाने का एक और सफल प्रयत्न किया गया। दुख यह है, कि इस उत्क्रातिमूलक विकासक्रम को सकीर्ण साप्रदायिक दृष्टि से देखा गया और उसके महत्व को ठीक-ठीक आका नही गया। यह एक ऐति-हासिक तथ्य है, कि जैन धर्म उस भीषणकाल मे इस उत्क्रातिमूलक विकासक्रम के ही कारण अपने अस्तित्व को बनाए रखने मे सफल हो सका, जिसमे श्रमण-सस्कृति की बौद्ध धर्म सरीखी अनेक शाखाएँ प्राय नामशेष हो गई। और सनातन वैदिक सस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली अनेक शाखाएँ भी लुप्त होने से बच न सकी। जैन धर्म के विकास के इतिहास का एक बडा ही सुन्दर रोचक और महत्वपूर्ण अध्याय है, जिसका अध्ययन क्रान्तिकारी दृष्टि से किया जाना चाहिए और उसके प्रकाश मे विविध धर्मों के उत्थान व पतन के मर्म को समझने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

भगवान महावीर की विरासत का जो लाभ सामान्य भारतीय जनता को प्राप्त हुआ, वह भी उल्लेखनीय है। उनकी लोकोत्तर साधनामयी तपस्या का जैसा लाभ श्रमण-सस्कृति को प्राप्त हुआ, वैसा ही उनके धर्म प्रचार का सनातन वैदिक-सस्कृति को पखारने के रूप मे सामान्य भारतीय जनता को प्राप्त हुआ। धर्म-कर्म पर ब्राह्मणो का एकाधिकार था। धर्मशास्त्र सामान्य जनता के लिए अगम्य तथा दुर्बोध वैदिक सस्कृत भाषा मे होने के कारण उन पर भी ब्राह्मणो का ही एकाधिकार था। उनकी मनमानी व्यवस्था धर्म के नाम पर जनता के सिर बलात् थोप दी जाती थी। दान-दक्षिणा और पुरोहितार्थ पर निर्भर ब्राह्मण वर्ग समस्त धर्म-कर्म के लिए "दलाल" बन गया था। स्वय निठल्ला बनकर उसने सारे समाज को भी धर्म-कर्म की दृष्टि से निठल्ला बना दिया था। धर्म की इस ठेकेदारी और दलाली के विरुद्ध भगवान महावीर ने विद्रोह कर दिया। धार्मिक कर्म-काण्ड के भोगेश्वर्य का निमित्त बन जाने के कारण उसका रूप नितात निवृत्त हो गया था। इस हिंसा का समावेश यहाँ तक हो गया कि नरबलि भी उनमे दी जाने लगी। इस हिंसाकाण्ड का भी भगवान् महावीर ने तीव्र प्रतिवाद किया। वर्ण धर्म को जडता व मूढता के कारण अन्यगत जात-पाँत के ऊँच-नीच तथा भेदभाव का ही रूप मिल गया था। भगवान महावीर ने इस रूढिगत सामाजिक व्यवस्था को भी जडमूल से झकझोर दिया। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्" अर्थात् स्त्री और शूद्र को पढने पढाने का अधिकार नही है, इस ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध भी क्रान्ति का शख फूक दिया। आध्यात्मिक साधना का मार्ग उनके लिए प्रशस्त बना दिया। इसी कारण सन्त विनोबा ने बुद्ध की अपेक्षा महावीर को कही अधिक महान् सामाजिक एव धार्मिक क्रातिकारी कहा है। उनका मत यह है, कि भगवान् श्रीकृष्ण के बाद स्त्रियो के लिए आध्यात्मिक पथ को प्रशस्त बनाने वाले भगवान महावीर ही थे। यह कहा जाता है, कि उनके सघ मे पचास हजार मे चौदह हजार भिक्षुणिया थी। इस प्रकार भगवान् महावीर ने भारतीय जीवन की प्रमुख श्रमण तथा ब्राह्मण दोनो ही सास्कृतिक धाराओ को निखारने का सफल क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। वह उनकी भारतीय जीवन के लिए सबसे बडी विरासत है। भारतीय जीवन के प्रवाह को नियन्त्रित रखने वाली ये दोनो धाराएँ नदी के दो किनारो के समान हैं। उन दोनो को निखारकर सुधारने और सुदृढ बनाने वाले भगवान् महावीर को हमारे शत-शत प्रणाम है।
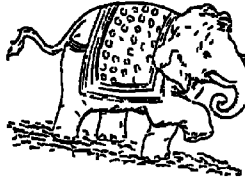
भारतीय-संस्कृति में अहिंसा

मुनिश्री श्रीमल्ल

"मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी"

भेद-ज्ञान पूर्वक अभेद आचरण ही अहिंसा है। जब तक समस्त प्राणियो मे अभेद दृष्टि रखकर नही बरता जाता, तब तक अहिंसा का आचरण नही हो सकता। प्रत्येक आत्मा का स्वरूप एक ही प्रकार का है, ऐसा समझकर सभी प्राणियो के साथ अपने ही जैसा सरल, सत्य व्यवहार करना अहिंसा की साधना है। क्योकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसके धर्म का और उसकी अहिंसा का स्वरूप भी पूर्णत सामाजिक ही हो सकता है। मनुष्य का विकास समाज के विना सभव नही है। बिना दूसरो की सहायता के मनुष्य जी नही सकता। इसीलिए आचार्य उमास्वाति ने "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" कहा है। अर्थात् जीवो का जीवन एक दूसरे के सहयोग से ही चल सकता है। अतएव धर्म और अहिसा के आचरण मे भी सामाजिकता की दृष्टि अनिवार्य है। सामाजिकता की दृष्टि अभेद आचरण की प्रेरणा देती है। पर भेद-ज्ञान का होना भी जरूरी है। शरीर के अगोपाग एक-दूसरे से भिन्न आकृति वाले प्रतीत होते है, फिर भी उन सबमे एकात्म-वृत्ति है। इसलिए वे अलग-अलग होते हुए भी एकरूप है। पैर मे काँटा चुभते ही मन की प्रेरणा से हाथ अविलब काँटे को निकालने के लिए तत्पर हो जाते है। हाथो को ऐसा करने के लिए सिखाना नही पडता। पैर का काँटा निकालते समय हाथ यह नही सोचते कि पैर गदे है, हमसे नीचे है—हम इनका स्पर्श कैसे करे? क्योकि हाथ और पैर मे आकृति-भिन्नता के बावजूद चैतन्य का एकत्व है। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" अर्थात् जो इस शरीर मे है, वही पूरे विश्व मे है। शरीर के भिन्न आकृति और भिन्न काम वाले अग-प्रत्यग की तरह ही सारे ससार मे भी अलग-अलग

प्राणी है। पर "एगे आया" के सिद्धान्त के अनुसार समस्त आत्माएँ एक ही स्वरूप की है। इसी एकत्व अनुभूति के आधार पर अहिंसा का पालन किया जा सकता है।

शरीर तथा कार्य सबधी गौण उपाधियो के मोह मे पडकर जब मानव स्वय को बाँध लेता है, तब अहिंसा का पूर्ण विकास नही सध पाता। वैयक्तिक और सामुदायिक—सब प्रकार के बधन अहिंसा के विकास को रोकने वाले है। बधन और सकीर्णता का अहिंसा से जन्मजात विरोध है। गगा की मुक्त जलधारा के समान अहिंसा का प्रवाह भी मुक्त और व्यापक होता है। अहिंसा कुटुम्ब, प्रान्त, भाषा, पथ, सप्रदाय या तथाकथित धर्म के गड्ढो मे बद कर दी जाए, तो उसकी भी वही हालत होगी, जो हालत गगा के शुद्ध जल की किसी गड्ढे मे बन्द कर देने से होती है। सम्प्रदायवाद के घेरो मे बन्द कर देने से अहिंसा ने अनेक विकृतियाँ पैदा की—कायरता पनपायी और 'धर्म खतरे मे" का नारा देकर हिंसा को प्रोत्साहित किया। इसलिए अहिंसा के पालन और प्रचार के लिए उसे समस्त बाहरी बधनो से मुक्त रखना होगा।

मानव ने अपनी सुविधा के लिए भाई-बहन, पति-पत्नी, माँ-बाप आदि सबध बनाए। इन सबधो का उपयोग यदि मानवता के विकास मे किया जाए, तब तो ठीक है किन्तु इन्ही सबधो को सकीर्ण घेरो का रूप दे दिया जाए और इन सबधो के कारण समाज से द्वेष किया जाए, तो अहिंसा पनप नही सकेगी। इसी तरह समाज मे सुविधा के लिए कुछ वर्ग बनाए गए तथा व्यवस्था की दृष्टि से पृथ्वी पर सीमा-रेखाएँ खीची गयी। किन्तु इन सबकी उपादेयता केवल व्यवस्था और सुविधा के लिए है। यदि इस मौलिक उद्देश्य को भुला दिया जाए और प्रान्त तथा राष्ट्रीय सीमाओ का व्यामोह हो जाए, तो यह व्यवस्था ही हिंसा का रूप धारण कर लेती है। क्योकि सारे विश्व के मनुष्यो मे एक ही स्वरूप वाली आत्मा बसती है—यह विचार जब तक कायम रहेगा, तब तक भाषा, प्रान्त या राष्ट्र के नाम पर सकीर्णता को प्रश्रय नही मिलेगा।

भाषा के नाम पर मन के टुकडे कर लेना निहायत नासमझी है, क्योकि भाषा भावो को व्यक्त करने का एक साधन मात्र है। यदि उस साधन का दुरुपयोग किया जाएगा, तो उसका परिणाम हिंसा के रूप मे ही प्रगट होगा। इसी तरह सप्रदायो और पथो ने भी अहिंसा के नाम पर सकुचित मत-वादो को प्रश्रय देने के कारण हिंसा को ही प्रोत्साहित किया है। जो आत्म-साधना के भिन्न-भिन्न प्रकार मात्र थी, वे धार्मिक परपराएँ ही यदि मानव को मानव से अलग करने का साधन बन जाएँगी, तो अहिंसा के विकास का इतिहास आगे कैसे बढेगा? मेरा आशय इतना ही है, कि मानव समाज के बीच मे भेद की दीवार खडी करना सर्वाधिक हिंसा का कार्य है। इसलिए अहिंसा का पहला रूप यही हो सकता है, कि इस प्रकार के जडतापूर्ण भेदो को नष्ट किया जाए।

यह भेद की दीवार मनुष्य ने अपने स्वार्थो को पूरा करने के लिए खडी की है। वरना समाज मे कामो का समुचित बँटवारा बहुत ही अच्छे ढग से किया गया था। समाज की आवश्यकता के अनुसार कुछ लोगो को ज्ञान-विज्ञान की साधना और उसके प्रचार का काम सौपा गया। कुछ लोगो को निर्बलो

की रक्षा का कार्य सौंपा गया। कुछ लोगों को लकड़ी, लोहा, चमड़ा आदि का उपयोग कर आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए कहा गया। कुछ लोगों को वस्तुओं के विनिमय के जरिए एक-दूसरे की जरूरत पूरी करने का काम सौंपा गया। इस तरह एक ही शरीर के अलग-अलग अंगों से जिस तरह अलग-अलग काम लिया जाता है, उसी तरह समाज के अलग-अलग अंग बनाकर ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया गया, ताकि विकास के मार्ग में कहीं बाधाएँ उत्पन्न न हों, पर मनुष्य के कुटिल मन ने अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए एक काम को ऊँचा और दूसरे को नीचा माना। फलस्वरूप जाति-पाँति आदि संकीर्ण भावनाएँ उत्पन्न हुईं। किसी एक कार्य को श्रेष्ठ बनाना और दूसरे को अश्रेष्ठ बनाना, इसी तरह ऊँच-नीचपन की कल्पना करके पारस्परिक व्यवहारों में भेद उत्पन्न करना—सबसे बड़ी हिंसा है। चाहे समाज का कोई भी काम क्यों न हो सब समान हैं। उन कामों को करने वाले समस्त मानव भी समान हैं। इस तरह का समानता-मूलक दृष्टिकोण ही सरल, सत्य व्यवहार करने की प्रेरणा देता है और वही सच्ची अहिंसा का रूप है।

युग के आरम्भ में भगवान ऋषभदेव ने समाज को तीन भागों में बँटवारा किया—असि, मसि और कृषि मानव के मन में पैदा होने वाली पशुता को, अपराध भावना को रोकने के लिए रक्षक दल है, वह 'असि' विभाग में आता है। ज्ञान-विज्ञान की साधना और शिक्षण का काम करने वाले मसि विभाग' में जाते हैं। उत्पादन विनिमय और व्यापार की जिम्मेदारी उठाने वाले कृषि विभाग में आते हैं। उस युग की जरूरत के अनुसार यह बँटवारा था। ऐसा मानना आवश्यक नहीं है कि आज भी ठीक उन शब्दों को पकड़कर चलना पड़ेगा। परिस्थितियों के अनुसार कुछ परिवर्तन अनिवार्य होगा। लेकिन भावना की दृष्टि से समाज में इसी तरह काम का बँटवारा करना होगा और सब प्रकार के काम करने वाले समान स्तर के हैं, ऐसा मानना होगा। क्योंकि जनसंख्या का विस्तार अधिकाधिक हो रहा है और आज कृषि को शोषण का जरिया बना दिया गया है, इसलिए आज की परिस्थिति में शायद पूरे समाज के लिए कृषि अनिवार्य मानी जाए। पर मूल प्रश्न तो यह है, कि अहिंसा की दृष्टि से असि, मसि और कृषि काम करने वाले मनुष्यों में किसी तरह का भेद नहीं है, कोई ऊँचा-नीचा नहीं है, जाति-भेद केवल मानव का स्वार्थ और दुराग्रह मात्र है।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥"

अहिंसा का प्रारम्भ मनुष्य से होता है। जैसे शिक्षा का आरम्भ "क-ख-ग" से होता है, उसी तरह अहिंसा की दृष्टि से मनुष्य जल्दी समझ में आता है। किसी भी दुःख से पीड़ित मनुष्य को जब छोटा बच्चा भी देखता है, तो उसकी आत्मा में कम्पन-सा छा जाता है। एक सहज सहानुभूति की भावना उसके अन्तःकरण में उठती है। यह जो सहज हमदर्दी, है वही अहिंसा का प्रवेश-द्वार है। किसी को दुःखी देखते ही उसके दुःख को दूर करने का प्रयत्न करने की इच्छा होती है। मनुष्य के दुःखों का प्रभाव आत्मा पर बहुत ही शीघ्र पड़ता है। यह नहीं है, कि अहिंसा का आरम्भ मनुष्य से होगा और

ज्यो-ज्यो आत्मा की सवेदन-शीलता तीव्र-तीव्रतर होती जाएगी, त्यो-त्यो प्राणीमात्र को आत्मौपम्य समझने की भावना जागृत होगी और प्राणीमात्र की रक्षा के लिए मानव न केवल प्रयत्न करेगा, वल्कि अपना वलिदान करने को भी तैयार रहेगा।

यह कैसी विडम्बना है, कि कुछ अहिंसा का दावा करने वाले कीडे-मकोडो को बचाने का प्रयत्न तो करते है किन्तु भूखे, नगे दरिद्र मानव को छटपटाते हुए देखकर भी मन मे करुणा नही लाते। वास्तव मे इस प्रकार कीडे-मकोडे को बचाने का प्रयत्न अहिंसा नही है। यह तो अहिंसा के रूप मे आत्मा पर आवरण है। जिससे कृत्रिम सतोष होता है। जिसे कीडे और मकोडे के दु ख पर दया आती है, वह व्यक्ति दलित, शोपित और दु.खी मानव की रक्षा के लिए अपने प्राण भी अर्पण कर सकता है। इस प्रकार हमे समझना चाहिए कि अहिंसा का जीवन मे व्यवहार कैसे हो ? बहुत वडे-वडे अहिंसावादी लोगो का उनके नौकरो के साथ जव व्यवहार होता है, तब तो दातो तले अगुली दबानी पड जाती है। वे हरी सब्जी खाने मे हिंसा मानते है, पर अपने आश्रितो को प्रताडित करने मे या उनकी आवश्यकताओं का शोपण करने मे चातुर्य और कुशलता समझते है। यह हमारी अहिंसा की विडवना है। काम, क्रोध, मोह आदि विकारो को नष्ट करके मानव-प्रेम, समानता, शोपण का त्याग और समभाव की आराधना करना ही अहिंसा का सम्यक् स्वरूप है। जैसे दातो के बीच जीभ के कुचल जाने पर भी हमे दातो पर क्रोध नही आता, क्योकि हमारा मन यह जानना है कि जीभ मेरी है और दात भी मेरे है, इसी प्रकार मानव के साथ भी अपनापन जुडना चाहिए और जव यह जुडेगा, तभी मन के सारे विकार और दोप मिट सकेंगे।

मैने ऊपर यह वताया है कि अहिंसा का स्वरूप केवल व्यक्तिगत साधना तक सीमित नही है। मदिर मे जाना, सामायिक करना, भजन-कीर्तन करना—यह सब व्यक्तिगत साधना के तरीके है। यदि कोई समझता हो, कि इन तरीको से अहिंसा की साधना पूरी हो जाएगी, तो वह निरा भ्रम है। अहिंसा की प्रतिष्ठा तो जीवन के हर मोड पर होनी चाहिए। हमारा व्यवहार-व्यापार आदि कैसा है, यह देखकर ही अहिंसक जीवन की कसौटी की जा सकती है। अधिक से अधिक शोपण के जरिए पैसा एकत्रित करने की धुन अहिंसा की साधना मे सबसे वडी वाधा है। जो अहिंसा की साधना चाहता है, उसे सत्य और अपरिग्रह की साधना अनिवार्य रूप से करनी पडेगी। कदम-कदम पर यह समझना होगा कि मैं समाज के लिए कही भारभूत तो नही बन गया हूँ ? मेरे कारण कही विपमता को, दरिद्रता और शोपण को प्रोत्साहन तो नही मिल रहा है ? इस प्रकार सतुलित चिन्तन करते हुए जीवन-व्यवहार चलाना अहिंसक चर्या के लिए आवश्यक है।

★

कर्म और अनीश्वर-वाद

श्रीप्रकाश दुबे एम० ए०

भारतीय दर्शनो मे लोकायत (चार्वाक) को छोडकर सभी दर्शन कर्मवाद को मानते है। कर्मवाद का सरलतम एवं स्पष्टतम अर्थ है कि जो जैसा करेगा, वह वैसा भोगेगा। भारत के ऋषि-महर्षियो ने सतत चिंतन के उपरान्त जिस विशाल प्रज्ञा-मन्दिर का निर्माण किया है, उसका स्वर्ण कलश यदि मुक्ति है, तो उसकी आधारशिला कर्मवाद। इस ससार मे कोई धनी है, तो कोई निर्धन। कोई सुखी है, तो कोई दुखी। कोई स्वस्थ और सुन्दर है तो कोई रुग्ण व कुरूप। कोई सदाचारी है, तो कोई दुराचारी। कोई भला है तो कोई बुरा। इन सब विषमताओ का मूल कारण क्या है ? क्यो अच्छे लोग प्राय कष्ट उठाते हैं, और दुष्ट लोग मखमल की सेज पर सोते हैं ? क्यो किसी का एक मात्र पुत्र मर जाता है और दर्जनो पुत्रो वाले निर्धन पिता की वश-वृद्धि लगातार होती जाती है ? प्रत्येक जागरूक व्यक्ति के अन्दर अनायास ही यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि अन्ततोगत्वा इसका कारण क्या है, कहाँ है ? इन सारे प्रश्नो और विषमताओ का एक मात्र उत्तर है "कर्म"।

कर्म का साधारण अर्थ होता है—कार्य, अथवा क्रिया। हम जो भी कार्य करते है, वे उस काय तक ही सीमित नही रह जाते। प्रत्येक कार्य-कलाप एक ऐसा सस्कार छोड जाता है, जो बाद मे उपयुक्त समय व स्थान पाकर फल देता है। हम आज जो कर रहे हैं, उसका फल कल अवश्य मिलेगा। आज जो भोग रहे है, वह भूतकाल के कृत्यो का परिणाम है। हमने जो पेड दस वर्ष पहले लगाया था, उसी का फल आज खाने को मिलता है। जो बीज आज बोया जाएगा, वह तुरन्त फल न देकर भविष्य मे फल देगा। इस प्रकार प्रत्येक कार्य या फलभोग मे भूत, वर्तमान और भविष्य की शृखला बनी रहती है। इसी सिद्धान्त को जरा बडे पैमाने पर लागू करने से हम पूर्वजन्म व पुनर्जन्म का निष्कर्ष निकालते हैं। हम

अपने किए हुए कर्मों के कारण ही दुःख या सुख भोगते है। सन्त तुलसीदास ने बड़े ही सुन्दर शब्दो मे इस तथ्य को स्पष्ट किया है —"कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।" जब एक सज्जन व्यक्ति को हम इस जन्म मे कष्ट उठाते देखते हैं, तो एक पूर्वजन्म का अनुमान लगाना पडता है, जिससे किए गए कृत्यो के कारण व्यक्ति-विशेष सज्जन होने के बावजूद भी कष्ट उठाता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति यदि इस जीवन मे अनेक अत्याचार व दुष्कृत्य करता है, तथापि बडे आराम से दिन काट ले जाता है, तो उसके लिए भी एक भावी जीवन की निष्पत्ति करनी होती है, क्योकि कर्म का बिना भोग के क्षय नही होता—"विना भोगान्न तत्क्षय ।" तथा "नाऽभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि।"

कर्म की शक्ति बडी अद्भुत है। जड, चेतन, स्थावर, जगम, सुर, असुर आदि कोई भी इसके प्रभाव से वचित नही। सारे ससार का सचालन कर्म के द्वारा ही होता है। रवि, शशी, नक्षत्र तथा तारे सभी कर्म के नियम से परिचालित होते है। सूर्य की प्रत्येक रश्मि, वर्षा की प्रत्येक बूद, धूल का हर एक कण, सागर की सभी तरगे, काल का एक-एक क्षण—यह सब कर्म के कानून के पावन्द है। वैदिक साहित्य मे कर्म को "ऋत" के समकक्ष माना गया है। कर्म स्वय मे अचेतन या निर्जीव है, परन्तु इसका शासन चेतन जगत् पर भी है। ईश्वरवादियो को यह बडा अटपटा लगता है। वे यह नही समझ पाते कि निर्जीव कैसे सजीव पर शासन कर सकता है। वे कर्म के समुचित सचालन के लिए चेतन ईश्वर को आवश्यक बताते हुए यह कहते है कि कर्म ईश्वर से उत्पन्न हुआ है और ईश्वर कर्माध्यक्ष है—"कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि···(गीता) तथा "एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।" (श्वेताश्वर उपनिषद्)। परन्तु यदि हम कर्मवाद पर दृढतापूर्वक स्थिर रहे, तो निश्चित रूप से ईश्वर का त्याग करना होगा। ईश्वर की कल्पना करने मे हम जगत् के सारे श्रेय व प्रेय का समावेश कर डालते है। ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, भक्त-वत्सल, करुणागार, उदार व कृपालु है। परन्तु यदि ईश्वर दया की मूर्ति है और साथ ही साथ जगत् का स्रष्टा भी है, तो क्यो उसने दुनियाँ मे विभीषिकाएँ, महामारियाँ, निर्धनता, व्याधियाँ तथा कलह आदि बनाए ? यदि उसने इनका निर्माण या सर्जन कर ही दिया, तो बाद मे क्यो नही इनको समूलत नष्ट कर डाला ? वह सर्वशक्तिमान है, तो कोई कारण नही कि इनका उन्मूलन न कर सके। यदि यह कहा जाए कि ईश्वर कर्म के अनुसार सृष्टि करता है, तो प्रश्न है कि जब सृष्टि के आदि मे जीव था ही नही तो कर्म भी नही रहा, तब कैसे सृष्टि मे विषमता आई ? यदि सृष्टि व कर्म तथा जीव सभी को अनादि मान लिया जाए, तो यह विवेकपूर्ण उत्तर की अपेक्षा पलायनवाद ही कहा जाएगा।

कर्मवाद और ईश्वरवाद—दोनो को साथ मानकर चलने से हम एक ऐसी जगह पहुँचते है, जहाँ नीचे खाई और ऊपर पहाड है। यदि ईश्वर कूटस्थ व अक्रियाशील है, क्योकि वह आप्तकाम है, तो वह जगत की सृष्टि नही कर सकता। और यदि वह क्रियाशील है, तो कर्मवाद के अधीन हुआ। सत् और निरर्थक या सार्थक और असत् ये दो ऐसे विकल्प है, जो ईश्वरवादियो को कभी ग्राह्य नही हो सकते। यदि कर्म ईश्वर का बनाया हुआ है और ईश्वर कर्म के अनुसार सृष्टि निर्माण करता है तथा सुख-दुःखादि

का विभाजन करता है, तो ईश्वर कर्मवाद के अधीन हुआ ही। यहाँ पर ईश्वर की स्वतन्त्रता को आघात पहुँचता है। यदि वह कर्मवाद की उपेक्षा या उल्लघन करता है, तो वह उन्मत्त एव अनियत्रित तानाशाह कहा जाएगा, जिसकी हुकूमत का कोई नियम ही नही।

ईश्वरवादी मतो मे ईश्वर की कृपा या अनुग्रह से जीव को मोक्ष देता हे। परन्तु यदि कर्मवाद को वास्तविक अर्थ मे लिया जाए, तो ईश्वर के अनुग्रह को कोई स्थान ही नही—कोई अर्थ ही नही। कहा जाता है कि ईश्वर की कृपा कर्म की अपेक्षा नही करती। वाइविल के अनुसार ईश्वर के दरवार मे निकृष्ट—उत्कृष्ट वन जाता हैं और अतिम–प्रथम। पापी को मोक्ष पहले मिल जाता है और पुण्यात्मा को बाद मे। कर्मवाद की अवहेलना करके यदि ईश्वर जीवो को मोक्ष देता है, तो एक साथ सभी जीवो को मोक्ष दे देना चाहिए, ताकि सारा किस्सा ही समाप्त हो जाए। परन्तु ऐसा नही होता। शायद ईश्वर ऐसा करने को स्वतन्त्र नही है। परन्तु जव कर्म का घ्यान रखे विना ही वह कुछ को मोक्ष दे देता है और कुछ को नही, तो पक्षपाती होगा तथा वैषम्य नैर्घृण्य का प्रसग उपस्थित हो जाएगा, जिसे ईश्वरवादी कदापि नही मानेंगे। दूसरी ओर यदि पापी को कृपा से मोक्ष प्रदान कर देता है और पापी के सारे कर्म विना भोग के ही नष्ट हो जाते हैं, तो कर्मवाद की आधारशिला ही चलायमान हो जाती है। तव तो कोई पापी असख्य पाप करने के पश्चात् ईश्वर के समक्ष हाथ जोडकर, कृपापात्र वनकर मुक्ति पा जाएगा। परन्तु लोगो को ईश्वर की ऐसी कृपा का विश्वास हो जाए, तो सभी लोग श्रमसाध्य नैतिक आचार-विचार छोडकर दुष्कर्मो मे ही प्रवृत्त हो जाँए और सामाजिक जीवन मे अराजकता एव नृशसता का नग्न नर्तन होने लगे।

इस प्रकार कर्मवाद व ईश्वर दोनो को मानने से हम एक ऐसी स्थिति पर पहुँचते है, जिसे दार्शनिक शब्दावली मे 'उभयत पाशारज्जु' की सज्ञा दी जाती है। यहाँ साँप-छछूँदर की दशा हो जाती है। न निगलना वनता है, न उगलना। ईश्वरवादी यद्यपि इन कठिनाइयो को दूर करने का प्रयत्न करते है, परन्तु उन्हे इस प्रयास के फलस्वरूप कुछ भी हाथ लगता हो, ऐसा प्रतीत नही होता। अनीश्वरवादी ईश्वर को नही मानते, उनका काम बिना ईश्वर के ही चल जाता है। वे तो प्रयत्नलाघव के न्याय को मानते है। यदि ताजा व शुद्ध दूध हमे बाजार से मिल जाए तो गाय घर मे रखकर उसके लात सहने से क्या फायदा? ईश्वर को न मानने से अनेक समस्याएँ सुलझ जाती है। कितनी ही चीजें सम्भव हो जाती है। पश्चिम के दार्शनिक नीत्शे ने घोषणा की—"ईश्वर मर गया।" और यदि ईश्वर मर गया, तो नैतिक आदर्शो व समाज की व्यवस्था का सारा दायित्व मनुष्य के कन्धो पर आ पडता है। पश्चिम के मानवतावादी व अस्तित्ववादी विचारो की पूर्वपीठिका यही है। और यही है भारतवर्ष मे अनीश्वरवादी दर्शनो व सम्प्रदायों के विकास की आधारशिला। मानव जाति के विकास के इतिहास पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो पता लगेगा कि ईश्वर के विचार ने मनुष्य के अन्तर मे हीनता की ग्रन्थि उत्पन्न कर दी है। जो कुछ है सव ईश्वर है, जो भी हम करते है सव ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर करते है, ऐसी भावना ने मानवता का पतन अधिक किया है, उत्थान कम। आत्म-निर्भरता का पाठ पढने वाले अनीश्वरवादियो ने विकास के नाम पर चार चाँद लगाएँ हैं। क्योकि उन्हे मानव-शक्ति की थाह लगानी थी, उसे प्रकट करने

की प्रदर्शनी लगानी थी। जब आत्मा पर अपना नियन्त्रण होता है, तब आत्मा का विकास होता है। परन्तु जब आत्म पर किसी दूसरे का नियन्त्रण होता है, तब ह्रास होता है, अवनति होती है। आत्मा पर परमात्मा का कब्जा नही होना चाहिए। उसे स्वच्छन्द आकाश मे पख फडफडाने देना चाहिए, तभी वह शक्तिशाली होगा और अपने स्वरूप को समझेगा। दीन-हीन बनकर ईश्वर के समक्ष घुटने टेकना क्या किसी जमीदार की गुलामी मे कम है? आत्मा को सबल बनाने के लिए इसी की सर्वोपरि सत्ता स्वीकार करना अनिवार्य है।

इन्ही सब कारणो से जैन, बौद्ध व मीमासको ने ईश्वरवाद का त्याग कर कर्मवाद को माना। यदि यह कहा जाए कि अनीश्वरवाद—कर्मवाद का स्वाभाविक निष्पन्न रूप है, तो अवाछनीय या अनुपयुक्त न होगा। कर्म की सर्वतोमुखी एव युक्ति-युक्त व्याख्या करने पर ईश्वर की धारणा लुप्त हो जाती है। प्रश्न यह उठता है कि तब ईश्वरवादी कर्म मे विश्वास कैसे करते है? उत्तर है कि वे कर्म को मानते तो है, परन्तु सर्वोच्च नियम के रूप मे नही। कर्म-ज्ञान व भक्ति से बढकर नही है। यहाँ तक कि वह ईश्वर के अनुग्रह के भी आधीन है। इसी कारण ईश्वरवादी सम्प्रदायो मे सुविधानुसार कर्मवाद को परिमार्जित व सशोधित करने के पश्चात् ग्रहण किया गया है। कही कही तो यह विकृत भी हो गया है। कही राजा के दुष्कर्मो से सारी प्रजा की हानि बताई जाती है, तो कही पत्नी के पुण्य से पति काल के गाल से भी लौट आता है। कही भिक्षा न देने पर गृहस्थ के सारे पुण्य भिक्षुक को स्थानान्तरित हो जाते है, तो कही एक त्रुटि के कारण आजीवन का तपस्वी अनन्त नरक भोगने वाला बताया जाता है। पाश्चात्य विद्वान श्री हाप्किन्स ने रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (१६०६ ई०) मे इस दिशा मे सम्यक् प्रकाश डाला है, जो रोचक होने के साथ-साथ माननीय भी है।

सारे अनीश्वरवादी इस बात पर एक मत है कि कर्म स्वय फल देता है। इसके सचालन के लिए किसी चेतन की आवश्यकता नही है। अचेतन कर्म जब चेतन जीव के सपर्क मे आता है, तब कर्म मे एक ऐसी शक्ति आ जाती है, जो जीव के सुख-दुख का उसके कार्यो के अनुसार निश्चय करती है। मीमासक लोग इस शक्ति को "अपूर्व" या अदृष्ट कहते है तथा जैनमतावलम्बी—"कर्म-पुद्गल"। जब हम कोई कार्य करते है तो आत्मा मे एक प्रकार का स्फुरण उत्पन्न होता है, जिससे आन्दोलित होकर कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ चिपक जाते है और समय पाकर फल देते है। इन कर्म पुद्गलो का आस्रव निरतर होता रहता है, और क्रियाशील जीव मे ये बँधते जाते है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान व चारित्र द्वारा ही इनका सवर के उपरान्त निर्जरा हो सकती है। कर्म से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। बौद्ध दर्शन मे इसी कर्म को "सस्कार" कहते है, जिसका कारण अविद्या है। जो कार्य हम करते है, उसका सस्कार बनता है और वही फल देता है। यह एक स्वत चालित व अविच्छिन्न नियम है, जिसमे नियन्ता की आवश्यकता नही है।

ईश्वरवादी यहाँ पर प्रतिवाद कर सकते है कि कर्म को फल देने के लिए आखिर चेतन की शरण लेनी ही पडी, तो अनीश्वरवादी "ईश्वर" से क्यो चिढते है, उसे मान क्यो नही लेते? इसका उत्तर यह है कि कर्मवाद यह अवश्य मानता है कि कर्म चेतन के साथ कार्य करता है, परन्तु इसका यह

तात्पर्य नही कि वह चेतन ईश्वर ही है। कर्म को फलित होने के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नही। यदि कर्म के फल के लिए ईश्वर आवश्यक होता, तो ईश्वर के न मानने वालो के कर्मों का कोई फल ही न होता। पर ऐसा नही होता है। यदि चेतन का अर्थ ईश्वर लगाया जाए, तो इस दृष्टि से सारे मतो के अनुयायी ईश्वरवादी हो जाएँगे। परन्तु ईश्वरवादी ईश्वर को साधारण चेतन अर्थ मे नही समझते। और भी, कर्म, चेतन पर आश्रित है, यह कथन ठीक नही। चेतन जीव कर्म का विषय है और विषय कदापि विषयी का आधार नही होता। यदि यह प्रश्न उठाया जाए, कि विना चेतन के कर्म कैसे हुआ तथा बिना कर्म के चेतन बन्धन मे आया तो कैसे, तो इसका उत्तर यह है कि कर्म एव जीव—दोनो बीजाकुर की भाँति अनादि है। दोनो मे पौर्वापर्य का भेद नही है। इस बात को ईश्वरवादी भी मानते है।

यद्यपि कर्म व अनीश्वरवाद पर अनेक ऐसे प्रश्न व विचार है, जिनका विचारपूर्ण अध्ययन काफी रुचिकर एव लाभकारी होगा, परन्तु वह सब लघु निबध की सीमा के बाहर है। उनके लिए तो स्वतन्त्र ग्रन्थो का विशाल क्षेत्र ही उपयुक्त होगा। मैंने यहाँ पर इतना ही प्रयास किया है कि मुख्य समस्याओ व उलझनो को दृष्टि-पथ मे लाया जाए। यद्यपि मैं स्वय ईश्वरवादी हूँ, परन्तु कर्मवाद को सही रूप मे ग्रहण करने पर जैसा कि मैंने पहले कहा है, ईश्वर विषयक विचारो पर आघात पहुँचाता है। आशा है कि विद्वज्जन इस दिशा मे कुछ नयी विचार शृखलाओ का प्रवर्तन करेंगे, ताकि इस विषय पर पूर्ण प्रकाश पड सके।
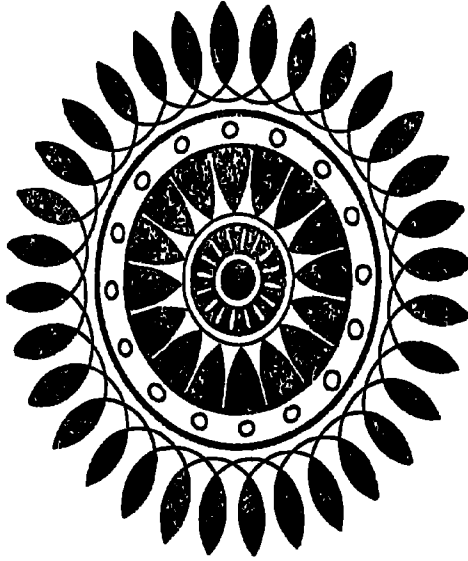
अहिंसा का मूल आधार : समत्व-योग

सुरेशमुनि शास्त्री साहित्यरत्न

अहिंसा का मौलिक मूल्य

मनुष्य का जीवन जब स्वार्थ की सकीर्ण सीमाओ से घिर जाता है, तो ससार मे चारो ओर विषमता का दुश्चक्र चल पडता है। परिवार, समाज और राष्ट्र के अन्तराल मे दुख, पीडा, बेचैनी और व्याकुलता अपने पैर पसारने लगती है। स्वार्थी मनुष्य अपने ही खाने-पीने के लिए, अपने मौज-मजे के लिए, अपने ही सुख-भोग के लिए, दूसरो का शोषण करता है, दूसरो को लूटता है, दूसरो को धोखा देता है, दूसरो की आँखो मे धूल-झोक कर अपना उल्लू सीधा करता है। अपने आराम के लिए दूसरो का आराम छीनता है, दूसरो की लाश पर अपनी जिन्दगी का महल खडा करने की कोशिश करता है, अपनी खुशी के लिए औरो की जिन्दगी को कुचलता है- दूसरो के प्राणो के साथ खिलवाड करता है। दूसरो के ऊपर क्या गुजर रही है, इस ओर उसका ध्यान ही नही जा पाता। वह तो अपने को ही देखता है। अपने आप मे ही बन्द हो जाता है वह। अपनी ही इच्छाओ, महत्त्वाकाक्षाओ तथा सुख-सुविधाओ को महत्त्व देता है। इस स्वार्थ-परता तथा सकीर्ण दृष्टि के फलस्वरूप परिवार, समाज और राष्ट्र मे हिंसा शोषण, भेद-भाव, तथा दानवता का नगा नाच होने लगता है। मानव, मानव न रहकर दानव बन जाता है।

जैन-सस्कृति के वरिष्ठ विधायको ने मानव को जीवन के इस सकुचित घेरे से बाहर निकालने के लिए, स्वार्थ को परमार्थ मे परिवर्तित करने के लिए, दानवता को मानवता का रूप देने के

लिए मानव-जगत् को अहिंसा का अचूक प्रयोग बतलाया। मानव के अन्तर को झकझोरते हुए उन्होंने कहा — मानव! जब तक तू अपने-आप में बन्द रहेगा, तो सुख शान्ति के तुझे कभी भी दर्शन नहीं हो सकते। कोरा अपने प्रति प्रेम जहर है, तेरा भी विनाश करेगा और दूसरो का भी विनाश करेगा। यदि तेरा यह प्रेम जन-जन के मन-मन तक पहुँच जाए, यदि तू विराट् रूप धारण कर प्राणिमात्र को अपने प्रेम की डोरी में लपेट ले, आत्मसात् करले तो तेरा यह प्रेम अमृत बन जाएगा, स्व-पर के लिए मंगल वरदान बन जाएगा। तेरे मन के अन्तराल की गहराइयों में से करुणा की अमृत-धारा फूट निकलेगी। जब तू व्यष्टि से निकलकर समष्टि के रूप में सुख दुःख की बात सोचने लगेगा, तो तेरे जीवन में अहिंसा का देवता जाग उठेगा। तेरा मन वचन-कर्म अहिंसा के मधुर साँचे में ढल जाएगा और तू सच्चे अर्थों में मानव बन जाएगा। तेरे परिवार, समाज तथा राष्ट्र में सर्वत्र समता का, सुख का, शान्ति का सुखद-मंगल वातावरण बन जाएगा। इधर-उधर कहीं भी दुःख, भय, त्रास, शोषण, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, हाहाकार का अभिशाप नजर नहीं आएगा।

अहिंसा का मूल आधार : समत्व योग

अहिंसा-तत्त्व का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से करने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि, अहिंसा की भावना आतंक-दर्शन तथा समत्व-योग से ही पैदा होती है। समत्व-योग ही अहिंसा का मूल आधार है। जो व्यक्ति दुःख से नहीं, दुःख के कारणों से बचना चाहता है, वह आतंकदर्शी है, अथवा दूसरों को दुःख देने में जो अपना दुःख देखे, वह आतंकदर्शी है। आतंक-दर्शी ही समदर्शी-समत्व-योगी बन सकता है—यह अनुभव की कसौटी पर परखा हुआ एक निश्चित-निश्चल एवं स्थिर स्पष्ट तथ्य है। दुःख अपने को अप्रिय है, तो सबको अप्रिय है—इस संवेदना, अनुभूति और आत्मा के समत्वयोग से ही अहिंसा उपजती है। इसीलिए तो जैन-संस्कृति के उन्नायकों तथा भाग्य विधाताओं ने एक दिन उद्घोषणा की थी —"अपने को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, तो दूसरों को भी सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। हिंसा अपने लिए अनिष्ट है, तो दूसरों के लिए भी अनिष्ट है—यह सोचकर दूसरों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[1]

समत्वयोग का मूलमंत्र : जीओ और जीने दो

अहिंसा की मूल-भावना प्राणि-मात्र को जीने का समान अधिकार प्रदान करती है। जिओ और जीने दो, यह अहिंसा का स्वर्णिम-सूत्र, जीवन के प्रति प्रत्येक प्राणी के अन्तर की आशा-आकांक्षा का आदर-स्वागत करता है और जीने के लिए प्राणि-मात्र के दावे को हृदय से स्वीकार करता है—यही तो प्रत्येक प्राणी के मन-मानस की सहज, स्वाभाविक एवं प्रबल आकांक्षा है।

---

[1] आत्मवत्सर्व भूतेषु, सुख-दुःखे प्रियाप्रिये।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां, हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥

—आचार्य हेमचन्द्र

अहिंसा का मूल आधार समत्व-योग

श्रमण भगवान् महावीर से एक जिज्ञासु साधक ने प्रश्न किया भते ! आपके शिष्य, ये निर्ग्रन्थ भिक्षु हिंसा का त्याग क्यो करते है ? अहिंसा का पथ क्यो अपनाते है ? अनेक भयकर कष्ट और घोर यातनाएँ सहन करते हुए भी, इस दुर्गम-विषम मार्ग पर क्यो चलते है ?

अहिंसा के उस परम देवता का सहज उत्तर था आयुष्मन् ! ससार मे सब जीव जीना चाहते है। मरना कोई भी नही चाहता ! सब अपने अस्तित्व के लिए सघर्ष करते है, भूजते है, प्रयत्न करते है ! मरना कोई चाहता ही नही। इसीलिए निर्ग्रन्थ, भिक्षु, घोर जीव हिंसा का परित्याग करते है।[1] सब प्राणियो के जीवन की धारा एक है ! सभी प्राणी दीर्घायु चाहते है, सुख पसन्द करते है और दु ख से घबराते है ! सबको मरण अप्रिय है, जीवन प्रिय है ! सभी जीने की कामना करते हैं ! ससार मे जीवन सब को प्यारा है।[2]

सब प्राणियों की आवाज एक है

जैन-सस्कृति के महान् आचार्यो का यह साम्य मूलक स्वर भारत के मैदानो मे गूँजता रहा है कि, जीवन का मोह और मृत्यु का भय, सब प्राणियो को एक समान है। सब जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता ! "एक गन्दगी को कीडे और स्वर्ग के अधिपति इन्द्र के अन्तर मे जीवन की आकाक्षा समान है और मृत्यु का भय भी समान है ! जिन्दगी का मैदान बराबर है ! सब प्राणियो की आवाज एक है। तुम अपने अन्दर दृष्टि डालकर देखो, अपने अन्तर मे झाक कर देखो कि, तुम्हारी चाह क्या है ? तुम्हारी आत्मा सुख चाहती है, तो दूसरे की आत्मा सुख चाहती है। तुम्हे दु ख प्यारा नही, तो तो ससार के अन्य जीवो को भी दु ख प्यारा नही ![4] जीवन को नापने का एक ही गज है।

समत्वयोग का उद्गाता ऋषि

जैन-सस्कृति के अमर उद्गाता ऋषि गर्दभालि ने राजा सयति को इसी समत्वयोग का सन्देश देते हुए कहा था—राजन् जैसे तुम गिडगिडा रहे हो, पीपल के पत्ते की तरह थर-थर काँप रहे हो, ऐसे

---

[1] सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पाणिवह घोर, निग्गथा वज्जयंति ण ॥

—दशवैकालिक-सूत्र

[2] सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्ख-पडिकूला, अप्पिय-वहा, पिय-जीविणो, जीविउ-कामा, सव्वेसिं जीविय पियं।

—आचाराग-सूत्र, १।२, ९२-९३

[3] अमेध्य मध्ये कीटस्य, सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताकाक्षा, सम मृत्यु-भय द्वयो ॥

—आचार्य हेमचन्द्र

[4] जह मम न पिय दुक्ख, जाणिय एवमेव सव्व जीवाण

—जैनाचार्य

ही दूसरे सत्रस्त प्राणी भी दु ख मे त्रास पाते हैं, गिडगिडाते हैं। जैसे तुम भयभीत हो रहे हो, ऐसे ही दूसरे प्राणी भी मरने से भय खाते हैं, घबराते हैं ! मूक पशु, जो बेचारे अपना दु ख प्रकट भी नही कर सकते, उनके खून से तुमने अपने हाथ रगे हैं ! दूसरो को भय देकर, दूसरो की जिंदगी लूटकर, दूसरो को मौत के घाट उतारकर, तुम निर्भय हो सकते हो, राजन् ! पैर मे काटा लग जाए, तो तुम्हे न दिन मे चैन न रात को नीद ही आती। तो फिर, जिसकी गर्दन पर छुरी चलती है, बाण की चोट लगती है, तो क्या उनको पीडा नही होती ? क्या उनका जीवन, जीवन नही है ? क्या उनको अपने प्राण प्यारे नही हैं ? सबके अन्दर एक ही चेतना की धारा बह रही है। सब सुख तथा निर्भयता चाहते हैं ! जो दूसरो को हँसाएगा, वह हँसेगा, जो दूसरो को रुलाएगा, वह रोएगा, आसू बहाएगा। दूसरो को निर्भय करोगे, तो निर्भय बनोगे और दूसरो को भय दोगे तो, भय मिलेगा, जैसी ध्वनि, वैसी प्रतिध्वनि ! हे पार्थिव ! तुम्हे अभय है, डरो नहीं, गिडगिडाओ नही ! यदि सचमुच, तुम निर्भय रहना चाहते हो, तो दूसरो को तुम भी अभय देने वाले बनो, निर्भय बनाओ। इस अनित्य-नश्वर ससार मे चार दिन की जिन्दगी पाकर क्यो हिंसा मे डूबे हो, क्यो दूसरो के खून से हाथ रगते हो।[1]

समत्वयोग से पाप-निवृत्ति

जैन-सस्कृति के महान् तीर्थंकरो ने समत्व-योग पर बल देते हुए एक दिन तुमुल उद्घोष किया था, सब आत्माओ को अपनी आत्मा के समान समझो और जितने भी ससार के अन्य प्राणी है, उनमे अपने आपको देखो तथा ससार की सब आत्माओ को अपने अन्दर मे देखो ![2] यदि तुम विश्व की समस्त आत्माओ मे अपने-आपको समझोगे, अन्य आत्माओ के अन्दर भी आत्म-दर्शन करोगे, तो उस स्थिति मे, यदि तुम किसी को कष्ट दोगे, तो तुम्हे यही अनुभूति होगी कि, मैं अपनी आत्मा को कष्ट दे रहा हूँ ! किसी को गाली दोगे, तो यही तुम महसूस करोगे कि मैं अपने आपको गाली दे रहा हूँ ! क्योकि सारे विश्व की आत्माओ मे मेरी आत्मा भी आत्मसात् है, तो किसी को कष्ट पहुँचाने अथवा गाली देने से अपनी चोट अपने ऊपर ही तो पडेगी। ससार के प्राणियो को अपनी आत्मा के समान मानकर यदि समूचे जगत् को तुमने एक विराट् रूप मे स्वीकार कर लिया, तो तुम्हारा जीवन विकार-वासनाओ से मुक्त होता चला जाएगा। कर्म के आस्रव का निरोध होता जाएगा, आत्म-दमन तथा इन्द्रिय सयम का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा, फिर ससार मे रहते हुए भी तुम्हे पाप-कर्म का बन्ध नही हो पाएगा। तुम्हारा जीवन निष्पाप हो जाएगा।[3]

---

[1] अभओ पत्थिवा ! तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीव-लोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १८।११

[2] सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।

वैकालिक-सूत्र, ४।९

[3] पिहिआसवस्स दतस्स पाव-कम्मं न बधइ।"

—दशवैकालिक, ४।९

समत्वयोग बनाम आत्मोपमता

"जिन बातो से, जिन व्यवहारो से, जिन चेष्टाओ से हमे दुःख होता है, वह बाते, वह व्यवहार, वह चेष्टाएँ हम दूसरो के प्रति भी कभी न करें ''''यह अनमोल शिक्षा हमे अहिसा परक समत्व-योग से ही है। जिन बातो से हमारे अन्तर मे हर्ष एव आनन्द की लहर दौड जाती है, उससे दूसरो को भी लाभ-प्राप्त हो, ऐसा सक्रिय प्रयत्न हमारा होना चाहिए-यह आत्मोपमता की बात हमे अहिंसा सिखलाती-बतलाती है। जो तुम अपने लिए चाहते हो, दूसरो के लिए, –समूचे ससार के लिए भी चाहो और जो तुम अपने लिए नही चाहते, उसे दूसरो के लिए भी मत चाहो, मत करो।[1] –यह आत्म-दृष्टि जैन-सस्कृति की अहिसा मे ओत-प्रोत होकर अखण्ड आत्म-जगत् को उज्ज्वल अनुभूति का विराट् आदर्श प्रस्तुत करती है।

समत्वयोग : एक श्रेष्ठ आचरण

कहना न होगा कि, जैन-सस्कृति की अहिसात्मक भावना के मूल मे सर्वत्र साम्य-दर्शन तथा समत्व-योग का स्वर गूंज रहा है। समत्व-योग का अर्थ है—सब प्राणियो के साथ एक-रूप हो जाना, अपने पराये का भेद न रहना। ससार मे पराएपन का ही अर्थ है, दु ख तथा हिंसा होना और साम्य-भाव अथवा समत्व-योग का ही अर्थ है, सुख एव अहिंसा होना। सुख दु ख की सारी परिभाषा समत्व तथा असमत्व पर ही केन्द्रित है।

दु ख के परिहार तथा सुख के स्वीकार के लिए प्रयत्नशील मानव को अहिंसा का पाठ पढाने वाले इस साम्य-दर्शन तथा समत्व-योग की भावना की उपासना करनी ही होगी। ससार मे सर्वत्र दृष्टि-गोचर होने वाले पराएपन के अधेरे को दूर करने के लिए ही, जैन-सस्कृति के ज्योतिर्धर आचार्यों ने अहिंसा को महाप्रदीप बतलाया था। जिसका अभिप्राय यह था—हमारे जैसी ही दूसरो को भी सुख दु ख, मान-अपमान, तथा भूख-प्यास की अनुभूतिया होती है। क्यो कि, सबके अन्दर वही एक चेतना की धारा प्रवाहित हो रही है।[2] जैसे हमारे मन, बुद्धि, हृदय है, ऐसे ही वह सब दूसरो के भी है। सब प्राणियो के साथ यह समत्व का व्यवहार ही सर्वश्रेष्ठ आचरण है।[3]

---

[1] ज इच्छसि अप्पणतो, ज च न इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि मा वा एत्तियगं जिणसासणय॥

—बृहत्कल्प-भाष्य

[2] एगे आया—ठाणाग-सूत्र १-१

[3] सर्व-सत्त्वेषु हि समता सर्वाचरणाना परमाचरणम्।

—आचार्य सोमदेव, नीतिवाक्यामृत

भौतिकवाद और जैन-दर्शन

★

मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी बी० एस० सी०
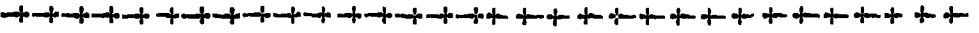
पश्चिमी दर्शन जगत् मे भौतिकवाद, यूनानी विचारक थेलिस (Thalis) (ई० पू० ६२४-ई० पू० ५५०) से प्रारम्भ होकर आधुनिक युग मे कार्ल मार्क्स की विचारधारा तक विविध रूप मे दिखाई देता है। यहाँ पर हम इसके ऐतिहासिक विवेचन और सूक्ष्म भेदोपभेद मे न जाकर केवल इसके स्थूल रूप की ही समीक्षा करेंगे। जैन-दर्शन और भौतिकवाद मे भौतिक पदार्थो की वस्तु-सापेक्ष सत्ता के विषय मे जो सादृश्य है, वह तो स्पष्ट ही है। भौतिकवाद के अनुसार भूत-तत्व की परिभाषा है—"जो कुछ हम अपनी इन्द्रियो से देखते-समझते (इन्द्रिय गोचर) है, जो कुछ इन्द्रिय गोचर वस्तुओ का मूल स्वरूप है, जो देश (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) मे फैला हुआ है, जो कम या वेसी मात्रा मे दबाव की रोक-थाम करता है, जिसमे इन्द्रियो से जानने लायक गति पाई जाती है, वह भूत है।"[1] लेनिन के शब्दो मे "भूत" की दार्शनिक परिभाषा है—"भूत दार्शनिक परिभाषा मे उस साकार वास्तविकता को कहते है, जिसका ज्ञान मनुष्य को उसकी इन्द्रियो द्वारा मिलता है। वह ऐसी वास्तविकता है, जिसकी नकल की जा सकती है, जिसका फोटो खिचा जा सकता है, जो हमारी सवेदनाओ (विषय-इन्द्रिय मस्तिष्क-सपर्क) द्वारा (मस्तिष्क) मे प्रतिबिम्बित की जा सकती है, किन्तु उसकी सत्ता इन (सवेदनाओ) पर निर्भर नही है।[2] दूसरी ओर जैन-दर्शन मे पुद्गल की परिभाषा करते हुए कहा गया है—स्पर्श, रस, गध एव वर्ण—इन

---

[1] दी मेटिरियलिज्म एण्ड एम्पिराओ-क्रिटिसिज्म पृ०१०२

[2] वैज्ञानिक भौतिकवाद—राहुल साकृत्यायन पृ०१११
जैन-सिद्धात दीपिका १-११

गुणो से युक्त द्रव्य पुद्गल (अर्थात् भूत) है।[1] इन दोनो परिभाषाओ के सूक्ष्म अन्तरो को छोड दिया जाए, तो कहा जा सकता है कि दोनो ही परिभाषाओ का तात्पर्य एक ही है। यद्यपि जैन दर्शन पुद्गल की चरम इकाई को इन्द्रियगोचर नही मानता, फिर भी पुद्गल के मूर्तत्व गुणो को तो स्वीकार करता ही है। इस प्रकार जहा तक भौतिक पदार्थो की वास्तविकता का प्रश्न है, जैन-दर्शन और भौतिकवाद दोनो ही इनकी वस्तु सापेक्ष सत्ता को स्वीकार करते है।

जैन दर्शन और भौतिकवाद मे जो सबसे बडा अन्तर है वह है, मूल वास्तविकताओ की सख्या के विषय मे। भौतिकवादी जहाँ केवल भूत तत्त्व को ही एक मात्र वास्तविकता के रूप मे मानते है, वहाँ जैनदर्शन पुद्गल के अतिरिक्त जीव आदि अन्य अस्तिकायो को भी वास्तविकता के रूप मे स्वीकार करता है। यद्यपि प्राचीन दार्शनिक भौतिकवाद और आधुनिक वैज्ञानिको के भौतिकवाद मे यह अन्तर तो है, कि जहा प्राचीन भौतिकवादी "चेतन" अथवा आत्मा को सर्वथा ही जड-भूत तत्व से अभिन्न मानते थे, वहाँ आधुनिक भौतिकवादी वैज्ञानिक मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर जीवन और मन को जड भौतिक तत्त्व से सर्वथा अभिन्न नही मानते।[3] द्वद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार "वैज्ञानिक भौतिक-वादियो" की मूल ईटें परमाणु नही है, कण, तरग, विच्छेद-युक्त घटना प्रवाह है। जिनके खमीर मे भी क्षण-क्षण नाश उत्पादक का नियम मिला हुआ है ' यह सच है कि जीवन या मन (आत्मा) जिससे पैदा हुआ है, वह भूत (भौतिक तत्त्व) ही है, किन्तु मन भूत, हर्गिज नही है—किसी तरह से भी नही है। चाहे उसके अन्तस्तल मे घुसकर देख ले। यह बिल्कुल गुणात्मक परिवर्तन पूर्व (भूत) प्रवाह से टूटकर नया प्रवाह है।[4] इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि भौतिकवादी वैज्ञानिक चेतन को भूत से भिन्न तो मानते है, और उसकी वास्तविकता का भी निषेध नही करते। परन्तु चेतन की सत्ता को चरम वास्तविकता के रूप मे स्वीकार नही करते। बल्कि उसको भूत के गुणात्मक परिवर्तन द्वारा ही उद्भूत मानते है। अत इनके मत मे विश्व के मूल मे तो एक मात्र भूत ही चरम वास्तविकता है।

वैज्ञानिको के भौतिकवाद के समर्थन मे यह एक युक्ति दी जाती है, कि 'शक्ति की अनश्वरता का नियम (law of conservation of energy) विज्ञान का प्रतिष्ठित नियम है। उसका मतलब है, कि विश्व की कुल शक्ति समान रहती है, न घटती है और न बढती है। केवल रूपातरित होती है। यदि

---

[1] स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवान् पुद्गल.

[2] पाश्चात्य दार्शनिको मे डेमोक्रिटस की यह मान्यता थी, कि भौतिक परमाणुओ से ही "आत्मा" का निर्माण होता है। आत्मा की उत्पत्ति अत्यन्त ही चिकने, गतिशील और गोल परमाणुओ से होती है।

[3] देखें वैज्ञानिक भौतिकवाद

—राहुल साकृत्यायन (प्रथम संस्करण) पृ० ५८,६०

[4] देखें वैज्ञानिक भौतिकवाद—राहुल साकृत्यायन पृ० ५६ (प्रथम सस्करण)

[5] वही ,, ,, ,,

जीव और चैतन्य को हम अभौतिक मान लेते है, तो उस नियम का उल्लघन होता है । विज्ञान ने सिद्ध किया है, कि शरीर भौतिक तत्त्वो से बना है, इसलिए भौतिक है। जीवन और चैतन्य का अधिष्ठान वही है। हम देखते है, कि भौतिक पदार्थो (जैसे अन्न, जल, गर्मी) आदि से जीवन शक्ति बढती है। अब यदि जीवन शक्ति, भौतिक शक्ति से भिन्न है, तो इसका मतलब होगा, कि बढी हुई जीवन शक्ति के रूप मे नई शक्ति की उत्पत्ति हुई है। क्योंकि उसे अभौतिक होने से भौतिक शक्ति (अन्न, जल, आदि से प्राप्त शक्ति) का रूपान्तर नही कहा जा सकता। हम यह भी देखते है, कि मानसिक इच्छाओ के कारण शरीर के अङ्गो का सचालन होता है। यहाँ भी मन या चैतन्य अभौतिक मानने का मतलब होगा, कि शारीरिक क्रियाओ के रूप मे व्यक्त भौतिक शक्ति मन की इच्छाओ मे अभौतिक शक्ति से उत्पन्न नई शक्ति है। क्यो कि भौतिक होने के कारण उसे अभौतिक शक्ति का रूपान्तर नही माना जा सकता। इस प्रकार जीव और चैतन्य को अभौतिक मानने का निष्कर्ष नई शक्ति की उत्पत्ति होती है। किन्तु ऐसा होने से विश्व की कुल शक्ति मे वृद्धि हो जाएगी, जो कि उपर्युक्त नियम के विरुद्ध है। अब, चूँकि वह नियम सत्य है, उसका विरोधी निष्कर्ष सत्य नही हो सकता। अतः जीव और चैतन्य को अभौतिक नही माना जा सकता।"[1] भौतिकवादियो के इस तर्क का निराकरण जैन दर्शन के आधार पर सहजतया हो सकता है। जैन-दर्शन के जिन तथ्यो का विवेचन हम कर चुके है, उनमे से इन तथ्यो को ध्यान मे रखना होगा।

१ पचास्तिकाय रूप विश्व का प्रत्येक अस्तिकाय "अस्तित्व" की दृष्टि से एक दूसरे से स्वतन्त्र है। अत जीव और पुद्गल का अस्तित्व भी परस्पर स्वतन्त्र है।

२ सत् (वास्तविकता, की परिभाषा[2] मे ही प्रत्येक अस्तिकाय की "अनश्वरता" (Conservation) का नियम निहित है। पदार्थत्व की अपेक्षा से सत् उत्पन्न और नष्ट होता रहता है, फिर भी द्रव्यत्व की अपेक्षा से तो सदा ध्रुव ही रहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ, कि पर्याय (अवस्था) के सतत प्रवाह मे प्रतिसमय परिवर्तन पाता हुआ भी पुद्गल द्रव्य सदा ही पुद्गल रहता है और जीव सदा जीव रहता है। न पुद्गल कभी जीव के रूप मे परिणत होता है और न जीव कभी पुद्गल के रूप मे।

३ पुद्गल–द्रव्य मे सभी पदार्थो का और भौतिक शक्तियो का समावेश हो जाता है। अत पुद्गल द्रव्य की अनश्वरता के नियम मे भौतिक पदार्थो और भौतिक शक्तियो के परस्पर रूपान्तरण का निषेध नही है। अब पदार्थ और शक्ति की सुरक्षा का नियम वैज्ञानिक जगत् मे सयुक्तरूप धारणा कर चुका है। इसके अनुसार विश्व के सभी प्रकार के भौतिक पदार्थ और भौतिक शक्ति की तुलाराशि सदा अचल रहती है। यह नियम केवल भूत तत्व पर ही लागू होता है। जैन-दर्शन आत्मा को पुद्गल से भिन्न मानता है। अत जैन-दर्शन मे आत्मा की अनश्वरता और पुद्गल की अनश्वरता के दो नियम बन गए है। प्रथम नियम के अनुसार पुद्गल तत्व, चाहे वह भौतिक पदार्थ के रूप मे हो या भौतिक शक्ति के रूप मे हो, द्रव्य की अपेक्षा से अक्षय और ध्रुव रहता है। दूसरे नियम के अनुसार जीव-तत्व द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत और अचल रहता है।

---

[1] दर्शन-शास्त्र की रूप-रेखा ५०७४

[2] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्

इन दो पृथक् नियमो के आधार पर ऊपर दिए गए तर्क का सहजतया निराकरण हो जाता है। शरीर सम्बन्धी समस्त क्रियाएँ पौद्‌गलिक है अतः अन्न, जल और गर्मी जिस शक्ति का उत्पादन करते है, वह भी पौद्‌गलिक ही है।

ऊपर दिए गए तर्क मे जिस जीवन शक्ति को भौतिक शक्ति से भिन्न कहा गया है, वह वस्तुतः भिन्न नही है, बल्कि भौतिक (पौद्‌गलिक) ही है। क्योकि अन्नादि की परिणति रस, रक्त, वीर्य आदि मे होती है, जो सारे पौद्‌गलिक है और इनके ही रूपान्तर को ऊपर "जीवन शक्ति" कहा गया है। उसी प्रकार मन या चैतन्य से शारीरिक क्रियाओ की उत्पत्ति मानना भी गलत है। जैन-दर्शन के अनुसार कर्म-पुद्‌गलो से आवृत और सश्लिष्ट आत्मा तो पौद्‌गलिक क्रियाओ का केवल प्रेरक बनता है। शारीरिक क्रियाओ मे जो शक्ति व्यक्त होती है, वह कोई आत्मा से उत्पन्न नही होती, बल्कि वह तो पौद्‌गलिक पदार्थ और पौद्‌गलिक शक्तियो का ही रूपान्तर होता है। इसलिए चैतन्य को अभौतिक मानने पर अनश्वरता का नियम जरा भी खण्डित नही होता।

दूसरे प्रकार से भी उक्त तर्क का खण्डन किया जा सकता है। जैसे "यह तर्क तभी कारगर हो सकता है, जब कि पहले यह मान लिया जाए, कि जीव तथा जड सब की व्याख्या भौतिक रासायनिक नियमो द्वारा हो सकती है। क्योकि शक्ति की अनश्वरता का नियम भौतिक रासायनिक नियम ही है।[1] किन्तु यह मान लेना तो भौतिकवाद को ही मान लेना है। अतएव यह तर्क भौतिकवाद को प्रमाणित करने के पहले ही उसे मान लेता है, जो कि उचित नही है। कुछ प्रमुख वैज्ञानिको का मत है कि उक्त नियम भौतिक रासायनिक जगत के पहले ही है, जीव या चेतन जगत के लिए नही है। उस हालत मे तो निसदेह ही वह भौतिकवाद की पुष्टि नही कर सकता।[2] इस प्रकार भौतिकवाद के समर्थन मे दिए जाने वाले उक्त तर्क का निराकरण हो जाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद चेतन की सत्ता का इन्कार तो नही करता, किन्तु चेतन भूत के गुणात्मक परिवर्तन से अद्‌भूत हो जाता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियो का कहना है, कि पृथ्वी की आयु २०,००० लाख वर्ष की है, जब कि मन (आत्मा) की आयु ५०० लाख वर्ष पुरानी नही है, अर्थात् विश्व मे पहले केवल भूत ही था और ५०० लाख वर्ष पूर्व उस भूत के गुणात्मक परिवर्तन से चेतन की उत्पत्ति हुई।[3] अब इस मान्यता का विचार यदि हम आधुनिक विज्ञान, जैन–दर्शन और सामान्य तर्क के आलोक मे करेंगे, तो सहसा ही इसकी निर्मूलता का पता चल सकता है।

---

[1] देखें एन इन्ट्रोडक्शन टू फिलोसफी डबल्यू

जेससलेय ५-१४७

[2] दर्शनशास्त्र की रूपरेखा-रजिन्द्रप्रसाद ५-७८-७९

भौतिकवाद के समर्थक तर्क और उसके निराकरण के लिए देखें वही पृ० ७२-७९

[3] वैज्ञानिक भौतिकवाद (प्रथम संस्करण ५-३६)

आधुनिक विज्ञान न तो विश्व (Universe) को केवल पृथ्वी तक ही सीमित मानता है, और न जीवन को ही। पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य आकाशीय पिंडो पर भी जीव के अस्तित्व की सभावना की जा रही है और भावी अन्तरिक्ष-यात्राएँ सम्भवत इसके स्पष्ट प्रमाण उपस्थित कर सकेगी, ऐसी आशा की जाती है। पृथ्वी पर भी जीवन कब अस्तित्व मे आया, यह अब तक निश्चय नही हो पाया। भूत के गुणात्मक परिवर्तन से जीव की उत्पत्ति क्यो और कैसे होती है। इसका कोई उत्तर वैज्ञानिक आधारो पर नही दिया जा सकता।[1] अत यदि यह मान भी लिया जाए, कि पृथ्वी पर "जीवन" का प्रारम्भ पृथ्वी की उत्पत्ति के बहुत समय बाद हुआ तो भी "भूत" के गुणात्मक परिवर्तन से ही "चेतन" की उत्पत्ति हुई, ऐसा किसी भी वैज्ञानिक आधार पर नही कहा जा सकता। यह तो केवल आनुमानिक कल्पना ही है।

सामान्य अनुभव के आधार पर भी उक्त मान्यता की असिद्धि सरलतया हो सकती है। सामान्य अनुभव हमे यह बतलाता है, कि "जीव" और "भूत" इन दोनो तत्वो मे गुणो की मौलिक भिन्नता है। आत्मा के चैतन्य गुण का भूत मे सर्वथा अभाव है। जिस पदार्थ मे जिस गुण का सर्वथा अभाव हो, वह गुण किसी भी प्रकार से परिवर्तन द्वारा प्रकट नही हो सकता। तर्क-शास्त्र मे उपादान की यह मर्यादा सर्वमान्य है। अत गुणात्मक परिवर्तन का उक्त प्रकार का सिद्धान्त ही गलत हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी हम अनुभव करते है, कि जब आज भी जीवन की उत्पत्ति भूत पदार्थ से होनी शक्य नही है, तो अतीत मे ऐसा हुआ है, यह कैसे माना जा सकता है।

अब यदि जैन दर्शन के आलोक मे उक्त मान्यता का अवलोकन किया जाए, तो सहसा इसकी निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। जैन दर्शन बतलाता है, कि आत्मा और पुद्गल, ये दोनो तत्व सदा से इस विश्व मे थे और सदा रहेंगे। दोनो के अस्तित्व को अनादिकालीन माने बिना "विश्व-आयु" सम्बन्धित अनेक प्रश्नो का समाधान नही मिल सकता। अब यदि विकास-वादियो द्वारा कथित पृथ्वी की जीवन-विकास की कहानी को सत्य माना भी जाए, तो भी यह मानना जरूरी नही है, कि "भूत" ही स्वय परिवर्तित होकर चेतन का रूप धारण कर विकसित हो रहा है। जैन दर्शन के काल-चक्र का सिद्धात यह तो निरूपण करता ही है, कि विकास और ह्रास का क्रम विश्व के कुछ क्षेत्रो मे चलता रहता है। 'पृथ्वी' के आदिकाल मे पौद्गलिक परिस्थितियो की प्रतिकूलता के कारण जीवो के उत्पन्न होने के योग्य योनियो के अभाव मे यहाँ जीवन का अभाव हो, यह सम्भव है। बाद मे जैसे-जैसे जीवनानुकूल स्थिति बनी और जीवो के उत्पादन होने के योग्य योनियो का प्रादुर्भाव हुआ, तो जीव उसमे आकर जन्म लेने लगे। ऐसे ही सम्भवत जीवन विकास का क्रम बना हो। इस प्रकार भूत के गुणात्मक परिवर्तन से चेतन की उत्पत्ति को मानने के बजाए जीव और भूत को पृथक्-पृथक् सत्ता के रूप मे स्वीकार करना तर्क सगत है।

इस चर्चा के निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है, कि भौतिकवाद, चाहे वह प्राचीन रूप में हो, या नवीन रूप मे विश्व क्या है ? का जो उत्तर प्रस्तुत करता है, वह न्याय सगत नही है। केवल भूत को चरम वास्तविक मान लेने से "विश्व क्या है" ? की पहेलिका सुलझ नही सकती।[2]

★

[1] दर्शनशास्त्र की रूपरेखा ५-७८

[2] विस्तृत चर्चा के लिए देखें लेखक द्वारा लिखित "विश्व-पहेलिका"

जीवन में अनेकान्त

श्री मनोहरमुनिजी शास्त्री साहित्यरत्न

अनेकान्त-वाद जैन दर्शन की मौलिक देन है। प्रत्येक वस्तु अपने आप मे अनेकान्त है। उसका एक गुण और एक स्वरूप नही है। उसके अनन्त गुण-धर्मो को स्वीकार करके ही हम उसके सही रूप को जान सकते है। किन्तु जब हम किसी आग्रह के वशीभूत होकर उसके दूसरे गुण धर्मो को स्वीकार करने के लिए इन्कार कर देते है, तभी हम सत्य से दूर हटकर अधकार मे भटक जाते है। परिणाम मे, हम सिक्के की एक ही बाजू देख सकते है। दूसरी बाजू हमसे अछूती रह जाती है। यह एक प्रकार का कानापन है। दर्शन जगत् की भाषा मे इसे एकान्तवाद कहा जाता है और यही सघर्ष की जड है। जब कोई कह उठता है, सिक्के की यही बाजू सही है, दूसरी गलत, तब हम समझ लेते हैं, इसका नाजुक मन अक्ल का बोझ उठाने मे असमर्थ है। यह कैसे सभव है, कि सिक्के की एक बाजू देखकर उसे सही मान लिया जाए। आपके दिमाग मे भले ही सही हो, पर बाजार मे वह चल नही सकता।

जैन-दर्शन यही कहता है, चिन्तन के क्षेत्र मे तुम एक सीमा तक पहुँच जाते हो, वहाँ पहुँच कर जब तुम यह कह उठते हो, कि मैंने सत्य का सर्वांगीण दर्शन कर लिया है तो तुम एक बहुत बडी गलती कर जाते हो। यह तो ऐसा हुआ कि हिमालय के एक शिखर पर पहुँच कर कोई यह कह बैठे, मैंने हिमालय के विराट् रूप का सर्वाङ्गीण साक्षात्कार कर लिया है। यह पूर्ण नही, अर्ध सत्य है। तुम यह कह सकते हो, मैंने सत्य के एक शिखर का दर्शन किया है, पर दूसरे भी शिखर है, वे इससे भी विराट् है और इससे भी महान् है। इस विनम्रता की वाणी मे जब तुम बात करते हो, तो समझा जा सकता है, तुमने सत्य की एक किरण पायी है और वह झूठी नही है। क्योकि उसमे आग्रह की बू नही है, जो कि सत्य के शिव रूप को अशिव बनाती है।

पदार्थ-विज्ञान हो, या आत्म-विज्ञान, धर्म-विज्ञान हो या जीव-विज्ञान, सभी क्षेत्रो मे जैन-दर्शन ने साधक को आग्रहवादी होने से बचाया है। जब पदार्थ-विज्ञान का सवाल आया, तो कुछ चिन्तको ने बताया कि अमुक पदार्थ का एक गुण धर्म निश्चित है। जैसे उसने पृथ्वी के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए कहा–उसमे गध का ही गुण है।[1] पानी का गुण केवल स्निग्धता है।[2] और हवा मे केवल स्पर्श का तत्व है।[3] तब अनेकान्तवाद ने धीरे से समझाया, आप जरा गलती पर है। पृथ्वी मे गध तो है ही, साथ ही उसमे स्पर्श, रस और वर्ण भी है। इसी प्रकार जल, वायु और वनस्पति तत्व भी पाच भौतिक गुणो से व्याप्त हैं। क्योकि ये परमाणु के गुण है और हर परमाणु मे एक वर्ण, एक गध, एक रस और दो अविरोधी स्पर्श अवश्यभावी है। पदार्थ-विज्ञान पर जैन दर्शन ने गहरा चिन्तन दिया है। उसने कहा है—परमाणुओ मे भी परिवर्तन का नर्तन चालू है। परमाणु अपने समान गुण-धर्म वाले परमाणुओ को अपनी ओर आकर्षित करता है। इसीलिए वे मिलते और बिछुडते है।

इसी प्रकार आत्मविज्ञान मे भी अनेकान्तवाद ने मानव को अनाग्रही बनाया है। नित्यत्व और अनित्यत्व के प्रश्न पर जहाँ कितने ही दर्शन एकान्त के सिरे पर पहुँचकर दुराग्रही बन गए, वहाँ जैन दर्शन ने चिन्तन की एक नई-दिशा देते हुए कहा—विश्व का हर पदार्थ एक और अनेक रूप मे है। उसमे एक ओर नित्यत्व के दर्शन होते हैं, तो दूसरी ओर वही पदार्थ हमे प्रतिक्षण, प्रतिपल परिवर्तित हुआ दृष्टिगोचर होता है।

वस्तु के ध्रुवत्व की ओर हमारा दृष्टि-बिन्दु टिकेगा तो हम उसके शाश्वत सौन्दर्य का दर्शन करते है, किन्तु जब हम उसके स्तर रूपो की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो हमे वस्तु प्रतिक्षण विनाशी दृष्टिगोचर होगी। आचार्य हेमचन्द्र भी द्रव्य और पर्याय का विभेद करते हुए कहते है—

जब वस्तु के भेद-प्रभेदो पर हमारी दृष्टि जाती है, तो वस्तु का खण्ड रूप हमारे सामने आता है। किन्तु जब भेद-प्रभेद रहित मूल स्वरूप पर हमारी दृष्टि जाती है, तब उसका अखण्ड रूप हमारे सामने आता है। इसी अर्थ मे हम आत्मा के दर्शन करना चाहेंगे और उसके भेद प्रभेद रहित रूप को चिन्तन पथ मे लाते हैं, तो हमे अनन्त अनन्त आत्माओ के बीच एक आत्म-तत्त्व के दर्शन होते है। इस तत्व दर्शन को हम "एगे आया" या आत्मा द्वैतवाद के रूप मे पहचानते है और जब हमारी दृष्टि भेदानुगामिनी होती हैं, तब हम आत्मा के नर, नारक, देव और तिर्यञ्च रूप अथवा सुखी-दुखी आदि अवस्था भेदो के दर्शन करते है। दार्शनिक शब्दावली मे भेद-गामिनी दृष्टि पर्यायारिनक दृष्टि कही जाती है और अभेद-गामिनी दृष्टि द्रव्यास्तिक दृष्टि कही जाती है।

---

[1] गंधवती पृथ्वी—सिद्धान्त मुक्तावली

[2] रसवत्य आपः

[3] स्पर्शवद् वायु—सिद्धान्त मुक्तावली

[4] अपर्यय वस्तु समस्यमान
अद्रव्य मेतच्च विविच्यमानम्। (अन्ययोग व्यवच्छेदिका—२२ वीं कारिका)

दोनो दृष्टि अपनी अभिप्रेत विचारधारा को ही सही मानती है, किन्तु विश्व व्यवस्था उभय रूप मे जीती है। क्योकि हम देखते है कि एक युवक अपने बचपन की भूलो का स्मरण करता है, साथ ही भावी जीवन को सुखमय बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अत हमे जीवन की बदलती हुई छाया मे भी एक सूत्रता की स्पष्ट अनुभूति होती है। यही द्रव्यास्तिकनय की अभेदगामिनी दृष्टि सफल है। दूसरी ओर यौवन और बचपन के बीच की स्पष्ट भेद प्रतीति भी हमे होती है। क्योंकि नए खून की नई क्रान्ति करने की तडफ दोनो के बीच एक विभाजक रेखा भी खीचती है। यही पर्याय दृष्टि भी सफल है। दर्शन के दिवाकर आचार्य सिद्धसेन के शब्दो मे कहूँ, तो युवक क्या है, वह दोनो का मिला जुला रूप है। वह बचपन से एक दम पृथक् भी नही है, क्योकि वह बचपन की मुकामल वृत्तियो मे जीता है, साथ ही हम यह भी देखते है कि वह उसके साथ एकदम सम्बद्ध भी नही है, क्योकि वह बालक नही है।[1]

जीवन की इसी भेदाभेद-गामिनी दृष्टि के द्वारा ही हम अखिल विश्व के पदार्थों की सत्य स्थिति के दर्शन कर सकते है। आत्मा ही क्यो, विश्व के समस्त पदार्थ-सार्थ एक स्वभाव वाले है। पर्यायास्तिक दृष्टि से उनमे उत्पत्ति और विगम भी होता है, पर द्रव्यास्तिक दृष्टि से वे सदा अवस्थित ही है।

यह अपेक्षावाद विचार जगत् के सहस्र-सहस्र सघर्षो को समाप्त करता है। बड़े-बडे दार्शनिक जिस जीवन और जगत की समस्या को लेकर वर्षो तक सघर्ष करते रहे, अनेकान्तवाद उस जटिल समस्या का एक मिनिट मे समाधान खोज लेता है।

एक प्रश्न यहाँ विचार माँगता है कि जो अनेकान्तवाद दर्शन की उलझन भरी गुत्थियो को सुलझाने की क्षमता रखता है और हम दावा करते है कि वह जैन दर्शन की यह विश्व को अनोखी देन है, किन्तु आश्चर्य है कि अनेकान्तवाद का विश्वासी जैन समाज एकान्तवादो मे उलझ गया है। वह विश्व की समस्या का समाधान कर सकता है, किन्तु उससे अपने घर की समस्या सुलझ नही पा रही है।

आज जैन समाज पथो और सम्प्रदायो मे बट गया है। एक सम्प्रदाय मे भी अनेको उपसम्प्रदाय है। जरा भीतर घुसकर देखने की चेष्टा करें, यदि मैं असत्य न होऊँ, तो वहाँ भी हर व्यक्ति का अपना एक पथ है। आज हम सघवाद से हटकर पथवाद और व्यक्तिवाद मे विश्वास करने लगे है। यह बताता है कि अनेकान्तवाद की हमने उपासना की है, बडे स्वरो मे उसका जयघोष भी किया है, उसके लिए बडे ग्रन्थ भी हमने लिखे है, किन्तु हमने उसे जीवन मे स्थान नही दिया है। वह भाषणो और पुस्तको मे ही जीवित है। जीवन के प्लेटफार्म पर हमने कभी उसका स्वागत नही किया। अन्यथा आज हम टुकड़ो मे दिखाई नही पडते। जब हम विश्व की समस्याओ का समाधान कर सकते है, तब छोटे-छोटे प्रश्नो का समाधान नही हो पा रहा है।

---

[1] पडिपुण्ण जोवण्ण-गुणो, जह लज्जइ बालभाव-चरियेण।
कुणइ य गुण-पणिहाणं, अणागयवय-सुहो वहाणत्थं॥

—सन्मतितर्क १-४३

मूर्ति और मुँहपत्ति के प्रश्न ने हमारे टुकड़े कर दिए। जैन-दर्शन आत्मा का पुजारी है। मूर्ति और मुँहपत्ति तो केवल माध्यम हैं। यदि हम चैतन्य पूजा का दावा करते हैं और मूर्ति का तिरस्कार करते हैं, तो प्रश्न सामने आएगा कि मूर्ति जड है, तो मुँहपत्ति कहाँ चैतन्य है? तो फिर क्यो मुँहपत्ति देखते ही हम भुक पडते हैं और उसके हटते ही हमारा सारा प्रेम घृणा मे बदल जाता है। क्या यह जड-पूजा नही हुई? हमारे चैतन्य के उपासक यह मानते है कि मुँहपत्ति के अभाव मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र सभव नही है। या मूर्ति पूजा के अभाव मे केवल ज्ञान रुक जाएगा? जब हम सिद्धान्तत यह स्वीकार कर लेते है कि अन्य तीर्थ और अन्य लिंग मे भी मुक्ति सभव है, तो फिर इन प्रश्नो को लेकर सघर्ष करना कहाँ की बुद्धिमानी है।

इसी प्रकार सवस्त्र और निर्वस्त्र के सघर्ष भी तथ्यहीन है। मुक्ति तो अनासक्ति मे है, फिर आसक्ति वस्त्रो मे हो या शरीर मे, सर्वत्र बाधक ही रहेगी। फिर वस्त्र से ही भगडा क्यो? ऐसे ही थोथे सघर्ष है, दया और दान के प्रश्न के! निश्चय और व्यवहार के तत्त्व को ठीक ढग से न समझने के कारण ही ये झगडे है। वास्तव मे मूर्ति या मुहपत्ति सवस्त्रता और निर्वस्त्रता मोक्ष प्राप्ति मे उतने बाधक नही है, जितने कि इनके पीछे रहे हुए वैयक्तिक अहवाद। इस अहवाद मे पथवाद का जन्म होता है और वही सघर्षो की जड है। उस जड़ को तभी उखेडा जा सकता है, जबकि अनेकान्त को सही रूप मे समझा जाए। विरोध मे अविरोध देखने की दृष्टि ही तो जैन-दर्शन की मौलिक देन है। क्योकि उसका जन्म ही विरुद्ध दृष्टियो के बीच हुआ है। आचार्य सिद्धसेन के शब्दो मे कहे तो जैन दर्शन मिथ्या दर्शनो का विलक्षण समूह है।[1]

यदि अनेकान्त को दर्शन के बीहड वन से निकाल कर जीवन की समतल भूमि पर ले आएँ, तो हम जीवन का सही दर्शन पा सकते है। जिसमे सघर्ष नही, समन्वय के दर्शन होगे। जब हम विभेदो में अभेद की दृष्टि पाएँगे, तभी जीवन के यथार्थ मूल्यो को सही रूप मे पहचान सकेंगे।

---
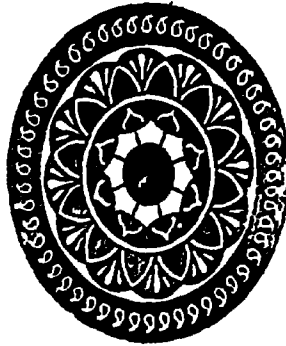
[1] भद्दं मिच्छादसण समूह मइयस्स अमय-सारस्स।
जिण-वयणस्स भगवओ सविग्गा सुहाहिगम्मस्स ॥
—सन्मति प्रकरण ३-६६

अहिंसा और विज्ञान

●

गणेशमुनि शास्त्री साहित्यरत्न

अहिंसा का स्वरूप

विश्व के जितने भी धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय है, उन सभी ने अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया है। वह चाहे जैन, वैदिक, ईसाई, पारसी, इस्लाम ही क्यो न हो! किसी ने अहिंसा के आशिक रूप को माना हे, तो किसी ने उसके पूर्ण रूप को, पर माना अवश्य है। यद्यपि इन-सभी धर्मों के प्रवर्तको ने अपनी अपनी दृष्टि से अहिंसा तत्त्व की विवेचना की है, फिर भी मै इतना अवश्य कहूँगा कि इस सम्बन्ध मे जैन-दर्शन की जितनी गहरी उडान व अन्वेपण है, उतनी अन्य धर्म व दर्शन की नही। जैन-दर्शन ने अपने चिन्तन के द्वारा विश्व को एक अनुपम दृष्टि प्रदान की है। यह अतीत काल से अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन व व्याख्या प्रस्तुत करता हुआ अहिंसा के राज-पथ पर बढने के लिए प्रोत्साहित करता रहा है। श्रीयुत पण्डित लक्ष्मी नारायण सरोज के शब्दो मे अहिंसा की तुलनात्मक विवेचना इस प्रकार है —"ईसामसीह की अहिसा मे माँ का हृदय है और कनफ्यूशियस की अहिंसा मे तो हिसा की रोकथाम मात्र है, तथा बुद्ध की अहिसा तो उनके धर्म की भाति मध्यम मार्ग की अनुगामिनी है, एव हिन्दू धर्म की अहिंसा तो हिसा को भी साथ लेकर चली है, और महात्मा गाधी की अहिंसा जितनी राजनैतिक है, उतनी धार्मिक नही। पर भगवान महावीर की अहिंसा मे उस विराट पिता का हृदय ह, जो सुमेरु-सा सुदृढ कठोर कर्तव्य लिए है।

अहिंसा और राजनीति

अहिंसा वैयक्तिक व सामाजिक जीवन को समुन्नत बनाने तक ही सीमित नही है, किन्तु राजनैतिक क्षेत्र में भी इसकी प्रतिष्ठा निर्विवाद प्रमाणित हो चुकी है। कुछ व्यक्तियो के अन्तरमानस मे इस प्रकार की

धारणा बनी हुई है कि अहिंसा केवल धार्मिक क्षेत्र की वस्तु है। राजनैतिक क्षेत्र में उसका प्रवेश कैसे हो सकता है। इसके लिए मैं नम्रतापूर्वक कहूँगा कि वे इस प्रकार के भ्रामक जाल में न उलझें। मानवीय जीवन के जितने भी क्षेत्र व विषय हैं, उन सब में अहिंसा का अप्रतिहत प्रवेश है। धर्म, राजनीति, अर्थनीति समाज, व्यापार, अध्यात्म, शिक्षा, स्वास्थ्य और विज्ञान आदि सभी में अहिंसा की आत्मा है। अहिंसा का मधुर स्वर है। उक्त सभी क्षेत्र अहिंसा की क्रीडा भूमि रहे हैं। वह किसी सीमा या काल की परिधि में ससीमित नहीं है।

कतिपय राजनैतिकों का एक स्वर यह भी है कि शासन जैसे कठोर मार्ग में यदि अहिंसात्मक नीति को अपनाया गया और जनसमुदाय के साथ नम्रतापूर्ण आचरण किया गया, तो राजकीय दृष्टि से नियन्त्रण कठिन हो जाएगा। बिना दण्ड पद्धति के अन्याय किस प्रकार रुक सकेंगे। इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अहिंसा के प्रयोगों द्वारा महात्मा गांधी ने चालीस करोड़ जनता को, चिरकाल तक की पराधीनता के पश्चात् स्वाधीनता का अनुगामी बनाया, जिसका जनता जनार्दन ने स्वयं अनुभव किया है। गांधी युग की स्वाधीनता की देन तो अविस्मरणीय है ही, पर इसमें भी गांधी के दर्शन ने स्वभावतः जो अहिंसात्मक वायुमण्डल की विश्व व्यापी सृष्टि हुई है, वह अधिक मूल्यवान है। उनकी राजनैतिक अहिंसा ने कम से कम ऐसा वातावरण तो उत्पन्न कर ही दिया है कि आज हमें अहिंसा व उसकी अक्षुण्ण शक्ति के लिए विश्व को अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं है।

अहिंसा और विज्ञान

अहिंसा-तत्त्व मानवीय जीवन के आन्तरिक पक्ष को सुदृढ़ बनाने वाला है, तो विज्ञान मानवीय जीवन के बाह्य पक्ष को। एक आध्यात्मिक भावना से अनुस्यूत है, तो दूसरा भौतिकवाद के सुरंगे रंग में अनुरंजित। आज विज्ञान ने बाहर की सुख-सुविधाएँ खूब बढ़ाई, मानव के रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाया और युद्धादि की संहारक शक्ति का भी पर्याप्त विकास किया। पर इससे मानव को आत्मिक लाभ क्या मिला? यह एक ज्वलंत प्रश्न है, जिस पर गहराई से चिन्तन करना है। आज विश्व ऐसे संक्रान्ति काल से गुजर रहा है कि उसके सन्मुख विविध समस्याएँ मुँह बाए खड़ी हैं। एक ओर विश्व-शान्ति की समस्या तो दूसरी ओर अणु अस्त्रों के निर्माण की प्रतिद्वन्द्विता, जिसने राष्ट्र के विचारशील नेताओं को चिन्तित बना डाला है। कोई भी राष्ट्र निर्भय प्रतीत नहीं होता। आणविक युद्धों से सारा विश्व अशान्त है। न जाने कब किस प्रलय की आंधी में समाप्त हो जाएंगे, इस आशंका से मानव समाज के प्राण थिरक रहे हैं। इसी संवेदना से वैज्ञानिक मूर्धन्य प्रो० आईन्स्टाइन की अन्तिम आह से मानव समाज के लिए यह संदेश निकला था—"हम मानव होने के नाते अपने मानव बन्धुओं से अनुरोध करते हैं कि आप अपनी मानवता को याद रखें और शेष सब कुछ भूल जाएँ। यदि आपने ऐसा किया, तो आपके समक्ष स्वर्ग का अभिनव द्वार खुल जाएगा। यदि आप ऐसा नहीं कर सके, तो संसार की सार्वभौम मृत्यु का खतरा आपके सामने होगा"।[1]

---

[1] **We appeal as human beings to human beings. Remember your humanity and forget the rest If you can do so the way lies open to a new paradise. If you can not do so there lies before you the risk of universe death.**

—Elbert Enstiens, July 1955

अहिंसा और विज्ञान

जन-समाज ने विज्ञान का परिणाम जितना अभिलषित समझा था, वह उतना नही निकला। भले ही विज्ञान प्रारम्भ मे आकर्षक व भव्य लगता हो, पर उसका परिणाम जब मानस के सम्मुख आता है, तब उसे परिताप-सताप हुए बिना नही रहता। इस दिशा मे सबका चिन्तन व अनुभव एक-सा न हो, पर आणविक अस्त्रो की भयकर प्रतिक्रियाओ से प्रो० आइस्टाइन की आत्मा आज भी बोल रही है। यह बतलाया जाता है कि जब अमेरिका के तात्कालिक प्रेजिडेट रूजवेल्ट को आणविक बम बनाने की सिफारिश करने के लिए जो पत्र लिखा गया था, उसमे आईस्टाइन ने भी अपने हस्ताक्षर किए थे। परन्तु जब उन बमो की विनाश लीला उनके सम्मुख आई, तब उसकी मानवीय-आत्मा तडफ उठी, और मृत्यु के पूर्व आईस्टाइन ने उन हस्ताक्षरो को अपने जीवन की 'सबसे बडी भूल' कहा।

वस्तुत अणु-युग की अणुशक्ति ने मानव को एक भयकर स्थिति मे डाल दिया है। जहाँ एक ओर वह मानव-समाज को चन्द्रलोक मे पहुँचाने का उपक्रम कर रही है, वहाँ दूसरी ओर यमलोक की तैयारी भी। आज आणविक-अस्त्रजनित विकीर्ण रेडियो सक्रिय धूलि से—विश्व का वातावरण अत्यन्त दूषित बनता जा रहा है। वैज्ञानिको की खोज के अनुसार कहा जाता है कि रेडियो सक्रिय का वातावरण मानव जाति पर ही नही वरन् हवा, पानी, मिट्टी, ऋतु, समुद्र, वनस्पति आदि सभी पर उसका बुरा प्रभाव पड रहा है। यहाँ तक कि मानव की प्रजनन शक्ति पर भी उसका प्रभाव पडे बिना नही रहेगा। और फिर तो मानव की भावी सन्तति का भविष्य अधकारमय ही समझिए। इतना होने पर भी बडे-बडे राष्ट्रो का ध्यान इस ओर कम ही केन्द्रित हुआ है, और दिनानुदिन नये-नये परीक्षणो की घुड-दौड प्रारम्भ है।

यदि इस आधुनिक युग मे मानव जाति का वास्तविक त्राण खोजा जाए तो, वह अहिंसा मे ही मिल सकता है। विज्ञान अब तक इन ध्वसात्मक अस्त्रो का प्रतिकार करने मे असमर्थ रहा और निकट भविष्य मे भी आशा नही की जा सकती। ऐसी स्थिति मे विज्ञान के साथ अहिंसा का क्रान्तिकारी सिद्धान्त सलग्न करना आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है।

साराश—विज्ञान जहाँ नये-नये आविष्कारो के द्वारा प्रकृति के रहस्यो का समुद्घाटन करता है, तथा आणविक शक्ति के परीक्षणो से अपना अभिनव अनुभव बढाता है, वहाँ अहिंसा उनके द्वारा होने वाले विनाशो को रोकने का सुप्रयास करती है। अत उक्त दृष्टि से अहिसा को हम विज्ञान की सहचरी कह दें, तो अतिशयोक्ति नही होगी।

जैन दर्शन की अपूर्व देन : स्याद्वाद

●

महासती पुष्पवती साहित्यरत्न

सत्य अनन्त है, और अनन्त रूप मे ही उसके विराट् रूप के दर्शन किए जा सकते है, उसे देश, काल व सम्प्रदाय की सकीर्ण सीमाओ मे आवद्ध नही किया जा सकता। सत्य जब असीम है, तब उसे ससीम बनाया भी कैसे जा सकता है। अनेक रूपात्मक सत्य को अनेक रूपो मे ग्रहण करना अनेकान्त है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन की आधार शिला है।

अनेकान्तवाद एक दृष्टि है, एक विचार है। विचार जगत का अनेकान्तवाद जब वाणी मे उतरता है, तब वह स्याद्वाद कहलाता है। "स्याद्वाद मे स्याद् शब्द का अर्थ है अपेक्षा या दृष्टिकोण, और वाद शब्द का अर्थ है सिद्धान्त या प्रतिपादन"। दोनो शब्दो मे मिलकर बने हुए प्रस्तुत शब्द का अर्थ हुआ, किसी वस्तु, धर्म गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना स्याद्वाद है। स्याद्वाद का अपर नाम अपेक्षावाद भी है, जिसका अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणो मे विचार करना।

प्रत्येक पदार्थ मे अनेक धर्म है, उन सभी धर्मो का यथार्थ परिज्ञान तभी सभव है, जब अपेक्षा दृष्टि से विचारा जाए। दर्शन शास्त्र मे नित्य-अनित्य, सत्-असत, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि, तथा लोक-व्यवहार मे—स्थूल-सूक्ष्म, स्वच्छ-मलिन, मूर्ख-विद्वान, छोटा-बडा आदि ऐसे अनेक धर्म हैं, जो सापेक्षिक है। जब हम उन धर्मो मे से किसी एक धर्म का कथन करना चाहेगे, तो अपेक्ष दृष्टि से ही सभव है। क्योकि कोई भी एक शब्द वस्तु के सम्पूर्ण धर्मो की अभिव्यक्ति नही कर सकता। अत विभिन्न शब्दो के माध्यम से ही विभिन्न धर्मो का प्रतिपादन किया जा सकता है।

अपेक्षा दृष्टि से विश्व के समस्त पदार्थ एक, और अनेक रूप है। उनमे एक ओर नित्यत्व के दर्शन होते है, तो दूसरी तरफ अनित्यत्व के। वस्तु के ध्रुव तत्त्व की ओर जब दृष्टि केन्द्रित होती है, तब वस्तु

समय है, सभी नय अपनी सीमा मे सत्य हैं, पर जब वे दूसरे को असत्य घोषित करते है, तब मिथ्या बन जाते है, किन्तु अनेकान्तवादी नयो के मध्य सम्यक् और मिथ्या की विभेद रेखा नही खीचता। उपाध्याय यशोविजय जी ने लिखा, "सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नही करता, वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनो को इस प्रकार वात्सल्य से देखता है, जैसे कोई पिता अपने प्यारे पुत्रो को देख रहा हो।

जैन दर्शन का यह वज्र आघोष है, कि प्रत्येक चिन्तन सापेक्ष्य होना चाहिए। अनेकान्तवादी सम्यग् दृष्टि है और एकान्तवादी मिथ्या दृष्टि है। जिन समस्याओ को एकान्तवादी वर्षों तक नही सुलझा सकता, उन समस्याओ को अनेकान्तवादी एक क्षण मे सुलझा देता है। वह मानव को सर्वतंत्र स्वतंत्र चिन्तन प्रदान करता है। "ही" की कैद से मुक्तकर "भी" के नन्दन वन मे विहार कराता है। विचार सहिष्णु बनाता है। एतदर्थ ही आचार्य अमृतचन्द्र ने सम्पूर्ण विरोधो का शमन करने वाले अनेकान्तवाद को नमस्कार किया है।[1]

स्याद्वाद के सही अर्थ की उपेक्षा कर भारत के महान् दार्शनिक विज्ञो ने उस पर मिथ्या आरोप लगाए हैं। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को पागलो का प्रलाप कहा और जैनो को निर्लज्ज बताया।[2] शान्तरक्षित ने भी लिखा "स्याद्वाद जो कि सत् और असत् एक और अनेक, भेद और अभेद सामान्य और विशेष जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वो को मिलाता है, पागल व्यक्ति की बोखलाहट है"[3] इसी तरह आचार्य शकर ने भी स्याद्वा पर पागलपन का आरोप लगाते हुए लिखा "एक ही श्वास शीत और उष्ण नही हो सकता। भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता, यथार्थता और अयथार्थता, सत् और असत्, अधकार और प्रकाश की तरह की एक ही काल मे एक ही वस्तु मे नही रह सकते"[4] डा० राधाकृष्णन ने उसे अर्ध सत्य कहकर त्याज्य बताया। स्याद्वाद का उपहास करते हुए महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने लिखा "दही, दही भी है और ऊँट भी, तो दही खाने के समय ऊँट खाने को क्यो नही दौडते[5]" इस प्रकार अनेक आरोप स्याद्वाद पर लगाए गए हैं, पर चिन्तन करने पर वे सभी निराधार प्रतीत होते है।

प्रश्न है, कि एक ही वस्तु मे नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि परस्पर विरोधी धर्म कैसे रह सकते है? उत्तर मे नम्र निवेदन है, कि स्याद्वाद यह नही कहता, कि जो नित्यता है वही अनित्यता है अथवा जो एकता है, वही अनेकता है। किन्तु स्याद्वाद का कहना है, कि एक दृष्टि से एक पदार्थ

---

[1] परमागमस्य बीज निषिध्य जात्यधसिन्धुरविधानम्।
सकलनय विलसितानां विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम्॥

—पुरुषार्थ-सिध्युपाय २

[2] प्रमाण वार्तिक १, १८२—१८५

[3] तत्त्व सग्रह ३११—३२७

[4] शांकर भाष्य २।२।३३

[5] दर्शन दिग्दर्शन —राहुल साकृत्यायन

नित्य है, तो दूसरी दृष्टि अनित्य भी। एक व्यक्ति एक दृष्टि से पिता है, तो दूसरी दृष्टि से पुत्र भी। इसमे विरोध कहाँ। जैनी ही नही बौद्ध भी चित्रज्ञान मे विरोध नही मानते। जब एक ही ज्ञान मे चित्रवर्ण का प्रतिभास हो सकता है और उस ज्ञान मे विरोध नही होता, तो एक ही पदार्थ मे दो विरोधी धर्मो की सत्ता स्वीकार करने मे क्या आपत्ति हो सकती है ? एक ही वस्त्र श्याम और श्वेत हो सकता है, एक ही वस्त्र सकोच और विकासशील हो सकता है, तो एक पदार्थ मे नित्यता और अनित्यता, एकता और अनेकता की सत्ता विरोधी कैसे हो सकती है ?

कल्पना कीजिए—एक वस्त्र की दुकान पर ग्राहक पहुँचा। उसने दुकानदार से प्रश्न किया, यह वस्त्र ऊन का है न! दुकानदारदार ने उत्तर दिया हाँ, यह ऊन का है। दूसरे ग्राहक ने पुन उसी वस्त्र के सम्बन्ध मे प्रश्न किया "क्या यह वस्त्र रेशम का है। दुकानदार ने उत्तर दिया—नही यह रेशम का नही है।" "यहा" यह ऊन का है यह कथन जितना सत्य है, उतना ही 'रेशम का नही' है, यह भी सत्य है। एक ही वस्त्र के सम्बन्ध मे ऊन की अपेक्षा "सत्" और रेशम की अपेक्षा से 'असत्' किसको विरुद्ध प्रतीत होता है।

एक पैन के सम्बन्ध मे विविध जिज्ञासाओ का उत्तर विविध रूप से दिया जा सकता है—

१. यह पैन प्लास्टिक का है
२ यह पैन पारकर कम्पनी का है
३ यह पैन महेन्द्र का है
४. यह पैन इग्लैण्ड का बना हुआ है
५ यह पैन पच्चीस रुपये का है
६ यह पैन १९६१ का बना हुआ है
७ यह पैन लिखने का है

हाँ, तो देखिए ये सभी प्रश्न एक ही पैन के सम्बन्ध मे है और उत्तर भी। भिन्न-भिन्न अपेक्षा से पूछे गए प्रश्नो का उत्तर भिन्न-भिन्न दृष्टि से दिए गए है। पर उनमे परस्पर कोई विरोध नही है।

एक भव्य भवन के विभिन्न कोणो से चित्र लिए जाए और उसके पश्चात् उन सभी पोजो को एक साथ रखकर देखा जाए, तो परस्पर विभेद-प्रतीत होगा। कोणो के परिवर्तन होने से प्रत्येक पोजो मे भवन का सन्निकटवर्ती दृश्य भी परिवर्तित हो जाएगा। अवलोकन करने वाले सहज ही भ्रम मे पड़ सकते है, कि ये सभी पोज एक ही भवन के है या अन्य-अन्य भवनो के। पर सत्य यह है, कि सभी पोजो का समन्वित रूप ही उस भवन का सही रूप है। एतदर्थ ही अनेकान्तवाद वस्तु को प्रत्येक कोणो से अवलोकनार्थ प्रेरणा देता है। जैसे विविध कोणो से सग्रहण किए गए दृश्यो की एकत्र अवस्थिति से भवन की स्थिति मे किसी भी प्रकार भी अव्यवस्था नही होती, तो फिर विभिन्न विरोधी स्वभावो के अस्तित्व से वस्तु मे वह किस प्रकार सभव है ?

आज का युग वैज्ञानिक युग है, विज्ञान के कारण यत्र-तत्र बिजली का प्रचार हो रहा है। पखे, वल्व और स्टोव सभी मे बिजली दौड रही है, पर सभी का व्यवहार भिन्न भिन्न है। पखे मे उसकी चालक शक्ति कार्य कर रही है, वल्व मे उसका प्रकाश जगमगा रहा है और स्टोव मे उसका दाहक गुण काम कर रहा है। यदि यह सभव है, तो फिर वस्तु मे द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से नित्य और अनित्य का अस्तित्व क्यो नही सभव है ?

स्याद्वाद के मन्तव्यानुसार प्रत्येक पदार्थ "स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् है तथा पर-द्रव्य-क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा असत् है। उदाहरण के रूप मे "एक घडा स्व द्रव्य मिट्टी की अपेक्षा से सत्-अस्तित्व युक्त है और पर द्रव्य प्लास्टिक आदि की अपेक्षा से असत् है अर्थात्-घडा, घडा है प्लास्टिक नही।

द्रव्य की तरह सत्य की सिद्धि के लिए क्षेत्र भी अपेक्षित है, जैसे भगवान् महावीर का जन्म क्षत्रिय कुण्ड नगर मे हुआ। भगवान् के जन्म की प्रस्तुत घटना "क्षत्रिय कुण्ड की दृष्टि से सही है। यदि कोई "पावा" कहेगा, तो असत्य होगी।

द्रव्य-क्षेत्र की तरह काल की भी अपेक्षा है। जैसे-भगवान महावीर का जन्म आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व हुआ। इसके अतिरिक्त अल्पकाल का कथन करना असत्य होगा। इसी तरह भाव भी अपेक्षित है। जैसे पानी मे तरलता होती है। इसका अर्थ है कि तरलता नामक भाव से ही पानी की सत्ता सिद्ध होती है, नही तो वह हिम, वाष्प या कुहरा ही होता, जो कि पानी नहीं, पर पानी के रूपान्तर है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ की सत्ता स्वद्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से है, पर द्रव्यादि की अपेक्षा से नही। जैसे स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से उसमे अस्ति गुण है, वैसे ही पर द्रव्यादि की अपेक्षा से "नास्ति" गुण भी है। तात्पर्य यह है, कि स्याद्वाद का सिद्धान्त जिन पदार्थों मे जो-जो अपेक्षाएँ घटित होती हैं, उन्हे स्वीकार करता है, अपेक्षा रहित सिद्धान्त उसे मान्य नही है। अश्वशृ ग, आकाश कुसुम, और वन्ध्या-पुत्र के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु स्याद्वाद की अपेक्षा अपेक्षित नही है। क्यो कि इनकी तो सत्ता ही असिद्ध है। प्रस्तुत विचार-चर्चा का निष्कर्ष यह रहा, कि दार्शनिक क्षेत्र मे जिस प्रकार स्याद्वाद का सिद्धान्त उपयोगी है, उसी प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र मे भी उसकी उपयोगिता कम नही है। वह सत्य-तथ्य का परिज्ञान कराने वाला अपूर्व मत्र है।

जैसे जैन दर्शन ने वस्तु की अनेकरूपता की स्थापना स्याद्वाद के आधार पर की, वैसे ही बौद्ध दर्शन ने भी विभज्यवाद के नाम पर, किन्तु अनुकूल वातावरण के अभाव मे वह वही पर मुरझाकर नष्ट हो गया। किन्तु स्याद्वाद के सिद्धान्त को समय-समय पर प्रताप पूर्ण प्रतिभा सम्पन्न आचार्यों ने अपने मौलिक चिन्तन से विकसित किया। भेदाभेदवाद, नित्यानित्य-वाद, निर्वचनीयानिर्वचनीयवाद, एकानेक-वाद, सदसद्वाद, सदसत्कार्यवाद प्रभृति जितने भी दार्शनिक क्षेत्र मे वाद है, उन सभी का मूल आधार स्याद्वाद है।

जैन दर्शन की अपूर्व देन   स्याद्वाद

स्याद्वाद-जैन दर्शन की विश्व को अपूर्व देन है। जैन दर्शन मे स्याद्वाद का इतना अधिक महत्त्व रहा है, कि जिसके कारण यह जैन दर्शन का पर्यायवाची बन गया है। स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है, आत्मा है और आत्म-कल्याण का अमोघ साधन है। जिससे ज्ञान का विस्तार होता है, निष्ठा निर्मल होती है, सघर्ष, विध्वस और विप्लव नष्ट होकर सत्य और अहिंसा के आधार पर मेल और मिलाप उत्पन्न होता है। स्याद्वाद का सुहावना सिद्धान्त चाहे दर्शन का क्षेत्र हो, चाहे लोक व्यवहार का, वह सर्वत्र समन्वय और समता को सिरजता है। सत्य भगवान के दर्शन कराता है।
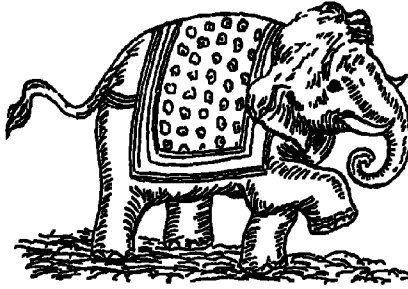
संस्कृति का स्वरूप

★

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल काशी हि वि वि

सस्कृति की प्रवृत्ति महाफल देने वाली होती है। सास्कृतिक कार्य के छोटे-से बीज से बहुत फल देने वाला बडा वृक्ष बन जाता है। सास्कृतिक कार्य कल्पवृक्ष की तरह फलदायी होते है। अपने ही जीवन की उन्नति, विकास और आनन्द के लिए हमे अपनी सस्कृति की सुध लेनी चाहिए। आर्थिक कार्यक्रम जितने आवश्यक है, उनसे कम महत्त्व सस्कृति सम्बन्धी कार्यो का नही है। दोनो ही एक रथ के दो पहिए है, एक दूसरे के पूरक है। एक के बिना दूसरे की कुशल नही रहती। जो उन्नत देश है, वे दोनो कार्य एक साथ सम्हालते है। वस्तुत उन्नति करने का यही एक मार्ग है। मन को भुलाकर केवल शरीर की रक्षा पर्याप्त नही है।

सस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढग, हमारी सस्कृति है। सस्कृति हवा मे नही रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपो का समुदाय ही सस्कृति है। जब विधाता ने सृष्टि बनाई, तो पृथ्वी और आकाश के बीच विशाल अन्तराल नाना रूपो से भरने लगा। सूर्य, चन्द्र, तारे, मेघ पड्ऋतु, उपा, सन्ध्या आदि अनेक प्रकार के रूप हमारे आकाश मे भर गए। ये देवशिल्प थे। देवशिल्पो से प्रकृति की सस्कृति भुवनो मे व्याप्त हुई। इसी प्रकार मानवी जीवन के उष काल की हम कल्पना करें। उसका आकाश मानवीय शिल्प के रूपो से भरता गया। इस प्रयत्न मे सहस्रो वर्ष लगे। यही सस्कृति का विकास और परिवर्तन है। जितना भी जीवन का ठाठ है, उसकी सृष्टि मनुष्य के मन, प्राण और शरीर के दीर्घकालीन प्रयत्नो के फलस्वरूप हुई है। मनुष्य-जीवन रुकता नही, पीढी-दर-पीढी आगे बढता है। सस्कृति के रूपो का उत्तराधिकार भी हमारे साथ चलता है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला उसी के अग है.

समाज और संस्कृति
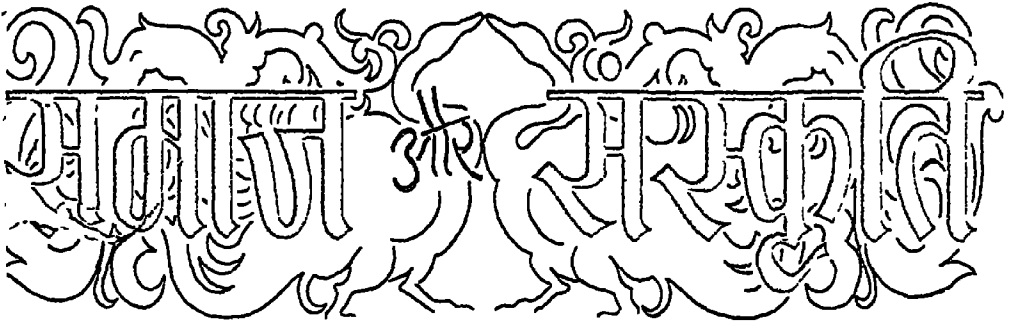
सस्कृति का स्वरूप

ससार मे देश भेद से अनेक प्रकार के मनुष्य है। उनकी सस्कृतियाँ भी अनेक हैं। यहाँ नानात्व अनिवार्य है, वह मानवीय जीवन का झमट नही, उसकी सजावट है। किन्तु देश और काल की सीमा से बँधे हुए हमारा घनिष्ठ परिचय या सम्बन्ध किसी एक सस्कृति से ही सम्भव है। वही हमारी आत्मा और मन मे रमी हुई होती है और उनका सस्कार करती है। यो तो ससार मे अनेक स्त्रियाँ और पुरुष है, पर एक जन्म मे जो हमारे माता-पिता बनते है, उन्ही के गुण हम मे आते हैं और उन्हे ही हम अपनाते है। ऐसे ही सस्कृति का सम्बन्ध है, वह सच्चे अर्थो मे हमारी धात्री होती है। इस दृष्टि से सस्कृति हमारे मन का मन, प्राणो का प्राण और शरीर का शरीर होती है। इसका यह अर्थ नही कि हम अपने विचारो को किसी प्रकार सकुचित कर लेते है। सच तो यह है कि जितना अधिक हम एक सस्कृति के मर्म को अपनाते हैं, उतने ही ऊँचे उठकर हमारा व्यक्तित्व ससार के दूसरे मनुप्यो, धर्मो, विचारधाराओ और सस्कृतियो से मिलने और उन्हे जानने के लिए समर्थ और अभिलाषी बनता है। अपने केन्द्र की उन्नति वाह्य विकास की नीव है। कहते है घर खीर तो बाहर भी खीर, घर मे एकादशी तो बाहर भी सब सूना। एक सस्कृति मे जब हमारी निष्ठा पक्की होती है, तो हमारे मन की परिधि विस्तृत हो जाती है, हमारी उदारता का भण्डार भर जाता है। सस्कृति जीवन के लिए परम आवश्यक है। राजनीति की साधना उसका केवल एक अग है। सस्कृति, राजनीति और अर्थशास्त्र दोनो को अपने मे पचाकर इन दोनो से विस्तृत मानव मन को जन्म देती है। राजनीति मे स्थायी रक्त सचार केवल सस्कृति के प्रचार, ज्ञान और साधना से सम्भव है। सस्कृति जीवन के वृक्ष का सवर्धन करने वाला रस है। राजनीति के क्षेत्र मे तो उसके इने-गिने पत्ते ही देखने मे आते है। अथवा यो कहे कि राजनीति केवल पथ की साधना है, सस्कृति उस पथ का साध्य है।

जागरूकता की आवश्यकता

भारतीय राष्ट्र अब स्वतन्त्र हुआ है। इसका अर्थ यह है कि हमे अपनी इच्छा के अनुसार अपना जीवन ढालने का अवसर प्राप्त हुआ है। जीवन का जो नवीन रूप हमे प्राप्त होगा, वह अकस्मात् अपने आप आ गिरने वाला नही है। उसके लिए जानबूझ कर निश्चित विधि से हमे प्रयत्न करना होगा। राष्ट्र सवर्धन का सबसे प्रबल कार्य सस्कृति की साधना है। उसके लिए बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करना आवश्यक है। देश के प्रत्येक भाग मे इस प्रकार के प्रयत्न आवश्यक है। इस देश की सस्कृति की धारा अति प्राचीन काल से बहती आई है। हम उसका सम्मान करते हैं, किन्तु उसके प्राणवत तत्त्व को अपनाकर ही हम आगे बढ सकते है। उसका जो जड भाग है, उस गुरुतर बोझ को यदि हम ढोना चाहे तो हमारी गति मे अडचन उत्पन्न होगी। निरन्तर गति मानव जीवन का वरदान है। व्यक्ति हो या राष्ट्र, जो एक पडाव पर टिक रहता है, उसका जीवन ढलने लगता है। इसलिए 'चरैवेति चरैवेति' की धुन जब तक राष्ट्र के रथ-चक्रो में गूँजती रहती है तभी तक प्रगति और उन्नति होती है, अन्यथा प्रकाश और प्राण वायु के कपाट बन्द हो जाते है और जीवन रुँध जाता है। हमे जागरूक रहना चाहिए, ऐसा न हो कि हमारा मन परकोटा खीचकर आत्म-रक्षा की साध करने लगे।

पूर्व और नवीन का मेल

पूर्व और नूतन का जहाँ मेल होता है, वही उच्च सस्कृति की उपजाऊ भूमि है। ऋग्वेद के पहले ही सूक्त मे कहा गया है कि नये और पुराने ऋषि दोनो ही ज्ञान रूपी अग्नि की उपासना करते है। यही अमर सत्य है। कालिदास ने गुप्तकाल की स्वर्णयुगीय भावना को प्रकट करते हुए लिखा है कि जो पुराना है, वह केवल इसी कारण अच्छा नही माना जा सकता, और जो नया है उसका भी इसीलिए तिरस्कार करना उचित नही। बुद्धिमान दोनो को कसौटी पर कसकर किसी एक को अपनाते है। जो मूढ है, उनके पास घर की बुद्धि का टोटा होने के कारण वे दूसरो के भुलावे मे आ जाते है। गुप्त-युग के ही दूसरे महान् विद्वान् श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कुछ इसी प्रकार के उद्‌गार प्रकट किए थे—"जो पुरातन काल था, वह मर चुका। वह दूसरो का था, आज का जन यदि उसको पकडकर बैठेगा, तो वह भी पुरातन की तरह ही मृत हो जाएगा। पुराने समय के जो विचार है, वे तो अनेक प्रकार के है। कौन ऐसा है, जो भली प्रकार उनकी परीक्षा किए बिना अपने मन को उधर जाने देगा।"

जनोऽय मन्यस्य मृतः पुरातन पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥

अथवा, "जो स्वय विचार करने मे आलसी है, वह किसी निश्चय पर नही पहुँच पाता। जिसके मन मे सही निश्चय करने की बुद्धि है, उसी के विचार प्रसन्न और साफ-सुथरे रहते है। जो यह सोचता है कि पहले आचार्य और धर्मगुरु जो कह गए सब सच्चा है, उनकी सब बात सफल है और मेरी बुद्धि या विचार शक्ति टुटपुजिया है, ऐसा बाबा-वाक्य प्रमाण के ढग पर सोचने वाला मनुष्य केवल आत्म-हनन का मार्ग अपनाता है"—

विनिश्चय नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवान् प्रसीदति।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥

"मनुष्य के चरित्र मनुष्यो के कारण स्वय मनुष्यो द्वारा ही निश्चित किए गए थे। यदि कोई बुद्धि का आलसी या विचारो का दरिद्री बनकर हाथ मे पतवार लेता है, तो वह कभी उन चरित्रो का पार नही पा सकता जो अथाह है और जिनका अन्त नही। जिस प्रकार हम अपने मत को पक्का समझते है, वैसे ही दूसरे का मत भी तो सकता है। दोनो मे से किसकी बात कही जाए ? इसलिए दुराग्रह को छोडकर परीक्षा की कसौटी पर प्रत्येक वस्तु को कसकर देखना चाहिए।" गुप्तकालीन सस्कृति के ये गूँजते हुए स्वर प्रगति, उत्साह, नवीन पथ सशोधन और भार-मुक्त मन की सूचना देते है। राष्ट्र के अर्वाचीन जीवन मे भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण हमे ग्रहण करना आवश्यक है। कुषाण-युग के आरम्भ की मानसिक स्थिति का परिचय देते हुए महाकवि अश्वघोष ने तो यहाँ तक कहा था कि राजा और ऋषियो के उन आदर्श चरित्रो को जिन्हे पिता अपने जीवन मे पूरा नही कर सके थे, उनके पुत्रो ने कर दिखाया—

राज्ञाम् ऋषीणा चरितानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वै।

नये और पुराने के सघर्ष मे इस प्रकार का सुलझा हुआ और साहसपूर्ण दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। इससे प्रगति का मार्ग खुला रहता है। अन्यथा भूतकाल कठ मे पडे खटखटे की तरह बार-बार टकरा कर हमारी हड्डियो को तोडता रहता है। भारतवर्ष जैसे देश के लिए यह और भी आवश्यक है कि वह भूतकाल की जडपूजा मे फँसकर उसी को सस्कृति का अग न मानने लगे। भूतकाल की रूढियो से ऊपर उठकर उसके नित्य अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को प्रकाश से भर देने वाली उसकी स्फूर्ति और प्रेरणा स्वीकार करके आगे बढाना चाहिए। जब कर्म की सिद्धि पर मनुष्य का ध्यान जाता है, तब वह अनेक दोषो से बच जाता है। जब कर्म से भयभीत व्यक्ति केवल विचारो की उलझन मे फँस जाता है, तब वह जीवन की किसी नयी पद्धति या सस्कृति को जन्म नही दे पाता। अतएव आवश्यक है कि पूर्वकालीन सस्कृति के जो निर्माणकारी तत्त्व है, उन्हे लेकर हम कर्म मे लगे और नयी वस्तु का निर्माण करे। इसी प्रकार भूतकाल वर्तमान का खाद बनकर भविष्य के लिए विशेष उपयोगी बनता है। भविष्य का विरोध करके पदे-पदे उससे जूझने मे और उसकी गति कुठित करने मे भूतकाल का जब उपयोग किया जाता है, तब नए और पुराने के बीच एक खायी बन जाती है और समाज मे दो प्रकार की विचार-धाराएँ फैलकर सघर्प को जन्म देती है। हमे अपने भूतकालीन साहित्य मे आत्म-त्याग और मानव सेवा का आदर्श ग्रहण करना होगा। अपनी कला मे से अध्यात्म-भावो की प्रतिष्ठा और सौन्दर्य-विधान के अनेक रूपो और अभिप्रायो को पुन स्वीकार करना होगा। अपने दार्शनिक विचारो मे से उस दृष्टिकोण को अपनाना होगा, जो समन्वय, मेल-जोल, समवाय और सप्रीति के जीवन-मत्र की शिक्षा देता है, जो विश्व के भावी सम्बन्धो का एक मात्र नियामक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। अपने उच्चाशय वाले धार्मिक सिद्धान्तो को मथकर उनका सार ग्रहण करना होगा। धर्म का अर्थ सप्रदाय या मत विशेष का आग्रह नही है। रूढियाँ रुचि-भेद से भिन्न होती है और होती रहेगी। धर्म का मथा हुआ सार है, प्रयत्न-पूर्वक अपने आपको ऊँचा बनाना। जीवन को उठाने वाले जो नियम है, वे जब आत्मा मे बसने लगते है, तभी धर्म का सच्चा आरम्भ मानना चाहिए। साहित्य, कला, दर्शन और धर्म से जो मूल्यवान सामग्री हमे मिल सकती है, उसे नये जीवन के लिए ग्रहण करना यही सास्कृतिक कार्य की उचित दिशा और सच्ची उपयोगिता है।
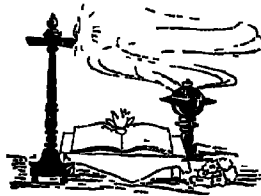
मगध और जैन-संस्कृति

डा० गुलाबचन्द्र चौधरी एम ए. पी. एच डी. आचार्य

गौरव का केन्द्र

प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र मगध देश का गौरव पूर्ण नाम इतिहास के पृष्ठो मे स्वर्णाक्षरो से अकित है। यहाँ का इतिहास, नि सन्देह, न केवल भारत मे, वल्कि विश्व मे वे मिशाल रहा है। ऐसे विरले ही देश होगे, जहाँ से एक साथ साम्राज्यचक्र और धर्मचक्र की धुराएँ अपने प्रवल वेग मे शताब्दियो तक जगती-तल पर चलती रही हो। मगध को ही श्रमण-संस्कृति के लिए जीवनदान, सवर्धन एव पोषण करने का श्रेय प्राप्त है तथा विश्व मे उसके परिचय देने और प्रसार का कार्य यही से सम्पन्न हुआ था। भारत के विशाल भूभाग को एक छत्र के नीचे लाने वाले साम्राज्यवाद रूपी नाटक के अनेक दृश्य यही खेले गए थे। वर्धमान महावीर और तथागत बुद्ध की सर्वप्रथम अमरवाणी सुनने का सौभाग्य इसी स्थल को मिला था और जैन तथा वौद्धधर्म के उत्कर्ष के दिन इसी भूमि ने देखे थे। इतना ही नही, आजीवक आदि अनेक सम्प्रदायो और दर्शनो को जन्म देने और उन्हे सदा के लिए इतिहास की वस्तु वना देने का गौरव भी इसी क्षेत्र को प्राप्त है। इसी महीखण्ड पर आध्यात्मिक विचार-धारा और भौतिक सभ्यता ने गठ-वन्धन कर भारतीय राष्ट्रवाद की नीव डाली थी। प्रतापी राजा विम्वसार श्रेणिक एव अजातशत्रु, नन्दवशी राजा, सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसका पौत्र प्रियदर्शी अशोक शुगवशीय सेनानी पुष्यमित्र तथा पीछे गुप्त साम्राज्य के दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त और उनके वशजो ने इसी प्रदेश से ही विस्तृत भूभाग पर शासन कर इसे विश्व की सारी कला, नाना ज्ञान-विज्ञान और अनेक भौतिक समृद्धि का केन्द्रस्थल वनाया था। यहाँ के कलाकारो, मेधावियो और राजनीतिज्ञो की जगत मे प्रशसा होती थी। प्रसिद्ध कवि अश्वघोष, महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य और कामन्दक, महावैयाकरण वररुचि और पतजलि, छन्दकार पिङ्गल, महान ज्योतिर्विद आर्यभट्ट और तार्किक धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि विद्वान् इस प्रान्त की ही विभूतिया थे। ईसा पूर्व छठवी शताब्दी से लेकर छठवी

शताब्दी पश्चात् तक यहाँ से राज्यधुरा का चक्र परिचालित होता रहा। पीछे बगाल के पाल और सेन वशी राजाओ की अधीनता मे पहुँचने पर यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से इस क्षेत्र का महत्त्व कुछ कम हो गया हो, पर सभ्यता और सस्कृति की गरिमा की दृष्टि से इसे जो अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त थी उसमे तनिक भी कमी नही हुई। नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयो द्वारा मगध ने अपना अन्तर्राष्ट्रीय उत्कर्ष पाया। इन विश्वविद्यालयो मे ७-८ सौ वर्षो तक भारतीय दर्शनो की, धर्म और साहित्य की, कला और सगीत की तथा भैपज्य एव रसायनशास्त्र की शिक्षा देश-विदेश के विद्यार्थियो को बिना किसी भेदभाव के साथ दी जाती थी। मगध के इतिहास का पृष्ठ यदि राजगृह और पाटलिपुत्र के उत्थान के साथ खुलता है, तो वह नालन्दा के पतन के साथ बन्द हो जाता है। इतना विशाल गौरव पाने का विरले ही देशो को मौका मिला होगा। इसी प्रान्त के कारण ही सारा प्रान्त आज बिहार के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रदेश की महिमा ने केवल भारतीय विद्वानो ने बल्कि अनेक विदेशी यात्रियो प्लुटार्क, जस्टिन-मेगस्थनीज, फाहियान, ह्वानच्वाग आदि—ने मुक्त कण्ठ से गायी है।

श्रमण-संस्कृति का केन्द्र

भारतवर्ष सनातन काल से अनेक सस्कृतियो का सगमस्थल रहा है। उन सस्कृतियो मे एक बहुत प्राचीन सस्कृति श्रमणधारा का क्षेत्र पूर्वीय भारत था। मगध के इतिहास की यदि हम सास्कृतिक पृष्ठभूमि टटोले, तो हमे सुदूर अतीत से ही यह श्रमण-सस्कृति का केन्द्र मालूम होता है। तथाकथित वैदिक सस्कृति के प्रभाव से यह एक प्रकार से मुक्त था। इसकी अपनी भापा, साहित्य और कला-कौशल था। प्राचीन मगध की राजधानी राजगृह के आस-पास की खुदाई से प्राप्त पकी मिट्टी (Tessa cta) के खिलौनो से, जिनमे स्त्री, पुरुप, राक्षस और पशुओ के चित्र हैं, मालूम होता है कि इस क्षेत्र का सम्बन्ध मोहे-जो-दारो और हरप्पा आदि की प्राचीनतम सस्कृतियो से अवश्य रहा है। आर्यो के आगमन के पहले के कुछ अवैदिक तत्त्वो से मालूम होता है कि यहाँ पापाणयुगीन पुरुपो के वशज रहते थे। यही कृष्णागो (N grite) और आग्नेयों (Austric) की सस्कृति का समिश्रण हुआ था। आर्य और आर्येतर सस्कृतियो का आदान-प्रदान विशेपत इसी प्रान्त में हुआ था। आर्यो ने यहाँ के विद्वानो से कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म और योगाभ्यास की शिक्षा ली और अपनी होम विधि के मुकाबले मे उनकी पूजाविधि अपनाई। वेदो मे यहाँ के निवासियो को व्रात्य, नाग, यक्ष आदि नामो से कहा गया है। ऋग्वेदादि ग्रन्थो मे व्रात्यो की निन्दा और स्तुति के अनेक प्रसग मिलते है। अथर्ववेद के पन्द्रह वे काण्ड मे व्रात्य शब्द का अर्थ और व्रात्य प्रजापति का सुन्दर वर्णन प्राय श्रमण नायक ऋपभदेव को लक्ष्य कर कहा गया लगता है। वहाँ यह भी लिखा है कि व्रात्य की नारी श्रद्धा थी, 'मागध' उनका मित्र था और विज्ञान उसके वस्त्र थे। यहाँ मागध-मगधवासी शब्द इस प्रसग मे ध्यान देने योग्य है। मगध-वासियो के नेतृत्व मे पूर्वीय जन समुदाय ने आर्यो की दासता से बचने के अनेक प्रयत्न किए थे। ब्राह्मण-सस्कृति के पुरातन ग्रन्थो मे श्रमण-सस्कृति के अनुयायी मगधवासी एव पूर्वीय जनवर्ग तथा उनके भूभाग को बहुत ही हेयता और घृणा के भाव से देखा गया है। ऋग्वेद से लेकर मनुस्मृति तक के अनेक ग्रन्थो मे इस बात के प्रमाण भरे पडे है। मागध (मगध-जनवासी) शब्द का अर्थ ब्राह्मण कोशो मे चारण या भाट है। सभव है,

जीविकार्जनार्थ कुछ लोग मगध से चारण, भाटो का पेशा करते हुए आर्य देशो मे जाते हो, जहाँ उन्हे मागध शब्द से कहते-कहते पीछे उसी अर्थ मे मागध शब्द की रूढि होगई हो। मनुस्मृति मे गिनाए गए ब्रह्मर्षि देशो मे मगध का नाम शामिल नही है। वहाँ मागध शब्द का अर्थ वर्ण सकर से है। इस क्षेत्र वासियो ने पुरोहितो और वैदिक देवताओ की सर्वोच्च सत्ता प्राय न के बराबर स्वीकारी थी। इसलिए पुरोहित वर्ग इस क्षेत्र को अपवित्र मानते है और यहाँ तक कि इस क्षेत्र मे प्राण-त्याग भी पाप गिनते है—'मगह मरे सो गदहा होय'। आज भी मिथिला के ब्राह्मण गगा पार मगध की भूमि मे मृत्यु के अवसर को टालते है। श्रौत सूत्रो मे यहाँ रहने वाले ब्राह्मण को ब्रह्मबन्धु कहते है, जिसका अर्थ जातिमात्रोपेत ब्राह्मण है, शुद्धब्राह्मण नही। आजकल भी यहाँ ब्राह्मण 'बाबाजी' नाम से पुकारे जाते है और किसी काम के बिगड जाने व किसी वस्तु के नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर उसे भी उपहास रूप 'यह बाबाजी हो गया' कहते है। यद्यपि महावीर और बुद्ध के उदय होने के काफी पहले से मगध आर्यों के अधीन हो गया था, पर यहाँ पुरोहित वर्ग को वैसा सम्मान कभी नही मिला, जैसा उसे आर्य देशो मे मिला है। वैदिक सस्कृति एक प्रकार से यहाँ के लिए विदेशी थी, इसीलिए पीछे, महावीर और बुद्ध के काल मे, वहा उसका जो थोडा बहुत प्रभाव था, वह भी उठ गया।

मगध से जैन धर्म की प्राचीनता और विकास

मगध से जहाँ तक जैनधर्म और सस्कृति का सम्बन्ध है, वह साहित्यिक आधारो पर भगवान् महावीर से पहले जाता है। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय के सामञ्ज फल सूत्र मे भग० पार्श्वनाथ की परम्परा के चतुर्याम सवर (अहिसा, सत्य, अस्तेय एव अपरिग्रह) का उल्लेख है। उत्तराध्यन के केशी गौतम सवाद मे और भगवती-सूत्र मे पार्श्वापत्यो (पार्श्व परम्परा के मुनियो) के सम्वाद से मालूम होता है कि मगध मे भग० पार्श्वनाथ की शिक्षाओ एव उनके समय के व्यवहारो का प्रचलन था। भग०महावीर का समकालीन आजीवक मक्खलि गोसाल अपने समय के मनुष्य समाज के छह भेद करता हे, जिसमे तीसरा भेद 'निर्ग्रन्थ' समाज था। इससे विदित है कि निर्ग्रन्थ सगठन पहले से ही एक उल्लेखनीय सगठन रहा है। आचाराग सूत्र से मालूम होता है कि भग० महावीर के माता पिता श्रमण भग० पार्श्व के उपासक थे। इन तथा अन्य सबल प्रमाणो से सिद्ध है, कि मगध मे जैनधर्म भग० महावीर से बहुत पहले से था। मगध की राजधानी राजगृह मे जैनो के बीसवें तीर्थङ्कर मुनि सुव्रतनाथ के—गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान—ये चार कल्याणक हुए थे।

भगवान् महावीर ने दीक्षाकाल से निर्वाण प्राप्ति तक के बयालीस वर्षो मे १४-१५ चतुर्मास इसी मगध मे नालन्दा, राजगृह और पावापुरी मे बिताए थे। यहाँ की पावन भूमि को ही सौभाग्य प्राप्त है कि उन्हे केवलज्ञान इस क्षेत्र की एक नदी ऋजुकूला (वर्त० कि ऊल) नदी के किनारे जृभक गाँव (वर्तमान् जमुई का क्षेत्र) मे प्राप्त हुआ था और उनका प्रथम उपदेशामृत राजगृह या पावापुरी मे मगध की जनता को सुनने मिला था। बौद्ध ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि भग० बुद्ध के समय मगध मे जैनो के कई केन्द्र थे, जिनमे नालन्दा, राजगृह और पावा प्रमुख थे। मज्झिमनिकाय के अनुसार नालन्दा मे ही

अनेक धनी जैन रहते थे। मगध के कई प्रभावक जैन श्रावक और श्राविकाओ का नाम बौद्ध ग्रन्थो मे मिलता है, जैसे राजगृह का सचक, नालन्दा का उपालि गृहपति आदि।

भग० महावीर के समय राजगृह अनेक विद्वानो और प्रसिद्ध वादियो का केन्द्र था। उनके प्रथम उपदेश को समझने और धारण करने वाला प्रथम शिष्य इन्द्रभूति, जो गौतम गणधर नाम से प्रसिद्ध हुआ, इसी स्थान का एक विशिष्ट ब्राह्मण था, भगवान् के ग्यारह गणधरो मे से छह् तो इसी प्रदेश के थे। कहते है कि राजगृह से भगवान् महावीर का जन्म-जन्मातरो से सम्बन्ध था। और पवित्र पाँच पर्वतो से घिरा हुआ यह नगर अनेक महापुरुषो की लीला-भूमि तथा मुक्ति-प्राप्ति का स्थान रहा है। केवल ज्ञान प्राप्ति के समान ही भग० महावीर को निर्वाण पद देने का सौभाग्य मगध की पावन भूमि को ही प्राप्त है। ईसा पूर्व ५२७ मे 'पावा' से वर्धमान मोक्ष प्राप्त हुए थे। पटना के कमलदह (गुलजार बाग) नामक स्थान से महाशीलवान् सुदर्शन सेठ ने समाधि पाई थी।

महाभारत और पुराणो से विदित होता है, कि प्रागैतिहासिक-युग मे मगध के प्रतापी नरेश जरासन्ध ने समस्त भारत पर राज्य स्थापित किया था। वह भग० नेमिनाथ का युग था। पुन ईसा की छठवी शताब्दी पूर्व श्रेणिक बिम्बसार के नेतृत्व मे मगध ने ऐसे साम्राज्यवाद की नीव डाली जो पीछे जैन सम्राट चन्द्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियो के सरक्षकत्व मे सारे भारत पर छा गया था। जैन शास्त्रो के अनुसार श्रेणिक भग० महावीर का अनुयायी हो गया था। उसकी रानी चेलना और उसके अनेक पुत्र जैन-मुनियो के परम भक्त थे। जैनागमो का कुणिक और श्रेणिक का उत्तराधिकारी-अजातशत्रु जैन धर्मानुयायी था। उसका बेटा उदायिभद्द अपने पिता के समान ही पक्का जैन था। यही तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो को देखते हुए अपनी राजधानी राजगृह से पाटलिपुत्र ले गया था। पाटलिपुत्र को प्रकर्ष देने का श्रेय उदायि को ही है। जैनागम ग्रन्थ आवश्यक सूत्र के अनुसार उसने नई राजधानी के मध्य एक जैन चैत्य गृह बनवाया था और अष्टमी चतुर्दशी को प्रोषध का पालन करता था। उदायि ने अनेको बार उज्जैन के राजा को पराजित किया था।

उदायि के बाद मगध का साम्राज्य अनेक राजनीतिक एव धार्मिक प्रतिद्वद्विताओ का शिकार बन गया, पर जन-हृदय पर जैन धर्म के प्रभाव की धारा कम ही क्षीण हो सकी। जैन ग्रन्थो मे उदायि के बाद और नव नन्दो के आविर्भाव के बीच के राजाओ का नाम नही मिलता। नन्द राजा और उनके मत्री गण भी जैन थे। उनका प्रथम मत्री कल्पक था, जिसकी सहायता से नन्दो ने क्षत्रिय राजाओ का मान-मर्दन किया था। नव मे नन्द का मत्री शकटाल भी जैन था, जिसके दो पुत्र थे—स्थूलभद्र और श्रीयक। स्थूलभद्र तो जैन साधु हो गया, पर श्रीयक ने मन्त्रि पद ग्रहण किया। नन्द राजा जैनधर्मानुयायी थे, यह बात मुद्राराक्षस नाटक से भी मालूम होती है। नाटक की सामाजिक पृष्ठ भूमि मे जैन प्रभाव स्पष्ट काम कर रहा है। नन्दो के जैन होने के अकाट्य प्रमाण सम्राट खारवेल का शिला-लेख है, जिसमे उल्लेख है कि नन्द राजा कलिंग देश से भगवान आदिनाथ की प्रतिमा अपनी विजय के चिह्न स्वरूप मगध ले आया था। नन्दो के समय मगध का साम्राज्य चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था।

नन्दो के बाद भारत की विदेशी आक्रमणो से रक्षा करने वाला, सारे भारत को एक छत्र के नीचे लाने वाला सम्राट चन्द्रगुप्त निर्विवाद रूप से जैन था। बौद्ध अनुश्रुति मे उसे मोरिय नामक व्रात्य क्षत्रिय जाति का युवक बताया है। जैन ग्रन्थ 'तिलोय पण्णत्ति' मे उसे उन सम्राटो मे अन्तिम कहा गया है, जिन्होने जिन-दीक्षा लेकर अन्तिम जीवन जैन मुनि के रूप मे व्यतीत किया था। वह श्रुत-केवली भद्रबाहु की परम्परा का अनुयायी था और ई०पू०२६० के लगभग दक्षिण भारत मे कर्नाटक देश के,श्रवण वेलगोला स्थान मे उसने समाधि मरण पूर्वक देह त्याग किया था। आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व के अनुसार सम्राट चन्द्रगुप्त का महाराजनीतिज्ञ मत्री चाणक्य भी अपने जीवन के शेष दिनो मे जैन धर्म की शरण आया था। उसके अन्तिम दिनो का वर्णन इसीलिए हमे जैन शास्त्रो के अतिरिक्त कही नही मिलता।

आगमो का संग्रह

जैनागमो का सर्वप्रथम सकलन इसी मगध देश की राजधानी पाटलिपुत्र मे आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व मे हुआ था। उस सकलन की एक रोचक कहानी है। भगवान महावीर का जो उपदेश इस मगध की धरा पर हुआ था, वह उनके शिष्यो द्वारा १२ अग और १४ पूर्वो मे विभक्त किया गया था, जो श्रुत परम्परा से चलकर शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा कालान्तर मे विस्मृत होने लगा था। यह बात नन्द-मौर्य साम्राज्य के सक्रमण काल की है। इस समय तक बौद्धो ने अपने आगमो को राजगृह और वैशाली की दो सगीतियो द्वारा बहुत कुछ व्यवस्थित कर लिया था। पर जैनो की ओर से कोई सामूहिक प्रयत्न नही हुआ था। नन्द-मौर्य राज्यतत्र के सक्रम्ण काल मे जैन सघ के प्रमुख आचार्य भद्रबाहु थे। हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्ट-पर्व के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय मगध मे बारह वर्ष-व्यापी भयकर दुर्भिक्ष पडा था। उस दुष्काल मे जब साधुओ को भिक्षा मिलना कठिन हो गया था, तब साधु लोग निर्वाह के लिए समुद्र तट की ओर चले गए। भद्रबाहु स्वामी नेपाल की ओर चले गए और उन्होने बारह वर्ष के महाप्राण नामक ध्यान की आराधना की थी। दिगम्बर अनुश्रुति के अनुसार भद्रबाहु दक्षिण की ओर अपने सघ सहित चले गए थे। मगध मे कुछ जैन मुनि आचार्य स्थूलभद्र की प्रमुखता मे रह गए थे। भीषण दुर्भिक्ष के कारण मुनि मघ को अनेक विपत्तियाँ झेलनी पडी। अन्त मे आगम-ज्ञान की सुरक्षा के हेतु आ०स्थूलभद्र के नेतृत्व मे एक परिषद् का सगठन हुआ जिसमे अवशिष्ट आगमो का सकलन हुआ। भद्रबाहु के अनुगामी मुनि गण जब मगध लौटे, तो उन्होने सकलित आगमो की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया और तत्कालीन साधु-सघ जो श्वेत वस्त्र का आग्रह करने लगा था, को मान्यता प्रदान नही की। इस तरह इस मगध की धरा पर ही दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से जैन सघ के स्पष्ट दो भेद हो गए। यहाँ जो आगम सग्रह किया गया, उसे दो भागो मे बाँटा गया—एक तो वे जो महावीर से पूर्व श्रमण-परम्परा मे प्रचलित थे, इसलिए उन्हे पूर्व, कहा गया और महावीर के उपदेश को '१२ अग' नाम से सगृहीत किया गया।

आगमो की भाषा

मगध देश की भाषा मागधी या मगही कहलाती है। इसका जैन आगमो की भाषा पर खासा

प्रभाव है। जैनागमो की भाषा अर्धमागधी कही जाती है। अर्धमागधी का अर्थ उस भाषा से है, जो आधे मगध मे बोली जाती थी, अथवा जिसमे मागधी भाषा की आधी प्रवृत्तियाँ पाई जाती थी। हो सकता है कि मगध की भाषा को ही अधिक समुदाय के लिए बोधगम्य बनाने के हेतु, उसमे पडौस के कोशल शूरसेन आदि प्रदेशो के प्रचलित शब्द शामिल कर लिए गए हो, भाषाविदो के अनुसार मागधी भाषा की मुख्यत तीन विशेषताएँ थी—(१) 'र' का उच्चारण 'ल' होना, (२) तीनो प्रकार के ऊष्म 'श स, ष' वर्णों के स्थान पर केवल तालव्य 'श' पाया जाना, (३) अकारान्त कर्त्ता कारक एक वचन का रूप 'ओ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय होना। इन तीन मुख्य प्रवृत्तियो मे अन्तिम प्रवृत्ति अर्धमागधी मे बहुलता से पाई जाती है और र का ल होना कही-कही पाया जाता है। इसकी शेष प्रवृत्तियाँ शौरसेनी प्राकृत से मिलती है, जिससे अनुमान होता है कि इसका रूपान्तर मगध के पश्चिम देशो मे हुआ होगा। जो हो, जैनो ने पूर्वी भाषा (मागधी) का कुछ परिवर्तन सस्कार तो अवश्य किया पर बहुत हद तक वे उसे ही पकडे रहे। उनके आगम जिस अर्धमागधी भाषा मे है, उसमे बौद्धागमो की भाषा पालि से मगध की भाषा के अधिक तत्त्व पाए जाते है। जैन प्राकृतो के 'एगो, दुगो' आदि अनेक शब्द मगध मे आज भी बोले जाते है। वर्तमान जैन आगमो मे अर्धमागधी भाषा के अनेक स्तर परिलक्षित होते है। उनमे आचाराग आदि कुछ तो प्राचीनतम स्तर वाले है पर अधिकाश ग्रन्थो मे मध्ययुगीन आर्य-भाषा के दूसरे स्तर की प्रवृत्तियाँ—समीकरण, सरलीकरण एव वर्ण लोप आदि प्रवेश कर गई है। सम्भवत ये उन आगमो की मौखिक परम्परा के कारण ही कालक्रम से घुस गई हैं।

मगध मे चौदह वर्ष व्यापी दुर्भिक्ष की घटना जैनधर्म के इतिहास की वह भयकर घटना थी, जिसने सघ भेद के साथ-साथ जैन धर्म के पैर मगध की भूमि पर कमजोर कर दिए। वह धीरे-धीरे इस भूमि के जन मानस से विस्मृत-सा होने लगा और अपने विस्तार का क्षेत्र पश्चिम ओर वाराणसी मथुरा की तरफ, पूर्व मे बगाल दक्षिण पूर्व मे कलिङ्ग तथा दक्षिण भारत में ढूढने लगा। पर मगध के वक्षस्थल पर जैन इतिहास की जो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटी थी, उससे वह जैनो की पुण्य भूमि तो बन चुका था। आज भी राजगृह की पच पहाडियाँ, नालन्दा, पावा, गुणावा और पाटलिपुत्र एक साथ जैनो के ये पाँच तीर्थस्थान इसी मगध की पुण्य भूमि है और इसके पडौसी प्रदेश हजारीबाग मे सम्मेद शिखर, कोलुआ पहाड तथा मानभूम जिले के अनेक ध्वसावशेप जैनधर्म के गौरव को उद्घोषित कर रहे हैं।

उपसंहार

मौर्यवश के बाद मगध पर शुङ्ग और कण्ववश का राज्य हुआ। इन वशो के नरेश ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी एव पोषक थे। इनके समय मे मगध हतप्रभ था और विदेशियो को भारत मे राज्य स्थापना करने का मौका मिल गया। पर मगध की श्रमण-सस्कृति का प्रभाव व्यर्थ नही गया। उसने अन्य सस्कृतियो से समन्वय कर उनके रूप निखारने मे सहयोग दिया। नवीन ब्राह्मण धर्म को उसने देवी-देवताओ की भक्ति, उपासना, मूर्तिपूजा एव जीवदया आदि बातें प्रदान की और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार काल मे वह शक्तिहीन एव अवनत हो गया और कुछ अश मे उनमे समा गया।

इतना सब होने पर भी जैन जनता युगो युगो मे मगध से अपना सम्बन्ध बनाए रही। जैन कवियो ने उसे अपनी पुण्य भूमि को तीर्थ रूप मे सदा स्मरण किया है। इस बात का प्रकाश हमे नालन्दा बडगाँव के जैनमन्दिर से पालवशी राजा राज्यपाल के समय (१० वी शताब्दी का पूर्वार्ध) के एक लेख से मिलता है। लेख मे मनोरथ का पुत्र वणिक् श्री वैद्यनाथ अपनी तीर्थ-वन्दना का उल्लेख करता है।

आज मगध के प्रमुख स्थानो मे जैन जनता वाणिज्य के लिए बसी है। मगध के जैन सास्कृतिक केन्द्र उनकी सहायता की राह देख रहे है। चारो ओर विकास की योजनाएँ लागू हो रही है। क्या वह मगध जिसने जैन सस्कृति को जन्मक्षण से पाला पोसा है, आज फिर उसके विकास के लिए पात्र नही हो सकता? तीर्थ-यात्रा के नाम पर जैन जनता हजारो रुपये इस भूमि पर आकर खर्च करती है, पर जैन-सस्कृति के प्रसार सबधी उपादानो से, यह प्रान्त आज भी वचित है, जो बडे खेद की बात है।
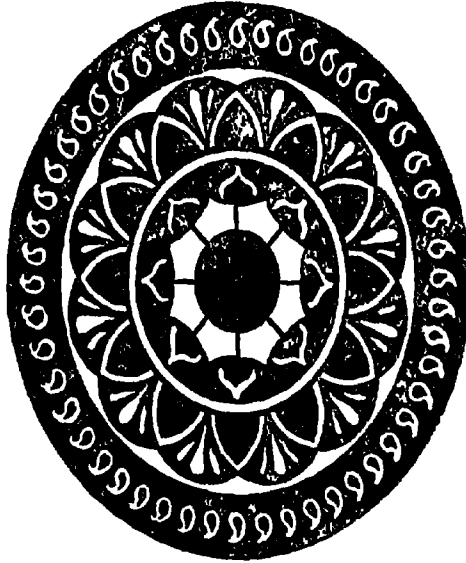
समाज के विकास में नारी की देन

●

दिनेश नदिनी डालमिया

समाज-शकट के पुरुप और नारी दो चक्र है, और यान के सन्तुलन के लिए दोनो की जिम्मेदारी समान है। जब न रात थी और न दिन, तब शिव भी शक्ति के अभाव मे शव था। माया से सम्पन्न होने पर उसमे स्फुरण हुआ। ब्रह्माण्डो की रचना हुई और उसने शिवत्व प्राप्त किया।

बाइबिल की कथा के अनुसार आदम नदन वन का प्रथम पुरुप था। अपने अकेलेपन से ऊब कर जब उसने एक सहचरी की कल्पना की, तो हवा उसके पश्चिम से प्रकट हुई। वहाँ एक वर्जित वृक्ष था, जिसके फलो को खाने की मनाई थी। स्त्री अपने कुतूहल को न रोक सकी। उसने अपने पति को उस तरु के फल को चखने को उकसाया। अनाज्ञाकारिता के कारण वे स्वर्ग मे च्युत हो गए, और मैथुनी सृष्टि का आरम्भ हुआ। इस आख्यायिका को अविश्वमनीय माने, तो भी इसके तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता। जिज्ञासा, ज्ञान की जननी है और इस कहानी के अतर्गत यही सत्य है, कि अच्छे और बुरे को जानने की प्रेरणा मनुष्य को स्त्री से ही प्राप्त हुई।

प्रागैतिहासिक काल मे कोई सुघटित समाज नही था। बर्वर मनुष्य गुफाओ और जगलो मे रहता था। आखेट द्वारा ही वह कुटुम्ब का और अपना निर्वाह करता था। स्त्री तीर और धनुप लेकर उसके साथ जाती और शिकार मे उसका साथ देती। घर को स्वच्छ रखना और सन्तान का लालन-पालन करना भी उसका ही कर्तव्य था। अग्नि के आविष्कार के बाद भी वह खेतो और खलिहानो के कामो मे अपने सगी का हाथ बटाती और गृह-कार्यो का सचालन करती। फिर भी बर्बर-युग मे स्त्री मनुष्य की स्थावर और जगम सम्पत्ति की तरह उसकी निजी जायदाद थी। दस्यु और लुटेरे आते और उसको उसी तरह लूट ले जाते, जैसे उसके स्वामी के धन को। कई बार उसका रूप ही मार-काट और

लूट-पाट को जन्म देता। समाज मे उच्छृङ्खलता को रोकने के लिए ही विवाह की पद्धति प्रारम्भ हुई। महाभारत मे एक कहानी है, कि श्वेतकेतु ने अपनी माता को पिता के सन्मुख ही किसी बलिष्ठ युवक द्वारा भगाई जाती हुई देखा। पिता ने क्रुद्ध पुत्र का समाधान प्रचलित प्रथा की स्त्री स्वातन्त्र्य की दुहाई देकर करना चाहा, किन्तु आदर्शवादी सन्तान को इस उत्तर से सन्तोष नही हुआ। तब ही से विवाह की रस्म शुरू हुई और नारी का जीवन स्वेच्छाचारिता से मुक्त होकर मर्यादित हुआ। बाल्यकाल मे वह पिता के आश्रय मे रहने लगी, यौवन मे पति के और वैधव्य मे पुत्र के। उसकी स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता और स्वेच्छाचारिता सीमित हो गई। उसका कार्य क्षेत्र गृहस्थी हो गई। वह मनुष्य की अन्नपूर्णा बनी। अपने को सुरक्षित पा-समझ, वह सङ्गीत, चित्रकला, कविता आदि का अवकाश के समय अभ्यास करने लगी और वह ललित कलाओ की जन्मदात्री बन गई। उसके सौन्दर्य मे इससे चार चाँद लग गए। उसका व्यक्तित्व विकसित हुआ।

वैदिक काल मे स्त्री को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त थे। वह गुरुकुलो की अधिष्ठात्री देवी थी। विद्यार्थियो का वह पुत्रवत् पालन करती थी, उनके सुख-दुखो के प्रति जागरूक रहती थी। शास्त्रो का अध्ययन करती थी, वाद-विवादो मे भाग लेती थी और उसके सहयोग बिना कोई भी यज्ञ-याज्ञ सम्पादित नही होते थे। राम को भी राजसूय यज्ञ करने के लिए सीता के अभाव मे सोने की सीता बनवानी पड़ी थी। वह भौतिक और दैविक सम्पदा की स्वामिनी थी। ऋषियो की तरह मन्त्री की दृष्टा थी, फिर भी वह मर्यादा की अक्षाश-रेखा का उल्लघन नही करती थी। विदुषी मैत्री और गार्गी के उदाहरण हमको आज भी स्फूर्ति देते है।

पौराणिक काल मे स्त्री का स्थान अति उच्च था। समाज पर उसके पातिव्रत की धाक थी। वह जीवन की महाशक्ति थी। सावित्री उसी बल के आधार पर अपने पति सत्यवान को यमराज के पाश से छुडा लाई। सीता नारी मात्र का आदर्श है। असह्य विपत्तियो मे फँसने पर भी राम उसके रोम-रोम मे रम रहे थे और उसके प्रति उसकी निष्ठा अगाध है। राम के कहने से जब उसको अपनी पवित्रता प्रमाणित करने के लिए अग्नि-परीक्षा देनी पडी, तो उसके सत से प्रभावित होकर जलता पर्वत समान काष्ठ समूह भी शीतल हो गया। यही सती प्रथा का सक्षिप्त मे वर्णन कर देना असगत नही होगा। जो हमारे देश मे अग्रेजो के आने के बाद ही बन्द हुई। मध्ययुग मे आततायियो से अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए राजपूतललनाएँ जौहर की आग मे सहर्ष अपने को भस्मीभूत कर देती थी। अपने मृत पति की देह को लेकर सती हो जाना, तो यहाँ साधारण बात थी। जो प्रेम मृत्यु के परे देख सकता था, वह कितना अलौकिक और दिव्य था। ससार के इतिहास मे प्रेम की ऐसी निष्ठा और परम्परा दुर्लभ है। प्रेम के लिए पतङ्गो की तरह मर मिटना अपने आदर्श के लिए सर्वस्व स्वाहा कर देना नारी की समाज को सबसे महत्त्वपूर्ण देन है, जिसका पूर्ण मूल्याकन असभव है। अधे पति से व्याहे जाने के बाद गाधारी ने उम्र भर अपनी आँखो पर पट्टी बाँध स्वेच्छा से अपने को नेत्रहीन बना लिया।

मध्य युग मे भी नारी अन्त पुर मे ही राज्य नही करती रही, किन्तु वह राज-काज मे भी भाग

लेती रही। सुल्तान रजिया ने शासनारूढ होकर दिल्ली के सल्तनत की बागडोर अपने हाथ मे ली। नूरजहाँ ने अपने विलासी पति बादशाह जहाँगीर की राजव्यवस्था बखूबी सँभाली। भास्कराचार्य की पत्नी लीलावती ने गणित विज्ञान पर अपनी मुहर लगाई। लाला कवित्री ने योग की कठिन साधना कर आत्म साक्षात्कार किया। राजरानी मीरा ने अपने गीतो मे भक्ति की मन्दाकिनी बहाई। महारानी पद्मिनी ने छद्मवेष धारण कर अलाउद्दीन खिलजी से अपने पति की रक्षा की। ये महिलाएँ सामाजिक उत्तरदायित्व और वैयक्तिक सुख मे सतुलन स्थापित कर हमारे लिए एक ऐसी मिसाल छोड गई है, जो आज भी स्तुत्य है।

अराजकता के युग मे नारी को चार दीवारी मे बन्द रहना पडा। उसके समानता के अधिकार छिन गए। उसकी पढाई लिखाई बन्द हो गई और पर्दे मे सूर्य भी उसको नही देख सकता था। मनुष्य की निगाह मे भी वह हीन बन गई। उसका अतीत का गौरव प्राय समाप्त हो गया था। फिर भी स्वतन्त्रता के प्रथम सग्राम मे रानी लक्ष्मीबाई के रूप मे उसकी देन लासानी है। साक्षात् भवानी बनकर उसने रणक्षेत्र मे युद्ध का सञ्चालन किया। उसके देवाङ्गनोपम व्यक्तित्व से लाखो प्राणी प्रभावित हुए। उसकी सामरिक प्रतिभा अद्भुत थी। यदि उसके समकालीन नेता उसकी समर योजना के अनुसार काम करते और उसके हाथो मे नेतृत्व सौप देते, तो आज भारत का इतिहास दूसरा ही होता। लक्ष्मीबाई विश्व के प्रख्यात वीरो की मौलमणि है और आज तक ऐसी नारी न हुई और न होगी। जीनतमहल ने भी उस रण मे आजादी के सिपाहियो का कुशल नेतृत्व किया। महारानी अहिल्या बाई ने भी योगिनी की तरह नि स्वार्थ भाव से राज किया और भारत भर मे अपने दान और वदान्य के चिन्ह छोड गई।

गाधी युग मे भारतीय नारी की देन अविस्मरणीय है। महात्मा गाधी की रणभेरी सुनकर वह तपस्विनी अपनी सास्कृतिक परम्परा को ध्यान मे रखकर पर्दे को चीरकर बाहर आ गई और स्वतन्त्रता के सग्राम मे उसने अपना पूर्ण योगदान किया। उसने लाठियो और गोलियो के आघात अपने कोमल अङ्गो पर सहे और कारागार को कृष्ण मन्दिर समझ उसकी यात्रा करने मे भी वह पीछे नही रही। गाधी युग की नारियो मे दो ने विश्वख्याति प्राप्त की—एक स्वर्गीय सरोजनी नायडू और दूसरी श्रीमती पण्डित। देश विभाजन से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, किन्तु इसका मूल्य भी नारी ने अपने सतीत्व को गुण्डो के बलात्कार की बलिवेदी पर चढा कर की।

नारी की समाज को मुख्य देन प्रेरणा है। वह मनुष्य की चेतना है, बुद्धि है। वही क्रान्ति की अग्नि भडकाती है और वही शाति के शीतल जल से उसे शान्त करती है। स्त्री ही अपनी दया, माया, ममता और प्रेम से जीवन को सरस और अमृत तुल्य बनाती है। वह नर की खानि है, नृसिह की जननी है और आदि शक्ति की भूतल पर प्रतीक है। पुरुष उसके साथ सम्पन्न होकर ही पूर्णता प्राप्त करता है। कन्यका, प्रेयसी और माता के रूप मे वह वन्दनीय है और सदा रहेगी। अपने बुद्धिबल और चातुर्य से उसने समाज को दृढ और सुसगठित बनाया है और उसके उपकार अनगिनित है। वह भारत की विकसित परम्परा पर ही अनन्त काल तक चलती रहे, यही मेरी कामना है। नारी आदर्शवाद और यथार्थवाद, युक्तवाद और परम्परा का विचित्र मिश्रण है। युगान्तकारी परिवर्तनो मे भी उसने हमारी

सनातन सस्कृति को अक्षत और अक्षुण्ण बनाए रखा है। उसके पुण्य और पाप, सुकृत और दुष्कृत, त्याग और तपोमय जीवन का जनमानस पर पर्याप्त प्रभाव पडा है और भविष्य मे भी पडता रहेगा। माता ही सन्तान की प्रथम गुरु है और इसलिए उसका दायित्व भी मनुष्य से कई गुणा अधिक है। उसके सस्कारो का असर सतति पर पडना स्वाभाविक ही है। वह जीवनोपयोगी विद्याओ की धात्री और सरक्षिका है। उसका जीवन स्वार्थ से ओत प्रोत होने पर भी अनासक्ति प्रधान है। इस्लाम के नबी मोहम्मद साहब ने यथार्थ ही कहा है, स्वर्ग माता के चरणो मे ही खिलता है। अणुबम के युग मे भी नारी विश्व को विनाश से बचाने के प्रयत्नो मे सर्वप्रथम है। अपनी प्रजा की रक्षा के लिए वह कितना ही बोझ उठाने के लिए तैयार है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के समाधान मे वह किसी से पीछे नही रहना चाहती। वह स्वय अभिशाप लेकर दूसरो को वरदान देना जानती है। वह विश्व-कल्याण को अपना लक्ष्य मान कर अग्रसर हो रही है और दुर्भावना, असहिष्णुता, ईर्ष्या से उद्वेलित मनुष्य की दुर्बलताओ को दूर कर उसको सर्वहित साधन की ओर प्रवृत्त करना चाहती है। यदि वह आज नर को स्वरचित प्रलयकर हिसा के नाश से बचाने मे समर्थ होती है, तो यह उसकी समाज को सर्वश्रेष्ठ देन होगी। इस अवसर्पिणी काल मे अपनी पवित्र साधना के द्वारा नारी ही इस अनर्थकारी आसन्न सकट से जन को त्राण दे सकती है। अणु शक्ति से उद्धत नर का एक बार फिर मोहिनी बनकर ही वह उद्धार कर सकती है। क्योकि उसके सहचर ने अपने जीवन की किश्ती उद्दाम तूफा के हवाले करदी है और नारी ही अपनी सहृदयता से उसको किनारे लगा सकती है।

हिन्दू समाज में जाति-भेद

आचार्य धर्मेन्द्रनाथ
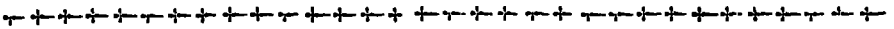
जब मै हिन्दूसमाज मे जातिभेद की प्रस्तावना पर विचार करता हूँ, तो मुझे सबसे पहले इसकी एक ही बुराई का ध्यान आता है, और वह है ऊँचनीच की भावना, जिसकी चरम परिणति हुई है— अपने ही एक वर्ग को अछूत बनाकर, उसको अपमान और नीचता के बोझ से पीस डालने के रूप मे। और अपमान भी थोडा या थोडे समय का नही—असह्य और पीढी दर पीढी वाला निरन्तर अपमान , जिसने न केवल अपमानित को ही मानवता से वचित किया है, बल्कि अपमान-कर्त्ता सवर्ण वर्ग को भी मानवता से गिरा दिया है।

वैसे तो दुनियाँ की हर कौम को, अपने आपको, दूसरी किसी भी कौम की अपेक्षा अधिक सभ्य मानने का अधिकार है , लेकिन कुछ कसौटियाँ है, जिन पर विना कसे यह सभ्यताभिमान अपरीक्षित रहता है। किसी भी जाति की सभ्यता के मुख्य पैमाने दो है—एक पैमाना है, कि वह खाती क्या है ? दूसरा पैमाना है, कि वह अपने शरीर से नि सृत मल की क्या व्यवस्था करती है। जो जाति इन दो कसौटियो पर खरी उतरती है, उसे सभ्य कहा जा सकता है क्योकि इन्ही दो प्रश्नो पर जातियो की सामाजिकता, नैतिकता, आचार, विचार, व्यवहार, सस्कार, कमजोरी या मजबूती को परखा जा सकता है।

इनमे पहली कसौटी है भोजन। भोजन जुटाने की प्रक्रिया के इतिहास से मानवता का सारा इतिहास जुडा हुआ है। शुरू मे आदमी शिकार मारकर या मौसमी फल-मूल-कन्द आदि खाकर निर्वाह करता था और शिकार कम पडने पर या फल आदि का मौसम खत्म होने पर लघन करता था।

लघन के दूसरे नैमित्तिक कारण 'नारी की गर्भावस्था' और 'नर को कभी-कभी चोट-फेट लगाना' भी होते ही थे। ये लोग फलो का मौसम समाप्त होने पर लघन के दुख को जानते थे, इसलिए इनको फल-सग्रह की युक्ति का आविष्कार करना पडा। फल सड न जाएँ, इसलिए उन्हे सुखाने की विधि ढूंढी गयी। कीडे या दूसरे बलवान् जन्तु आहार पर डाका न डाले, इसलिए दीवारे उठाकर छत डालने का काम शुरू हुआ। पशु रोज नही मिलते, इसलिए उन्हे बन्दी बनाने के लिए बाडे बनाए गए। एक बार मार कर खा जाने की अपेक्षा पालतू पशु का दूध पीना लाभदायक लगा, तो दुधारू पशुओ को छोड कर आदमी ने दूसरे जानवरो को निकाल दिया। घोडा सवारी के लिए और कुत्ता रखवाली के लिए रख लिए गए। कृषि और पशुपालन का ढग आ जाने से आदमी की भोजन की समस्या का समाधान तो हुआ।

भोजन से सभ्यता के सम्बन्ध की बात पर विचार करते समय, एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि मनुष्य न तो हिरन, बकरे या गाय की तरह केवल शस्य-भोजी है, और न शेर-चीते, भेडिया या बाज-गिद्ध की तरह केवल मास-भोजी। बल्कि भालू, चूहे और कौओ की तरह उभय भोजी है। जैसा भोजन मिल जाए, वैसा भोजन पचाकर आत्मसात् करने की क्षमता का नृवश के विस्तार और प्रसार मे बडा हाथ है। सभ्यता का सवाल आता है, भोजन मे सुरुचि और विवेक के साथ। जिन्हे भोजन कभी-कभी मिलता है, वे ठूंस कर खाएँ तो उनके लिए यह स्वाभाविक है, लेकिन जिसने दुष्काल की चिन्ता से उसकी निवृत्ति का उपाय ढूंढ लिया है, वह ठूंस कर क्यो खाए! जिस समाज ने पशु को पालना और दुहना नही सीखा, उसकी मास भक्षण की प्रवृत्ति समझ मे आने योग्य है, लेकिन जो व्यक्ति या समाज अपनी आदिम अवस्था को पार कर चुका है, वह माँस क्यो खाए! प्रोटीन खाद्य की पूर्ति का, और उभयभक्षी होने का तकाजा भी है, लेकिन फिर सभ्यता का मतलब, आदि प्रवृत्तियो और अद्यतन आवश्यकताओ के समझौते के अलावा और क्या है?

इसके अलावा हमे ध्यान रखना होगा कि यदि मानव वश इस पृथ्वी पर चिरकाल तक बचा रहे तो हमे उसके भविष्य के भोजन की भी चिन्ता करनी होगी। हम केवल अपनी ही चिन्ता करके, उच्छृंखलता के व्यवहार से, भावी पीढियो के भोजन के स्रोत को रोक देने की असभ्यता नही कर सकते। जिस दर से मानव का वश बढता जा रहा है, उस गति से उसके मासाहार के लिए पशु जुटाने मे तो, स्थल के सारे पशु-पक्षी और तालाबो और झीलो की मछलियाँ और जल-जन्तु, एक हजार साल से पहले ही नाम शेष हो जाएँगे। समुद्र की मछलियाँ जरूर अनन्तकाल तक भोजन का साधन बनी रह सकती है, लेकिन इसके लिए सारी दुनियाँ की आबादी को मत्स्याद बनकर समुद्र के तटो पर आबाद होना पडेगा।

दूर की चिन्ता करने वाले वैज्ञानिको मे से कोई ऐल्गी जाति की काई मे प्रोटीन का प्रतिशत खोज रहा है, और कोई दूसरे ग्रहो मे मानव की बस्तियाँ बसाकर भूतल की भीडभाड कम करने की बात सोचता है। ये सारी बाते हँसकर उडा देने की ही नही है। वस्तुत खतरा इतना ही बडा है। आदमी क्या खाने की आदत डाले कि तन्दुरुस्त भी रह सके—दीर्घ जीवन भी प्राप्त कर सके—और साथ ही

खाद्य का स्रोत भी समाप्त न हो, यह वर्तमान मे गहरी चिन्ता का विषय है। जब हमारे सामने भविष्यत् काल की अत्यन्त मानव-सकुल भूमि का चित्र आता है, तो लगता है कि मासाहार का आदी मानव किसी दिन मासपशुओ के समाप्त होने पर फिर से वर्बर प्रागैतिहासिक स्वजातिभक्षण (cannibalism) पर उतर आएगा। इस बर्बरता को टालने का अभी से क्या उपाय है ?

सभ्यता के प्रवर्त्तको ने इसके लिए एक नयी जीवन पद्धति की खोज हमारे देश मे की थी। "दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार करो, जैसा तुम अपने लिए चाहते हो। जो बात तुम्हारे प्रतिकूल पडती है उसका आचरण दूसरो के साथ मत करो—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" धर्म का सार कहिए, नैतिकता का आधार कहिए या सभ्यता कहिए, इस एक बात मे सबका समावेश हो जाता है।

वस्तुत सभ्यता की मशाल उन लोगो के हाथो मे है, जिन्होने मासाहार के अलावा प्रोटीन की पूर्ति का प्रबन्ध कर रखा है।

भोजन के नैतिक पहलू पर विचार करते समय हमे सामाजिकता और एकता को अक्षुण्ण रखने के प्रकार पर भी ध्यान देना है। ऐसा न हो, कि नैतिकता की झोक मे हमारा समाज, मासाहारी और त्यक्तमास लोगो के रूप मे खण्डित होकर बिखर जाए। देखा गया है कि जो मासाहार नही करते, उनमे मासाहारियो की अपेक्षा अपने आपको श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति हो गयी है। 'मासाहार करने वाले क्रूर है—अधम है—तामसिक है और पापी है,' ऐसा मानकर वे यथासम्भव उनसे दूर रहने की चेष्टा करते हैं। मास भोजन से परहेज करने वालो को न लगे—पर यह बात है उद्वेगजनक। जिस दिन मानव ने पशु को गोष्ठबद्ध करके दुहना शुरू किया, वह दिन मानव के इतिहास मे सभ्यता की ओर निस्सन्देह एक बडा कदम था, लेकिन गोष्ठबद्ध पशु यूप-बद्ध होने से कभी नही रुका। आज भी जो आदमी दुधारू पशु पालते है, चाहे वे मध्य एशिया के घोडी का दूध पीने वाले किरगीज हो, या अरब के ऊँटनी का दूध पीने वाले बद्दू हो, या भारत के गाय का दूध पीने वाले सनातनी हिन्दू हो, सभी इस बात को अच्छी तरह जानते हैं, कि पशु पालन दर असल पशु के लाभ के लिए नही, बल्कि आदमी के लाभ के लिए है। पशु से ;पशुपालक की हर जगह एक ही माँग है—"दूध दो, नही तो मास दो।" अत दूध पीकर अपने आपको मासाहारियो की अपेक्षा अधिक नैतिक मानने वालो को ध्यान रखना चाहिए कि पशुवध की जिम्मेदारी दूध पीने वालो पर भी उतनी ही है, जितनी कि मास खाने वालो पर। जिस प्रकार चमडे के जूते पहनने वाला, पशुवध की जिम्मेदारी से, मास न खाने का बहाना करके नही बच सकता, उसी प्रकार दूध दही या मक्खन खाने वाला भी पशु परिग्रह और पशुवध की जिम्मेदारी से नही बच सकता। मूलत दही खाने वाले और मास खाने वाले एक ही तरह के लोग हैं, दोनो की अवस्थिति जैव भोजन पर है। अत किसी को आहार विशेष से नीच या उँच मानना वैसा ही है, जैसा कि गोभी खाने वाला बैंगन खाने वाले को बुरा समझे। हमारे देश मे, जहाँ कि वर्ग भेद का कारण, पूजा करने की भिन्नता, कपडो की भिन्नता, पेशे की भिन्नता या अलग-अलग जगहो मे पैदा होना है, उसी प्रकार एक कारण पशु खाद्य की भिन्नता (जानवर का दूध पीना या मास खाना) भी है।

मासाहार मे निहित आदिमता को दृष्टिगत रखते हुए भी इसे जाति भेद का एक कारण वना देना सगत नही है। आज जो त्यक्तमास लोग है, उनके पूर्वज भी चिरकाल तक मामाद रहे हैं। उस सुचिरकाल की तुलना मे हमारी-कुछ लोगो की परहेजगारी को वहुत समय नही हुआ। सवसे ऊपर हमे इस वात को ध्यान मे रखना चाहिए कि शेप समस्त भारतीय समाज से ऐक्य-साधन हमारा लक्ष्य हो, न कि नयी जाति वनाकर सिकुड जाना। सभ्यता और सुरुचि का प्रचार-प्रसार समग्र समाज से अलग रहकर नही किया जा सकता। यदि आपके सिद्धान्त के पीछे नीति और युक्ति का वल है, तो आपका सिद्धान्त समाहृत होगा ही, लेकिन जिसे आप सभ्य और सुरुचिसम्पन्न देखना चाहते है, उस मूल समाज से कटकर यह कैसे होगा।

हमारा इतिहास हमे वताता है, कि जव जव समाज के अन्दर किसी उद्देश्य विशेष से कोई उप-समाज या सगठन वनाया गया है—चाहे वह हिन्दुओ की रक्षा के लिए गठित, गुरुओ के शिष्यो (सिखो) का समाज हो, चाहे वेदो के उद्धार के लिए वनाया गया आर्यसमाज हो, या जीवदया के उद्देश्य से गठित जैन समाज हो, उस उपसमाज ने मानो मूल-समाज के प्रति हमारी श्रद्धा पर डकैती डाल दी है। समस्त देश और समस्त समाज हमारे लिए गौण बन गया है, और देश-समाज की सेवा के लिए बने उपसमाज की सेवा ही हमारा लक्ष्य वन गई है। साधन खुद साध्य वन वैठा। यह प्रवृत्ति देश के हित के विपरीत है। हमारा लक्ष्य एकता होना चाहिए। और अलगाव की प्रवृत्ति को किसी भी आधार पर प्रोत्साहन नही मिलना चाहिए।

सभ्यता की दूसरी कसौटी है—शरीरज मल की हम लोग क्या व्यवस्था करते है?

मानव समाज की प्रारम्भिक अवस्था मे जवकि परिवार का गठन नही हुआ था, कवीले और समाज नही वने थे, आदमी निस्सग रहता था, तव तक तो शरीरज मल की व्यवस्था करने का कोई प्रश्न ही नही था। आदमी जहाँ चाहता मल त्याग करता। प्रकृति अपना काम करती और वातावरण मे विद्यमान कीटाणु जल्दी ही मल को सडाकर मिट्टी मे वदल देते। फिर जव परिवार, कवीले और समाज वने, लेकिन यायावरता (घुमक्कडी) चालू रही—तव तक भी मल की व्यवस्था कोई समस्या नही थी। समूहो मे मानव कुछ दिनो तक एक जगह रहता—आसपास से खाद्य जुटाता और वही मलत्याग करता और आगे चला जाता। खाने से अवशिष्ट उच्छिष्ट खाद्य, वोझा ढोने वाले एक-दो पशुओ के शव, और गन्दगी के ढेर पडे-पडे सडा करते, और जल्दी प्रकृति उनको फिर हमवार कर देती।

इसके वाद आया एकत्र वास का युग, गृहस्थ और गोष्ठ का युग। यायावरता छूट गयी, आदमी कृषि और वागवानी करने लगा, मकान और खलिहान खडे हो गए। यह जनपदो का प्रारम्भिक रूप था। मकान का प्रयोजन पशु वाँधने, कृषि की उपज रखने, और रात को सोने तक ही सीमित था। कर्मक्षेत्र और मलोत्सर्जन क्षेत्र घर से वाहर ही होते थे। जव वस्ती वडी होने लगी, तव मलोत्सर्जन के

लिए घर से बहुत दूर जाना सम्भव नही रहा। घरो के आसपास गन्दगी, सडन, और घुटन बढने लगी। आदमी, जिसे कि पहले वाले वन्य जीवन और यायावर जीवन की ताजगी की याद बाकी थी, इससे परेशान हो उठा। महर्षि आत्रेय ने इसी अवस्था के लिए कहा है, कि—"ग्रामवासो हि मूलमशस्तानाम्"। (ग्राम=समूह मे रहना सारी बुराइयो की जड है।)

मानव समाज के अतिरिक्त यदि हम देखे तो हमे ज्ञात होगा कि एक जगह मे घिर कर रहने वाले समूहो की जीवनावधि अधिक नही होती। मीठे घोल को शराब मे बदल देने वाला किण्व (खमीर, yeast) उसी घोल मे पैदा होता है, उसकी मिठास से ही आहार लेता है—और वश बढाता है, उसी मे मलोत्सर्जन करता है और शर्करा के खत्म होने से पहले ही आत्मसृष्ट मल (alchohal) के विष से घुटकर मर जाता है। आदमी भी अगर आत्मसृष्ट मल की निकासी का उपाय न करता, को वह भी इसी तरह घुटकर मर जाता।

इस पृथ्वी पर जीवन का ससार-प्रसार इसीलिए सम्भव हुआ, क्योकि यहाँ स्थावर और जगम सृष्टि एक दूसरे की पूरक है। जगम आदमी के लिए जो मल है—स्थावर वनस्पति का वह खाद्य है। वनस्पति वातावरण मे से, अपने लिए कार्बन डाइ औक्साइड चूसकर, जिस औक्सीजन को विसृष्ट करती है, वह आदमी के लिए जीवन की साँस है। आदमी जल्दी ही यह समझ गया, कि खेतो मे मलोत्सर्जन करने से, न सिर्फ गन्दगी से छुटकारा मिलता है, बल्कि खेतो की पैदावार भी बढ जाती है। लेकिन नयी प्रजा के बढने के साथ-साथ जब ग्राम बडे होने लगे, तब हर आदमी के लिए स्वय खेत मे जाकर मल क्रिया सम्पन्न करना उतना सम्भव नही रहा। बालक, वृद्ध, रोगी, गर्भिणी या प्रसूता, और सुखानुयायी जनो के लिए इतना आयास दु सह होता। इसके बाद आदमी ने उस व्यवस्था को जन्म दिया, जो कम से कम, भारत मे स्वस्थ समाज के विकास के लिए एक अभिशाप बन कर अवतरित हुई।

सभ्यता के प्रथम चरण मे, शायद सभी देशो मे ऐसी समस्या पैदा हुई होगी। हर समाज ने अपने कुछ व्यक्तियो को मल को ढोकर खेतो मे पहुँचाने के काम मे लगाया होगा। सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह प्रथा पैदा हुई और मिट गयी होगी। लेकिन हमारे देश मे यह प्रथा मानो चिरस्थायी होकर रहने के लिए ही आयी थी। इसके बाद जैसे सभ्यता का विकास रुक गया। जिसको हमने एक बार मल ढोकर खेत तक पहुँचाने के काम पर लगा दिया, वह अभी तक, पीढी दर पीढी उसी काम मे लगा, हमारे समाज की आदिम असभ्यता की घोषणा कर रहा है। सक्षेप मे हमारे शूद्रो और अछूतो का यही इतिहास है।

भेद पोषक अँग्रेजो ने हमे सुझाया कि आर्य बाहर से आए। उन्होने यहाँ के आदिवासियो को बलात् जीत कर नीच दास्य मे लगा दिया। उन्ही दासो के वशज ये शूद्र है और विजेताओ के वशज सवर्ण। हमने इस स्थापना को, अतीत के विजेता होने का गौरव पाने के लिए मान लिया। पण्डितम्मन्य लोगो ने हर चीज के मूल-स्रोत वेद मे से प्रमाण निकाल कर सबको भ्रम मे डाल दिया। वस्तुत शूद्र और अछूत का उद्गम वही समाज है, जिससे कि शेष सारे समाज का जन्म हुआ है।

इस समान मूलकता से मेरा प्रयोजन इस अन्याय को कम करके दिखाने का नही है, जो हम अछूतो पर करते रहे है। वल्कि अपनो पर किए गए अन्याय से उसकी अपराध गुरुता और हृदय हीनता और भी अधिक बढ जाती है। न केवल हमने अपने ही एक अग को गन्दे काम मे लगाया, वल्कि उसे हमेशा उसी मे लगाए रखने का षड्यन्त्र भी किया। गन्दगी फैलाकर भी हम ऊँचे रहे आए और हमारी गन्दगी की सफाई जैसा दुष्कर काम करने वाला नीचा हो गया। अपने उपकारक को हमने नीचा दर्जा दिया—ग्राम से बाहर वास दिया—खाने को उच्छिष्ट दिया। उसके उपकार के बदले मे हमने उससे शास्त्र और विद्या पढने का अधिकार छीन लिया और उत्सव, रागरग, देवदर्शन आदि सामाजिक अवसरो पर उसका भाग लेना निषिद्ध कर दिया। यही नही, पीढी दर पीढी वह इसी काम मे लगा रहे और हमे सस्ते मजदूर उपलब्ध होते रहे, इसलिए हमने उसके परिश्रम का इतना कम मुआवजा दिया कि वह आर्थिक रूप से चिर पगु होकर हमारा मोहताज होकर रह गया। और फिर भी हमारा दावा यह कि हम सभ्य है। हम तो घोर असभ्य है। सवर्ण भी और अछूत भी। सवर्ण इसलिए कि उन्होने अन्याय किया, और अछूत इसलिए कि उन्होने इसको चुप रहकर वर्दाश्त किया।

समानता और विज्ञान के आज के युग मे भी, जब कि मल को जनग्राम से बाहर, दूर खेतो मे ले जाना सिर्फ एक यान्त्रिक समस्या (Engineering problem) है, हम सफाई करने वाले वर्ग को उसी कीचड मे डुबो रखकर अपनी सनातन सभ्यता का परिचय दे रहे है। फुटकर परिवारो की गन्दगी मे लिथडे मेहतरो को, जब म्यूनिसिपैलिटी आदि सस्थाएँ भी नौकर रखती हैं, तो किसी सभ्यता का परिचय नही देती। उसी असभ्यता भरी आदिम और पुरातन दुर्व्यवस्था को सरकारी स्तर पर भी मान्यता मिल गयी है।

वस्तुत अछूतो के कष्ट को, उनमे से एक हुए बिना या उनसे एकात्म हुए बिना नही समझा जा सकता। आज वोट से सत्ता मिलती है, इसलिए लोग इनमे भाषण देकर या इनके सामने खुश करने वाली बातें करके, इन शोषितो के साथ छल करते है, इनके हिमायती बनने का दिखावा करते है, और फिर इनके कन्धो पर पैर रखकर अभीष्ट ऊँचाई पर चढ जाते है और इन्हे अगले चुनावो तक फिर भूल जाते है। इससे तो अछूतो की स्थिति मे कोई सुधार हजार वर्षो तक भी सम्भव नही है। सरकार ने सविधान मे अछूतपन मिटा दिया है। लेकिन रोटी का चित्र देखने से तो भूखे की भूख नही मिटती। जब तक गडा हुआ काँटा न निकल जाए, तब तक ऊपर के लेपलाप से क्या हो सकता है।

सरकार को जो आदमी चलाते है, उन्होने समाज-कल्याण विभाग जैसे विभाग खोलकर अनन्त काल तक अछूतो के उद्धार का बीडा उठा रखा है। हमेशा रोगी की परिचर्या के सकल्प का—एक आदमी को हमेशा रोगी बनाए रखने के और क्या मतलब है! हमे निश्चित रूप से मालूम होना चाहिए कि किस तिथि तक इन अछूतो का कल्याण हो जाएगा, जिसके बाद कि पुनर्वास विभाग (Rehabilitation Deptt) की तरह समाज कल्याण विभाग की जरूरत नही रहेगी, और कब इसे तोड देना है!

जैसा कि मेने ऊपर बताया, मानवीय दृष्टिकोण के बिना, न तो अछूतो की समस्या को समझा जा सकता है, और न उसका समाधान हो सकता है। छुटपुट नुमायशी राहतें देने से इस अभिशाप को नही मिटाया जा सकता। मेरा निश्चित मत है कि यदि हमे इनको शेष सारे समाज से एकात्म करना है, तो हमे म्युनिसिपैलिटियो से प्रारम्भ करना होगा, जहाँ कि सफाई मजदूर काफी सख्या मे काम करते हैं।

नगरो की सफाई व्यवस्था के दो पक्ष है। एक पक्ष है—गन्दगी फैलाने वालो का जो कि अपने प्रतिनिधि म्यूनिसिपल मेम्बरो के रूप मे भेजते हैं। दूसरा पक्ष है—गन्दगी साफ करने वालो का, जो कि पढी दर पीढी इसी काम को करते आ रहे हैं और शोषित-पक्ष है। दोनो पक्षो के अस्तित्व को समझ लेने के बाद हमे समाधान तक पहुँचना आसान हो जाता है। एक पक्ष काम कराता है—दूसरा पक्ष काम करता है। अत दोनो पक्षों के प्रतिनिधि समान सख्या मे चुने जाएँ। जितने सदस्य सफाई कराने वालो के प्रतिनिधि के रूप मे चुने जाते है, उतने ही सदस्य मजदूरो मे से भी उनके प्रतिनिधि के रूप मे चुने जाएँ। फिर दोनो पक्ष इस बात का फैसला करे कि मजदूर को पारिश्रमिक कितना मिले सुविधाएँ क्या मिले—और अच्छी से अच्छी सफाई किस तरह हो।

आज की व्यवस्था मे मजदूर को न्याय मिलना इसलिए सम्भव नही है, क्योकि प्रबन्ध-व्यवस्था मे उसका कोई हाथ नही है। उसे न्याय तभी मिल सकता है, जब कि वह स्वय प्रबन्ध की व्यवस्था मे बराबर का भागीदार हो।

आज के शोपित को न्याय्यत बरावर की भागीदारी देने पर शहर के मलके निकास की व्यवस्था अन्तर्वाहिनी नालियो द्वारा की जा सकती है। हर घर मे फ्लश के शौचागार की व्यवस्था की जा सकती है। दूसरे सभ्य देशो की भाति सफाई के काम मे से गन्दगी और गर्हा निकाली जा सकती है। और उस दिन की कल्पना की जा सकती है, जब कि देश मे जाति-पाँति विहीन स्वस्थ समाज का विकास हो सकेगा। चाहे आज यह सुनने मे अजीब लगे लेकिन राष्ट्रीयता का चरम लक्ष्य तो एक ऐसे वर्गहीन समाज की स्थापना है, जो रोटी बेटी के व्यवहार से एक-दूसरे से बँधा हुआ हो। जब तक निम्नतम उठकर उच्चतम के समकक्ष नही आता, तब तक ऊपर से लाख एकता-एकता चिल्लाने से भी एकता नही आ सकती।

वस्तुत अछूत मेहतर की समस्या एक इजीनियरिंग समस्या है। हर घर मे फ्लश की टट्टी लगाना, और उसको जमीन के अन्दर बहने वाली उन नालियो से जोड देना, जो कि अन्दर ही अन्दर मल को शहर से दूर ले जाकर खेतो मे डाल दे—आज सम्भव है। एक नगर के पीछे कुछ लाख का खर्चा है, जिसके बाद कि सफाई एक आसान और अगर्हित चीज बन जाएगी। और छूत की बीमारियाँ, महामारियाँ, सडन और घुटन एक अतीत की चीज हो जाएगी। इस काम मे लगने वाला आवश्यक पैसा, राज्य सरकारे या केन्द्रीय सरकार म्युनिसिपैलिटियो को ऋण के रूप मे दे सकती है, जिसको कि मकानदारो से वार्षिक पच्चीस-पचास किश्तो के रूप मे अथवा विशेष टैक्स के रूप में वसूल किया जा सकता है। हजारो साल पहले शुरू हुई बुराई दूर की जा सकती है, जाति-पाँति हटाकर राष्ट्रीय एकता लाई जा सकती है, नये युग का सूत्रपात किया जा सकता है, बशर्ते कि हममे उसके लिए आवश्यक साहस और सकल्प हो, और सबसे ऊपर एक पर-दुख कातर स्पन्दनशील हृदय हो।

★

स्थानकवासी जैन-परम्परा

●

मुनि श्री सतवालजी

स्थानकवासी जैन परम्परा सच्चे माने मे जैन परम्परा है, क्योकि वह श्रमण-सस्कृति के अधिक अनुकूल है। श्रमण-सस्कृति सातत्यरक्षा के साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार परिवर्तनशीलता को मानती है। और ये दोनो तत्त्व स्थानकवासी जैन परम्परा मे विशेष रूप से अवतरित हुए है। यही कारण है कि इसी परम्परा ने सर्व प्रथम "साधुमार्गी" शब्द अपने लिए व्यवहृत किया है। इसका एक अर्थ है—साधुमार्ग का अनुसरण करने वाला सघ। साधुमार्गी शब्द की ऐतिहासिक छानवीन करने से पता लग जाएगा कि वास्तव मे यह सघ जीवन और जगत् के उच्च सस्कर्त्ताओ द्वारा भारतीय सस्कृति की आत्मा के साथ अभिन्न अनुवन्ध पूर्वक विश्वात्माओ के लिए आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने मे अग्रदूत वना है।

धर्मप्राण लोकाशाह

यद्यपि स्थानकवासी जैन परम्परा के मुख्य पुरस्कर्ता धर्मप्राण लोकाशाह थे और इस सम्प्रदाय को प्रचलित हुए पाच शताब्दियो से अधिक समय नही बीता। लेकिन इस बात का पक्का सवूत मिलता है कि धर्मप्राण लोकाशाह ने अपना कोई अलग सम्प्रदाय नही वनाया था और न पृथक् सम्प्रदाय स्थापित करने मे उनका विश्वास ही था। परन्तु वे एक लिपिकार थे और शास्त्र-लेखन के साथ तद्विपयक चिंतन के फलस्वरूप उन्होने उस समय के निष्प्राण वने हुए जैन-सम्प्रदाय मे धर्म का प्राण फूंका। उनका प्रेरणास्रोत दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की पहली गाथा वनी, जिसे उन्होने उस समय के सघ जीवन मे प्रविष्ट की। उस गाथा का भावार्थ यह है —

"धर्म सर्वोच्च मगल है। वह धर्म अहिसा, सयम और तप की त्रिवेणी के सगम होने पर ही होता है। उस धर्म का आचरण करने वाले के चरणो मे सिर्फ मानव-समाज ही नही, अपितु प्राणीवर्ग और देवता भी झुकता है।'

धर्मप्राण लोकाशाह ने अपने जीवन मे इस त्रिवेणीस्वरूप धर्म को अपनाया, और जहाँ-जहाँ श्वेताम्बर जैन-सघ मे अहिसा की क्षति, असयम, परिग्रह तथा आडम्बर को बढावा दिया जा रहा था, साधु जीवन सहज तप त्याग के बजाय अपनी पूजा प्रतिष्ठा और भोगवाद की ओर झुक रहा था, साधु-जीवन मे सुकुमारता और चैत्यो मे ही डेरा जमा कर बैठे रहने व चैत्य के नाम से धन सग्रह करने की मनोवृत्ति पनपने लगी थी, वहाँ धर्मप्राण लोकाशाह ने उसे रोकने के लिए जोरदार आन्दोलन किया। वह आन्दोलन साधुमार्ग की पृष्ठभूमि पर से किया गया था। सारे श्वेताम्बर जैन सघ मे उस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव पडा और सघ मे एक भूचाल-सा आ गया। उस समय के उनके समकालीन कमलसयम आदि मुनियो ने उनकी आलोचना करते हुए लिखा है —

डगमगि पडियु सघलउ लोक, पोसालइ पणि आवइ फोक।
लुकइ बात प्रकासी इसी, तेहनु शिष हुउ लखमशी॥

इसका भावार्थ यह है कि सारा का सारा समाज लोकाशाह की बात पर चौंक पडा, उनकी सत्यस्पर्शी बातो को सुनकर पुरातन प्रणाली के अनुसार चलने वाले लोगो के सिंहासन डगमगाने लगे। सारे समाज मे खलबली मच गई और कहा जाने लगा कि लोकाशाह ने पोपधशाला की चालू परम्परा मे इतना मौलिक परिवर्तन कर दिया है कि पौषधशाला मे उनका (रूढिपरायणो का) आना बेकार हो गया है। लोकाशाह ने ऐसी-ऐसी बाते (मौलिक) प्रकट कर दी है कि सारा समाज उसकी ओर दृष्टि गडाए बैठा है, आकर्षित हो रहा है, और लखमशी तो उसका शिष्य ही बन बैठा है।

जैन सघ के इतिहास लेखको को यह बात तो निर्विवाद माननी ही पडती है कि लोकाशाह ने उस युग के श्वे० जैन समाज मे एक नई चेतना प्रकट कर दी थी, लोगो को अहितकर रूढिपरम्परा को बदलने के लिए सोचने को मजबूर कर दिया था। इतना तो कहना ही पडेगा कि लोकाशाह ने उस समय जो कुछ परिवर्तन किया, या सूचित किया, या साधु-श्रावको मे कराया, उसका मूल आधार धर्म था, जिसका रहस्य उन्होने शास्त्र लेखन व चिन्तन से पाया था। सारे श्वे० जैन समाज के सामने उन्होने मुख्यतया तीन सिद्धान्त रखे थे —

१ धर्म की ओट मे परिग्रह, आडम्बर या भोगवाद को बढावा नही मिलना चाहिए
२ चतुर्विध सघ के अग्रगामी साधुवर्ग का जीवन मुख्यत निसर्ग निर्भर होना चाहिए
३ सघ शक्ति सुदृढ होनी चाहिए, और वह जनाधारित होनी चाहिए, सत्ताधारित नही

सघ में नवजीवन निर्माण

जैन इतिहास पर दृष्टिपात करने से लगता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तक जैन सघ प्राण-

वान् और सुदृढ नींव पर टिका रहा है। उसके बाद वह श्वेताम्बर और दिगम्बर दो फिरको मे बट जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय दक्षिण भारत मे अधिक फैला। इसी कारण दक्षिण मे जगद्गुरु शकराचार्य के वैदिक सघ पर जैन सघ का काफी प्रभाव पडा है। श्री शकराचार्य के करतल-भिक्षा तरुतलवास इस सूत्र पर दिगम्बर जैन मुनिवृत्ति की पूरी छाप पडी है और यह भी मानना होगा कि दक्षिण का जैन धर्म श्री शकराचार्य के अद्वैत और रामानुजाचार्य के जातिवाद स्पृश्यास्पृश्यता व शुद्धाशुद्धता की बातो मे भी अत्यधिक प्रभावित हुआ है। भारत के उत्तर पूर्व और पश्चिम भाग मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय अधिक फैला। किन्तु उसने अपने फैलने के लिए मूर्ति, छत्री, पदचिन्ह मन्दिर आदि जो साधन अपनाए उसके साथ आडम्बर धनसग्रहवृत्ति और भोगवाद जुड गया। मन्दिर ऐन्द्रिक आकर्षण के कारण बने। साधु वर्ग इन मन्दिरो मे निवास करने लगा और श्रावको को दान की महिमा समझाकर, मन्दिर के नाम से धनसग्रह करने लगा। निसर्ग वृत्ति पर से श्रद्धा डगमगाने लगी, फलत भिक्षाचरी के बदले खानपान आदि के साधन जमा करने लगा, धन सग्रह के लिए ज्योतिष, वैद्यक और व्यावहारिक शिक्षण के व्यवसाय मे प्रत्यक्ष पडने लगा। इतना ही नहीं, सघशक्ति की नींव व्यापक जन समुदाय के तपत्याग से सुदृढ करने के बदले राजाओ, बादशाहो, ठाकुरो और जागीरदारो को यत्र-मत्र-तत्र आदि का चमत्कार बता कर सत्ता द्वारा सुदृढ करने मे लग गया, इससे सघ की नींव तो सुदृढ न हुई, पर कई साधुओ की व्यक्तिगत महिमा जरूर बढी, उन्हे छत्र-चामर-पालकी आदि शासको की ओर से भेंट मे मिली, कइयो को जागीरी या जमीन इनाम मे मिली। नतीजा यह हुआ कि साधु वर्ग मे शिथिलाचार और स्वेच्छाचार बढता गया। चैत्यवास शब्द साधु सस्था की अधोगति का परिचायक है।

ठीक इसी समय लोकाशाह ने क्रान्ति का शखनाद किया। उन्होने साधुवर्ग को नम्रतापूर्वक समझाया कि अप्रतिबद्ध विहारी साधु को परिग्रहवृद्धि के इस सम्बन्ध मे क्या सरोकार? एक स्थान पर निवास, मोह और आसक्ति बढाने वाला है, इसे छोडिए, चैत्य मे निवास करना ठीक नहीं, धर्माराधना करने के लिए साधु को निवास योग्य जो भी स्थान मिल जाए, उसमे कल्पनीय समय पर्यन्त रहा जा सकता है। और जैन धर्म ने तो हमेशा गुण पूजा को स्थान दिया है, व्यक्ति पूजा को या किसी व्यक्ति की मूर्ति की पूजा को कहीं स्थान नहीं दिया है। इसलिए आप अपने साधुधर्म को सुरक्षित रखते हुए पैदल विहार करिए, चमत्कार या आडम्बर आदि द्वारा सत्ताधारियो से प्रसिद्धि और भोग्य या राजसी साधन सामग्री प्राप्त करके सुकुमारता मे वृद्धि करना और पालकियो मे बैठकर विचरण करना छोडिए। अन्यथा आप व्यापक जनसपर्क करके धर्मवृद्धि नहीं कर सकेंगे, प्रत्युत द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबध मे पड जाएँगे। भिक्षाचरी केवल जैन लोगो तक ही सीमित न रखें, बल्कि सभी निर्मासाहारी घरो से भिक्षा लेकर लोक सम्पर्क का क्षेत्र व्यापक बनाएँ।

उस समय के साधु वर्ग को "अम्मापिउसमाणा" बनाकर लोकाशाह ने हितबुद्धि से प्रेरित किया। परन्तु नग्न सत्य हमेशा कटु होता है, वह परम्परा पूजक एव गतानुगतिक निहित-स्वार्थी लोगो के तुरन्त गले नहीं उतरता। लोकाशाह का भी यही हाल हुआ। चारो ओर से उनका प्रचण्ड विरोध हुआ। परतु लोकाशाह साहस पूर्वक धर्मक्रान्ति के आग्नेय पथ पर आगे बढते गए।

क्रान्ति की चिनगारी हमेशा बहुत छोटे से रूप मे हुआ करती है, नदी का मुहाना बहुत ही पतली धारा के रूप मे होता है, परन्तु वही आगे जाकर विस्तीर्ण बन जाती है । लोकाशाह की युगान्तरकारी शर्त कुछ साधुओ और यतियो के गले उतरने लगी । मुनि धर्मसिंह जी, मुनि धर्मदास जी एव लवजी ऋपि लोकाशाह की क्रान्ति के पुरस्कर्ता बने । यद्यपि ये अलग अलग समय मे लोकाशाह के निर्दिष्ट पथ पर आए है । इन्होने चैत्यवास छोडकर सहजभाव से स्मशान, पर्वत, गुफा, अरण्य, वृक्षतल या जीर्णशीर्ण या शून्य जो भी शुद्ध स्थान साधना के लिए मिल गया, वहाँ ठहरना शुरू किया । शुरू मे लोग इन्हे चिढाते कि ये तो "ढूढिया" है । 'ढूढा' शब्द राजस्थान मे जीर्णशीर्ण मकान के अर्थ मे प्रयुक्त होता है । ढूढो मे रहने वाले होने से ढूढिया कहा जाता था । कोई इन्हे 'ढूढक' भी कहते—जिसका अर्थ होता है 'सत्य को ढूढने वाले' । जो भी हो, सत्य की शोध करने की उनमे अदम्य तडफन थी । और व्यापक जन सम्पर्क के लिहाज से उन्होने विविध जनपदो मे पादविहार करना और जैनेतर सभी निर्मासाहारी घरो से भिक्षा करना शुरू किया, व्यक्ति पूजा की अपेक्षा गुणपूजा और मूर्तिपूजा की अपेक्षा भावपूजा का पथ अगीकार किया । उस समय के यति वर्ग मे से भी बहुत से यतियो ने नया मोड लिया । उनमे केशव जी, कुवरजी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, उन्होने राजसी ठाठबाठ, सत्ताधारियो की प्रशसा एव ज्योतिपबाजी, मत्रबाजी आदि छोडकर साधुता की शुद्ध पगडडी स्वीकार की ।

यही कारण है कि श्वेताम्बर मू० पू० सम्प्रदाय के उस समय परिगणित ८४ गच्छो मे से पायचद-गच्छ, खरतरगच्छ और अचलगच्छ के सिवाय वाकी के गच्छ प्राय लुप्त हो गए और इन तीन गच्छो के सिवाय आज जितने भी मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के तप गच्छीय साधु साध्विया हैं, वे प्राय स्व० पू० आचार्य श्री विजयानन्दसूरि जी म० (स्थानकवासी-सम्प्रदाय के भूतपूर्व मुनि—आत्मारामजी महाराज) के ही आनुवशिक है । मतलब यह कि स्थानकवासी जैन-परम्परा मे से ही यह पुनर्निर्माण हुआ है ।

इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि लोकाशाह—निर्दिष्ट स्थानकवासी जैन परम्परा अमुक समय तक अलग सम्प्रदाय नही बनी थी, बल्कि मौलिक रूपान्तर की एक प्रक्रिया बनकर रही । साथ ही उसने अपना असर दूर-दूर तक दिखाया और अनेक साधु-साध्वियो एव श्रावक श्राविकाओ को इस आड-म्बर विहीन त्यागमार्ग की ओर आकर्षित किया । यही नही, दिगम्बर सम्प्रदायो मे तारणपथी सम्प्रदाय पर भी स्थानकवासी जैन-परम्परा ने अपना प्रभाव डाला ।

जैन धर्म को विश्व धर्म बनाने मे हाथ

किसी भी धर्म को विश्व धर्म बनाने के लिए उसके अनुगामी गृहस्थ वर्ग एव साधु वर्ग मे पाँच बाते हानी जरूरी है (१) धर्म का शुद्ध और व्यापक रूप मे प्ररूपण व आचरण (२) निरर्थक क्रियाकाण्डो एव आडम्बरो के जाल से रहित व्यापक आचार । (३) व्यापक लोक सपर्क के साथ, तप-त्याग एव निसर्गपरायणता (४) साम्य भाव से गुण-पूजा की वृत्ति (५) व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ सघनिष्ठा । उपर्युक्त पाँच बाते स्थानकवासी जैन परम्परा मे आपको अधिक मात्रा मे मिलेगी ।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि स्थानकवासी जैन परम्परा धर्मक्रान्ति में से अस्तित्व मे आई है। इसलिए इसने जैन धर्म को जातिपाति, छुआछूत, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, रगभेद, राष्ट्रभेद आदि विकारो से मुक्त रखकर शुद्ध तथा व्यापक रूप मे जनता के सामने रखा है, धर्म को भय और प्रलोभन से, सत्ताधीशो और धनाधीशो के आश्रय से मुक्त रखा है। ईसाई मिशनरियो की तरह न तो इस परम्परा ने प्रलोभन देकर अन्यधर्मी लोगो को धर्म-सम्प्रदायान्तर करवाया है, और न इस्लाम की तरह तलवार दिखाकर ही जबरन धर्म परिवर्तन करवाया है, न तो धर्म को सम्प्रदायों के चौको मे बन्द किया है और न धर्म को जातिवाद के बन्धनो मे जकडा है, न धर्म का लौकिक प्रथाओ और रीतिरिवाजो व कुरूढियो के साथ गठजोड किया है और न ही उसे आडम्बरो एव निरर्थक क्रियाकाडो से मढा है।

मध्य युग मे जैन धर्म को भी वैष्णव धर्म के जातिवाद और छुआछूत का चेप लगा। साधु वर्ग मे भी प्राय वणिक् जाति के व्यक्ति को ही साधु दीक्षा दी जाती, भिक्षा भी प्राय वणिक् जैनो के यहा से ली जाती और छुआछूत भी साधु श्रावको मे काफी जड जमा चुकी थी। परन्तु स्थानकवासी परम्परा की यह विशेषता रही कि इसमे प्रारम्भ से ही वणिक् कौम के अतिरिक्त जाट, सुनार, दर्जी, अहीर, राजपूत, पटेल भावसार आदि कौम के लोगो को मुनि दीक्षा देने की उदारता और मुनियो के सभी कामो के शाकाहारी घरो से भिक्षा लेने की वृत्ति रही है। यद्यपि छुआछूत का रोग स्थानकवासी जैन-परम्परा को भी लग चुका था, किन्तु इसकी मूलवृत्ति मे यह बात नही थी, इसलिए इसमे से बहुत से स्थानकवासी साधुओ ने महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द एव महात्मागाधी जी के अछूतोद्धार आन्दोलन के समय मे जैनधर्म की मूल आत्मा से छुआछूत को विरुद्ध समझकर अछूतो को अपनाया, उन्हे धर्म पालन का, धर्म-स्थान मे प्रवेश, शास्त्रश्रवण एव समान आसन का और निर्मासाहारी हरिजनो की साधुवर्ग को भिक्षाप्रदान का अधिकार दिलाया। इसीलिए स्थानकवासी परम्परा का साधु वर्ग आम जनता मे जैनधर्म का प्रवेश करा सका। मोढवणिक जाति के महात्मा गाधी जी के कुटुम्ब का भी श्रद्धेय स्थानकवासी साधुवर्ग बन सका। स्वय महात्मा गाधीजी ने स्थानकवासी जैन साधु श्री बेचरजी स्वामी से विलायत जाते समय अपनी माता की साक्षी मे तीन प्रतिज्ञाएँ ली थी, जिन्हे पालन कर वे जीवन मे प्रगति कर सके। स्थानकवासी जैन साधु साध्वी का प्रत्येक धर्म के लोगो से गाँवो मे प्राय सपर्क हो जाता और वे साधु साध्वियो के प्रति अत्यन्त श्रद्धा से देखते, उसका कारण है, उनके द्वारा साम्प्रदायिकता, क्रियाकाण्डो व आडम्बरो से रहित शुद्ध धर्म का निरूपण एव आचरण।

जब कोई भी धर्म क्रियाकाण्डो, आडम्बरो से घिर जाता है, तो उसकी मूल आत्मा निकल जाती है, धर्म की असली ताकत कम हो जाती है यही बात जैन धर्म मे हुई। मूर्तिपूजा के साथ-साथ, तपस्याओ और बोलियो मे आडम्बर और प्रदर्शन अधिक बढने लगे, अनेक निष्प्रयोजन क्रियाकाण्ड उनके साथ जोड दिए गए, फलत धर्म को शुद्ध रूप मे जानना—पहचानना भी कठिन हो गया। स्थानकवासी परम्परा ने शुरू से ही व्यर्थ क्रियाकाण्डो, आडम्बरो और प्रदर्शनो पर प्रहार किया। धर्म के मूल लक्ष्य को सामने रखकर सादगी से, सयमभाव बढाने वाली प्रदर्शन रहित धर्मक्रियाओ को स्थान दिया था। यद्यपि आज तो यहाँ भी जडता आ चुकी है। परन्तु बीच बीच मे ऐसे सशोधक साधु-श्रावक इस परम्परा मे पैदा हुए

है, जिन्होने इसमे सुधार किया है। जैसे मुख-वस्त्रिका, मुख पर डोरे से बाधने की प्रथा प्रारम्भ से स्थानकवासी परम्परा मे नही थी, किन्तु जब मुनियो ने देखा कि बोलते समय मुंह के आगे कपडा रखने मे बारम्बार भूल हो जाती है तो उन्होने डोरा डालकर मुँह पर वस्त्र बाधने की परम्परा चलाई। आज तो यह साम्प्रदायिक चिन्ह बन चुकी है। परन्तु उस समय अवश्य ही यह सशोधन काफी विचार-पूर्वक किया गया था।

स्थानकवासी जैन परम्परा मे आपको लोक-संग्रह की मात्रा अधिक दिखाई देगी, उसका कारण है– भिक्षाचरी और पादविहार का क्षेत्र व्यापक होने से व्यापक लोक सम्पर्क। साथ ही स्थानकवासी साधु वर्ग मे आपको यह विशेषता भी नजर आएगी कि वे पैदल विहार मे अपना सामान स्वयं उठाकर चलते है, और तप-त्याग की मात्रा अधिक होने से उनके साथ रहने वाले भाई बहनो से आहार लेने का अधिक परहेज रखते है, जिससे निसर्ग–निर्भरता–यानी बस्ती मे से सहज प्राप्त आहार पर आश्रित अधिक रही है।

एक और विशेषता स्थानकवासी जैन परम्परा मे यह मिलेगी कि यहाँ जैन धर्म की गुण-पूजा और अनेकान्त की दृष्टि को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है। जैन धर्म के पच परमेष्ठी महामन्त्र मे किसी व्यक्ति विशेष का नाम न लेकर तद्गुणप्रधान साधक के प्रति आदर व्यक्त किया गया है। जैसे 'नमो अरिहताण' मे किसी भी नाम का– राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शिव आदि– राग द्वेष-रहित पुरुष हो, उसे नमस्कार किया गया है, "नमो सिद्धाण" मे किसी भी देश, वेष, लिंग धर्म–सम्प्रदाय, जाति का किसी से भी प्रेरणा प्राप्त व्यक्ति क्यो न हो, यदि वह वीतरागता की साधना कर चुका है, तो उस मुक्त पुरुष को नमस्कार किया गया है। इसी तरह 'नमो आयरियाण' और "नमो उवज्झायाण' मे है। 'नमो लोए सव्वसाहूण" मे तो यह बात अधिक स्पष्ट है। जगत् के सभी साधुता की साधना करने वाले–किसी भी धर्म–सम्प्रदाय के—व्यक्तियो को नमस्कार किया गया है। स्थानकवासी परम्परा मे यह गुण-पूजा और समन्वय की वृत्ति अधिक मात्रा मे आई। श्रीमद् रायचन्द्र जी ने, जो स्थानकवासी परम्परा से विशेष प्रभावित थे, म० गाधी जी जब ईसाई धर्म की ओर झुककर उसे स्वीकार करने लगे थे। तब यही कहा था कि आप प्रत्येक गुणी के प्रति आदर रखिए, उससे प्रेरणा लीजिए, किन्तु हिन्दू समाज मे वह सब बाते है, जो ईसाई सघ मे है। तब से गाधी जी को सर्व-धर्म समन्वय की दृष्टि मिली। स्थानकवासी जैन साधु-साध्वियो मे समन्वय दृष्टि वालो मे मेरे गुरुदेव म०, कविवर्य नानचन्द्रजी महाराज, शतावधानी प० मुनि श्री रत्नचन्द्र जी म०, पूज्य जवाहरलालजी म० कविवर अमरचन्द्र जी म०, जैन दिवाकर चौथमल जी म०, साध्वी उज्ज्वलकुमारी जी, मुनि प० श्रीमलजी म०, सुशीलकुमारजी आदि के नाम उल्लेखनीय है।

स्थानकवासी जैन परम्परा मे आपको व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ सघनिष्ठा की मात्रा अधिक मिलेगी। यही कारण है कि इसमे अलग-अलग शैली, दृष्टि और विचार धाराओ के साधु–श्रावकगण मूल लक्ष्य को सामने रखकर अधिक चलते है। इससे उनके व्यक्तित्व को भी क्षति पहुँची है और सघ-निष्ठा भी अधिक बढी। यत्र की तरह एक साँचे मे ढालने, या किसी के अन्त स्फुरित सत्य को कुचलने या उसके

द्वारा दूसरे के तर्क-शुद्ध विचारो को ग्रहण करने पर खभाती ताला लगाने की चेष्टा—यहाँ कम ही हुई है। यही कारण है कि स्थानकवासी परम्परा के साधु गीता और आचराग का समन्वय करते है। जैन और वौद्ध धर्म के शास्त्रो का समन्वय वता सके है। महाभारत और रामायण पर अपनी लेखनी चला सके है। कवीर विचारधारा और स्थानकवासी परम्परा मे सामजस्य वैठा सके है। गाधी विचार धारा को जैन धर्म के साचे मे ढाल सके हैं और गाधी स्फुरित अहिंसा के सामुहिक प्रयोगो को जैन तप त्याग से सम्पर्क करके धर्म को सामाजिक रूप दे सके हैं, हजारो मासाहारी लोगो को उनके धर्म की भाषा मे समझाकर सच्ची राह पर ला सके हैं। गुजरात, पजाव, राजस्थान और महाराष्ट्र आदि विविध प्रदेशो की विविध परम्परानुकूल आचारो के अनुसार अलग-अलग धर्माचार मे रहते हुए भी उन उन प्रदेशो मे विचरण करने वाले साधु साध्वियो मे एक सूत्रता कायम कर सके है। जहाँ दूसरे जैन सम्प्रदायो मे कही नारी प्रतिष्ठा, साध्वी को व्याख्यान का अधिकार, रात्रिप्रवचन, ध्वनिवर्द्धक यत्र मे विशाल सख्यक जनता हो वहाँ बोलन आदि युगस्पर्शी और न्याय वातें नही, वहाँ स्थानकवासी परम्परा अग्रसर वनी है। हालाकि व्यक्ति स्वातन्त्र्य से थोडा-सा नुकसान अवश्य हुआ है। वह यह कि कुछ स्थानकवासी साधु साध्वियो मे कट्टर पथीपन आया है, वे अपने को उत्कृष्ट क्रियापात्र समझकर दूसरे साधुवर्ग को हीन या शिथिलाचारी समझने लगे, साथ ही स्थानकवासी परम्परा को साधुवर्ग वाईस अलग-अलग मघाडो, गिरोहो मे वाटा गया, जिससे यह वाईस सम्प्रदाय भी कहलाने लगा था। इससे एक सूत्रता और सामजस्य व समन्वय को काफी धक्का पहुँचा और वैचारिक व आचारिक जडता पनपी। अनुशासन के नाम पर जड पावन्दियाँ लगा दी गई, जिससे साधु वर्ग के विकास मे काफी रुकावट आई। साधुवर्ग के इस कठमुल्लापन का असर श्रावक वर्ग पर भी पडा और वह भी उदारता के वदले सकीर्णता का राही वन गया, परन्तु यह वात जरूर है कि इतना होते हुए भी सव मे अधिक व्यक्तिपूजा की अपेक्षा सघनिष्ठा का तत्त्व सुरक्षित रहा।

उपर्युक्त पाचो वातें स्थानकवामी परम्परा मे अधिक मात्रा मे होने से यह जैन धर्म को विश्वधर्म वनाने मे वहुत वडा हिस्सा अदा करती रही है।

वर्तमान परिस्थिति और स्थानकवासी जैनो का कर्त्तव्य

स्थानकवासी जैन परम्परा मे क्रान्तिकारी तत्वो का वाहुल्य होने से आज भी इसमे अनेक क्रान्तिप्रिय साधु-साध्वी श्रावक श्राविकाएँ है, जो युग को परख सकते है। मूल सिद्धान्त को युग के साथ फिट कर सके हैं। ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म आदि को जहाँ हेय समझा जाने लगा था, वहाँ उसका व्यावहारिक रूप के साथ दृढतापूर्वक प्रतिपादन कर सके हैं। गुजरात मे वनासकाठा, सूरत जिला, कच्छ, सौराष्ट्र और भालनलकाठा प्रदेश मे धर्म दृष्टि से समाज रचना का जो प्रयोग वर्पो से चल रहा है, उसमे स्थानकवासी परम्परा और गाधी विचारधारा के तत्वो की ही सारी पृष्ठभूमि है। आज तो वह प्रयोग अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले रहा है, और सर्व जनमान्य बन रहा है, परन्तु उसकी नीव की ईंट स्थानकवासी जैन परम्परा ही वनी थी।

इतना सब जागरण और प्रकाश होते हुए भी दूसरी ओर स्थानकवासी परम्परा के कुछ लोग मानो सोलहवी सदी मे जी रहे है। वे अब भी राजाओ, ठाकुरो और अनीतिमान धनिको की गुणगाथाएँ गाते नही अघाते, अब भी युगान्तरकारी धर्मलक्षी और नीतिमय बातो को जनजीवन मे उतारने के प्रयोग को देखकर नाक भौ सिकोडते है, वे अब भी सकीर्णता के सिकजो और कुरूढिवाद के दडबो मे साधुवर्ग को डटे रखना चाहते है, लोकाशाह ने अपने युग मे जो क्रान्ति की थी, उससे भी पीछे समाज को और अपने को धकेलना चाहते है, जैन धर्म विश्वधर्म है, स्थानकवासी परम्परा क्रान्तिकारी रही है, यह कर्ण प्रिय शब्द सुनना पसद करते है, किन्तु कोई साधुसाध्वी जैन धर्म को विश्वधर्म बनाने के लिए सक्रिय कदम उठाएगा या स्थानकवासी परम्परा मे धर्मानुकूल, युगानुरूप क्रान्ति करेगा तो उसे धकियाने, अप्रितिष्ठित कराने, बहिष्कृत करने और उस पर नाना असत्य आक्षेप लगाकर उसे समाज की नजरो मे गिराने का प्रयत्न करेगे। इसलिए अब स्थानकवासी परम्परा को अपनी हाजमा शक्ति और उदारता बढानी पडेगी, आज के जनतन्त्रीय युग मे मौलिक विज्ञान ने जहाँ सारे विश्व को स्थूल दृष्टि से एक कर दिया है, वहाँ सूक्ष्म दृष्टि से हृदय से एक करने का काम स्थानकवासी जैन परम्परा को करना होगा। गाधीजी के द्वारा जगत् को चमत्कृत कर देने वाले सामूहिक अहिंसा प्रयोग जैन साधु-श्रावकवर्ग को अपनाना पडेगा। तभी जैन धर्म विश्व-धर्म बन सकेगा। इसके लिए उन्हे चार कार्यक्रम एक साथ हाथ मे लेने होगे—

१ विश्व की समस्त मानव जाति का धर्म दृष्टि से एक ऐसा जन-सगठन बनाना पडेगा, जिसकी बुनियाद मे नीति हो और जिसका असर जनतन्त्र पर पडे।

२ महात्मा गाधी जी ने जैसे राष्ट्रीय महासभा और जन-सगठन का प्रभाव ब्रिटिश सल्तनत पर डाला था, वैसा ही प्रभाव उक्त विश्व जनसगठन द्वारा परिष्कृत राष्ट्रीय महासभा पर डालना पडेगा। ताकि वह सयुक्त राष्ट्र सघ के जरिए विश्व राजनीति को शुद्ध रख सके।

३. और इन दोनो बातो को अमली बनाने के लिए जैन धर्म के वर्तमान सभी सम्प्रदायो-उपसम्प्रदायो के श्रावक-श्राविकाओ मे से, और रचनात्मक कार्यकर्ताओ मे चुन-चुन के एक व्रतबद्ध व व्यापक स्पष्ट दृष्टि वाले जनसेवको की एक विश्व व्यापी सस्था अलग से बनानी पडेगी।

४ इन सभी सस्थाओ को प्रेरणा व मार्गदर्शन देने और जहाँ ऐसी सस्थाएँ न हो, वहाँ खडी करवाने और वहा उन्हे प्रतिष्ठित करने के लिए जैन धर्म के सभी फिरको मे से क्रान्ति-प्रिय साधु-साध्वियो को छाटकर उन्हे यह धर्म कार्य सौपना होगा और लोकाशाह जैसे युगद्रष्टा श्रावको व श्राविकाओ को उन साधु-साध्वियो को पृष्ठबल देकर प्रोत्साहित करना पड़ेगा।

आशा ही नही, अपितु पूर्ण विश्वास है कि जहाँ श्रावको पर स्थानकवासी जैन सघ की तरह धर्म-क्रान्ति को पचाने और आगे बढाने का तत्व पडा है। उस स्थानकवासी जैन परम्परा के लिए बात प्रत्यक्ष कर बताना कोई कठिन काम नही है। मूल सिद्धान्तो को सुरक्षित रखते हुए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखकर उत्तर गुणो मे सशोधन-परिवर्धन करते हुए रहने मे मानने वाली स्थानकवासी जैन परम्परा के सिवाय ससार और किससे आशा रखेगा ?

स्वर्गीय मुनि श्री रत्नचन्द्र जी महाराज जैसे समर्थ सत की स्मृति के रूप मे, जो यह ग्रन्थ बन रहा है, उसे अगर जीवित स्मृति-ग्रथ बनाना है, तो स्थानकवासी परम्परा के कर्णधारो को अविलम्ब उपर्युक्त कार्यक्रम मे जुट जाना चाहिए। युग उनके अनुकूल है, नई पीढी उन्हे सहयोग देने को तैयार है। स्थानकवासी जैन परम्परा उनके मार्ग मे रोडा अटकाने वाली नही, जरूरत है, साहसपूर्वक विवेक का ;काश लेकर कूद पडने की।
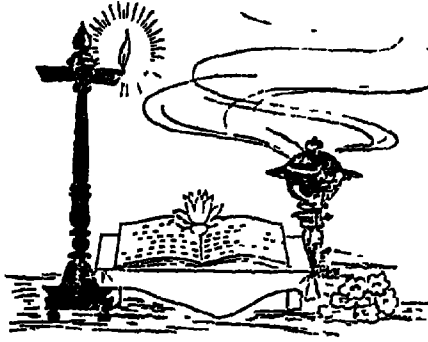
जनतंत्र में धर्म-संस्थाएँ

●

मुनि श्री नेमिचन्द्रजी

कोई भी तत्र अपने-आप मे कोई भलाई नही है। जो तत्र जनता की सुरक्षा कर सके, उसके हर तरह के विकास मे सहायक हो सके, उसकी हर तरह की सुव्यवस्था कर सके, वही तत्र अच्छा होता है। वैसे राजतत्र, गणतत्र, अधिनायकतत्र या जनतत्र आदि सभी राज्य प्रणालियाँ है। एक युग था, जब भारत का राजतत्र धर्म पुनीत था, राजा या शासक स्वय श्रम द्वारा अर्थोपार्जन करके प्रजा का पालन, रक्षण और सेवा करता था। चारो वर्णो को अपने-अपने कर्तव्य मे परायण और दक्ष रखने मे उसका पूरा सहयोग देता था। जनता मे से दुर्बल से दुर्बल और निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी शासक तक पहुँच कर अपनी फरियाद और पुकार कर सकता था और शीघ्र तथा शुद्ध न्याय प्राप्त कर सकता था। उस स्थिति मे राजतत्र या एकतत्र किसी को खटकता नही था। परन्तु शासको के जीवन मे त्याग और सेवा के बदले भोगलिप्सा, विलासिता, सत्ताभिमान एव करो द्वारा शोषण वृत्ति आई, तब से राजतत्र के प्रति जनता मे नफरत पैदा होने लगी। यद्यपि हर युग मे अच्छे और बुरे, प्रजा-हितैषी और निरकुश दोनो ही प्रकार के शासक रहे है परन्तु राजतत्र मे प्राय राजा के सामने प्रजा को झुकना पडता, प्रजा बोल नही सकती थी। कोई अत्याचारी और निर्दय राजा होता तो विरोधी आवाज निकालने वाले को दबा देता, कुचल देता या खत्म करवा देता।

यही कारण है कि पश्चिम मे पहले फ्रास, ब्रिटेन और बाद मे अमेरिका आदि देशो मे जनतत्र का उदय हुआ। उसके पीछे भावना यही थी कि दबी हुई, पिसी हुई, पीडित जनता की आवाज मुख्य बने। जनता अपनी आवाज सरकार तक पहुँचा सके, जनता का अभिक्रम बढे, जनता सत्ता पर अकुश रख सके, यानी राज्य प्रणाली जनता लक्षी बने। परन्तु पश्चिम का जनतत्र सही माने मे जनतत्र न रहकर पूँजीवादी-

तन्त्र, अधिनायक तन्त्र या जवरदस्त तन्त्र वन गया। उनमे वयस्क मताधिकार वहुत-सो को जरूर मिला, पर हित उन्ही का हुआ, जो जनता को हाककर ले जा सकते थे। जव तक सामान्य जनता की चेतना जागृत नही होती, तव तक जनतन्त्र मे जनता का हित नही हो सकता। कुछ निहित स्वार्थियो के हाथ मे जनतन्त्र के पड जाने से वे जनता का व्यापक हित नही सोच और देख सकते, वे जनतन्त्र के ढाचे को जरूर पूजते है, किन्तु जनतन्त्र की आत्मा की उपेक्षा करते है। पश्चिम मे इस प्रकार के जनतन्त्र के होने मे एक वडा कारण यह भी वना कि वहा प्रारम्भ से भारत की तरह की चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था नही थी, इसीलिए राजतन्त्र भी निरकुश रहा, राजतन्त्र पर भी जैसे भारत मे व्राह्मणो और महाजनो का अकुश रहता था, ऋषि मुनियो का मार्ग दर्शन रहता था, वैसे पश्चिम मे कोई अकुश था नही। धर्म गुरुओ, पादरियो, पोपो या पुरोहितो को राजतन्त्र मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार ही न था, परलोक के मामले मे ही वे प्रेरणा दे सकते थे, इहलोक व्यवस्था के वारे मे नही, जव कि भारत मे राजतन्त्र भी जनसस्था और धर्म सस्था की प्रेरणा से चलता था। इसीलिए पश्चिम मे जव जनतन्त्र आया तव भी वह जनसस्था और धर्मसस्था के अकुश से रहित होकर उसी राजतन्त्र की परिपाटी के रूप मे आया। हालाकि वहा विरोध पक्ष जनतन्त्रीय सरकार पर अकुश रखते है, ऐसा कहा जाता है। सभव है वहाँ के शासन कर्त्ता पर प्रारम्भ से धर्मसस्था का अकुश न रहा, इसलिए वहाँ विरोध पक्ष को स्वीकार किया है। वहाँ की परिस्थिति के अनुसार जो हो सो हो। परन्तु भारत मे विरोध पक्षो की दशा, उनकी वुनियाद और नीतियाँ भारतीय सस्कृति और भारतीय समाज व्यवस्था के अनुकूल नही है, इसलिए वे केवल विरोध करने के लिए और सत्ता हथियाने के लिए विरोध करते है। सत्तासीन पक्ष पर आक्षेप करते हैं और नाना प्रकार के हथकडे किया करते है। यही कारण है भारतीय लोकतन्त्र की अपनी एक विशेषता है। भारतीय जनतन्त्र मे विरोध पक्षो की जरूरत नही। अपि तु पूरक (जनसस्था) प्रेरक (जन-सेवक सस्था) और मार्गदर्शक (साधु सस्था) दलो की जरूरत है, जो जनता को नीति और धर्म से युक्त राजनीति से वढकर, जनता लक्षी कार्यक्रमो द्वारा जन-जन को पुष्प की तरह सर्वाङ्गीण रूप से विकसित कर सके। और ऐसी धर्म सस्थाएँ राजनीति से स्वय भागने या जनता को भगाने का प्रयत्न नही करके, जनता के नैतिक सगठनो द्वारा राजनीति पर धर्म का अकुश रखने का प्रयत्न करेंगी और जनतन्त्र मे राज्यशक्ति की अपेक्षा जनशक्ति वढाकर उसे जनलक्षी वनाएँगी।

प्राचीन काल मे धर्म-सस्थाओ ने यही काम किया था। यद्यपि उस समय राजतन्त्र था, फिर भी शासनकर्ता पर नैतिक-धार्मिक अकुश रखने का कार्य धर्म-सस्थाएँ करती थी। धर्म-सस्था के भारतीय समाज व्यवस्था मे दो अग मुख्य माने जाते थे।

पहला था व्राह्मण वर्ग, जो सारे समाज की नैतिक चौकसी रखता था, राज्यकर्ता पर भी अकुश रखता था। कोई शासक अगर किसी व्यक्ति पर अन्याय-अत्याचार करता या अपनी मर्यादाओ का उल्लघन करता था तो उस पर जनता द्वारा अकुश लाकर पदच्युत तक कर देने का वह अधिकार रखता था। और दूसरा था—ऋषि मुनि वर्ग, जो समाज से ऊपर उठा हुआ था, नि स्पृह, निर्लेप और स्व-पर कल्याण मे रत रहता था। वह भी समाज की गतिविधि पर पूरा ध्यान रखता था और जहाँ कही भी गडवडी

दिखती या समाज व्यवस्था टूटती दिखती, उसे सुधारने और जोडने का काम अपने तप-त्याग-बलिदान द्वारा करता। आप राम-युग को देखिए या कृष्ण-युग को, महावीर-बुद्धयुग को देखिए या गाँधी-युग की गहराइयो मे जाइए। सभी युगो मे आपको भारतीय व्यवस्थानुसार धर्म-सस्थाओ के दोनो अगो का अकुश शासन सचालन तत्र पर मिलेगा। जहाँ कही धर्म सस्था के इन दोनो अगो मे से किसी एक या दोनो ने इस महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व से मुख मोडा है, उपेक्षा की है या किसी मे कर्तव्य-च्युति आई है या स्वय मे कोई दोष पनपे है, वहाँ शासन तन्त्र बिगडा है समाज व्यवस्था भी बिगडी है। जनता पर भी उस बिगाड़ की छाया पडी है। रामयुग मे रामचन्द्र जी को दशरथ राजा अपने जीते जी राजगद्दी पर बिठाना चाहते तो स्वय ही निर्णय कर सकते थे, किन्तु उन्होने चातुर्वर्ण्य समाज गुरु वशिष्ठ जी से इस बारे मे प्रेरणा लेनी चाही। वशिष्ठ जी ब्राह्मण सस्था के प्रतिनिधि थे और क्षत्रिय वर्ग पर उनका प्रभुत्व था, वे चाहे जिस ओर निर्णय दे सकते थे, परन्तु उन्होने जिस जन-बल द्वारा उन्हे शासक पर अकुश रखवाना है, उस जनता (महाजन) की राय लेना ठीक समझकर कहा—

जो पाचहि मत लागे नीका,
तो रघुवरसन कर देहु टीका।

इसके अतिरिक्त रामयुग मे जनतालक्षी राजतत्र का ज्वलत उदाहरण है. धोबी का प्रसग। जिसको लेकर श्री रामचन्द्र जी ने अपनी अर्धाङ्गिनी सीता का भी दु खद विरह सहन किया।

कृष्ण-युग मे जब राजतत्र निरकुश बन रहा था, यानी कस, दुर्योधन, शिशुपाल आदि के अत्याचारो से पीडित था, ब्राह्मण वर्ग राजाश्रित होकर इन अन्यायो-अत्याचारो को चुपचाप देख रहा था, एक तरह से कर्तव्य च्युत बन गया था, तब श्रीकृष्ण महाराज ने गोपालक जनता की शक्ति बढाकर निरकुश राजाओ को पदच्युत किया।

महावीर-बुद्धयुग मे भी ब्राह्मणो का प्रभुत्व क्षत्रिय राजाओ पर काफी था। परन्तु उस प्रभुत्व का उन्होने प्राय दुरुपयोग ही किया, इसलिए श्रमण भगवान महावीर ने और महात्मा बुद्ध ने श्रमण-सस्कृति के उन्नायक बनकर जनता की शक्ति बढाई, ब्राह्मणो और क्षत्रियो को स्वकर्तव्य का भान कराया। यहाँ तक कि जहाँ कई ब्राह्मण कर्त्तव्यच्युत हो गए थे, वहाँ श्रमणो ने उन्हे श्रमण-सघ द्वारा नीति और धर्म की दृष्टि से मार्ग दर्शन दिया कर्त्तव्यारूढ भी किया।

भगवान् महावीर के बाद हेमाचार्य, हरिभद्रसूरि, रत्नप्रभसूरि, लोहाचार्य आदि अनेक आचार्यों ने राजतत्र को शुद्ध रखने, नीतिधर्मयुक्त व प्रजालक्षी बनाने के लिए स्वय ने तो राजाओ को प्रतिबोध दिया ही उनके मार्ग दर्शन से बहुत बडा कार्य भी हुआ, साथ ही ब्राह्मण सस्था और जनसस्था का कार्य सम्पन्न कराने के लिए उन्होने ओसवाल, पोरवाल, खडेलवाल, भावसार अग्रवाल आदि धर्म-नीति-सरकार-युक्त असाम्प्रदायिक जातिया भी बनाई, जिनमे से कई वस्तुपाल, तेजपाल, चपाशाह, बाहड, उदयन आदि मन्त्रियो ने ब्राह्मण कार्य कर बताया और भामाशाह, खीमाशाह, भीमाशाह आदि कई पुरुषो ने महाजन (जनसस्था) का कार्य किया। इस प्रकार जैनश्रमणो ने और श्रावको ने राजतत्र पर अकुश रखा और

कर्तव्य प्रेरित किया। बौद्ध भिक्षु उपगुप्त आदि की प्रेरणा से अशोक जैसे कई सम्राटो को कर्त्तव्य भान हुआ। समर्थ रामदास जैसे सत की प्रेरणा से शिवाजी जैसे शासको को राज्य के ट्रस्टी या प्रतिनिधि बनकर राज्य करने के उदाहरण तो इतिहास प्रसिद्ध है। परन्तु इसके बाद इतिहास बदलता है। भारत पर मुगलो का शासन छा जाता है, इस समय श्रमण-सन्यासी वर्ग और ब्राह्मण वर्ग या श्रावक वर्ग मे भी अपने उत्तरदायित्व के प्रति प्राय उदासीनता आ जाती है। यद्यपि कई मुगल बादशाहो ने अपने धर्म-गुरुओ काजी-मुल्लाओ की प्रेरणा से नीति पूर्वक प्रजा पालन किया है। अकबर जैसे कई बादशाहो को कई जैनाचार्यो ने व्यक्तिगत रूप मे प्रतिबोध भी दिया है। परन्तु जन-सस्था (महाजनो) एव ब्राह्मण वर्ग द्वारा उन पर अकुश नही लाया जा सकता। इसके बाद तो भारतवर्ष पर ब्रिटिश शासन पूरी तरह से छा जाता है। इस समय भी ब्रिटिश शासको पर अकुश रखने और उन्हे मार्ग-दर्शन देने का कार्य साधु सन्यासियो या ब्राह्मणो द्वारा प्राय नही हुआ।

ठीक इसी समय गाधीजी का उदय होता है। अफ्रीका मे वे भारतीय जनता को सगठित करके ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयो पर किए जाने वाले अन्याय-अत्याचारो के विरुद्ध अहिंसक सत्याग्रह करते हैं। भारत मे आकर वे इसी प्रयोग को कई जगह आजमाते है। उन्होने भारतीय समाज व्यवस्था के अनुसार जब तक जनशक्ति और जनसेवक शक्ति तैयार नही की जाएगी, तब तक ब्रिटिश शासन पर अकुश लाना और उन्हे अपने कर्त्तव्य का भान कराना कठिन होगा। इसके लिए उन्होने चपारण सत्याग्रह के समय किसानो को सगठित किया, अहमदाबाद मे मजूर महाजन नामक सस्था सस्थापित की। हरिजनो को संगठित किया, महिलाओ को शराब के अड्डो पर पिकेटिंग करने और सत्याग्रह करने के कार्य मे जोडकर, उनकी शक्ति बढाई। दूसरी ओर विविध रचनात्मक कार्यो मे व्रतबद्ध जनसेवको को प्रवृत्त करके और इन जनसस्थाओ का सचालन करने मे जोड करके नए युग के ब्राह्मण तैयार किए। काग्रेस जैसी राजनैतिक सस्था मे नए प्राण फूक कर जब क्षत्रिय तैयार किए। गाधीजी स्वय सपत्नीक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके वानप्रस्थाश्रम की साधना करते थे। इसी प्रकार सारे भारत को जागृत करके गाधीजी ने ब्रिटिश शासको को अपदस्थ करके भारत मे राजतत्र की जगह जनतत्र का सूत्रपात किया।

परन्तु दुर्भाग्य से जिस काग्रेस ने स्वराज्य से पहले वर्षो तक गाधीजी की प्रेरणा से त्याग-तप और बलिदान के प्रयोग किए, राजतत्र को नीति-धर्मयुक्त बनाने का अथक प्रयत्न किया और सत्य अहिंसा की दिशा मे बढी। जनसेवको और गाधीजी जैसे वानप्रस्थाश्रमी महात्मा के मार्ग दर्शन मे प्रगति की जनता-लक्षी बनी, उसी काग्रेस की स्थिति स्वराज्य प्राप्त होने के बाद बदली। सत्ता पर आते ही कई काग्रेसी अपने कर्त्तव्य को भुला बैठे। फलत जनता-लक्षी बनने के बदले उसकी स्थिति सत्तालक्षी बनने लगी। यद्यपि गाधीजी ने काग्रेस पर अकुश रखने और उसे नीति मार्ग मे प्रेरित करने के लिए विविध जन-सस्थाएँ और व्रतबद्ध लोकसेवको के सगठन बनाए थे। किन्तु स्वराज्य बाद के अल्पकाल मे गाधीजी के प्रयत्न करने पर भी ऐसे पूरक-प्रेरक बलो का अनुबन्ध काग्रेस के साथ जुड न सका। गाधीजी के महा-प्रयाण के बाद तो प्राय काग्रेस की स्थिति निरकुश-सी हो गई। काग्रेस मे त्याग तप की शक्ति क्षीण होने लगी। रचनात्मक कार्यकर्ताओ की प्रेरणा लेने के बजाय उन पर हावी होने लगी। दुर्दैवात् सत विनोबा

जी के नेतृत्व मे तैयार होने वाले सर्वोदय कार्य-कर्ताओ ने तो काग्रेस से किनारा ही कर लिया और राज-शक्ति पर जनशक्ति का अकुश लाने एव उसे शुद्ध रखने की अपनी जिम्मेदारी से भागने लगे। जनता को राजनीति से भगाने लगे। फलत काग्रेस को अन्तर्निरीक्षण करने, शुद्ध होने और जनसेवको की प्रेरणा लेने की चिन्ता न रही, सर्वोदयी जनसेवक तो जनसगठन खडे करके उस पर अकुश भी न ला सके। काग्रेस को खुला मैदान मिल गया। उसने धीरे-धीरे सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक, शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रो पर अपना कब्जा जमाना शुरू कर दिया।

सौभाग्य से महात्मा गाधीजी के जीवनकाल मे ही मुनि श्री सन्तबालजी महात्मा का ध्यान इस ओर गया और उन्होने अहमदाबाद जिले मे भालनल काठा प्रदेश (४ तहसीलो के) मे धर्मदृष्टि से समाज रचना का प्रयोग शुरू किया। उनकी प्रेरणा से व्यापक सर्वाङ्गी दृष्टि वाले व्रतबद्ध अध्यात्मलक्षी जनसेवको (रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ) का सघ-प्रायोगिक सघ बना, उसके अन्तर्गत विभिन्न ग्रामीण नीति-लक्षी जनसस्थाएँ-किसान मण्डल, गोपालक मण्डल और खादी ग्रामोद्योग मण्डल बनी।

काग्रेस के साथ सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र मे जनसगठनो का अनुबध और जनसेवक सगठनो का सहानुभूति सम्बन्ध जोडा गया। फलत एक उसका पूरक बना और दूसरा प्रेरक। भारतीय सस्कृति के अनुरूप इस लघुतम अविरत प्रयास मे कुछ सफलता भी मिली है। इस पुरुषार्थ से जहाँ काग्रेस अपने ध्येय से डिगी है, जहाँ सिद्धान्त को चूक कर विरोधी दलो से उसने समझौता किया है, वहाँ उस पर जनशक्ति द्वारा अकुश लाया गया है और जहाँ स्थानीय काग्रेस के कुछ सत्ताकाक्षी व्यक्तियो ने काग्रेस के उच्चस्तरीय आदेश को ठुकराया है, वहाँ स्वय मुनि श्री ने अपने तप-त्याग द्वारा उन्हे सही राह पर लाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार एक ओर काग्रेस की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया गया है, तो दूसरी ओर जहाँ वह सही राह पर चल रही हो और विरोधी पक्ष भोली जनता को उभाड कर अपना मतलब गाठना चाहते हो, वहाँ काग्रेस का सक्रिय समर्थन किया और सक्रिय सहयोग भी देकर उसकी पुष्टि भी की है। उसे मतो से निश्चित बनाकर सामाजिक आर्थिक क्षेत्र जनता के और शैक्षणिक सास्कृतिक क्षेत्र जनसेवको के सगठनो के हाथो मे सौपने के लिए और इस प्रकार जनतत्र को विशुद्ध जनतालक्षी एव लोकनीति से प्रभावित करने के लिए मुनि श्री ने उपयुक्त दोनो सगठनो द्वारा गुजरात मे भगीरथ प्रयत्न किए है।

अब समय आ गया है कि धर्म सस्थाएँ अपने उपर्युक्त दोनों अगो श्रमण और श्रावक आज की भाषा मे कहूँ, तो क्रान्ति-प्रिय साधुवर्ग और व्रतबद्ध अध्यात्मलक्षी सर्वाङ्गी दृष्टि वाले जनसेवक (रचनात्मक कार्यकर्ता) सहित अपने-अपने उत्तरदायित्वो को अपनी सीमाओ मे रहकर पूरा करें। आज साधु वर्ग केवल सम्प्रदाय की चाहरदीवारी मे घिरा रहकर सोचेगा तो वह जनतत्र को धर्माभिमुख व जनलक्षी नही बना सकेगा। राजतत्र की अपेक्षा आज के जनतत्री युग मे तो इस धर्म कार्य को करने का सुन्दर मौका है (महात्मा गाधी जी ने और बाद मे मुनि श्री सन्तबाल जी ने इसके लिए साधु श्रावको का स्वकर्त्तव्य का राजमार्ग साफ बता दिया है। आज ओसवाल, पोरवाल आदि जातियो जैसे जाति सगठन बनाने का जमाना बीत गया। और न साम्प्रदायिकता युक्त सगठनो का युग है। अब तो धर्म

संस्थाओ के अग्रगामी साधु सन्यासियो को अपने-अपने धर्म-सघो (धर्मो) के साधु और सद्‌गृहस्थ (भक्त, उपासक या श्रावक) इन दोनो अगो का परस्पर धर्मानुवन्ध जुडा रखते हुए अलग-अलग सगठन रखना होगा और उनमे भी क्रान्ति-प्रिय दृष्टि सम्पन्न साधु-साध्वियो तथा क्रान्ति-मार्ग सहयोगी व्रतवद्ध सद्-गृहस्थ भाई वहनो को अलग छांटना होगा। साथ ही असाम्प्रदायिक नीतिलक्षी जनसंगठन ग्रामो और नगरो मे वनाने होंगे, जनसेवको (व्रतवद्ध रचनात्मक कार्य कर्ताओ) के अध्यात्मलक्षी सगठन वनाकर उन्हें उन जन-सगठनो के सचालन और प्रेरणा का काम सौंपना होगा। कांग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) के साथ उक्त दोनो का अनुवंध जोडकर उसे नीति धर्म प्रेरणा युक्त तथा जनलक्षी वनाना होगा, तभी धर्म सस्थाएँ धर्म को सार्वजनीन वना सकेगी, जन-जन के जीवन मे सक्रिय रूप धर्म का प्रवेश करा सकेंगी। और तभी जनशासन की वुनियाद पर जनतत्री राज्य शासन को जिनशासन धर्म-पुनीत कर सकेगा। कोरी भाषण वाजी और कोरे लेखन से धर्म-सस्थाएं न तो अनुभव-युक्त सही विचार ही दे सकेंगी और न तदनुरूप आचार ही जनजीवन मे आएगा। धर्मनीतिविहीन एव जनलक्षिता-रहित जनतत्र खोखलातत्र होगा। और शायद वह भविष्य मे अधिनायक तत्र या फौजीतत्र भी वन जाए, जो धर्म सस्थाओ के लिए भी खतरनाक होगा।
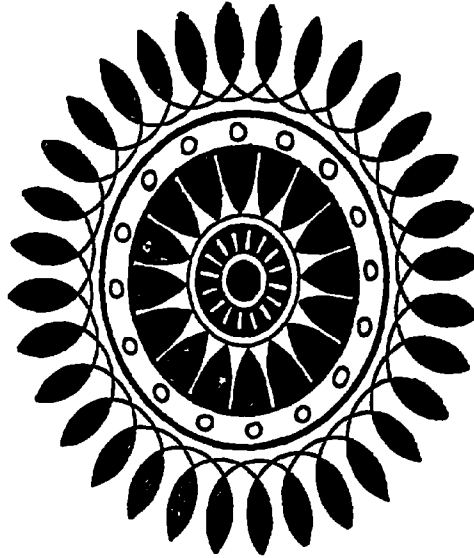
जैन-संस्कृति और विवाह

●

गोकुलचन्द्र एम० ए० आचार्य

-+-+ +-+-+-+-+ +-+-+-+-+-+-+-+ +-+-+-+-+-+-+ +-+-+-+-+-+-+-+-+ +-+

पाणिग्रहण या विवाह मानव के सामाजिक जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। स्त्री और पुरुष समाज रूपी यान के दो चक्र है। प्रत्येक सामाजिक तथा सास्कृतिक उपलब्धि मे इन दोनो इकाइयो का समान योगदान है। स्त्री के बिना पुरुष का पुरुषत्व अधूरा है और पुरुष के बिना स्त्री का स्त्रीत्व अपूर्ण। समाजविज्ञान की तरह शरीरविज्ञान तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से भी विवाह अनिवार्य है।

जैन-सस्कृति मे विवाह की बात करते ही लोग प्राय. यह प्रश्न उठा देते हैं कि 'जैन धर्म तो त्याग-मार्ग है, जितने भी जैन महापुरुष हुए वे सभी त्यागमार्ग पर चले, इसलिए जैन-सस्कृति मे विवाह का मेल ही कहाँ बैठता है ?"

नि सन्देह जैन चिन्तन त्याग प्रधान है, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही कि जैन धर्म ने सामाजिक व्यवस्था के विषय मे बिल्कुल भी नही सोचा। जैन आचार्यो ने समाज-दर्शन पर भी उतना ही विचार किया है, जितना अध्यात्म-दर्शन पर। समस्त श्रावक धर्म इसका प्रमाण है। इतना अवश्य है कि जैन-सस्कृति आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की तरह निवृत्युन्मुख (त्यागोन्मुख) प्रवृत्ति मे विश्वास करती है। उसमे ग्रहण भी त्याग के लिए है, प्रवृत्ति भी निवृत्ति के लिए है।

जैन मान्यता के अनुसार इस युग के अंतिम कुलकर नाभिराय ने पाणिग्रहण की वर्तमान प्रथा चलाई। उनके पुत्र ऋषभदेव, जिन्हे जैन धर्म का प्रथम तीर्थकर माना गया है, पहले व्यक्ति थे, जिनका नाभिराय ने विधिपूर्वक पाणिग्रहण सस्कार किया।

जैन का अर्थ है—विवेक पूर्ण क्रिया मे विश्वास करने वाला। किसी बात को केवल इसलिए मान लेना कि वह परपरा से चली आई है अथवा किसी बात की इसलिए उपेक्षा करना कि वह नवीन है, ये दोनो बाते जैन चिन्तन के पूर्णत विपरीत हैं। अतएव चाहे वह आध्यात्मिक क्रिया हो या अन्य कोई सामाजिक व्यवस्था, दोनो के विषय मे विवेकपूर्ण प्रवृत्ति करना ही जैन-सस्कृति है।

विवाह एक सामाजिक क्रिया है। सामाजिक व्यवहार को दृष्टि मे रखकर उस पर विचार करना पडता है। जैन दृष्टि उन सभी सामाजिक व्यवस्थाओ को स्वीकार करने की अनुमति देती है, जिनमे विवेक बना रहे। सोमदेवसूरि ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

"सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व-हानि र्न यत्र न व्रतदूषणम्॥"

—यशस्तिलक, उत्तरार्ध, पृ० ३७३

अर्थात् ऐसे सभी लौकिक विधि-विधान या क्रियाएँ जैनो के लिए प्रमाण है, जिनमे सम्यक्त्व की हानि नही होती तथा व्रत मे दूषण नही लगता।

जैन शास्त्रो मे अनेक महापुरुषो के चरित वर्णित है। विवेक की साक्षी पूर्वक उनमे से अच्छाइयाँ चुनना कठिन नही। कहा जाता है—"महाजनो येन गत स पन्था" अर्थात् महापुरुष जिस मार्ग से चले, वही श्रेष्ठ मार्ग है।

यह महाजन क्या है—वही विवेकवान् व्यक्ति। जो स्वय नही सोच पाते, जिनमे उचित अनुचित का सपूर्ण रूप से निर्णय करने की क्षमता नही, उनके लिए ये महापुरुष आकाशद्वीप हैं। जिस रास्ते पर वे चले, उनके पद चिन्हो का अनुसरण करके उसी रास्ते पर चलने वाले व्यक्ति को भी उतना ही लाभ होता है, जितना स्वय मार्ग बनाकर चलने वाले व्यक्ति को।

विवाह के दो मुख्य अग है—वर और कन्या। जीवन भर के लिए इन्ही दो का एक हो जाना विवाह है, यह है भारतीय सस्कृति। पश्चिम वाले ऐसा नही मानते, उनकी अपनी सस्कृति है। वह भली है या बुरी, हम यह नही कहना चाहते, पर वह भारतीय सस्कृति के विपरीत अवश्य है। उनके यहाँ विवाह एक समझौता मात्र है। समझौते अधिक दिन तक नही टिकते। यही कारण है कि वहाँ पर सबध विच्छेद के अनेक प्रसग देखे जाते है।

विवाह की सफलता उक्त वर और वधू दो अगो पर ही प्रधानतया निर्भर करती है, इसलिए इनके सम्बन्ध मे विचार करना जरूरी है।

यौवन को प्राप्त प्रत्येक युवा और युवती विवाह के योग्य है। इस सदर्भ मे जैन आगमो मे प्राय तीन वाक्य आते है—

१ उम्मुक्क-बालभावे[1]
२ णवगसुत्त-पडिबोहिए[2]
३ अल भोगसमत्थे[3]

अर्थात् जिसका बालभाव समाप्त हो गया हो, जिसके शारीरिक नव अग जागृत हो गए हो तथा जो भोग करने मे समर्थ हो, ऐसे व्यक्ति की आयु विवाह योग्य है।

मध्ययुग मे बाल विवाह की प्रथा चल पडी थी, पर समाज ने उससे होने वाली कठिनाइयो और बुराइयो को महसूस किया। आज बाल विवाह सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी ही नही, शासन की दृष्टि से अवैध भी है। इसलिए विवाह की उचित आयु वही मानना चाहिए जब युवक और कन्या दोनो ही अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से समझने लगे। विवाह की आयु को वर्षो की मर्यादा मे बाँधना उचित नही, क्योकि देश, काल और परिस्थितियो के अनुसार आयु सम्बन्धी सीमाओ मे परिवर्तन होता रहता है।

जैन आगमो मे वर और कन्या के गुणो का जो वर्णन आता है यदि उसी के अनुसार वर और कन्या खोजे जाएँ, तब तो शायद न किसी लडके का विवाह हो न लडकी का। आगम कालीन युवक बहत्तर कलाओ का पण्डित, अट्ठारह देशो की भाषाओ का विशेषज्ञ, गीत और नाट्य मे कुशल, अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध, तथा बाहुयुद्ध मे निष्णात, महान साहसिक तथा निर्भीक होता था।[4]

कन्या के गुण के विषय मे कहा गया है कि कन्या वर के अनुरूप वय वाली, वर के समान ही लावण्य, रूप और यौवन वाली तथा समान कुल मे उत्पन्न होने वाली होती थी।[5]

प्राचीन काल मे विवाह का क्षेत्र इतना सकुचित नही था, जितना आज हो गया है। आज विवाह के लिए दोहरे बन्धन है—

१ निकट के सबधियो मे विवाह नही हो सकता।
२. अपनी जाति या दायरे के बाहर विवाह नही हो सकता।

---

[1] भगवती श० ११, उद्देश. ११
[2] ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १, अध्य० १
[3] ज्ञाताधर्म, स्कध १, भगवती श० ११, उद्देश्य० ११,
[4] बावत्तरिकलापंडिए अट्ठारसविहिप्पगारदेसीभासाविसारए गधव्वणट्टकुसले हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही साहसिए·· ·· वियालचारी · · ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १ अध्य० १
[5] सरिसयाणं सरिसव्वयाण सरिसत्तयाण सरिसलावण्ण-रूव-जोवण-गुणोववेयाण सरिसएहिंतो। भगवती-सूत्र शत. ११ उद्दे० ११

प्राचीन काल मे ये दोनो ही प्रकार के बन्धन नही थे। जैन-दृष्टि से होना भी नही चाहिए। इन बन्धनो ने वर्तमान मे विवाह को समाज के समक्ष एक समस्या बना दिया है, इसलिए इन पर कुछ विशेष विचार करने की आवश्यकता है—

(क) निकट के सबन्ध आगमकाल मे अपने परिवार के अर्थात् भाई-बहिन, पिता-पुत्री आदि के अतिरिक्त अन्य सभी निकट के सम्बन्धियो मे विवाह हो सकता था। उदाहरण के लिए—

१ उग्रसेन की कन्या सत्यभामा श्रीकृष्ण को व्याही थी। उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण दोनो सगोत्री थे।[1]

२. भोजराज और अन्धकवृष्णि दोनो सहोदर भाई थे। भोज की पौत्री राजीमती तथा अधक के पौत्र नेमि का विवाह रचा गया था।[2]

३ भूआ (कुन्ती) के पुत्र अर्जुन को श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा व्याही गई थी।[3]

४ रुक्मइये राजा ने अपनी कन्या वैदर्भी अपने भानजे रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार को व्याही थी।[4]

५. चारुदत्त का विवाह अपने मामा की कन्या से हुआ था।[5]

६. महावीर की पुत्री दर्शना उनके भानजे जामाली को व्याही थी।[6]

इसी तरह के और भी अनेक उदाहरण है। इनसे स्पष्ट है कि निकट के संबन्धियो मे विवाह होते थे। सम्भवतया मामा के लडके या लड़की का सबन्ध सर्वोत्तम माना जाता था। इसका मुख्य कारण यह था कि उक्त दोनो परिवार निकट संबन्धी होने के कारण एक ओर परस्पर के आचार, विचार तथा व्यवहार से पूर्णतया परिचित होते थे दूसरी ओर सबन्धी होने के कारण पूर्व स्नेह भी होता था।

वर्तमान मे तो मामा के सबन्ध को खास तौर पर बचाया जाता है। कही-कही सीमाएँ टूट रही है, किन्तु विवेक के साथ नही, बल्कि स्वार्थो के कारण। वास्तव मे यह दायरा विवेकपूर्वक समाप्त होना चाहिए। सामाजिक अभ्युत्थान एव सुव्यवस्था की दृष्टि से ऐसे सबन्ध उचिततम है।

---

[1] हरिवंशपुराण

[2] उत्तराध्ययन, अध्य० २२

[3] ढाल सागर

[4] अन्तकृत्

[5] हरिवशपुराण

[6] कल्पसूत्र, पञ्चमक्षण

(ख) अन्तर्जातीय विवाह—आगम तथा जैन-दृष्टि से 'अन्तर्जातीय विवाह' इस शब्द का प्रयोग भी गलत है। जैन-सस्कृति मे मनुष्य मनुष्य मे भेद करने वाली, जाति नाम की कोई चीज ही नही है। सभी मनुष्य समान है। मानव मात्र की एक ही जाति है—"मनुष्यजातिरेकैव"

वैदिक प्रभाव तथा भौगोलिक परिस्थितियो के कारण समाज छोटी-छोटी इकाइयो मे बँटकर अपने अपने दायरे मे इतना कुण्ठित हो गया है कि उससे बाहर की बात सोचना भी कठिन हो गया है। जैनदृष्टि से यह बन्धन न है, न होना चाहिए। आगमो मे ऐसे अनेक उल्लेख आते है जिनमे अपने दायरे के बाहर सबन्ध किए गए। उदाहरण के लिए—

१ श्रीकृष्ण के लघुभ्राता गजसुकुमार क्षत्रिय थे, उनके विवाह की तैयारी सोमल ब्राह्मण की कन्या से की गई थी।[1]

२ तेतली प्रधान ने सुनार की कन्या पोट्टिला से पाणिग्रहण किया था।[2]

३ क्षत्रिय सम्राट् वैश्रमणदत्त ने अपने पुत्र पुष्यनन्दी कुमार का विवाह वणिक्पुत्री देवदत्ता से किया था।[3]

४ जितशत्रु नामक राजा ने चित्राङ्गद नामक चित्रकार की कन्या कनकमजरी से विवाह किया था।[4]

५ सम्राट् श्रेणिक ने वणिक् पुत्री नन्दा से विवाह किया था।[5]

ऐसे ही और भी अनेक उदाहरण है जिनसे यह स्पष्ट होता है कि विवाह के लिए आगम काल मे आजकल की तरह घेरे नही थे। वर्तमान मे समाज अपने अपने दायरे मे इतना बँधा हुआ महसूस करता है कि उसी मे पिसते रहने के बाद भी उससे बाहर नही निकल पाता। आश्चर्य होता है कि जैन समाज इतना बुद्धिवादी होने पर भी इन बुराइयो मे तीव्रता से जकडा हुआ है। वास्तव मे पूछा जाए तो इस सकुचितता ने ही विवाह को एक समस्या बना दिया है।

कुछ बौद्धिक जागृत के साथ ये बन्धन टूट रहे है, किन्तु स्वच्छदता के साथ अधिक, विवेक के साथ कम। जैन-दृष्टि तथा सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से न तो ये बन्धन थे और न होने चाहिए। इसके बदले वर और कन्या के अधिक से अधिक योग्य होने का विशेष विचार करना चाहिए।

---

[1] अन्तकृत्०, वर्ग ३, अध्य० ८

[2] ज्ञाताधर्म०, अध्य० १४

[3] विपाक-सूत्र, अध्य० ९

[4] उत्तराध्ययन, अध्य० १८

[5] श्रेणिकचरित

इस कार्य के प्रथम चरण का प्रारम्भ करने के लिए मवसे पहले हमे कम से कम जैन समाज के सभी छोटे-वडे दायरो मे वैवाहिक सम्वन्ध प्रारभ कर देना चाहिए।

जैन परिवार चाहे किसी भी क्षेत्र या परिस्थितियो मे रहे, उसकी जैन सास्कृतिक परपरा अक्षुण्ण वनी रहती है। यही कारण है कि दुनियाँ भर के जैनो मे एक गहरी सास्कृतिक एकता के कारण हमारे वैवाहिक सम्वन्ध पूर्ण रूप से सफल होगे।

इसके अतिरिक्त इस तरह के सम्वन्धो से एक और भी वहुत वडा लाभ यह होगा कि जैन समाज छोटे-छोटे टुकडो मे वँटकर जो छिन्न-भिन्न हो चुका है, उसमे स्वयमेव एक दृढ एकता आ जाएगी। रक्त का सम्वन्ध जव तक नही होता, तव तक भावात्मक एकता के कितने ही प्रयत्न क्यो न किए जाएँ, उनसे मतभेद की खाइयाँ नही पट सकती।

वैदिक शास्त्रो मे ब्रह्म विवाह, देव विवाह आदि आठ प्रकार के विवाहो का वर्णन आता है। सामाजिक हित की दृष्टि से वे सवके सव न तो उस समय उपयोगी थे, न इस ममय है। इसके अतिरिक्त जैन-दृष्टि से भी उनका मेल नही बैठता।

विवाह को दो श्रेणियो मे रखना चाहिए—

१ जिनका निश्चय तथा आयोजन माता पिता या सवन्धी करे।

२ जिनका निश्चय तथा आयोजन वर और कन्या स्वय करें।[1]

पहले प्रकार के विवाह की सफलता तथा वर और वधू के योग्य चुनाव का पूर्ण उत्तरदायित्व माता-पिता या निश्चय करने वाले सवन्धियो पर होता है। उनकी कुशलता से ही मवध योग्यतम हो सकते है।

दूसरे प्रकार के सवन्धो मे वर और कन्या माता-पिता की अपेक्षा किए विना ही मवन्ध का निश्चय तथा आयोजन स्वत करते है। प्रेम विवाह आदि इसी के अन्तर्गत आ जाते है।

सामाजिक दृष्टि से उक्त दोनो प्रकार के विवाह उपयोगी है, वशर्ते कि निश्चय और आयोजन करने वाले अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप मे समझे। स्वार्थी अथवा अविवेकी माता-पिता और रिश्तेदारो के द्वारा किए गए विवाह तथा प्रेम और भावुकता के आवेग मे युवक और कन्या द्वारा स्वय किए गए विवाह दोनो ही अयोग्य है तथा सामाजिक दृष्टि से अहितकर भी है। इसलिए विवाह का निश्चय माता पिता या सवन्धी करें अथवा युवक और कन्या स्वय, किन्तु योग्य व्यक्ति के चुनाव मे पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए।

---

[1] वर्तमान मे यही दो रूप देखे जाते हैं।

उपर्युक्त दोनो प्रकारो का समन्वयात्मक रूप यह भी हो सकता है कि विवाह का निश्चय माता-पिता या रिश्तेदार तथा युवक और कन्या सब परामर्श पूर्वक करे। माता-पिता को अपने पुत्र या पुत्री का सबन्ध योग्यतम करने की अभिलाषा होती ही है, अतएव उन्हे अपने पुत्र या पुत्री की भावनाओ का भी आदर करना चाहिए। इसी तरह यदि कन्या या युवक विवाह का निश्चय स्वय भी करे तो भी उन्हे अपने माता पिता या रिश्तेदारो का परामर्श ले लेना उचित होगा। इससे केवल बडो का सम्मान ही नही होगा, प्रत्युत आगामी जीवन मे उनका सदा सहयोग और शुभकामनाएँ भी प्राप्त होती रहेगी। अनेक सम्भ्रान्त परिवारो मे यह परपरा अब भी प्रचलित है। ऐसे सबन्धो की उपयोगिता सर्वविदित है। इसके प्रसार के लिए माता-पिता तथा युवक और कन्या का उदारमना होना आवश्यक है। केवल अपनी बात को मनवाने का आग्रह रहने पर यह सभव नही।

इस प्रकार सबन्ध का निश्चय माता पिता या सबन्धी करे अथवा युवक और कन्या स्वत अथवा सब मिलकर, किन्तु निश्चय होने के बाद सामाजिक स्वीकृति के रूप मे उनका विधिवत् पाणिग्रहण सस्कार अवश्य हो जाना चाहिए। जिस प्रकार असस्कृत (शान पर नही चढाया गया) रत्न भी अपने तेज को प्रकट नही करता, उसी प्रकार सस्कार के अभाव मे युवक और कन्या का सबन्ध भी सामाजिक प्रतिष्ठा नही पा सकता।

पुनर्विवाह के सबध मे वर्तमान मान्यताएँ कुछ विचित्र-सी है। यदि किसी पुरुष की पत्नी का स्वर्गवास हो जाए या वह पत्नी का त्याग कर दे तो वह अन्य विवाह कर सकता है। सामाजिक दृष्टि से इसमे कोई रुकावट नही डाली जाती। इसके विपरीत यदि किसी स्त्री के पति का स्वर्गवास हो जाए या उसका पति उसे छोड दे तो वह दूसरा विवाह नही कर सकती। यदि करती है तो, सामाजिक दृष्टि से अनुचित बताया जाता है। वास्तव मे पूछा जाए तो यह पुरुष जाति की स्त्री जाति पर ज्यादती है। यदि पुरुष को दूसरा-तीसरा सबन्ध करने का अधिकार है तो स्त्री को भी वह अधिकार होना चाहिए।

पुनर्विवाह का निश्चय और आयोजन भी प्रथम विवाह की तरह ही माता-पिता वा सबन्धियो अथवा स्त्री-पुरुष को स्वय पूरे उत्तरदायित्व के साथ करना चाहिए। स्त्री के पुनर्विवाह का उत्तरदायित्व (यदि वह स्वत नही करती) उसके ससुराल वालो पर है। जिस तरह वे अपनी कन्या के विवाह का निश्चय वा आयोजन करते है, उसी तरह उन्हे इस या परित्यक्ता के विवाह का भी आयोजन करना चाहिए। उसके नाबालिग बच्चो पर उसका अपना अधिकार होना चाहिए।

प्राचीन काल मे वर या कन्या की खोज करने के मुख्य दो साधन थे—

१ राजे महाराजे अपनी कन्या के स्वयवर का आयोजन करते, जिसमे अनेक देश देशान्तरो के राजकुमारो को आमन्त्रित किया जाता। कन्या उनमे से सर्वश्रेष्ठ को चुन लेती, बाद मे उन दोनो का पाणिग्रहण होता।

२ जन साधारण अपने पुत्र या पुत्री के विवाह योग्य होने पर योग्य सबन्ध की खोज के लिए धात्री तथा पुरोहित को भेज देते। योग्य संबन्ध मिलने पर विवाह का निश्चय तथा आयोजन होता।

वर्तमान की दृष्टि से उक्त दोनो ही प्रकार अव्यवहार्य तथा अपरिपूर्ण है। इसके विपरीत आज के सबसे बड़े पुरोहित और धात्री पत्र-पत्रिकाएँ हैं। पत्र पत्रिकाओ मे आवश्यकता प्रकाशित कर देने से घर बैठे पुरोहित का कार्य समय, शक्ति और धन के अपव्यय के बिना ही हो जाता है। यदि स्वयवर अर्थात् युवक या कन्या को स्वत संबन्ध करना हो तो भी पत्र-पत्रिकाओ मे आवश्यकता प्रकाशित करना सर्वाधिक कार्यकर है।

पत्र-पत्रिकाओ की इतनी उपयोगिता होने पर भी वर्तमान मे उनसे पर्याप्त लाभ नही लिया जा रहा है। कुछ थोडे से उच्च शिक्षा प्राप्त लोगो को छोडकर प्राय सभी लोग पत्र-पत्रिकाओ मे वैवाहिक आवश्यकता प्रकाशित करना अपना अपमान-सा समझते हैं। यदि सभी लोग पूरे विवरण के साथ आवश्यकताएँ प्रकाशित कराने लगें तो वर या कन्या की खोज करने मे कठिनाई न रहे। प्रत्येक विवेक-शील व्यक्ति का इस ओर ध्यान देना आवश्यक है।

आजकल विवाह का निश्चय करने के लिए मगनी या तिलक का रिवाज है। आगमो मे इस तरह के कोई उल्लेख नही मिलते। आज की तरह उन दिनो दूसरो के धन से धनी होने की क्षुद्र प्रवृत्ति नही थी। मगनी या तिलक ने वर्तमान मे विवाह को एक समस्या बना दिया है। पाणिग्रहण के पूर्व ही कन्या के माता पिता से हजारो रुपये या हजारो रुपयो का सामान मगनी या तिलक के रूप मे लेना आज आम रिवाज सा होगया है। सामाजिक दृष्टि मे यह एक निन्दित एव घातक प्रवृत्ति है, जिसे सर्वथा समाप्त होना ही चाहिए।

पाणिग्रहण का निश्चय करने के लिए समाज के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियो के समक्ष केवल एक श्रीफल का आदान-प्रदान होना पर्याप्त है।

बहुत समय पहले से भी विवाह का निश्चय नही करना चाहिए। इसमे होने वाली अनेक बुराइयो से लोग परिचित हैं। अतएव सर्वाधिक उचित तो यही है कि निश्चय और पाणिग्रहण दोनो एक साथ हो। फिर भी यदि पहले निश्चय करना ही हो तो भी दो माह से अधिक पहले निश्चय नही करना चाहिए।

विवाह के मुहूर्त के सबन्ध मे आगमो मे यह कथन आता है कि शुभ तिथि, शुभ करण, शुभ नक्षत्र शुभ मुहूर्त, शुभ योग मे पाणिग्रहण कराया।[1] नि सन्देह कोई भी मागलिक कार्य करने के लिए शुभ मुहूर्त देखा जाता है, फिर विवाह तो एक ऐसा महत्वपूर्ण और मागलिक कार्य है कि सपूर्ण जीवन को

[1] सोहणसि तिहि-करण-नक्खत्तमुहुत्तसि जोग''' ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १ अध्य० १ भगवती, शतक ११, उद्देश ११

व्याप्त करता है, इसीलिए उसके लिए शुभावसर देखा जाता है, पर इस शुभावसर का निश्चय कौन करे, यह तिथि अच्छी है यह नही, या दिन अच्छा है या नही—इस बात का निर्णय कैसे किया जाए ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके समाधान के लिए ब्राह्मण देवता का सहारा लिया जाता है। वह ज्योतिषी ब्राह्मण जिस तिथि को अच्छा बताए वह अच्छी है, शेष बुरी। तथ्य यह है कि हमारा सारा सामाजिक-जीवन ब्राह्मण के साथ ऐसा जकड दिया गया है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तथा उसके बाद भी ब्राह्मण हमारा पीछा नही छोडता। बौद्धिक जागृति के अनुसार ये सब क्रियाकाण्ड समाप्त हो रहे है। इसीलिए विवाह के लिए भी ब्राह्मण का उपयोग नही किया जाना जाहिए। मुहूर्त निकलने के विषय मे लोगो को थोडी हिचकिचाहट हो सकती है। इस विषय मे मेरा यह सुझाव है कि वर्षावास के अतिरिक्त अन्य दिनो मे तीर्थंकरो के जिस-जिस दिन कल्याणक पडते है अथवा अन्य पुण्य तिथियाँ, जिन्हे धर्म मे पर्व या त्यौहार के रूप मे माना गया वे सभी तिथियाँ शुभ है तथा मागलिक है। अतएव इन्ही तिथियो मे सबन्ध कर लेना चाहिए। ऐसा करने से मुहुर्त निकालने के लिए होने वाली सारी झझटे समाप्त हो जाती है। किसी भी जैनतिथि दर्पण अथवा इसी पुस्तक मे दिए गए चार्ट से कोई भी व्यक्ति शुभ-तिथि देख सकता है। इसके साथ ही इस प्रकार के मुहूर्त शोधन से हमारी एक स्वतन्त्र जैन सास्कृतिक परपरा प्रारभ होगी।

विवाह जैसे पुण्य और पवित्र कार्य मे बहुत समय से बाह्य आडबर, फिजूल-खर्ची, दहेज आदि कुछ ऐसी विकृतियाँ आ गई है। जिनने इस पुण्य कार्यको एक गहरी परेशानी और बडी भारी सामाजिक समस्या बना दिया है।

विवाहो मे आजकल बाह्य आडबर इतना अधिक बढता जा रहा है कि अनेक लोग तो दिखाने के लिए अपनी शक्ति और मर्यादा से भी अधिक खर्च करने लगे है। सामाजिक हितो के साथ साथ व्यक्तिगत हित को भी ताक मे रखकर किए जाने वाले ऐसे बाह्य आडबरो पर समाज की ओर से प्रतिबन्ध होना आवश्यक है।

विवाह आदि सभी मागलिक अवसरो पर प्राचीन काल मे प्रचुर दान दिए जाने की चर्चा आती है। राजे, महाराजे और सेठ साहूकार अपने खजाने खोल देते थे आवश्यकता वाले व्यक्ति को मुँह माँगा दान देते थे। साधारण परिवार भी अपनी मर्यादा के अनुकूल दिया करते थे। अपूर्व उत्साह के साथ नृत्य, गीत, वादित्र आदि के मधुर आयोजन होते थे, पर इन सब मे मर्यादाएँ थी। आज इन परपराओ का रूप इतना विकृत हो गया है कि दान का स्थान फिजूल खर्ची ने ले लिया है तथा नृत्य, गीत आदि का स्थान थोथे आयोजन लेते जा रहे है। विवाह मे हजारो रुपये लुटाने वाले व्यक्ति के स्वय अपने रिश्तेदार भी भले ही धन-भाव मे पिसते रहे, किन्तु उनकी आवश्यकता की पूर्ति न करके फिजूल खर्चा की जाती है।

नि सदेह विवाह तथा वैसे ही अन्य सुअवसरो पर प्रत्येक व्यक्ति को अपूर्व उत्साह के साथ अपनी अपनी मर्यादा के अनुसार खर्च करना चाहिए। इसके लिए विशुद्ध सास्कृतिक परपरा यह होगी कि वह

अपने सहधर्मी व्यक्तियो की सहायता करे तथा शिक्षा और सामाजिक सस्थाओ के लिए सहयोग करे। इस प्रकार के खर्च करने वाले को एक स्थायी पुण्य और यश का लाभ होगा, दूसरी ओर उन आवश्यकता-ग्रस्त बन्धुओ को सहयोग और शिक्षा तथा सामाजिक सस्थाओ को स्थायित्व प्राप्त होगा।

दहेज के लिए प्राचीन शब्द प्रीतिदान था।[1] प्राचीन-काल मे प्रचुर मात्रा मे प्रीतिदान देने का रिवाज था। भगवती सूत्र तथा ज्ञाताधर्म मे प्रीतिदान के जो उल्लेख आए है, उतना प्रीतिदान देने की तो आज कल्पना करना भी कठिन है। महाबलकुमार तथा मेघकुमार को इतना प्रीतिदान दिया गया था कि उनकी सात पीढियो तक खर्च करते रहने पर भी समाप्त न हो।[2]

आज इसका स्वरूप अत्यन्त विकृत हो गया है। अब प्रीतिदान देने की प्रथा नही, लेने की प्रथा चल पडी है, वह भी कन्या के माता पिता से। यदि उनमे सामर्थ्य न हो तो भी उन्हे दहेज देने के लिए बाध्य किया जाता है। इसे प्रीतिदान कहना प्रीतिदान का उपहास मात्र है। यह प्रथा समाज के लिए घातक है। इसे समाप्त होना ही चाहिए। कन्या पक्ष वाले तो दहेज का विरोध करे ही, वर पक्ष वालो को भी इसका विरोध करना चाहिए।

विवाह की सही मर्यादाएँ वही है, जिन्हे समाज देश, काल और परिस्थितियो के अनुसार निश्चित करती है। इन मर्यादाओ का पूर्णरूप से पालन किया जाना चाहिए। जैन-दृष्टि से विवाह का यह सास्कृतिक स्वरूप है।

---

[1] अम्मापियरो पीतिदाण दलयति, भगवती, शत ११ उद्दे० ११, ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १, अध्य० १

[2] विउल धण कणग जाव सत सावदेज्ज अलाहि जाव आसत्तमाओ कुलवसाओ पकाम दाउ पकाम परिभोत्तुं परिभाएउ, भगवती शत० ११, उद्दे० ११; ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १, अध्य० १

[3] तस्स महब्बलस्स कुमारस्स अम्मापियरो पीतिदाण दलयति, भगवती शत ११, उद्दे० ११ तस्स मेहस्स अम्मापियरो···पीतिदाणं दलयति ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १, अध्य० १

भारतीय संस्कृति में संगीत-कला

●

देवेन्द्रमुनि शास्त्री साहित्यरत्न

सगीत : एक कला

सगीत एक कला है, अपने आप मे इतनी परिपूर्ण और चित्ताकर्षक, कि गुलाबी बचपन से लेकर जीवन की सुनहरी सन्ध्या तक सभी के दिल को लुभा लेती है, मन को मोह लेती है और हृदय को हर लेती है। वह केवल विशिष्ट-शिष्ट विज्ञो को ही प्रिय नही, अपितु निरक्षर, स्त्री-पुरुषो, बालक वृद्ध, युवक, धनवान-निर्धन, किसान और विद्वान सभी को प्रिय है। सभी का समान खाद्य है।

सगीत का महत्व

इतना ही नही, स्वर्गीय सगीत की सुमधुर स्वर-लहरी को श्रवण कर मानव तो क्या, पशु-पक्षी भी विमुग्ध हो जाते है और अपने क्रूर हिंसक स्वभाव को विस्मृत करके अहिंसक बन जाते है।

भारतीय सस्कृति के एक महान् आचार्य जो सगीत की मोहिनी से भली भाँति परिचित है, उन्होने क्या ही सुन्दर कहा है—

"तृणावोऽपि पशु मूर्खो, वन-वृद्धोऽपि यः पशुः।
सोऽपि गीताद्वश याति, मृगो भूपेषु का कथा॥

जैन साहित्य के अध्येता यह अच्छी तरह जानते है, कि "कपिल मुनि" ने उत्तराध्ययन सूत्र के आठवे अध्ययन को ध्रुवपद मे गाकर पाँच सौ तस्करों से स्तेय कृत्य छुड़वाकर जैनेन्द्री-दीक्षा प्रदान की थी।

भारतीय इतिहास विज्ञो से यह बात छिपी हुई नही है, कि उन भक्त-प्रवर कवियो ने और प्रबुद्ध प्रतिभा-सम्पन्न सन्तो ने सगीत से जन-गण-मन मे से उदासीनता और निराशा को हटाकर, आशा और उल्लास का सचार किया। भोग की भयकर गदगी को हटाकर भक्ति का सुगन्धित सरसब्ज बाग लगाया व दार्शनिक जैसे गहन गम्भीर विचारो को और धार्मिक जैसी भव्य भावनाओ को गगन-चुम्बी राज प्रासादो से लेकर गरीबो की झोपडियो मे भी पहुँचाने का प्रयत्न किया।[1] वस्तुत सगीत एक ऐसा सुनहरा धागा है, जिसने सारे देश को एकता के सूत्र मे बाँधा है।

आजकल कुछ पाश्चात्य विचारको ने सगीत का नवीन प्रयोग प्रारम्भ किया है। सगीत के द्वारा उन्होने अनेक असाध्य मानसिक व शारीरिक व्याधियो को ठीक किया है, उनका यह दृढ मन्तव्य है कि "भविष्य मे सगीत-चिकित्सा मानव समाज के लिए वरदान सिद्ध होगी।"

नाट्य-शास्त्र के रचयिता आचार्य भरत ने सगीत का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए कहा है— "सगीत ससार के सभी प्राणियो के दु ख-शोक का नाशक है, और आपत्ति काल मे भी सगीत सुख देने वाला है।[2] और भर्तृहरि ने सगीत कला से अनभिज्ञ व्यक्ति को पशु की सार्थक सज्ञा प्रदान की है।[3] और महात्मा गाधी ने कहा, "सगीत के विना तो सारी शिक्षा ही अधूरी लगती है।[4] अत चौदह विद्याओ मे सगीत को एक प्रमुख विद्या माना है।

यह कहना अतिशयोक्ति-पूर्ण नही होगा, कि सगीत मे जितनी मधुरता, सरसता व सरलता है, उतनी अन्य कलाओ मे नही। माधुर्य ही सगीत-कला का प्राण है, जो जादू की तरह अपना प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाता है।

---

[1] भारत मे भक्ति ने सगीत को और सगीत ने भक्ति को बहुत आगे बढाया है।

—महात्मा गाधी

[2] सर्वेषामेव लोकाना, दुःख-शोक-विनाशनम्।
यस्मात्सवृद्यते गीत सुखद व्यसनेष्वपि॥

—आचार्य भरत

[3] "साहित्य-सगीत-कला-विहीन.
साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः।

—नीति-शतक

[4] गाधी जी की सूक्तिया

संगीत क्या है ?

सगीत हृदय की भाषा है, और वह अनेक राग-रागिणियो के माध्यम से गाया जाता है। सगीत का मूल आधार राग है। राग की परिभाषा प्राय सभी मूर्धन्य मनीषियो ने एक-सी की है "जो ध्वनि विशेष स्वर-वर्ण से विभूषित हो, जनचित्त को अनुरजन करने वाला हो, वह राग है।

गीत क्या है ? जिज्ञासु के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा—"आकर्षण स्वर सन्दर्भ का नाम ही गीत है।"

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की टीका मे आचार्य मलयगिरि ने "पद स्वर-तालावधनात्मक गान्धर्व को गीत कहा है।"[1]

समवायाङ्ग-सूत्र की टीका मे आचार्य अभयदेव ने गान्धर्व—कला गान-विज्ञान को गीत कहा है।[2]

गीत शब्द के पूर्व सम् उपसर्ग लगजाने से सगीत शब्द बना है। जिसका अर्थ सम्यक् प्रकार से लय, ताल और स्वर आदि के नियमो के अनुसार पद्य का गाना है।

संगीत का प्रारम्भ कब से

सगीत श्रवण करना और गाना, मानव जीवन की सहज जिज्ञासा है। सगीत का प्रारम्भ कब से हुआ, इस विषय मे कुछ कह सकना सरल न होगा। किन्तु यह स्पष्ट है, कि सगीत का इतिहास बहुत प्राचीन है। वह मानव जीवन का प्रारम्भिक साथी है।

भारतीय साहित्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है, कि भारतीय साहित्य मे अन्य विषयो की चर्चा के साथ सगीत का भी विशद विश्लेषण किया गया है। आगम, त्रिपिटक, वेद और उपनिषदो मे सूत्र-रूप मे खासी अच्छी चर्चा है। परवर्ती विज्ञो ने फिर उसका अच्छा विकास किया है, यहाँ पर सभी की चर्चा करना तो सम्भव नही, पर कुछ विचार अवश्य किया जाएगा। जिससे यह ज्ञात हो सके, कि गीतो के बीज कहाँ-कहाँ पर बिखरे पडे हैं।

---

१ "गीत पदस्वर तालावधानात्मक गान्धर्वमिति भरतादि शास्त्र-वचनात्।"

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

२ "गीत—गान्धर्व-कला-गान-विज्ञान मित्यर्थ

—समवायाङ्ग सूत्र ७२

जैनागमों में संगीत

आगम, जैन-दर्शन के विचारो का मूल-स्रोत है। आगमो मे अनेक स्थलो पर विविध दृष्टियो से गीतो का वर्णन उपलब्ध होता है। कही कला की दृष्टि से, कही विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से और कही विरक्ति के विवेचन के रूप मे। "जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति", "प्रश्न-व्याकरण", "जीवाभिगम", ज्ञाताधर्म कथा, "समवायाङ्ग" बृहत्कल्प, स्थानाङ्ग और अनुयोगद्वार आदि आगमो मे "गीत" शब्द का प्रयोग हुआ है। और कही कही तो प्रस्तुत शब्द पर विस्तार से विवेचन भी है।

भगवान् श्री ऋषभदेव ने प्रजा के हित के लिए, अभ्युदय के लिए, जन-जीवन मे, सुख और शान्ति का सचार करने के लिए, कलाओ का उपदेश प्रदान किया है।[१] उन कलाओ मे बहत्तर कलाएँ पुरुष के लिए थी।[२] और चौसठ कलाएं महिलाओ के लिए थी। उन बहत्तर कलाओ मे गीत पचम कला है और चौसठ कलाओ मे गीत ग्यारहवी कला है। जिसका उस युग मे स्त्री और पुरुष दोनो के लिए परिज्ञान करना आवश्यक माना जाता था। ज्ञाताधर्मकथा मे मेघकुमार का वर्णन करते हुए उसकी विशेषता का वर्णन किया है, कि वह गीत, रति, गाधर्व और नाट्य कलाओ मे कुशल था।[४]

स्थानाङ्ग मे काव्य के चार प्रकार बताए है। उसमे सगीत भी काव्य का एक भेद है।

गीत के प्रकार

समवायाङ्ग मे गीत-कला का उल्लेख करते हुए टीकाकार ने गीतो के तीन भेद किए है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—"भगवन्, स्वर कितने है ? गीत का प्रादुर्भाव कहाँ से होता है ? कहाँ उच्छ्वास ग्रहण किए जाते है, और कितने गीत के प्रकार होते है ?

---

[१] बावतरि कलाओ, चउसट्ठी महिलागुणे सिप्पसयं कम्माण तिन्नि वि पयाहिआए उवदिसइ ?

—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका सूत्र १११.

[२] लेहाइआओ गणि अप्पहाणाओ सउणस अपज्ज बसाणाओ बावतरि कलाओ उपदिदेश।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वक्षस्कार

[३] समवायांग ७२

[४] गीइरई गधव्व नट्ट कुसले —ज्ञाता. अ० आगमो० पृ० ३८

[५] चउव्विहे कव्वे प० त० गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेये—स्थानाग स० ३६९ आगामो० पृ० २८७

[६] गीत-कला, सा च निबन्धन-मार्गच्छलिमार्ग-भिन्नमार्ग-भेदात्त्रिधा।

—समवायाङ्ग ७२

आचार्य समाधान देता है। वत्स ! सात स्वर है, और वे नाभि से समुत्पन्न होते है। शब्द ही उसका मूल स्थान है। छद के प्रत्येक चरण मे उछ्वास ग्रहण किए जाते है, और गीत के तीन प्रकार है।[1]

शिष्य पुन प्रश्न करता है। भन्ते ! गीत के तीन प्रकार कौन से है ? इसका समाधान भी आगमकार देते है। "गीत प्रारम्भ मे मृदु होता है, मध्य मे तेज होता है, और अन्त मे पुन मद होता है।

छन्द

शिष्य जिज्ञासा करता है। प्रभो ! छन्द कितने प्रकार का होता है। आगमकार समाधान देते है, कि छद तीन प्रकार का है।

१ सम—जिस छद के चारो पद के अक्षरो की सख्या समान हो, वह सम कहलाता है।

२. अर्धसम—जिस छद के प्रथम और तृतीय, द्वितीय और चतुर्थ पद समान सख्या वाले हो, वह अर्धसम कहलाता है।

३ विषम—जिसमे किसी भी पद की सख्या एक-दूसरे से न मिलती हो, वह विषम कहलाता है।

कौन कैसे गाता है

शिष्य प्रश्न करता है, भगवन् ! क्या सभी व्यक्ति एक सदृश गाते है, या विभिन्न तार से गाते है। आगमकार समाधान करते है, कि सभी एक सदृश नही गाते है, किन्तु अलग-अलग तरीके से गाते है, स्थानाङ्ग के अनुसार श्यामा मधुर गाती है। काली खर-रुक्ष गाती है, गौरी चतुर गाती है, काणी अविलम्ब गाती है। अधा द्रुत गाता है, और पिंगल विस्वर गाता है।

वैदिक ग्रंथो मे संगीत

वैदिक मान्यताओ का मूल आधार वेद है। ऋग्वेद ससार का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। जब ऋग्वेद के मत्र स्वरालाप मे गाए जाते है, तब उसे "साम" कहते है। सामवेद के स्वतत्र मत्र बहुत

---

[1] (क) सत्त सराओ कओ संभवंति गेयस्य का भवति जोणी ?
कति समता उस्सासा कति वा गेयस्स आगारा ॥
—स्थानाङ्ग. ७, उद्देश ३, स्वरप्रकरण
मा. १६, सू० ५१३, आगमो० पृष्ठ ३९३

(ख) सत्त सराओ कओ वा, हवति गीयस्स का हवइ जोणी।
कउ समय ओसासा कउ गीयस्स आगारा ॥
—अनुयोगद्वार गा० १६

ही कम हैं। उसमे प्राय सभी मत्र ऋग्वेद के ही है। "साम" का अर्थ-गाना है। वैदिक मान्यतानुसार सगीत का प्रादुर्भाव इसी से हुआ है।

प्राचीनकाल मे गधर्व और किन्नर इस कला के मर्मज्ञ होते थे। अत "गधर्व वेद" के नाम से भी यह कला प्रसिद्ध है।

ऋग्वेद मे तीन प्रकार के वाद्यो का उल्लेख है। दुदुभी, वाद्य-बांसुरी और वीणा।[1] यजुर्वेद मे भी सगीत के प्रसग मे वीणा, बाँसुरी और शख बजाने का वर्णन मिलता है। अनेक वैदिक ग्रन्थो मे गीत के गाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। श्रीमद्भागवत मे व्यास ने गिर्वाण गिरा की सुप्रसिद्ध कवयित्री विज्जका ने, पातजल महाभाष्य ने, नैषध महाकाव्य मे श्रीहर्ष ने और रामचरितमानस मे तुलसीदास ने गीत गान का उल्लेख किया है।

वैदिकविज्ञो ने सगीत पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे हैं। सर्व प्रथम इसका शास्त्रीय वर्णन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र मे मिलता है। भामह का "अलकार-शास्त्र", मतग का "बृहद्देशी," कालीनाथ का "सगीत-रत्नाकार" राग-निबोध, सगीत-पारिजात और सगीत-दर्पण आदि मे इस कला का सुन्दर निरूपण है।

बौद्ध-साहित्य में संगीत

जैन और वैदिक साहित्य मे जिस प्रकार सगीत कला का वर्णन मिलता है, उसी प्रकार बौद्ध साहित्य मे भी।

"विनय पिटक" बौद्ध साहित्य का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे राजगृह की पहाडी पर होने वाले समाज का वर्णन है, जिसमे नृत्य और सगीत होते थे।[2]

गुहिल जातक मे बनारस का वर्णन है। उस समय बनारस सगीत-विद्या का केन्द्र था। जहाँ कभी-कभी वीणा-वादन और सगीत की प्रतियोगिता होती थी[3]।

मध्यकाल मे संगीत

मध्यकाल मे मानव आध्यात्मिकता से हटकर भौतिकता की ओर बढा, जिससे सगीत मे मोक्ष पुरुषार्थ शनै शनै कम होने लगा। बादशाही जमाने मे सगीत की बहुत उन्नति हुई है। लेनपूल के

---

[1] यजुर्वेद ३०।६-७, ११।१७।२०

[2] विनय-पिटक ३।५।२।६

[3] जातक २।५।२४८

मतानुसार "प्रत्येक मुगल शहजादे से यह आशा की जाती थी, कि वह सगीत मे प्रवीण हो।" बाबर सगीत का अत्यधिक प्रेमी था। हुमायू के दरबार मे प्रति सोमवार व बुधवार को सगीतज्ञ एकत्रित होते थे। १५३५ ई० मे जब उसने माण्डू पर विजय पताका फहराई, तब "बच्चू" नामक गायक पर इतना मुग्ध हुआ, कि उसे दरबार मे विशिष्ट स्थान दिया। सूरी वश अफगान सुलतान और आदिलशाह सूरी भी सगीत के प्रेमी थे। "अबुल फजल" के अनुसार अकबर के दरबार मे विभिन्न देशो के छत्तीस सगीताचार्य रहते थे, उनमे तानसेन प्रमुख था। जहागीर और शाहजहा ने भी सगीतज्ञो को आश्रय दिया था। औरगजेब सगीत का विरोधी था। उसने दिल्ली मे सगीत का जनाजा भी निकाला था। रोशन अख्तर मोहम्मदशाह ने पुन सगीत को बढावा दिया। उसी युग मे शौरी ने सगीत मे "ठप्पा" उपस्थित किया। बहादुरशाह "जफर" स्वय अच्छे सगीतज्ञ थे। ई० सन् १७७९–१८०४ मे जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के दरबार मे विशिष्ट सगीतज्ञो का सम्मेलन भी हुआ। और "सगीत-सागर" नामक पुस्तक भी लिखी गई। उसके पश्चात् राग-रागिणियो का सरलता से वर्णन किया गया। इस प्रकार मध्यकाल मे सगीत की उन्नति हुई, पर मुख्यत मनोरजन के रूप मे ही। यह ठीक है कि उस युग मे जैन सत कवियो ने और वैदिक भक्त-कवियो ने जो सगीत सिरजा, वह आध्यात्मिक रस से आप्लावित है। उनका तेजस्वी स्वर भौगोलिक सीमाओ को लाघकर सुदूर प्रान्तो मे भी गूँजा और जन-जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया और वह लोकप्रिय रहा।

आज का सगीत

वर्तमान भारतीय सगीत को प्राचीन सगीत का प्रतिनिधि नही कह सकते और न वह उसका परिष्कृत और विकसित रूप ही है। आज का कलाकार उसमे बिजली की तडप, सर्चलाइट की चकाचौध और सर्कस की कलाबाजी दिखाने मे तुला हुआ है, और उसी मे सगीत कला की सार्थकता अनुभव कर रहा है।

आज सिनेमा के गीतो का प्रचार प्रतिदिन बढ रहा है। उसका मुख्य उद्देश्य जनता का मनोरजन करना है, पर मनोरजन का स्तर दिन प्रतिदिन हीन व हीनतर होता जा रहा है। सिनेमा सगीत के इस तामसी प्रचार से आत्म-कल्याण की अमर-प्रेरणा प्रदान करने की अपेक्षा जिन विनाशकारी दुर्भावनाओ का सृजन किया है, वह किस विचार-शील विचारक से छिपा है। सिनेमा सगीत केवल दो पुरुषार्थों का प्रतिनिधित्व कर रहा है। विषय-वर्धन विचारो का प्राधान्य गीतो मे इतना बढ गया है, कि उसमे नैतिक-चेतना, जीवन की गहनतम समस्याओ का समाधान सद्भावना-सहिष्णुता और सदाचार का अभाव हो गया है। वस्तुत ये हलके गीत भारतीय सस्कृति और सभ्यता के लिए कलक है।

हिन्दी का भक्ति-साहित्य

डा० श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी
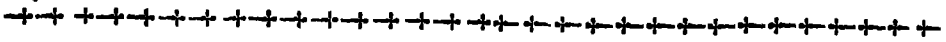
जिस समय हिन्दी का भक्ति-साहित्य बनना शुरू हुआ था, वह समय एक युग-सधि का काल था। प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड रहा था, जो उसकी जानी हुई नही थी। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नही था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे। और वे एक नई जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकडो जातियाँ और उपजातियाँ बनती जा रही थी, तथापि वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी-न किसी प्रकार चलती ही जा रही थी। अब सामने एक सुसगठित समाज था, जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक बार कोई भी व्यक्ति उसके विशेप धर्ममत को यदि स्वीकार करले, तो इस्लाम समस्त भेद-भाव को भूल जाता था। वह राजा से रक और ब्राह्मण से चाण्डाल तक सबको धर्मोपासना का समान अधिकार देने को राजी था। समाज का दण्डित व्यक्ति अब असहाय न था। इच्छा करते ही वह एक सुसगठित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति का आगमन हुआ, जो "बिजली की चमक के समान" विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैल गई। इसने दो रूपो मे अपने-आपको प्रकाशित किया। यही वे दो धाराएँ है, जिन्हे निर्गुणधारा और सगुणधारा नाम दे दिया गया है। इन दोनो साधनाओ ने दो पूर्ववर्ती धर्म-मतो को केन्द्र बनाकर ही अपने-आपको प्रकट किया। सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारो को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियो अर्थात् नाथपथी साधको के निर्गुण परब्रह्म को। पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सीचकर

साहित्य और कला

रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का, एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का, एक ने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को, एक ने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनो का ही मार्ग था।

सूखा ज्ञान दोनो को ही अप्रिय था, केवल बाह्याचार दोनो मे से किसी को सम्मत नही था, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनो को इष्ट था, अहेतुक भक्ति दोनो की काम्य थी, आत्म-समर्पण दोनो के साधन थे। भगवान् की लीला मे दोनो ही विश्वास करते थे। दोनो ही का अनुभव था कि भगवान् लीला के लिए ही इस जागतिक प्रपच को सम्हाले हुए है। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त भगवान् को अलग रखकर देखने मे रस पाते रहे, जब कि निर्गुण-भाव से भजन करने वाले भक्त अपने-आप मे रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

उन दिनो भारतवर्ष के शास्त्रज्ञ विद्वान निबध-रचना मे जुटे हुए थे। उन्होने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था—अर्थात् सब कुछ को मानकर, सबके प्रति आदर का भाव बनाए रखकर अपना रास्ता निकाल लेना। सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त लोग भी सम्पूर्ण रूप से इसी पुरानी परम्परा से प्राप्त मनोभाव के पोषक थे। वे समस्त शास्त्रो और मुनिजनो को अकुण्ठ चित्त से अपना नेता मानकर उनके वाक्यो की सगति प्रेम पक्ष मे लगाने लगे। इसके लिए उन्हे मामूली परिश्रम नही करना पडा। समस्त शास्त्रो के प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करते समय उन्हे नाना अधिकारियो और नाना भजन-शैलियो की आवश्यकता स्वीकार करनी पडी, नाना अवस्थाओ और अवसरो की कल्पना करनी पडी, और शास्त्र-ग्रन्थो के तारतम्य की भी कल्पना करनी पडी, सात्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के प्रस्तार-विस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तो और अनन्त प्रणाली के भजनो की कल्पना करनी पडी। सबको उन्होने उचित मर्यादा दी और यद्यपि अन्त तक चलकर उन्हे भागवत महापुराण को ही सर्व-प्रधान प्रमाण-ग्रन्थ मानना पडा था, पर अपने लम्बे इतिहास मे उन्होने कभी भी किसी शास्त्र के सम्बन्ध मे अवज्ञा या अवहेलना का भाव नही दिखाया। उनकी दृष्टि बराबर भगवान् के परम प्रेममय रूप और मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, पर उन्होने बडे धैर्य के साथ समस्त शास्त्रो की सगति लगाई। सगुण भाव के भक्तो की महिमा उनके असीम धैर्य और अध्यवसाय मे है, पर निर्गुण श्रेणी के भक्तो की महिमा उनके उत्कट साहस मे है। एक ने सब-कुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया, दूसरे ने सब कुछ छोड देने का असीम साहस।

लेकिन केवल भगवत्प्रेम या पाडित्य ही इस युग को रूप नही दे रहे थे। कम-से-कम हिन्दी के भक्ति-साहित्य को काव्य के नियमो और प्रभावो से अलग करके नही देखा जा सकता। अलकार-शास्त्र और काव्यगत रूढियो से उसे एकदम मुक्त नही कहा जा सकता। परन्तु फिर भी वही चीज नही है, जो सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के पूर्ववर्ती साहित्य है। विशेषताएँ बहुत है और हमे उन्हे सावधानी से जाँचना चाहिए।

यह स्मरण किया जा सकता है कि अलकार-शास्त्र मे देवादि-विषयक रति को भाव कहते है। जिन अलकारिको ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है, उसमे एक स्थायित्व होता है, जब कि किसी राजा या देवता-सम्बन्धी प्रेम मे भावावेश की प्रधानता होती है, वह अन्यान्य सचारी भावो की तरह बदलता रहता है। परन्तु यह बात ठीक नही कही जा सकती। भगवद्-विषयक प्रेम को इस विधान के द्वारा नही समझाया जा सकता। यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम मे निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें जगत के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती है। केवल जड जगत् से मानसिक सम्बन्ध को ही प्रधान मान लेना है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड-जगत् के सम्बन्ध की ही स्थायिता पर से रस का निरूपण होगा। क्यो कि अगर ऐसा न माना जाता, तो शात रस मे जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक सम्बन्ध है, उसे प्रधानता न देकर भगवद्विषयक प्रेम को प्रधानता दी जाती। जो लोग शात रस का स्थायी भाव निर्वेद को न कहकर शम को कहना चाहते है, वे वस्तुत इसी रास्ते से सोचते हैं।

इस प्रसग मे बारबार "जड जगत्" शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति-शास्त्रियो का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनो के मत से शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी जड प्रकृति के विकार है। इसीलिए चिद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से सम्बन्ध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर, भक्ति शास्त्रियो का दावा है कि अन्यान्य जडोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते है। इसीलिए भगवत्-प्रेम न तो इन्द्रिय-ग्राह्य है, न मनोगम्य, और न बुद्धिगाध्य। यह अनुमान द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है, तब अपना कुछ भी नही रह जाता। इन्द्रियो द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन, बुद्धि, स्वभाव द्वारा, वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण मे जाकर विश्रमित होता है। भागवत मे (११-२ ३६) इसीलिए कहा है।

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोमि यद्यत् सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

पर निर्गुण-भाव से भजन करने वाले भक्तो की वाणियो के अध्ययन के लिए शास्त्र बहुत कम सहायक है। अब तक इनके अध्ययन के लिए जो सामग्री व्यवहृत होती रही है, वह पर्याप्त नही है। हमे अभी तक ठीक-ठीक नही मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओ के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ था। इस बात के जानने का सबसे बडा साधन-लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तिया है, और उतने ही महत्वपूर्ण विषय है, भिन्न-भिन्न जातियो और सम्प्रदायो की रीति-नीति, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानो तथा आचारो की जानकारी। पर दुर्भाग्यवश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम है। भक्ति-साहित्य के पढने वाले पाठक को जो बात सबसे पहले आकृष्ट करती है—विशेषकर निर्गुण भक्ति के अध्येता को—वह यह है कि उन दिनो उत्तर के हठयोगियो और

दक्षिण के भक्तो मे मौलिक अन्तर था—एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा, एक के लिए पिड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिए ब्रह्माण्ड ही पिण्ड, एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर, एक प्रेम को दुर्बल समभता था दूसरा ज्ञान को कटोर, एक योगी था और दूसरा भक्त। इन दो धाराओ का अद्भुत मिलन ही निर्गुण-धारा का वह साहित्य है, जिसमे एक तरफ कभी न भुकने वाला अक्खडपन है और दूसरी तरफ घर-फूक-मस्ती वाला फक्कडपन। यह साहित्य अपने आप मे स्वतत्र नही है। नाथ-मार्ग की मध्यस्थता मे इसमें सहजयान और वज्रयान की तथा शैव और तत्रमत की अनेक साधनाएँ और चिन्ताएँ आ गई है, तथा दक्षिण के भक्ति-प्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वेदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएँ भी।

मध्ययुग के निर्गुण कवियो के साहित्य मे आने वाले सहज, शून्य निरञ्जन, नाद, विन्दु आदि बहुतेरे शब्द, जो इस साहित्य के मर्म स्थल के पहरेदार है, तब तब समभ मे नही आ सकते, जब तक पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन गभीरतापूर्वक न किया जाए। अपनी कबीर' नामक पुस्तक मे मैंने इन शब्दो के मनोरजक इतिहास की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया है। एक मनोरजक उदाहरण दे रहा हूँ। यह सभी को मालूम है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तो के साहित्य मे "खसम" शब्द की बार-बार चर्चा आती है। साधारणत इसका अर्थ पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता-जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देखकर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीरदास ने इस शब्द का अर्थ कुछ इस लहजे मे किया है कि उससे ध्वनि निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि मे निकृष्ट पति है। परन्तु पूर्ववर्ती साधको की पुस्तको मे यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है—"ख-सम-भाव" अर्थात् आकाश के समान भाव। समाधि की एक विशेष अवस्था को योगी लोग भी "गगनोपम" अवस्था कहा करते है। ख-सम और गगनोपम एक ही बात है। अवधूत गीता मे इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था को कहते है, जिसमे द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नही होते जो माया-प्रपच के ऊपर है, जो दम्भादि व्यापार से अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है, जो ज्ञान रूपी अमृतमान का परिणाम है। टीकाकारो ने "ख-सम" का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यभूता" किया है। इस साहित्य मे वह भावा भावविनिर्मुक्त अवस्था का वाचक हो गया है। निर्गुण साधको के साहित्य मे उसका अर्थ और भी बदल गया है। गगनोपमावस्था योगियो की दुर्लभ सहजावस्था के आसन से यहाँ नीचे उतर आई है। कबीरदास प्राणायाम प्रभृति शरीर-प्रयत्नो से साधित समाधि का बहुत आदर करते नही जान पडते। जो सहजावस्था शरीर-प्रयत्नो से साधी जाती है। वह ससीम है और शरीर के साथ-ही-साथ उसका विलय हो जाता है। यही कारण है कि कबीरदास इस प्रकार की ख-समावस्था को सामायिक आनन्द ही मानते थे। मूल वस्तु तो भक्ति है, जिसके प्राप्त होने पर भक्त को नाक-कान सूघने की जरूरत ही नही होती, कथा और मुद्रा धारण की आवश्यकता ही नही होती। वह 'सहजसमाधि" का अधिकारी होता है—सहजसमाधि जिसमे 'कहूँ सो नाम, सुनू सो सुमरन, जो कुछ करूँ, सो पूजा" ही है। अब तक पूर्ववर्ती साहित्य के साथ मिलाकर न देखने के कारण पण्डित लोग "खसम" शब्द के इस महान् अर्थ को भूलते

आए हैं। मैंने उल्लिखित "कबीर" पुस्तक मे विस्तृत भाव मे इस शब्द के पूर्वापर अर्थ का विचार किया है और इसलिए मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कबीरदास "खसम" शब्द का व्यवहार करते समय उसके अरबी अर्थ के अतिरिक्त भारतीय अर्थ को भी बराबर ध्यान मे रखते है। मेरा विश्वास है कि नेपाल और हिमालय की तराइयो मे जहाँ-जहाँ योग-मार्ग का प्रबल प्रचार था, वहाँ के लोक-गीत और लोक-कथानको मे ऐसे ऐसे अनेक रहस्यो का उद्घाटन हो सकता है।

परन्तु सयोग और सौभाग्यवश जो पुस्तकें हमारे हाथ मे आ गई हैं, उनको ही अध्ययन का प्रधान अवलम्ब नही माना जा सकता। पुस्तको मे लिखी बातो से हम समाज की एक विशेष प्रकार की चिन्ता-धारा का परिचय पा सकते हैं। इस कार्य को जो लोग हाथ मे लेंगे, उनमे प्रचुरकल्पना-शक्ति की आवश्यकता होगी। भारतीय समाज जैसा आज है, वैसा ही हमेशा नही था। नए-नए जन-समूह इस विशाल देश मे आते रहे हैं और अपने विचारो और आचारो का कुछ-न-कुछ प्रभाव छोडते गए है। पुरानी समाज व्यवस्था भी सदा एक-सी नही रही हैं। आज जो जातियाँ समाज के सबसे निचले स्तर पर विद्यमान हैं, वे सदा वही नही रही, और न वे सभी सदा ऊँचे स्तर मे ही रही हैं जो आज ऊँची हैं। इस विराट् जन-समुदाय का सामाजिक जीवन बहुत स्थितिशील है, फिर भी ऐसी धाराएँ इसमे एक दम कम नही है, जिन्होंने उसकी सतह को आलोडित-विलोडित किया है। एक ऐसा भी जमाना गया है, जब इस देश का बहुत बडा जन-समाज ब्राह्मण धर्म को नही मानता था। उसकी अपनी पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक भावना भी थी। मुसलमानो के आने से पहले ये जातियाँ हिन्दू नही कही जाती थी—कोई भी जाति तब हिन्दू नही कही जाती थी। मुसलमानो ने ही इस देश के रहने वालो को पहले-पहल हिन्दू नाम दिया। किसी अज्ञात सामाजिक दबाव के कारण इनमे की बहुत सी अल्पसख्यक अपौराणिक मत की जातियाँ या तो हिन्दू होने को बाध्य हुई या मुसलमान। इस युग की यह एक विशेष घटना है, जब प्रत्येक मानव-समूह को किसी न-किसी बडे कैम्प मे शरण लेने को बाध्य होना पडा। उत्तरी पजाब से लेकर बगाल की ढाका कमिश्नरी तक एक अर्द्धचन्द्राकृति भू भाग मे जुलाहो को देखकर रिजली साहब ने अपनी पुस्तक "पीपल्स आफ इण्डिया (पृ० १२६) मे लिखा है कि इन्होंने कभी समूह रूप मे मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीर, रज्जब आदि महापुरुष इसी वश के रत्न थे। वस्तुतः ही वे "न-हिन्दू-न-मुसलमान" थे। सहजपथी साहित्य के प्रकाशन ने एक बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। मुसलमान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल मे डोमीहाडी या हलखोर आदि जातिया काफी सम्पन्न और शक्तिशाली थी। मैं यह तो नही कहता कि ग्यारहवी शताब्दी के पहले वे ऊची जातिया मानी जाती थी, पर इतना कह सकता हूँ कि वे शक्तिशाली थी और दूसरो के मानने-न मानने की उपेक्षा कर सकती थी।

निर्गुण साहित्य के अध्येता को इन जातियो की लोकोक्तियाँ और क्रिया-कलाप जरूर जानने चाहिए। उसे यह नही भूलना चाहिए कि इस अध्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त मे सीमित है, न एक भाषा मे, न एक काल मे, न एक जाति मे, और न एक सम्प्रदाय मे ही। व्यक्तिगत रूप में इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने मे यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है, यद्यपि नाना कारणो

से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भाँति की परस्पर-विरोधी परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ से एक ओर हिंदुत्व निकल आता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ से एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहा से एक तरफ निर्गुण-भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण-साधना। उसी प्रशस्त चौरस्ते पर वे खडे थे। वे दोनो ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा मे गए हुए मार्गो के दोष-गुण उन्हे स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। वह साहित्य को अक्षय प्राणरस से आप्लावित कर सके थे। पर इसी को सब कुछ मानकर यदि हम चुप बैठ जाएँ, तो इसे भी ठीक-ठीक नही समझ सकेंगे। आचार्य श्री क्षितिमोहनसेन ने "ओझा अभिनन्दन-ग्रथमाला" मे एक लेख-द्वारा दिखाया है, कि मध्ययुग का भक्ति-साहित्य किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तो के साथ सम्बद्ध है।

साहित्य का इतिहास पुस्तको और ग्रन्थकारो के उद्भव और विलय की कहानी नही है। वह काल-स्रोत मे बहे आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा है। ग्रथकार और ग्रन्थ उस प्राण-धारा की ओर इशारा भर करते है। वे ही मुख्य नही है, मुख्य है, वह प्राण-धारा जो नाना परिस्थितियो से गुजरती हुई आज हमारे भीतर आम प्रकाश कर रही है। साहित्य के इतिहास से हम अपने-आपको ही पढते हैं, वही हमारे आनन्द का कारण होता है। यह प्राण-धारा अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओ से विच्छिन्न और स्वतन्त्र नही है। इसी रूप मे हमे भक्ति साहित्य को भी देखना है।

सत्यं. शिवं सुन्दरं

★

श्रीजैनेन्द्रकुमार
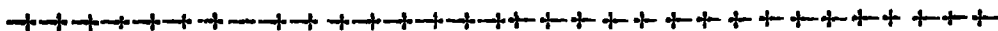
"सत्य शिव सुन्दर" यह पद आजकल बहुत लिखा-पढा जाता है। ठीक मालूम नही, कौन इसके जनक हैं। जिसकी वाणी मे यह स्फुरित हुआ, वह ऋषि ही होगे। उनकी अखड साधना के फल स्वरूप ही, भावोत्कर्ष की अवस्था मे, यह पद उनकी गिरा से उद्‌गीर्ण हुआ होगा।

लेकिन कौन-सा विस्मय कालातर मे सस्ता नही पड जाता ? यही हाल ऋषि-वाक्यो का होता है।

किन्तु महत्त्व को व्यक्त करने वाले पदो को सस्ते ढग से नही लेना चाहिए। ऐसा करने से अहित होगा। आग को जेब मे रखे फिरने मे खैर नही है। या तो जेब मे जो रख ली जाती है, वह आग ही नही है, या फिर उसमे कुछ भी चिनगारी है, तो जेब मे नही ठहरेगी। सबको जलाकर वह चिनगारी ही आग बनकर दमक उठेगी।

"सत्य शिव सुन्दर" पद का प्रचलन घिसे पैसे की न्याई किया जा रहा है। कुछ नही है तो इस पद को ले बढो। यह अनुचित है। यह असत्य है, अनीतिमूलक है। शब्द कीमती चीज है। आरम्भ मे वे मानव को बडी वेदना की कीमत मे प्राप्त हुए होगे। एक नए शब्द को बनाने मे जाने मानव-हृदय को कितनी तकलीफ झेलनी पडी होगी। उसी बहुमूल्य पदार्थ को एक परिश्रमी पिता के उडाऊ लडके की भाति जहाँ-तहाँ असावधानी से फैंकते चलना ठीक नही है। कृतघ्न ही ऐसा कर सकता है।

"सत्य शिव सुन्दर" पद से हम क्या पाए, क्या लें, यह समझने का प्रयास करना चाहिए। उस

शब्द की मारफत यदि हम कुछ नही लेते है और हमारे पास देने को भी कुछ नही है, तो उस पद के प्रयोग से बचा जा सकता है। ऐसी अवस्था मे बचना ही लाभकारी है।

महावाक्यो मे गुण होता है कि वे कभी अर्थ से खाली नही होते। कोई विद्वान् उनके पूरे अर्थ को खीच निकालकर उन शब्दो को खोखला नही बना सकता। उन वाक्यो मे आत्मानुभव की अटूट पूंजी भरी रहती है। जितना चाहो, उतना उनसे लिए जाओ, फिर भी मानो अर्थ उनमे लबालब भरा ही रहता है। असल मे वहाँ अर्थ उतना नही, जितना भाव होता है। वह भाव वहाँ इसलिए अक्षय है कि उसका सीधे आदि स्रोत से सम्बन्ध है। इसीलिए ऐसे वाक्यो मे जब कि यह खूबी है कि वे पडित के लिए भी दुष्प्राप्य हो, तब उनमे यह भी खूबी होती है कि वे अपडित के लिए भी, अपने मुताबिक, सुलभ बने रहे।

भावार्थ यह कि ऐसे महापदो का सार अपने सामर्थ्य जितना ही हम पा सकते है, या दे सकते है। यहाँ जो "सत्य शिव सुन्दर" इस पद के विवेचन का प्रयास है, उसको व्यक्तिगत आस्था-बुद्धि के परिणाम का द्योतक मानना चाहिए।

सत्य, शिव, सुन्दर—ये तीनो एक वजन के शब्द नही है। उनमे क्रम है, और अन्तर है।

सत्य-तत्व का उस शब्द से कोई स्वरूप सामने नही आता। सत्य सत्य है। कह दो, सत्य ईश्वर है। यह एक ही बात हुई। पर वह कुछ भी और नही है। वह निर्गुण है। वह सर्व-रूप है। सज्ञा भी है, भाव भी है।

सत् का भाव सत्य है। जो है, वह सत्य के कारण है, उसके लिए है। इस दृष्टि से असत्य की कुछ हस्ती ही नही। वह निरी मानव-कल्पना है। असत्, यानी जो नही है। जो नही है, उसके लिए यह "असत्" शब्द भी अधिक है। इसलिए असत्य शब्द मे निरा मनुष्य का आग्रह ही है, उसमे चरितार्थ कुछ भी नही है। आदमी ने काम चलाने के लिए वह शब्द खडा कर लिया है। यह कोरी अयथार्थता है।

इस तरह "सत्यता" शब्द भी यथार्थ नही है। वह शब्द चल पडा तो है, पर केवल इस बात को सिद्ध करता है कि मानव-भाषा अपूर्ण है।

जो है, वह सत्। जो उसको धारण कर रहा है, वह सत्य।

अब "शिव" और "सुन्दर" शब्दो की स्थिति ऐसी नही है। शिव गुण है, सुन्दर रूप है। ये दोनो सम्पूर्णतया मानवानुमान अथवा सवेदन द्वारा ग्राह्य तत्व है। ये रूप-गुणातीत नही है, रूप गुणात्मक है। ये यदि सज्ञा है, तो उनके भाव जुदा है,—शिव का शिवता और सुन्दर का सुन्दरता। और जब वे स्वयं मे भाव है तब उन्हे किसी अन्य तत्व की अपेक्षा है—जैसे 'यह शिव है"—"वह सुन्दर" है। "यह" या "वह" उनके होने के लिए जरूरी है। उनकी स्वतत्र सत्ता नही है।

ऊपर की बात शायद कुछ कठिन हो गई। मतलब यह कि सत्य निर्गुण है। शिव और सुन्दर उसी के ध्येय रूप है। सत्य ध्येय से भी परे है, वह अमूर्तिक है। शिव और सुन्दर उसका मूर्तिक स्वरूप है।

निर्गुण निराकार अन्तिम सचाई का नाम है, सत्य। वही तत्व मानव की उपासना मे सगुण, साकार, स्वरूपवान् बनकर शिव और सुन्दर हो जाता है।

सत्य की अपेक्षा शिव और सुन्दर साधना-पथ है, साध्य नही। वे प्रतीक है, प्रतिमा है। स्वय आराध्य नही है, आराध्य को मूर्तिमान् करते है।

शिव और सुन्दर की पूजा यदि अज्ञेय सत्य के प्रति आस्था उदित नही करती, तो वह अपने आप मे अह-पूजा है। वह पत्थर-पूजा है। वह मूर्ति-पूजा सच्ची भी नही है।

सच्ची मूर्ति-पूजा वह है, जहाँ पूजक के निकट मूर्ति तो सच्ची हो ही, पर उस मूर्ति की सचाई मूर्ति से अतीत भी हो।

इस निगाह से शिव और सुन्दर पडाव है, तीर्थ नही है, इष्ट-साधन है, इष्ट नही है। इष्ट भी कहलो, क्योकि इष्टदेव की राह मे है। पर यदि राह में नही है, तो वे अनिष्ट है।

लेकिन यहाँ हम कही गडबड मे पड गए मालूम होते है। जो सुन्दर है, वह क्या कभी अनिष्ट हो सकता है ? और शिव तो शिव है ही। वह अनिष्ट हो जाए, तो शिव ही क्या रहा ?

बात ठीक है। लेकिन शिव का शिवत्व-निर्णय मानव-बुद्धि पर स्थगित है। सुन्दर का सौदर्य-निरूपण भी मानव-भावना के अधीन है। मानव-बुद्धि अनेक रूप है। वह देश काल में बधी है। इसलिए ये दोनो। शिव, सुन्दर। अनिष्ट भी होते देखे जाते है। इतिहास मे ऐसा हुआ है, अब भी ऐसा हो रहा है।

सत्य स्वय-भव है, एक है, उसे आलबन की आवश्यकता नही है। सब विरोध उसमें लय हो जाता है। उसके भीतर द्वित्व के लिए स्थान नही है। वहाँ सब "न"-कार स्वीकार है।

शिव और सुन्दर को आलबन की अपेक्षा है। अशिव हो, तभी शिव सभव है। अशिव को पराजित करने वाला शिव। यही बात सुन्दर के साथ है। असुन्दर यदि हो ही नही, तो सुन्दर निरर्थक हो जाता है। दोनो बिना द्वित्व के सभव नही है।

सक्षेप मे हम यो कहे कि सत्य अनिर्वचनीय है। उस पर कोई चर्चा-आख्यान नही चल सकता। वह शुद्ध चैतन्य है। वह समग्र की अन्तरात्मा है।

और जिन पर बात-चीत चलती और चल सकती है, वे है शिव और सुन्दर। हमारी प्रवृत्तियो के व्यक्तिगत लक्ष्य ये ही दो है—शिव और सुन्दर।

सत्य. शिव सुन्दर

सत्य अनन्त, अकल्पनीय है। अत हम जो कुछ जान सकते, चाह सकते , हो सकते है, वह एकागी सत्य है। दूसरी दृष्टि से वह असत्य भी हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य वह नही।

इस स्वीकृति मे से व्यक्ति को एक अनिवार्य धर्म प्राप्त होता है। उसको कहो प्रेम। उसी को फिर अहिसा भी कहो, विनम्रता भी कहो यानी कि इस प्रसन्न स्वीकृति का अवकाश कि मेरा विरुद्ध भी सच है, उसका नाश नही चाहा जा सकता।

यदि मूल मे प्रेम की प्रेरणा नही है, तो शिव और सुन्दर की समस्त आराधना भ्रात है। सुन्दर और शिव की प्राप्ति के अर्थयात्रा करने की पहली शर्त यह है कि व्यक्ति-प्रेम-धर्म की दीक्षा पाए, उसका अभिषेक ले।

प्रेम कसौटी है। सुन्दर और शिव के प्रत्येक साधक को पहले उस पर कसा जायगा, जो खरा उतरेगा' वह खरा है। खोटा निकल जायगा, वह खोटा है।

प्रत्येक मानवी प्रवृत्ति को इस शर्त को पूरा करना होगा। जो करती है वह विधेय है, जो नही करती वह निषिद्ध है। सुन्दर के नाम पर अथवा शिव के नाम पर जो प्रवृत्ति प्रेम-विमुख वर्तन करेगी, वह मिथ्या होगी। दूसरे शब्दो मे वह अशिव होगी, असुन्दर होगी, चाहे तात्कालिक "शिव"-वादी और "सुन्दर" वादी कितना भी इससे इन्कार करें।

असल मे मानव की मूल वृत्तिया मुख्यत दो दिशाओ मे चलती है—एक वर्तमानता के रस की ओर, दूसरी गुह्य एव इहातीत की ओर। एक मे आनन्द की चाह है, दूसरे मे मगल की खोज है। एक का काम्य-देव सुन्दर है, दूसरी का आराध्य-देव शिव है।

यम-नियम, नीति-धर्म, योग-शोध, तपस्या-साधना, इनके मूल मे शिव की खोज है। इनकी आँख भविष्य पर है। साहित्य-सगीत, आराधना-अर्चना, कला-क्रीडा, इनमे सुन्दर के दर्शन की प्यास है। इनमे वर्तमान को थाह तक अपना लेने की स्पर्द्धा है।

आरम्भ से दोनो प्रवृत्तियो मे किंचित् विरोध-भाव दीखता आया है। शिव के ध्यान मे तात्कालिक सौन्दर्य को हेय समझा गया है। यही क्यो, उसे बाधा समझा गया है। उधर प्रत्यक्ष कमनीय को हाथ से छोडकर मगल-साधना की बहक मे बहना निरी मूर्खता और विडम्बना मान लिया गया है। तपस्या ने क्रीडा को गर्हित बताया है और उसी दृढ निश्चय के साथ लीला ने तपस्या को मनहूस करार दिया है। दोनो एक दूसरी को चुनौती देती और जीतती-हारती रही है।

यह तो स्पष्ट ही है कि शिव और सुन्दर मे सत्य की अपेक्षा कोई विरोध नही है। दोनो सत्य के दो पहलू है। दोनो एक दूसरे के पूरक है। पर अपने आप मे सिमटते ही दोनो-मे अनबन ही रहती है। और इस तरह भी वे दोनो एक प्रकार मे परस्पर सहायक होते है, क्योकि दोनो एक दूसरे के लिए अकुश, एक दूसरे की सीमा, मर्यादा बनते है।

मनुष्य और मनुष्य-समाज के मगल-पक्ष को प्रधानता देने वाले नीति-नियम जब-तब इतने निर्मम हो गए हैं कि जीवन उनसे व्यवस्था पाने और सवरने के बजाय कुचला जाने लगा है। तब इतिहास के नाना कालो मे, प्रत्युत प्रत्येक काल में, जीवन के आनन्द-पक्ष ने विद्रोह किया है और वह फूट उभरा है। इधर जब इस भोगानन्द के पक्ष मे अतिशयता हो आई है, तब फिर आवश्यकता हुई है कि नियम-कानून पुन बने और जीवन के उच्छृङ्खल अपव्यय को रोक कर सयत कर दे।

इस कथन को पुष्ट करने के लिए यहाँ इतिहास मे से प्रमाण देने की आवश्यकता नही है। सब देशो और सब कालो का इतिहास ऐसे उदाहरणो से भरा पडा है। स्वय व्यक्ति के जीवन मे इस तथ्य को प्रमाणित करने वाले अनेकानेक घटना-सयोग मिल जाएँगे। निश्चय ही वैसे प्रमाण प्रचुर परिमाण मे किसी भी शोधक को स्थापत्य-कला, वास्तु-कला, साहित्य-सगीत, मठ-मदिर दर्शन-सस्कृति और इधर समाज-नीति और राज-नीति के क्रमिक विकास के अध्ययन मे से जगह-जगह प्राप्त होगे।

व्यक्तित्व के निर्माण मे प्रवृत्ति का और निवृत्ति का समान भाग है। जहा शिव प्रधान है– वहा निवृत्ति प्रमुख हो जाती है। वहाँ वर्तमान को थोडा-बहुत कीमत मे स्वाहा करके भविष्य बनाया जाता है। जहा सुन्दर लक्ष्य है, वहाँ प्रवृत्ति मुख्य और निवृत्ति गौण हो जाती है। वहाँ भविष्य पर बेफिक्री की चादर डाल कर वर्तमान के रस को छक कर लिया जाता है। वहा ज्ञान लक्ष्य नही है, प्राप्ति भी लक्ष्य नही है, मग्नता और विस्मृति लक्ष्य है। वहाँ सुख की सभाल नही है, काम्य मे सब कामनाओ समेत अपने को खो देने की चाह है। पहली साधना है दूसरा समर्पण है।

आरभ मे जो सकेत मे कहा वही यहाँ स्पष्ट कहूं, कि आनन्दहीन साधना उतनी ही निरर्थक है, जितना साधना-हीन आनन्द निष्फल है। वह सुन्दर कैसा जो शिव भी नही है और शिव तो अनिवार्य सुन्दर है ही। इस दृष्टि से मुझे प्रतीत होता है कि सुन्दर को फिर शिवता का ध्यान रखना होगा। और शिव को सत्याभिमुख रहना होगा। शिव सत्याभिमुख है, तो वह सुन्दर तो है ही।

अर्थात्, जीवन मे सौदर्योन्मुख भावनाओ को नैतिक (शिवरूप) वृत्तियो के विरुद्ध होकर तनिक भी चलने का अधिकार नही है। शुद्ध नैतिक भावनाओ को खिझाती हुई, उन्हे कुचलती हुई जो वृत्तियाँ सुन्दर की लालसा मे लहकना चाहती है, वे छल कर विकृति को जन्म दिए विना रह नही सकती। वे कही न कही विकृत है। सुन्दर नीति-विरुद्ध नही है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे आवेशमयी वृत्तियाँ लपकना चाहती है, वह सुन्दर नही है। केवल छद्म है, विभास है, सुन्दर की मृगतृष्णिका है।

सामान्य बुद्धि की अपेक्षा से यह समझा जा सकता है कि शिव को तो हक है कि वह न दीखे, पर सुन्दर को तो मगल साधक होना ही चाहिए। जीवन का सयम-पक्ष किसी तरह भी जीवनानन्द के मध्य अनुपस्थित हुआ कि वह आनन्द विकारी हो जाता है।

अपने वर्तमान समाज की अपेक्षा मे देखें तो क्या दीखता है? स्वभावत लोग जिनका जीवन रंगीन है और रगीनी का लोलुप है, जिनके जीवन का प्रधान तत्त्व आनन्द और उपभोग है, जो स्वयं

सुन्दर रहते और सुन्दर की लालसा लिए रहते है, जो बेफिक्री के निरे वर्तमान मे रहते है और जिनमे शिवतत्व पर्याप्त नही है—ऐसे लोग समाज मे किस स्थान पर है ? क्या माननीय स्थान पर ?

दूसरी ओर वे, जिनमे जीवन का प्राण-पक्ष मूछित है, विधि-निषेधो से जिनका जीवन ऐसा जकडा है कि हिल नही सकता और तरह-तरह के आतरिक रोगो को जन्म दे रहा है, जो इतने सावधान है कि उनमे स्वाभाविकता और सजीवता ही नही रह जाती जो, पाबद है कि मानो जीते-जागते हैं ऐसे लोग भला किस अश तक कृतकार्य समझे जा सकते है ?

दोनो तरह के व्यक्ति सपूर्णता से दूर हैं। फिर भी यह देखा जा सकता है कि आत्मनियमन की प्रवृत्ति आनन्दोपभोग को प्रवृत्ति से किसी कदर ऊची ही है। जहाँ वह जीवन को दबाती है और उसे बढाने मे किसी प्रकार से सहायता नही देती, वहाँ वह अवश्य अयथार्थ है और प्राण-शक्ति को अधिकार है कि उसको चुनौती दे दे। फिर भी प्रत्येक सौन्दर्याभिमुख, आनन्दोत्सुक प्रवृत्ति का धर्म है कि वह नैतिक उद्देश्यो का अनुगमन करे।

अर्थात् वे कलात्मक प्रवृत्तिया जिनका लक्ष्य सुन्दर है, उन वृत्तियो के साथ समन्वय साधे ,जिनका लक्षय कल्याण-साधन है। दूसरे शब्दो मे कला-नीति-समन्वित हो। और इसके बाद कला और नीति दोनो ही धर्म-समन्वित हो। । धर्म का आशय यहाँ मतवाद नही—"धर्म" अर्थात् प्रेम-धर्म

"सत्य, शिव, सुन्दर" यह व्याख्यात्मक पद ही नही है, सजीव पद है। जीवन का लक्षण है, गति है। इस पद मे गति है। उद्‌बोधन है। सुन्दर की ओर, फिर सुन्दर से क्रमश शिव और सत्य की ओर प्रयाण करना होगा। यह ज्वलत भाव उसमे भरा है। यो भी कह सकते है कि सत्य को शिव-रूप मे उतारकर ध्यान मे लाओ, क्योकि यह सरल है। और शिव को भी सुन्दर रूप से निहारो, क्यो कि यह और भी सहज स्वाभाविक है। किन्तु सुन्दर की मर्यादा है, शिव की भी मर्यादा है। और दोनो ही की मर्यादा है— सत्य। सत्य मे सब-कुछ अपनी मर्यादाओ समेत मुक्त हो जाता है।
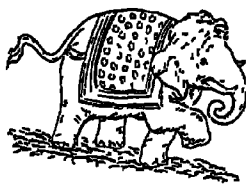
काव्य और संगीत

डा० रामानन्द तिवारी 'शास्त्री' एम० ए० पी० एच० डी० डी० फिल

काव्य और सगीत दोनो शब्द की कलाएँ है। इस नाते दोनो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए प्राचीनकाल से साहित्य और कला के इतिहास मे इन दोनो कलाओ का सयोग मिलता है। काव्य का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद मे मिलता है। उसमे काव्य और सगीत दोनो का सगम है। अर्थ और भाव की दृष्टि से उसमे काव्य की प्रचुरता है। दूसरी ओर लय और राग की दृष्टि से उसमे सगीत की विपुलता भी है। इसी प्रकार सूरदास के पदो और तुलसीदास की रामायण मे तथा निराला की गीतिका एव अन्य आधुनिक हिन्दी के गीतिकाव्य मे काव्य और सगीत का सगम मिलता है। ऋग्वेद से लेकर आधुनिक काल तक के लोकगीत भी काव्य और सगीत के इस सगम के उदाहरण है। भारतीय सस्कृति की परम्परा मे काव्य और सगीत का व्यापक समन्वय मिलता है। एक उत्कृष्ट रूप मे काव्य और सगीत का सगम हिन्दी साहित्य की अनुपम विशेषता है।

शब्द के सामान्य माध्यम मे व्यक्त होते हुए तथा इतिहास मे सयुक्त रूप मे मिलते हुए भी काव्य और सगीत की कलाओ मे भेद किया जा सकता है। इस भेद की दृष्टि से काव्य का सम्बन्ध अर्थ अथवा भाव से अधिक है तथा सगीत का सम्बन्ध स्वर से अधिक है। 'शब्द' अर्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम है। भावाभिव्यक्ति के क्रम मे शब्द की स्वर-योजना मे भी एक लय उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार प्रायः सभी काव्य मे सगीत का सम्पुट मिल जाता है। किन्तु सभी काव्य मे ऋग्वेद, सूरसागर और रामचरितमानस की भाँति भाव की प्रचुरता के साथ-साथ काव्य मे सगीत की विपुलता का सगम आवश्यक नही है। हिन्दी का आधुनिकतम काव्य जिसे 'नयी कविता' कहते है काव्य को सगीत के बधन से पूर्णत मुक्त करना

चाहता है। इसी प्रकार 'स्वर' शब्द का लययुक्त रूप है। इस लय की 'योजना' ही सगीत बन जाती है। 'लय' स्वर का उतार चढाव है। इस लय-पूर्ण स्वर के विशेष सस्थान 'राग' कहलाते है। शुद्ध सगीत की दृष्टि से सगीत की लयपूर्ण स्वर-योजना मे अर्थ अथवा भाव का सयोग आवश्यक नही है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'नयीकविता' के कवि भाव मे लय का योग आवश्यक नही मानते। वाद्य-सगीत मे इस अर्थ-रहित स्वर योजना मे शुद्ध सगीत का रूप देखा जा सकता है। कण्ठ के सगीत मे केवल आलाप और तान मे यह शुद्ध सगीत मिल सकता है।

वाद्य-सगीत तथा आलाप और तान के अतिरिक्त अन्य सामान्य सगीत मे प्राय अर्थ एव भाव का योग मिलता है। स्वर और भाव का योग सगीत का सामान्य रूप है। स्वर और भाव का यह सयोग इतना घनिष्ठ एव स्वाभाविक है कि केवल वाद्य-सगीत के अर्थ-रहित स्वर मे भी भाव का उद्गम होता है। तन्त्री-नाद की लय मे भी एक भाव उत्पन्न हो जाता है। इस सहज भाव के सश्लेष से ही वाद्य-सगीत मधुर एव लोक प्रिय बनता है। किन्तु इतना मानना होगा कि यह भाव वाद्य-सगीत के स्वरो का अभिप्रेत नहीं है, स्वर योजना के क्रम मे इसका सहज स्फोट होता है। साथ ही यह भी मानना होगा कि अर्थ और भाव के बिना सगीत कम लोकप्रिय होता है। इसीलिए सार्थक सगीत वाद्य-सगीत की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय रहा है।

अर्थ और भाव से रहित सगीत की कल्पना वाद्य-सगीत के रूप मे की जा सकती है। किन्तु कण्ठ के सगीत मे आलाप एव तान के अतिरिक्त अर्थ-रहित सगीत की कल्पना करना कठिन है। आलाप और तान अपने आप मे पूर्ण सगीत का निर्माण नही करते, वे कण्ठ सगीत के अग मात्र है। उस कण्ठ सगीत का मुख्य-रूप अर्थ-सहित शब्द से ही बनता है। इतना अवश्य है कि सगीत मे अर्थवान् शब्द की अपेक्षा स्वर-विधान की प्रधानता होती है। काव्य की तुलना मे सगीत मे स्वर-विधान ही प्रधान होता है। स्वर-योजना की विपुलता ही सगीत का मुख्य लक्षण है। शास्त्रीय सगीत मे अल्प शब्द और अल्प अर्थ के आधार मे विपुल स्वर-योजना की साधना होती है। ख्याल और ठुमरी मे एक पक्ति ही विपुल स्वर-योजना का पर्याप्त आधार बन जाती है। सामान्यजन सगीत के स्वर-विधानो की जटिलताओ से परिचित न होने के कारण इस शास्त्रीय सगीत का आनन्द नही ले पाते किसी भी कला का आस्वादन उस कला के विधान के ज्ञान पर निभर है। शास्त्रीय सगीत के आलोचक उसकी आलोचना कला की दृष्टि से करते है। सिनेमा का सगीत स्वर-योजना और सार्थक शब्दो के समान अनुपात के कारण अधिक लोकप्रिय होता है। सामान्य जन सगीत की स्वर योजना की अपेक्षा अर्थ और भाव से अधिक परिचित होते है। अर्थ ही भाव मे अल्प स्वर-योजना का विधान उन्हे सह्य और प्रिय प्रतीत होता है।

जिस प्रकार अर्थ और भाव से रहित कण्ठ-सगीत की कल्पना कठिन है, उसी प्रकार सगीत से रहित काव्य की कल्पना भी कठिन है। स्वर मे सार्थक शब्द का योग अनिवार्य नही है। वाद्यसगीत मे दोनो पृथक हो जाते है। इसी प्रकार सार्थक शब्द मे स्वर-योजना का सन्निधान भी आवश्यक नही है।

गद्य मे वे पृथक् किए जा सकते हैं यदि सस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार गद्य मे भी काव्य की कल्पना की जा सके तो काव्य और सगीत को भी पृथक् करना सम्भव हो मकेगा। सस्कृत साहित्य मे 'कादम्वरी इस गद्य-मय काव्य का एक उत्तम उदाहरण है। आधुनिक 'नयी कविता' मे भी सगीत से काव्य के पृथक्करण का प्रयत्न किया जा रहा है।

विचारणीय वात यह है कि क्या सगीत से काव्य का पृथक्करण सभव और व्यावहारिक है। भारतीय शब्द-दर्शन इस रहस्य को समझने मे हमारी सहायता कर सकता है। भारतीय शब्द-दर्शन मुखर शब्द के अतिरिक्त शब्द के अन्य तीन आन्तरिक रूप मानता है। ये शब्द के मानसिक तथा आत्मिक रूप ही हो मकते हैं। शब्द के इन रूपो की भूमिका मे अर्थ और भाव की लय की सगति हो सकती, जिसे कुछ नये कवियो का दुराग्रह एव उपहास का विपय ममझा जाता है। अर्थ और भाव की यह लय सूक्ष्म होती है। यह लय काव्य के अर्थ और भाव की अभिव्यक्ति की आन्तरिक भगिमा मे उत्पन्न होती है। यही लय वैज्ञानिक गद्य को काव्यमय गद्य से पृथक् करती है। इम आन्तरिक लय का मुखर शब्द की सगीतमय लय मे भी स्फोट होता है। इतना अवश्य है यह सगीत की लय गद्यमय काव्य मे अधिक स्फुट नही होती। छन्द अयवा छन्दहीन काव्य मे अविक स्फुट होने पर ही वह प्रकट एव सुग्राह्य होती है। आधुनिक 'नयी कविता' उसे अल्पतम परिमाण मे ग्रहण करने का प्रयत्नकर रही है। ऐसी स्थिति मे आन्तरिक लय को स्वीकार करने पर आत्मा के आन्तरिक मगीत की लय मे अनुप्राणित मुखर शब्द को ही काव्य की भावी परिभापा कह सकते है।

मुखर सगीत की लय को काव्य का आवश्यक लक्षण न मानकर ही काव्य-शास्त्र मे शब्द और अर्थ के 'साहित्य' को काव्य का लक्षण कहा गया है। इम प्राचीन परिभापा मे स्वर और लय का कही मकेत नही है। शब्द के साथ अर्थ के अविभाज्य सम्बन्ध को ही काव्य का पर्याप्त लक्षण माना गया है। शब्द ही अर्थ का माध्यम है किन्तु काव्य-शास्त्र मे अर्थ को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द भी अर्थ की दृष्टि से ही काव्य वनता है। अर्थ का, स्वरूप और उसकी अभिव्यक्ति की भगिमा ही काव्य के दो विघायक तत्त्व है। केवल 'अर्थ' विज्ञान और दर्शन वन जाता है। शब्द की विशेप अभिव्यक्ति की विशेप भगिमा ही उसे काव्य वनाती है। इस अभिव्यक्ति की भगिमा के साथ अभिन्न भाव से ही वह शब्द 'काव्य' का रूप ग्रहण करता है। यही 'शब्दार्थौ सहितौ' की प्राचीन परिभाषा का मर्म है।

काव्य की इस अभिव्यक्ति का माध्यम सार्थक शब्द है, जो सगीत के स्वर से भिन्न है। काव्य की प्राचीन परिभापाओ और आधुनिकतम मान्यताओ के अनुसार सगीत से काव्य का कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। यह प्राचीन और नवीनमत का अद्भुत ऐक्य है। विवेक की दृष्टि से शब्द के सूक्ष्म रूपो की आन्तरिक लय को सगीत मानने पर ही काव्य के साथ सगीत का सम्बन्ध आवश्यक माना जा सकता है। किन्तु यह सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्म, सदिग्ध और विवादास्पद है। अत अर्थ की अभिव्यक्ति की

भगिमा को ही काव्य का मूल स्वरूप मानना उचित है। शब्द इस अभिव्यक्ति का आवश्यक माध्यम है, किन्तु उस शब्द के विधान मे स्वर-लय की योजना आवश्यक नही है। सस्कृत के गद्य-काव्य मे यह स्वर योजना स्फुट रूप मे नही दिखाई देती। एक सूक्ष्म और अलक्ष्य लय इस गद्य काव्य मे भी इसी प्रकार आधुनिक 'नयी कविता' मे भी यदि मिल जाती है, तो यह शब्द और स्वर के मौलिक सबध के कारण है। सहोदर होने के कारण उनमे कुछ समान धर्म होना स्वाभाविक है।

फिर भी गद्य काव्य और 'नयी कविता' मे सगीत का अल्पतम योग है, यह स्पष्ट है। इसके विपरीत वेद के मत्रो और सूर के पदो मे सगीत का अधिकतम सयोग है। सूर के पद सगीत के रागो के उदाहरण बन गए है और सगीत मे उनका आदर के साथ उपयोग किया गया है। इन पदो में काव्य की दृष्टि से अर्थ और भाव की प्रचुरता भी है तथा साथ ही साथ उनकी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य भी विपुल है। इस दृष्टि से सूर के पद एक ओर उत्तम काव्य के उदाहरण है तथा दूसरी ओर उत्तम सगीत के उदाहरण है। उनमे काव्य और सगीत का सर्वोत्तम सगम है।

परिभाषा की दृष्टि से सार्थक शब्द काव्य का माध्यम है और अर्थ रहित स्वर-योजना सगीत का लक्षण है। काव्य मे सगीत की स्वर-योजना आवश्यक नही है और सगीत मे अर्थ का सन्निधान आवश्यक नही है, किन्तु सहोदर होने के कारण सामान्यत दोनो का सगम प्राय हो जाता है। यह सगम स्वाभाविक भी है। सहोदर-भाव के समान यह सगम दोनो कलाओ के सौन्दर्य का वर्धक भी है। सहोदर बन्धुओ के समान दोनो कलाएँ स्वतन्त्र है। दोनो का समान महत्व है। दोनो मे कोई भी आवश्यक रूप से किसी की आश्रित नही है। सहोदर बधु भी अपने व्यक्तित्व का उत्कर्ष करके अपने स्वरूप मे भी अधिकतम गौरव प्राप्त कर सकते है। इसी प्रकार सगीत-रहित काव्य और अर्थ-रहित सगीत भी कला की उत्कृष्ट सीमाओ का स्पर्श कर सकते है। 'कादम्बरी' और वाद्य-सगीत के इसके उत्तम उदाहरण है।

किन्तु अधिकाश काव्य मे सगीत का तथा अधिकाश सगीत मे काव्य का सयोग मिलता है और यह सयोग दोनो को सुन्दर बनाता है। हम इसे सुवर्ण और सुगन्ध का सयोग कह सकते है। सहोदर बन्धुओ के सयोग के समान ही यह सौन्दर्य का सवर्धन करता है। इतिहास मे प्राप्त इनका सम्मिलन प्राय विषम परिमाणो मे ही हुआ है। अधिकाश सगीत मे शब्दो का प्रयोग अल्प ही होता है। सगीत की दृष्टि से उसमे स्वर-योजना की ही प्रधानता रहती है। सगीत की कला का मुख्य कौशल इस स्वर योजना मे ही रहता है। अर्थ और भाव से युक्त शब्द उसके सहकारी है। इसी प्रकार काव्य मे अर्थ और भाव की अभिव्यक्ति प्रधान होती है। सगीत का स्वर-क्रम गौण रहता है। एक के क्षेत्र मे दूसरे को सहकारी मानना ही उचित है।

काव्य और सगीत के इस गुणप्रधान सम्बन्ध का अभिप्राय यह नही है कि एक मे दूसरे का सयोग अल्प मात्रा मे ही हो सकता है। कलाओ मे मात्रा की सीमा निश्चित करना, निश्चित करने वाले की सामर्थ्य अथवा कल्पना की सीमा है। सूर के पदो की भाँति अधिकतम एव उत्कृष्टतम काव्य का सयोग

अधिकतम एव उत्कृष्टतम मगीत के साथ सम्भव हो सकता है। जो सामान्य साधक एक ही कला मे अधिक प्रवीण है, वे एक कला की प्रधानता से सन्तोष कर सकते है। काव्य और सगीत के सयोग मे दोनो एक दूसरे के सौन्दर्य का सवर्धन करते है। इसे हम तन्त्रो की भाषा से 'साम्य' और व्यवहार मे परस्पर सम्भावन कह सकते हैं

साहित्य और कला के व्यवहार मे प्राय उत्कृष्ट क्षितिजो पर काव्य और सगीत का सगम कठिन होता है। इसका कारण उन कलाओ की सीमा नही, वरन् कलाकारो की सामर्थ्य की सीमा तथा इतिहास मे इन कलाओ के विशेष रूपो का आग्रह है। इन कलाओ के सयुक्त और पृथक्-पृथक् रूप तथा भिन्न-भिन्न परिमाणो मे इनका सयोग भी कलाओ के सम्पूर्ण सौन्दर्य को विविधता के द्वारा बढाते है, अत शुद्ध और सयुक्त रूपो में तथा सयोग के सभी अनुपातो में ये कलाएँ स्पृहणीय हैं। सयोग और पृथक्करण दोनो का ही आग्रह अनुचित है। साहित्य और कला के इतिहास तथा व्यवहार मे उसके अनुपातो मे इन कलाओ के सयोग मिलते हैं। इनकी अनुपातो की विविधता जीवन के कलात्मक सौन्दर्य को बढाती है। दृश्य रूप की कलाओ में यह सगम अधिक सम्भव एव प्रचलित नही हो सका है। काव्य और सगीत का सगम कला का सौभाग्य है। उसका अखड रहना सास्कृतिक दृष्टि से मगलमय है।

साधना की दृष्टि व्यक्तिगत होते हुए भी काव्य और सगीत की कलाएँ व्यवहार की दृष्टि से सामाजिक है। शब्द का स्वरूप ही सामाजिक है, सम्प्रेषण की आवश्यकता के कारण ही मनुष्य के इतिहास मे शब्द का विकास हुआ है। कवि और गायक दोनो ही समाज मे अपनी कला के सत्कार से प्रसन्न होते है। सामाजिक होने के कारण साधना और रचना के साथ-साथ आस्वादन की अपेक्षाओ ने भी इन कलाओ के रूप को प्रभावित किया है। सगीत और काव्य दोनो का कुछ सहज बोध सामान्यजनो में भी होता है। किन्तु दोनो का अधिक विकास साधना की अपेक्षा करता है। काव्य के अधिक उत्कृष्ट भावो के ग्रहण की योग्यता तो शास्त्रो के सस्कारो तथा जीवन के अनुभवो से भी प्राप्त होती है, किन्तु सगीत के उत्कृष्ट रूपो के ग्रहण की क्षमता साधना से ही प्राप्त हो सकती है। सगीत में रचना और आस्वादन दोनो साधना मे प्राप्त होते है। काव्य के सम्बन्ध मे ऐसा नही है। इसीलिए काव्य मे अल्प परिमाण मे ही सगीत का सगम हो सका है। सगीत के उत्कृष्ट रूप अल्प शब्द के आधार में विपुल स्वर योजना से ही रचे जाते है। सूर के काव्य के समान उत्कृष्ट काव्य और उत्कृष्ट सगीत के सगम की रचना और उसका आस्वादन दोनो ही दुर्लभ है। सगीत के साधारण रूपो का अल्प परिमाण मे ही साधारण जन आस्वादन कर सकते है। सगीत के उत्कृष्ट रूपो का आस्वादन उनके लिए कठिन है। शास्त्रीय सगीत की अलोक-प्रियता का ही कारण है। काव्य के भावो के आस्वादन की अधिक क्षमता साधारण जनो मे होती है। अत सगीत की अपेक्षा काव्य का आस्वादन अधिक लोकप्रिय रहा है। साधारण-जनो मे सगीत के आस्वादन की अल्प क्षमता होती है। अत सगीत का सम्पुट काव्य को अधिक ग्राह्य बनाता रहा है। सगीत रहित काव्य का भावी सम्मान काव्य रहित वाद्य सगीत के सम्मान से भी अधिक सदिग्ध है।

पूज्य रत्नचन्द्र जी की काव्य-साधना

डा० नरेन्द्र भानावत एम० ए० पी-एच० डी०
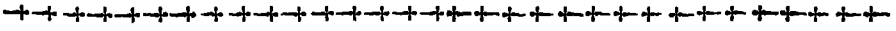
जैन-साहित्य विविध और विशाल है। जैन कवियो ने हिन्दी काव्य-धारा को विपय की व्यापकता और गरिमा ही नही दी, रूप की विविधता और शिल्प की सहजता भी दी। हिन्दी की रीतिकालीन कविता (सवत् १७०० से १९००) जहाँ वासना के क्षार जल मे खोकर अपने उपास्य को साधारण लौकिक पुरुप के रूप मे चित्रित कर रही थी, वहाँ अपने अन्तराल मे भक्ति की प्रशान्त-धारा को समेटे जैन काव्य धारा सामान्य मानव को आत्म-साधना के वल पर-परमात्म-पद पर प्रतिष्ठित कर रही थी। पूज्य श्री रत्न चन्द्र जी इसी काव्य धारा के बीच उठने वाले एक आवर्त्त थे, जो अपने आप मे निर्मल और निर्विकार ही नही, तेजस्वी और कान्तिमान भी थे। उन्नीसवी शती के हिन्दी कवियो मे इनका विशिष्ट स्थान है। अपनी अध्यात्म भावना, तप-साधना और मधुर भक्ति की निश्छल व्यजना के कारण ये तत्कालीन कवियो—पद्माकर, ग्वाल, ठाकुर, दीनदयाल गिरि आदि—से अलग जान पडते है।

जीवन-वृत्त

पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी का जन्म वि० स० १८५० भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी को सिघाणा शहर के समीप तातीजा (जयपुर) नामक गाँव मे हुआ। अपने पिता गुर्जर क्षत्रिय कुल भूषण चौधरी गगाराम जी से इन्हे विरासत मे क्षत्रियोचित वीरत्व मिला, जो साधनाकाल मे कठोर परीषहो के आगे भी स्वाभाविक दीप्ति से जगमगाता रहा। माता सरूपादेवी ने वालक रतनचन्द्र को सच्चे रत्न की तरह परख-परखकर बडा किया पर इस 'रत्न' को अपना प्रकाश अपने मे ही बाधकर रखना अच्छा नही लगा। यही कारण

था कि बारह वर्ष की अवस्था में ही वह लोक-कल्याण की भावना से साधना के पथ पर बढ चला।[1] वि० सं० १८६२ भाद्रपद शुक्ला छठ को नारनौल (पटियाला) में परम तपस्वी एवं त्यागी मुनि श्री हरजीमल के हाथों इनकी विधिवत् दीक्षा हुई। दीक्षा होने के बाद पंडित रत्न श्री लक्ष्मीचन्द्र जी महाराज के सान्निध्य में रहकर लगातार १८ वर्षों तक इन्होंने न्याय, व्याकरण, काव्य, दर्शन, ज्योतिष, छन्द, अलंकार, रामायण, महाभारत, पुराण, उपनिषद् आदि जैन-अजैन साहित्य का गहन अध्ययन किया।

साधना काल के ६० वर्षों में ये राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि परिचित-अपरिचित क्षेत्रों में घूम-घूम कर धर्म प्रचार करते रहे। इनके शिष्यों में मुनि श्री कंवरसैनजी, विनयचन्द जी, चतुरभुज जी आदि प्रमुख हैं। ये कवि, तपस्वी और साधक ही नहीं थे, अपने विषय के प्रकांड पंडित, प्रबुद्ध विचारक और प्रचण्ड शास्त्रार्थी भी थे। यह शास्त्रार्थ केवल जैन मुनियों और पंडितों के साथ ही नहीं हुआ वरन् अंग्रेज पादरी मिस्टर जैकब तक से हुआ। इनकी विषय-प्रतिपादन की शैली आकर्षक और रोचक ही नहीं थी, प्रभावक और गूढ भी थी। वि० सं० १९२१ वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को चार दिन के अनशन (संथारा) से जैन भवन लोहामंडी आगरा में इनका स्वर्गवास हुआ।

पूज्य श्री रतनचन्द्र जी का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। स्वाध्याय, प्रवचन और साहित्य-सृजन यही तो इनके जीवन का व्यसन था। शरीर से दुर्बल, स्वल्प वस्त्र-पात्रादि का धारक यह रतनमुनि अपने मनोबल से कितना दृढ और मजबूत था, इसका अनुमान तो इसी से लगाया जा सकता है कि वह सामान्यतः प्रतिदिन २४ घंटों में से २१ घंटे स्वाध्याय, ध्यान आदि में लगाता और रात्रि में केवल तीन घंटे नींद लेता।

काव्य-रचना

पूज्य रत्न जी पहले साधक, शास्त्रज्ञ और और बाद में कवि थे। कविता उनका व्यवसाय नहीं था। जब कभी तरंग में आकर भव्य जीवों को हृदय के माध्यम से संसार की स्थिति, जीव और ब्रह्म के स्वरूप, निर्मल आचार-विचार आदि की झाँकी बताते तो सहज कवित्व का स्फुरण होता। यह सहज कवित्व विभिन्न हस्तलिखित पत्रों में लिपिबद्ध है। मुनि श्री श्रीचन्द जी ने नमूने के रूप में 'रत्न-ज्योति

---

[1] कहा जाता है कि जब इनकी ११-१२ वर्ष की अवस्था थी, तब एक दिन ये सुन्दर बैलों की जोडी लेकर अपने घर से जंगल में अपने खेत को जा रहे थे। रास्ते में अचानक एक भूखे शेर ने इन पर आक्रमण किया। वृक्ष पर चढकर इन्होंने तो अपने प्राण बचा लिए पर एक बैल का शिकार हुआ। इस भयानक दृश्य ने बालक रत्नचन्द्र को संसार से विरक्त कर दिया और मुनि श्री हरजीमल जी के उपदेशों ने तो उसे इतना अधिक प्रभावित किया कि वह साधु बने बिना न रहा।

भाग १, २ शीर्षक से उसका थोडा अश सम्पादित कर आगरा से प्रकाशित कराया है।[1] इसी प्रकाशित अश के आधार पर हम आलोच्य कवि की काव्य कला का मूल्याकन करने का प्रयत्न करेंगे।

वर्ण्य-विषय

पूज्य श्री की कविता का वर्ण्य विषय प्रधानत भक्ति और नीति रहा है। भक्ति रूप मे कवि ने अपने उपास्य के प्रति जीवात्मा की विवशता, निराश्रयता, अज्ञानता और मलिनता का बारबार उल्लेख कर आत्म-निवेदना की है तथा स्तवन किया है, उपास्य की पतित-पावनता का, भक्त-वत्सलता का, भव तारण-क्षमता का। उपास्य देवता के रूप मे कवि ने जैन-तीर्थंकरो को अपनाया है। इन तीर्थंकरो मे आदिनाथ, शातिनाथ और नेमिनाथ कवि को विशेष प्रिय रहे है। तीर्थंकरो के साथ-साथ कवि की श्रद्धा भक्ति तीर्थ की ओर भी उमडी है। तीर्थ मे उसने साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविक का कीर्तन-कथन एव व्रत नियमादि का स्तवन किया है। अन्य अन्य आत्माओ में सगर-चक्रवर्ती, धन्ना अणगार, इलायची कुवर तथा राजुल अदि सतियो को अपना काव्य-विपय वनाया है।

नीतिरूप मे कवि ने आध्यात्मिक उपदेशना दी है। इस उपदेशना में एक ओर तात्त्विक सिद्धान्तो का प्रतिपादन है, तो दूसरी ओर लोक व्यवहार की वातो का विवेचन। तात्त्विक सिद्धान्तो मे धर्म, सम्यक्त्व, भावना, मोक्ष, पाप, पुण्य आदि का स्वरूप वर्णन है। लोक-व्यवहार की वातो में मानव-भव की दुर्लभता, जीवन की नश्वरता, सगति की प्रभावना, क्रियाकाण्ड की निरर्थकता आदि का कथन है। वर्ण्य विषय को रेखा-चित्र द्वारा इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—
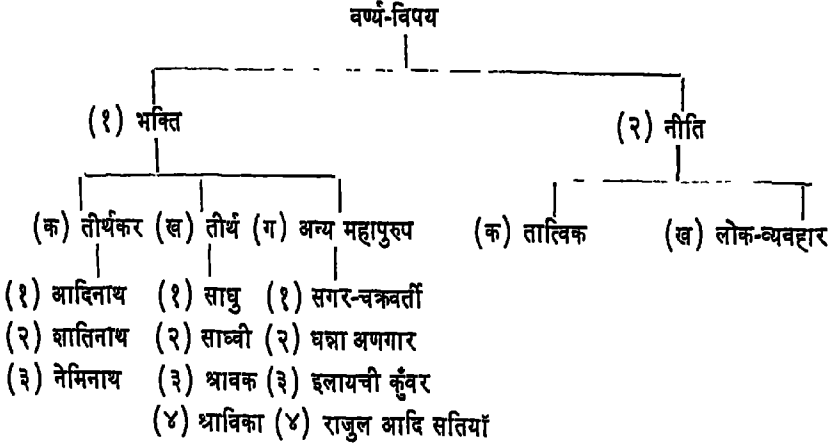
[1] प्रकाशित कविता सग्रह के अतिरिक्त मुनि श्रीचन्दजी ने पूज्य रत्नचन्दजी द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थो का और उल्लेख किया है—

मोक्षमार्गप्रकाश, प्रश्नोत्तर माला, बडी नवतत्त्व, बडा गुणठाणाद्वार, दिगम्बर मतचर्चा, तेरह पथ मत चर्चा, चमत्कार चिन्तामणि जोतिष, तत्त्वानुबोध आदि।

भाव-व्यंजना

जैन कवियो की दृष्टि शरीर की अपेक्षा आत्मा की ओर, राग की अपेक्षा विराग की ओर तथा प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति की ओर अधिक रही है। यही कारण है कि जैन-काव्य की वाटिका मे कामना को उभाडने वाले वासना के रगीन चित्र नही मिलेंगे वरन् मिलेंगे भावना को पवित्र बनाने वाले सुन्दर, सात्विक पूजा के फूल। पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी की कविता आरभ से अत तक इसी शान्त रस मे सिक्त है। यह सही है कि कवि ने कुछेक कथानक ऐसे भी चुने हैं, जिनमे शृगार रस की धारा प्रवाहित करके उसका शान्त रस मे पर्यवसान किया जा सकता था, पर कवि को शायद इसके लिए अवकाश नही मिला। उसने "चौढालियो" के रूप मे जो वृत्त अपनाया है, वह रस-परिपाक की कोटि तक नही पहुँच पाया है। केवल अभिधेय अर्थ मे अपनी बात कह कर उद्देश्य (धार्मिक) की पूर्ति भर कर सका है।

पर भक्ति-भावना को लेकर तीर्थंकरो के चरणो मे जीव की ओर से जो उद्‌गार प्रकट हुए हैं उनसे भगवान की महानता का ही पता नही लगता वरन् जीव की आकुल तडफन और दैन्य-भावना की भी थाह मिलती है। आदिनाथ की स्तुति करता हुआ कवि कहता है--

"आदि जिन अर्ज सुणो म्हारी।
रागद्वष और मोह मिथ्या ठग, गल फांसी डारी।
बाजीगर के मरकट ज्यू, स्वाग घना धारी॥
भूल्यो निज-गुण पर-गुण राच्यो, छलबल अधिकारी।
अपनी भूल मे आपही उलझो ज्यू मकडी जारी॥

कवि कितना विवश है, लाचार है, निस्सहाय है, उसे कौन इस ससार सागर मे पार उतारे? कौन उसकी आत्मा को शान्ति दे? कौन उसकी सुषुप्त आत्म-शक्ति को जागृत करे? उसे एकदम शान्तिनाथ भगवान का ध्यान आता है---

"शान्ति करता श्री शान्ति जिन सोलमा,
मन हर्ष धर चरण जुग शीश नाऊँ।
जन्म अरू मरण दुख दूर करवा भणी,
एक जिन राज की शरण आऊँ॥"

क्योकि यही शातिनाथ तो शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सब कुछ है। सगुण-निर्गुण से परे यही तो अलख परमात्मा है। यही तो विश्व-लोचन और जगदाधार है---

ब्रह्मज्ञानी चिदानन्द शिवरूप तू,
विष्णु जगदीश तू अमर नामी।

अमल मे अचल निराकार ज्योतीश तुम,
अलख परमात्मा परम स्वामी ।

जगत लोचन तुम ही जगत आधार'
परम कृपाल दया-सिन्धु स्वामी ।

भगत वत्सल भव्य जीव तारक तुम्हीं,
निज रूप गुण रमण शिव सुख पामी ।"

इसका ध्यान करते ही कोटि-कोटि सकट टल जाते है, असाध्य रोग गल जाते है और 'घट घट अन्दर आनद प्रगटे उलटो हियडो हरष भरो ।'

भगवान की कृपा और साक्षात् अनुभूति का वर्णन करने मे हमारा कवि पीछे नही रहा है। सत कवि कबीर ने दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित कर भगवान के विरह और मिलन के जैसे गीत गाए हैं वैसे हो कुछेक गीत पूज्य रत्नचन्दजी ने भी लिखे है। देश-काल के अनुसार उनमे थोडा बहुत अन्तर हो सकता है, पर मूल भाव-धारा मे कोई विरोध नही। कबीर ने 'हरि मोर पीव, मैं राम की बहुरिया' कहा, तो रत्नचद्रजी ने 'सुमता नारी' बनकर विनती की है—

"आप विरहे अधिका दुख पाऊँ,
मत करो मुझने न्यारी।
आज्ञा लोप चलूं नहीं ऊवट,
मै नित आज्ञा कारी ।।

कबीर को 'सतगुरु' ने दीपक देकर लोक-मार्ग बताया तो रत्नचन्द्रजी को सतगुरू ने जीव-अजीव का भेद बताकर क्रोधादि कषायो को शान्त करने के लिए सन्तोष की जडी दी—

"सतगुरु मत भूलो एक घड़ी।
बोध बीज दीयो घट अन्दर, जीव-अजीव की खबर पड़ी।
क्रोध लोभ की लाय बुझावन, दीनी एक सन्तोष जड़ी ।।
गुरु के बोध देते ही 'गये विलाय भरम के बादल,
परमार्थ पद पवन करी ।'

जीव को ब्रह्म की अनुभूति होने लगी। आत्मा परमात्मोन्मुख हो गई। कबीर ने इस मिलन दृश्य का बहुत ही सुन्दर चित्र खीचा है। भरतार राजा राम को घर आते देख कभी कबीर ने प्रतीक शैली मे कहा—

'दुलहिन गावहु मगलाचार'

तो कभी आनन्द की वर्षा का साक्षात् अनुभव किया—

"गगन गरजै वरसै अमी, वादल गहर गंभीर ।
चहुँ दिसि दमकैं दामिनी, भीजै दास कवीर ॥

पूज्य रतनचन्द्रजी ने भी परमात्म-मिलन (आत्म-ज्ञान) की आनन्दानुभूति का वर्णन करने के लिए 'सम्यकत्व-श्रावण' का विराट रूपक बाँधा है—

"सम्यक्त्व श्रावण आयो, अब मेरे सम्यक्त्व श्रावण आयो ।
घटा ज्ञान की जिनवर ने भाषी, पावस सहज सुहायो ॥ १ ॥
ग्रीष्म ऋतु मिथ्यात मिटानी, अनुभव पवन सुहायो ।
ऊँची ध्वनि गुरु गरजन लागे, भव्य मोर चित भायो ॥ २ ॥
निज-गुण दामिनि चमकण लागी, ज्ञान-नीर वरसायो ।
तप जप नदिया चलत हीया मे, ममता तपत मिटायो ॥ ३ ॥
सम्यक्त्व श्रोता तरवर उल्हसे, श्रुतज्ञान फल छायो ।
अर्क जवासा जिम मिथ्याती, सूकत होत दुखायो ॥ ४ ॥
सम्यक्त्व धरती अमृत निजगुण, वधे खेत अधिकायो ।
मिथ्या धरती लोभ उकरड़ी, दुर्गन्ध द्वेष वधायो ॥ ५ ॥
श्री जिनवाणी अमिय समाणी, मुक्ति मारग दरसायो ।
"रतनचन्द्र" कर जोड़ि जम्पे, इस वाणी सरणायो ॥ ६ ॥

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आलोच्य कवि को जितनी सफलता स्तोत्र-साहित्य में मिली है, उतनी इतिवृत्तात्मक वर्णन में नहीं। साधु-जीवन की कठोरता और श्रावक-धर्म के व्रत नियमों के वर्णन में शास्त्रीयता ही सामने आई है, कवित्व की सहज स्फुरणा नहीं। कबीर की विरहिन आत्मा में जो तड़फ, पिपासा और अधीरता है, उसकी झाँकी यहाँ नहीं।

भक्ति के अतिरिक्त नीति की वात भी आध्यात्मिक उपदेश के अन्तर्गत कवि ने खुलकर कही है। तात्विक सिद्धान्तों का प्रतिपादन दो रूपों में हुआ है। पहले रूप में कवि ने सार्वजनीन तथ्यों की विवेचना की है, तो दूसरे रूप में खण्डनात्मक शैली को अपनाकर स्वमत की पुष्टि की है। कभी जीव को संवोधना देते हुए कहा है—

'सुन जीवड़ला, मानव भव लहिनें,
अहिला मत खोवो ।'

क्योंकि चार गतियों में मनुष्य गति ही सर्वश्रेष्ठ है। ऐसी गति पाकर उसे सफल बनाने के लिए गुरु की सीख माननी चाहिए—

"अब सुण सत गुरु की सीख धरो मन प्राणी,
तुम करो धरम सुं हेत मिटे जम धानी।
दान शील तप भाव धरो चित ज्ञानी,
देव धर्म गुरु चित सेवो जिन-वाणी॥

दुर्लभ मनुषा देह लही गुण खानी,
ऐसा अवसर बहुरि मिले कब आनी।
दान शील तपभाव हिए मे धर रे,
सीख सुगुरु की मान जगत सुं तिर रे"॥

जीवन की नश्वरता का बोध कराते हुए भी कवि ने जीव को चेतावनी दी है—

"किसकी कामण किसकी जामण,
किस की है घर वर काया रे।
स्याही गई सफेदी आई,
तू फूंक फूंक पग धर रे॥"

इसके लिए आत्मज्ञान का होना सबसे आवश्यक है। यह आत्मज्ञानोपलब्धि बिना सम्यक्त्व के नही होती। जिसको शुद्ध सम्यक्त्व आ जाता है, उसको किसी बात की कमी नही रहती—

'निरमल शुद्ध सम्यक्त्व जिन पाई रे,
उनके कमी रहे नहीं कांई।'

कवि अपने आध्यात्मिक एव व्यावहारिक उपदेशो मे भी कबीर आदि सतो से प्रभावित मालूम पडता है। यह प्रभाव दो रूपो मे दिखाई देता है। एक तो प्रचलित धर्माडम्बर के विरुद्ध कडी चेतावनी के रूप मे, दूसरे 'पिण्ड मे ब्रह्माण्ड' की कल्पना के रूप मे। प्रथम रूप मे भेषधारियो की खबर लेते हुए कवि ने कहा है—

"भेषधर यूँ ही जनम गमायो।

लच्छण स्याल, साग धरि सिंहे को, खेत लोगाँ रो खायो ॥ १ ॥
कर कर कपट निपट चतुराई आसण दृढ़ जमायो।
अंतर भोग, जोग है बाहिर, बक ध्यानी बल छायो ॥ २ ॥
कर कर कपट निपट निजरागी, दया धर्म मुख गायो।
सावद्य निरवद्य बहुत प्ररूपं, अन्तर भेद न पायो ॥ ३ ॥
वस्त्र पात्र आहार थानक मे, सबला दोष लगायो।

सत वास विण सत कहावे, यह काई करम कमायो ॥ ४ ॥
हाथ समरणी हिए कतरणी, लटपट होठ हिलायो ।
जप तप संजम आत्म गुण विन, जाणो गाडर मूंड मुंडायो ॥ ५ ॥
पुद्गल भरम मिथ्यामति सेती, राग द्वेष ए मिटायो ।
आगम वयण अनूपम सुणि ने, सत पदे पहुंचायो ॥ ६ ॥
शुद्ध दशा आतम नी जाणो, सहज भवहि लभायो ।
"रतनचन्द" आनन्द भयो जब, आतम राम रमायो ॥ ७ ॥

सत कवियो ने जिस प्रकार 'पिण्ड मे ब्रह्माण्ड' की कल्पना की है, उसी प्रकार आलोचक कवि ने काया की सुन्दरता और विगदता का उदात्त वर्णन किया है, पर यह भी सकेत कर कर दिया है कि जब प्राण रूपी वणजारा इसे छोडकर चला जाता है, तब वह माटी मात्र रह जाती है—

"इन तो काया मे प्रभु सात समुद्र छै,
कोई खारो कोई मीठो ।
सुन्दर काया ने छोड चल्यो वणजारो,
वणजारो धुत्तारो कामण गारो ।
वणजारो धुतारो मोहण गारो,
म्हारी देहडली छोड चल्यो वणजारो ॥१॥

इण तो काया मे प्रभु पांच रतन छै ।
कोई परख लो परखण हारो ।
इण तो काया मे प्रभु पांच पणिहारी,
कोई नीर भरें छै न्यारो ॥
डिग गया देवल प्रभु खिसक गया थभा,
काई मटिया मे मिल गयो गारो ।
कहत 'रतन' मुनि सुणो भाई सजनो,
कोई भूठो छै जगत ससारो ॥२॥

नीतिकार की भांति पूज्य रत्नचद्रजी ने कतिपय शिक्षाप्रद दोहे भी लिखे है—जिनसे उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और जीवन गत व्यापक अनुभवशीलता का पता चलता है। इन दोहो मे सगति की प्रभावना अवसर की अनुकूलता-प्रतिकूलता, विपत्ति के समय परीक्षण आदि वातो की चर्चा की की गयी है। यहाँ उदाहरण के रूप मे चार दोहे प्रस्तुत है—

१. सगति सोभा उपजै, निरख देख यह बयण ।
सोई कज्जल आरसी, सोई कज्जल नयण ॥

२ फीकी भी नीकी लगै, कहिये समय विचार ।
सबको मन हरषित करे, ज्यू विवाह मे गार ।।
३. नीकी भी फीकी लगै, बिन अवसर की बात ।
जैसे बरणत जुद्धमे, रस सिणगार न सुहात ।।
४. साधु वचने परखिये, विपत पडे परनार ।
सूरा जब ही परखिये, जब चालें तरवार ।।

कलापक्ष :

पूज्य रत्नचन्द्रजी जैसा कि कहा जा चुका है, पहले साधक थे, लोकोपदेशक थे और बाद मे कवि । उनकी कविता लोक मगल की साधनावस्था की कविता है, सिद्धि-अवस्था की नही । यही कारण है कि उसमे कारीगरी और कलाबाजी नही, हृदय की निष्कपट अभिव्यक्ति है। अलकारो का प्रयोग हुआ अवश्य है, पर चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नही, भावो की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए। सामान्यत सादृश्यमूलक अलकार ही विशेप प्रयुक्त हुए है । उपमा-रूपक के प्रयोग देखिए ।

(क) उपमा

१. मधु बिन्दु सम विपया जानी
२. मिल्या जीव से खीर नीर जिम, आठ कर्मभारी
३. थारी फूल सी देह पलक मे पलटे, क्या मगरूरी राखे रे ।
४. राग द्वेष और मोहमिथ्या ठग, गल फांसी डारी ।
बाजीगर के मरकट ज्यूं, स्वाग घनाधारी ।।
५. अपनी भूल मे आप ही उलझो, ज्यू मकडी जारी ।

(ख) रूपक

१. अनुभव-रस तिण चाखीयो, तप की सभाली तेग ।
२. सजम दुती कान लगी जब, शिव नारी परचित्त दियो रे ।
३. सम्यक्त्व सूर उद्योत किया थी, मिथ्या तिमिर नसावे ।

दो जगह कवि ने विराट सागरूपक बाधे है । दोनो का सम्बन्ध प्रकृति से है । कवि ने प्रकृति के शृगारिक-भाव को आध्यात्मिक रूप दे दिया है। एक जगह तो प्रचलित बारहमासा को विरह के क्षेत्र से बाहर निकाल कर वैराग्यपूर्ण बारह भावना (आषाढ अनित्य भावना, श्रावण अशरण भावना, भाद्रपद ससार भावना, आसोज एकत्व भावना, कार्तिक अनन्य भावना, मगसर अशुचि भावना, पोप आश्रव भावना, माघ सवर भावना, फाल्गुन निर्जरा भावना, चैत्र धर्म भावना, वैशाख लोक-

स्वरूप भावना, और जेठ बोधि दुर्लभ भावना) के साथ मिश्रित किया है। यद्यपि सभी भावनाओ के साथ रूपक सटीक नही बैठा है, तथापि निर्जरा भावना और फाल्गुन मास का रूपक सुन्दर बन पडा है—

फाल्गुन समय वसन्त को, तप भेद द्वादश निर्जरा।
पिचकारी सजम रग है गुण, सतवीस लीजे परवरा॥
धमाल ध्यान मृदग समता, शील केशर तन सजै।
करम धूर उड़ाय कर गढ़, मुक्ति मे अनहद बजै॥

दूसरी जगह सम्यक्त्व को श्रावण बनाकर बडी दूर तक रूपक का सागोपाग निर्वाह किया है। उसका विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

उपमेय	उपमान
१. सम्यक्त्व	श्रावण
२. ज्ञान	घटा
३. मिथ्यात्व	ग्रीष्म ऋतु
४ अनुभव	पवन
५ चित्त	मोर
६ गुण	दामिनी
७ ज्ञान	नीर
८ जप-तप	नदियाँ
९ ममता	तपन
१० सम्यक्त्व श्रोता	तरुवर
११ श्रुत-ज्ञान	फल
१२. मिथ्यात्वी	अर्क, जवासा
१३. सम्यक्त्वी के गुण	लहलहाता खेत
१४. मिथ्यात्वी की लालसा	उकरडी
१५ द्वेष	दुर्गन्ध
१६ जिनवाणी	अमृत-वर्षा
१७ मुक्ति	मार्ग

भाषा को रोचक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए जगह-जगह लोकोक्तियो और मुहावरो का प्रयोग भी किया गया है—

१. जाया सो मरसी सही, फूले ते कुमलाय।
ऊगे सोई आथ में, चिणियें सो ढल जाय॥

२. और देव अरड कुण रोपें, जो गुण मन्दिर केलि फली ।

३. कंचर डार कांच चित देवें, वा की बुध मे खामी ।

४. बमीयो आहार बछा करे, कंइ कुत्ता कंइ काग ।

५. लच्छण स्याल, सांग धरि सिंह को, खेत लोगारो खायो ।

६. स्याही गई सफेदी आई
   तू फूंक फूंक पग धर रे ।

पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी की भाषा राजस्थानी है। उसमे गुजराती, पजाबी आदि भाषाओ के शब्द भी एकाध जगह प्रयुक्त हुए है। भाषा के क्षेत्र मे जैन कवि हमेशा उदार रहे है। लोक-भाषा मे अपनी बात कहना ही उन्होने धर्म प्रचार की दृष्टि से हितकर माना है। सस्कृत के विद्वान होते हुए भी हमारे कवि ने भाषा को क्लिष्ट नही बनाया है। अनुप्रास-युक्त भाषा की प्रवहमानता का एक उदाहरण देखिए—

अलख निरंजन मुनि मन रंजन, भय भंजन विश्रामी ।
शिवदायक नायक गुण-गायक, पावक है शिवगामी ॥

छन्द-विधान की दृष्टि से भी जैन कवि बडे उदार रहे है, उन्होने शास्त्रीय छन्दो की अपेक्षा लौकिक छन्दो के विविध प्रयोग बडी कुशलता के साथ किए है। पूज्य रत्नचन्द्रजी ने भी कुंडल, गीतिका दोहा, ढाल आदि छन्दो मे अपनी रचनाएँ लिखी है। सगीत-तत्व इनकी कविता की एक विशेषता है। ये सभी रचनाएँ गेय होती है और सामायिक-प्रार्थना आदि मे सामूहिक रूप से गायी जाती है। ढालो को विभिन्न राग-रागनियो (मल्हार प्रभाती, आदि) मे गुँफित किया गया है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि पूज्य रत्नचन्द्रजी के कवि व्यक्तित्व मे भक्त-हृदय और सत-हृदय दोनो का सम्मिश्रण है। भक्त-हृदय ने कविता को माधुर्य दिया है, तो सत-हृदय ने ओज। दोनो के मेल से स्तुति स्तोत्र, बारहमासा चौढालिया, लावणी आदि जिन काव्यो रूपो की सृष्टि हुई, वह अपने आपमे मूल्यवान है।
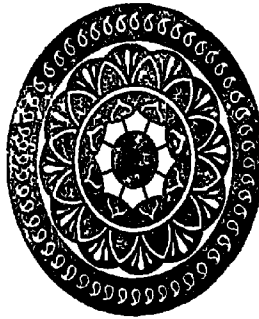
विसयतकहा और अपभ्रंश कथाकाव्य

डा० देवेन्द्रकुमार एम० ए० पी० एच० डी०

मध्ययुगीन भारतीय आर्य-भाषाओ मे अपभ्रंश का अत्यन्त महत्व है। परिवर्तनो के बीच भी स्पष्ट रूप मे इसका मूल रूप अत्यन्त प्राचीन लक्षित होता है। यदि अपभ्रंश प्राकृतो की अन्तिम अवस्था का विकास है, तो प्राकृत वैदिक युग की बोली का स्वाभाविक विकास है, जिसके बीज हमे लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता और वेदो की भाषा में बिखरे हुए मिलते है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि अपभ्रंश और प्राकृत की कुछ विशेषताएँ आज भी वैदिक और अवेस्ता की भाषा मे निहित मिलती है।

उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर अपभ्रंश भाषा आभीरो की बोली कही जाती है। किन्तु वैयाकरणो के निर्देशो से पता लगता है कि भाषा मे अपशब्दो की भरती एव विकार का नाम अपशब्द या अपभ्रंश है, जो निश्चय ही भाषा के परवर्ती विकास का सूचक है। इसलिए संस्कृत-साहित्य के समालोचको के "आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता" कथन मे यही अभिप्राय जान पडता है कि शिष्ट लोगो की तुलना मे अपभ्रंश जन सामान्य एव निम्न जातियो की विभाषा (बोली) है। वैयाकरण भी इसे शूद्र म्लेच्छ तथा महाशूद्र की भाषा कहते हैं। परन्तु मेरे मत मे अपभ्रंश अहीर, भील, मछुआ आदि लोगो की भाषा न हो कर जन साधारण की बोली रही है। यदि वह अहीरो की बोली होती तो उनके द्वारा लिखे हुए साहित्य या प्रदेश विशेष की बोली का उल्लेख अवश्य मिलता। आचार्य भरत मुनि ने तथा राजशेखर ने उकार बहुल भाषा का उल्लेख किया है, यह अपभ्रंश ही है। क्योकि उत्तर से ले कर दक्षिण भारत तक की कई भाषाओ मे उकारान्त पद्धति लक्षित होने पर भी विशेष रूप से वह अपभ्रंश की सूचक है। भरत मुनि के समय मे भाषाओ के साथ ही कई विभाषा नाट्य मे प्रयुक्त होती थी जिनमे आभीरी भी बोली रूप मे थी। वस्तुत आभीरी बोली मात्र ही रही है। इसमे साहित्य कभी

नही लिखा गया। अतएव अपभ्रश से हमारा अभिप्राय अहीरो की बोली से न हो कर प्राकृतो की उस उत्तरकालीन विकसित अवस्था से है, जिसका मूल रूप हमे वैदिक और अवेस्ता मे यत्किचित् रूप मे सुरक्षित मिलता है, तथा जो नव्य भारतीय आर्य भाषाओ की पुरोगामिनी भाषा है। इस प्रकार वैदिक युग से ले कर भाषा का जो प्रवाह प्राकृतो मे विकासशील रहा, वही मध्ययुग मे अपभ्रश की धारा मे सचरित हो कर प्रवाहित एव विकसित रहा है और इसीलिए अपभ्रश मे प्राकृतो की लगभग सभी विशेषताए विद्यमान है।

सक्षेप मे, अपभ्रश लोक-जीवन एव परम्परा की भाषा है, जो अपने विकसित रूप मे आज हमे हिन्दी के ढाचे मे ढली हुई दिखाई पडती है।

अपभ्रंश-साहित्य का युग

सुनिश्चित रूप से छठी शताब्दी से लेकर सतरहवी तक अपभ्रश-साहित्य की रचना विभिन्न विधाओ मे होती रही है। अपभ्रश-साहित्य का यह युग इतिहास मे मुख्यतया राजपूत-काल कहा जाता है। राजपूतो का देश के सभी भागो मे प्राबल्य रहा है। उत्तरी भारत के राजपूतो मे चौहान, परिहार, तौमर और पवार तथा दक्षिण मे चन्देल, कलचुरि या हैहय, गाहडवाल और राष्ट्रकूट मुख्य रहे है। आलोच्यकाल मे राजपूत गुजरात के सभी प्रदेशो मे फैल गए थे।

राजनैतिक दृष्टि से यह युग उथल-पुथल का रहा है, जिसमे कई विदेशी शक्तियो ने भारतीय केन्द्रीय सत्ता को हथिया कर अपना राज्य विस्थापित करने की चेष्टा की है। यद्यपि अपभ्रश-साहित्य मे सामन्तकालीन तथा राजपूतकालिक राजनैतिक तथा सामाजिक झलक मिलती है, किन्तु राजनैतिक सघर्षो का एव बडी-बडी घटनाओ का अपभ्रश के किसी भी कथाकाव्य-लेखक ने अपनी रचना मे उल्लेख नही किया। प्रशस्ति मे अवश्य हमे मुहम्मदबिन तुगलक का राज्य-शासन तथा उसके समय मे घटित होने वाले अकाल का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार ग्वालियर के तौमरवशी राजा डूगरसिंह तथा मथुरा-भरतपुर के यदुवशी राजाओ का उल्लेख मिलता है। इसके दो ही कारण मुख्य जान पडते है—एक तो यह है कि भारतीय कवियो की भाँति अपभ्रश के कवि राजनैतिक घटनाओ से उतने प्रभावित नही थे, जितने कि धार्मिक और सामाजिक दशा से थे। दूसरे, उनका उद्देश्य ऐतिहासिक न हो कर साहित्यिक एव धार्मिक था। अतएव सामान्य बातो को छोडकर विशेष घटनाओ तथा स्थिति का चित्रण अपभ्रश के इस साहित्य मे नही मिलता।

समाज और सस्कृति

आलोच्यकाल मे राजपूतकालीन समाज और सस्कृति का स्पष्ट चित्रण हमे अपभ्रश के प्राय. सभी कथाकाव्यो मे मिलता है। इसलिए वणिक् पुत्र हो कर भी नायक ज्ञान-विज्ञान, तन्त्र-मन्त्रादि के साथ विभिन्न शस्त्रास्त्रो का सचालन, घोडे की सवारी तथा सग्राम मे विविध चातुरियो से बचाव आदि

की शिक्षा ग्रहण करते थे। इसी प्रकार सुन्दर स्त्रियो के निमित्त उस युग मे युद्ध लडे जाते थे। कई सुन्दरियो से विवाह करना गौरव की वात समझी जाती थी। प्रिय या पुत्र के वियोग मे राजपूत ललनाएँ कौओ को सन्देश दे कर भेजती थी। बहु-विवाह की प्रथा का प्रचलन था। विवाह राजसी ठाठ-बाट से होते थे। समाज मे वैश्यो का अच्छा स्थान था। राजा उनका यथोचित सम्मान-सत्कार करता था। नगरसेठ अत्यन्त प्रभावशाली होता था। उस युग मे कई छोटे-छोटे राज्य होते थे। इसलिए राजा लोग सदा शकित रहते थे। समाज मे पर्दा-प्रथा प्रचलित थी। बालकों की भाँति कन्याएँ भी विविध कलाओ की शिक्षा प्राप्त करती थी। विशेष रूप से स्त्रिया सगीत एव वीणालापन मे निपुण होती थी। गेंद से खेलना उन्हे अत्यन्त प्रिय था। सभी स्त्रियाँ आभूषण-प्रिय होती थी। यहाँ तक कि तरह-तरह के आभूषणो से अग-प्रत्यग ढँक लेती थी।

भारतीय समाज मे विवाह एक मागलिक कार्य माना जाता रहा है। उस युग में वैश्यो के विवाह भी वेद की ऋचाओ के साथ पुरोहितो द्वारा सपन्न होते थे। वर्ण-व्यवस्था का व्यापक प्रचार था। वर-कन्या को देखे विना विवाह नही होते थे। अधिकतर चित्रपटो को देख कर लडका-लडकी मन भर लेते थे। धनी लोगो के यहाँ विवाह के समय नृत्य-गान तथा कौतुक होते थे। कई दिनो तक लोग राग-रग में मस्त रहते थे। मद्यपान-गोष्ठिया जमा करती थी। वर बहुत दिनो तक विवाह होते ही ससुराल में रहता था। दायजे में कन्या को दास-दासी, हाथी, घोडा, गाय, भैंस तथा सेना एव मोती, माणिक, हीरा, रत्न आदि पदार्थ दिए जाते थे। बहू के साथ बेटे के लौटने पर माता उत्सव मनाती थी। बेटे-बहू की नजर उतार कर आरती उतारती थी। न्योछावर करके दान दिया जाता था। कपूर के दिए जलाए जाते थे।

जीवन की अन्तिम अवस्था में राजा लोग तथा नगर के प्रमुख सन्यास धारण कर लेते थे। अपभ्रश-साहित्य में सुखोपभोग करने के पश्चात् पुरुष तथा स्त्री सभी का विरक्त हो कर मुनि-दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार समाज और सस्कृति से भरित अपभ्रश-कथाकाव्य जीवन के विकास की धार्मिक तथा नैतिक पद्धति से परिव्याप्त है, जिनमें यथार्थ और आदर्श दोनो का सुन्दर मेल हुआ है। वस्तुत भारतीय साहित्य मे महाकाव्यो के अभ्युत्थान में अपभ्रश-कथाकाव्य की यह विधा कई दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

साहित्यिक वर्गीकरण

अपभ्रश साहित्य में बन्ध, शैली और आकार-प्रकार की दृष्टि से कई प्रकार की साहित्यिक विधाएँ लक्षित होती है। अभी तक मुख्य रूप से अपभ्रश का साहित्य पौराणिक तथा चरितमूलक समझा जाता रहा है। किन्तु आलोच्यमान प्रवन्ध काव्य के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रश में कथा-काव्य नामक स्वतन्त्र विधा का विकास हो चुका था, जो सस्कृत के एकार्थक काव्य की कोटि में परिगणित की जा सकती है। सक्षेप में, अपभ्रश-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार है—
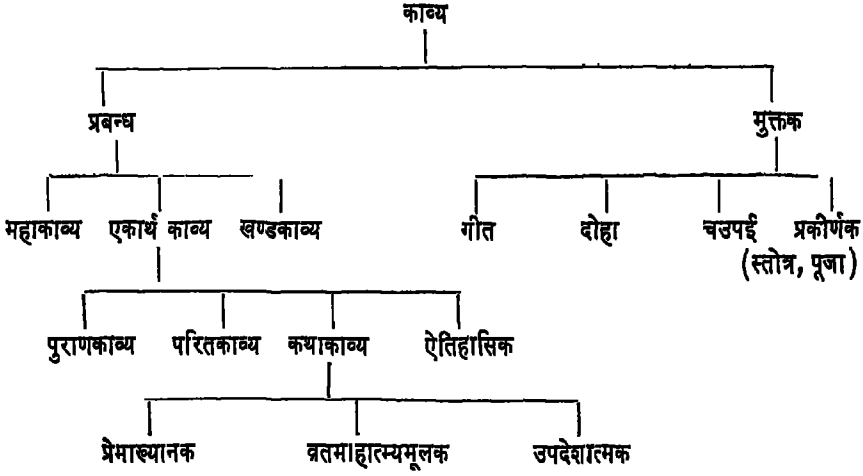
कथाकाव्य और चरितकाव्य

कथावस्तु की दृष्टि से कथाकाव्य में लोकवर्ताएँ किन्ही कथाभिप्रायो तथा रूढियो के साथ निबद्ध मिलती है। किन्तु चरितकाव्य की वस्तु पुराणो से उद्धृत एव ऐतिहासिक अनुश्रुतियो से सम्बद्ध देखी जाती है। रचना और शैली की दृष्टि से भी दोनो में अन्तर लक्षित होता है। अपभ्रंश-कथाकाव्य की प्रत्येक रचना की कथा भारतवर्ष मे या विदेशो मे मिलते-जुलते तथा समान वृत्तो मे किसी न किसी रूप मे मिलती है। कही-कही तो बहुत ही अधिक साम्य लक्षित होता है। अतएव कथानुबन्ध तथा कार्यावस्थाओ मे दोनो मे भेद स्पष्टतया दिखाई पडता है। सक्षेप मे, अपभ्रंश के कथाकाव्य और चरितकाव्य में निम्नलिखित बातो मे अन्तर मिलता है—

१ कथा की भाति कथाकाव्य मे कहानी के तत्वो का समावेश रहता है। कथा स्वाभाविक तथा गतिशील रहती है। किन्तु चरितकाव्य मे घटनाओ के विस्तार मे दब कर कथा रुक-रुक कर चलती है।

२ कथा किसी उद्देश्य विशेष को लेकर चलती है और इसीलिए उद्देश्य-प्राप्ति के साथ ही कथा समाप्त हो जाती है। परन्तु चरित काव्य मे नायक के-समूचे जीवन का ही विस्तार से कथन होता है और नायक का फल ही काव्य-रचना का फलागम माना जाता है।

३ कथाकाव्यो मे पताका-नायक और पताका-कथा की रचना नही मिलती। किन्तु चरितकाव्यों मे स्पष्ट रूप से देखी जाती है।

४ कथाकाव्य मे पात्र एक से अधिक बार कथा को दुहराते है, पर चरितकाव्य मे यह प्रवृत्ति नही मिलती।

५ कथाकाव्य मे वक्ता-श्रोता के रूप मे कथा प्रारम्भ होती है तथा सुनने वाला बीच-बीच मे जिज्ञासा या कुतूहल प्रकट करता है अथवा कवि ही यह कह कर कि अब कथा तिलकद्वीप मे चलती है या अब गजपुर का हाल सुनो, श्रोताओ का समाधान करता चलता है।

६ कथाकाव्य मे नाटकीय सन्धियो का पूर्ण निर्वाह नही देखा जाता, किन्तु चरितकाव्य मे मिलता है।

७ संस्कृत-साहित्य के समालोचको के अनुसार चरितकाव्य सकलकथा होते है, जिनमे नायक के समूचे जीवन का विस्तृत विवरण एवं वर्णन होता है। किन्तु कथाकाव्य मे उद्देश्य मूलक घटनाओ का समावेश रहता है तथा उत्तर पूर्ती जीवन का वर्णन नही के बराबर होता है।

८ संस्कृत मे कथाएँ गद्य मे लिखी जाती रही है। परन्तु अपभ्रंश मे वही कथाए—प्रबन्ध की शैली मे पद्य में लिखी मिलती है, जिनमे काव्य-रूढियो का समाहार रहता है। इसलिए किसी रचना के पीछे चरित या कथा शब्द जुडा होने से वह चरित या कथाकाव्य नही माना जा सकता। संस्कृत मे भी दशकुमारचरित प्रसिद्ध कथाकाव्य है, जिसका भेद स्पष्ट ही कई बातो मे "हर्षचरित" से—देखा जा सकता है।

९ रूपकगत चरित-रचना की पृथक् अभिधा "प्रकरण का उल्लेख हमे भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र" मे मिलता है। इसलिए हम यह कह कर कि चरित लोक में देखा जाता है काव्य मे तो कथा ही मुख्य चेतना होती है, हम कथा काव्य के-अन्तर्गत चरितकाव्य का समावेश नहीं कर सकते। वस्तुत दोनो पृथक् विधाएँ है।

१० संस्कृत के अधिकाश चरितकाव्य ऐतिहासिक व्यक्ति को ले कर लिखे गए—है। वस्तुत भारतीय साहित्य मे कथा और चरित दोनो ही भिन्न है। दोनो के उद्देश्य और अभिप्रायो मे भी अन्तर है।

कथा-प्रकार

विषय की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्य तीन प्रकार के मिलते है—प्रेमाख्यानक, व्रतमाहात्म्य प्रदर्शक तथा उपदेशात्मक। विलासवती और जिनदत्तकथा प्रेमाख्यानक कथाकाव्य है, जिनमे नायक-नायिकाओ के प्रेम-व्यापार का मधुर वर्णन है। अपभ्रंश के प्रेमाख्यानक काव्यो मे विवाह के पूर्व ही मूर्ति-दर्शन या प्रत्यक्ष दर्शन से प्रेम-भाव का उदय होना, पूर्व राग में काम की दसो दशाओ का क्रमश प्रकाशित होना, उद्यान मे नायक-नायिका का साक्षात्कार होना, दूती द्वारा प्रेम-निवेदन तथा प्रेमोपहार भेजना आदि बाते मिलती है। "पउमसिरीचरिउ" मे भी ये बाते मिलती है।

व्रतमाहात्म्य के फल वर्णनस्वरूप भविष्यदत्त, सिद्धचक्रकथा वनाम श्रीपालकथा और सुदर्शनचरित वर्णित है। भ० क० में यदि श्रुतपचमी-व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित है, तो सि० क० मे सिद्धचक्र का माहात्म्य

वर्णित है और सुदर्शनचरित मे पचनमस्कार का माहात्म्य कथा रूप मे वर्णित है।

उपदेशात्मक कथाकाव्यो मे असद् प्रवृत्तियो एव कुरीतियो को छोडकर धर्मानुकूल आचरण करने का उपदेश सादाहरण अभिहित है।

कथा-रूप

अपभ्रंश के कथाकाव्यो मे प्रयुक्त सभी कथाओं का रूप ऐहिक कहानी की भाति मिलता है, जिसमे कई सरल कथाओ से मिलकर एक बृहत्कथा बनती है। घटनाए तथा उपकथाएँ शृखला की भाँति आधिकारिक कथा से इनमे जुडी मिलती हैं। मक्षेप मे, इन कथाकाव्यो मे कथा के भीतर कथा मिलती है, जो विकासशील कथातत्वो से उद्भूत है। और इसीलिए मूल कथा मे से एक के बाद एक शाखाओ की भाँति कहानियाँ उपजती चली जाती हैं। बन्ध की दृष्टि से ये कथाएँ कसी हुई-तथा प्रभावोत्पादक हैं। कहानियो की भाँति कुतुहल, औत्सुक्य और घटनाओ का चमत्कार आदि से अन्त तक इन कथाकाव्यो मे मिलता है। यद्यपि अपभ्रश की कथाएँ सच्ची मानकर कही गई हैं, पर वस्तुत वे कल्पित हैं। धार्मिक व्रत तथा अनुष्ठानो मे आस्था उत्पन्न करने के लिए कवियो ने उमे सहज, स्वाभाविक एव गतिशील बनाने का यत्न किया है, जिसमे उन्हे बहुत कुछ सफलता मिली है। और कथा का यह सबसे बडा गुण है कि वह घटनाओ के साथ स्वाभाविक रूप मे गतिशील एव विकसित लक्षित होती है। चरितकाव्य की उपेक्षा कथाकाव्य मे अतिमानवीय तथा अतिप्राकृतिक वृतो की कम सयोजना हुई है।

भविष्यदत्तकथा

अपभ्रंश के उपलब्ध कथाकाव्यो मे भविष्यदत्त की कथा यथार्थ और करुण है। उद्देश्य, चरित्र-चित्रण तथा कथा-विकास की दृष्टि से वह श्रेष्ठ रचना है। इस काव्य का महत्व तीन बातो मे है-पौराणिकता से हट कर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण करना, काव्य-रूढियो का समाहार कर प्रबन्धकाव्य का उत्तम निदर्शन प्रस्तुत करना और उमे सवेदनीय बनाना भाषा तथा रचना की दृष्टि से भी भ० क० का विशेष महत्त्व है। इस कथा काव्य की प्रमुख विशेषता-शास्त्र और लोक-भाषा, शैली तथा रचना-तत्वो का समन्वय कर सजीवता प्रदान करना है।

अपभ्रंश-कथाकाव्य

अपभ्रंश के प्राय सभी कथा काव्यो की वस्तु लोक-जीवन से उद्धृत है। उनमे कवि की कल्पना का मेल तथा धार्मिकता का आवरण किन्ही-पौराणिक रूढियो के साथ लक्षित होता है। कथाकाव्यो की अपेक्षा चरितकाव्यो पर पौराणिक प्रभाव अधिक है। इन कथाओ मे लोक-मनोविज्ञान तथा जन-जीवन की यथार्थता का भलीभाँति समावेश दिखाई देता है। इसलिए अपभ्रश के कथाकाव्यो मे लोक-मानस, सामाजिक रीति-नीति, व्रत-पद्धति तथा रूढियो की प्रबलता लक्षित होती है।

प्रबंध-संघटना

अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों की वस्तु सन्धिबद्ध हैं। कम से कम दो सन्धियों से लेकर बाईस सन्धियों तक की रचना कथा-काव्य में मिलती है। यद्यपि नाटकीय सन्धियों, कार्यावस्थाओं तथा अर्थ प्रकृतियों का निर्वाह देखा जाता है, पर किसी-किसी में तीन सन्धियाँ भी निहित हैं। पताका नायक तथा कथा-रचना अपभ्रंश के किसी भी कथा काव्य में नहीं मिलती। साधारणतया इन कथा काव्यों में नायक के द्वारा नायिका तथा राज्य-प्राप्ति का वर्णन मिलता है। अतएव कथा का उठान नायक की द्वीपान्तर यात्रा से आरम्भ होकर राजा बनने तक चरमोत्कर्ष पर पहुच कर रुक जाता है। अतएव राज्य करने और उसके बाद की अन्य घटनाओं से मुनि के नगरागमन और साधु बनने की घटनाओं के उल्लेखों को छोड़कर अन्य किसी घटना का विवरण इन कथाकाव्यों में नहीं मिलता। और न उसके बाद के अंश की कथा में वह रस तथा रोचकता मिलती है, जो कथा के पूर्वार्द्ध में लक्षित होती है। किन्तु विलासवती कथा का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों ही रसे हुए, रोचक तथा सरस हैं।

वस्तु-वर्णन

इन कथाकाव्यों में वस्तु वर्णन—परम्परामुक्त, श्लिष्ट तथा परम्परायुक्त तीनों रूपों में मिलते हैं। परम्परागत वर्णनों में रूढ उपमानों, प्राचीनों के वर्णनों के अनुरूप वस्तु—व्यजना तथा शैलीगत साम्य लक्षित होता है। नगर, राजा, समुद्र, विवाह, युद्ध, कुमार—जन्म, मद्यपान-गोष्ठी, और रूप-वर्णन आदि पारम्परित हैं जिनमें रूढ उपमनों तथा कल्पनाओं का प्रयोग हुआ है। परम्परायुक्त वर्णनों में तेल चढाना, शकुन-अपशकुन, बरात, पंक्तिभोज, समस्यापूर्ति तथा पूजा-स्तवन आदि के वर्णन निहित हैं। इन वर्णनों में लोकगत शैली, उपमान तथा सरलता और सरसता होने से वर्णन अत्यन्त सजीव बन पड़े हैं। प्राय. सभी कथाकाव्यों में लोक मूलक गीत शैली का समावेश मिलता है।

भाव—व्यंजना

सामान्य रूप में अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों में मानवीय प्रेम की प्रतिष्ठा तथा लोकव्यापी सुख-दुखमय घात-प्रतिघातों के बीच सयोग और वियोग की विवृति एव जन सामान्य में आदर्श मानव बन कर परमपद की प्राप्ति समान रूप. से सभी कथाकाव्यों में वर्णित है। भ० क० में यदि माता और पुत्र का अमित स्नेह आप्यायित है तो विलासवती में नायक और नायिका का सच्चा एव आदर्श प्रेम चित्रित है और जि० क० में नारी-प्रेम की उत्कृष्टता तथा श्रीपाल वनाम सि० क० में पत्नी सेवा एव नारी-प्रेम के अवदात रूप की गाथा वर्णित है। सयोग और वियोग की विभिन्न स्थितियों में इन कथाकाव्यों में आत्मगर्हा ग्लानि, पश्चाताप, विस्मय, उत्साह, क्रोध, भय आदि अनेक भावों का सचरण विभिन्न प्रसगों में लक्षित होता है। सामान्यत मानसिक दशाओं में वात्सल्य, दाम्पत्य और पति-भक्ति आदि में निहित रति-भाव, क्रोध, भय, उत्साह और निर्वेद की मधुर व्यजना हुई है। स्थायी भावों के साथ ही विभिन्न

सचारी तथा अनुभावो का विधान भी इन कथाकाव्यो मे लक्षित होता है। यही नही, घटनाओ की भाँति भावो मे सघर्ष और जीवन पर उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से अपभ्र श के कथाकाव्यो मे दिखाई पडता है।

सभी कथाकाव्यो का पूर्वार्द्ध श्रृगार के सयोग और वियोग दोनो ही पक्षो से अनुरजित है। किन्तु लगभग सभी कथाकाव्यो का पर्यवसान शान्त-रस मे होता है। इसलिए श्रृगार और शान्त सामान्यतया दो ही रस मुख्य है। लेकिन म० भ० शि० क० और मि० क० मे वीर रस का भी मधुर परिपाक हुआ है।अन्य रसो मे हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्‌भुत का भी सनिवेश कही कही हुआ है।

चरित्र-चित्रण

यद्यपि इन कथाकाव्यो के नायक राजर्षि वश के अथवा प्रख्यात नही है पर राजोचित आन-वान तथा उदात्त गुणो से युक्त है। सनत्कुमार और श्रीपाल तो स्पष्ट रूप मे राजपुत्र है। अन्य नायक वणिक्‌पुत्र है। वे धीर-वीर ही नही, क्षमाशील और उदार भी हैं। उनमे जहाँ दाक्षिण्य तथा आत्म विनम्रता है, वही साहस तथा क्षात्रोचित आत्मतेज एव दर्प का उज्जवल प्रकाश है। वे स्वाभिमान से भरे पूरे तथा अन्याय का प्रतिकार करने वाले है। उनमे मधुरता और सरलता का अद्‌भुत मिश्रण है। इस प्रकार नायक उदात्त गुणो से समन्वित होने पर भी असहाय, दीन, विवश, किकर्त्तव्यविमूढ और सकटापन्न भी चित्रित है। उनके जीवन मे जहाँ पिता का तिरस्कार, भाई का छल-कपट, धर्म-पिता का विश्वासघात, आधि-व्याधि आदि विघ्न-वाधाओ की भरमार है वही माता का स्नेह, प्रियतमा की सेवा शुश्रूपा और पुण्यजनित सुख-वैभव तथा देवी सयोगो की मधुरता परिव्याप्त है।

संवाद-सरचना

अपभ्रश के कथाकाव्यो मे सवाद-सरचना कई रूपो मे मिलती है। यदि जि० क० के सवाद अलकृत है, तो म० क० मे सरल, स्वाभाविक और सजीव है। प्राय सभी कथाकाव्यो मे सवादो की मधुरता और सरसता लक्षित होती है। जि० क० मे कुछ सवाद गीति शैली मे वर्णित है। कही-कही हाव-भावो का प्रदर्शन तथा व्यग्य का भी उचित समावेश हुआ है। लम्वे और छोटे दोनो प्रकार के सवाद आलोच्य साहित्य मे मिलते है। वि० क० मे तो कुछ सवाद कहानी ही वन गए है और कुछ सवाद अधिक लम्वे हो गए है, किन्तु सि० क० मे सवाद सक्षिप्त और मधुर है। इन सभी कथाकाव्यो मे वातावरण तथा दृश्यो के वीच सवादो की योजना हुई है। भापा भी सवादो के अनुकूल है। इन सवादो मे नाटकीयता, वाक्‌चातुर्य' कसावट तथा भावो का पूरा-पूरा प्रकाशन अभिव्यक्त है। सक्षेप मे, सवादो क वीच चलते हुए वर्णनो का समावेश, वातावरण, दृश्य एव चित्रो के वीच सवाद-योजना, सवादो मे कथा की आवृत्ति, चलती हुई भापा मे मधुर तथा सरल सवादो की रचना और सरलता, सजीवता की अभिव्यजना आदि विशेपताएँ अपभ्रश-कथाकाव्यो मे सामान्य रूप से मिलती है।

भाषा

जिनदत्तकथा को छोड कर मुख्यतया अपभ्रश के कथाकाव्यो की भाषा सरल तथा साम्य और लोक-जीवन के मेल की भाषा है। प्रयुक्त भाषा मे बोलचाल के शब्द मुहावरे लोकोक्तियो एव सूक्तियो के साथ ही सस्कृत से बने या विगडे हुए शब्दो की भी प्रचुरता है। जि० क० मे शब्दो की तोड-मरोड विशेष रूप से मिलती है। किन्तु विगडे हुए शब्दो मे सस्कृत मे उधार लिए गए शब्दो की ही अधिकता है देशज शब्दो मे विकार की प्रवृत्ति नही मिलती। वस्तुत अपभ्रश भाषा मे तत्सम शब्दो की अपेक्षा तद्भव और देशज शब्दो का प्राधान्य है।

शैली

अपभ्रश कथाकाव्य प्रबन्धकाव्य की भाति सन्धिबद्ध है। उनमे सन्धियो की रचना कडवको मे हुई है। यद्यपि आ० स्वयम्भू ने कडवको मे नियत पक्तियो का उल्लेख किया है, किन्तु इन कथाकाव्यो मे इसका कोई नियम नही मिलता। एक कडवक मे आठ से ले कर चौबीस पक्तिया तक आलोचित कथा-काव्यो मे देखी जाती है। यथार्थ मे, प्रबन्धकाव्य के लिए कडवको की सख्या का न तो कोई नियम है और न विधान ही · किन्तु सामान्यत एक सन्धि मे दस से चौदह के बीच कडवको की सख्या मिलती है। अपभ्रश के कथाकाव्यो मे कम से कम ग्यारह और अधिक से अधिक छियालीस कडवक एक सन्धि मे प्रयुक्त है।

अलंकार

आलोचित कथाकाव्यो मे साधर्म्य या औपम्यमूलक तथा लोकव्यवहार-मूलक अलकारो की मुख्यता है। प्रयुक्त अलकारो मे जहाँ पारम्परित रूढ उपमानो का प्रयास है, वही लोकगत उपमानो की सजीवता भी उत्कृष्ट बन पडी है। रूढ उपमान भी कही-कही कथन की शैली तथा परिवर्तनगत वैविध्य मे नये-से बन गए है। जैसे कि नयनो की उपमा के लिए साधारणतया मृग, मीन, रक्तकमल तथा कही-कही खजन पक्षी से दी जाती है, किन्तु इन कथाकाव्यो मे कही-कही कमल के पत्तो से दी गई है। उसी प्रकार केश-कलापो को मदन डोरी का बना हुआ पाश कहना, माथे को काम का विजयपट्ट बताना, कपोलो पर लटकती हुई अलको को कामदेव का धनुप और बाण कहना इत्यादि। लोकगत उपमानो मे भी कुछ कवि की कल्पना से प्रसूत है और कुछ लोक-जीवन से गृहीत। इस प्रकार अलकारो की स्वाभाविकता और सुन्दरता इन कथाकाव्यो मे भलीभाति लक्षित होती है।

छन्दोयोजना

अपभ्रश के इन कथाकाव्यो मे मुख्य रूप से मात्रिक छन्द प्रयुक्त है। यद्यपि वर्णिक वृत्तो का प्रयोग भी मिलता है, पर कही-कही वे मात्रिक छन्दो के साचे मे और कही-कही प्रकृत रूप मिलते है। छन्दो की

दृष्टि से यह कथाकाव्य-साहित्य अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इस साहित्य के अध्ययन करने से स्पष्ट पता लगता है कि समय-समय पर लोक-बोली एव भाषा की भाति शास्त्रीय वृत्त तथा जाति-बन्धो से हट कर नये-नये छन्द तथा मात्रिक वृत्तो का प्रयोग साहित्य मे होता रहा है। अतएव भाषा की भाति ही विभिन्न रूपो और देशी राग रागिनियो मे प्राकृत के छन्द साहित्य मे देशी भाषा के साथ ढलते रहे है तथा विभिन्न नाम-रूपो मे ख्यात एव प्रचलित रहे है। उदाहरण के लिए–सोरठा, मरहट्टा, चर्चरी, वसतचच्चर, सगीत, गीति और रास आदि लोकप्रसिद्ध छन्द है, जो धीरे-धीरे अपभ्रंश-कविता के प्रचलन के साथ ही काव्य मे प्रयुक्त होने लगे थे ।

लोक-तत्व

अपभ्रंश के कथाकाव्यो की कथा का विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि लोक मे इन कथाओ के रूप प्रचलित रहे है। कथा भानक-रूपो के अध्ययन से जो निष्कर्ष हमारे सामने आते है, उनके आधार पर कथाभिप्रायो मे यह भी सुस्पष्ट हो जाता है कि ये कथाएँ भारतवर्ष मे तो प्रचलित रही ही हैं, पर किसी न किसी रूप मे विदेशो की यात्रा भी इन्होने की है। इन कथाओ मे आर्य सस्कृति की पूरी छाप तो लगी ही मिलती है, पर अनार्य-सस्कृति मे भी बहुत कुछ प्रभावित है। अभिप्रायो (Motives) के अध्ययन और वर्गीकरण मे हमे इस बात का पता लगता है कि अपभ्रंश के इन कथा-काव्यो मे चौदह प्रकार के कथाभिप्राय मिलते है, जो ससार के लोक-साहित्य की सक्षिप्त अनुक्रमणिका मे मे अपना स्थान सरलता से घोषित करते हैं।

सामाजिक आचार-विचार

इन कथाकाव्यो मे सामाजिक आचार-विचारो का पूर्णतया समावेश हुआ है। दसवी शताब्दी से ले कर सतरहवी शताब्दी तक के भारतीय समाज की एक झलक स्पष्ट रूप मे हमे इस साहित्य मे मिलती है। कई प्रकार के रीति-रिवाज, देवी-देवताओ की पूजा, मनुष्य-बलि आदि कुरीतियो का भी उल्लेख इस साहित्य मे हुआ है।

लोक-जीवन और सस्कृति

लोक-जीवन और सस्कृति के अन्तर्गत निम्नलिखित बातो का वर्णन मिलता है—धार्मिक विश्वास, लोक-रूढिया, जातिविषयक सामान्य विश्वास, सामाजिक आचार-विचार, लोक-निरुक्ति इत्यादि।

धार्मिक विश्वासो मे हमे देवी देवताओ की पूजा के साथ ही यक्ष और यक्षणियो की पूजा का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार आलोच्य काल मे बहु देवी-देवतावाद तथा कई प्रकार की परवर्ती कालिक मान्यताएँ मिलती हैं, जिनका जैनाचार्यो ने खुल कर विरोध किया है। जाति विषयक विश्वासो मे जैनियो के रीति-रिवाज तथा धार्मिक बातो का उल्लेख हुआ है। लोक रूढियो मे हमे शकुन-अपशकुन, स्वप्न-दर्शन, ज्योतिषियो की भविष्य-वाणी का पालन, दूरस्थ देश मे कौआ उडाकर पुत्र या पति के पास सन्देश

भेजना आदि बातें मिलती है। कवि-समय की भी कुछ बातो का समावेश हुआ है। लोक-निरुक्ति लोक प्रचलित नामावली मिलती है, जिसमे लोकगत भाषा तथा लोगो की रुचि का पता लगता है। प्रकार अपभ्रंश का यह साहित्य लोक-जीवन और सस्कृति से पूर्णतया प्रभावित है।

परम्परा और प्रभाव

अपभ्रंश के कथाकाव्यो पर सस्कृत के प्राचीन काव्यो का परम्परागत रूप में थोडा-बहुत प्रभाव लक्षित होता है। किन्तु आत्म-विनय, प्रदर्शन, नगर-वन-वर्णन आदि मे जो यत्किंचित् प्रभाव दिखाई पडता है, वह एक तो बहुत कम है दूसरे हम उसे सीधा सस्कृत का प्रभाव न मान कर सस्कृत का प्राकृत पर और प्राकृत से अपभ्रंश पर अप्रत्यक्ष रूप से सस्कृत का प्रभाव कह सकते है।

अपभ्रंश कथाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रबन्धकाव्यो में काव्य-रूढियो, प्रबन्ध-रचना-शैली, कथानक-रूढियो तथा रीतिकालिक प्रवृत्तियो मे बहुत कुछ समानता मिलती है। अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो की कथा-वस्तु और रचना-पद्धति मे तो अद्भुत साम्य लक्षित होता है। इस साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियो तथा विशेषताओ की जानकारी से यह स्पष्ट हुए बिना नही रहता कि सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना कडवक तक शैली के ही विकासक्रम मे हो कर फारसी की मसनवी शैली मे नही हुई। क्योकि वस्तु-बन्ध, कथावस्तु, काव्य तथा कथानक-रूढियो तथा भावो मे सूफी तथा प्रेमख्यानक काव्य अपभ्रंश-साहित्य से प्रभावित हैं। फिर, अकेले मसनवी शैली का नाम ले कर फारसी की दुहाई क्यो दी जाए? स्पष्ट रूप से अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो की रचना पद्धडिया बन्ध मे हुई है। पद्धडिया चौपाई का ही पुराना नाम जान पडता है। साधारणतया चौपाई के साथ दोहे की भांति अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यो मे द्विपदी तथा अन्य उसी जाति के छन्दो का व्यापक प्रचलन रहा है, पर परवर्तीकाल में वह दोहा या द्विपदी में सीमित हो गया, जिसके दर्शन हमें हिन्दी के प्रबन्ध काव्यो में होते है। वस्तु-बन्ध और रचना शैली में ही नही भावो में भी कही-कही काव्य लक्षित होता है। हिन्दी के चौपाई, दोहा, छप्पय, रौला, दुर्मिल, सोरठा, गीति, कुण्डलिया, उल्लाला, पद्धडी या पद्धरि, हरिगीतिका और बरवे आदि छन्द प्राकृत की धारा से विकसित अपभ्रंश-काव्य-धारा से ही हिन्दी में निश्चय रूप से स्वीकृत अथवा ज्यो के त्यो ग्रहण कर लिए गए है। अतएव कई बातो में हिन्दी-साहित्य पर अपभ्रंश-साहित्य एव कथाकाव्यो का प्रभाव लक्षित होता है।

★

रासा-साहित्य के विकास में जैन विद्वानों का योगदान

डा० कस्तूरचंद कासलीवाल एम० ए० पी-एच० डी०

रास शब्द की व्युत्पत्ति एव स्वरूप को लेकर हिन्दी के विभिन्न विद्वानो द्वारा अब तक पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। रास के रासक, रासो, रासौ, रासउ, रासु आदि विभिन्न नाम मिलते है। ९-१० वी शताब्दी के अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू ने अपने छन्द ग्रन्थ मे रास का लक्षण करते हुए उसे जन-मन अभिराम बतलाया है और कहा कि वह घत्ता, छड्डुणिया पद्धडिया तथा ऐसे ही अन्य सुन्दर छन्दो से युक्त रासा-बन्ध काव्य जन मन अभिराम होता है। महाकवि ने २१ मात्रा वाले रासा छन्द का लक्षण भी दिया है[1] स्वयम्भू के उक्त लक्षण से पता चलता है कि उस समय रासा काव्य अत्यधिक जन प्रिय होते थे और कविजन इन्हे छन्दो बद्ध किया करते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वीसलदेवरासो मे प्रयुक्त रसायण शब्द से रासो शब्द की उत्पत्ति मानी है[2]। श्री के० का० शास्त्री के मतानुसार रास या रासक मूलत नृत्य के साथ गायी जाने वाली रचना विशेष है[3]।

---

[1] घत्ता-छड्डुणि आहिं पद्धडि आहि सुअण्णरूएहिं।
रासाबंधो कव्वे जण-मण अहिरामओ होइ। ८-४९।
एकवीसमत्ता णिहणउ उद्दाम गिरू।
चउदसाइ विस्सामहो भगण वि रइए थिरू॥
रासा बघु समिद्धु एउ अहिराम अरु। ८-५२।

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३२ (स० २००३)

[3] आपणा कविओ भाग १ पृष्ठ १४३-१५२ तथा ४१६-४३२

ओझा जी के अनुसार रासा शब्द ही उपयुक्त है और इसकी उत्पत्ति संस्कृत रास से है[1]। राजस्थान विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० माताप्रसाद जी गुप्त की अभी रासो साहित्य विमर्श पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि 'रास' रासा वलय, रासा और रासक छन्दों, रासक और नाट्य रासक-उपनाटकों रासक, रास तथा रासो नृत्यों से भी रासो प्रबन्ध परम्परा का कोई निकट का सम्बन्ध रहा है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कदाचित् नहीं रहा है। इसी तरह हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार 'रासो' नाम से अभिहित कृतियाँ दो प्रकार की हैं—एक तो गीत-नृत्य-परक है दूसरी छन्द वैविध्यपरक। इसी कोश में आगे लिखा है कि गीत-नृत्य परक धारा पश्चिमी राजस्थान में तथा गुजरात में विशेष रूप से समृद्ध हुई और छन्द वैविध्य-धारा पूर्वीय राजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रदेश में अधिक विकसित हुई। इस प्रकार रास शब्द के विभिन्न अर्थ किए। उक्त लक्षणों में महाकवि स्वयम्भू का तथा हिन्दी साहित्य कोश का अभिमत अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है।

हिन्दी में रासा साहित्य पर विभिन्न कृतियां मिलती हैं। यही नहीं, हिन्दी के प्राचीन एवं मध्य-युगीन साहित्य का सर्वाधिक सम्पन्न काव्य रूप रहा। इसके अतिरिक्त यदि हिन्दी का आदि कालिक साहित्य को रासा साहित्य के रूप में कहें तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। रासा साहित्य जन प्रिय साहित्य था और उसके पठन-पाठन का अधिक प्रचार था। वह केवल वीर एवं शृंगार रस के वर्णन करने में ही प्रयुक्त हुआ हो, ऐसी बात भी नहीं है। जैन कवियों ने रासा साहित्य में अध्यात्म एवं वैराग्य के भी खूब गीत गाए हैं। रासा परम्परा हिन्दी के आविर्भाव के पूर्व अपभ्रंश एवं गुर्जर-साहित्य में भी सर्वत्र मिलती है। जैन विद्वानों का तीनों ही भाषाओं के रासा साहित्य के विकास में समान योग रहा। लेकिन इस लेख में केवल दो भाषाओं के रासा साहित्य पर ही विचार करेंगे।

अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रंश भाषा में अब्दुल रहमान के सन्देश रासक के अतिरिक्त जितने भी रासा ग्रंथ मिले हैं, वे सभी जैन विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं। उद्योतन का चर्चरी रास संभवतः सबसे पुराना रास है, जो राजस्थान के जालौर के आदिनाथ मंदिर में छन्दोबद्ध किया गया था। इस रास की रचना तिथि संवत् ८३५ है। पं० परमानन्द जी शास्त्री के शब्दों में इस रास में चार ध्रुवकों की परिपाटी है, जिनमें एक ध्रुवक कामोन्मादक रस का जनक है, दूसरा विषय वासना से पराङ्मुख करने वाला है, तीसरा ध्रुवक अशुचि मल मूत्रादि से संयुक्त अस्थि-पंजर को दिखाकर विवेक की ओर ले जाता है। चौथा ध्रुवक वैराग्य की ओर आकृष्ट करता है। 'जम्बूसामिचरिउ' के ग्रन्थकार महाकवि वीर (११वी शताब्दी) के पिता कविवर देवदत्त ने अपभ्रंश भाषा में ही 'अम्बा देवी चर्चरी रास' लिखा था, जो अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। श्री जिनदत्तसूरि द्वारा रचित 'उपदेशरसायनरास' भी इस भाषा की महत्वपूर्ण कृति है। इस का रचना काल संवत् १२०० के बाद का है। यह उपदेशात्मक काव्य है। यह रचना श्री लालचंद भगवानदास गांधी द्वारा सम्पादित रास और रासान्वयी काव्य में प्रकाशित हो चुकी है। उक्त रचनाओं के अतिरिक्त इसी

---

[1] हिन्दी नाटक उद्भव और विकास पृष्ठ ७० (द्वितीय संस्करण)

भाषा मे रचित विनयचन्द्र का चूनडीरास तथा निर्झर पचमीरास प० योगदेव का मुक्तानुप्रेक्षा रास एव जल्हिण का अनुप्रेक्षा रास आदि महत्वपूर्ण कृतिया है, जो अध्यात्म एव वैराग्यरस से ओत प्रोत हे ।

हिन्दी भाषा मे जैन विद्वानो ने रासा साहित्य से इस भाषा के भण्डार को विपुल रूप से भर दिया । १३ वी शताब्दी से लेकर १७ वी शताब्दी तक दस बीस अथवा सौपचास कृतिया लिखकर ही चैन नही लिया, किन्तु उन्होने इन शताब्दियो मे चार सौ से भी अधिक रासा ग्रथ लिखे । इस प्रकार इस साहित्य के द्वारा उन्होने हिन्दी भाषा के प्रचार एव प्रसार मे महत्वपूर्ण योग दिया । ये रासा ग्रथ केवल एक विषय पर ही लिखे हुए नही है, किन्तु जीवन की प्रत्येक समस्या पर इनमें विचार किया गया है । एक ओर ये चरित काव्य है, तो दूसरो ओर ये उपदेशात्मक है । इनमे मानव मात्र को सुपथ पर लगाने के गीत गाए गए हे । किसी किसी रासा मे ऐतिहासिक तथ्यो का भी अच्छा वर्णन मिलता है । लेकिन अधिकाश रासा ग्रथ काव्य है, जिनमे किसी व्यक्ति विशेष के चरित्र का वर्णन किया गया है । रासा काव्य का यह रूप जैन विद्वानो के लिए इतना अधिक प्रिय रहा है कि बहुत कम ऐसे विद्वान होगे जिन्होने एक या दो रासा ग्रथ नही लिखे हो । ब्र० जिनदास ने तो अकेले ने ३० से अधिक रासा काव्य लिखकर हिन्दी साहित्य मे एक नया उदाहरण उपस्थित किया है, इनका परिचय आगे दिया जावेगा ।

ये रासा ग्रथ काव्यत्व की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नही है, किन्तु भाषा एव छन्द शास्त्र की दृष्टि से भी ये अत्यधिक महत्वपूर्ण कृतिया है । विभिन्न छन्दो, राग-रागनियो, ढालो एव भास-रागो का इनमे खूब प्रयोग किया गया है । दोहा, चौपाई, वस्तुबध छद इनके प्रिय छन्द है, जिनका प्रयोग अधिकाश रासो मे किया गया हे । इन्हे लोग गाते थे और उत्सवो एव अन्य आयोजनो के अवसर पर जनता को गाकर सुनाया करते थे । हिन्दी भाषा के क्रमिक अध्ययन की दृष्टि से भी ये ग्रथ महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते है और हमे इनके पठन-पाठन से एक नयी दिशा मिल सकती है । प्रकृति-चित्रण भी इनमे से कितने ही रासो मे अच्छा हुआ है । जैन कवियो ने बाग, उद्यान, वन, अटवी मे भ्रमण का कही न कही वर्णन अवश्य किया है । और उस अवसर पर विभिन्न वृक्षो एव फल फूलो का खूब वर्णन करते है । नये नये पौधो एव फलदार वृक्षो के नाम गिनाकर इस दिशा मे अपनी विद्वता का परिचय देते है । यहा एक और बात स्पष्ट कर देने की हे और वह यह हे कि ये रासा ग्रथ काव्यात्मक और कथात्मक अधिक होते है, क्योकि कवि को कथा को कह कर पाठको को सुपथ पर ले जाने की अधिक इच्छा रहती है । केवल विनोद के लिए उन्होने बहुत ही कम रचना लिखी है । उनका यह प्रयास सर्वथा प्रसशनीयहै । अब यहा इस साहित्य की प्रमुख कृतियो पर प्रकाश डाला जा रहा है ।

१. भरतेश्वर बाहुबलि रास

यह सभवत हिन्दी भाषा का प्रथम रासा ग्रथ है, जिसके रचयिता शालिभद्र सूरी है । इसकी रचना तिथि सवत् १२३१ है । रास मे प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ के दो पुत्र सम्राट् भरत एव बाहुबलि मे हुए युद्ध का प्रमुख वर्णन है । रास श्री लालचन्द भगवानदास गाधी द्वारा सम्पादित रास और रासान्वयी काव्य मे प्रकाशित हो चुका है ।

२. बुद्धिरास

यह भी शालिभद्र सूरी की ही कृति है। इसमे श्रावको को सदाचरण का उपदेश दिया गया है। रास मे ६३ छन्द है। इसकी रचना तिथि नही दी हुई है। यह भी रास और रासान्वयी पुस्तक मे प्रकाशित हो चुका है।

३. जीवदयारास

यह सवत् १२५७ की कृति है और इसके ग्रथकार कवि आसगु है। कवि ने इसे जालौर नगर मे छन्दोवद्ध किया था। रास का मुख्य विषय श्रावकधर्म का निरूपण करना है। इसमे जीव-दया पालन पर विशेष जोर दिया गया है। इसकी छन्द सख्या ५३ है और यह कृति भी उक्त पुस्तक मे प्रकाशित हो चुकी है।

४. चन्दनबाला रास

इस कृति के रचयिता भी कवि आसगु है। इसे उन्होने जालौर के निकट सहिजगपुर (पश्चिमी राजस्थान) मे छन्दोवद्ध किया था। कवि ने इसमे चन्दनवाला के सतीत्व, सयम एव चरित्र का यशोगान गाया है। सती चन्दनवाला अन्त में भगवान महावीरसे दीक्षा लेकर अपना आत्म-कल्याण करती है। इसमे ३५ छन्द हैं, जो "राजस्थानी भारती' मे श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।

५. स्थूलिभद्ररास

यह रास कवि धर्मा द्वारा लिखा गया था। कवि ने इसे सवत् १२६६ मे पूर्ण किया था। इसकी एक प्रति अभय-ग्रथालय बीकानेर मे सुरक्षित है। रास में आचार्य भद्रबाहु के समकालीन आचार्य स्थूलिभद्र के जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

६. रेवन्तगिरिरास

यह विजयसेन सूरी की कृति है। इसका रचना काल स० १२८८ है। इसमे रेवन्तगिरि तीर्थ के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। यह एक ऐतिहासिक रासो है। इसकी रचना सोरठ देश मे हुई मानी जाती है। इसमे कुल ७२ छन्द है तथा रचना अच्छी है।

७. नेमिजिगदरास

इसके रचयिता पल्हण कवि हैं जो १३ वी शताब्दी के विद्वान थे। कवि की अभी दो रचनाएँ और उपलब्ध हुई है। इस रास मे कुल ५५ छन्द है। इनमे आबू पर्वत के महात्म्य का वर्णन किया गया है। विमल मत्री एव तेजपाल मत्री द्वारा किए गए मन्दिर निर्माण का विस्तृत वर्णन है। यह रास भी रास और रासान्वयी काव्य मे प्रकाशित हो चुका है।

८. नेमिनाथरास

सुमतिगति ने इसे सवत् १२७० मे समाप्त किया था। इसमें बाईसवे तीर्थंकर भगवान के जीवन का वर्णन किया गया है। इसकी एक प्रति वृद्ध ज्ञान भण्डार जैसलमेर में सगृहीत है। रचना राजस्थान के किस प्रदेश मे छन्दोबद्ध की गई थी, इसका उसमे कोई उल्लेख नही है।

९. गयसुकुमालरास

यह कृति जगतचन्द्र के शिष्य देल्हण कवि द्वारा छन्दोबद्ध की गई थी। यद्यपि रास मे रचना तिथि नही दी गई है, लेकिन सूरिजी का समय १३ वी शताब्दी होने से रास का समय भी यही होगा। इसमें गजसुकुमाल मुनि के जीवन का वर्णन किया गया है। यह कृति भी 'रास और रासान्वयी' काव्य मे प्रकाशित हो चुकी है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति अभय-ग्रथालय बीकानेर मे सगृहीत है।

१० समरारास

इसके रचयिता अम्बदेव सूरि है। रास की रचना तिथि सवत् १३७१ के आस पास की है। इसका रचना स्थान अणहिलपुर पाटन है। इसमे सघपति समरसिंह की तीर्थयात्रा का वर्णन किया गया है। इन्होने शत्रुजय तीर्थ पर आदिनाथ की प्रतिष्ठा स्थापित की थी। यह रास प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह में प्रकाशित हो चुका है।

११. पंचपांडवरास

यह रचना शालिभद्र सूरि की है, जिसे उन्होने सवत् १४१० मे समाप्त की थी। रचना अच्छी है। रास की कथा पाडव पुराण पर आधारित है। पाडवो के जन्म, महाभारत युद्ध एव उसमे विजय तथा अत में नेमिनाथ से दीक्षा लेकर वैराग्य लेने की कथा है। रास का रचना स्थान गुजरात प्रदेश है। यह रासभी रास और रासान्वयी काव्य मे प्रकाशित हो चुका है।

१२. गौतमरास

यह विनयप्रभ सूरि की रचना है। इसकी रचना तिथि स० १४१२ है और रचना स्थान खम्भात रहा है। इसमे भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतमस्वामी के जीवन चरित्र का वर्णन किया गया है। गौतम पहिले ब्राह्मण थे, लेकिन बाद मे भगवान महावीर से शास्त्रार्थ मे पराजित होकर अपने पाच-सौ शिष्यो के साथ उनके शिष्य बन गए और अन्त मे केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया। इस रासा की प्रतियाँ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो मे काफी उपलब्ध होती हैं। वैसे यह रास भी रास और रासा-न्वयी काव्य मे प्रकाशित हो चुका है।

१३. कुमारपालरास

इस कृति के कवि हैं, देवप्रभ सूरि और रचना काल है संवत् १४३५ के आसपास उसमें छन्दों की संख्या ४३ है। रास में गुजरात के सम्राट् कुमारपाल का जीवन चरित्र अंकित है। यह रास डा० भोगीलाल सांडेसरा द्वारा भारतीय विद्या में प्रकाशित हो चुका है।

१४. कलिकालरास

यह हीरानंदसूरि की कृति है। कवि ने उसे संवत् १४८६ में छन्दोबद्ध किया था। इस में कलियुग के प्रभाव का वर्णन है। कवि राजस्थान के निवासी थे। रास को श्री अगरचन्द भंवरलाल नाहटा ने हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित करा दिया है ।

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त सप्तक्षेत्ररास, पंचडरास, कच्छूलिरास, आदि और रास हैं जो १५ वीं शताब्दी के मध्य काल तक लिखे गए। १५ वीं शताब्दी के अन्तिम पाद में भट्टारक सकलकीर्ति एवं ब्रह्म जिनदास के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं। सकलकीर्ति अपने समय के जबरदस्त विद्वान थे। उन्होंने संस्कृत भाषा में तो कितने ही ग्रंथों को छन्दोबद्ध किया ही था, हिन्दी में भी उन्होंने आठ लघु कृतियां लिखी। उनमें दो रचनाएँ रासा साहित्य की भी हैं और उनके नाम हैं—सोलहकारण रास और सारसीखा मणिरास। सारसीखामणि उपदेशात्मक रचना है और सोलहकारण रास में उस व्रत के महात्म्य का वर्णन किया गया है। कवि की भाषा का एक उदाहरण देखिए

जीव-दया व्रत पालीइए मन कोमल कीजि ।
आप सरीखा जीव सर्व मन माहि धरीजइ ॥

ब्रह्म जिनदास हिन्दी के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने हिन्दी में ६० से अधिक रचनाएँ लिखकर हिन्दी जगत में एक नया उदाहरण उपस्थित किया। इन रचनाओं में ३३ रासा ग्रंथ हैं, जिनको कवि ने विभिन्न स्थानों पर विहार करते हुए लिखा था। इनमें अधिकांश रास बड़ी बड़ी कृतियां हैं और प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखी गई है। गुजरात प्रदेश में इनका विशेष सम्बन्ध होने से इनकी रचनाओं पर गुजराती भाषा का अत्यधिक प्रभाव है। ब्रह्म जिनदास की रचनाएँ राजस्थान में अत्यधिक प्रिय रही हैं, और इसलिए इनकी हस्त लिखित प्रतियां राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में प्रचुर संख्या में मिलती हैं, इनकी कुछ रचनाओं के नाम निम्न प्रकार हैं—कर्म-विपाक रास, सुदर्शनरास, श्रीपालरास, अम्बिकारास, जम्बूस्वामीरास, हनुमतरास, होलीरास, सम्यक्त्वरास, रात्रिभोजनरास, अजितनाथरास, नागकुमाररास, जीवधररास, नेमीश्वररास, रामायणरास, धर्मपरीक्षारास, भविष्यदत्तरास, सुकुमालस्वामीरास, सुभूमचक्रवर्तिरास। कवि की भाषा का एक उदाहरण देखिए—

पाषाण माहि सोनो जिम होई, गोरस माहि जिमि घृत होई ।
तिलसारे तैल बने जिमि अंग, तिम शरीर आत्मा अभंग ॥

काष्ठ माहि आगिनि जिमि होइ, कुसुम परिमल माहि नेह।
नारे सीत जिम नीर, तेम आत्मा वसै जगत सरीर ॥

ब्रह्म जिनदास के एक शिष्य गुण कीर्ति ने रामसीतारास की रचना की। यह काफी बडी कृति है। इसे हम जैन रामायण भी कह सकते है। इनकी भाषा ब्रह्म जिनदास की भाषा से मिलती जुलती है। सवत् १४९९ मे बडतपागच्छीय साधु कीर्ति ने विक्रम चरित्र रास की रचना की।

१६ वी शताब्दी मे भी रासा साहित्य उतना ही लोकप्रिय रहा, जितना इसके पूर्व था। ऋषि वर्द्धन सूरि ने सवत् १५१२ मे नलदमयन्तीरास की रचना की थी। ये अञ्चल गच्छीय जयकीर्ति सूरि के शिष्य थे। रास का रचना स्थान चितौड था। इसी समय मतिशेखर ने भी तीन रासा ग्रथ की रचना की। इनमे धन्नारास (स० १५१४) एव मयणरेहारास (स० १५३७) के नाम उल्लेखनीय है। धन्नारास का एक उदाहरण देखिए—

दान प्रभावइ सुगतिर जासिइ
जीवड दान वडउ जन जुगतइ॥
कुगति निवारण हारी॥ २। २१॥

भविया दान घना जिम दीजइ
मुनिष जनम तणउ फल लीजइ।
कीजन भावन पुरे॥ २। २२॥

इह भवि परिभवि दान प्रभावइ।
करिय राज रिद्धि सहु आपइ।
जायइ दुखि दुह दरे॥ ३॥ २३॥

पूर्णिमा गच्छीय उदयभानु ने सवत् १५६५ मे विक्रमसेन रास की रचना की थी। यह भी अच्छी कृति है। इसी शताब्दी मे तपागच्छीय धर्मसिह ने विक्रमरास की रचना की। खरतर गच्छीय धर्म समुद्र गणि ने भी कितने ही रासा ग्रथो की रचना की थी। इनमे सुमित्रकुमाररास (१५६७) कुलध्वज कुमाररास (१५८९) रात्रिभोजनरास, सुदर्शनराम और शकुन्तलारास के नाम उल्येखनीय है। शकुन्तला रास का एक उदाहरण देखिए—

राय अन्याय तणउ रखवाल पाल पृथ्वी तणउसहू कहइए।
ए निरधार ऊपरि हथियार भार सोचा के ही लहइए॥

आदित्यवार कथा के रचियता भाउ कवि ने भी नेमिनाथरास की रचना कर रासा साहित्य के भण्डार मे अभिवृद्धि की। नेमिनाथरास एक अत्यन्त सुन्दर कृति है, जिसमे भगवान नेमिनाथ के जीवन पर एव मुख्यत उनकी वैवाहिक घटना का सुन्दर वर्णन किया है। एक उदाहरण देखिए—

रूप अञ्चल णेमिकुमार, सुण राजमती कियो सिंगार।
कर ककण बहु हीरा जडयो, पहिरि हार गज मोती भरयो ॥
कुसुम सीस बंधे बहुताइ, तिलकु लिलाट न वर्णो जाय।
नयण कज्जल मुखि तंबोलु, अगि चढाइयो कुंकुम रोलु ॥

सवत् १५३६ मे आचार्य सोमकीर्ति ने यशोधरराम की रचना की थी। सोमकीर्ति अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान भट्टारक थे। यशोधररास उनकी अच्छी कृति है। यह एक प्रबन्ध काव्य है, जो गुठली नगर मे लिखा गया था। इसकी भाषा पर गुजराती का पूरा प्रभाव था। इसी शताब्दी मे एक कवि पूनो हुए जिन्होने सवाद के रूप मे मेघकुमार रास की रचना की। यह रचना समाज मे बहुत प्रिय रही थी। इसलिए इसकी कितनी ही प्रतियाँ राजस्थान के शास्त्र भण्डारो मे उपलब्ध होती हैं। इस रचना मे २१ छद है। आचार्य जिनसेन ने सवत् १५५८ मे नेमिनाथ राम की रचना की। जिसकी एक प्रति जयपुर के बडे मदिर के शास्त्र-भण्डार मे उपलब्ध होती है। कवि सहज सुन्दर रत्नसमुद्र के शिष्य थे। इनके रासा ग्रथो में ऋषिदत्तारास (म० १५७२) आत्मराजरास (स० १५८३) जम्बू अतरगरास (स० १५७२) परदेशी राजानोरास, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि रास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी शताब्दी मे एक और कवि हुए जो सस्कृत के प्रकाड विद्वान थे। उनका नाम है भट्टारक ज्ञान भूपण। इनकी तत्त्वज्ञान तरगिणी एक श्रेष्ठ रचना है। इन्होने पट् कर्म रास की रचना करके रासो साहित्य के प्रति अपने प्रेम को प्रदर्शित किया। रास की भाषा पर गुजराती का प्रभाव है। इसकी कितनी ही प्रतियाँ राजस्थान के शास्त्र भण्डारो मे उपलब्ध होती है।

१७ वी शताब्दी मे भी रासा साहित्य लिखने मे विद्वानो ने बहुत रुचि ली एव जनता मे भी उनके पठन-पाठन की खुब रुचि रही। विनयसमुद्र राजस्थानी विद्वान थे। इन्होने कितनी ही रचनाओ का निर्माण कर अपनी विद्वता का अच्छा परिचय दिया। वे बीकानेर के रहने वाले थे। रासो साहित्य मे इनकी चित्रसेन पद्मावती राम (स० १६०४) शीलरास (स० १६०४) नलदमयन्तीरास (स० १६१४) चन्दनवाला रास एव इलापुत्ररास आदि कृतियो के नाम उल्लेखनीय है। कुशललाभ प्रसिद्ध राजस्थानी विद्वान थे। इनकी तेजसाररास (स० १६२४) तथा अगडदत्तरास (१६२५) राजस्थानी भाषा की अच्छी रचनाएँ है। कविवर रूपचन्द का नाम जैन समाज मे अत्यधिक प्रसिद्ध है। ये हिन्दी के उच्चस्तर के कवि थे। इनके द्वारा लिखा हुआ नेमिनाथ रास एक सुन्दर कृति है। यह कवि की लघु कृति है, जिसमे नेमिनाथ के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। रास मे ५० छन्द है। इसमे आए हुए वसन्त ऋतु वर्णन का एक उदाहरण पढिए —

गुंजत अलिगुनु सजि जनु कियौ धनुष टंकारू,
तीछन तीर भए जनु मकुलित मधुरस हार।
कुसुमित कनक केतुकी कुसुम मनौती नीर,
विरही जन मन वेधे घाइल भए सरीर ॥ २० ॥

आनन्द भेरी बाजी आनविउ सब्बु लोगु,
घर घर नर नारी सब करहि सिंगारु मनोगु।
दिव्य वस्त्र आभूषन पहिरै अंग बनाइ,
पान फूल अरु चोवा चंदन तनु महकाई ॥२३॥

ब्रह्म रायमल्ल अनन्तकीर्ति के शिष्य थे। इन्होने नेमीश्वररास (स० १६१५) हनुमतरास (१६१६) प्रद्युम्नरास (स० १६२८) श्रीपालरास (१६३०) सुदर्शन रास (१६३३) और भविष्यदत्त रास (१६३३) की रचना कर रासा साहित्य की ओर जनता की अभिरुचि मे वृद्धि की। इनकी भाषा पर जयपुरी भाषा का प्रभाव है। सभी रचनाएँ बडी कृतिया है। राजस्थान के शास्त्र भण्डारो मे इनकी प्रतिया खूब मिलती हैं, जो इनकी लोकप्रियता की ओर सकेत करती है। भट्टारक शुभचन्द १७ वी शताब्दी के अच्छे विद्वान थे। सस्कृत भाषा मे इनकी कितनी ही कृतिया मिलती है। हिन्दी कृतियो मे इनका पल्यविधानरास एक उल्लेखनीय रचना है। विद्या भूषण ने सवत् १६०० मे भविष्यदत्त रास की रचना करके हिन्दी प्रसार मे अभिवृद्धि की। उपाध्याय गुणविनय प्रसिद्ध विद्वान जयसोम के शिष्य थे। ये बडे साहित्य सेवी थे और इन्होने अपने जीवन मे २० से भी अधिक रचनाएँ लिखी थी। रासा ग्रथो मे अञ्जना सुन्दरी रास (स० १६६२), कर्मचन्द-वशावली रास, जम्बूरास (स० १६७०) बारह-व्रत रास (स० १६५५) आदि के नाम उल्लेखनीय है।

१७ वी शताब्दी के अन्त मे ब्र० कपूरचद हुए जिन्होने सवत् १६९७ मे पार्श्वनाथ रासो की रचना की। कवि राजस्थानी थे। पार्श्वनाथ रासो हिन्दी की एक सुन्दर रचना है, जिसमे १६६ पद्य है। कवि ने इसे आनन्दपुर मे छन्दोबद्ध किया था। रासो की भाषा का एक उदाहरण देखिए—

अहो नगर मे लोक अति करै जी उछाह,
खर्चै जी द्रव्य माने अधिक उचाह।
घरि घरि मगल अति घणा,
घरि घरि गावै जी गीत सुधार।
सब जन अधिक आनदिया,
धनु जननी तसु जिण अवतार ॥ १२४ ॥

इन्ही के समकालीन श्री कल्याणकीर्ति जी थे जिन्होने चारुदत्तरास की रचना की थी। ये भी लोडाग्राम के निवासी थे। कवि ने इस रास की सवत् १६९२ मे रचना की थी। रचना अच्छी है एव अभी तक अप्रकाशित है। इसका एक भाग देखिए—

मोहन रूप धरी अवतरी,
सकल नारी सरे सुन्दरी।

कनक कुर्म सदृश क्रम दोय,
तासु वर्ण उन्नत नत होय ॥ ६२ ॥

इस प्रकार जैन विद्वानो का रासो साहित्य के विकास मे जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, उसकी एक झलक पाठको के समक्ष उपस्थित की गयी है। १८ वी और १६ वी शताब्दी मे भी अनेक रासाओ की रचना हुई थी, लेकिन उनके सम्बन्ध मे एक अन्य लेख मे प्रकाश डाला जावेगा।
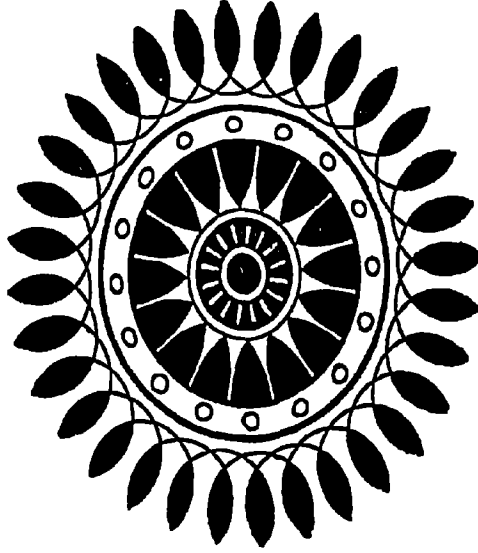
संस्कृत-भाषा का जैन-साहित्य

साहित्य-विभाग परामर्शक मुनि श्री बुद्धमल्लजी
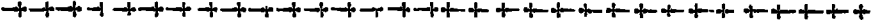
जैन-साहित्यकारो ने धर्म प्रचारार्थ जनभापा को महत्त्व दिया था, परन्तु कालान्तर मे उन्होने विचार प्रसार के क्षेत्र मे सस्कृत को भी उतना ही महत्त्व दिया। अन्य मतावलबी दार्शनिको के मतव्यो को समझने तथा उनका खडन कर अपने मतव्यो को स्थापित करने के लिए जैन साहित्यकारो ने इस क्षेत्र मे पदन्यास किया और शीघ्र ही प्राकृत-भापा के साभन सस्कृत पर भी अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया।

परपरा से यह एक अनुश्रुति चली आ रही है कि जैनागम-द्वादशागी के अगभूत चौदह पूर्व सस्कृत भाषा मे ही रचे गए थे। उनके रचनाकाल के विपय मे दो विचारधाराएँ है—एक विचारधारा के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व से जो ज्ञान चला आ रहा था, उसी को उत्तरवर्ती साहित्य रचना के समय 'पूर्व' कहा गया। दूसरी विचारधारा के अनुसार द्वादशागी से पूर्व ये चौदह शास्त्र रचे गए थे। इसलिए इन्हे पूर्व कहा गया। साधारण बुद्धि वाले इन्हे पढ नही सकते थे। उनके लिए द्वादशागी रचना की गई। वर्तमान मे पूर्वज्ञान विच्छिन्न हो चुका है। अत कहा नही जा सकता कि उनमे प्रयुक्त सस्कृत-भाषा वैदिक सस्कृत (प्राचीन सस्कृत) थी या लौकिक सस्कृत (वर्तमान मे प्रचलित अर्वाचीन सस्कृत)।

वर्तमान मे उपलब्ध जैन सस्कृत-साहित्य मे आचार्य उमास्वाति का तत्वार्थ-सूत्र प्रथम ग्रथ माना जाता है। इसे मोक्ष-शास्त्र भी कहा जाता है। जैन दर्शन का परिचय पाने के लिए आज भी यह ग्रथ प्रमुख रूप से व्यवहृत होता है। उमास्वाति का समय तीसरी शताब्दी माना जाता है। उनका यह ग्रथ इतना मान्य हुआ कि विविध समयो मे इसकी बीसियो टीकाएँ लिखी गई। सिद्धसेन, हरिभद्र, अकलक

और विद्यानन्द जैसे धुरधर विद्वानो ने भी अपने-अपने दार्शनिक मतव्यो की स्थापना के लिए तत्त्वार्थसूत्र की टीकाएँ रची। यहाँ तक कि अठारहवी शती मे जैन नव्य न्याय के सस्थापक उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपनी नयी परिभापामे इसकी टीका की। यह कहना अत्युक्ति नही होगा कि अधिकाश जैन दार्शनिक साहित्य का विकास तत्त्वार्थसूत्र को केन्द्र मे रखकर ही हुआ है।

उसके पश्चात् तो जैन सस्कृत साहित्य का एक स्रोत ही उमड पडा। प्रत्येक विपय के आकर-ग्रथो की मानो होड-सी लग गई। उन सबका परिचय देना तो एक बडा-सा ग्रथ बना डालने जैसा कार्य है। यहाँ उनमे से कुछ की केवल सूचनामात्र ही की जा सकती है।

जब भारतीय दर्शनो मे नवजागरण हुआ, तब सभी ओर से खडन-मडन की प्रवृत्ति बढी। युक्तियो का आदान-प्रदान हुआ। इस सघर्ष मे पडकर दार्शनिक प्रवाह बहुत पुष्ट हुआ। जैनो को भी अपने विचारो की सुरक्षा के लिए दर्शन-ग्रथ लिखने की तैयारी करनी आवश्यक हो गई। उन्होने अपनी कलम को दर्शनशास्त्र की ओर मोडा। बहुत शीघ्र ही अन्य दार्शनिक ग्रथो मे टक्कर लेने योग्य ग्रथो का निर्माण हुआ। इस क्रम मे पहल करने वाले थे, प्रचड तार्किक श्री सिद्धसेन दिवाकर। आगमो मे विकीर्ण अनेकान्त के बीजो को पल्लवित करने तथा जैन-न्याय की परिभापाओ को व्यवस्थित करने का प्रथम प्रयास उनके ग्रथ 'न्यायावतार' मे ही मिलता है। उन्होने जो बत्तीस द्वात्रिंशिकाए रची थी, उनमे भी उनकी प्रखर तार्किक प्रतिभा का चमत्कार देखने को मिलता है। समतभद्र भी इसी कोटि के दार्शनिक गिने जाते है। उनका समय कुछ इतिहासकर चतुर्थ शताब्दी और कुछ सप्तम शताब्दी बतलाते है।[1] उनकी रचनाए देवागम-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, स्वयभूस्तोत्र आदि है। उनके पश्चात्-अकलक विद्यानन्द, हरिभद्र, जिनसेन सिद्धर्पि, हेमचन्द्र, देवसूरि, यशोविजय आदि अनेकानेक दार्शनिको ने इस क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण ग्रथ लिखे। दार्शनिक ग्रथो मे न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, अप्तमीमासा, लघीयस्त्रय, अनेकान्त-जयपताका, षड्दर्शन समुच्चय, आप्तपरीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, परीक्षामुख, वादमहार्णव, प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचद्र, स्याद्वादोपनिपद्, प्रमाणनयतत्त्वालोक, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, प्रमाण-मीमासा, व्यतिरेक द्वात्रिंशिका, स्याद्वाद-मजरी, जैन-तर्क-भापा आदि के नाम प्रमुख रूप से गिनाए जा सकते है।

प्राकृत भापा के आगम ग्रथो पर सस्कृत टीकाए लिखने का क्रम प्रारभ करने वालो मे हरिभद्र का नाम सर्व प्रथम आता है। उनका समय आठवी शती है। उन्होने आवश्यक,दशवैकालिक,नदी, अनुयोगद्वार जबूद्वीप प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम पर विशद टीकाएं लिखी है। शीलाकाचार्य ने आचाराग और सूत्रकृताग इन दो अगसूत्रो पर तथा अभयदेव ने शेप नव अग सूत्रो पर टीकाए लिखी। मलधारी हेमचन्द्र ने अनुयोगद्वार पर और मलयगिरि ने नदी, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, बृहत्कल्प, व्यवहार, राजप्रश्नीय, चन्द्रप्रज्ञप्ति, और आवश्यक पर टीकाए लिखी। इनके अतिरिक्त दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगमो पर और भी अनेक विद्वानो ने टीकाए तथा वृत्तिया लिखी है।

---

[1] रत्नकरड श्रावकाचार प्रस्तावना पृष्ठ १५७

सस्कृत-व्याकरण क्षेत्र मे भी जैनो का योग बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। जैनेन्द्र, स्वयभू, शाकटायन, शब्दाम्भोज भास्कर आदि सस्कृत व्याकरणो के पश्चात् हेमचन्द्राचार्य का सर्वांगपूर्ण "हेमशब्दानुशासन" उस क्रम का उन्नत प्रयास कहा जा सकता है। उसके पश्चाद्वर्ती शब्दसिद्धि-व्याकरण, मलयगिरि व्याकरण, विद्यानन्द व्याकरण और देवानद व्याकरण रहे है। ये सब तेरहवी सदी तक के है। व्याकरण रचना का यह क्रम वही समाप्त नही हो गया। बीसवी सदी मे तेरापथ श्रमण सघ के विद्वान मुनि चौथमल जी ने भिक्षुशब्दानुशासन नामक महाव्याकरण लिखकर उस कडी को वर्तमानकाल तक पहुँचा दिया है।

इसी प्रकार कोश ग्रथो मे धनजय नाममाला, अपवर्ग नाममाला, अमरकोश, अभिधान चिन्तामणि, शारदीया नाममाला आदि महत्त्वपूर्ण ग्रथ है।

काव्यक्षेत्र मे भी जैन विद्वान किसी से पीछे नही रहे है। उन्होने पद्यमय तथा गद्यमय अनेक उत्कृष्ट कोटि के काव्यो की रचना की है। उनमे पार्श्वाम्युदय, द्विसधानकाव्य, यशस्तिलक, भरतबाहुबलि महाकाव्य, द्वयाश्रयकाव्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, नेमिनिर्वाण महाकाव्य, शातिनाथ महाकाव्य, पद्मानदमहाकाव्य, धर्माभ्युदय महाकाव्य, जैनकुमारसभव, यशोधर चरित्र, पाडवचरित्र आदि की गणना प्रमुख रूप से कराई जा सकती है।

नाटको मे सत्यहरिश्चन्द्र, राघवाभ्युदय, यदुविलास, रघुविलास, नलविलास, मल्लिकामकरद, रोहिणीमृगाक, वनमाला, चद्रलेखाविजय, मानमुद्रा-भजन, प्रबुद्धरोहिणेय, मोहपराजय, करुणावज्रायुध, द्रौपदी स्वयवर आदि उल्लेखनीय है। हेमचन्द्राचार्य के प्रधान शिष्य रामचन्द्र ने अकेले ने ही अनेक नाटको की रचना की थी। इसी प्रकार उपमितिभवप्रपचा, कुवलयमाला, आराधना-कथाकोश, आख्यान मणिकोश, कथारत्नसागर आदि कथा साहित्य द्वारा जैन विद्वानो ने सस्कृत के कथा-साहित्य को भी अपूर्व देन दी है। आदि-पुराण, उत्तर-पुराण, शाति पुराण, महापुराण, हरिवश पुराण आदि ग्रथो से उनके पुराण-साहित्य की समृद्धि को भी अच्छी तरह से जाना जा सकता है।

इसी प्रकार नीतिवाक्यामृत, अर्हन्नीति आदि नीतिग्रथ। समाधितत्र, योगदृष्टि-समुच्चय, योगबिन्दु, योगशास्त्र, योगविद्या, अध्यात्म-रहस्य, ज्ञानार्णव, योगचिन्तामणि, योगदीपिका आदि योग-सबधी ग्रथ, सिद्धान्त शेखर, ज्योतिष रत्नमाला, गणिततिलक, भुवनदीपक, आरभसिद्धि, नारचद्रज्योतिसार, बृहत्-पर्वमाला आदि ज्योतिष ग्रथ, छन्दोनुशासन, जयकीर्ति छन्दोनुशासन, छन्दोरत्नावलि आदि छन्दोग्रथ, काव्यानुशासन, अलकार-चूडामणि, कविशिक्षा, वागभटालकार, कविकल्पलता, अलकार प्रबोध, अलकार महोदधि आदि अलकार ग्रथ और भक्तामर, कल्याणमदिर, एकीभाव स्तोत्र, जिनशतक भमकस्तुति, वीरस्तव वीतरागस्तोत्र, महादेव स्तोत्र, ऋषिमडल स्तोत्र आदि स्तोत्र ग्रथ अपने-अपने क्षेत्र के महत्वपूर्ण ग्रथो मे गिनाए जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त रत्नपरीक्षा, सगीतोपनिषद्, सगीतसार, सगीतमडल, यत्रराज, सिद्ध-यत्र चक्रोद्धार, वैद्यकसारोद्धार, वैद्यवल्लभ आदि ग्रथ भी जैन विद्वानो के विस्तीर्ण ज्ञान क्षेत्र का बोध कराते है।

जैन विद्वानो ने बहुत से जैनेतर-ग्रथो की टीकाए भी लिखी है। साहित्य क्षेत्र मे उनका यह उदार दृष्टिकोण अभिनदनीय रहा है। अनेक ग्रथो की टीकाए बहुत प्रसिद्धि-प्राप्त है। जैनेतर ग्रथो पर लिखे गए कुछ प्रसिद्ध जैन ग्रथ इस प्रकार है—पाणिनि व्याकरण पर शब्दावतार न्यास, दिङनाग के न्याय-प्रवेश पर वृत्ति, श्रीधर की न्याय-कदली पर टीका, नागार्जुन की योग-रत्नमाला पर वृत्ति, अक्षपाद के न्यायसूत्र पर टीका, वात्स्यायन के न्याय भाष्य पर टीका, भारद्वाज के वार्तिक पर टीका, वाचस्पति की तात्पर्य टीका पर टीका, उदयन की न्याय तात्पर्य परि शुद्धि की टीका, श्रीकठ की न्यायालकार वृत्ति की टीका। इनके अतिरिक्त मेघदूत, रघुवश, कादम्बरी, नैषध और कुमारसभव आदि काव्यो की टीकाए भी सुप्रसिद्ध है।

जैन विद्वानो ने साहित्य क्षेत्र मे कुछ ऐसे नये तथा विचित्र प्रयोग भी किए है, जो उनकी विद्वता का प्रमाण तो देते ही है, पर साथ ही अपने प्रकार के केवल वे ही कहे जा सकते है। उदाहरणार्थ सत्रहवी सदी के जैन विद्वान श्री समयसुन्दर का 'अष्टलक्षी' नामक ग्रथ गिनाया जा सकता है। उसमे राजा नो ददते सौख्यम्' इस एक पद के १०२४०७ अर्थ किए गए है। ग्रथ के नामकरण मे उन्होने आठ लाख से ऊपर की सख्या को शायद इसलिए छोड दिया कि भूल से कही पुनरुक्त हो गया हो, तो उसके लिए पहले से ही अवकाश छोड दिया जाए। आठ अक्षरो के आठ लाख अर्थ करने का सामर्थ्य असाधारण ही कहा जा सकता है। उन्होने वह ग्रथ स० १६४६ मे अकबर सम्राट की विद्वन्मडली के समक्ष रखा था। सभी विद्वान उनकी इस विचित्र प्रतिभा से चमत्कृत हुए थे। शब्दो की अनेकार्थता के लिए यह ग्रथ एक प्रतिमान के रूप मे कहा जा सकता है।

इसी प्रकार का एक अन्य विचित्र प्रयोग आचार्य कुमुदेन्दु द्वारा अपने 'भूवलय' नामक ग्रथ में किया गया है। वह ग्रथ अक्षरो मे न होकर अङ्को मे है। एक से लगाकर चौसठ तक के अको का उसमे विभिन्न अक्षरो के स्थान पर प्रयोग हुआ है। वह कोष्ठको मे ही लिखा गया है। उसकी सर्वाधिक विशेषता तो यह है कि उसे यदि सीधी लाइन मे पढा जाए तो एक भाषा के श्लोक पढे जाते है और खडी लाइन मे पढा जाए तो दूसरी भाषा के। इसी प्रकार टेढी लाइनो मे पढे जाने पर अन्य-अन्य भाषाओ के श्लोक सामने आ जाते है। वह ग्रथ अभी कुछ वर्ष पूर्व ही प्राप्त हुआ है। अभी उसे पूर्ण रूप से पढा भी नही जा सका है। वह एक वृहत्काय ग्रथ है और कहा जाता है कि अपने समय के सभी विषयो का उसमें समावेश किया गया है। उसमे उत्तर तथा दक्षिण भारत की भाषाओ ने तो स्थान पाया ही है, पर अरबी आदि अनेक अभारतीय भाषाओ का भी उसमे प्रयोग हुआ है। कहा नही जा सकता कि उसके कर्त्ता कितनी भाषाओ के धुरधर विद्वान थे और कितने विषयो मे उनकी प्रतिभा ने चमत्कार दिखलाया था। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद से जब आचार्य श्री तुलसी का दिल्ली मे मिलन हुआ था, तब उन्होने इस विषय मे विस्तीर्ण जानकारी देते हुए आचार्य श्री से कहा था कि यह ससार के अनेक आश्चर्यों मे से एक आश्चर्य कहा जा सकता है।

उपलब्ध जैन-सस्कृत-साहित्य का स्रोत विक्रम की तीसरी सदी से प्रारभ हुआ और १८ वी सदी तक विभिन्न उतार चढावो के साथ अपने प्रबल वेग से बहता रहा। उसके पश्चात् वह ह्रासोन्मुख हो गया।

वह ह्रास केवल जैन-सस्कृत साहित्य मे ही आया हो ऐसी बात नही है, अपितु वह सार्वत्रिक ह्रास था, जो कि जैनो मे भी आया। फिर भी उसका प्रवाह सर्वथा रुक गया हो—ऐसी बात नही है। आज भी अनेक जैन विद्वान विभिन्न क्षेत्रो मे सस्कृत-साहित्य का निर्माण कर रहे है। अणुव्रत आन्दोलन प्रवर्त्तक आचार्य श्री तुलसी और उनके सघ का इस दिशा मे विशेष परिश्रम चल रहा है। इन चार दशको मे व्याकरण, काव्य, दर्शन, निबध, टीका और स्तोत्र आदि विषयक अनेकानेक महत्त्वपूर्ण सस्कृत ग्रथो का निर्माण हुआ है। उनमे भिक्षुशब्दानुशासन-महाव्याकरण, भिक्षु शब्दानुशासन बृहद्वृत्ति, भिक्षु शब्दानुशासन लघुवृत्ति, कालुकौमुदी, तुलसी प्रभा आदि व्याकरण ग्रथ, भिक्षु चरित, अर्जुनमालाकार, प्रभवप्रबोधा, अश्रुवीणा आदि गद्य और पद्यकाव्य, जैनसिद्धान्त दीपिका, भिक्षु न्याय-कर्णिका, युक्तिवाद, अन्यापदेश आदि दर्शन-ग्रथ, शिक्षापण्णवति, कर्त्तव्य-षट्त्रिशिका, मुकुलम्, उत्तिष्ठत जागृत !!, निबध निकुज आदि विभिन्न स्फुट ग्रथ, शात-सुधारस टीका आदि टीका ग्रथ और समुच्चय जिनस्तुति, देवगुरु स्तोत्र जिनस्तव, कालुभक्तामर, कालुकल्याण मदिर, तुलसी स्तोत्र आदि अनेक स्तोत्र ग्रथ गिनाए जा सकते है।
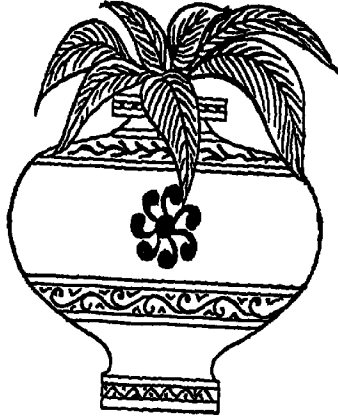
प्राचीन आयुर्वेद-कला

श्रीपतराम गौड, एम० ए०, प्रोफेसर बिडला कालेज, पिलानी

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य प्राचीन काल मे प्रचलित-आयुर्वेद-विज्ञान और कला का सक्षिप्त परिचय देना है। आयुर्वेद को देशी चिकित्सा Indigenous System कहना अपमान-जनक और अज्ञानमूलक है। क्योकि आयुर्वेद प्राचीन काल मे विश्व के वहुत वडे भू-भाग मे सार्वदेशिक या सार्वजनीन चिकित्सा-प्रणाली रह चुकी है और अव भी उसकी भारत तथा अन्य देशो मे मान्यता है। मगोलिया की खुदाई से चौथी-पाँचवी शताब्दी का जो आयुर्वेद-ग्रन्थ "वावर मैन्युस्क्रिप्ट' के नाम मे उपलब्ध हुआ है, वह सिद्ध करता है, कि आयुर्वेद की जडें प्राचीन काल मे दूर-दूर तक फैल चुकी थी। चीन, जापान और सिंहलादि मे प्रचलित सूची-वेध-प्रणाली भी आयुर्वेद की प्राचीन प्रणाली है। आजकल के भारत के विश्व-विद्यालयो में जो पाठ्य पुस्तकें पढाई जाती है, उनमे प्राय प्राचीन चिकित्सा की हीनता दिखाना ही पाण्डित्य-प्रदर्शन का परिचायक माना जाता है। भारतीय नामधारी विद्वानो की लेखनी से लिखे हुए ऐसे लेख भी—कभी वडे उपहासास्पद लगते है। लेखक आधुनिक सल्फा-ड्रग्ज का वर्णन करते हुए गर्व से फूल उठते हैं, किन्तु उन्हे स्वप्न मे भी यह पता नही, कि उनके पूर्वजो ने गधक, ताल और मल्ल के यौगिको का शताब्दियो पूर्व विकास कर लिया था और ससर्गज-व्याधियो पर आज तक उनका प्रयोग किया जाता है। विषो के प्रयोग पर आयुर्वेद का जैसा असाधारण अधिकार रहा है, वैसा आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का आज भी नही है। एक अन्य पाठ्य पुस्तक मे आधुनिक शल्य-चिकित्यसा की सिद्धियो का वर्णन करते हुए लेखक ने लिख मारा, कि भारत मे पहले कोई अग काटना होता, तो लाठियो से पीट कर बीमार को वेहोश किया जाता था। इसके वाद उसे वाँध कर करौती से उसका अग काटा जाता था। विश्व-विद्यालय के छात्रो को ज्ञान वितरण करते हुए इस प्रसग मे लेखक ने अपने अद्भुत अज्ञान का परिचय दिया है। सभवत इस प्रकार के लेखो का उद्देश्य यह प्रचार करना है, कि भारतीय सस्कृति वडी हीन है

और उसकी तुलना मे पाश्चात्य सभ्यता बहुत ऊँची है। क्योकि किसी को बेहोश करने के लिए सम्मोहन क्रिया का प्रयोग सबसे पहिले शायद भारतवर्ष मे ही किया गया था। ऋग्वेद मे भी शल्य-चिकित्सा का वर्णन है और सम्मोहन कला का भी। खिलाते ही बेहोश करने वाली या खून मे पहुचते ही शून्यकारी शरपुखा जैसी जडियो का ज्ञान भी भारतीयो को था। वेदो की ऋचाओ से तो यह सिद्ध होता है कि अश्विनीकुमार प्लाष्टिक सर्जरी भी जानते थे, जिससे उन्होने अपाला के नयी टाँगे जोड दी थी। यदि उक्त लेखक ने आधुनिक शल्य-चिकित्सा या भैषज्य विज्ञान का कोई इतिहास भी पढा हो, तो उसे यह बात याद रखनी चाहिए थी, कि स्वय पश्चिमी डाक्टरो ने आधुनिक शल्य-चिकित्सा के विकास मे आयुर्वेद का ऋण स्वीकार किया है। इसी प्रकार की भ्रान्तियो का निराकरण करने के लिए प्रस्तुत सक्षिप्त लेख लिखा गया है।

चिकित्सा का प्रारम्भ-बिन्दु द्रव्य ज्ञान है। इस ज्ञान के अतर्गत धातु, मूल और जीव सम्बन्धी सभी पदार्थों का यथावत् स्पष्ट और व्यवस्थित ज्ञान वैद्य को रहता था। वर्तमान काल मे आयुर्वेद के जो निघण्टु उपलब्ध है, वे अपेक्षाकृत आधुनिक हैं तथा अनेक भ्रान्तियो से पूर्ण हैं। भ्रान्तियो का मूल कारण यह था, कि भारत मे द्रव्यो के सैकडो आम्नाय रहे हैं। उनको एकसाथ सकलित करने के प्रयास मे भ्रान्तियो और पुनरावृत्तियो का होना अनिवार्य था। उदाहरणार्थं तेलगु भाषा मे एक प्रकार की रत्न-पुनर्नवा को "रत्नपुरुपम्" कहते है, किन्तु रत्न-पुनर्नवा वास्तव मे उससे बिल्कुल भिन्न जडी है। इसी से किस योग मे कौन सी रत्न-पुनर्नवा काम मे लेनी चाहिए यह जानना अत्यन्त कठिन और गुरू-गम्य विषय है। अगिरा जैसे प्राचीन वनस्पति-शास्त्रियो के ग्रन्थ आज लुप्त हो चुके है। आधुनिक पाश्चात्य वनस्पति-विज्ञान की दृष्टि से जो नामकरण किए जाते है, उनसे भी आयुर्वेद की जडियो का मूलरूप समझने मे भ्राति की ही वृद्धि होती है। आयुर्वेद की प्राचीन जडियो का सही ज्ञान प्राप्त करने का सबसे सुलभ उपाय सभी उपलब्ध निघण्टुओ का अकारादि क्रम से वर्गीकरण हो सकता है। इस दिशा मे महामहोपाध्याय भगीरथ स्वामी का सदिग्ध वनौषधि-शास्त्र आदर्श ग्रन्थ माना जा सकता है। स्वामी जी ने उक्त ग्रन्थ मे जडियो के मूलरूप समझने मे अनेक भूले की है। उनकी अत्यम्लवर्णी और पातालतुम्बी विषयक भ्रान्ति नमूने के रूप मे पेश की जा सकती हैं। फिर भी यह मानना ही होगा, कि एक जड़ी सबन्धी प्राचीन वैद्यो के विचार एकत्र करके स्वामी जी ने आयुर्वेद की बडी सेवा की है।

दूसरी बात यह है, कि आज जो टूटा-फूटा ज्ञान तीन हजार जडियो का आयुर्वेदज्ञो को है, उसका सम्बन्ध केवल औषधि निघण्टुओ से ही है, किन्तु धातु-विषयक ज्ञान की तो और भी दुर्दशा है। आज न बोधायन का "धातु-सर्वस्व" मिलता है और न पतञ्जलि का "लोह-शास्त्र" ही सुलभ है। भूगर्भ-विद्या को जानने वाले गर्ग और वेदव्यास भी आज हमारे बीच मे नही है। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है, कि हम आज शुडाल, रसक, हीखी और अजन जैसी सुप्रसिद्ध धातुओ का भी पता लगावे ? आयुर्वेद की शुद्ध खनिज गधक आज नितात दुर्लभ हो चुकी है। विज्ञान-विकृत शुद्ध गधक ही आज हमे मिल सकती है। इससे भी बुरी हालत जीव-विज्ञान की है। आज तो आयुर्वेद जीव-विज्ञान की जानकारी प्राप्त करना ही अनावश्यक समझते है। जिन द्रव्यो से दवा बनती है, उनके ज्ञान का आज यह हाल है, तो प्राचीन

आयुर्वेदिक औषधियो के चमत्कारो की कल्पना भी हम कैसे कर सकते है ? आज हमारे देश को जडियो के जीवक की आवश्यकता है। आज यदि सुषेण और धन्वतरि पैदा हो, तो सजीवनी, रसायनी, सावर्ण्यकर्णी और विशल्यकर्णी औषधियो की हमारे देश मे कोई कमी नही है।

चिकित्सा का दूसरा अग औषध-निर्माण है। आज के विशेषज्ञता के युग मे जो औषधि-ज्ञाता है, वह कभी औषध निर्माता नही हो सकता। किन्तु ज्ञान-समन्वय सरलता और सस्तेपन की दृष्टि से आयुर्वेद मे यही उचित माना गया था, कि जिसको द्रव्यज्ञान हो वही दवा भी तैयार करे। आजकल बडी-बडी फार्मेसी और बडे-बडे यत्र दवा बनाते है। आज की आयुर्वेद की रसायन-शालाएँ उनके सामने बडी फीकी लगती है। फिर आजकल वैज्ञानिक बडी सफाई मे दवा बनाते है, और वे दवा का सार Active Principle निकालना जानते है। लोग कहते है, कि प्राचीनकाल मे यह महान् ज्ञान आयुर्वेदज्ञो को था ही नही। इसलिए आयुर्वेद आधुनिक चिकित्सा का मुकाबला ही कैसे कर सकता है ? किन्तु "अशनकल्प" और "पाक-सर्वस्व" के उद्धरणो को यदि हम भरद्वाज-कृत वृहद् विमान-शास्त्र मे पढे, तो स्पष्ट हो जाएगा कि 'प्राचीनकाल मे भी यत्र होते थे और उनसे औषधियों से सत्व निकाला जाता था और गोली, चूर्ण-चटनी सब बनाए जाते थे। भिन्न-भिन्न प्रकार की अग्नियो और भिन्न-भिन्न प्रकार के पाको का ज्ञान भी उनको था। इस शास्त्र मे उनकी औषधि-निर्माण-कला पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। यत्र-बल से उडन-शील धातुओ को स्थैर्य प्रदान करना आयुर्वेद की अद्वितीय सिद्धि है। व्याडि और नदि जैसे सर्वज्ञ भैषज्य शिल्पी (Pharmaceutical Engineers) प्राचीन काल मे हो चुके है, जिन्होने सोमानलयत्र और गर्भ-यन्त्र जैसे अद्भुत यत्रो का निर्माण किया था। ये दोनो यत्र स्वतः सचारित निर्वात यन्त्र है अर्थात् Automatic Vaccum है। वात का नितान्त अभाव होने पर दीपक जल ही नही सकता। किन्तु गीता मे लिखा है "यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता" यह अमर-दीप आयुर्वेद के महर्षि प्राचीन काल मे यत्र-कौशल से जला चुके है। मैने अनेको आधुनिक एजिनियरो से उक्त यन्त्रो की विधि के बारे मे पूछा है, किन्तु अब तक कोई भी सरल और सफल विधि नही बता सका।

चिकित्सा का तीसरा अग निदान है। रोग की पहिचान ही नही, तो इलाज हो ही नही सकता। प्रश्न उठता है, कि रोग का कारण क्या है ? आयुर्वेद के अनुसार व्याधि कर्मज भी होती है, स्वाभाविक भी और औपसर्गिक भी। ऐलोपेथी स्वाभाविक रोगो के अतिरिक्त कीटाणु जन्य रोग प्रमुख मानते है। आयुर्वेद के औपसर्गिक रोग उससे मिलते है। अथर्ववेद मे कीटाणुओ का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। फिर भी यह मानना होगा, कि आधुनिक चिकित्सा का कीटाणु ज्ञान अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। प्राकृतिक चिकित्सा और होमियोपैथी रोग का कारण विष मानते है। आयुर्वेद त्रि-दोष सिद्धान्त को मानता है। कुछ आधुनिक आयुर्वेदज्ञ विज्ञान के जीवाणु-सिद्धान्त को सही और आयुर्वेद के एकात्मवाद तथा त्रि-दोष सिद्धान्त को गलत बताते है। मेरी समझ मे इन दोनो मे कोई विरोध नही है। आत्मा को व्यापक-तत्व तथा दोषो को सूक्ष्म प्रेरक कारण के रूप मे न समझ सकने के कारण ही विद्वानो ने आयुर्वेद-पद्धति का विरोध किया है। वस्तुत आयुर्वेद का साहित्य बहुत विशाल है और रोग के कारण भी अनेक माने गए है। यथा प्रारब्ध कर्म, क्षेत्र, मन,

विष, कीटाणु, असतुलन, दोष आदि । प्रश्न यह उठता है, कि आधुनिक विज्ञान जैसे यन्त्रो की सहायता से रोगो का निश्चय करता है, इसी प्रकार रोग निश्चय का प्राचीनो का क्या उपाय था ? प्राचीन काल मे सर्वज्ञता प्राप्त करने के लिए जो उपाय बताए गए है, उनमे योग एक है। योगी को बाहर भीतर की सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इसी अन्तर्बोध से सभी रोगो का सूक्ष्म परिचय प्राचीनो को हुआ था। ससार के सभी विषयो का क्रम-बद्ध ज्ञान वेद से पहिले विकसित हुआ था। इसलिए प्राचीन वैद्य ज्योतिष को सहायता से रोग का सम्पूर्ण रूप सही-सही समझ लेते थे। कहा भी है **"लग्नवशेन रोगमाह चक्रपाणि.।"** अर्थात् चक्रपाणि वैद्य ने बतलाया है, कि सभी रोग लग्न के अधीन है। प्राचीन काल मे सामुद्रिक-शास्त्र का समुचित विकास हुआ था। इसलिए भारतीय पुराणो मे लिखा है, कि गुल्फ, नितम्ब पदादि चौदह अगो के शुभाशुभ लक्षण जो भलीभाँति जानता है, उसे वेद की चौदह विद्याओ का रहस्य ज्ञात हुआ समझो। यह लक्षण विज्ञान रोग-निदान का अचूक साधन था। आजकल होमियोपेथी मे लक्षण-विज्ञान को समुचित महत्व दिया जाता है। पर खेद है, कि वह अभी उसे अचूक और व्यवस्थित नही बना सका। नाडी-विज्ञान भी प्राचीन काल मे बहुत विकसित हुआ था। नाडी छूकर अथवा हाथ के धागा बाधकर केवल कम्पनो के आधार पर रोग का सही पता देने वाले कोई-कोई वैद अब भी मिलते है। रोगो का पता लगाने के लिए अध्यात्म-विद्या का प्रयोग भी प्राचीन काल मे किया जाता था। इस विद्या से सूक्ष्म भावो और विचारो का स्थूलीकरण और पार्थिवीकरण कर लिया जाता था। मध्यभारत मे अब भी ऐसे एक महात्मा है, जो कासे की थाली और देशी कागज को शरीर पर रखकर अन्दर का चित्र उतार लेते है। यह चित्र वर्तमान काल के सभी X-Ray यन्त्रो से अधिक स्पष्ट होता है।

चिकित्सा का चौथा अग शरीर-विज्ञान है। यद्यपि वर्तमान काल के वैज्ञानिको की यह मान्यता सही है, कि उन्होने यत्रो की सहायता से और शल्य-क्रिया से शरीर रचना का जैसा गहरा ज्ञान प्राप्त किया है, वैसा प्राचीनो को हो ही नही सकता था। क्योकि शरीर के स्थूल रूप को हमारे प्राचीन ऋषि बहुत महत्व नही देते थे। वे स्थूल का कारण सूक्ष्म को मानते थे और सूक्ष्म शरीर का अध्ययन जैसा प्राचीनो ने किया, वैसा आज तक नही हो सका है। छप्पन कोठे और बहत्तर हजार नाडियो का विवरण "आर्ष-शरीर-विज्ञान" मे मिलता है। १०८ मर्म, सौषुम्ण जाल, त्रिकूट, छ योगिनी और सात-धारणाएँ आर्ष-शरीर-विज्ञान" के सूक्ष्म रहस्य है। "जिनमे वर्तमान विज्ञान की कोई गति नही है और आधुनिक वैद्य भी आधुनिकता के बहाव मे बह कर इन्हे भूल बैठे है। "देवता-प्रकरण" मे उन्होने अस्थि-विज्ञान को स्पष्ट किया था तथा उन्हे गर्भ-विज्ञान का भी समुचित ज्ञान था। ८४ प्रकार के वायु जन्य रोग, ४० प्रकार के पित्तज और २० प्रकार के कफज रोगो को तथा एकादश प्राणो की शरीर-सस्था को वे अच्छी तरह समझते थे। भाषा मे अन्तर हो सकता है। आज लकवे का कारण मस्तिष्क की कोषाओ का सूखना माना जाता है। पहिले यह वायु जन्य रोग माना जाता था। क्योकि उनकी राय मे वायु ही इन कोषाओ को सुखाती है।

पाचवा अग चिकित्सा है। अत्यधिक औषधि प्रयोग प्राचीन काल मे अनुचित समझा जाता था। प्राकृतिक आहार-विहार स्वास्थ्य के लिए आवश्यक समझा जाता था। यदि कुछ गडबडी होती, तो पहला

उपाय लघन माना जाता था। यदि रोग कठिन होता, तो पच कर्म का आश्रय लिया जाता। इसके बाद आवश्यकतानुसार सरल, निर्दोष और हितकारी औषधियो का मत्र सहित सेवन कराया जाता था। जरा और कुष्ठ जैसे महाभयानक और असाध्य रोगो के लिए संस्कार-युक्त पारे का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन काल मे औषधि-विज्ञान, कल्प-विज्ञान, रसायन-विज्ञान और रस-विज्ञानादि का समुचित विकास हो चुका था। सिद्ध योग अथवा पेटेन्ट औषधिया भी बनती थी। जिनके योग से रोग को स्थायी रूप से उखाड फेका जाता था। धनी कोमल प्रकृति वालो को तुरन्त लाभ पहुँचाने के लिए रसौषधियो का प्रयोग किया जाता था।

छठा अग सिद्धियाँ है। आयुर्वेद ने चिकित्सा के क्षेत्र मे जो सिद्धियाँ प्राप्त की, उनका पूरा विवरण एक पुस्तक लिखकर ही किया जा सकता है। आयुर्वेद की महान् विभूतियो मे अश्विनीकुमार, धन्वतरि और सुश्रुत जैसे सिद्ध-हस्त शल्य-चिकित्सक हो चुके है, जो अधे को नये नेत्र दे सकते थे, मस्तिष्क की शल्य-चिकित्सा कर सकते थे, कटे हुए पैरो के स्थान पर नए पैर जोड सकते थे और बूढे को जवान बना सकते थे। रावण जैसे बाल-रोग विशेषज्ञ और उड्डयनविद्या के पारगत आयुर्वेद मे हो चुके है। नित्यनाथ, नागार्जुन, पूज्यपाद, घुडिनाथ, लल्ल, नारायण जैसे गुटिका, पादुका-सिद्ध आयुर्वेद की महान् विभूतिया है। चरक, वाग्भट्ट, आगिरस भारद्वाज और जीवक जैसे विशेषज्ञो पर आयुर्वेद को गर्व है। मुर्दे को जिलाने और गलित कुष्ठ के गले अगो को फिर से उगाने मे महाराज सोमदेव जैसे रस-सिद्धो ने अपने चमत्कार प्रकट किए थे। गर्भ मे लिंग-परिवतन आयुर्वेद मे सरल माना जाता था।

चिकित्सा का सातवा अग परिचर्या है। रोगियो की सेवा शुश्रूषा के लिए आतुरालय होते थे। ये आतुरालय राजवैद्यो की देख-रेख मे चलते थे। किन्तु उन आतुरालयो का अत्यधिक विस्तार नही था। क्योकि अत्यधिक औषधि का प्रयोग जिस प्रकार प्राचीन आचार्य वर्ज्य समझते थे, उसी प्रकार अत्यधिक परिचर्या-चिन्ता को भी अनावश्यक मानते थे। कोई भी विद्वान जब अपनी चरम-सीमा पर पहुँच जाता है, तब उसमे सरल विधिया प्रकट होती है। इस दवा के बाद क्या दिया जाए और इससे बाद क्या और इसके बाद क्यो? यह भी एक प्रकार की चक्कर बाजी है। आयुर्वेद ने उस चक्कर बाजी से बचने के लिए परिचर्या की एक सरल विधि खोज डाली। इस विधि का नाम है अनुपान। अनुपान से एक ही औषधि अनेक रोगो और अनेक अवस्थाओ पर विजय पा सकती है। इसीलिए अनुपान-विद्या आयुर्वेद मे एक अलग शाखा की तरह विकसित हुई थी।

खेद है कि आयुर्वेद का आज ह्रास हो रहा है। नवीनता की धुन मे हम प्राचीन विज्ञान को भूलते जा रहे है। आयुर्वेद की हजारो पुस्तके अब भारत से बाहर जा चुकी हैं और वे अब दुष्प्राप्य हो चुकी हैं। श्री म० पदे जी ने विदेशो मे गई इस प्रकार की एक हजार पुस्तको की एक सूची तैयार की थी। श्री रामदास गौड ने भी अपनी पुस्तक "हिन्दुत्व" मे आयुर्वेद के अनेक अलभ्य ग्रन्थो की सूची दी है। भरद्वाज के "विमान-शास्त्र" मे भी इसी प्रकार की सूची है। मेरे सामने भी अनेक खोऐ हुए ग्रन्थो के प्रसग आए है। कुछ दिन पहिले एक मित्र ने मुझे सूचित किया था, कि गाव की एक गली मे "सौरम्य-सूत्र"

का एक प्राचीन पन्ना उन्हे मिला था। हमारे देश मे अस्मिता कब जागेगी, जब इन रत्नो को बटोर कर हम अपने पूर्वजो की महान् धरोहर का रूप तो समझ सकेंगे। हजारो लोग इस देश से हर वर्ष विदेशो मे जाते है। पर खेद है, कि किसी के मन मे यह विचार ही नही उठता, कि कम से कम इन दुर्लभ ग्रन्थो की चित्र-प्रतिलिपि तो हम अपने देश ले चले। यदि इस लेख को देखकर ही इन ग्रन्थो के सकलन की इच्छा किसी मे जाग जाग, तो लेखक अपना परिश्रम सार्थक समझेगा।
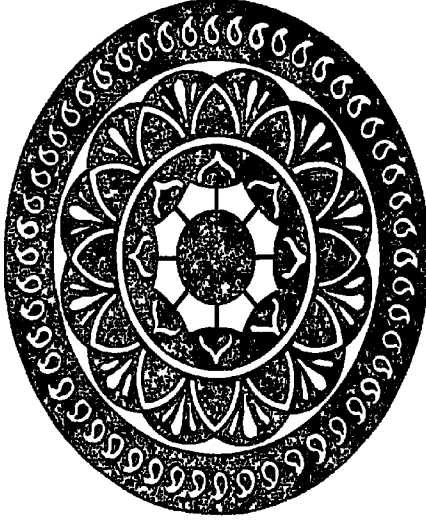
महावीर और बुद्ध पूर्व-भवों में

अणुव्रत परामर्शक मुनि श्री नगराजजी

जैन और बौद्ध परम्परा मे पूर्व-भव-चर्चा भी लगभग समान पद्धति मे ही मिलती है। महावीर और बुद्ध की भव-चर्चा मे तो एक अनोखी समानता भी है। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ ने अनेक भवो पूर्व मरीचि तापस को लक्ष्य करके कहा—"यह अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा।" इसी प्रकार अनेक कल्पो पूर्व दीपकर बुद्ध ने सुमेध तापस के विषय मे कहा—"यह एक दिन बुद्ध होगा।" महावीर की घटना उनके पच्चीस भव पूर्व की है। बुद्ध की घटना पाच-सौ इकावन भव पूर्व की है। दोनो घटनाओ का सयुक्त अध्ययन सरस और ज्ञान-वर्धक होने के साथ साथ दोनो परम्पराओ की समान धारणाओ का परिचायक भी होगा।

मरीचि तापस

उस समय भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरीचि प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ के पास दीक्षित हुआ। ग्रीष्म कालीन परीषहो से व्याकुल होकर, वह त्रिदण्डी तापस बन गया। वह समवशरण के बाहर बैठता। लोगो के पूछने पर अपनी दुर्बलता स्पष्ट-स्पष्ट कह देता। कोई दीक्षार्थी उनके पास आता, तो वह ऋषभ तीर्थंकर के पास दीक्षित होने की प्रेरणा देता। एक बार भरत चक्रवर्ती ने आदि तीर्थंकर ऋषभ से पूछा—"भगवन्! समवशरण मे स्थित साधु-साध्वियो या अन्य प्राणियो मे ऐसा कोई व्यक्ति है, जो आगामी काल मे तीर्थंकर पद पाने वाला हो! श्री ऋषभ ने कहा—भरत! समवशरण मे अभी ऐसा कोई व्यक्ति नही है। हां, समवशरण से बाहर मरीचि तापस ही ऐसा प्राणी है, जो इसी चौबीसी मे अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा। भरत चक्रवर्ती इस परिसवाद को लेकर मरीचि के पास आए, उसका अभिनन्दन किया और

यह गौरवपूर्ण भविष्यवाणियाँ उसके सामने कही। मरीचि तापस इस हर्ष-सवाद को सुनकर नाच उठा। उसके मन मे अपने कुल का अहं जागा। वह जोर-जोर से कहने लगा—"मेरे पितामह आदि तीर्थंकर, मेरे पिता आदि चक्रवर्ती और मै स्वय इस अवसर्पिणी कालार्ध मे ही वासुदेव, चक्रवर्ती और अन्तिम तीर्थंकर बनूँगा। अहो, मेरा कुल। अहो मेरा कुल!" इस अहं अभिव्यक्ति से मरीचि ने अशुभ गोत्रकर्म उपार्जित किया, जिमके फलानुसार ही भगवान् महावीर तीर्थंकर होते हुए भी, पहले देवानन्द ब्राह्मणी के उदर मे आए। भगवान् महावीर के कुल सत्ताईस भवो का वर्णन आता है, जिनमे दो भव मरीचि-भव से पूर्व के है, शेष बाद के। सत्ताईस भवो मे प्रथम भव नयसार कर्मकर का था। इसमे उसने किसी तपस्वी मुनि को आहार का दान दिया और प्रथम बार सम्यग्-दर्शन उपार्जित किया। भगवान् महावीर के जीव ने इन सत्ताईस भवो मे जहाँ चक्रवर्ती और वासुदेवत्व पाया, वहाँ सप्तम नरक तक का दुख भोग भी भोगा। अपने पच्चीसवे भव मे तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के बीस निमित्तो की आराधना करते हुए तीर्थंकर गोत्र बाँधा। तदनन्तर अपने छब्बीसवें भव मे "प्राणत" नामक दशम स्वर्ग मे २० सागरोपम काल तक वे रहे और सत्ताईसवें भव मे उन्होने भगवान् महावीर के रूप मे जन्म लिया।[1]

सुमेध तापस

अनेक कल्प व्यतीत हो गए कि शाक्यमुनि अर्थात् बुद्ध अमरावती नगरी मे, एक ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न हुए थे। उनका नाम सुमेध था। बाल्यकाल मे ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। सुमेध को वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने तापस-प्रव्रज्या ली। एक दिन उसने विचार किया, कि पुनर्भव दुख है, मैं उस मार्ग का अन्वेषण करता हूँ, जिस पर चलने से भव से मुक्ति मिलती है। ऐसा मार्ग अवश्य है। जिस प्रकार लोक मे दुख का प्रतिपक्ष सुख है, उसी प्रकार भव का भी प्रतिपक्ष विभव होना चाहिए। जिस प्रकार उष्ण का उपशम शीत है, उसी प्रकार रागादि दोष का उपशम निर्वाण है। ऐसा विचार कर सुमेध तापस हिमालय मे पर्ण कुटी बनाकर रहने लगा। उस समय लोकनायक दीपकर बुद्ध ससार मे धर्मोपदेश करते थे। एक दिन सुमेध तापस आश्रम से निकलकर आकाश मार्ग से जा रहे थे। देखा कि लोग नगर को अलंकृत कर रहे है, भूमि को समतल कर रहे है, उस पर बालू का आकीर्ण कर लाज और पुष्प विकीर्ण कर रहे है, नाना रगो के वस्त्रो की ध्वजा-पताका का उत्सर्ग कर रहे है और कदली तथा पूर्ण घट की पक्ति प्रतिष्ठित कर रहे है। यह देख कर सुमेध आकाश से उतरे और उन्होने लोगो से पूछा, कि किस लिए मार्ग-शोधन हो रहा है। सुमेध को प्रीति उत्पन्न हुई और बुद्ध-बुद्ध कहकर वे बडे प्रसन्न हुए। सुमेध भी मार्ग-शोधन करने लगे। इतने मे दीपकर बुद्ध आ गए। भेरी बजने लगी। मनुष्य और देवता साधु-साधु कहने लगे। आकाश मे मदार पुष्पो की वर्षा होने लगी। सुमेध अपनी जटा खोलकर, वल्कल चीर और चर्म बिछाकर, भूमि पर लेट गए और यह विचार किया, कि दीपकर मेरे शरीर को अपने चरण-कमल से स्पर्श करे, तो मेरा हित हो। लेटे-लेटे उन्होने दीपकर की बुद्ध-श्री को देखा और चिन्ता करने लगे, कि सर्व क्लेश का नाश कर निर्वाण-प्राप्ति से मेरा उपकार न होगा। मुझको यह

---

[1] कल्पसूत्र, बालावबोध पृ० ३६-४६

अच्छा मालूम होता है, कि मैं भी दीपकर की तरह परम सबोधि प्राप्त कर अनेक जीवो को धर्म की नौका पर चढा कर ससार-सागर के पार ले जाऊँ, और पश्चात् स्वय परिनिर्वाण मे प्रवेश करूँ। यह विचारकर उन्होने "बुद्ध भाव" के लिए उत्कट अभिलापा (पालि अभिनीहार) प्रकट की।

दीपकर के समीप सुमेध ने बुद्धत्व की प्रार्थना की और ऐमा दृढ विचार किया, कि बुद्धो के लिए मैं अपना जीवन भी परित्याग करने को उद्यत हूँ। इस प्रकार सुमेध अधिकार सम्पन्न हुए।

दीपकर उनके पास आकर वोले—"इस जटिल तापस को देखो। यह एक दिन बुद्ध होगा।" यह बुद्ध का "व्याकरण" हुआ। "यह एक दिन बुद्ध होगा"—इस वचन को सुनकर देवता और मनुष्य प्रसन्न हुए और वोले—"यह "बुद्ध-वीज" है, यह "बुद्धाकुर" है।" वहाँ पर जो "जिन-पुत्र" (बुद्ध-पुत्र) थे। उन्होने सुमेध की प्रदक्षिणा की। लोगो ने कहा—"आप निश्चय ही बुद्ध होंगे। दृढ पराक्रम करो, आगे वढो, पीछे न हटो।" सुमेध ने सोचा कि बुद्ध का वचन अमोघ होगा।

बुद्धत्व की आकाक्षा की सफलता के लिए सुमेध बुद्ध-कारक धर्मों का अन्वेपण करने लगे, और महान् उत्साह प्रदर्शित किया। अन्वेपण करने से दश पारमिताएँ प्रकट हुई, जिनका आसेवन पूर्वकाल मे वोधिसत्वो ने किया था। इन्ही के ग्रहण से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। सुमेध ने बुद्ध गुणो को ग्रहणकर दीपकर को नमस्कार किया। सुमेध की चर्या अर्थात् साधना प्रारम्भ हुई और ५५० विविध जन्मो के पश्चात् वह तुपित-लोक मे उत्पन्न हुए, और वहाँ वोधि प्राप्ति के सहस्र वर्ष पूर्व बुद्ध हलाहल शब्द इस अभिप्राय से हुआ, कि सुमेध की सफलता निश्चित है। तुपित-लोक से च्युत होकर माया देवी के गर्भ मे उनकी अवक्रान्ति हुई और मनुष्य भव धारण कर उन्होने सम्यक्-सम्वोधि प्राप्त की।[1]

उक्त प्रकरणो मे भव-भ्रमण का प्रकार, आयु की दीर्घता आदि अनेको विपय अन्वेपणीय वन जाते है। तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के लिए वीस निमित्त और बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए दश पारमिताएँ अपेक्षित मानी गई हैं। उन निमित्तो और पारमिताओ के हार्द मे वहुत कुछ समानता है।

वीस निमित्तक

१. अरिहन्त की आराधना

२. सिद्ध की आराधना

३. प्रवचन की आराधना

४ गुरु का विनय

---

[1] बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १८१—८२

५ स्थविर का विनय
६ बहुश्रुत का विनय
७ तपस्वी का विनय
८ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग
९. सम्यग् दर्शन
१०. विनय
११ षड् आवश्यक समाचरण
१२ सयम का निरतिचारपालन
१३ ध्यान
१४ तपश्चर्या
१५ पात्र-दान
१६ वैयावृत्य
१७ समाधिदान (गुरु आदि को)
१८ अपूर्व ज्ञानाभ्यास
१९ श्रुत-भक्ति
२० प्रवचन प्रभावना[1]

दश पारमिताएं (पाली रूप-पारमी)

१ दान
२ शील
३ नैष्कर्म्य
४ प्रज्ञा
५. वीर्य
६ शान्ति
७. सत्य
८ अधिष्ठान (दृढ निश्चय)

---

[1] इमे हियाण विसाहिय--कारणेंहि आसेविय बहुलीकएहिं तित्थियर-णाम-गोय-कम्मं निव्वतेसु, त जहा
अरिहंत सिद्ध पवयण गुरु थेरे बहुस्सए तवस्सीसु वच्छलयाय तेसि अभिक्खणाणो 'वओ गेय' ॥१॥
दंसण विणय आवस्सयए सीलव्वएय णिरवइयारे खणलव तवच्चियाए वेयावच्चे समाहीयं ॥२॥
अपुव्वणाणा गहणो सुय-भत्ती पवयणोप्पभावणाया एएहिं कारणेंहि तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥३॥
—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र—अ०८

९ मैत्री

१० उपेक्षा—(सुख और दुख मे समस्थिति)[1]

एक समीक्षा

२० निमित्तो और १० पारमिताओ मे भावनात्मक साम्य के साथ एक मौलिक अन्तर भी है। बुद्ध, बुद्धत्व प्राप्ति के लिए कृत सकल्प होते है और सारी क्रियाएं बुद्धत्वप्राप्ति के लिए करते है। जैन परम्परा के अनुसार वीतरागता (बौद्ध परिभाषा मे अर्हत् पद) के लिए ही प्रयत्न विहित है। तीर्थंकरत्व एक गरिमा पूर्ण पद है, वह काम्य नही हुआ करता, वह तो सहज सुकृत-सचय से प्राप्त हो जाता है।

विहित तप को किसी नश्वर काम्य के लिए अर्पित कर देना जैन परिभाषा मे "निदान" कहलाता है।[2] वह विराधकता का सूचक है। भौतिक ध्येय के लिए तप करना भी अशास्त्रीय है।[3] बौद्धो मे बुद्धत्व इसलिए काम्य माना गया है, कि वहाँ व्यक्ति अपनी भव-मुमुक्षा को गौण करता है और विश्व-मुक्ति के लिए इच्छुक होता है। तात्पर्य होता है—जैनो ने तीर्थंकरत्व को उपाधि विशेष से जोडा है और बौद्धो ने बुद्धत्व को केवल परोपकारता से। यही अपेक्षा-भेद दोनो परम्पराओं के मौलिक अन्तर का कारण बना है। परोपकारता जैन-धर्म मे भी आकाक्षणीय नही है और पदकाक्षा बौद्ध-धर्म मे भी उपादेय नही है। इस प्रकार उक्त अन्तर केवल सापेक्ष वचन-विन्यास ही ठहरता है।

---
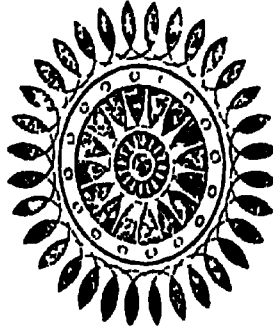
[1] बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १८१-१८२

[2] दशाश्रुत स्कन्ध, निदान प्रकरण

[3] चउव्विहा खुल तव समाही भवइ। तजहा-नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो पर-लोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्ण-सद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिठिठज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।

दशवैकालिक सूत्र ९-४

इतिहास और
पुरातत्त्व

ढाई द्वीप

भारत ६०० ई०पू०
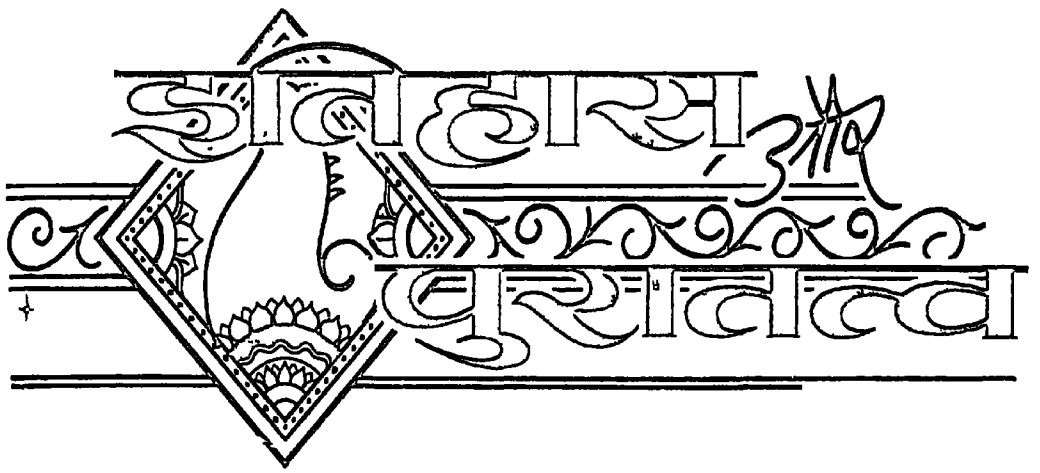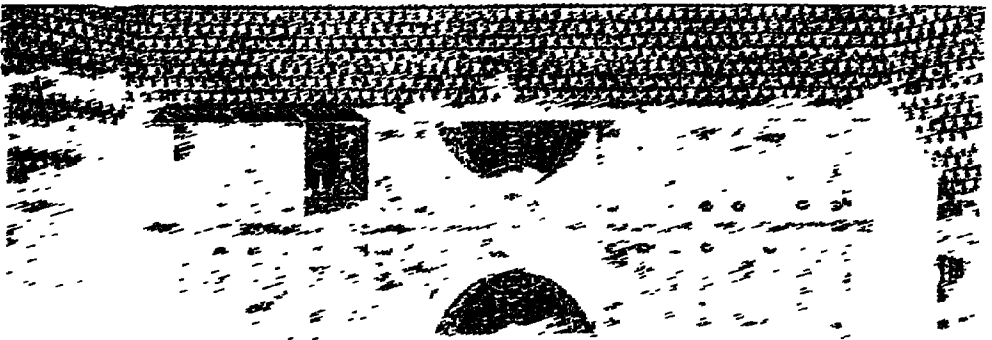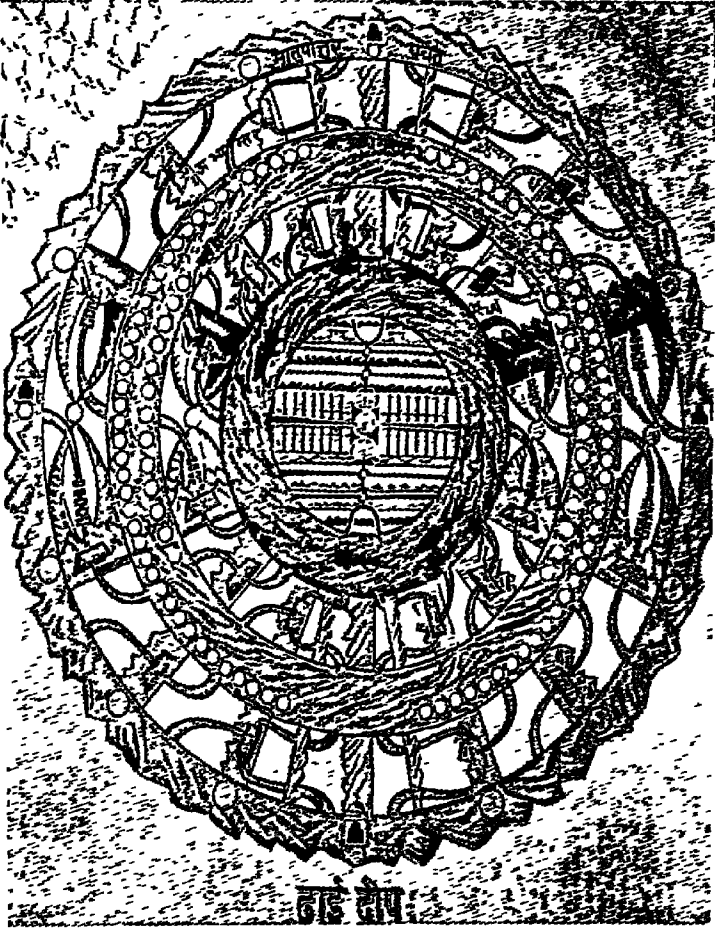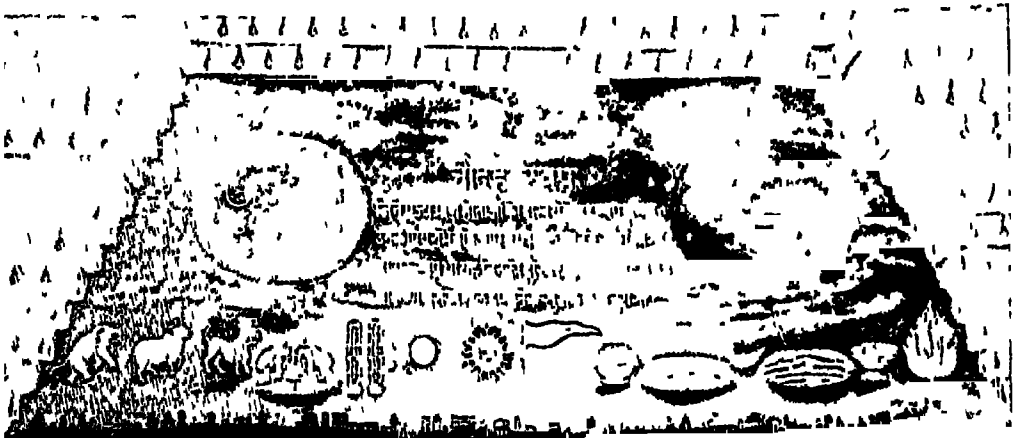
लोकाशाह और उनकी विचार-धारा

पण्डित दलसुख मालवणिया

वर्तमान काल में जो सम्प्रदाय आज स्थानकवासी नाम से विश्रुत है उसके प्रामाणिक इतिहास के विषय में आज कुछ भी यथार्थ रूप में परिज्ञात नहीं होता। उक्त सम्प्रदाय का प्रवर्तक कौन था? इतिहास की दृष्टि से इस विषय में अभी तक अनुसंधान एवं खोज नहीं हो सकी है। अभी तक सम्प्रदाय के इतिहास के नाम पर जो कुछ भी और जितना भी लिखा गया है, वह अधिकतर विरोधी पक्ष के उल्लेखों के आधार पर ही लिखा गया है। इसमें बहुत-सी बातें सत्य हैं। परन्तु, बहुत-सी आधार-शून्य एवं जन-श्रुति-मूलक भी हैं। किसी भी सम्प्रदाय विशेष के प्रामाणिक इतिहास को लिखने के लिए उस सम्प्रदाय के अनुयायी वर्ग द्वारा लिखित सामग्री को भी आधार बनाना परम आवश्यक हो जाता है। केवल विरोधी पक्ष की सामग्री को ही आधार नहीं बनाया जा सकता। परन्तु लोकाशाह के युग से लेकर आज तक किसी भी विद्वान स्थानकवासी मुनि ने अथवा गृहस्थ ने विशुद्ध इतिहास के दृष्टिकोण से कुछ लिखा हो, वह मेरे देखने में नहीं आया। यदि किसी ने कुछ लिखा भी है, तो उसमें प्रशस्ति तथा गुणानुवाद ही अधिक है—इतिहास उस में नहीं है। अनुसंधान, शोध और खोज की दृष्टि से कुछ भी लिखा नहीं गया।

विद्या-मन्दिर की सामग्री

लोकाशाह पर लिखने से पूर्व उस विषय की सामग्री का संचय और संकलन मेरे लिए आवश्यक था। लालभाई दलपत भाई विद्या मन्दिर के हस्त-प्रतों के विविध भण्डार जिसमें पूज्यपाद श्री पुण्यविजय जी महाराज का भंडार मुख्य है और अन्य दूसरे भण्डारों में भी स्थानकवासी सम्प्रदाय के विषय में जो लिखित साहित्य एकत्रित किया गया है उसका परिशीलन मैंने प्रारम्भ कर दिया। बहुत-सी हस्त-प्रतियों

को मैंने देखा। लेकिन इतने भर से ही इतिहास तैयार नही होता। इसके लिए स्थानकवासी सम्प्रदाय के भण्डारो का अनुसन्धान परम आवश्यक है। उभय पक्ष की खोज होने पर ही किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। परन्तु यह मेरे लिए अभी सम्भवित नही था। फिर भी उक्त विद्या मन्दिर मे पक्ष और विपक्ष की जो भी और जितनी भी सामग्री उपलब्ध हो सकी है, उसी को आधार बनाकर मैं यहाँ कुछ लिखने का प्रयत्न कर रहा हूँ। सत्य को समझने का मेरा यह एक प्रयत्न है, उसे मैं अपनी अन्तिम खोज नही मानता हूँ।

लोकाशाह

लोकाशाह के मत के प्रतिकार रूप मे छोटी बडी मिलाकर अनेक रचनाएँ विद्या मन्दिर के भण्डार मे उपलब्ध हैं। किन्तु इनके अलावा दो हस्त-प्रतियाँ बडे ही महत्व की हैं। उनके अध्ययन से मुझे यह विश्वास होता है, कि उक्त दोनो प्रतियो का सीधा सम्बन्ध लोकाशाह से अवश्य है। क्योकि लोकाशाह के मत को, उनकी विचारधारा को उसमे स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया गया है। यदि इसमे शका-को अवकाश मिल सकता है, तो केवल इतना ही कि उक्त दोनो हस्त-प्रतियाँ लोकाशाह की स्वरचित हैं, या नही ? फिर भी मेरे विचार मे अधिकतर सम्भावना यही है, कि उन दोनो की रचना लोकाशाह ने स्वय की है, अथवा उनके आदेश के अनुसार उनके निकटस्थ किसी व्यक्ति ने की है। लेकिन इतना तो सत्य है, कि वे दोनो लोकाशाह की विचार-धारा की प्राचीनतम हस्त-प्रतिया हैं। उक्त हस्त-प्रतियो का नाम इस प्रकार है —

१ लुकाना सद्दहिया अने कर्या ५८ बोल
२. लुकानी हुडी ३३ बोल.

अपने इस प्रस्तुत लेख मे, दोनो प्रतियो का आधार लेकर तथा लोकाशाह के विरोध मे लिखित अनेक अन्य रचनाओ की तुलना करके सत्य की शोध का प्रयत्न होगा, उसे अन्तिम निर्णय कहना मुझे अभीष्ट नही है। सबसे पहला प्रश्न है, कि लोकाशाह कौन थे ? इस विषय मे जनश्रुति कुछ भी हो, पर अनुसन्धान के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि वे लिपिक थे, वणिक जाति के मेहता वशीय थे और अहमदाबाद के रहने वाले थे। विक्रम सवत् १५०८ मे उनका यतिवर्ग से मतभेद हो गया था। मतभेद होने के बाद मे उनका परिचय लखमशीजी से हुआ था, जो स्वभाव से उग्र एव कठोर थे और अमात्य पद पर थे। यह बात "प्रवचन-परीक्षा" के अध्ययन से विदित होती है, जिसकी रचना विक्रम सवत् १६२९ मे हुई थी। लखमशी जी ने एक बार अपने परिचित यति से सिद्धान्त ग्रन्थ पढाने की प्रार्थना की थी, परन्तु परम्परा के अनुसार यति ने पढाने से इन्कार कर दिया। इस पर से बहुत कुछ सम्भव है, कि लखमशी का झुकाव उधर से हटकर लोकाशाह की ओर हो गया होगा। क्योकि लोकाशाह लिपिक थे, अनेक शास्त्र उन्होने अपने हाथ से लिखे थे, और साथ मे तीव्र जिज्ञासा वृत्ति होने के कारण उन्हे शास्त्र ज्ञान भी था ही। अतः उन्होंने लखमशी की सिद्धान्त ग्रन्थ पढने की जिज्ञासा को सन्तुष्ट किया हो—यह अनुमान किया जा सकता है। फिर उन दोनो ने मिलकर अपने विचरो का प्रचार उस युग के यति वर्ग मे प्रथम किया होगा। क्योकि उन दोनो का सम्बन्ध यति वर्ग से था ही।

लोकाशाह द्वारा विरोध

आचार-शास्त्र के कठोर नियमो के प्रतिपादक आचाराग और दशवैकालिक जैसे सूत्रो के मूलमात्र के अध्ययन से और उस युग मे व्याप्त शिथिलाचार को देखकर प्रथम तो लोकाशाह ने उस युग की साधु-सस्था का विरोध किया होगा, यह अनुमान करना अनुचित न होगा। फिर आगे चलकर उन्होने जो मूर्ति-पूजा का विरोध किया उसके दो आधार हो सकते है--एक लखमशी के साथ शास्त्रो का गहन चिन्तन और दूसरा मुसलिम शासको द्वारा मूर्ति-पूजा विरोधी भावना का प्रसार, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव कबीर-साहित्य मे स्पष्ट है। विक्रम सवत् १५४४-४६ के बीच लिखित कमलसयम रचित "कुमतकदली-कृपाणिका" चौपाई मे लोकाशाह के विषय मे इस प्रकार लिखा गया है—

साधू निन्दा अहनिस करइ।
धर्म घडा बंध ढीलउ धरई॥
तेहनु सिस्य मिल्यो लखमसी।
तेहनी बुद्धि हियाथी खसी॥
टालइ जिन प्रतिमानुं मान।
दया-दया करि टालइ दान॥
टालइ विनय विवेक विचार।
टालइ सामायिक उच्चार॥
पडिकमणानूं टालइ नाम।
भमइ पड्या घणा तिहि गाम॥

लखमशी

देखो, लाल भाई दलपत भाई विद्या मन्दिर के सग्रह की प्रति नम्बर २१५, और "जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास" पृष्ठ ५०७। उक्त कृति मे आगे चलकर कहा गया है कि लोकाशाह मत के वेषधर विक्रम सवत् १५३४ मे हुए और लगभग उसी समय मे फीरोजखान ने मन्दिर तथा पौषध-शालाओ को नष्ट-भ्रष्ट करना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार के वातावरण मे लोकाशाह और लखमशी के मूर्ति-पूजा विरोधी विचारो का प्रभाव तत्कालीन जन-मानस पर पडना स्वाभाविक ही था। लोग राज्य आतक से आतकित थे। पौषध-शाला मे जाने की हिम्मत भी कोई विरला ही कर पाता था। उस युग मे जैनो के ही नही, बल्कि कुछ अन्य भी भारतीय जनो के मन मे मन्दिरो के प्रति आकर्षण कम होने लगा था। अत मूर्ति-पूजा के विरोध के लिए रास्ता साफ था, जिसका लाभ लोकाशाह को सहज मे ही मिल गया। उक्त उल्लेख से दूसरी बात यह सिद्ध होती है, कि लोकाशाह का पहला विरोध केवल साधु-सस्था के प्रति था, किन्तु आगे चलकर लखमशी के प्रभावशाली सहयोग के मिलने पर उस विरोध मे से अन्य भी अनेक अंकुर फूट पडे। जैसे-मूर्ति-पूजा के विरोध के साथ-साथ मन्दिर और तीर्थ-यात्रा का विरोध भी प्रारम्भ हो गया। सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और दान आदि के विषय मे

भी मतभेद उत्पन्न हो गए थे। मतभेदो की यह परिस्थिति लगभग विक्रम सवत् १५४४ मे थी। विक्रम सवत् १५३४ मे तो वेषधरो की उत्पत्ति ही हुई थी। उसके दस वर्ष बाद मे ही ये मतभेद खडे हो गए थे। उक्त १५३४ सवत् के विषय मे मतभेद इस प्रकार है—१५३०, १५३१ अथवा १५३८। १५०८ मे, जब लोकाशाह द्वारा विरोध प्रारम्भ हुआ, तभी उक्त सभी विरोधो के सम्बन्ध मे लोकाशाह ने एकदम अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया होगा, ऐसा मानने का और विश्वास करने का कोई कारण नही है। यथार्थ मे लोकाशाह और लखमसी ने जैसे-जैसे अपने शास्त्र-स्वाध्याय को आगे बढाया, वैसे-वैसे अनेक बातो के विषय मे विचार भेद की कडी आगे बढती रही। अत अपनी उत्पत्ति के समय से लेकर आगे के दस वर्षो तक प्रतिमा-पूजा के छोडने के साथ-साथ अन्य भी अनेक बातो का परित्याग किया होगा—यह सोचना यथार्थ है।

वेष-परिवर्तन

लोकाशाह कौन थे ? इसके बाद मे यह प्रश्न उठता है क्या लोकाशाह ने साधु का वेश ग्रहण किया था ? इस बात का कोई उल्लेख नही मिलता, कि लोकाशाह ने किसी के पास किसी प्रकार का व्रत स्वीकार किया हो। क्योकि प्राय सभी का यह आक्षेप है, कि लोकाशाह ने किसी को अपना गुरु बनाए बिना ही भिक्षाचरी प्रारम्भ करदी थी। मेरे विचार मे यह बात सत्य है। लोकाशाह के लिए यह सम्भव ही नही था, कि जिस परम्परा के साथ मे विरोध चल रहा हो, उसी मे से किसी को गुरु स्वीकार करके वे दीक्षा ग्रहण करते। इसके अतिरिक्त उस परम्परा का कोई भी यति उन्हे दीक्षा दे, इसकी भी सम्भावना बहुत कम थी। अपना लिखने का काम छोडकर विक्रमसवत् १५०८ मे, जिस यति परम्परा का उन्होने विरोध किया, उसी के पास दीक्षा ग्रहण करना, कथमपि सम्भवित नही जान पडता। परन्तु यह भी सत्य है कि लोकाशाह ने गृह-त्याग किया था और वे भिक्षा-जीवी भी बने थे।

भाणा-ऋषि

वस्तुत जिसे लोकागच्छ कहा जाता है, उसका प्रारम्भ १५०८ मे नही, बल्कि उसमे जब वेषधर हुए, तभी से मानना चाहिए। किन्तु वेषधर कब और कैसे हुए ? यह भी एक सवाल है। विक्रम सवत् १६२६ मे रचित प्रवचन-परीक्षा के अनुसार कहा जाता है कि सिरोही के समीप अरघट्टक जिसे आज अठवाडा कहते है, वहाँ के रहने वाले पोरवाल जाति के भाणा नाम के एक व्यक्ति ने विक्रम सवत् १५३३ मे स्वय ही वेष धारण किया था। अत सभी मे लोकाशाह के अनुयायी वेषधरो की उत्पत्ति मानी जानी चाहिए। कमलसयम (१५४४-४६) का कहना है कि भाणा के मत परिवर्तन मे स्वय लोकाशाह निमित्त नही थे। अपितु लखमसी की प्रेरणा से ही उनका विचार परिवर्तन हुआ था। कमल सयम के कथनानुसार भाणा ने भिक्षाचारी का व्रत तो लिया था, पर उनकी गणना न तो यतियो मे थी और नही श्रावको मे। वे न साधु थे और न गृहस्थ थे। अत उनकी गणना सघ मे नही की जाती

थी। प्रतीत होता है, कि भाणा ने विधि-पूर्वक पाँच महाव्रतो का ग्रहण नही किया था, साथ मे उनका वेष भी तत्कालीन साधुओ से भिन्न था ही। "प्रवचन-परीक्षा" के अनुसार तत्कालीन साधुओ के वेष मे निम्न वस्तुओ का समावेश था—

१. कमर मे डोरे से बधा हुआ चोलपट्टक
२ रजोहरण
३ मुखवस्त्रिका
४ ओढने की चादर
५. कधे पर कबल
६. बाँये हाथ मे दण्ड
७ परम्परानुसार विधि पूर्वक दोनो कानो मे छेद

परन्तु वि० १६२६ मे उपाध्याय धर्मसागर ने लोकागच्छ के जिन विषधरो को अपनी आँखो से देखा था, उनमे रजोहरण का भेद था। उनका कहना है कि लोकागच्छ के वेषधर केवल नाम मात्र के लिए रजोहरण रखते है और वह परम्परागत चले आ रहे रजोहरण से भिन्न प्रकार का है। अतः उनके वेष को साधु वेष नही कहा जा सकता।

लोकाशाह का वेष

परन्तु लोकाशाह का वेष कैसा था ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। उनके समकालीन चेला ऋषि ने उनसे उनकी मान्यता के विषय में एक प्रश्न पूछा था, कि "आप जैसा चोलपट्टक पहनते है, वैसा किस सूत्र मे लिखा है ?" इस प्रश्न पर से ऐसा प्रतीत होता है कि लोकाशाह तत्कालीन परम्परा के श्वेताम्बर साधु वर्ग मे प्रचलित रीति के अनुसार चोलपट्टक नही पहनते थे। सभव है कि उनका चोलपट्टक पहनने का ढग आज के स्थानकवासी साधु जैसा होगा—इसके लिए देखिए-मुनिराज पुण्य-विजय के सग्रह की पोथी नम्बर ७५८८ और प्रश्न नम्बर ८६। लोकाशाह के वेष के विषय मे एक अन्य पोथी मे वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"नवि ओघउ नवि मुंहती।
नवि कंबल नवि दण्ड॥"

यह उल्लेख लालभाई दलपतभाई विद्या मन्दिर के मुनिराज पुण्य विजय जी के सग्रह की पोथी नम्बर २३२८ का है। इस पर से मालूम होता है, कि लोकाशाह ने स्वय एक चोलपट्टक और दूसरी ओढने की चादर—ये दो वस्त्र रखे होगे। पात्र भी रहा था। इनके सिवा अन्य जो भी उपकरण उस युग के साधु सम्प्रदाय मे प्रचलित थे, उनको ग्रहण नही किया होगा। आगे चलकर उक्त प्रति मे ही यह भी लिखा है, कि—

"सिर मुंडावई मल धरई,
विहरइ फाटा वेस।
मल चीगट चीवर धरई,
पात्रि ही न दीहि लेप।
नीच कुल लीई आहारि···"

अत यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है, कि वे पात्र रखते थे और भिक्षा-चर्या करते थे। परन्तु उस युग के साधुओ मे प्रचलित उच्चकुल की ही भिक्षा लेने की प्रथा का परित्याग उन्होने कर दिया था और जहां-तहां से भिक्षा लेना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी यह रीति जैन धर्म की प्राचीन प्रथा के अनुकूल थी। सम्भवत उस युग के समाज के विरोध के कारण भी उनको ऐसा करना पडा।

ढुंढ़िया सम्प्रदाय

आज का स्थानकवासी समाज अपने को लोकाशाह का अनुयायी मानता है। परन्तु विक्रम सवत् १६२९ मे रचित "प्रवचन-परीक्षा" के लेखक उपाध्याय धर्मसागर का कथन है, कि उस समय मे लोकाशाह के मार्ग का अनुगमन करने वाले लोग अपने को "वीरजिन मार्ग के अनुयायी" कहते थे। भाणाऋषि की परम्परा के अनुयायी भी अपने आप को भाणापन्थी न कहकर भगवान् महावीर के अनुयायी कहना पसन्द करते थे। इस प्रकार का उल्लेख विश्राम ८ और गाथा १२ मे है। यद्यपि वर्तमान काल के लोकागच्छ ने लोकाशाह के नाम को सुरक्षित रखा है, तथापि उसने मूर्ति-पूजा का परित्याग नही किया, जब कि लोकाशाह ने स्वय मूर्ति-पूजा का विरोध किया था। उपाध्याय धर्मसागर कृत "प्रवचन-परीक्षा" मे–जिसका रचनाकाल विक्रम सवत् १६२९ है–कही पर भी ढुंढिया शब्द का उल्लेख नही मिलता। इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं—एक तो उस समय तक ढुंढिया सम्प्रदाय प्रकट नही हुआ होगा, दूसरे प्रकट होने पर भी वह उस समय तक प्रसिद्ध मे नही आया होगा। स० १६८७ के बाद तो प्राय ढुंढिया नाम से लोकाशाह के अनुयायी पहचाने जाते थे।

लवजी ऋषि

लोकागच्छ से ढुंढिया कब अलग हुए, इस विषय मे अनेक उल्लेख उपलब्ध होते है। मुनि राज श्री पुण्यविजय जी के सग्रह की पोथी नम्बर ४८३७ मे "मुखपत्ति चर्चा" मे उल्लेख मिलता है, कि विक्रम सवत् १६९७ मे ढुढिया सम्प्रदाय अलग हुआ था। उक्त सग्रह की पोथी नम्बर ५९६७ मे विक्रम सवत् १६८७ मे ही ढुंढिया सम्प्रदाय के अलग होने का उल्लेख मिलता है। पूज्य अमोलक ऋषि ने अपनी शास्त्रोद्धार मीमासा" मे लिखा है, कि लोकागच्छ के यतिवर जग जी से सूरत निवासी लवजी ने विक्रम सवत् १७०५ मे दीक्षा ग्रहण की थी। परन्तु आगे चलकर लवजी अपने गुरु से अलग हो गए थे और वे ढुंढिया कहलाने लगे, क्योकि वे ढुंढ अर्थात् टूटे-फूटे मकानो मे रहते थे। आचार्य आत्मानन्द सूरि वे अपने "सम्यक्त्व-शल्योद्धार" मे हीरकलश की" "कुमति विध्वस चौपाई" के आधार पर लिखा

है कि विक्रम सवत् १७०९ मे बजरग (अर्थात् यति वजरग जी) पट्टधर हुए और उनके शिष्य लवजी जो सूरत के रहने वाले थे, उनसे पृथक् हुए। लवजी के शिष्य सोम जी, उनके शिष्य कान जी और उनके शिष्य धर्मदास जी—इन सबने टूटे-फूटे मकानो मे वास किया था, अत वे सब ढुंढिया कहलाने लगे। परन्तु लालभाई दलपत भाई विद्या मन्दिर की पोथी नम्बर ९५८ मे बताया गया है कि ऋषिमाणा का अपने गुरू के साथ विक्रम सवत् १७७५ मे झगडा हो जाने के कारण वे अलग हो गए थे ओर वे ही आगे चलकर ढुँढिया के नाम से प्रसिद्ध हुए। सम्भवत लेखक की गलती से विक्रम सवत् १७०५ का १७७५ हो गया हो परन्तु अधिकतर सम्भावना यही है कि विक्रम सवत् १६८७ मे ढुँढिया अलग हो गए थे।

आदि-पुरुष

जिस प्रकार तेरापन्थ सम्प्रदाय ढुँढिया सम्प्रदाय से पृथक् होकर भी बहुत समय तक ढुँढिया के नाम से ही पहचाना जाता रहा था, उसी प्रकार यह स्वाभाविक है, कि लोकागच्छ से पृथक् होने के बाद भी ढुँढिया सम्प्रदाय लोकागच्छ के नाम से परिचित रहा हो और चूँकि लोकाशाह मूर्ति-पूजा के विरोध मे थे। अत मूर्ति-पूजा के विरोधी अन्य भी सम्प्रदायो का झुकाव लोकाशाह की ओर होना अस्वाभाविक नही था, सम्भवत इसी आधार पर लोकाशाह ढुँढिया पन्थ के आदि-पुरुष माने जाते रहे होगे, परन्तु सत्य तो यह है, कि जिस-जिस व्यक्ति के कारण मूल सम्प्रदाय से उपसम्प्रदाय पृथक हुआ, उस उस व्यक्ति को ही उस सम्प्रदाय का आदि-पुरुष मानना उचित एव न्याय सगत है। जैसे कि मूर्ति पूजा विरोधी होने पर भी आज का तेरा पन्थ सम्प्रदाय अपने आपको लोकाशाह का अनुयायी न कहकर, भीखण जी का अनुयायी कहता है और अपने सम्प्रदाय का आदि पुरुष उन्ही को मानता है। स्थानकवासी सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी जिस व्यक्ति ने जिस प्रदेश मे रहकर सुधार किया, उस व्यक्ति की सम्प्रदाय उस प्रदेश के नाम पर खडी हो गई। जैसे गुजरात और सौराष्ट्र मे—लीबडी, बोटाद, गौडला, बरवाला और सायला आदि। मालवा मे धर्मदासजी की सम्प्रदाय। मारवाड, मे हुकमचन्द्र जी की सम्प्रदाय और जयमलजी की सम्प्रदाय। उत्तर प्रदेश मे पूज्य मनोहरदास जी की सम्प्रदाय और पजाब मे अमरसिंह जी की सम्प्रदाय आदि। इस प्रकार इन सब सम्प्रदायो मे और उनके उपसम्प्रदायो मे उनके आदि-पुरुषो का नाम आज भी सुरक्षित है। लेकिन इन सभी सम्प्रदायो और उपसम्प्रदायो के मूल मे मूर्ति-पूजा विरोध ही एक ऐसी वस्तु है, कि उन सबका सम्बन्ध लोकाशाह के साथ मे जोड देती है। जिस प्रकार जैन धर्म की सभी शाखा एव उपशाखाओ का सम्बन्ध अन्त मे भगवान् महावीर के साथ मे स्वत ही जुड जाता है।

लोकागच्छ द्वारा पुनः मूर्ति-पूजा का स्वीकार

एक प्रश्न अवश्य ही विचारणीय है, और वह यह है कि जब लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का घोर विरोध किया था, तव उसी के अनुयायी लोकागच्छ ने फिर से मूर्ति-पूजा को क्यो स्वीकार कर लिया ? वह क्यो और कब से हुआ ? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है, कि लोकाशाह के कुछ काल वाद तक तो उनके अनुयायी उनके मार्ग पर चलते रहे, परन्तु आगे चलकर जब अनुयायियो के मन का जोश

शान्त हो गया, तब उन्होने लोकाशाह की मूर्ति-पूजा विरोधी मान्यता को धीरे-धीरे छोड दिया होगा। इस सम्बन्ध मे विक्रम सवत् १६२९ मे रचित "प्रवचन-परीक्षा" मे स्पष्ट रूप से बताया गया है कि आचार्य हीरविजय जी ने एक ऐसा अपूर्व कार्य किया था, जो जैन शासन के समग्र इतिहास मे अद्भुत था। वह कार्य, यही था, कि उन्होने लोकाशाह के अनुयायियो को युक्ति और तर्क मे समझा दिया था, कि मूर्ति-पूजा का विरोध उचित एव न्याय सगत नही है। फलत लोकाशाह के ही अनुयायी मेघजी ऋषि ने अपने शिष्य परिवार के साथ मे अकबर को साक्षी बना कर अहमदाबाद मे आ० हीर विजयजी की निश्राय मे पुन दीक्षा ग्रहण करली थी। इस घटना का प्रभाव लोकाशाह के अन्य अनुयायियो पर भी अवश्य पडा होगा। इस प्रकार मूर्ति-पूजा के विरोधियो मे फिर से मूर्ति पूजा का प्रारम्भ हुआ होगा। यही कारण है कि आगे चलकर लोकागच्छ ने अपने आदि-पुरुष के नाम को तो सुरक्षित रखा, परन्तु उनके मूल सन्देश को भुलाकर फिर से मूर्ति-पूजा प्रारम्भ कर दी। इस विषय मे विशेष विचार तो लोकागच्छ के इतिहास का पता लगने पर ही किया जा सकता है। केवल अनुमान और कल्पना के आधार पर सत्य का निर्णय नही किया जा सकता।

लोकाशाह का शास्त्र-ज्ञान

मूर्ति-पूजक परम्परा की ओर से लोकाशाह पर सबसे बडा आक्षेप यह था कि वह तो केवल एक लिपिक था अर्थात् लहिया था—शास्त्र लिखकर अपना निर्वाह करने वाला था। परन्तु "लुकाना सद्दिया ५८ बोल" और "लुंकानी हुंडी ३३ बोल" के अध्ययन मे उक्त आक्षेप असत्य प्रमाणित हो जाता है। साधारण लहिया शास्त्र ज्ञान की इतनी गहराई मे कैसे पहुँच सकता है? अत लोकाशाह को शास्त्र-ज्ञान नही था यह आक्षेप कथमपि उचित नही है। क्योकि पूर्वोक्त ५८ बोल मे और ३३ बोल मे, आचाराग, सूत्रकृतांग, स्थानाग, समवायाग, दशाश्रुत स्कन्ध, भगवती, ज्ञाताधर्मकथाग, राजप्रश्नीय, अनुयोगद्वार, नन्दी सूत्र, ज्ञाताधर्मकथाग की टीका, उत्तराध्ययन, औपपातिक सूत्र, जीवाभिगम, उपासक दशा, प्रश्न व्याकरण, दशवैकालिकसूत्र, प्रज्ञापना, आचाराग निर्युक्ति और आचाराग वृत्ति, विपाक, उत्तराध्ययन चूर्णि तथा वृत्ति, आवश्यक निर्युक्ति, बृहत्कल्प वृत्ति तथा चूर्णि और निशीथ चूर्णि आदि मे से अनेक पाठो का अवतरण करके विस्तृत चर्चा की गई है। इस पर से भली भाँति ज्ञात हो सकता है कि लोकाशाह केवल लिपिक ही नही थे, उन्हे शास्त्रो का विस्तृत ज्ञान था। सामान्य लहिया इतनी चर्चा कैसे करेगा?

विनम्र-स्वभाव

पूर्वोक्त बोलो की चर्चा के अध्ययन से लोकाशाह के विनम्र तथा विनीत स्वभाव का भी पता चलता है। लोकाशाह के अनेक विरोधियो मे जो कटुता, कठोरता और तीखापन था, उसका जरा भी आभास लोकाशाह की वाणी मे प्रतीत नही होता। वे अपने विरोधियो को विनम्र-भाषा मे यही कहते थे—"जो बुद्धिमान हैं, वे मेरी बातो पर विचार करे। जो विवेकी है वे मेरी बातो को सोचे और समझे।" इस

प्रकार से वे अपने विरोधियो से अपनी बातो पर विचार करने की प्रार्थना करते थे। सत्य को समझने के लिए विनती करते थे। इससे उनके चित्त की शान्ति का और अपने विरोधियो को उत्तर देने की उनकी मधुर शैली का परिचय मिलता है। जहाँ विचारो के सघर्ष का अवसर आता है, वहाँ पर कुछ न कुछ थोडी-बहुत कटुता आ ही जाती है, किन्तु लोकाशाह मे यह कटुता आई नही, यह निस्सन्देह सत्य है।

धर्म-प्रचार

लोकाशाह ने जिस सत्य की प्रतीति की थी, यदि उसका उन्होने प्रचार किया, तो इसमे उनका कोई अपराध भी नही था। क्योकि प्रत्येक-व्यक्ति अपने विचारो के प्रचार मे स्वतन्त्र है। लगभग पच्चीस वर्षो तक लोकाशाह ने विरोधियो का विरोध सहन किया, इसके बाद उनके बहुत से अनुयायी हो गए और उनमे से अनेक लोगो ने साधु वेप धारण करके उनके मत का प्रचार भी किया था। उनका प्रचार कैसा और कितना हुआ ? इसमे कुछ भी ' निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। फिर भी इतना अनुमान तो लगाया ही जा सकता है, कि उनके प्रचार का क्षेत्र पहले सीमित होगा और फिर धीरे-धीरे फैलता-फैलता आगे बढा होगा। उनके प्रचार की पद्धति यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात और उनके शिष्यो जैसी रही होगी, जिसमे सवाद और प्रश्नोत्तर तथा चर्चा-वार्ता करके अपने विचारो को अभि-व्यक्त किया जाता था, क्योकि आज जैसे प्रचार साधन उस युग मे कहा थे ? परन्तु उनके प्रचार की मन्दता का सबसे प्रबल प्रमाण यही है, कि पच्चीस वर्षो की लम्बी अवधि तक भी उन्हे कोई उनके मतानुसार साधुवेप धारण करने वाला नही मिला। सम्प्रदायो के इतिहास को देखने से इस बात का निश्चय हो जाता है कि जब किसी भी मान्यता का ऐकान्तिक विरोध खडा किया जाता है, तब ही सम्प्रदाय बनता है। यदि विरोध करने वालो मे, विवेक हो, तो सम्प्रदाय खडा नही हो सकता। विवेक से काम लेने पर तो किसी भी मान्यता के गुण और दोप दोनो दिखाना आवश्यक हो जाता है। ऐसी परिस्थितियो मे नया सम्प्रदाय बन नही सकता। ऐकान्तिक आग्रह मे से ही सप्रदाय का निर्माण होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अनेकान्त के आश्रय से सम्प्रदाय पनप नही सकता। यह तो एकान्तवाद मे ही पनप सकता है।

लोकाशाह के विषय मे ऐसा ही कुछ घटित हुआ। उन्होने अपना एक विचार-सूत्र बनाया, कि "जहाँ पर दया है, वहाँ धर्म है। तथा जहाँ हिंसा है वहाँ अधर्म।" इस विचार-सूत्र के आधार पर उन्होने प्रतिमा-पूजा का विरोध किया। क्योकि लोकाशाह के विचार के अनुसार प्रतिमा के निर्माण मे हिंसा थी और उसके पूजा के प्रकार मे भी हिंसा थी। परन्तु यहाँ पर लोकाशाह निश्चय-नय और व्यवहार-नय के समन्वय को भूल गए थे। मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार ही धर्म के मार्ग पर अग्रसर होता है। किसी भी साधना मे अधिकारी भेद को समझना आवश्यक हो जाता है। धर्म की जो साधना १३ वे गुणस्थान से १४ वे गुणस्थान मे जाने के लिए होती है, वही साधना प्रथम गुणस्थान वाले के लिए भी आवश्यक है—इस प्रकार का आग्रह करने से सामान्य व्यक्ति को धर्म के मार्ग पर

कैसे लाया जा सकता है ? साधना के मार्ग पर इस प्रकार एकान्त आग्रह से काम नही चलता। क्योंकि सभी साधको की योग्यता समान नही हो सकती। अत लोकाशाह जब यह कहते है कि मूर्ति-पूजा मोक्ष का साधन न होकर ससार वृद्धि का कारण है, तब उनकी इस बात मे आग्रह प्रतीत होने लगता है। यह मान लिया जाए कि मूर्ति-पूजा मे जो अनेक प्रकार के आडम्बर आ चुके है और उन आडम्बरो के कारण मूर्ति-पूजा मे हिंसा को अवकाश मिल जाता है। फिर भी वह एकान्त ससार का ही कारण है, यह कैसे कहा जाए ?

पूजा मे हिंसा की विचारणा

लोकाशाह ने अपनी मान्यता का प्रतिपादन करने के लिए तथा शास्त्र के तात्पर्य को अपने अनुकूल बनाने के लिए जो प्रयत्न किया था, उसमे भी उनकी सम्प्रदाय भावना ही मुख्य थी। मान लिया जाए, कि प्रारम्भ मे जैन धर्म मे मूर्ति-पूजा नही थी, परन्तु भगवान् ने यह तो कही भी नही कहा है, कि जो प्राचीन परम्परा से प्राप्त नही है, उसे नही करना चाहिए। जैन-धर्म के इतिहास मे मूर्ति-पूजा का प्रवेश एक साधन के रूप मे हुआ था। देश-काल की आवश्यकता ने उस साधन को प्रस्तुत किया और लोगो ने उसे अपना लिया। उस साधन मे आई हुई बुराइयो को दूर करना एक बात है, और उस साधन का ही निरन्तर विरोध करना यह एक अलग बात है। यदि कपडे मे मैल लग जाता है, तो उसे साफ कर लिया जाता है न कि उसे सर्वथा फैंक दिया जाए। केवल साधारण-सी हिंसा के कारण सम्पूर्ण मूर्ति का विरोध करना उचित नही था। उपदेश तो यह होना चाहिए था, कि मूर्ति-पूजा मे होने वाली हिंसा को टाला जाए। किन्तु लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा को ही मिटाने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंसा का सूक्ष्म विचार करते-करते नव कोटि की हिंसा से दूर नही रहा जा सकता, अतएव किसी को साधु भी नही बनना चाहिए, प्रत्याख्यान भी नही करना चाहिए—हिंसा की विचारणा मे इतनी दूर तक जाना पडा। इस पर से पता चलता है, कि हिंसा का विचार करते समय विवेक से काम नही लिया गया।

मूर्ति विरोध की अनुकूलता

लोकाशाह के विषय मे यह भी उल्लेख मिलता है, कि मुस्लिम शासको का भी उनको सहयोग एव बल मिला था। क्योंकि मुस्लिम शासक स्वभाव से ही मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। अत. यदि लोकाशाह को मुस्लिम शासको का सहयोग एव बल मिल गया हो, तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मूर्ति-पूजा मे बाह्य आडम्बर बहुत बढ गया था। जब कि मुस्लिम शासक मूर्ति-पूजा के सर्वथा विरोधी थे, ऐसे अवसर पर लोकाशाह के लिए मूर्ति-पूजा का विरोध बहुत सरल हो गया था। उस युग की जनता ने विचार किया कि मूर्ति-पूजा का विरोध करने से बादशाह खुश होता है, तो जनता ने खुले रूप मे लोकाशाह का समर्थन कर दिया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नही।

यह बात निश्चय पूर्वक कही जा सकती है, कि लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध अवश्य किया था और उन्होने अपने अनुयायियो को अहिंसा के उत्कट मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न किया और उसमे वे अशत सफल भी हुए। क्रिया की प्रतिक्रिया भी होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार जैसे-जैसे और जितनी तीव्रता से लोकाशाह के अनुयायियो ने मूर्ति-पूजा का निषेध किया, वैसे-वैसे और उतनी ही तीव्रता से मूर्ति-पूजको का मूर्ति-पूजा मे विश्वास दृढ होता गया। जब लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध शास्त्र के आधार पर करना आरम्भ किया, तब मूर्ति-पूजको ने उन्ही शास्त्रो के आधार पर मूर्ति-पूजा का प्रबल समर्थन भी किया। फलत जो लोग लोकाशाह के अनुयायी नही थे, उनके मन मे मूर्ति-पूजा की दृढ आस्था जम गई।

मूर्ति-पूजा के समर्थन मे जो दलील और तर्क दिए जाते हैं, उनमे से शास्त्र के अनुसार एक तर्क यह भी है कि दशवैकालिक-सूत्र मे स्त्रियो का चित्र देखने का निषेध किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है, कि उस चित्र को देखने से मन मे विकार की उत्पत्ति होती है। जब कि सामान्य चित्र को देखकर मन मे विकार की उत्पत्ति हो सकती है, तब भगवान् की मूर्ति के दर्शन करने से मनुष्य के चित्त मे समताभाव की उत्पत्ति क्यो नही होगी ? अत मूर्ति-पूजा का विरोध करना व्यर्थ है। इस तर्क मे तथ्य अवश्य है। परन्तु इसके उत्तर मे यह भी कहा जा सकता है कि निश्चय ही भगवान की मूर्ति को देखकर समता उत्पन्न होनी चाहिए, परन्तु शर्त इतनी ही है कि वह मूर्ति मन मे समता-भाव पैदा कर सके, इस रूप मे रहनी चाहिए। यदि मूर्ति आडम्बर पूर्ण है, रेशमी वस्त्र, हीरे, मोती, पन्ने एव आभूषणो से लदी है, तब वह दर्शन करने वाले के चित्त में समता पैदा न करके विषमता पैदा करेगी। इस स्थिति मे वह एक प्रशम-रस-निमग्न व्यक्ति का नही, बल्कि एक सम्पन्न व्यक्ति का चित्र उपस्थित करती है। फिर उससे ससार के बाल जीवो को प्रशम और वैराग्य की प्रेरणा कैसे मिल सकती है ? आज के मूर्ति-पूजको को इस पर गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए। लोकाशाह ने भी अपने युग मे यही कुछ किया था। क्योकि उस युग मे मूर्ति-पूजा मे अत्यधिक विकार पैदा हो गए थे। उन विकारो का विरोध होना ही चाहिए था और वह लोकाशाह के द्वारा हुआ भी।

मत में परिवर्तन

परन्तु आगे चलकर लोकाशाह के मत का विरोध करने वाले भी अनेक निकल आए और उनमे से एक वर्ग ऐसा भी निकला, जिसने विवेक और बुद्धिमत्ता के साथ उक्त समस्या पर गम्भीरता से विचार किया। उन्होने लोकाशाह के प्रश्नो का उत्तर शास्त्र के आधार पर शान्त-भाव से दिया। इसका परिणाम यह निकला, कि लोकाशाह के बहुत से अनुयायी पुन मूर्ति-पूजक बन गए। जिन लोगो ने मूर्ति-पूजा मे हिंसा और अहिंसा का विचार न करके केवल भावना वश मूर्ति-पूजा को छोड दिया था, उन्हे समझाने वाला जब एक बुद्धिमान वर्ग मिल गया, तो पुन मूर्ति-पूजा की ओर लौट पडे। इस प्रकार के लेखको ने लोकाशाह की विचारधारा को मन्द कर दिया। जब विरोधी पक्ष की ओर से कटु अविवेकी विरोध लोकाशाह का किया गया, तब उनका मन उतना ही अधिक बढा और पनपा, परन्तु

इसके विपरीत जब शान्त चित्त वाले लेखकों ने विरोध की आग का उपशमन कर दिया, तो लोकाशाह की प्रगति मन्द पड गई और एक प्रकार से वह रुक भी गई। कुछ दूसरे लेखकों ने लोकाशाह के विरोध मे आवेशपूर्ण-भाषा मे बहुत कुछ लिखा था। इस प्रकार के साहित्य मे दलील और तर्क से अधिक क्रोध और रोष ही प्रतीत होता है। उसमे लोकाशाह को बदनाम करने की भावना विशेष रूप से परिलक्षित होती है। फलत पक्ष और विपक्ष दोनो ओर से घात और प्रतिघात चलते है तथा दूषित साहित्य की रचना होती है। स्थानकवासियो ने भी इस प्रकार का थोडा बहुत साहित्य लिखा ही था। जो लोग विचार करने मे समर्थ नही थे, वे अपनी-अपनी सम्प्रदाय मे दृढ रहे। इस प्रकार मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय के दूषित साहित्य का फल स्थानकवासी सम्प्रदाय को सुदृढ करने मे सहायक रूप से ही सिद्ध हुआ, जो उनको अभीष्ट नही था। अत विवेक खोकर कुछ भी कहना और लिखना अनुचित ही है।

एकान्त आचार

लोकाशाह ने "पढम नाण तओ दया" इस सूत्र वाक्य के एक अश को लेकर दया पर तो भार दिया, पर ज्ञान को गौण कर दिया। ज्ञान-शून्य जड क्रिया मे अनेक अनर्थ खडे हो गए। स्थानकवासी परम्परा ज्ञान-शून्य बन गई। इस एकान्तवाद का परिणाम लोकाशाह के अनुयायियो के लिए अच्छा नही रहा। विरोधी पक्ष के लोगो ने लोकाशाह पर यह आक्षेप किया था, कि वे ज्ञान को गौण करके एक मात्र क्रिया पर जोर देते हैं। इस आक्षेप मे कुछ सत्यता तो अवश्य थी। क्योकि इस परम्परा के साधुओ ने मात्र दया और तपस्या के बल पर ही पूज्यत्व प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। उनकी प्रतिष्ठा का आधार केवल घोर क्रिया काण्ड ही रह गया था। परन्तु ज्ञान-पक्ष का निरादर करने के कारण उस सम्प्रदाय मे ऐसे समर्थ साधु नही निकल सके, जो मूर्ति-पूजक विद्वान साधुओ को यथार्थ उत्तर दे सकते। यही कारण है कि लोकाशाह के अनुयायियो मे से बहुतो ने बाद मे पुन धर्म-परिवर्तन कर लिया और मूर्ति पूजक सम्प्रदाय मे जा पहुँचे। धर्म परिवर्तन के अनेक उल्लेख पोथी-पत्रो मे उपलब्ध होते हैं। लगभग ५०० वर्षो के इतिहास मे लोकाशाह की परम्परा के किसी मुनि ने किसी महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की हो, यह देखने मे नही आया। केवल दया पर भार देने मे और ज्ञान का मार्ग बन्द कर देने का ही यह फल है। आज की इस बीसवी सदी मे ज्ञान और विज्ञान का प्रचार और प्रसार बहुत बढ गया है। ज्ञान और विज्ञान के विविध क्षेत्रो मे अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाला कोई भी मुनिराज आज दीख नही पडता। इस वर्तमान शताब्दी मे भी उस प्राचीन ज्ञान परम्परा का जो बहुमूल्य उत्तराधिकार है, उसकी भी उपेक्षा की जा रही है।

योगोद्वहन के बिना आगम पठन

लोकाशाह ने गुरु-मुख से शास्त्र पढने की परम्परा का विरोध किया और सबके लिए शास्त्र पढने का द्वार खोल दिया। हर किसी को अपनी बुद्धि से अर्थ लगाने की छूट दे दी। शास्त्र अध्ययन के लिए उस काल मे और आज भी मूर्ति-पूजक परम्परा मे प्रचलित योगोद्ववहन की प्रक्रिया को सर्वथा अस्वी-

कार कर दिया। लोकाशाह स्वय लिपिक थे। अत उन्हे तो योगोद्वहन के बिना ही शास्त्र अध्ययन का अवसर मिल गया था। और जो लाभ उन्हे मिला, वह उनके अनुयायियो को क्यो न मिले ? लोकाशाह का ऐसा विचार रहा होगा। उस युग के विरोधी लोगो द्वारा उन पर यह आक्षेप भी होता रहा था, कि आपने शास्त्र अवश्य पढे है, परन्तु गुरु मुख से नही पढे। अत. आपके ज्ञान को विशुद्ध ज्ञान नही माना जा सकता। लोकाशाह ने सबके लिए शास्त्र पढने का द्वार खोलकर एक बहुत बडी क्रान्ति की थी, परन्तु दूसरी ओर चरित्र पर, क्रिया पर एव दया पर अधिक भार देकर ज्ञान के विकास का मार्ग भी बन्द कर दिया। फलत. उनके अनुयायियो मे क्रिया-मार्ग तो खूब चला, परन्तु ज्ञान-मार्ग प्राय बन्द-सा ही हो गया। उस युग के विरोधी लोग लोकाशाह पर यह भी आक्षेप करते थे, कि भगवान् ने तो ज्ञान,दर्शन और चरित्र तीनो को मिलाकर मोक्ष-मार्ग कहा है, फिर आप केवल चरित्र पर ही इतना भार क्यो देते है ? ज्ञान के बिना चरित्र विशुद्ध नही बनता। विरोधियो के उक्त आक्षेप मे सत्याश अवश्य था। आज भी स्थानकवासी परम्परा मे ज्ञान की कमी प्रत्यक्ष ही है। यह सब कुछ ज्ञान-मार्ग के विरोध का ही प्रतिफल है, जो कभी उसके पूर्व-पुरुषो ने बिना सोचे-समझे किया था। मूर्ति-पूजक परम्परा का यह कहना कि गुरु मुख से ही शास्त्र पढना, यह उनका एकान्त आग्रह था। क्योकि इस एकान्त आग्रह के कारण ही जैनो ने बहुत कुछ खो दिया है। गुरु-ग्रन्थी के दोष के कारण ही तो जैन परम्परा मे से अनेक विद्याओ का लोप हो गया। अत दोनो पक्षो का एकान्तवाद उचित नही कहा जा सकता।

श्रावक भी शास्त्र पढ़ सकता है

उस युग मे मूर्तिपूजक परम्परा के अनुसार श्रावक के लिए शास्त्र अध्ययन का निषेध था। साधु वर्ग श्रावक को मूल पाठ नही पढाता था, केवल अर्थ बोध कराना ही उचित समझता था। परन्तु इस मान्यता के विरोध मे लोकाशाह ने श्रावको के लिए भी शास्त्र अध्ययन का द्वार खोल दिया था। इस बात का उल्लेख अनेक स्थानो पर की गई चर्चा से विदित होता है। फिर भी उसका लाभ उठाने वाले श्रावको की सख्या नगण्य जैसी ही थी। इसका मुख्य कारण मुझे तो यह प्रतीत होता है कि ज्ञान-साधना की अपेक्षा आचार पर ही अधिक भार दिया गया था।

आगम और टीकाएँ

आज का स्थानकवासी सम्प्रदाय और उसमे से उत्पन्न तेरापन्थ सम्प्रदाय केवल बत्तीस मूल आगमो को ही प्रमाण मानता है। आगमो की व्याख्या निर्युक्ति। भाष्य, चूर्णि और टीकाओ को प्रमाण न मानने का आग्रह दोनो का समान है। परन्तु उसके प्रवर्तक लोकाशाह को तो पैतालीस आगम प्रमाण थे, इसका उल्लेख मिलता है। उक्त दोनो हस्त-प्रतियो मे बत्तीस आगमो को ही प्रमाण मानने जैसा किसी भी प्रकार का आग्रह नही है। लोकाशाह तो यह कहते है कि "निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति और टीकाओ मे जो सूत्र विरुद्ध बाते है, उन्हे प्रमाण कैसे माना जा सकता है ?" लेकिन जिनका सिद्धान्त-सूत्रो के साथ मे मेल बैठ जाता है, उन्हे प्रमाण मानने मे क्या हानि है ? मूल आगमो मे भी केवल बत्तीस ही

नही, बल्कि पैंतालीस आगम उन्हे मान्य थे। यह बात उनसे पूछे गए एक प्रश्न पर से फलित होती है। एक हस्त-प्रति मे लिखा है, कि लोकाशाह से पूछा जाए, कि कितने सिद्धान्त-सूत्रो को आप प्रमाण मानते है ? यदि वे कहते है, कि पैंतालीस को, तो उन पैंतालीस सिद्धान्त-सूत्रो का नाम उनसे लिखा लिया जाए। क्योकि चर्चा करने से पूर्व इसलिए लिखना आवश्यक है कि उनका आधार हमे ज्ञात हो जाए। उक्त हस्त-प्रति मे ही आगे चल कर कहा है—"यदि आप "पिण्ड निर्युक्ति" को प्रमाण नही मानते है, तो बताइए, कि आपने आगमो की पैंतालीस सख्या पूरी कैसे की ? इस प्रकार के उल्लेख के लिए देखिए लालभाई दलपतभाई विद्या मन्दिर के श्री पुण्यविजय जी के सग्रह की प्रति नम्बर ३४०६ मे प्रश्न १ तथा २।

आगमों की संख्या में मतभेद

निस्सन्देह लोकाशाह के लगभग १०० वर्ष बाद भी आगमो की सख्या के विषय मे मतैक्य नही हो सका था। विक्रम सवत् १६२६ मे लिखित "प्रवचन-परीक्षा" मे उपाध्याय धर्मसागर जी ने स्पष्ट बतलाया है कि लोकाशाह के अनुयायियो मे कुछ २७ सूत्रो को प्रमाण मानते है, और कुछ २६ को। आगे चलकर इस प्रकार का उल्लेख भी मिलता है, कि ३० सूत्रो को प्रमाण मानते हैं। देखिए—सुय-विचार आनन्द जी कल्याण जी के शान्तिसागर सग्रह की प्रति लालभाई दलपत भाई विद्या मन्दिर नम्बर ५०६ मे। इस प्रति मे ३० सूत्रो के आधार पर ही मूर्ति पूजक सम्प्रदाय की ओर से मूर्ति-पूजा का समर्थन किया गया है। इससे ३० सूत्रो की मान्यता फलित होती है। इस पर से यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि लोकाशाह ने स्वय तो उस काल मे मान्य आगमो की कुछ ही बातो पर—विशेषत वृत्ति और टीका की कुछ बातो पर आपत्ति की होगी। परन्तु आगे चलकर तो उनके अनुयायियो ने, जिन्हे आगम और उनकी टीकाओ का विशेष ज्ञान नही होगा, जो लोग शास्त्रो का अर्थ केवल टब्बाओ के आधार पर ही करते होगे—उन्होने खुलकर आगमो की वृत्ति और टीकाओ का बहिष्कार किया था। उन्होने ऐसा करके अपने सम्प्रदाय का कोई हित किया था, यह नही माना जा सकता। लोकाशाह ने शास्त्र अध्ययन का जो द्वार सर्व साधारण के लिए खोलाथा, उसे सकुचित कर दिया गया। फलत स्थानकवासी सम्प्रदाय मे प्राकृत और सस्कृत पढने की प्रवृत्ति का लोप हो गया। इस बीसवी सदी मे उस प्रवृत्ति को पुन. चालू करने के लिए स्थानकवासी साधु वर्ग को काफी सघर्ष करना पडा है। और आज का साधु वर्ग—जिसमे मुख्यत. स्थानकवासी और तेरापन्थ है–फिर से आगमो की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति और सस्कृत टीकाओ के अध्ययन की ओर झुका है। परन्तु कहना चाहिए, कि कुछ विद्वानो को छोडकर, शेष मे अभी तक प्रौढता और गम्भीरता नही आ सकी है।

बत्तीस आगम

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानकवासी परम्परा मे ३२ आगमो की मान्यता—ढुंढिया सम्प्रदाय की स्थापना के बाद मे ही हुई होगी। क्योकि परवर्ती साहित्य मे सर्वत्र ३२ का ही उल्लेख उपलब्ध होता

है। मुनिराज पुण्यविजय जी के संग्रह की दश प्रश्नरूप "ढुढक हुडी" मे—प्रति नम्बर २५१५ जिसकी प्रतिलिपि विक्रम संवत् १८८४ मे हुई—एक प्रश्न किया गया है, कि आप नन्दी सूत्र को तो मानते ही हैं। उसमे अनेक ऐसे आगमो का उल्लेख है, जो आपकी मान्यता के अनुसार ३२ से बाहर है। फिर आप ३२ को ही क्यो मानते है ? मूल ३२ ही आगमकी मान्यता रूढ हो जाने के बाद टीका आदि का अभ्यास लुप्त हो गया। यही कारण है कि इस परम्परा मे कितने ही ऐतिहासिक तथ्यो का लोप हो गया। ज्ञान का बहुभाग हाथ से निकल गया।

आगम के कर्ता कौन ?

स्थानकवासी परम्परा की मान्यता के अनुसार ३२ आगम भगवान् महावीर की वाणी है। परन्तु ३२ मे परिगणित दशवैकालिक सूत्र गणधरकृत न होकर आचार्य शय्यभवकृत है। जब कि स्थानकवासी परम्परा के विश्वास के अनुसार सभी आगम अर्थत भगवान् महावीर की वाणी और शब्दत गणधरकृत है। इस विसंगति का उसके पास कोई समाधान नही है। वृत्ति और टीकाओ की उपेक्षा करके इस परम्परा ने अपना किसी प्रकार का हित साधन नही किया। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका युग की परम्परा इसके हाथो से निकल गई। फलत स्थानकवासी सम्प्रदाय मे आज आचार और विचार की बहुत-सी बातें ऐसी है, जिनके विषय मे उसके द्वारा मान्य ३२ आगमो मे कुछ भी उल्लेख नही है—केवल परम्परागत ही हैं। अत टीका-युग की समग्र परम्परा को न मानने पर बहुत-सी बाते निर्मूल बन जाती है, या फिर उन्हे नवीन मानना ही पड़ेगा। उस स्थिति मे यह दावा गलत होगा, कि हम ही भगवान् महावीर के सच्चे अनुयायी है।

सम्प्रदाय-भेद

धर्मसागर उपाध्यायकृत "प्रवचन-परीक्षा" के अनुसार लोकाशाह के सभी अनुयायी भी अपने आप को लोकाशाह का अनुयायी नही मानते थे। वे अपने आप को वीर जिनमार्ग का अनुयायी कहते थे। इसी प्रकार भाणा ऋषि के अनुयायी अपने आपको वीर मार्ग का अनुयायी मानते थे। ऐसा क्यो मानते थे ? इस विषय मे "प्रवचन-परीक्षा" के विश्राम ८ और गाथा १२ की टीका मे बताया गया है, कि लोकाशाह के अनुयायी दो गच्छो मे विभक्त थे—गुर्जरीय अर्थात् गुजरात के और दूसरे नागपुरीय अर्थात् नागौर के। भाणा ने वि० १५३३ मे स्वय ही वेष धारण किया था। अत लोकाशाह उनके गुरु नही हो सकते। प्रवचन-परीक्षा कार के युग मे भाणा की परम्परा मे दीक्षित केशवसिंह विद्यमान थे और वे गुजरात के लोकागच्छ के थे। परन्तु जिस समय भाणा के पाँचवे पाट पर जगमाल हुए, उस समय रूपचन्द्र जी ने नागपुर अर्थात् नागौर मे स्वय दीक्षा ग्रहण की थी। और रूपर्षि के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होने विक्रम सवत् १५८४ मे अलग होकर नागौरीगच्छ की स्थापना की थी। इस प्रकार भाणा की जो परम्परा चली आ रही थी। वह गुजरात के लोकागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस पर से मालूम पड़ता है कि गुजरात मे लोकाशाह और लखमशी नें मिलकर जो विचार का प्रचार किया, उसका

प्रभाव मारवाड तक पहुँचा था । और वहाँ पर भी गुरु के बिना ही दीक्षा लेने की प्रथा प्रारम्भ हो गई थी। उक्त वर्णन से यह भी सिद्ध होता है कि मूर्ति-पूजा विरोधी होने के कारण ही ये सब लोकागच्छीय कहे जाते थे। परन्तु प्रारम्भ में उनका कोई व्यवस्थित एव सघटित गच्छ नही बना था। धीरे-धीरे गच्छ का विकास हुआ होगा।

मुख-वस्त्रिका की चर्चा

लोकाशाह ने अपने युग मे मूर्ति-पूजा और तत्सबद्ध अन्य बहुत-सी बातों का विरोध किया था। इसमे किसी भी प्रकार की शका को अवकाश नहीं है। परन्तु मुख-वस्त्रिका के विषय में उनके क्या विचार थे? इस विषय मे विचारणा की आवश्यकता है। जहाँ तक मुख-वस्त्रिका की सत्ता का और उसकी उपयोगिता का सवाल है, उसमे मूर्ति-पूजक और स्थानकवासी परम्परा मे किसी भी प्रकार विचार-विभेद नही है। इसमे मूल आगमो का भी आधार है ही। अत मुख-वस्त्रिका की सत्ता और उपयोगिता मे भेद न होकर, उसके प्रयोग मे ही वस्तुत विचार-भेद रहा हुआ है। श्वेताम्बर परम्परा की शाखा और उपशाखाओ मे मुख-वस्त्रिका का प्रयोग तीन पद्धतियो मे किया जाता रहा है—

१. मुख-वस्त्रिका की आठ परत बनाकर, उसमे डोरा डालकर, सदा मुख पर बाँधे रखना।

२ कान मे मुख-वस्त्रिका के दोनो कोनो को पिरोकर केवल व्याख्यान के समय मुख और नाक दोनो ढके रखना।

३. मुख-वस्त्रिका को हाथ मे रखे रखना, जब बोलना हो, तब मुख को ढक लेना।

पहली पद्धति का प्रचलन आज के समग्र स्थानकवासी सम्प्रदायो मे और तेरापन्थ मे है। दूसरी पद्धति लोकागच्छ के यतियो मे और कुछ सवेगी सन्तो मे रही है। तीसरी पद्धति आज के समस्त श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा मे चल रही है।

परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि लोकाशाह ने डोरा डालकर मुख-वस्त्रिका नही बाधी थी। भाणा भी साधुवेष धारण करते समय मे मुख-वस्त्रिका के विषय मे चालू परम्परा से अलग नही हुए थे। फिर बाधने की प्रथा कब से चल पडी। इस विषय मे मुनिराज पुण्यविजय जी के सग्रह की प्रति नम्बर ४८३७ मे बताया गया है, कि बुद्धिविजयजी के कथनानुसार मुख-वस्त्रिका को हाथ मे रखने का प्रचलन प्राचीन युग मे था। परन्तु विक्रम सवत् १००८ मे कानो के छेदो मे मुख वस्त्रिका के कोनो को पिरोकर व्याख्यान के समय बाधने की परम्परा प्रारम्भ हुई। फिर विक्रम सवत् १५३१ मे (किसी के मत मे १५३०, १५३३, १५३४) मे लोकागच्छ शुरु हुआ। उस गच्छ के उत्तराधिकारी यतियो ने मुख-वस्त्रिका मे तणिया अर्थात कँस टाँककर एव मुखबाँधकर व्याख्यान देने की परम्परा चली। बुद्धि विजय जी ने आगे बताया है कि विक्रम सवत् १६८७ मे ढुढिया पन्थ के लोगो ने मुख-वस्त्रिका मे डोरा डालकर मुख-वस्त्रिका सदा बाधे रखना प्रारम्भ किया।

इस चर्चा से सिद्ध होता है, कि लोकाशाह ने स्वय तो मुख-वस्त्रिका नही बाधी थी। दूसरी बात इस चर्चा से यह सिद्ध होती है, कि आज के स्थानकवासी और तेरापन्थ मे जो मुख-वस्त्रिका बाधने का प्रयोग है, उसका मूल विक्रम सवत् १६८७ से प्राचीन सिद्ध नही होता। परन्तु इसमे अभी अनुसन्धान को अवकाश है।

हस्त-प्रतियो का परिचय

मैने अपने प्रस्तुत लेख मे जिन प्रतियो का यथाप्रसग निर्देश किया है, उनके विषय मे थोडा परिचय देना, मैं यहाँ आवश्यक समझता हूँ। उनमे से एक है—लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति-विद्यामन्दिर के मुनिराज श्री पुण्यविजय जी के सग्रह की पोथी, जिसका नम्बर है २६८६ और जिसके वेष्टन पर लिखा है—"लुकाना सद्दहिया अठावन बोल विवरण"। इस प्रति की प्रथम पक्ति मे इस प्रकार से लिखा हुआ है— "लु काना सद्दहिया अनई कर्या बोल ५८ लिखई छई।" इसका फलितार्थ होता है—लोकाशाह के द्वारा श्रद्धित तथा कृत ५८ बोलो का विवरण उक्त नाम के पहले पक्ति के प्रारम्भ मे हडताल है और फिर लिखा है-"गुरुभ्यो नम।" मालूम पडता है कि गुरु का नाम काट दिया गया है। अन्त मे भी इस ग्रथ के सस्कृत नाम पर हडताल फेरी हुई है। परन्तु उसे इस प्रकार से पढा जा सकता है—"इतिश्री लुपकेन कृता अष्टपञ्चा 'विचारश्च।" और फिर लिखा है—लुकाना सद्दहिया अनई करिया अठावन बोल अनई तेहनु विचार लिखउ छई। शुभ भवतु।

इस प्रति के पत्रो की सख्या १५ है और उनका लेखन-काल लगभग १७ वी सदी है। यह प्रति पत्र १५ की प्रथम बाजू पर परिसमाप्त होती है। अन्त मे ५४ बातो की एक सूची भी दी गई है, जिसके विषय मे पूछा गया है, कि इन सब बातो का मूल सिद्धान्त-सूत्रो मे उल्लेख कहाँ पर है? इसमे उस काल के आचार और विचार की उन बातो का समावेश किया गया है, जिनके बारे मे लोकाशाह के अनुयायी अपने विरोधियो से पूछा करते थे। तात्पर्य यह है कि इन ५४ बातो मे मूर्ति-पूजक और लोकाशाह के अनुयायियो मे मतभेद था। प्रस्तुत लेख के प्रसग से जिन अनेक प्रतियो को मैंने देखा उनके अध्ययन से मुझे ऐसा लगता है, कि लोकाशाह के ५८ बोलो का और ५४ बोलो का यथाशक्य और यथा समय उत्तर देने का प्रयत्न किया गया था। ५८ बोलो के उत्तर का तो उल्लेख भी मिलता है।

सम्यक्त्व-परीक्षा

विबुधविमल द्वारा विक्रम सवत् १८१३ मे रचित सम्यक्त्व-परीक्षा नामक ग्रन्थ का एक प्रकरण तो इसी ५८ बोल के विरुद्ध लिखा गया है, उसमे लिखा है कि—

"जैनाना जैन-चैत्यानि,
पर सम्यक्त्व-साधनम्।
जैनाभासमत-भ्रान्तै
र्निषिध्यन्ते कुयुक्तिभिः॥

ढुंढका ग्रथिल-प्राया,
लुंकाख्युद्ग्राहिता ह्यमुः,
उन्मत्त वद् ब्रुवन्त्येवाहं-
च्चैत्यार्चा-निषेधनम् ॥
उत्सूत्राण्यष्टपञ्चाशत्-
संख्यानि भावितानि तैः ।
ढुण्ढकैर्ग्रथिलत्वेन स्वीयसंसार-वृद्धितः ।

श्लोक ३६—३८

उक्त ५८ बोलो मे से कई बोल तो इस विषय के है, कि भगवान् महावीर ने तो आत्यन्तिक अहिंसा को ही धर्म कहा है। अत वैसी कोई भी क्रिया नही करनी चाहिए, जिससे हिंसा होती हो। हिंसा के विषय मे उपदेश देना भी एक प्रकार की हिंसा ही है। हिंसा का उपदेश भी हिंसा का समर्थन तो अवश्य है और यह भगवान् के धर्म के विपरीत है। इस प्रसग पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की चर्चा का होना भी स्वाभाविक ही था। इस विषय से सबद्ध प्रश्न नम्बर इस प्रकार से है—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १७, २०, २१, ४०, ४१, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०, ५१, ५२, ५४, ५५ और ५८।

जो थोडे बहुत प्रश्न मूर्ति-पूजा से सबद्ध है, जिनमे जैन-आगमो मे आए हुए मन्दिरो का उल्लेख, पूजा के उल्लेख तीर्थों के उल्लेख, प्रतिमा निर्माण की चर्चा, प्रतिमा की प्रतिष्ठा, प्रासाद निर्माण और चैत्य शब्द के विषय मे उल्लेख है और स्थापना निक्षेप आदि की चर्चा है। इसके लिए देखिए प्रश्न नम्बर—७, ८, ६, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १८, १६, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ३२, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३६, ४२, ५३, और ५६। इसके बाद मे यथा प्रसग शास्त्र-प्रमाण की चर्चा भी की गई है। देखिए—प्रश्न नम्बर ५७ मे।

मुनि श्री पुण्यविजय जी के सग्रह की पोथी नम्बर ४१२१ मे, लुकानी हुडी ३३ बोल है। उसके दो पत्र है। इसमे निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि और वृत्ति को सर्वांश मे प्रमाण मानने वालो के लिए ऐसी बातो का सग्रह किया गया है, जिन पर वे गम्भीरता के साथ मे विचार करके निर्णय करें, कि सर्वांशत उक्त ग्रन्थ प्रमाण मानने योग्य है, या नही? विशेषतः निशीथ चूर्णि मे जो अपवाद की चर्चा है, उसी के विषय मे प्रश्न किया गया है, कि यह कहाँ तक उचित है। अपवादो की सगति कैसे की जाए? इस प्रकार के अपवादो का निरूपण भगवान् के मार्ग मे सगत नही है। यह १ से २५ वे बोल का विषय है। अन्त मे बताया गया है कि जिस निशीथ चूर्णि मे इस प्रकार की बातो का उल्लेख हो, उसे सम्पूर्ण रूप से अथवा सर्वांशत. कैसे प्रमाण माना जाए? जिन-जिन बातो मे उनका विरोध था, उन बातो के विषय मे उसके प्रामाण्य को वे नही मानते थे। इसका अर्थ यह नही, कि निशीथ चूर्णि को सर्वांशरूप से अप्रमाण करार दे दिया जाए। २५ वें बोल मे इसी पर विचार किया गया है।

लोकाशाह और उनकी विचार-धारा

२६ वे बोल में उत्तराध्ययन-सूत्र की टीका मे से उल्लेख लिया गया है, जो इस प्रकार से है, कि प्रसंग आने पर चक्रवर्ती के सम्पूर्ण सैन्य को नष्ट करने का बल साधु रखते हैं। यह वर्णन लब्धि-धर मुनि का है, सामान्य मुनि एव सामान्य साधु का नही। २७ से ३३ वें बोल तक मे व्यवहार-वृत्ति, प्रज्ञापना-वृत्ति और आवश्यक निर्युक्ति के आधार पर अपवादो की चर्चा की गई है। एक प्रश्न यह भी किया गया है कि इस प्रकार के अपवाद में सहमति देने वाली आवश्यक-निर्युक्ति चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की रचना कैसे हो सकती है? अन्त मे कहा गया है कि बुद्धिमान एव विवेकशील पुरुष इन सबके बारे में विचार करें, जिससे लोक और परलोक में सुख प्राप्त करे।

इस हस्त-प्रति के अन्त मे जो कुछ लिखा गया है, उस पर से यह मालूम पडता है, कि यह प्रति निश्चय ही लोकाशाह के मत की है, लोकाशाह के विचार की है। क्योकि इस प्रति की नकल करने वाले ने लिखा है कि—

"ए सर्वं लुकामती नी युक्ति छई। प्रतिमा मानइ तेहने तो पञ्चागी प्रमाणइ सर्वं युक्ति प्रमाण-छइ। जाणवानई एह लिखूं छई।"

इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है, कि नकल करने वाला लेखक कह रहा है, कि वह अपने पाठक को सचेत कर रहा है कि इस प्रति मे जो कुछ भी लिखा गया है, वह लोकाशाह का कथन है, लोकाशाह की युक्ति है। परन्तु जो लोग प्रतिमा-पूजा मे विश्वास रखते है, उनके लिए तो पञ्चागी की युक्ति ही, पञ्चागी का कथन ही प्रमाणभूत है। क्योकि यह केवल लोकाशाह के मत को समझने के लिए ही लिखा है, उसे स्वीकार करने के लिए अथवा मानने के लिए नही लिखा है।

अन्त मे मैं एक बात स्पष्ट करदूं। लोकाशाह के विषय में, जितना मेरे लिए सम्भवित था, उतनी खोज मैंने की है। प्राचीन हस्त-प्रतियो का जो कुछ मैंने अध्ययन किया, उसी के आधार पर यह प्रस्तुत लेख लिखा गया है। इसका अर्थ यह कदापि नही है कि मेरी खोज पूर्णत सत्य है, अब आगे किसी प्रकार की खोज नही हो सकती। लोकाशाह, उनकी परम्परा और उसकी विचार-धारा के विषय में वस्तुत बहुत बड़े और गम्भीर अनुसन्धान की आवश्यकता है। स्थानकवासी समाज के विद्वान मुनि-राजो और विचारक-श्रावको का यह परम कर्तव्य है, कि वे इस विषय में और भी अधिक गहरा अनु-सन्धान करके सत्य पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें।

अनुवादक : रमेशचन्द्र मालवणिया

क्या देव-जैनीज (Diogenes) जैन थे ?

डा० व्रजगोपाल तिवारी डी० लिट०

प्राचीन बातो की खोज, कभी-कभी नामो की ध्वनि के सादृश्य के आधार पर और कभी-कभी सिद्धान्तो तथा व्यवहारो के सादृश्य के आधार पर की जाती है। उदाहरणार्थ ध्वनि के सादृश्य के आधार पर, कुछ लोगो का मत है कि अरबी शब्द "जिन" (अर्थात् एक प्रकार का प्रेत) और भारतीय शब्द, "जैन" दोनो एक ही प्रकार के है। दिगम्बर सम्प्रदाय के कुछ अतिशयवादी सन्त जो वैराग्य की मस्ती मे स्वच्छन्दता पूर्वक नगे बदन, शरीर पर धूल की परवाह न करते हुए इधर-उधर विचरते थे, उनके विकराल रूपो मे प्रेतो के रूपो से विदेशियो को सादृश्य मिला, इसलिए वे लोग प्रेतो को "जिन" कहने लगे।

अब सिद्धान्तो तथा व्यवहारो के सादृश्य को लीजिए। इस सादृश्य के आधार पर डा० हीरालाल जैन अपनी पुस्तक "भारतीय सस्कृति मे जैन-धर्म का योगदान" मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि ऋग्वेद मे उल्लखित केशी, वृषभ तथा वातरशना मुनि ऋषभदेव से भिन्न नही थे। वैदिक ऋषियो के विपरीत, ये "वातरशना मुनि" समस्त गृह-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि परिग्रह यहाँ तक कि वस्त्र का भी परित्याग कर, भिक्षावृत्ति से रहते थे। शरीर का "स्नानादि सस्कार न कर" मल धारण किए रहते थे। मौनवृत्ति से रहते थे। इस प्रकार वातरशना या गगनपरिधान-वृत्ति, केश-धारण, कपिश वर्ण, मलधारण, मौन, उन्माद-भाव आदि व्यवहार सम्बन्धी लक्षणो तथा देवताओ के आराधन को छोडकर, आत्मध्यान सम्बन्धी विचारो के बल पर, विद्वान लेखक यह सिद्ध करने का यत्न करते है, कि जैन धर्म, अपने प्राचीन रूप मे, ई० पूर्व १५०० मे प्रचलित था।

इन उदाहरणो से विदित हो जाएगा, कि अनेक अन्वेपणो मे या तो ध्वनि के सादृश्य या सिद्धान्तो एव व्यवहारो के सादृश्य का सहारा लेना पर्याप्त माना जाता है। इस लेख मे हम इन दोनो मे से किसी एक का सहारा लेने के स्थान मे, दोनो सादृश्यो के सम्मिलित आधारो पर, इस बात पर बल देंगे, कि सूक्ष्म अध्ययन द्वारा इस विषय के रहस्य का पूर्णत उद्घाटन करने का यत्न किया जाए, कि "क्या देव-जिनीज अथवा देव-जैनीज (Diogenes) जैन थे ?"

मै इनके नाम मे ध्वनि के सादृश्य के विषय मे अधिक न कहकर, केवल इतना ही उल्लेख करूँगा कि किसी इतिहास मे चन्द्रगुप्त (मौर्य वश वाले) के नाम का यूनानी रूपान्तर सैन्ड्रोकोटस (Sandrocotus) बतलाया गया है। किसी विद्वान ने यह भी बतलाया है, कि "भारगव" शब्द यूनान के भाग "फ्रिजिया" (Phrygia) से निकला है। विद्वानो का कथन है, कि अग्रेजी का (या स्काच भाषा का) नाम फार्कर (Farquhar) सस्कृत के शब्द "वीर-वर" ही का रूपान्तर है। इसी प्रकार सम्भव है, कि "देव-जिनीज" नाम के एक भाग मे "जिन या "जैन" की ध्वनि मिलती है।[1]

अब हम सिद्धान्तो और व्यवहारो के सादृश्य को ढूंढेंगे। इतिहास के विद्यार्थी जानते है, कि सिकन्दर के भारत पर आक्रमण करने के पूर्व, कुछ समय तक भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर ईरानी शासको (क्षत्रपो) का अधिकार था। सिकन्दर के आक्रमण तथा चन्द्रगुप्त-मौर्य के यूनानियो को भारत की सीमा से खदेडकर यूनानी सेनापति सैल्यूकस (Seleucus) की पुत्री से विवाह कर लेने और अपनी राजधानी पाटलीपुत्र मे यूनानी राजदूत मैगस्थिनीज (Megasthenes) को रख लेने के पश्चात्, भारत और यूनान का सीधा सपर्क स्थापित हो गया था। सिकन्दर की विजय के पश्चात्, ईरान, मध्य एशिया, ईराक तथा पश्चिमी एशिया मे यूनानी राज्य स्थापित हो गए थे। इन देशो और यूनानियो के सम्मिश्रण से नयी जातियाँ उत्पन्न हो गई थी। इस प्रकार इस काल मे, भारत का पश्चिमी एशिया और यूनान से व्यापारिक और सास्कृतिक सम्बन्ध होने लगा था। सभव है, कि दोनो देशो के दार्शनिक विचारको का–उदाहरणार्थ भारत के चार्वाको का यूनान के सिरीनायक (Cerenaics) से सपर्क हुआ हो, और यह भी सभव है, कि भारत/के जैन विचारको का प्रभाव पश्चिमी एशिया तथा यूनान के विचारको पर पडा हो। हम पाते है कि देव-जिनीज नामधारी यूनान के चारो दार्शनिको के विचार और आचार जैनो के विचारो और आचारो से बहुत कुछ मिलते जुलते है।

चारो देव-जैनी-ज या तो "सिनिक" (Cynic) सम्प्रदाय के हैं, या स्टोइक (Stoic) सम्प्रदाय के है। इन दोनो सम्प्रदायो का भेद प्राय उसी प्रकार का है, जैसे जैनो मे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायो का भेद। डाक्टर दीवान चद के अनुसार सिनिक और स्टोइक मतो मे प्रमुख भेद ये है —

---

[1] डायो (Dio) प्रत्यय के तीन प्रयोगो मे से एक, केवल उपसर्ग (Prefix) के रूप मे, शब्दों के आरम्भ मे होता है।

१. सिनिक विचार के अनुसार नैतिक भद्र ही मूल्यवान है। अन्य सारी वस्तुएँ मूल्य से शून्य हैं, और इसलिए एक ही स्तर पर है। स्टोइक विचारको ने भद्र और अभद्र के सम्बन्ध मे मौलिक नियम को अपनाए रखा, परन्तु अन्य पदार्थों मे भी भेद किया। भले पुरुष के लिए स्वास्थ्य, बीमारी से अच्छा है।

२ सिनिक विचार के अनुसार वृत्ति एक ही है। प्रत्येक मनुष्य नेक है या बुरा है। नेकी और बुराई दोनो एक साथ नही हो सकती।"[1] इन भेदो की विस्तृत व्याख्या न देकर हम यहाँ सक्षेप मे, यह कह सकते है, कि "सिनिक" अतिशयवादी दल के थे और स्टोइक सतुलित थे। पर ये दोनो मिलकर निचले स्तर पर रहने वाले और क्षणिक तृप्ति ढूढने वाले सुखवादियो अर्थात् सिरीनायको के कट्टर विरोधी थे। और दोनो ज्ञान-ध्यान के ऊँचे स्तर की प्राप्ति मे सलग्न रहते थे।

पहले हम आदि के दो देव-जिनी-ज का और फिर अन्तिम देव-जिनी-ज का परिचय देकर, अन्त मे सबसे प्रसिद्ध देव-जिनी-ज का वर्णन करेंगे।

१ देव-जिनी-ज लीर्शश (Diogenes Laertius) का समय ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी मे माना जाता है। यह ग्रन्थकार और दर्शन के इतिहासकार थे। इन्होने फैथागोरस (Pythagoros) के सिद्धान्तो, जैसे सर्वात्मवाद एव पुनर्जन्म आदि का जीर्णोद्धार करके, नैतिक और धार्मिक क्षेत्र मे, स्टोइक विचार-धारा का पोषण किया।

२. बेबीलन (Babylon) या बाबुल के देव-जैनी-ज। दर्शन के प्रसिद्ध इतिहासकार, विन्डलवैन्ड (Windelband) का कथन है, कि जब स्टोइक सम्प्रदाय के विशिष्ट व्यक्तित्व पर विचार किया जाए, तब हम पाते है, कि उसके अधिकाश अनुयायी पश्चिमी एशिया की मिश्रित जातियो के थे।[2] यह विचारक भी प्राचीन ईराक के थे। इन्हे मुनि (Sage or savant) कहा गया है। इनका समय भी ईसा के पूर्व की प्रथम शताब्दी है। इनके मनन के विषय इतिहास, साहित्य और दर्शन थे। ये सुखवाद के विरोधी थे, और इनके विचार इस समस्या पर केन्द्रित थे, कि आदर्श व्यक्ति या मुनि (Sage) के क्या लक्षण होने चाहिए। इन विचारको ने "व्यक्ति कैसे पूर्ण बने ?"—इस समस्या पर अधिक बल दिया और "समाज कैसे सुखी हो ?"—इस प्रश्न पर कम ध्यान दिया—ऐसा इनकी आलोचना मे कहा जाता है।

---

[1] डा० दीवान चद—पश्चिमी दर्शन (प्रकाशन ब्यूरो) लखनऊ पृ० ६२

[2] डा० विलियम विन्डिलबैंड का "दर्शन का इतिहास",
टफट्स (Tufts) द्वारा अंग्रेजी अनुवाद
मैकमिलन द्वितीय संस्करण पृ० १६२

आदि के दो देव-जैनी-ज के बाद हम अब अन्तिम देव-जैनी-ज का उल्लेख करते है। यह ईसा के बाद की पाचवी शताब्दी मे हुए। यह एपोलोनिया के निवासी बतलाए जाते हैं। इन्होने द्रव्य के एकत्व पर बल देते हुए बतलाया, कि विश्व की समस्त वस्तुएँ पारस्परिक ढग से सम्बद्ध है। इनका मत था कि मनुष्य तथा विश्वभर मे एक ही प्राण है। मनुष्य को उतना ही ज्ञान होता है, जितना भाग विश्व-व्यापी प्रकाश का वह प्राप्त कर पाता है। इन्होने समकालीन यूनानी और रूमी सामाजिक एव नैतिक जीवन के खोखलेपन की कटु आलोचना की। इन्हे मानव-शरीर-रचना-शास्त्र (Physiology) और सभवत आयुर्वेद और योग का अच्छा ज्ञान था। यह रमते जोगी (Wandering Teacher) थे। इनका मत अनेकान्तवाद एव समन्वयवाद (Eclecticism) बतलाया जाता है।

अब हम सबसे प्रसिद्ध एव विवादग्रस्त देव-जिनी-ज का सक्षिप्त वर्णन करते है। इनके जीवन काल ही मे लोगो ने इनके पक्ष या विपक्ष मे अफसाने गढने शुरू कर दिए थे, और बाद मे तो इनके बाबत दत-कथाओ की भरमार हो गई। ये यूनान मे सुकरात के बहुत बाद मे हुए। कुछ लोग तो इन्हे सिकन्दर का समकालीन बतलाते है।

इनके वश के विषय मे, एक कथा मे यह बतलाया जाता है, कि इनके पिता वणिक या शराफ थे जिन्हे सोने और चाँदी के सिक्को को बिगाडने के कारण कारावास का दण्ड भोगना पडा। इस पर लडके ने यह कहा कि पिता ने सोने की मुहरे ही बिगाडी है। मैं मानव जीवन के सब मूल्यो को खोखला करके बिगाड दूंगा। उसने यह कर भी दिखाया। कोई कहते है, कि वे नाद (Tub) मे रहते थे। गिल्बर्ट मरे ने यह पता लगाया है, कि उनका निवास-स्थान नाद नही, वरन एक बडा मटका था। ऐसे बड़े घडे मे मृतको की अस्थिया गाडी जाती थी। ये अपने पास कोई बरतन नही रखते थे। हाथो को जोडकर ही पानी पी लेते थे। इनके कुत्ते के समान जीवन व्यतीत करने के कारण लोग इनके सम्प्रदाय को कुत्तावाला "सिनिक" सम्प्रदाय कहने लगे। इनके आचार और विचार मे धन, विलासिता, सूफियाना-पन प्रसिद्धि, सन्मान, इन्द्रियो के समस्त सुख, कला, विज्ञान कौटुम्बिक और सामाजिक एव राष्ट्रीय सुख तथा उत्सव सबके सब उतने ही खोखले, निरर्थक और निन्दनीय है, जितनी कि कामेच्छा और निचली प्रकार की लालसा। इनके अनुसार भलाई, इच्छाओ से मुक्ति प्राप्त करने ही मे है। बुद्धिमान वह हैं, जो घटनाओ के चक्कर से स्वतन्त्र हो जाए। यह प्रचलित सभ्यता, रीति रिवाज, पूजा-अर्चना—सब के विरुद्ध थे। ताओ मतं, रोसो तथा टाल्सटाय के समान ये इस बात पर बल देते थे, कि मानवजीवन प्रकृति के अनुकूल हो, और केवल अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकताओ ही की पूर्ति की जाए। युवावस्था मे, इनके गुरु ने इन्हे पीट कर भगा देना चाहा। पर यह निश्चय कर चुके थे, कि मैं एंटिसथीनिस को ही गुरू बनाऊँगा। अत यह टस से मस न हुए। तब इन्हे दीक्षा दी गई। बर्ट्रेंडरसल का कथन है, कि एक बार सिकन्दर महान् इनके पास आया और पूछने लगा, कि क्या आप मुझ से किसी प्रकार की कृपा चाहते है, तो इस साधु ने उत्तर दिया "कृपा करके मेरी ओर आने वाले प्रकाश के बाहर चले जाइए"। सम्राटो और सेनापतियो, सेठो और साहूकारो का इनके दर्शन मे कोई महत्व नही था। पर यह मनुष्य मात्र से ही नही, वरन पशुओ से भी भाई जैसा स्नेह रखते थे।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहासकारो ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि यह विज्ञान-विरोधी नही थे। पर वे विज्ञान को आत्म-सयम एव इन्द्रिय-दमन ही का तथा मनुष्य की अत्यन्त अनिवार्य इच्छाओ की पूर्ति ही का साधन बनाना चाहते थे। भौतिक विज्ञान के अन्य मूल्यो के प्रति वे उदासीन थे। यह भी कहा गया है, कि वे बुद्धि के विकास के विरोधी नही थे। बुद्धि से इस ससार के सुखो की सार-हीनता समझाई जा सकती है। ऐसा यह मानते थे। एक प्रसिद्ध पुरुष ने उन्हे अपने लडको के शिक्षण का भार सौपा, और अपने सिद्धातो के अनुकूल शिक्षा देने मे इन्होने पूर्ण सफलता पाई।

इन देव-जिनी-ज के सिद्धान्तो को गरीबो ने तो अपनाया ही अमीरो के लडको मे भी वस्त्र, भोजन आदि का निरादर करने की, इनके प्रभाव से एक प्रकार का फैशन-सा हो पड गया। इनकी ख्याति यूनान के बाहर, मिस्र देश के इस्कदरिया आदि नगरो तक पहुँच गई।

पर पाश्चात्य दर्शन के इतिहासकार इनके व्यक्तित्व एव वक्तव्य से प्रभावित नही पाए जाते है। विन्डेलवैन्ड समझते है, कि इनकी ख्याति पाश्चात्य, यूनान सभ्यता का मखौल उडाने—भोजन, वस्त्र, घर आदि का निरादर करने से हुई। बर्ट्रेंड रसेल कहते है कि भारतीय भिखारी (Indian Fakir) के समान वे भिक्षावृति से गुजारा करते थे और रसेल पूछते है, कि उनके उपदेश किन्हे अच्छे लगे होगे ? क्या अमीरो को जो गरीबो के दुखो को काल्पनिक मानकर प्रसन्न हुए होगे ? या गरीबो को जो सफल रोजगारियो को तुच्छ बतलाए जाने पर प्रसन्न हुए होगे या खुशामद या भिक्षा से धन प्राप्त करने वालो को ! जो दान लेने के बाद दानी को तुच्छ बतलाए जाने पर, प्रसन्न हुए होगे ? या उधार लेने वालो को ! जो यह देखकर प्रसन्न हुए होगे, कि रुपया लौटाना बहुत आवश्यक नही है। इस प्रकार के उपदेशो और जैन धर्म के नैतिक सिद्धान्तो की इससे भी कडी और तीव्र आलोचना नित्शे (Nietzsche) ने की है। उसने इस प्रकारके धर्म को गुलामो का धर्म निरूपित किया है। सच तो यह है,कि ऐसे मुनियो का व्यक्तित्व, जो मल धारणा करे, या बास के वन मे भस्मीभूत हो जावें, पाश्चात्य दार्शनिको के लिए अब तक एक हेपली है।

रामायण सम्बन्धी एक अज्ञात जैन-रचना सीता-चरित

●

श्री भवरलाल नाहटा

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र भारत के मान्य महापुरुषो मे से है, जिनके सम्बन्ध मे बहुत बडा साहित्य भारत व भारत के बाहर विविध भाषाओ मे रचा गया है। इस सम्बन्ध मे डा० बुल्के का शोध प्रबन्ध बहुत ही महत्व की जानकारी देता है, जिसका परिवर्द्धित नया सस्करण हाल ही मे भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है।

जैन धर्म मे राम को बलदेव व लक्ष्मण को वासुदेव व रावण को प्रति वासुदेव के रूप मे त्रिषष्टि-शलाका महापुरुषो मे सम्मिलित किया गया है। प्राचीन जैनागमो मे राम का नाम 'पउम' प्राप्त होता है। इसलिए उनकी जीवनी से सम्बन्धित ग्रन्थो का नाम 'पउम-चरिय', पद्म-चरित्र तथा पद्म-पुराण रखा गया है। परवर्त्ती ग्रन्थो मे रामायण, रामचरित, सीताचरित नाम भी प्राप्त होते है। सबसे प्राचीन विमल सूरि का 'पउम-चरिय' प्राकृत भाषा मे है, जो पहली शताब्दी की रचना मानी जाती है। उसी के सस्कृत अनुवादरूप मे दिगम्बराचार्य रविषेण ने पद्मचरित की रचना की। 'चउपन्न महापुरुष चरिय' त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित और महापुराण आदि मे भी राम कथा पायी जाती है। रामकथा के दो जैन रूपान्तरो के सबध मे स्वर्गीय नाथूराम जी प्रेमी ने अपने पद्मचरित शीर्षक लेख मे अच्छा प्रकाश डाला है। अपभ्रश के महाकवि स्वयभू का 'पउम-चरिय' भी प्रकाशित हो चुका है, जो बहुत प्रसिद्ध है।

प्राकृत भाषा मे एक और महत्त्वपूर्ण रामचरित अभी तक अप्रकाशित है, जिसका नाम सीता चरित रखा गया है। यह रचना काफी प्राचीन प्रतीत होती है। यद्यपि इसमे रचियता व रचनाकाल

नवमी उल्लेख नही है, पर यह रचना आठवी शताब्दी के आस-पास की मालूम देती है। उसकी एक हस्त लिखित प्रति चौदह वी शती मे लिखित हमारे अवलोकन मे आयी है, पर अभी जिस प्रति के आधार से यहाँ परिचय कराया जा रहा है—स० १६६४ मे लिखी हुई कलकत्ता के स्वर्गीय पूर्णचन्द्र जी नाहर के सग्रह मे, यह कृति है। २५०८ गाथाओ या ३२०२ ग्रन्थाग्रथ (श्लोक) परिमित यह रचना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सतरहवी शती के महाकवि महोपाध्याय समयसुन्दर जी ने सीताराम चौ० नामक महत्त्वपूर्ण राजस्थानी महाकाव्य की रचना सम्भवत इसी सीता-चरित के आधार से की है। वे लिखते है—

जिन-शासन शिवशासनइ सीताराम चरित सुणीजइ रे।
भिन्न भिन्न शासन भणी का का वात भिन्न कही जइरे॥

जिन शासनिपणि जूजुजा आचारिज ना अभिप्रायो रे।
सीता कही रावण-सुता ते पदमचरित कहियायो रे॥

पणि वीतराग देवइ कह्यो तें साचो करि सद्दहिज्यो रे।
"सीताचरित" थकी मे कह्यो साहरो छेटोमत ग्रहिज्यो रे॥

सीताचरित की रचना जैसे कि प्रारभ व अत मे ग्रथकार ने लिखा है, कि मुनि को मिथ्या अभ्याख्यान देने के कारण सीता को कष्ट उठाना पड़ा। इसी के उदाहरण रूप मे सीता की कथा विस्तार से कही गयी है, और अन्त मे ऐसे मिथ्याकलक से सीता-चरित से बचने की प्रेरणा की गई है। ग्रन्थ का आदि अन्त इस प्रकार है—

आदि

कमल नह कति जलेण वरालिय देह सुणिम्मला हुति।
नर सुरावि सया पणया जेसि ते जिणवरे नमह॥ १॥

वर-वयण-वारिधारा नियरं जस्साविर्यंति अवियण्हा।
वप्पीहयव्व भव्वा नमामि तं वीर-जिण—मेह॥ २॥
धम्माधम्मस्स फलं जहसिट्ठं गोयमेण मुणिवयणा।

सेणिय रायस्स पुरो सुणेह तं किंपि साहेमि॥ ३॥
नो चेव भासियव्व हियच्छणा दुक्ख-कारण वयणं।
अलिय अब्भक्खाण पेसुन्न मम्म वोहाइं॥ ४॥

संतो विहुवत्तव्वो परस्स दोसो न होइ विवुहाण।
किं पुण अविज्जमाणो पयडो छन्नो य लोयस्स॥ ५॥

वियरइ अब्भक्खाण इयरस्सवि जो जणस्स दुब्बुद्धि ।
से गरहिज्जइ लोए लहेइ दुक्खाइं तिक्खाइ ॥६॥

जो पुण जईण समियाण सुद्ध भावाण बंभयारीण ।
अब्भक्खाणं देई मच्छर-दोसेण दुट्ठ मई ॥ ७ ॥

निव्वत्तिऊण तिव्वं पाव्वं पावेइ सो दुहमणंतं ।
सीयाइव्व पुव्व-भवे मुणि अब्भक्खाण दाणाओ ॥८॥

अह भणइ सेणिय निवो भयवं साहेह गुग्गहं काउं ।
कह अब्भक्खाणाओ दुक्ख सीयाए अणुभूय ॥९॥

तो भणइ इंदभूई नवघण-गभीर-महुर-घोसेणं ।
संखेव वित्थरेणं साहेमि इमं निसामेह ॥१०॥

कथा-प्रारंभ

आसि इह भरहवासे, मिणाल कुंडमि पवर-नयरंमि ।
सिरिभूई नामेण पुरोहिओ परहिएक्करई ॥ ११ ॥

तस्स य सरस्सई ए सरिछ बुद्धी सरस्सई भज्जा ।
तीएय कुच्छि भूया वेगवई नाम किल धूया ॥१२॥

तव लच्छि भूलियंगो, कयाइ तत्थागओ विगय संगो ।
खंतो दंतो समियो सुदसणो मुणिवरो एगो ॥१३॥

नयरुज्जाणे पडिमाइ संठिओ सो विसिट्ठ गुणकलिओ ।
चिट्ठतो विन्नाओ मायर-लोयाण मुणिवसहो ॥१४॥

भत्ति-बहुमाण पुव्व सोतं पूएइ गंधमाईहिं ।
पईदियहं थिर बवइ नमसए सेवए विहिणा ॥१५॥

अंत

तत्तो चुओ नरभवमि समागओ सो तित्थे सरस्स वसुदत्त जिणस्स पासे ।
पाविसु चारु गणहारि पय जिणुत्तं पाविस्सई सयल कम्म खएण मोक्खं । २५०५ ।

अब्भक्खाण विवाग सूयगमिणं सवेग संसाहग ।
सव्वेसिं पि जणाण विम्हय-कर सीलप्पसंसा-परं ॥
किंचीराहव लक्खणेहि सहिय लंकाहिवेण तहा ।
सीया वेवि महासईए चरिय सखेवओ साहियं । २५०६ ॥

नाऊण परिभाविऊण हियए सम्म इम सव्वहा ।
अब्भक्खाणमसल दुक्ख जणण वज्जेह भव्वा जणा ॥
सीलं सव्व गुणाण भूसण-करं निव्वाण संपायग ।
खंडिज्जत मलकलक विकलं रक्खेह निच्च तहा ॥ २५०७ ॥

एय सीय-चरिय वज्जरिय से णियस्स नरवइणो ।
जह गोयमेण तह मह सूरीहिं निवेइय किंचि ॥ २५०८ ॥

इति श्री शील व्रताधिकारे महासती श्री सीताचरित्र धर्मकथा पवित्र सपूर्णमिति भद्रं भूयात् । शुभ भवतु ॥ घ ॥ ग्रथाग्रथ ३२०२ । कल्याणमस्तु ।

सवत् १६७४ वर्षे फाल्गुन मासे कृष्णपक्षे ७ दिने सपूर्णं ॥ पण्डित जीवविजय गणि तत् शिष्य गोपालेन लिपिकृत ।

प्रति-परिचय

पत्र ८२ सुवाच्य मध्य व दोनो तरफ लाल-पीले नीले रग के फूल बने हुए है । प्रतिपृष्ठ मे १३ पक्तिया है । प्रतिपक्ति ५० अक्षर है । पत्रो मे हासिए पर व पक्तियो के ऊपर यथास्थान पर्याय, अर्थ व पाठान्तर भी नोट किए हुए है, प्रति शुद्ध मालूम देती है । अतिम पत्र एक तरफ पूरा व दूसरी ओर केवल २ पक्तिया है, बाकी रिक्त, फूल आदि चित्रित है । यह प्रति स्वर्गीय श्री पूरणचद्र जी नाहर सगृहीत गुलाबकुमारी लाइब्रेरी की प्रति व० न० २६ प्रति २६४ है । किनारे मे कुछ दीमकादि जीवो द्वारा भक्षित है, पर प्रति का पाठ सुरक्षित है । उक्त लाइब्रेरी मे १० वी शती की लिखित एक अन्य प्रति भी है । प्राकृत ग्रन्थ परिवार आदि के चित्र । प्रस्तुत ग्रन्थ सुसम्पादित रूप मे शीघ्र ही प्रकाशन योग्य है । इसके आधार से जो समयसुन्दरजी ने सीताराम चौपाई की रचना की है, उसे हमने सम्पादित करके मुद्रित करवा दी है, और शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है । इसमे हमने राम और सीता के चरित्र का सक्षिप्त सार भी दे दिया है, जिससे सुगमतापूर्वक सीता चरित्र की कथा को पाठक पढकर लाभ उठा सकते हैं ।

---

[1] नाहर जी के संग्रहस्थ दूसरी प्रति में ग्रंथाग्रंथ ३३४५ है ।

रामायण सम्बन्धी एक अज्ञात जैन-रचना सीता-चरित

श्री जिनरत्नकोश के पृ० ४४२ मे सीता-चरित नामक कई रचनाओ का विवरण दिया है, जिनमे से कुछ सस्कृत मे और कुछ प्राकृत मे। इस लेख मे जिस सीता-चरित का विवरण दिया जा रहा है, उसका प्राचीन उल्लेख बृहट्टिपनिका नामक सूची मे प्राप्त होने का कहा गया है, और उसका ग्रन्थ परिमाण ३१०० व ३४०० श्लोको का बतलाया है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति हसविजय जी भडार वडौदा मे भी है। खोज करने पर अन्य भडारो मे भी इस ग्रन्थ की प्रतिया अवश्य मिलेंगी। पउमचरिय के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन होना आवश्यक है। सीता चरित सबन्धी अन्य जिन रचनाओ का उल्लेख जिन-रत्नकोश मे है, उनमे से एक अज्ञात कवि रचित सीता-चरित की कई प्रतियो का उल्लेख किया गया है। उनमे से एक तो प्रस्तुत सीता चरित की ही है। अन्य प्रतियो को मिलाने से मालूम होगा, कि वे भी इसी ग्रन्थ की है, या ऐसी ही कोई अन्य रचना भी है। पाटण भडार मे सीताचरित नामक एक सस्कृत काव्य भी है, इन सब ग्रन्थो का आधार प्रस्तुत सीता-चरित्र है या पद्मचरित, यह भी अन्वेपणीय है। जैन कवियो व विद्वानो ने शील धर्म या सती के आदर्श रूप मे सीता को विशेष महत्व दिया है, पर प्रस्तुत प्राकृत सीताचरित मे मुनि को मिथ्याकलक देने के दुष्परिणाम को व्यक्त करने के लिए दृष्टान्तरूप मे सीता की कथा कही है, जो विशेपरूप से उल्लेखनीय है। वास्तव मे किसी व्यक्ति को मिथ्या कलक देना, उसकी चुगली करना महापाप है। इसीलिए अठारह पापस्थानको में अभ्याख्यान, पैशुन्य, एव परपरिवाद का अलग अलग पाप स्थानक वतला कर उनसे वचने का निर्देश किया गया है।
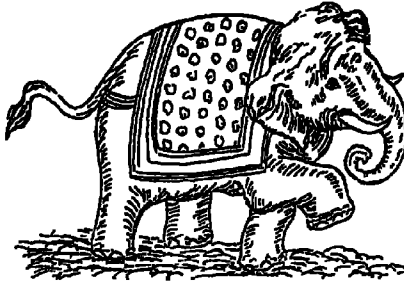
प्राकृत-भाषा का एक मात्र आलंकारिक ग्रन्थ अलंकार-दर्पण

श्री अगरचन्द जी नाहटा

प्राकृत-भाषा भारत की प्राचीनतम भाषा है। यद्यपि उपलब्ध साहित्य मे सबसे प्राचीन ग्रन्थ "वेद" माने जाते है और उनकी भाषा "सस्कृत" है। पर जब हम सस्कृत और प्राकृत इन दोनो शब्दो पर विचार करते हैं, तो यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि प्राकृत अर्थात् स्वाभाविक जन-साधारण की भाषा और सस्कृत अर्थात् सस्कार की हुई शिष्टजनो की भाषा। सस्कार तो किसी विद्यमान वस्तु का ही किया जाता है। इसलिए सबसे प्राचीन भाषा का नाम प्राकृत ही हो सकता है। यद्यपि इस भाषा मे रचा या लिखा हुआ साहित्य उतना पुराना नही प्राप्त होता, पर उसकी मौलिक परम्परा अवश्य ही प्राचीन रही है।

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि भाषा पर बाहर से आने वाले, दूसरे प्रान्तो के तथा आस-पास के लोगो की बोली का प्रभाव पडता रहता है। इसलिए उसमे परिवर्तन होता रहता है। प्राकृत मे भी इसी तरह परिवर्तन होता रहा है और प्रान्तीय भेद भी उसके अनेक रहे है, यह प्राकृत के प्राप्त शिला-लेखो, सस्कृत नाटको मे प्रयुक्त प्राकृत के उद्धरणो और प्राचीन ग्रन्थो से भली भाति स्पष्ट है। बौद्ध ग्रन्थो की पालि-भाषा, अशोक के शिला-लेखो की भाषा और जैन ग्रन्थो की भाषा "प्राकृत" होने पर भी उनमे काफी अन्तर है। इसी तरह जैन-ग्रन्थो मे भी प्राकृत भाषा के कई रुप मिलते है—अर्द्ध-मागधी, महाराष्ट्री और शौर-सैनी ये प्राकृत भाषा के तीन भेद तो बहुत प्रसिद्ध है।

प्राकृत साहित्य भी बहुत विशाल है। ढाई हजार-वर्षों से उसमे निरन्तर साहित्य-रचना होती रही है। और प्राय जीवनोपयोगी सभी विषयो के प्राकृत-ग्रन्थ प्राप्त है। प्राकृत-साहित्य के निर्माण मे

सबसे अधिक योग जैनो का है। अब तक सस्कृत और पालि साहित्य के इतिहास की भाँति प्राकृत के साहित्य का कोई अच्छा इतिहास हिन्दी मे प्रकाशित नही हुआ था। इसलिए प्राकृत-साहित्य की विशालता, विविधता और महत्ता के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी नही मिल पाई थी। हर्ष का विषय है कि उस कमी की पूर्ति डा० जगदीश चन्द जैन जैसे अधिकारी विद्वान द्वारा हाल ही मे हो गई है। उनका "प्राकृत साहित्य का इतिहास" नामक ग्रन्थ चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है। ६०० पृष्ठो के इस वृहद् ग्रन्थ मे डा० जैन ने जैन एव जैनेतर प्राकृत साहित्य का बडे ही अच्छे ढग से विवरण उपस्थित किया है। फिर भी अभी और छोटी बडी शताधिक ऐसी प्राकृत रचनाएँ मेरी जानकारी मे है, जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ मे नही हो सका, और उनमे से कुछ तो प्रकाशित भी हो चुकी है। ऐसी रचनाओ का विवरण समय-समय पर कई लेखो द्वारा प्रकाशित करने का विचार है। प्रस्तुत लेख मे प्राकृत भाषा के एक मात्र अलकार ग्रन्थ "अलकार-दर्पण" का सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

डा० जैन ने अपने प्राकृत साहित्य के इतिहास के १० वे अध्याय मे प्राकृत व्याकरण, छन्द और कोश ग्रन्थो का विवरण देते हुए "अलकार-शास्त्र के ग्रन्थो मे प्राकृत" शीर्षक के अन्तर्गत सस्कृत के प्रसिद्ध अलकार शास्त्रीय ग्रन्थो का विवरण दिया है। पर प्राकृत भापा के किसी भी स्वतन्त्र अलकार सम्बन्धी ग्रन्थ का उल्लेख उन्होने नही किया। जब कि सन् १९२३ मे प्रकाशित "जैसलमेर जैन भंडागारीय ग्रन्थाना सूचीपत्रम्" जो कि सेन्ट्रल लायब्रेरी बडौदा से गायकवाड ओरियन्टल-सिरीज द्वारा प्रकाशित हुआ था। पृष्ठ २४ मे "अलकार-दर्पण" नामक प्राकृत ग्रन्थ का विवरण अब से ४० वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। जैसलमेर के वृहद् ज्ञान भण्डार की जिस ताड-पत्रीय प्रति मे ग्रन्थ लिखा हुआ है, उसमे काव्यादर्श और उद्भट्टालकार लघु-वृति भी लिखी हुई है और उसमे से काव्यादर्श के अन्त मे इस प्रति का लेखन काल "सवत् ११६१ भाद्र पदे" दिया हुआ है। इस प्रति मे अलकार विषयक तीन रचनाएँ है, उनमे सबसे पहली रचना अलकार-दर्पण तेरह पत्रो मे लिखी हुई है और इसकी गाथाओ की सख्या १३४ है।

सन् १९५० मे जब सौजन्य मूर्ति मुनि श्रीपुण्यविजयजी ने जैसलमेर मे चातुर्मास किया और वहाँ के बडे भण्डार को दिन-रात के कठिन परिश्रम से सुव्यवस्थित कर रहे थे, तो मैं भी अपने विद्वान् मित्र प्रोफेसर नरोत्तमदास स्वामी के साथ वहाँ पहुँचा। और तभी स्वामी जी ने उक्त "अलकार-दर्पण" की ताड-पत्रीय प्रति से अपने हाथ से नकल की थी। इस छोटे से ग्रन्थ को सस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद और विवेचन के साथ प्रकाशित करने का विचार था। पर कही-कही पाठ अस्पष्ट और अशुद्ध-सा लगा। इसलिए प्राचीन लिपि को पढने मे कही गलती न हो गई हो, यह सोचकर रचना मे रचयिता के नाम का उल्लेख नही है। पर प्रारम्भ मे श्रुत देवता का नमस्कार किया गया है। अत रचयिता जैन है, एव सवत् ११६१ की लिखित प्रति होने से इससे पहले की रचना है। मूल प्रति से मिलान करने का कार्य मुनि पुण्य विजयजी को सौपा गया और उन्होने अन्य कार्यों मे बहुत व्यस्त होते हुए भी अपनी सहज उदारता और सौजन्यता से उक्त कार्य को सम्पन्न कर दिया। फिर विदित हुआ कि डा० वेलण-

कर और मुनि जिनविजय जी उस ग्रन्थ को प्रकाशित कर रहे हैं। इसलिए संस्कृत छाया लिखने का काम जो स्वामी जी ने प्रारम्भ किया था, वह रुक गया और अब तक पाण्डुलिपियाँ ही पड़ी हैं।

डा० जैन से पूर्व प्राकृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास प्रोफेसर श्री हीरालाल कापड़िया ने गुजराती मे लिखा था और वह सन् १६५० मे प्रकाशित भी हो गया था। मेरे लेख का और कापडिया के उस ग्रन्थ का उपयोग डा० जैन ने भी अपने ग्रन्थ मे किया है और सहायक ग्रन्थों मे उस ग्रन्थ का नाम दिया है। पर उक्त कापडिया के ग्रन्थ मे उल्लिखित अलकार-शास्त्र के इस एक मात्र प्राकृत ग्रन्थ और इसी तरह काम शास्त्र के एक मात्र-प्राकृत ग्रन्थ "मदन-मुकुट" का भी उल्लेख डा० जैन ने अपने ग्रन्थ मे क्यो नही किया? यह विचारणीय है! "मदन-मुकुट" का सर्व प्रथम परिचय मैंने ही "भारतीय विद्या" मे प्रकाशित किया था। खैर, अब हम अलकार-दर्पण के आदि अन्त की कुछ गाथाएँ उद्धृत कर रहे हैं।

प्राकृत ग्रन्थो मे अलकारो का सबसे प्रथम और महत्त्वपूर्ण उल्लेख अनुयोगद्वार-सूत्र मे पाया जाता है। नव रसो का सबसे पहले विवरण भी इसी प्राकृत ग्रन्थ मे मिलता है। अनुयोगद्वार सूत्र प्राकृत भाषा का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिसमे अनेक उपयोगी विषयों का निरूपण हुआ है। विद्वानो का ध्यान इस ग्रथ के महत्त्व की ओर शीघ्र ही जाना चाहिए। जैन आगमो मे जो प्राचीन भारतीय सस्कृति का सर्वांगीण विवरण मिलता है, उसकी ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान नही गया। अत जिस प्रकार बौद्धो के पालि साहित्य का मूल्याकन देश-विदेश के विद्वानो ने विविध दृष्टियो से किया है, उसी तरह जैन आगम आदि प्राचीन ग्रथों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

प्राकृत भाषा से ही अपभ्रश का उद्गम हुआ और अपभ्रश से ही उत्तर भारत की समस्त प्रान्तीय भाषाओ का विकास हुआ। हजारो प्राकृत एव देशी शब्द हमारे बोलचाल एव साहित्य मे आज भी सामान्य परिवर्तन के साथ प्रयुक्त है। अत प्राकृत-भाषा और साहित्य का अध्ययन गम्भीरता से किया जाना अपेक्षित है। अब अलकार दर्पण के कुछ पद्यो को पढिए—

आदि

सुन्दर पअ विण्णास विमललकार—रेहिअ-सरीर ।
सुइ देविअ च कव्व च, पण विअ पवर वण्णड्ढं ॥१॥

सव्वाइ कव्वाइ सव्वाइ जेण होंति भव्वाइ ।
तमलकार भणिमो ऽलकार कु-कवि कव्वाण ॥ २ ॥

अच्चत सुन्दर पि हु निरलकार-जणम्मि कीरंत ।
कामिणि-मुहं व कव्वं होइ पसण्ण पि विच्छाअ ॥ ३ ॥

ता जाणिऊण णिउण, लक्खिज्जह बहुविहे अलकारे ।
जेहिं अलंकरि आइ, बहु मण्णिज्जति कव्वाइं ॥ ४ ॥

उवमा रुवउ दीवअ रोहाणुप्पास अइस अ विसेस ।
अक्खेव जाइ वइ रेअ, रसिअ पज्जाअ भणि आओ ॥५॥

संस्कृत-छाया

सुन्दर-पद-विन्यास विमलालङ्कार-शोभित शरीरम् ।
श्रुति-देवता च काव्य च प्रणम्य प्रवर-वर्णाढयम् ॥१॥

सर्वाणि काव्यानि श्रव्याणि चैव भवन्ति भव्यानि ।
तमलङ्कार भणामोऽलङ्कार कु-कवि-काव्यानाम् ॥२॥

अत्यन्त—सुन्दर मपि खलु निरलङ्कार-जने ।
कामिनी-मुखमिव काव्य भवति प्रसन्नमपिविच्छायम् ॥३॥

तज् ज्ञात्वा निपुण बहु-विधान लङ्काराणि ।
यैरलङ्कृतानि बहु मन्यन्ते काव्यानि ॥४॥

उपमा-रूपक-दीपक-रोघानुप्रास-अतिशय-विशेष ।
आक्षेप-जाति-व्यतिरेक-रसिक-पर्याय-भणिता. ॥ ५ ॥

उपमा लक्षण की समाप्ति पर

बहुहा वि अपि उवमा जहा—
सूरम्मि दाव जल सव्व वोलिउ णहअर स व
पच्छिम सिणि अरेण व तमेण कसिणी कअ सउस (लं) ४०

उवमा-लक्खण समत्तं ।

मध्य

वण्णाणुप्पासो जहा—
वाअन्ति सजल-जल-हर जल-लव स वलणसी अलप्फसा ।
फुल्ल धुअ धुअं कुसुम छलत गधु दुरा पवणा ॥५३॥

जत्थ णिमित्ता हिस्तो लोआ एक्कन्त-गोअर वअण ।
विरइज्जइ सो तस्स अ अइसउ-णामो अलंकारो ॥५४॥

अतिसालकरो जहा—

जइ गध मिलिअ भरम ण होइ अ वग्रम चपन पसूअं (अ)
ता केण विभाविज्जइ फउल मिलियं पह तिस्सो ॥५५॥

विगए विपक्ख देसे, गुण तरेण तु सयुई जत्थ ।
कीरइ विससे पअउ णकज्जेण सो विसेसो त्ति ॥५६॥

विसेसालंकारो जहा—

णवि तह णिमासु सोहइ पिआण तयोलरा अपच्चइओ ।
जह पिअ अम पीओ पदुरो विअहरो पहा अम्मि ॥५७॥

जत्थाणिसे हीव्व ससी हि अ कीरइ विसेस-तण्हाए ।
सो अक्खेवो दुविहो होन्ता एयकंत-भेएण ॥५८॥

अंत

अज विऊण अससाण हो ति समग्ग आ घिणा फव्वे ।
तेण वि अन्नो भावो पएसो चेअ दट्ठवो ॥१३४॥
इति अलकार-दपण समत्त ॥शुभ भवतु ॥

विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा

डा० कामता प्रसाद जैन

"सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरजिउ ।
तम्हा पाणिवहू घोर, निग्गन्था वज्जयन्ति ण ॥"

दशवैकालिक, ६ १०

तीर्थङ्कर महावीर वर्द्धमान ने घोर हिंसा के वातावरण मे चिरन्तन सत्य का उद्घोष किया था, कि सब ही जीवित प्राणी जीवित रहने की इच्छा करते है—कोई मरना नही चाहता । इसीलिए निर्ग्रन्थ—जैन मनीषियो ने प्राणिवध को वर्जित घोषित किया है । निस्सन्देह निर्ग्रन्थ—श्रमणो मे सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभ अथवा वृषभ ने ही कैलाश शैल की शिखर से अहिंसा तत्व का निरूपण और प्रतिपादन उस समय किया था, जब मानव ने कर्मठ और सभ्य जीवन का पहला पाठ उनसे पढा था ।[1]

प्राग् ऐतिहासिक काल मे अहिंसा

मानव स्वभाव शान्ति इच्छुक प्राणी है—उसके शरीर का गठन निरामिष-भोजी प्राणियो के समान है—मानव के दात, आत आदि चीते, शेर जैसे न होकर वन्दर जैसे है ।[2] इसीलिए मानव जन्मत

[1] डा० कामता प्रसाद जैन कृत "आदि तीर्थंकर ऋषभदेव" (अलीगज) देखो

[2] "वायस आँव अहिंसा" का शाकाहार—विशेषाक (१९५७) देखो

एक शान्ति-प्रिय निरामिष-भोजी प्राणी है। अहिंसा मानव जीवन का बुनियादी तत्व है— शाश्वत तथ्य है—एक Reality है। अत मानव स्वभावत अहिंसोपजीवी है और सदा से है।

जैन मान्यता के अनुसार इस भरत क्षेत्र मे खड-प्रलय के पश्चात् जब अवसर्पिणी काल प्रारम्भ हुआ, तो पहले के तीन कालो मे यहाँ भोगभूमि की प्रवृति रही—प्राणी मात्र प्राकृत जीवन बिताता था, शेर, चीते सदृश हिंसक पशु भी उस समय क्रूर नही थे। वे मानवो के साथ प्रेम से रहते और घास खाते थे। कल्प-वृक्षो की सभ्यता थी, पाषाण का प्रयोग मानव जीवन मे मुख्यता रखता था। मानव-युगल- पुरुष स्त्री साथ साथ जन्मते और मरते थे—वृक्षो की छाया मे फलाहार करके वे आनन्द से भोग भोगते थे। प्रकृति के अनुरूप उनका जीवन अहिंसामय था।

अलबत्ता जब कल्पवृक्षो का अभाव हुआ और मानवो की सख्या बढने से विषमता पनपी तो मानवो मे असतोष बढा। उस समय श्रेष्ठ मानवो ने मानव-समाज को कुलो मे बाटा और प्रत्येक कुल को बराबर-बराबर वृक्षो को दिया और भूमि का वितरण किया। समाज मे समता और सतोष रखने के लिए उन्होने कुछ समाज नियम बनाए, जिनका आधार अहिंसा था। इसी कारण वे नर पुगव "मनु" अथवा "कुलकर" कहलाए। किन्तु कर्मभूमि का प्रारभ अतिम मनु नाभिराय के पुत्र श्री ऋषभ द्वारा हुआ। इसीलिए इस काल मे अहिंसा के आदि उपदेष्टा तीर्थङ्कर ऋषभ या वृषभ ही है। उनके पश्चात् कालक्रम मे २३ तीर्थङ्कर हुए—वे भी अहिंसा धर्म के प्रचारक थे। ऋषभ से १८ तीर्थंकरो पर्यन्त अहिंसा धर्म का प्राबल्य रहा। किन्तु तीर्थंकर मल्ली और मुनि सुव्रत के काल मे यहाँ आसुरी-वृत्ति का श्रीगणेश हुआ। असुरो ने आकर अहिंसक ब्राह्मणो को भगाकर पशु यज्ञ करने की कुप्रथा को जन्म दिया। तभी से यहाँ हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व युद्ध चला। ब्राह्मणो मे दो दल हो गए, परन्तु श्रमण एक रहे और अहिंसा को सदा ही आगे बढाते रहे। उनको अहिंसक परम्परा के ब्राह्मणो का भी सहयोग मिलता रहा। यह है, जैन दृष्टि से प्राग् ऐतिहासिक काल मे अहिंसा की स्थिति की रूप-रेखा।[1]

वैदिक और बौद्ध मान्यता

जैनो के अनुरूप ही वैदिक और बौद्ध मान्यता भी अहिंसा-प्रधान है। मनु महाराज ने सर्वकार्यो मे अहिंसा को ही प्रधानता दी और मानव-सस्कृति को अहिंसा पर आधारित किया।[2] वेदो से स्पष्ट है, कि ऋषभ या वृषभ ने ही सर्व प्रथम महादेवत्व को प्राप्त होकर, जनता को सच्चा ज्ञान दिया था।[3] मानव-जीवन मे अहिंसातत्व की प्रतिष्ठापना करने के लिए पहले यज्ञादि भी अन्न-घी आदि से किए जाते

---

[1] "आदि तीर्थङ्कर भ० ऋषभदेव" पृ० २६—३५—आदिपुराण त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग २, श्लोक १०६ से १२८ तक

[2] महाभारत (स्त्री० १०। २५—२८ एव शान्ति० २७१। १—१३

[3] ऋगवेद ४।५८।३ एव ३१। १७ तथा आदि तीर्थंकर भ० ऋषभदेव पृ० १२२—१२३। भागवत भ० ५

थे।[1] उपरात बाहरी आसुरी प्रभाव ऐसा पडा, कि पशु होमने की कुप्रथा भी चल पडी "महाभारत" (शान्तिपर्व अ० ३३९) मे वर्णित कथा से यही प्रमाणित होता है।

बौद्धो के 'सुत्तनिपात' (ब्राह्मण धम्मक सुत्त S B E Vo, \, Pt. II, pp. 47—52) से भी इसी बात की पुष्टि होती है, कि आदिकाल का मानव अहिंसोपजीवी था, इसीलिए यहाँ सुख-समृद्धि थी। किन्तु जब मानव ने अहिंसा का उल्लघन करके पशु होमकर मास मदिरा का सेवन किया, तभी से मानवो का ह्रास हुआ और वे दुखो की भट्टी मे पडे।

आधुनिक मान्यता यही है, कि बाहर से जो आर्य आए वे अहिंसा को महत्व नही देते थे। उनके कारण अहिसा और हिंसा का द्वन्द्व चला था।[2] परिणाम स्वरूप प्रागार्य भारत की अहिंसा-प्रधान सस्कृति का प्रभाव उन पर पडा था। किन्तु बाहर से आए हुए इन लोगो के पूर्वजो की मान्यता भी अहिंसा से रिक्त नही मिलती।

विदेशो मे अहिंसा का प्रसार

सुमेर, बाबुल, ईरान, मिश्र आदि देशो की आदि सस्कृतिया अहिंसा सिद्धान्त पर ही आधारित थी और इन देशो मे अहिंसा का प्रसार करने वाले भारतीय ही थे—यह तथ्य आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा। किन्तु जब उपरोक्त देशो मे असुरो के प्राबल्य के कारण आसुरी वृत्ति बढी, तभी अहिंसा का ह्रास उपरोक्त देशो मे हुआ और पशु-बलि की प्रथा चल पडी। भारत से पहले ही वहाँ हिंसा अहिंसा का द्वन्द्व चला प्रतीत होता है। जो हो, निस्सन्देह यह मानना पडेगा, कि विश्व मे अहिंसा का प्रसार पहले-पहल भारत से हुआ था।

सुमेर और बाबुल की संस्कृतियो में अहिसा

मध्य एशिया की सस्कृतियो मे सुमेर (Sumeria) की सभ्यता सर्व प्राचीन मानी गई है। विद्वानो का यह भी मत है, कि सुमेरु सस्कृति और सभ्यता के सृजक पूर्व से उस देश मे पहुँचे थे। एक

---

[1] अथर्ववेद ७।५—१

[2] कौशाम्बी कृत "भारतीय सस्कृति और अहिंसा" देखिए।

[3] **"One thing however is certain & can no longer be contested-civilisation did not come to India with the Aryans· ·· · How this (pre-Aryan) civilisation was absorted by the Aryans is not known to us That was not destroyed & did not wholly disapper is clear from the survival of the Indus velly religions ideas in the Hinduism of to day."**

—*K. M Pannikar* **"A Survey of Indian History' pp4-5**

जर्मन विद्वान ने उनको भारत के सौराष्ट्र से आया सिद्ध किया था और उनको "सु" जाति का बताया था। ये "सु" लोग जैन धर्मानुयायी थे।[1] भ० ऋषभ के साले सु-कच्छ सौराष्ट्र के थे।

उनके पुत्र-नमि-विनमि द्वारा विद्याधर-वंश की स्थापना हुई। इन सु-जातीय विद्याधरों के द्वारा भ० ऋषभ प्रणीत अहिंसा का प्रसार देश-विदेश में हुआ था।[2] किन्तु किन्हीं अन्य विद्वानों का मत है, कि सुमेर लोगों के पूर्वज सिन्धु उपत्यका मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से वहां पहुँचे थे और द्राविड थे।[3] जो हो, ये द्राविड भी भ० ऋषभ के भक्त और अहिंसक थे।[4] इन्हीं लोगों ने जलमार्ग से जाकर सुमेर को आबाद किया था। अलंकृत रूप में कहा गया है, कि ओअन्नस के नेतृत्व में ऐसे लोग समुद्र में आए जिनका शिरोभाग मनुष्य का और अधोभाग मछली का था। ऐसे मनुष्यों को जैन शास्त्रों में 'अन्तर्द्वीपज' कहा गया है। किन्तु विद्वज्जन उनको नाविक मानते हैं।

भारत से आए हुए इन 'सु' अथवा द्राविड लोगों ने अपने नये देश का नाम भी अपनी जाति और धर्म को लक्ष्य करके रक्खा। "सु" जाति की धार्मिक मान्यता में मेरु के जिनालयों की पूजा का विशेष महत्व रहा—इसीलिए उन्होंने अपने नये देश का नाम "सुमेरु" रक्खा और अपने अहिंसा धर्म के अनुसार अपने सामाजिक जीवन का निर्माण किया। वे जीवरक्षा करना परम धर्म मानते थे। जैनों की तरह उनका भी विश्वास था, कि आदि काल में मानव और पशु साथ-साथ प्रेम से रहते, फल और घास खाते तथा तालाबों का पानी पीते थे। मेसोपोटामिया में प्राप्त ई० पूर्व ३५०० के शिला-लेखों में यह विवरण उत्कीर्ण किया हुआ है।[5] सुमेर लोग वृषभदेव को कृषि का देवता कहकर पूजते थे—वृषभ का अनुवाद आजकल Bull (बैल) किया गया है, जो भ० ऋषभ का चिन्ह था। पोषधव्रत भी पालते थे, जो बाद में Sabbath कहलाया। सुमेरु एवं बाबुल के लोगों का एक धर्मशास्त्र "अर्हशम्म"

---

[1] "विशालभारत" कलकत्ता भा० १८ अंक ५ पृ० ६२६ पर प्रकाशित" सुमेर सभ्यता की जन्मभूमि शीर्षक लेख देखिए

[2] आदि तीर्थङ्कर भ० ऋषभदेव, पृ० ६९-७०

[3] **"Some hold that they (People of Indus Civilisation) were the same as the Sumerians, while others hold that they were Dravidians. Some again believe that these two were identical. According to this view, the Dravidians at one time inhabited the whole of India, including the Punjab, Sind and Baluchistan. and gradually, migrated to Mesopotamia."**

—Ancient India (An Advanced History of India Pt. I) by Majumdas, Ray-chaudry & K.K. Dutta. p. 55

[4] अहिंसावाणी का भ० ऋषभदेव विशेषांक

[5] **Durant Our Oriental Heritage (the Story of Civilisation) P. 131.**

बडा अर्थ-सूचक है।[१] अर्ह् भ० अर्हंत का प्रतीक हो सकता है—शम्म का अर्थ प्रकाश। सुमेर सस्कृति की विशेष खोज करने से और भी बातें ज्ञात हो सकती है।

सुमेरो का अक्कड एव एलम (Elam) के लोगो को परास्त किया और एलमो को बैबीलोनिया के शाह हम्मुरबी ने जीता था। इस प्रकार सुमेरो के पश्चात् वैबीलोनिया (Babylonia) का साम्राज्य और सस्कृति लोक मे प्रसिद्ध हुए। वह अक्कड और सुमेरो का सयुक्त रूप था।[२] उनका देवता वेल (Bel=वृषभ) स्वर्ग और पृथ्वी का देव था।[३] उनमे हम्मुखी नामक एक महान् सम्राट हुए थे, जिन्होंने अशोक की तरह ही धर्म-लेख खुदवाए थे।[४] उनका आदर्श, एक जैन नृप का आदर्श था–सृष्ट का सरक्षण एव दुष्ट का निग्रह करना था। *प्रति वर्ष बेल (वृषभ) देव का रथ[५] निकाल कर अहिंसा का* प्रचार किया जाता था।

किन्तु जिस समय अलकृत-भापा मे लिखे हुए धर्मग्रन्थो के रहस्य अर्ह् अर्थ को लोग भूल गए और उसे शब्दार्थ मे ग्रहण करने लगे, उसी समय से वे अहिंसा-मार्ग से बहक गए और भोगो मे आसक्त होकर आसुरी वृत्ति मे लीन हो गए। यद्यपि भारत के असुर वहाँ जैनो के कारण अहिंसा धर्म को ही पालते रहे थे।[६] "लेटर ऑव अरिस्ट्रेयस" से स्पष्ट है, कि पुरातन काल मे धर्म सिद्धान्त अलकृत-भापा और लिपि मे लिखे जाते थे—उनका गुरुमुख से पढना आवश्यक था।[७] किन्तु समय की विशेषता ने लोगो को सत्य से बहका दिया—लोग दुराचारी और पापी हो गए—सुरा सुन्दरी के भोग मे अन्धे हो गए। मन्दिर भी भोग और वासना से अछूते न रहे। उरुकजिन (Urukgina) जैसे सन्त ने इस भोग लिप्सा के विरुद्ध आन्दोलन खडा किया और लोगो को पुन अहिंसा-मार्ग पर आने के लिए मार्ग-दर्शन किया।[८]

किन्तु पतन की ओर बहका हुआ मानव जल्दी सन्मार्ग पर नही आता—यही हाल बैबी-लोनिया मे हुआ। लोग सम्भले तो, परन्तु सब नही। अहिंसा को पालने का ध्यान तो आया, परन्तु केवल खास-खास दिनो पर। न्यू-बैबीलन काल के एक प्रमाण-लेख (Document) मे निम्नलिखित

---

[१] इडियन हिस्टोरीकल क्वारटरली भा० १२ पृ०३२४ पर उल्लेख है

[२] **Will Durant, "Our Oriental Heritage (the Story of Civilisation), 1954 —pp. 121-123,**

[३] **Ibid, p. 219.**

[४] **Ibid, p. 220**

[५] **Ibid, p. 233**

[६] गिरिनार गौरव (अलीगज) प्रस्तावना

[७] **Addenda to Confluence of opposites** देखिए

[८] **Will Dnrant, loc, cit, p. 128.**

उल्लेख जो प्रोषध (Sabbath) के दिनो की चर्या का निर्देश द्वितीय अलूल व अर्हन्नम्म नामक शास्त्राधार से करता है, इस प्रसग मे अर्थसूचक है—

"(प्रोषध को) अनेक कुलो के पुरोहित कोयलो पर पका मास नही खाएँगे और न ही भुनी हुई रोटी। वे अपने कपडे नही बदलेंगे और नए वस्त्र नही पहनेंगे। वह कोई भी पशु-बलि नही चढावेंगे राजा अपने रथ पर नही चढेगा और न राज्यादेश देगा। रहस्यवाद के स्थल पर भी वह मौन रहेगा। यह दिन किसी प्रयोजित कार्य को करने के लिए उचित नही है।"[1]

जैन प्रोषध मे भी सभी प्रकार के हिंसामय आरम्भ से दूर रहने का विधान है। वही भाव उपरोक्त लेख मे भी है। बेबीलोनियन मन का नाम उरुकजिन और शास्त्र का नाम अर्हन्नम्म अर्थ-सूचक एव भारतीय प्रभाव के द्योतक हैं।

यहूदी-संस्कृति

सुमेरु लोगो का पाटनगर "उर" (Ur) भी भारतीयता का प्रतीक है। अपभ्रश प्राकृत मे नगर के अर्थ मे पुर "उर" कहलाता है। इसी उर नगर मे यहूदि संस्कृति के आदि पुरुष अब्राहम (Abraham) अवतरित हुए थे। ई० पूर्व २२०० के लगभग अब्राहम और उनके अनुयायी सुमेरिया मे चले और फिलिस्तीन मे बस गए।[2] चालीस वर्षो तक वह मिश्र और सहारा के रेगिस्तान मे चक्कर काटते रहे थे। आखिर उनको मूसा जैसे सन्त (St Moses) का नेतृत्व मिला।[3] मिश्र (Egypt) उस समय ऐश्वर्य के शिखर पर था। इजरायली लोग वहाँ के वासनामय जीवन मे फँस गए थे। सन्त मूसा उनको समझा बुझा कर अपने देश को लाए। उन्होने मास मदिरा की अनुमति ले ली थी, तभी वह मिश्र छोडकर चले। मार्ग मे उन्होने मासादि जो खाया, तो उसमे विसूचिका सदृश महामारी फैली, जिससे घबडाकर उन्होने तोबा किया और सन्त मूसा की शरण मे आकर अहिंसा के अनुयायी बने।[4] सन्त मूसा ने धर्म की जो दस आज्ञाएँ निकाली, उसमे निम्नलिखित अहिंसा को आगे बढाने वाली रही—

१ तू हत्या नही करेगा (Thou shalt not kill)

२ तू चोरी नही करेगा (Thou shalt not steal)

३ तू अपने पडौसी की कोई चीज नही लेगा (Thou shalt not covet anything that is thy neighbour's)

---

[1] इंडियन हिस्टोरीकल क्वारटर्ली, भा० १३ (सित० १९३६) पृ० ३८४ से उद्धत

[2] **Glimpses of World Religions (Jaico), p. 146.**

[3] **H G. Wells, A short History of the World, pp. 72-73.**

[4] *A White*, **Why I do not eat Meat, pp. 69-77 (Num, 11, 19-20)**

४ तू कुशील सेवन नही करेगा (Thou shalt not commit adultery)

प्रोपध की तरह ये लोग "सब्बथ" (Sabbath) को पवित्र दिन मानते थे और उस दिन कोई भी सासारिक काम-धन्धा नही करते थे। स्मरण रहे कि मूल मे ये लोग सुमेर के निवासी थे, जो लोग भारतीय अहिसा से प्रभावित थे। अत सन्त मूसा का अहिसावादी होना स्वाभाविक था। उनकी अहिसा के कारण शाकाहार का बहुत प्रचार हुआ था—लोगो ने मासमदिरा को छूना पाप समझा था। इसका प्रभाव बैबीलोनिया आदि के देशो पर भी पडा था। सन्त दनियाल (St Daniels) की कथा इसकी साक्षी है।

जब बेबीलोनिया मे बादशाह नबुश्चडनज्जर (Nebuschadnazzaı) शासनाधिकारी था, तब उसके राजप्रासादीय भोज पर कार्य करने के लिए सुन्दर और सुशील युवक ढूँढे गए। इनमे दनियाल नामक युवक अहिंसावादी-निरामिषभोजी था। ज्यो-त्यो करके वह अपने अहिसाव्रत पर दृढ रहा। किन्तु एक दिन वह बादशाह की पकड मे आ गया। बादशाह ने मास खाने का आदेश दिया, परन्तु वीर दनियाल ने उसे नही माना। हठात् उसे प्राणदण्ड दिया गया। शेरो की माद मे वह फैका गया, परन्तु भूखे शेर उसके पैर चाटने लगे। यह था, उसकी अहिसा का चमत्कार।[1]

निस्सन्देह सत मूसा के अहिसा प्रचार का प्रभाव जन साधारण के जीवन पर पडा था। नर-बलि की घ्रणित प्रथा सर्वथा मिट गई और पशु बलि भी बहुत कम हो गई। बल्कि लोग पीठी आदि के पशु बनाकर बलि देने लगे।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि बादशाह नबुशचडनज्जर पर इस घटना का गहरा प्रभाव पडा था। उसे अपने पूर्वजो का ध्यान आया—वह भारत आया और जैन तीर्थ रैवत गिरिनार की बदना करके वहा भ० नेमि का एक मन्दिर बनवाया। सौराष्ट्र मे प्रभासपट्टण से इन्ही बादशाह का एक ताम्रपत्र मिला है, जिसे डा० प्राणनाथ ने निम्न प्रकार पढा था—

"रेवा नगर के राज्य का स्वामी, सुजाति का देव, नबुश्चडनज्जर आया है। वह यदुराज के नगर (द्वारिका) मे आया है। उसने मन्दिर बनवाया · सूर्य · देव नेमि कि जो स्वर्गमान रैवत पर्वत के देव है (उनको) हमेशा के लिए अर्पण किया।"

साप्ताहिक "जैन"—भावनगर भा० ३५ अक १ पृ० २

बादशाह नबुश्चडनज्जर के अहिंसावादी होने का प्रभाव प्रजा पर पडना स्वाभाविक था और यह हुआ सत मूसा के प्रचार से। भारत से गई भ० ऋषभ की अहिसा उन देशो मे बराबर जीवित रही।

---

१ Ibid, pp. 90-107

२ H. G Wells, loc, cit, p. 73

हित्तित संस्कृति मे

यहूदियो और वैबीलोनिया के निवासियो के पड़ोसी हित्तित जाति (Hittites) के लोग थे, जिनका उल्लेख पुराने अहदनामे में है और जिनकी अपनी निराली सस्कृति थी। मिश्रवासी इनको "भल देशवासी" कहते थे।[1] वैसे इनका देश हत्ति (Hatti) कहलाता था। भारतीय धर्मों का उन पर प्रभाव पडा हो, तो आश्चर्य नही। इनका मुख्य देव "ऋतुदेव" (Weather-God) कहलाता था जिनका वाहन वैल था। उनके साथ वैल भी पूजा जाता था। उनका नाम "तेशुव" (Teshub) था और उनकी सिंहवाहिनी देवी हेवत थी।[2] शब्द तेशुव सभव है "तित्थयर उसभ" का अपभ्रश हो, क्योकि प्रो० हर्ट्ज ने ऋषभ को ही रेशेफ (Reshef) और तेशुव सिद्ध किया है। हित्ति लोगो मे भी अहिंसा और हिंसा का सघर्ष चला था। उनका एक त्योहार हिंसक और अहिंसक युद्ध का द्योतक रहा, जिसमे एक पक्ष के युवक "हित्तिजन" शस्त्रास्त्र से सज्जित होते थे और दूसरे पक्ष के युवक "मस जन" शस्त्रास्त्र के स्थान पर सेंटो को लेते थे। दोनो का युद्ध होता था। हत्तिजन विजयी होते थे।[3] परन्तु उस प्रकार हिंसालिप्त होने का परिणाम हत्तियो के लिए अच्छा नही निकला था। इसीलिए उनके बादशाह लवरनस (Labarnas) को अपने उत्तराधिकारी पुत्र मुरसिलिस (Mursilis) से कहना पडा था, कि अभी तक मेरी (अहिंसा परक) आज्ञा को मेरे कुल के किसी भी व्यक्ति ने नही माना है, किन्तु अब तुम मेरे बेटे हो, सो मेरी आज्ञा मानना। तुम रोटी खाना और पानी पीना। मास मत खाना, मदिरा मत पीना। अपने सिपाहियो से भी उन्होने यही कहा कि वे रोटी खावे व पानी पीवें, ऐसा करेंगे तो उनका देश महान् होगा और शान्ति बरतेगी।[4]

ये कुछ ऐसे उल्लेख है, जो हत्ति-सस्कृति मे भी अहिंसा का अस्तित्व प्रगट करते है। इस दिशा मे अधिक खोज करने की आवश्यकता है।

मिश्र देश की संस्कृति और अहिंसा

मिश्र देश के सास्कृतिक सम्पर्क सुमेरु के लोगो से विशेष थे—वे सुमेरु सस्कृति से प्रभावित रहे। सुमेरो की तरह उनके पूर्वज भी भारतीय थे। सभवत वे प्राड् आर्यकाल के पणिक थे, जो दूर दूर देशो से व्यापार करते थे। वे मिश्र देश भी पहुँचे थे।[5] भारत मे पणिक लोग जैन धर्म के प्रभाव मे रहे थे। अत वे लोग अहिंसाधर्म को मिश्र ले गए। यूनानी लेखक हेरोडोटस ने लिखा है कि अवीसिनिया,

---

१ O. R. Gurney, The Hittites (Peticaned), PP. 15-50
२ Idid PP 134.
३ O. R. Gurney, loc, P. 155
४ Abid pp. 171-173.
५ महावीर जयन्ती स्मारिका, १९६३, पृ० ५०

इथ्योपिया एव मिश्र मे भारतीय जिम्नोसोफिस्ट (Gymnosophist) साधु विचरण करते थे।[१] यूनानियो ने दिगम्बर जैन साधुओ को "जिम्नोसोफिस्ट" नाम से अभिप्रेत किया है।[२] साथ ही प्रसिद्ध अंग्रेज पुरातत्व वेत्ता सर फिलन्डर्स पेट्रिस को मिश्र के मेमफिस नगर के उत्खनो मे भारतीय प्रकार की मूर्तियाँ मिली, जिनमे एक मूर्ति ध्यानमुद्रा मे पद्मासन बैठी हुई ठीक वैसी ही थी, जैसी जैन मूर्तिया होती है।[३] अत यह स्पष्ट है कि जैनो के द्वारा मिश्र मे अहिंसा का प्रचार किया गया था।

मिश्रवासियो की धार्मिक मान्यताएँ भी जैनो के प्रभाव को व्यक्त करती है। जैनो की तरह ही वे ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता हर्त्ता नही मानते थे। बल्कि अनेक परमात्मवाद को स्वीकार करते थे, जिनको वे सर्वथा परिपूर्ण व सुखी मानते थे।[४] जीव को मानते थे और पशुओ मे भी अपने जैसा जीव स्वीकार करते थे।[५] अहिंसा के कट्टर अनुयायी थे—अत मछली तक नही लेते थे, बल्कि मूली, प्याज, लहसन भी नही खाते थे।[६] जूते भी पेड की छाल के बने हुए पहनते थे।[७] शाकाहार की श्रेष्ठता को उन्होने सिद्ध करके दिखाया था। उन्होने पाया था कि एक नियमित भूमि पर पशुओ को चराकर मास जितना मिलता है, उससे पाच गुना अधिक अनाज उतनी ही भूमि पर उत्पन्न किया जा सकता है।[८] इस कारण मिश्रवासी आज से छह हजार वर्षो पहले से शाकाहार के कायल रहे थे। साराश यह कि उनकी सस्कृति मे अहिंसा का प्रमुख स्थान था।

यूनानी सभ्यता और अहिंसा

यूनान (Greece) की सभ्यता भी मिश्र इतनी प्राचीन और उससे प्रभावित रही है। मिश्र की की तरह यूनान भी भारत के सम्पर्क मे आया था। तीर्थंङ्कर पार्श्व और महावीर के समय मे कई यूनानी तत्ववेत्ता जैसे पियागोरस (Pythagoras),[९] पिर्रहो (Pyriho)[१०] और प्लोटिनस (Plotinu) आदि भारत आए थे और उन्होने जैन गुरुओ अर्थात् "जिनोसोफिस्ट" (Gymnosophists) के निकट शिक्षा ग्रहण की थी। जिनोसोफिस्ट वे दिगम्बर जैन मुनि थे, जो यूनानियो को भारत मे मिले थे।[११]

---

१ **Asiatick Researches, Vol III p. 6.**

२ **Encyclo, Brit. XV, 128.**

३ **Modern Review, March 1948, p 229.**

४ **Mysteries of free masnory, p. 271**

५ **The story of Man, p. 187.**

६ **Abid p 191.**

७ **Addenda to the confluence of Opposites, p 2.**

८ **Dr. H. A Harris in the "Listner" 3-1-1930.**

९ **The confluence of Opposites, p. 3**

१० **Historical Gleanings, (cal)**

११ **Ancient India as described by Megasthenes & Arrian (1877) pp. 104-105**

इनके निकट तत्वचर्चा करके यूनानी तत्ववेत्ताओं ने जो ज्ञान संचित किया था, उसका प्रचार उन्होंने अपने देश में जाकर किया। यही कारण है कि यूनान में प्राचीन काल से ही तप, त्याग और सत्य, एवं अहिंसा का प्रचार जनसाधारण में हो गया था।

स्ट्रेबो (Strabo) ने लिखा है कि ईस्वी पूर्व ७ वीं—छठी शताब्दियों के लगभग शैलमोसिस (Xalmosis) और पियागोरस के अहिंसा का जो प्रचार किया, उसका परिणाम यह हुआ कि एक ऐसे धर्मवरिष्ठ लोगों का समुदाय अस्तित्व में आया, जो पत्नियों के बिना (ब्रह्मचारी) रहते थे—उनके साथी संगिलोग भी ऐसी कोई चीज नहीं खाते थे, जिसमें जान हो (They abstained from eating anything that had life) होमर (७ वीं शती ई० पूर्व) ने उनको बहुत ही न्यायशील बताया था, जो प्राय दूध पीकर रहते थे और संपत्ति संचय करने की ओर से बिल्कुल उदासीन थे।[१] शैलमोसिस ने जैनों के अनुरूप ही जीवात्मा को अजर-अमर माना था जो संसार में परिभ्रमण करता है। पशुओं में भी वह आत्मा मानते थे और कहते थे कि किसी भी प्राणी को पीड़ा मत पहुँचाओ।[२]

स्व० ब्र० शीतलप्रसाद जी का अनुमान था कि यूनानी तत्ववेत्ता पियागोरस ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा से शिक्षा ग्रहण की थी और जैन संघ में वह मुनि पिहिताश्रव के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनकी मान्यताएँ जैनों के अनुरूप ही थीं और उनकी तपस्या भी जैन मुनि जीवन को झलकाती थी—वे मौन व्रत पर अधिक जोर देते थे।[३] उन्होंने मांस-मदिरा का निषेध किया था, जिसके कारण उनको नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़े थे। किन्तु वे अहिंसा के प्रचार करने पर दृढ़ रहे। यहाँ तक कि जैनों की तरह द्विदल को दही में मिलाकर नहीं खाते थे, क्योंकि उसमें जीवराशि उत्पन्न हो जाती है।[४] निस्सन्देह पियागोरस पर जैन-जीवन का गहरा प्रभाव पड़ा था, जिसका प्रचार उन्होंने यूनान में किया था।

प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता अरस्तू (Aristotle) का भी मत था कि भोजन (Diet) के अनुसार ही जीवन की शैली बनती है। (Diet after determines the mode of life) इसीलिए वह संयम पालना उचित ठहराते थे।

पियागोरस की अहिंसा-परम्परा को पिर्रहो (Pyrrho), डियोजेनस (Diogenes), प्लेटो (Plato) इपीक्यूरस (Epicurus) आदि तत्ववेत्ताओं ने आगे बढ़ाया था। पिर्रहो उस समय भारत आया, जब भ० महावीर का सुखद विहार हो रहा था—उसने उनके स्याद्वाद सिद्धान्त का अध्ययन किया था। यूनान लौटने पर उसने एलिस (Elis) नामक स्थान पर रहकर जैन मुनि की जीवन चर्या का अभ्यास

---

१ J. G. R. Forlong, Science of Compartive Religions (1897) p 32.
२ Ibid, pp. 35-36
३ "वीर" भा० २, पृ० ८१
४ Addenda to the confluence of opposites, P 3
५ The story of philosophy (New York), P. 68.

किया था, जिसका प्रभाव जनता पर पडा था।[1] डियोजेनेस ने भी अध्यात्मवाद और अहिंसा को फैलाया था।

प्लेटो (Plato) (४२७—३४७ ई० पू०) को भारतीय अफलातून कहते है। वह सुकरात का शिष्य था। अन्त मे वह पिथागोरस के सघ मे सम्मिलित होकर अहिंसा का प्रचार करने लगा था। प्लेटो ने बताया था कि मानव सीधा सादा जीवन यापन करे—प्रकृति का होकर रहे। उन्होने लोगो को शिक्षा दी कि—

"मानव जौ और गेहूँ से अपनी भूख को शमन करे—गेहूँ के आटे की रोटी और हलुआ बनावें। शाक, फल और नमक खावें। इस प्रकार का आहार करके मानव दीर्घकाल तक शाति से वृद्ध-जीवन का उपभोग कर सकता है और अपनी सतान को सुखी जीवन उत्तराधिकार मे देता है।[2]

इपीक्यूरस (३४२—२७० ई० पू०) पर भी अहिंसा का प्रभाव था। वह सृष्टिकर्तृत्ववाद को नही मानता था। अणुवाद के आधार पर सृष्टि को अनादि मानता था। जीव का अस्तित्व प्राणी मात्र मे उसे स्वीकार था। उसकी भी यह मान्यता थी कि आदि काल का मानव यद्यपि मेहनती और जगली था, परन्तु वह अपना जीवन निर्वाह वनस्पति और फल खाकर करता था—वह खुले मैदान मे सोता था।[3] परिस्थिति के अनुसार वह सभ्य बना। इपीक्यूरस स्वय शाकाहारी था, वह रोटी खाता और पानी पीकर रहता था। रोटी भी वह साथियो के साथ बाटकर खाता था।[4] इस प्रकार वह शाकाहार का प्रचार सक्रिय रूप मे करता था।

अपोलो और दमस नामक दो तत्त्ववेत्ता भी यूनान से भारत आए थे। उन्होने निर्ग्रन्थ श्रमणो (जैनो) से ज्ञान चर्चा की थी और अहिसा का महत्व समझा था। अपने देश को वापस जाकर उन्होने अहिंसा का प्रचार किया था। मार्ग मे वह शाह फ्राउतेस (Phiaotes) के अतिथि रहे थे। शाह फ्राउ-तेस यद्यपि एक महान् समृद्धिशाली शासक था, परन्तु उसका रहन-सहन सीधा-सादा था। जब अपोलो ने शाह के सीधे सादे जीवन व्यवहार की सराहना की तो शाह ने उत्तर मे कहा—मैं धनवान् हूँ, पर मेरे

---

१ **Encyclopaedia Britannica, Vol XII P 753** एव 'अहिंसा और उसका विश्व-व्यापी प्रभाव (अलीगज), पृ० ७२

२ **The story of philosophy (New york) p. 19.**

३ **"Man hardy and savage and naked he roamed over the earth like the other animals living on herbs and fruits and acorns and sleeping in open fields at night."**

—Great philosophers (Bombay) p. 37.

४ **Epicurus had a genius for, friendship. Though he lived on bread and water he always tried to break his bread in the company of a friend."**

Ibid, p. 40.

अतर मे धन की आकाक्षा नही के बराबर है। जिस सम्पत्ति को मै अपनी आवश्यकता से अधिक पाता हूँ, उसे अपने मित्रो को अर्पण करता हूँ। मुख्यत मै अपने शत्रुओ मे सम्पत्ति बाटता हूँ, जिससे वे शान्त रहे।" जब अपोलो ने उसके भोजन के विषय मे पूछा तो शाह ने बताया, कि पहले वह मद्यपान करता था, किन्तु अब नही। पहले शिकार भी खेलता था, किन्तु अब वह व्यायाम मे ही सतुष्ट है। वह भोजन मे शाकभाजी और पिडखजूर की रोटी तथा बाग के फलो पर निर्वाह करता है। कुछ शाकभाजी वह स्वय जोत बोकर उगाता है। अपोलो को इससे बडा सतोष हुआ।[1] सारांश यह कि उस काल मे बडे-बडे राजा महाराजा भी अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तो को पालते थे।

जब सिकन्दर महान् भारत आया और तक्षशिला के पास दिगम्बर जैन मुनियो से मिला, तो उनकी ज्ञानचर्या और तपस्या का उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पडा था। कल्याण नामक मुनि सिकन्दर के साथ अहिंसा प्रचार के लिए हो लिए थे।[2]

सन् २५ ई० पूर्व मे भृगुकच्छ के राजा ने रोम के बादशाह आगस्टस के लिए भेट भेजी थी। उनके राजदूत के साथ भृगुकच्छ के दिगम्बर श्रमणाचार्य यूनान गए थे। उन श्रमणाचार्य ने एथेन्स (Athans) नगर मे अपने सघ की स्थापना की थी—बहुत से यूनानी उनके शिष्य होकर अहिंसा और अपरिग्रह का पालन करते थे।[3]

इस प्रकार हम देखते है कि यूनान की सस्कृति मे अहिंसा और अपरिग्रह का सक्रिय प्रभाव रहा है—जैन मुनियो ने अपने ज्ञान से यूनानियो को प्रभावित किया था।

एस्सेन लोगो (Essens) की अहिंसक-सभ्यता

फिलिस्तीन और इसरायल यहूदी सभ्यता के गढ रहे,—हजरत मूसा ने वहा अहिंसा का प्रचार किया था, यह पहले दर्शा चुके हैं। किन्तु कालान्तर मे वहाँ अहदनामे का सही अर्थ लोगो की दृष्टि मे ओझल गया था—वे वासना मे फँस गए थे। इस विषम समय मे मध्य एशिया मे प्रचार करते हुए भारतीय सन्त इस प्रदेश मे भी आए थे और अहिंसा का प्रचार किया था। जर्मन विद्वान वफॉन क्रेमर (Von Kremer) के अनुसार मध्यपूर्व एशिया मे प्रचलित "समानिया" सम्प्रदाय "श्रमण" (जैन) था। जी० एफ० मूर ने लिखा है कि "ईसा की जन्म शती के पूर्व इराक, शाम और फिलिस्तीन मे जैनमुनि और बौद्धभिक्षु सैकडो की सख्या मे चारो ओर फैलकर अहिंसा का प्रचार करते थे। पश्चिमी एशिया, मिस्र, यूनान और इथ्योपिया के पहाडो और जगलो मे उन दिनो अगणित भारतीय साधु रहते थे, जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। वे साधु वस्त्र भी नही पहनते थे।[4] मेजर जनरल जे० जी०

---

[1] "न्यू आउटलुक" (लास ऐंजिलस U S A) दिसम्बर १९६१ मे पृ० ७३-७६ देखो

[2] अहिंसा और उसका विश्वव्यापी प्रभाव, पृ० ७३-७४

[3] इंडियन हिस्टॉरिकल क्वारटर्ली, भा० २ पृ०२९३

[4] हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७४

आर० फरलाग सा० ने भी अपनी खोज मे ओकसियना (Oksıana) केस्पिया (Kasıpıa) एव बल्ख व समरकन्द के नगरो मे जैन धर्म के केन्द्र पाए, जहाँ से अहिंसा का प्रचार होता था।[१] इन जैन साधुओ का प्रभाव यहूदी लोगो पर ऐसा पडा कि उनमे "ऐस्सिनी" (Essenes) सम्प्रदाय का जन्म हुआ। ऐस्सिनी लोग बस्ती से दूर जगलो या पहाडो पर कुटी बनाकर रहते थे। जैन मुनियो की तरह अहिंसा को अपना खास धर्म मानते थे। मास खाने से उनको बेहद परहेज था। वे कठोर और सयमी जीवन व्यतीत करते थे। पशुबलि का घोर विरोध करते थे। रोगियो की सेवा करने मे आनन्द लेते थे। अपरिग्रह व्रती होकर सारी सम्पत्ति समाज की मानते थे।[२] इन्ही मे से आगे चलकर ईसा मसीह एव अन्य ईसाई सन्त प्रगट हुए थे जिन्होने भी अहिसा का प्रचार किया। नये अहदनामे मे भी शाक और फलाहार को मानव का प्राकृत भोजन बताया और जीवदया का उपदेश दिया गया है (Genesıs, I, 29)।

अरब और ईरान की संस्कृतियो मे अहिंसा

प्राचीन काल मे अफगानिस्तान तो भारत का ही एक अग था और वहाँ जैन एव बौद्ध धर्मो का प्रचार होने से अहिसा का अच्छा प्रचार था। ई० ६ वी ७ वी शताब्दी मे चीनी यात्री हुएनत्साग को वहाँ अनेक दिगम्बर जैन मुनि मिले थे।[३]

अफगानिस्तान से मिला हुआ ईरान था। अरब भी दूर न था। इन दोनो देशो का सम्पर्क भारत से प्राचीन काल से था। दोनो देशो ने भारत से बहुत कुछ सीखा था, जिसका प्रभाव उनकी सस्कृतियो पर पडा था। भारतीय विद्वान ईरान को पारस्य कहते थे।

अरब का उल्लेख जैन आगम मे मिलता है। भारत से अरब का व्यापार चलता था। जादिस अरब का एक बडा व्यापारी था—भारत से उसका व्यापार खूब होता था। भारतीय व्यापारी भी अरब जाते थे। जादिस का मित्र एक भारतीय वणिक था। वह ध्यानी योगी की मूर्ति भी अपने साथ अरब लाया और उसकी पूजा करता। जादिस भी प्रभावित हो, पूजा करने लगा। इस प्रकार वणिको द्वारा धर्म का प्रचार हुआ। उपरान्त मौर्य सम्राट सम्प्रति ने जैन श्रमणो भिक्षुओ के विहार की व्यवस्था अरब और ईरान मे की, जिन्होने वहाँ अहिंसा का प्रचार किया।[४] बहुत से अरब जैनी हो गए।[५] किन्तु पास्य नरेश का आक्रमण होने पर जैन भिक्षु और श्रावक भारत चले आए। ये लोग दक्षिण भारत मे बसे और "सोलक" अरबी जैन कहलाए।[६]

---

१ **Science of Comparative Religions, (1897) Intro, PP 8-33**

२ हुकुमचद अभिनन्दन ग्रथ, पृ० ३७४

३ हुएनत्साग का भारत भ्रमण (प्रयाग), पृ० ३७

४ परिशिष्टपर्व, भा० २ पृ० ११५-१२४

५ **Formerly Jains were very numerous in Arabia**
—Asiatic Researches, Vol-IX. P. 284

६ जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० १७, पृ० ८५ फुटनोट

किन्तु जैनो ने अपनी प्रचार लगन को भुलाया नही। सन् ९९८ ई० के लगभग भारत से करीब बीस साधु सन्यासियो का दल पश्चिम एशिया के देशो मे प्रचार करने के लिए गया। उनके साथ जैन त्यागी भी गए, जो चिकित्सक भी थे। इन्होंने अहिंसा का खासा प्रचार उन देशो मे किया। तत्पश्चात् वे वापस स्वदेश लौटे। किन्तु वे अपने पीछे इतने भक्त छोड आए थे कि वे उनको भुला न सके। सन् १०२४ के लगभग यह दल पुन शान्ति का सन्देश लेकर विदेश गया और दूर-दूर की जनता को अहिंसक बनाया। जब यह दल स्वदेश लौट रहा था तो उसे अरब के तत्वज्ञानी कवि अबुल अला अल-मआरी से भेट हुई।[1] जर्मन विद्वान फान क्रेमर ने अबुल-अला को सर्व श्रेष्ठ सदाचारी शास्त्री और सत कहा है। वह गुरु की खोज मे घूमते घामते जब बगदाद पहुँचे, तो बगदाद के जैन दार्शनिको के साथ उनका समागम हुआ था और उन्होने जैन शिक्षा ग्रहण की थी। उसका परिणाम यह हुआ कि अबुल अला पूरे अहिंसा-वादी योगी हो गए।[2]

अबुलअला केवल अन्नाहार करते थे। दूध भी नही लेते थे, क्योकि बछडे के दूध को लेना यह पाप समझते थे। बहुधा वह निराहार रहकर उपवास करते थे। मधु (शहद) व अडा भी नही खाते थे। पगरखी लकडी की पहनते थे। चमडे का प्रयोग नही करते थे। नगे रहने की सराहना करते थे। सचमुच यह दया की मूर्ति थे।

अरब मे ही उपरान्त इस्लाम के महान् प्रवर्तक हजरत मुहम्मद सा० हुए। उन्होने भी अहिंसक जीवन को अपनाया और रहम (दया) करना धर्म बताया। वह कहते थे कि "मूक पशुओ की खातिर अल्लाह से डरो और उनके प्रति नेकी का व्यवहार करो। इस भूमडल पर कोई भी पशु या पक्षी ऐसा नही है, जो कि तुम्हारे समान ही अपने प्राणो से—प्यार न करता हो।[3] इसलिए कहा है कि खुदा ने तुम लोगो के रज्क के लिए मेवा व फल अता किया है।" (अनशामगात जकात्नम्) हजरत मुहम्मद सा० स्वय शाकाहारी थे और उनका व्यवहार जीवमात्र के प्रति दयामय था। एक बार वह वन से गुजर रहे थे कि उनको एक शिकारी मिला, जिसने एक हिरनी को पकड रखा था। पैगम्बर सा० मानव की क्रूरता देख कर दग रह गए। उन्होंने कहा, "यह बुरा है, मानव पशु बने। इससे ज्यादा उसका पतन क्या होगा?" और शिकारी को हिरणी को छोडने के लिए कहा, जिससे वह अपने बच्चो को दूध पिला आवे। शिकारी तैयार न हुआ तो पैगम्बर सा० ने अपने को जामिन बनाया और हिरणी को छोड दिया। हिरणी गई, बच्चो को दूध पिलाया और लौट आई। शिकारी यह देखकर हैरान था। हैवान भी इतने सच्चे होते है और इन्सान इतना बेवफा। बस, रहम का सोता शिकारी के दिल मे फूटा—उसने शिकार न करने के लिए तोबा की। वह सच्चा मानव बना—

---

[1] हुकुमचंद अभिनन्दन ग्रथ, पृ० ३७४-३७५

[2] **Der jainismus.**

[3] कुरान ६।३८

"सौ जा से हुआ मौतिकद साहिबे दीनदार,
बोला वह कदमे पाक मे गिरकर कई बार।
बरितल नही रहता जो दिखाता है असरेहक,
बेशक है खुदा एक, रसूल आप है बरहक।
लो मै अब मुसलमान हूँ मुँह कुफ्र से मोडा,
मै छूट गया कुफ्र से, हिरनी को भी छोडा।"[१]

इस प्रकार हजरत मुहम्मद सा० की जात पाक से दयाधर्म का विकास होता था।

भारत और पारस्यका सास्कृतिक आदान-प्रदान बहुत पुराना है। पडौसी होने के कारण भारत का व्यापार पारस्य से बहुत होता था। दोनो देशो के निवासी एक दूसरे के आचार विचार से प्रभावित थे।[२] जब अन्तिम तीर्थङ्कर भ० महावीर के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने की खबर पारस्य मे फैली तो उनके दर्शन करने के लिए कई ईरानी भारत आए। मगध सम्राट श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र राजकुमार अभय के मित्र ईरान के शाहजादे आर्दराक थे। उन्होने सुना तो वह भी भारत आए और भगवान् के दर्शन किए। भ० महावीर के उपदेश का प्रभाव उन पर ऐसा पडा कि वह जैन मुनि हो गए और अहिंसा धर्म का प्रचार भारत एव ईरान मे करते रहे।[3]

उपरान्त सम्राट् अशोक और सम्राट् सम्प्रति ने भी अपने धर्म रज्जुक और भिक्षुक वहा अहिंसा का प्रचार करने के लिए भेजे थे। ईरानी जन-जीवन मे एक नई लहर आई थी। म० जरदस्त ने पहले ही अहिंसा की प्राण प्रतिष्ठा ईरान मे पशुबलि का विरोध करके की थी। ईरान के शाह दारा(Darıns) ने अपनी प्रजा को लक्ष्य कर अशोक की तरह पाषाणो पर अहिंसा पालने का आदेश अकित कराया था। तख्तेजमशेद नामक स्थान पर एक ऐसा लेख आज भी मौजूद है।[४]

मध्यकाल मे जैन दार्शनिको का एक सघ बगदाद मे जम गया था, जिसके सदस्यो ने वहाँ करुणा और दया, त्याग और वैराग्य की गगा बहा दी थी। "सियाहत नामए नासिर" के लेखक की मान्यता थी कि इस्लाम धर्म के कलन्दर तबके पर जैन धर्म का काफी प्रभाव पडा था।[५] कलन्दर लोग अपने प्राणो की बाजी लगाकर अहिंसा और दया को पालते थे, ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते है। अलविया फिर्के के लोग हजरत अली की औलाद से थे—वे भी मास नही खाते थे और जीव दया को पालते थे। ई० ९ वी—१० वी शताब्दी मे अब्बासी खलीफाओ के दरबार मे भारतीय पडितो और साधुओ को बडे

---

[१] हिरनीनामा देखो

[२] कृष्णदत्त बाजपेयी कृत "भारतीय व्यापार का इतिहास" पृ० ४८–५२

[३] जैनसिद्धात भास्कर (आरा), भा० १७ पृ० १४–१९

[४] अहिंसा और उसका विश्वव्यापी प्रभाव, पृ० ५३-५४

[५] हुकुमचद अभिनदन ग्रथ (दिल्ली), पृ० ३७४ व ३७५

आदर से निमन्त्रित किया जाता था। उन में जैन और बौद्ध साधु भी होते थे।[1] इस सांस्कृतिक सम्पर्क का सुफल यह हुआ कि ईरान में अध्यात्मवाद जगा और जीवदया की धारा बही। सूफी कवियों ने आवाज बुलन्द की कि—

"ता न गरदद नफ्स तावे रूहरा,
कंद वा यावी दिले मजरूहरा।
मुर्गे जा अज हब्से तन यावद रिहा,
गर वतेग् लकुशी ईं अजदहा।"

अर्थात्—"जब तक कि नफ्स (इन्द्रियां) आत्मा के वश में नहीं होती, तब तक हृदय का आताप-संताप दूर नहीं हो सकता, शरीर सम्बन्ध से आत्मा मुक्त हो जाए, यदि इस अजदहे (नफ्स) को वैराग्य के खड्ग से मार डाला जाए।"

अध्यात्मवाद ने लोगों के हृदयों को दयालु बना दिया। सूफी कवियों ने अहिंसा के गीत गाए, एक कवि ने जीव-रक्षा के लिए अपने देशवासियों से कहा—

"अहिंसा रोरम वल्कि मा रोरम,
जेरे कदम तो हजार जा अस्त।"

अहिंसा से चलो, बल्कि चलो ही नहीं तो और भी अच्छा है, क्यों कि तेरे पैर के नीचे हजारों जानदार प्राणी हैं।"

भ० महावीर ने ईर्यापथ के उपदेश में यही कहा था। एक अन्य सूफी अहिंसा धर्म की पालने की महत्ता को बताने के लिए एक बकरी के माध्यम से बड़ी सूझ-बूझ की बात कहता है। जिह्वालम्पटता के कारण हिंसा में फँसने का परिणाम कष्टदायक ही होता है। यही बकरी कहती है—

'शुनीदा अम कि करसाव गोसफदे गुफ्त,
दारा जमा कि गिलुयश-ब-तेग तेज बुरीद।
सजाए हर खास-ओ-खरे कि खुरद दाद,
कसे कि पहलुए चरब खुरद ने खुरीद॥"

कवि कहता है कि एक दफा मैंने सुना, "एक बकरी की गरदन पर जब कसाई ने तेज छुरी का वार करना चाहा, तो बकरी ने उससे कहा—भाई, मैं तो देख रही हूँ कि हरी घास और हरे पौधे खाने की सजा मुझे क्या मिल रही है? अरे, मेरी गरदन ही काटी जा रही है। अब कस्साब भाई, जरा सोचो तो उस व्यक्ति का क्या हाल होगा, जो मेरा मांस खावेगा?"

---

[1] हुकुमचंद अभिनन्दन ग्रन्थ (दिल्ली) पृ० ३७४ व ३७५

यह शिक्षा जैनधर्म के रग मे रगी हुई है। क्योकि जैन धर्म मे वनस्पति मे भी जीव माना है। इसीलिए जैनी हरित वनस्पति को खाने का भी ध्यान रखते है। बकरी ने जानदार हरी घास खाई अर्थात् जानदार वनस्पति की हिसा की—उसको उसी का कटु फल उसे कसाई के हाथ से मिलता है। फिर जो लोग उसकी हिंसा करेंगे, उनका क्या हाल होगा ? यह उल्लेख ईरानी जनजीवन पर अहिंसा की गहरी छाप को प्रगट करता है।

साराशत ईरान की संस्कृति पर भारतीय सतो का गहन प्रभाव पडा था—जैन अहिसा ईरान के कोने कोने मे फैली थी ! काश आज का ईरान भी अहिसा के इस महत्व को पहिचाने।

अमेरिका की प्राचीन संस्कृतियो में अहिंसा

प्राचीन अमेरिका का सास्कृतिक सम्पर्क भारत से रहा प्रतीत होता है। भारतीय मध्य एशिया से दक्षिण एशिया होते हुए प्राचीन अमेरिका मे पहुँचे थे, यह अनुमान किया जाता है। आधुनिक शोध मे बताया है कि प्राचीन अमेरिका मे क्रमश तीन सस्कृतियो का अस्तित्व मिलता है—(१) मय-सस्कृति, (२) इका-सस्कृति और (३) अजेतक सस्कृति (Ajtecs) मय-सस्कृति का सम्बन्ध मयलोगो से था। मयलोग जैनपुराणो के अनुसार विद्याधर-वश के अहिंसक वीर थे, जो ससार के विभिन्न भागो मे फैले थे। श्री चिमनलाल जी ने अपनी पुस्तक "हिन्दू अमेरिका" मे यह सिद्ध किया है कि मेक्सीको आदि मे बसे मय लोग भारतीय थे। उनके रीति-रिवाज भी भारतीय हिन्दू और जैनो के समान थे। वे जीव-दया के प्रतिपालक थे। बैरन हम्बोल्ट ने अमेरिका के पुरातत्व मे भारतीय अवशेष ढूढ निकाले थे। मैक्सीको मे क्वेत्जल कोट्ले (Quetzal coatle) की मूर्ति को देखते ही तीर्थंङ्कर ऋषभ की मूर्ति का स्मरण हो उठता है। मैक्सिको के यह पुराने देवता थे।[1] श्री एम० लुशियन एडम के मतानुसार क्वेत्जल कोट्ले गौर वर्ण और लम्बे कद के आर्य थे, जिनका विशाल माथा, बडी आखे, और लम्बे काले बाल थे। वह शील और शाति के आगार थे। उनको नरबलि अथवा पशु-बलि ग्राह्य नही थी—उनकी पूजा नैवद्य, पुष्प और गध से की जाती थी। उन्होने सभी प्रकार की हिसा और युद्धो का निषेध किया था।[2] यह वर्णन भ० ऋपभ से मिलता-जुलता है—लम्बे काले बाल उनकी खास विशेषता थी, जिनके कारण वह "केशी" कहलाते थे और उनकी मूर्तियो पर यह बाल कधो तक दर्शाए जाते रहे। अहिंसा के वह आदि प्रवर्त्तक थे ही—पुष्पादि से उनकी पूजा की जाती है।

भ० ऋषभ के निर्वाणस्थान कैलाश पर्वत पर इन्द्र ने पहला स्तूप बनाया था, यह जैनो की मान्यता है। निस्सदेह बौद्धो से बहुत पहले ही जैनो ने स्तूप बनाने प्रारभ कर दिए थे—बौद्ध स्तूपो से प्राचीन जैन स्तूपो का पता भी चला है। मध्य अमेरिका के पुरातत्त्व मे भी ऐसे स्तूप मिले हैं। स्पेंस

---

[1] **"Voice of Ahinsa"—Indo-American Cultural Special Number, December 1959, PP 439—440**

[2] **The Golden lotus August, 1963, P. 127.**

हार्डी ने लिखा है कि चिचेन (Chichen) मे जो प्राचीन स्मारक हैं, उनका साम्य भारतीय स्तूपो से बहुत ज्यादा है।[१] स्क्वीयर (Squier) ने भी यही लिखा है कि "भारत मे ठीक वैसे ही धार्मिक स्मार्क मिलते है, जैसे कि "मध्य अमेरिका" मे है, जिससे स्पष्ट है कि अमरीकी सभ्यता का उद्गम दक्षिण एशिया से हुआ।[२]

स्टीफेंस सा० (Stephens) को पलेन्क (Palenque) (युकातान) (Yucatan) के महल मे सिंहासन पर आसीन एक ऐसी मूर्ति मिली, जो पद्मासन ध्यानमुद्रा मे बैठी है, और जिसके इधर-उधर दो सिंह बने हैं।[3] कुछ विद्वान इसे बुद्ध की मूर्ति अनुमान करते है, परन्तु सिंह का चिन्ह भ० महावीर का है। अत बहुत सभव है कि यह मूर्ति भ० महावीर की हो। साराशत अमेरिका के पुरातत्व मे भारतीय सम्पर्क सिद्ध होता है।

सर डबल्यू० जोन्स के कथन से स्पष्ट है कि अमेरिका के मूल निवासियो मे राम और सीता की भी मान्यता थी। वे भी राम को सूर्य की सन्तति मानते थे। पेरुवियन (Peruvians) लोगो का सबसे बडा त्यौहार "राममित्वा" कहलाता था।[४]

मय लोगो के पश्चात् इका (Inca) लोगो की सभ्यता का पता अमेरिका मे चलता है। इका लोग भी मूल मे भारत के निवासी थे। अमेरिका मे उन्होने जो नगर बसाए उनके नाम भारतीय रखे। जैसे कोबल (Cobal) नाम दक्षिण भारत के जैनतीर्थ कोयबल की याद दिलाता है। एक बार एक इका नरेश ने अपने पुत्रो को अपने राज्य के उत्तरी भाग के लोगो को सभ्य बनाने के लिए भेजा, तो उन्होने उस प्रदेश मे, जो राजधानी बसाई, उसका नाम उन्होने मितला (Mitla) रखा—यह नगर आज भी मैक्सीको के ओआसका (Oaxaca) प्रदेश मे मौजूद है। यह मिथिला का अपभ्रंश रूप है, जो भारत मे तीर्थङ्कर नेमि की जन्म-भूमि और सम्राट जनक की राजधानी रही। इका लोग भारतीयो के अनुरूप

---

[१] **The ancient edifices of Chichen in Central America bears a striking resemblance to the Stupas of INDIA" —Spence Hardy.**

[२] **In india are found almost the exact counter-parts of the religious structures of central America, analogies furnishing the strongest support of the hypothesis, Which places the origin of the American Semi-Civilization in South Asia—Squier.**

[3] **"The principal figure sits cross-legged on a couch ornamented with two leopards (lions) heads. The attitude is easy, the physiognomy the same as that of the other. Personages and the expression calm and benevolent (Nir vanic).**

—Incidents Travel in Central AMERICA Vol-II, p 319

[४] **Asiatic Researches, Vol. I, P. 427.**

परमात्मतत्व के दर्शन अन्तर मे करते थे और सभी जीवो मे उसका आभास मानते थे। इसलिए ही वे सबके साथ प्रेम और करुणा का व्यवहार करते थे।[1]

इका लोगो के समान ही अजटेक लोग (Aztecs) भी भारतीय सस्कृति के कायल थे। अहिंसा के तो वे कट्टर अनुयायी थे। उनका सर्वअतिम सम्राट मोन्तेजुमा (Motezuma) नामक था। उसके जीवन की घटनाएँ हमे भारतीय नरेशो के जीवन व्यवहार की याद दिलाती है। सन् १५२० ई० मे स्पेन के लोगो ने मैक्सीको पर आक्रमण किया। सम्राट मोन्तेजुमा का आत्मबल हीन नही था। वह शत्रु से मुकाबिला करने को तैयार थे, किन्तु उन्होने देखा कि शत्रु का सैनिक बल कही ज्यादा अधिक है और श्रेष्ठ है। यह देखकर उनका अहिंसा-भाव और त्यागधर्म मचल उठा। उनके मन ने कहा कि क्या निरीह साम्राज्य के मोह मे फसकर अपने प्यारे सैनिको के अमूल्य प्राणो को शत्रु की क्रूरता मे नष्ट होने दूं? नही, ऐसा नही होगा। मुझे साम्राज्य नही चाहिए—वह साम्राज्य जिसके कारण मानव मानव का खून बहाए। अहिसा ही परम धर्म है। अजटेक लोग सदा से जीव दया के प्रतिपालक रहे है। जो उन्होने सोचा, वही उन्होने किया। स्पेनवालो से उन्होने सधि करली और अपना राज्य खुशी से उनके अधिकार मे मे दे दिया। किन्तु इतने पर भी स्पेन वाले क्रूर भेडिए थे—उन्होने सम्राट् मोन्तेजुमा और उनके परिवार के साथ क्रूरता का व्यवहार किया-उनका राजमहल भी लूट लिया। मोन्तेजुमा ने राजसम्पत्ति गवा कर भी अपने को अमर कर लिया। ऐहिक सम्पत्ति से बढकर उन्होने अहिसा धर्म की सम्पत्ति को माना और उसी पर उन्होने, अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया।[2]

यद्यपि आज मय, इका और अजटेक सस्कृतियो का नाम और काम केवल इतिहास मे शेष है। परन्तु उनकी अहिसा और दयालु वीरता की अमर कहानी अब भी मानव को सही प्रेरणा दे रही है। अमेरिका के अरिजोना (Aiizona, U S.A) नामक प्रदेश मे "होपि" (Hopi'es) नामक लोग हमे प्राचीन अमेरिका की अहिसा सस्कृति की याद दिलाते है। "होपि" का अर्थ है "शातिवादी" और निस्सदेह "होपि" शातिवादी है। वे सख्या मे कुल ४५०० है। उनके देवता 'मासउ" (दैवी महान् आत्मा Divine Great Spirit) अहिसा के अवतार थे। उन्होने जीव मात्र पर दया और करुणा करने का उपदेश लोगो को दिया था। तदनुसार होपि लोगो ने आज तक अपने विरोधी के ऊपर भी तलवार नही उठाई है। वे शाति के उपासक रहे है और अब भी है। उनके नेता कट्चिगवा अहिसा को ही परम धर्म मानते है। सत्य, सहकारिता आदि को अहिसा का ही अग समझते है। उनके धर्म की दो बाते मुख्य है (१) मासउ की उपासना करना (२) जीवहत्या नही करना। उनके पडौसी नव जो लोग उनके खेतो मे भेड चरा लेते है, तो भी होपि उनसे लडते नही।[3] बडे ही दयालु है ये लोग। प्राचीन अमेरिका की अहिसा को यही जीवित रखे हुए है।

---

[1] **Voice ot Ahinsa--Indo-American Cultural No., 1959, P 446.**

[2] **Voice of Ahinsa, Indo-American Cultural-SP. no. 1959, pp. 446-447.**

[3] **Ibid, pp. 426-427**

[4] भ० महावीर स्मृति ग्रंथ (आगरा) पृ० ३०७

इस प्रकार प्राचीन अमेरिका में अहिंसा का बोलबाला रहा था। आज भी कुछ यूरोपीय अमेरिकन शाकाहार और जीवदया का प्रचार वहाँ कर रहे हैं।

चीन की संस्कृति में अहिंसा

भारत और चीन का सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना है और वह भी अहिंसा पर आधारित।[1] किन्तु साम्यवादी नये चीन ने पुराने सम्पर्क को आज उठाकर ताक में रख दिया है। वह पुराने जमाने की बरबरता पर उतर आया है। चीन को सद्बुद्धि मिले और वह अहिंसा को पुनः पहचाने यही उपादेय है।

भारत का सांस्कृतिक ऋण चीन पर अत्यधिक है, क्योंकि भारत ने अहिंसा द्वारा चीन को सभ्य बनाया था। आदिकाल में चीन एक असभ्य देश था। कैस्पियन समुद्रतट पर बसे हुए मगोल जाति के लोग उपरान्त चीन में आकर बसे और उन्ही के द्वारा सभ्यता का प्रसार चीन में हुआ।[2] जैनशास्त्रों में चीन की गणना अनार्य देशों में की गई है।[3] चीन पर भ० ऋषभ के एक पुत्र ने शासन किया था। तीर्थङ्कर अभिनन्दन और शांतिनाथ के पूर्वभव की जन्मनगरिया मगलावर्त देश में थी, जो मागोलिया हो सकता है। जैन सन्तो ने चीन में सत्य और अहिंसा का प्रचार किया था। चीनी त्रिपिटक में जैनधर्म विषयक अनेक उल्लेख मिलते हैं।[4] किन्तु उनमें एक उल्लेख विलक्षण है।

इस उल्लेख में एक जैनशास्त्र को अपनाया गया है। जिसे म० बुद्ध भी स्वीकार करते दिखाए गए हैं। भारतीय पिटक में वह नही मिलता। सन् ५१६ ई० में बोधिरुचि ने उसका अनुवाद चीनी भाषा में किया था। जब जैन गुरु अपने ८८० लाख निर्ग्रन्थ शिष्यो के साथ विहार करते हुए उज्जैनी पहुँचे थे, तब उन्होंने यह उपदेश सम्राट प्रद्योत को दिया था। इसमें पहले अहिंसा आदि व्रतों का उल्लेख है। उपरान्त इसमें बताया है कि एक आदर्श चक्रवर्ती सम्राट का धर्म क्या है? चक्रवर्ती नरेश लोगो के प्रति पशुबल का प्रयोग कर उनको भयभीत नही करता। सब ही देशों के लोग स्वतः ही चक्रवर्ती का आदर करते है। इस सूत्र में युद्ध का निषेध किया है। फिर भी यदि युद्ध लड़ना ही पड़े तो उसमें अहिंसा का ध्यान रक्खा गया है।[5] साराशत इस जैनसूत्र को चीनवासियों ने अपने "त्रिपिटक" में स्थान देकर जैन अहिंसा की महत्ता को स्वीकार किया है।

किन्तु सन् ५१६ ई० से बहुत पहले ही भारतीय संत चीन पहुँच चुके थे। जैन और बौद्ध ऋषियो ने चीन देश के प्रदेशों में विहार करके अहिंसा को फैलाया था। परिणामस्वरूप चीन देश के महात्माओ ने भी

---

[1] हिंदी विश्वकोश (कलकत्ता), भा० ६ पृ० ४१७

[2] प्रश्न व्याकरण सूत्र (हैदराबाद) पृ० १४

[3] "वीर महावीर जयती वि०-भा० ४ पृ० ३५३-३५४ एव० VOA. 1958 Sp.no.

[4] Voice of Ahinsa. Tirthankara Aristanemi Sp. no. vol. V, pp 79-82

अहिंसा धर्म का प्रचार किया था। म० कन्फ्यूशस ने जनता को बताया था कि "मनुष्य मुख्यतः मांस, मदिरा और वासनामय इन्द्रिय भोगो की ओर दौडता है ·· ·· किन्तु जो मनुष्य धर्म मे परिपूर्ण होना चाहता है, वह ऐसे भोजन और आशायस की इच्छा नही करता है।" (Analects) म० लाउत्से ने भी ऐसा ही उपदेश दिया था—उन्होने कहा कि जो मनुष्य पूर्ण होना चाहता है, वह भूमि से उपजा आहार ग्रहण करता है और ईश्वरीय आनन्द भोगता है। (चआङ्ग-त्जे)

ईस्वी सन् से ५०० वर्षो पूर्व चीन मे मो-त्सु नाम के एक अहिंसावादी सन्त हो गए है। एक बार उन्होने सुना कि चीन देश का राजा सुङ्गवश के राजा पर आक्रमण करेगा, तो वह अपने स्थान से बराबर बीस दिन रात चलकर चीन देश के राजा के पास पहुँचे और उन्हे आक्रमण करने से रोका। उनका मत था कि प्रत्येक प्राणी प्रेम से रहे, युद्ध न करे।

चीनी भाषा मे अहिसा के लिए "पु-इह" शब्द प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ होता है "भा-हन" (किसी की हत्या न करो) धनात्मक रूप मे वही "मैत्री" हो जाती है, जिसे चीनी लोग "जैन" कहते है। चीन देश मे "ई-चिंग' (Yı-chıng) नामक ग्रन्थ वेदतुल्य मान्य रहा है। उसमे मानवहित के लिए यह उपदेश दिया है कि "मैत्री के द्वारा ही मानव की उन्नति होती है। लोक और परलोक मे जीवन सारभूत है। उसकी रक्षा करो। महात्मा का पद महान् है। उसकी रक्षा जैन (मैत्री) द्वारा होती है।

चीन देश मे मास भोजन का प्रचलन कम रहा है। प्रो० तानयुनशान जब पहले पहले म० गाधी से मिले तो उन्होने म० श्री जी के पूछने पर उनको यही बताया था कि "अधिकाश चीनी बहुत कम मास खाते है। देहाती चीनी तो प्राय पक्के शाकाहारी होते है। गऊ की हत्या चीन मे होती ही नही। किन्तु आज चीन अपने पूर्वजो के अहिंसा-मार्ग से विमुख हो रहा है। यह दु ख का विषय है।

अन्तिम शब्द

इस प्रकार सक्षेप मे ससार की विविध प्रमुख और प्राचीन सस्कृतियो मे अहिसा का अस्तित्व इस बात को स्पष्ट करता है कि प्राचीनकाल की मान्यता मे सत्य, दया, मैत्री आदि जीवन के बुनियादी सिद्धान्तो को आधारशिला माना गया था। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि मानव-सस्कृति का श्री गणेश भारत के हिमालय तलहटी किंवा कैलाश पर्वत के शिखर से भ० ऋषभ या वृषभ देव द्वारा किया गया था। प्राय सभी सस्कृतियो मे भगवान् ऋषभ को किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया गया था। अत भ० ऋषभ का व्यक्तित्व इतना महान और विशाल है कि उसकी सहायता से विश्व मे सास्कृतिक एकता और सार्वभौम प्रेम की स्थापना की जा सकती है। अत जैनो का कर्तव्य है कि इस दिशा मे एक सही कदम उठाकर खोज और प्रचार को आगे बढाए।

★

भगवान् महावीर : वैशाली की दिव्य-विभूति

श्री वलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य
प्रोफेसर सस्कृत-पाली विभाग हिन्दू-विश्व-विद्यालय काशी

वैशाली युगान्तरकारिणी नगरी है। इसकी गणना भारत की ही प्रधान नगरियो मे नही की जा सकती, प्रत्युत ससार की कतिपय नगरियो मे यह प्रमुख है—उन नगरियो मे, जहा से धर्म की दिव्य ज्योति ने दम्भ तथा कपट के घने काले अन्धकार को दूर कर विश्व के प्राणियो के सामने मगलमय प्रभात का उदय प्रस्तुत किया, जहाँ से परस्पर विवाद करने वाले, क्षणमात्र के लिए अपने बन्धुजनो के प्रिय प्राणहरण करने वाले क्रूर मानवो के सामने पवित्र भ्रातृभाव की शिक्षा दी गई, जहा से "अहिंसा परमो धर्म." का मन्त्र ससार के कल्याण के लिए उच्चारित किया गया। पाश्चात्य इतिहास उन नगरो की गौरव-गाथा गाने मे तनिक भी श्रान्त नही होता, जिनमे प्राणियो के रक्त की धारा पानी के समान बही और जिसे वह भाग्य फेरने वाले युद्धो का रगस्थल बतलाता है। परन्तु भारत के इस पवित्र देश मे वे नगर हमारे हृदय पट पर अपना प्रभाव जमाए हुए है, जिन्हे किसी धार्मिक नेता ने अपने जन्म से पवित्र बनाया तथा अपने उपदेशो का लीला नगर प्रस्तुत किया। वैशाली ऐसी नगरी मे अन्यतम है। इसे ही जैन धर्म के सशोधक तथा प्रचारक महावीर वर्धमान की जन्म-भूमि होने का विशेष गौरव प्राप्त है। बौद्धधर्मानुयायियो के हृदय मे कपिलवस्तु तथा लुम्बिनदेई के नाम सुनकर जो श्रद्धा और आदर का भाव जन्मता है, जैन मतावलम्बियो के हृदय मे ठीक वही भाव वैशाली तथा कुण्डग्राम के नाम सुनने से उत्पन्न होता है।

वैशाली के इतिहास मे बडे-बडे परिवर्तन हुए। उसने बडी राजनीतिक उथल-पुथल देखी। कभी वहाँ की राजसभा मे मन्त्रियो की परिषद् जुटती थी, तो कभी वहाँ के सस्थागार मे प्रजावर्ग के प्रतिनिधि राज्यकार्य के सचालन के लिए जुटते थे। कभी वशानुगत राजा प्रजाओ पर शासन करता था,

तो कभी बहुमत से चुना गया 'राजा' नामधारी अध्यक्ष अपने ही भाइयो पर उन्ही की राय से उन्ही के मगल-साधन मे सचिन्त रहता था। तात्पर्य यह है कि प्राचीन युग मे वैशाली मे राज्य-तन्त्र की प्रधानता थी। वाल्मीकि रामायण मे वर्णित है कि जब राम-लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र ने यहाँ पदार्पण किया था, तब यहाँ के राजा सुमति ने उनका विशेष सत्कार किया था।[1] जैन सूत्रो तथा बौद्धपिटको मे वैशाली प्रजातन्त्र की क्रीडास्थली के रूप में अकित की गई है। भगवान् बुद्ध ने अपने अनेक चार्तुमास्य यहाँ बिताए थे। इसमे चार प्रधान चैत्य थे—पूर्व मे उदेन, दक्षिण मे गौतमक, पश्चिम मे सप्ताम्रक और उत्तर मे बहुपुत्रक।[2] अम्बपाली नामक गणिका जो धार्मिक श्रद्धा तथा वैराग्य के कारण बौद्ध धर्म में विशेष प्रसिद्ध है—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार वैष्णव धर्म मे पिंगला-यही रहती थी। उसी का आम्रवन बुद्ध के उपदेश देने का प्रधान स्थान था। बुद्ध के समय लिच्छवि लोगो को यहाँ प्रजातन्त्र के रूप मे हम शासन करते पाते है। इससे बहुत पहले हम यहाँ महावीर वर्धमान को जन्मते, शिक्षा ग्रहण करते तथा प्रव्रज्या लेते पाते है। वर्द्धमान के समय मे भी यहाँ गणतन्त्र राज्य ही था। वैशाली के इतिहास मे कोई महान् परिवर्तन अवश्य हुआ होगा जिससे वह विशाला तथा मिथिला दोनो राज्यो की राजधानी बन गई तथा उसका शासन राज्यतन्त्र हो गया। इस परिवर्तन के कारणो की छान-बीन करना इतिहास प्रेमियो का कर्तव्य है।

वैशाली मे अनेक विभूतियाँ उत्पन्न हुई। परन्तु उनमे सबसे सुन्दर विभूति है—भगवान् महावीर जिनकी प्रभा आज भी भारत को चमत्कृत कर रही है। लौकिक विभूतियाँ भूतलशायिनी बन गई, परन्तु यह दिव्य विभूति आज भी अमर है और आने वाली अनेक शताब्दियो मे अपनी शोभा को इसी प्रकार विस्तार करती रहेगी। बौद्ध धर्म से जैन धर्म बहुत पुराना है। इसका सस्थापन भगवान् ऋषभदेव ने किया था, जैनियो की यही मान्यता है। तेइसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ वस्तुत ऐतिहासिक पुरुष है। वे महावीर से लगभग दो सौ वर्ष पहले हुए थे। वे काशी के रहने वाले थे। महावीर ने उनके धर्म मे सशोधन कर उसे नवीन रूप प्रदान किया। भारत का प्रत्येक प्रान्त जैन धर्म की विभूतियो से मण्डित है। ऐतिहासिक लोग पार्श्वनाथ को जैन धर्म का सस्थापक मानते है, और वर्धमान महावीर को सशोधक। महावीर गौतम बुद्ध के समसामयिक थे, परन्तु बुद्ध के निर्वाण से पहले ही उनका अवसान हो गया था। इस प्रकार वैदिक धर्म से पृथक् धर्मो के सस्थापको मे महावीर वर्धमान ही प्रथम माने जा सकते है और इनकी जन्म-भूमि होने से वैशाली की पर्याप्त प्रतिष्ठा है।

---

[1] तस्य पुत्रो महातेजा सम्प्रत्येष पुरीमिमाम्।
आवसत्यमरप्रख्य. सुमतिर्नाम दुर्जय ॥१६॥
सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम्
श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठः प्रत्यगच्छन्महायशा ॥१९॥ बालकाण्ड ४७ सर्ग

[2] द्रष्टव्य दीघनिकाय-महापरिनिब्बाणसुत्त —१३

वैशाली का भौगोलिक वर्णन

वैशाली तथा उसके आसपास के प्रदेशो का प्रमाणिक वर्णन जैनसूत्रो मे विशेष रूप से दिया हुआ है। इनकी विशद सूचना बौद्धग्रन्थो मे भी उपलब्ध नही होती। इन प्रदेशो का सक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है—

वैशाली के पश्चिम मे गण्डकी नदी बहती है। यह नगरी बडी समृद्धशालिनी थी। उसका भौगोलिक विस्तार भी न्यून न था। गण्डकी के पश्चिमी तट पर अनेक ग्राम थे जो वैशाली के 'शाखानगर' कहे जाते है। निम्नलिखित ग्रामो का परिचय मिलता है—

१. कुण्डग्राम—इस नाम के दो ग्राम थे। एक का नाम 'ब्राह्मकुण्डग्राम' या 'कुण्डपुर' था जिसमे ब्राह्मणो की ही विशेष रूप मे बस्ती थी। दूसरे का नाम 'क्षत्रियकुण्डग्राम' था जिसमे क्षत्रियो का ही प्रधानतया निवास था। उनमे दोनो क्रमश एक दूसरे के पूर्व-पश्चिम मे थे। ये दोनो पास ही पास। दोनो के बीच मे एक बडा बगीचा था जो 'बहुसालचैत्य' के नाम से विख्यात था। दोनो नगरो के दो-दो खण्ड थे। 'ब्राह्मणकुण्डपुर' के नायक ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण थे, जिनकी भार्या का नाम 'देवानन्दा' था। ये दोनो पार्श्वनाथ के द्वारा स्थापित जैन धर्म के मानने वाले गृहस्थ थे। 'क्षत्रिय-कुण्ड-ग्राम' के दो विभाग थे। इसमे करीब पांच-सौ घर 'ज्ञाति' नामक क्षत्रियो के थे, जो उत्तरी भाग मे जाकर बसे हुए थे। उत्तर क्षत्रियकुण्डपुर के नायक का नाम सिद्धार्थ था। ये काश्यपगोत्रीय ज्ञाति क्षत्रिय थे तथा 'राजा' की उपाधि से मण्डित थे। वैशाली के तत्कालीन राजा का नाम था चेटक, जिनकी बहिन त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ से हुआ था। उन्ही त्रिशला और सिद्धार्थ के कनिष्ठपुत्र 'वर्धमान' थे, जिनका जन्म इसी ग्राम मे हुआ था।

२ कर्मारग्राम—प्राकृत 'कम्मार' कर्मकार का अपभ्रश है। अत कर्मार का अर्थ है मजदूरो का गाव अर्थात् लोहारो का गाँव। वह गाव भी कुण्डग्राम के पास ही था। महावीर प्रव्रज्या लेकर पहली रात को यही ठहरे हुए थे।

३ कोल्लाक सनिवेश—यह स्थान पूर्व निर्दिष्ट ग्राम के समीप ही था। कर्मारग्राम से विहार करके महावीर ने यही पारणा किया था। उपासकदशासूत्र के प्रथमाध्ययन मे उस स्थान की स्थिति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह नगर वाणिज्यग्राम (जिसका वर्णन नीचे है) के तथा उस बगीचे के बीच मे पडता था।

४. वाणिज्य ग्राम—यह जैनसूत्रो का 'वाणिज्यग्राम' बनियो का गाव है। गण्डकी नदी के दाहिने किनारे पर यह बडी भारी व्यापारी मण्डी थी। ऐसा जान पडता है, यहाँ बडे-बडे धनाढ्य महाजनो की बस्ती थी। यहाँ के एक करोड़पति का नाम आनन्द गाथापति था, जो महावीर के बडे भक्त सेवक थे। आजकल की वैशाली (मुजफ्फरपुर जिले की बसाढपट्टी) के पास बनिया ग्राम है। बहुत सम्भव है कि यह गाव 'वाणिज्यग्राम' का ही प्रतिनिधि हो।

बौद्धग्रन्थो के विशेषत दीघनिकाय के अनुशीलन से पता चलता है कि बुद्ध के समय मे वैशाली बडी समृद्धशाली नगरी थी जिसके उपनगर अनेक थे, तथा उस समय खूब प्रसिद्ध थे।

वैशाली : महावीर की जन्मभूमि

वैशाली को हमने महावीर वर्धमान की जन्म भूमि बतलाया है, परन्तु आजकल सर्व साधारण जैनियो की मान्यता है कि बिहार मे क्यूल स्टेशन से पश्चिम आठ कोस पर स्थित लच्छुआड गाव ही महावीर की जन्म भूमि है, परन्तु सूत्रो की आलोचना से यह मान्यता निर्मूल ठहरती है। इस विषय मे प० कल्याणविजयजी गणी ने अपने प्रामाणिक ग्रन्थ 'श्रवण भगवान् महावीर'[1] मे जो विचार प्रकट किए है, वे मेरी दृष्टि मे नितान्त युक्तियुक्त है—

१. पहली बात ध्यान देने योग्य यह है कि सूत्रो मे महावीर विदेह के निवासी माने गए है। कल्पसूत्र मे महावीर को 'विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले'। अर्थात् विदेहदत्त विदेहजात्य विदेहसुकुमार लिखा है। वे 'वैशालिक' भी कहे गए है। अत इन्हे विदेह की राजधानी वैशाली का निवासी मानना अनुचित नही है।

२ 'क्षत्रियकुण्डग्राम' के राजपुत्र जमालि ने ५०० राजपुत्रो के साथ जैन धर्म ग्रहण किया था। इससे यह कोई बडा समृद्ध नगर प्रतीत होता है। महावीर का प्राय नियम-सा था कि जहाँ कोई धनाढ्य भक्त हो, वहाँ वर्षावास करना। अत इसे क्षत्रिय कुण्डग्राम की प्रसिद्ध तथा समृद्धि के अनुकूल महावीर का वर्षावास करना नितान्त स्वाभाविक है, परन्तु यहाँ वर्षावास का बिल्कुल उल्लेख नही मिलता। इसका कारण क्या ? उचित तो यह मालूम पडता है कि यह नगर वैशाली के पास था। अत वैशाली मे वर्षावास करते समय उन्होने जो उपदेश दिया था, उससे कुण्डग्राम के निवासियो ने लाभ उठाया। अत यहाँ पृथक् रूप से वर्षावास करने का उल्लेख सूत्र-ग्रन्थो मे नही मिलता।

३ प्रव्रज्या के अनन्तर महावीर ने जिन स्थानो पर निवास किया, उन स्थानो की भौगोलिक स्थिति पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि वे सब स्थान वैशाली के आसपास थे। दीक्षा लेने के दूसरे दिन महावीर ने कोल्लाक सनिवेश मे पारणा की थी। जैन सूत्रो के आधार पर कोल्लाक सनिवेश दो है और वे भिन्न-भिन्न स्थानो पर है—एक तो वाणिज्यग्राम के पास और दूसरा राजगृह के पास। अब यदि वर्तमान जन्मस्थान को ही ठीक माना जाए, तो वहाँ से कोल्लाक सनिवेश बहुत ही दूर पडता है, जहाँ एक ही दिन मे पहुँच कर निवास करने की घटना युक्तियुक्त सिद्ध नही हो सकती। राजगृह वाला स्थान चालीस मील पश्चिम की ओर पडेगा और दूसरा स्थान इससे भी अधिक दूर। अतः महा-वीर को वैशाली का निवासी मानना ही ठीक है, क्योकि यहाँ से कोल्लाक सनिवेश बहुत ही समीप है।

---

[1] 'श्रमण भगवान् महावीर'—शास्त्र-संग्रह-समिति, जालौर, के द्वारा प्रकाशित, स० १९९८, भूमिका (मारवाड़) पृष्ठ २५-२८

४ प० कल्याणविजयजी ने जैनसूत्रो के आधार पर महावीर के चातुर्मास्य के बिताने के स्थानो का बडा ही सागोपाग वर्णन किया है। महावीर ने प्रथम चातुर्मास्य अस्थिक-ग्राम मे बिताया और दूसरा राजगृह मे। राजगृह जाते समय वे 'श्वेताम्बिका' नगरी मे होकर गए और तदनन्तर गगा को पार कर राजगृह मे पहुँचे। बौद्ध ग्रन्थो मे पता चलता है कि श्वेताम्बिका श्रावस्ती से कपिलवस्तु की तरफ जाते समय रास्ते मे पडती थी। यह प्रदेश कोशल के पूर्वोत्तर मे और विदेह के पश्चिम मे पडता था और वहाँ से राजगृह की तरफ जाते समय बीच मे गगा पार करनी पडती थी, यह स्थान उन भौगोलिक स्थिति के निरीक्षण से प्रतीत होता है। आधुनिक क्षत्रिय कुण्डपुर जहाँ बतलाया जाता है, वहाँ से ये दोनो बातें ठीक नही उतरती। वहाँ से श्वेताम्बिका नगरी न तो रास्ते मे पडती है और न राजगृह जाते समय रास्ते मे गगा को पार करने का अवसर आवेगा।

इन सब प्रमाणो पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि वैशाली ही वर्धमान महावीर की जन्मभूमि थी, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही हो सकता। महावीर की मृत्यु "पावापुर" मे मानी जाती है। बौद्ध ग्रन्थो के अनुशीलन से जान पडता है कि यह स्थान जिला गोरखपुर के पडरौना के पास 'पप-उर' ही है। सगीति परियायसुत्त (दीघनिकाय ३२ वा सुत्त) के अध्ययन से पता चलता है कि यहाँ मल्ल नामक गणतन्त्र लोगो की राजधानी थी, जिसके नये सस्थागार (सठागार) मे बुद्ध ने निवास किया। यह भी पता चलता है कि बुद्ध के आने से पहले ही 'निगठ नातपुत' का देहावसान हो चुका था और उसके भक्तो तथा अनुयायियो मे मतभेद भी होने लगा था। बौद्धग्रन्थो मे महावीर 'निगठ नातपुत' के नाम से विख्यात है। 'ज्ञातपुत' तो ज्ञातिपुत्र है। ज्ञाति नामक क्षत्रिय-वश मे उत्पन्न होने से यह नाम पडा। 'निगठ' ग्रन्थ है, जो ससार के ग्रन्थियो से युक्त होने के कारण केवल ज्ञान-सम्पन्न वर्धमान की उस समय की उपाधि प्रतीत होती है।

जैन धर्म की विपुल उन्नति के कारण ये ही वर्धमान महावीर है, जिनका क्षत्रियकुण्डग्राम मे ५९९ ई० पू० तथा तिरोधान ५२७ ई० पू० पावापुर मे हुआ। उनकी जीवन-घटनाए नितात प्रसिद्ध है। पार्श्वनाथ के द्वारा जिस जैन धर्म की व्यवस्था पहले की गई थी, उसमे उन्होने सशोधन कर उसे समयानुकूल बनाया। पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतो—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह—के विधान पर जोर दिया है, पर महावीर ने 'ब्रह्मचर्य' को भी उतना ही आवश्यक तथा उपादेय बतला कर उसकी भी गणना महाव्रतों मे की है। पार्श्वनाथ वस्त्रधारण करने के पक्ष-पाती थे पर महावीर ने नितान्त वैराग्य की साधना के लिए यतियो के वास्ते वस्त्रपरिधान का बहिष्कार कर नग्नतत्त्व को ही आदर्श आचार बतलाया है। आजकल के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायो का विभेद इस प्रकार बहुत प्राचीन काल से चला आता है।

महावीर ने व्यक्ति के लिए जो सन्देश प्रस्तुत किया है, वह सदा मनुष्यो के हृदय मे आशा तथा उत्साह का सचार करता रहेगा। प्राणी अपना प्रभु स्वय है। उसे अपने कर्मो के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति पर आश्रय लेने की आवश्यकता नही है। जीव स्वावलम्बी है। जीव स्वतन्त्र है। वह अनन्त

चतुष्टय से सम्पन्न रहता है। उसमे अनन्त सामर्थ्य भरी हुई है। वह इस सामर्थ्य को नही जानता, इसीलिए वह ससार मे नाना क्लेशो को भोग रहा है, सामर्थ्य अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान होते ही वह क्लेशमय बन्धनो से मुक्ति पा करके वली होकर विचरने लगता है। जगत् के कोने-कोने मे जीवो की सत्ता मानना, उन्हे किसी प्रकार भी हिंसा न पहुँचाना, मानव की सामर्थ्य की पहचान करना—आदि सुन्दर शिक्षाएँ हमे वैशाली के इस महापुरुष ने दी है। इस दिव्य-विभूति की यह वाणी सदा स्मरण रखने योग्य है कि जब तक व्याधिया नही बढती, जब तक इन्द्रियाँ अशक्त नही होती, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए, बाद मे कुछ होने का नहीं—

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जार्विदिया न हायन्ति, ताव धम्म समायरे ॥
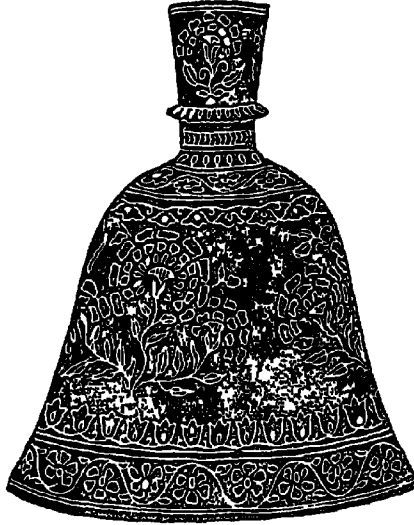
उपाध्याय श्री यशोविजय की जीवन-दृष्टि

मुनि नदीषेण विजय 'विश्वबंधु'

जैन धर्म की समस्त परम्पराओ मे उपाध्याय श्री यशोविजय जी का स्थान अप्रतिम है। उन्होने अपने प्रकाण्ड पाडित्य, अपूर्व प्रतिभा एव नवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा द्वारा जैन साहित्य और जैन दर्शन को जो नवीन मोड दिया, उसका भारतीय दार्शनिक साहित्य मे विशेष स्थान है। वे नही होते, तो यह अग एक प्रकार से अछूता ही रह जाता।

अन्य भारतीय विद्वानो की तरह हमे श्री उपाध्याय यशोविजयजी के बारे मे बहुत ही कम जानकारी है। पर स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने पुरुषार्थ से 'सुजस लहरी' प्राप्त की, उसी के आधार पर थोडी बहुत प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हो सकी है। सुजस लहरी' के अनुसार उपाध्याय श्री का जीवन इस प्रकार था।

उपाध्याय श्री गुजरात मे कलोल के पास 'कनोडू' नामक ग्राम मे पैदा हुए। उनके पिता का नाम 'नारायणभाई' तथा माता का नाम 'सौभागदे' था। उपाध्याय श्री के एक सहोदर भी था, जिसका नाम था 'पद्मसिंह'। एक बार सम्राट् अकवर के प्रतिबोधक प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हीरविजय सूरि की शिष्य परम्परा मे होने वाले पण्डित-वर्य श्री नयविजयजी महाराज पाटण के समीपवर्ती कुणगेर' नामक ग्राम मे पधारे। उनके प्रतिबोध से दोनो बधु अपने माता पिता की अनुमति लेकर उनके साथ हो लिए। दोनो ने स० १६८८ मे नयविजयजी महाराज के पास ही दीक्षा ग्रहण की। उसी साल आचार्य विजयदेव सूरि के हाथो उनकी वडी दीक्षा सम्पन्न हुई। दीक्षा के समय उन दोनो भाइयो का मूल नाम 'जसवत' की जगह 'यशोविजय' और 'पद्मविजय' रखा गया। उपाध्याय श्री ने अपनी प्रत्येक कृति के अत मे अपने भाई को सहोदर के रूप मे स्मरण किया है।

एक बार अहमदाबाद शहर मे यशोविजय जी ने सघ के सामने आठ अवधान किए। यह सम्वत् १६९९ का काल था। उपाध्याय श्री के अवधान से प्रभावित होकर एक धनजी सूरा नामक प्रसिद्ध व्यापारी ने गुरु नयविजयजी महाराज से प्रार्थना की कि मुनि यशोविजयजी को काशी जैसे विद्या-स्थान मे भेजकर अध्ययन करवाएँ तो जैन-शासन की बडी उन्नति होगी। इस कार्य के लिए उक्त सेठ ने उसी समय दो हजार चादी के दिनार की हुण्डी लिख दी। मुनि यशोविजय जी विद्या-अध्ययन के लिए काशी चल पडे और वहाँ किसी प्रसिद्ध विद्वान के पास रहकर न्याय आदि दर्शनो का तलस्पर्शी अध्ययन किया।

उस समय काशी मे यह परिपाटी थी कि जो विद्या-बल से विद्वानो को पराजित कर देता, उसे 'उपाध्याय' या 'आचार्य' की पदवी दी जाती थी। उपाध्याय जी ने वह पदवी काशी के विशिष्ट विद्वानो को अपनी प्रतिभा से पराजित करके प्राप्त की। उल्लेख तो ऐसा भी मिलता है कि उन्हे काशी के विद्वानो ने सम्मानपूर्वक आचार्य की पदवी प्रदान की थी। उपाध्याय श्री ने उसका उपयोग नयोपदेश जैसे एकाध ग्रन्थ मे ही किया है।

न्यायशास्त्र आदि के गम्भीर अध्ययन के बाद उपाध्याय श्री अहमदाबाद लौट गए। वहाँ उन्होने औरगजेब के मोहब्बत-खा नामक गुजरात के सूबे के अध्यक्ष के समक्ष १८ अवधान किए। उनकी इस चमत्कारिक प्रतिभा से आकृष्ट होकर सघ ने उन्हे उपाध्याय पद पर अधिष्ठित किया। आचार्य श्री विजयदेव सूरि के शिष्य आचार्य विजयप्रभ सूरि ने स० १७१८ मे उन्हे वाचक पद से विभूषित किया।

बडौदा स्टेट के दबोही ग्राम (डभोई) मे वि० स० १७४३ मे उपायाय श्री का स्वर्गवास हुआ। वि० स० १७४५ मे उसी स्थान पर उनकी पादुकाए प्रतिष्ठित की गयी, जहा जाकर आज भी अनेकानेक लोग विद्या-अध्ययन की प्रेरणा पाते है।

यह उपाध्याय श्री का बाह्य जीवन है। लेकिन उनका साक्षर जीवन सारे भारतीय दर्शन मे विशेष महत्व रखता है। जैन परम्परा मे होने के कारण ही वे यथेष्ट प्रसिद्ध नही हो पाए। यदि वे दूसरी परम्परा मे होते, तो आज उनकी गणना धर्मकीर्ति, शकराचार्य, रामानुज जैसे विशिष्ट विद्वानो मे होती।

९ वी शताब्दी के बाद उदयन तथा गगेश जैसे न्यायशास्त्र के विशिष्ट विद्वानो द्वारा न्यायशास्त्र ने एक नवीन प्रणाली अपनाई, जो नव्य न्याय के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे प्रायः सभी प्रमेयो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इस प्रणाली ने भारतीय साहित्य के सभी अगो पर इतना अधिक प्रभाव डाला है कि उस प्रभाव से शून्य प्रत्येक शाखा एक प्रकार से अविकसित समझी जाने लगी है। साख्ययोग, कणाद दर्शन, अद्वैत दर्शन, मीमासा, व्याकरण, छन्द-शास्त्र आदि समस्त अगो पर उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। इधर कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के बाद कोई ऐसा विशिष्ट विद्वान नही हुआ कि उस प्रणाली का विशेष रूप से अध्ययन कर जैन न्यायशास्त्र को उससे मण्डित करता। आचार्य हेमचन्द्र

के साहित्य पर भी इस प्रणाली का कोई प्रभाव नही दिखाई देता। उनके पहले केवल सप्तभगी तरगिणी नामक एक छोटी-सी कृति उपलब्ध होती है, जिस पर कि इसका प्रभाव है। उसके अलावा जहाँ तक दृष्टि जाती है, ऐसी कोई दूसरी कृति नजर नही आती। लेकिन उपाध्याय श्री ही एक ऐसे थे, जिन्होने नव्य न्याय से जैन वाड्मय को परिपूर्ण बनाया।

उपाध्याय श्री की प्रतिभा विविधगामिनी थी। उन्होने संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, मारवाडी आदि कई भाषाओ मे अधिकारपूर्ण लिखा। सारे भारतवर्ष में संस्कृत की प्रतिष्ठा होने के कारण उसमे रचना करने के लिए उद्यत होना सहज था। हमारे जैन आगमो की प्रारम्भिक भाषा प्राकृत है, इसलिए प्राकृत का मोह भी उनके लिए स्वाभाविक था। तीर्थंकरो द्वारा प्ररूपित भाषा से आकृष्ट होकर उन्होने इसमे अनेक ग्रंथों की रचना की। गुजरात प्रदेश मे जन्म लेने के साथ-साथ गुजरात ही अधिकतर उनकी विहार भूमि होने के कारण उन्होने गुजराती मे अनेक ग्रथो की रचना की। इसके सिवाय अध्यात्म-योगी आनन्दघन जी के सहवास से प्रभावित होकर उन्होंने मारवाडी मे भी कई रचनाएँ प्रस्तुत की।

ब्राह्मण परम्परा की तरह जैन परम्परा मे ज्ञान का स्रोत बहुत व्यापक नही रहा। वह केवल साधुओ तक ही सीमित रहा। इसलिए उपाध्याय श्री जैसे समर्थ शास्त्रकार की रचनाओ का उनके देहावसान के बाद विशिष्ट अध्ययन, अध्यापन नही हो पाया। यदि वे किसी दूसरी परम्परा मे होते तो उनके ग्रथो पर अनेक टीकाएँ तथा भाष्य लिखे जाते। अध्ययन की दृष्टि से भी उनका विशेष प्रचार होता। पर जैन परम्परा मे नव्य न्याय का विशेष अध्ययन न होने के कारण उनके ग्रन्थो को समझने की पात्रता बहुत कम लोगो मे रही। फलस्वरूप न तो उनके ग्रन्थो की अधिक प्रतिलिपियाँ हो पायी और न प्रचारात्मक दृष्टि से ही उन्हे जगह-जगह रखा गया। यही कारण है कि दो-सौ ढाई-सौ साल के इस अल्पकाल मे ही उनकी अनेक कृतिया काल-कवलित हो गयी। अब जो कुछ भी हैं, केवल उन्ही को आधार बनाकर कोई विद्वान उनमे सारा जीवन लगाए तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि अपना सारा जीवन बिताने पर भी वह उनका सर्वांगीण अध्ययन लिखित रूप मे उपस्थित कर सके तो भारतीय साहित्य मे वह एक बहुत बडी देन होगी।

उपाध्याय श्री ने अपनी छोटी सी आयु मे क्या नही लिखा? उन्होने जो कुछ लिखा और जितने विषयो पर लिखा, वह सब देखकर आश्चर्य होता है। प्रमाण, प्रमेय, नय, मगल, मुक्ति, आत्मा, योग, व्याकरण, काव्य, छन्द, अलकार, दर्शनशास्त्र आदि सभी तत्कालीन प्रसिद्ध विषयो पर उनकी कलम धारावाहिक रूप से चली। लगता है कि उनकी लेखनी सहज रूप से चलती ही गयी। कही बनावट नही। कही खटकने जैसी बात नही। कही शकाएँ उपस्थित होने की गुजाइश नही।

जैन परम्परा मे आचार्य हरिभद्र की योगशास्त्र मे बहुत बडी देन है। उन्होने योग दृष्टि से षोडषक, योगशतक, योग-दृष्टि-समुच्चय आदि अनेक ग्रन्थ लिखे है। उपाध्याय श्री ने उन्ही का अवलम्ब लेकर गुजराती मे 'आठ दृष्टिनी सज्झाय' नामक एक प्रसिद्ध रचना की। आध्यात्मिक दृष्टि से उनका

अध्यात्मोपनिपद बहुत ही मार्के की चीज है। हिन्दू दर्शन और बौद्ध दर्शन मे जिस प्रकार श्रीमद् भागवत गीता और धम्मपद का महत्व है, उसी दृष्टि मे उन्होने ज्ञानसार नामक एक अति उत्कृष्ट रचना पेश की। इस रचना मे अन्तर्मुख होकर अध्यात्म परायण जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के लिए प्रचुर मात्रा मे पाथेय प्राप्त होता है। जैन परम्परा का दुर्भाग्य है कि ऐसी उत्कृष्ट रचना का भी जन-साधारण मे प्रचार नही हो पाया।

उपाध्याय श्री के दो सौ, ढाई सौ साल वाद गुजरात के ही एक प्रज्ञा चक्षु विद्या की लालसा से प्रेरित होकर काशी पहुँचे। उन्होने उपाध्याय श्री की तरह ही समग्र भारतीय दर्शनो के साथ न्याय दर्शन का भी गम्भीर अध्ययन किया और उपाध्याय श्री की तरह ही उन्होने काशी के विद्वानो द्वारा न्याया-चार्य की पदवी प्राप्त की। उनका नाम है प० सुखलाल जी । पण्डित जी का प्रारम्भ से ही उपाध्याय श्री की कृतियो के प्रति बहुत आकर्षण रहा है। उनकी कृतियो का उद्धार करने के लिए वे अपने प्रत्येक छात्र से नव्य न्याय दर्शन का अभ्यास करने के लिए कहते रहते है। उनके अन्तेवासी के रूप मे काशी मे कई विद्यार्थी रह चुके है। उन्ही मे से एक मेरे परिचित है, पण्डित महेन्द्रकुमार शास्त्री। जब शास्त्री जी पण्डित जी के पास अध्ययन कर रहे थे, तो एक दिन पण्डित जी ने अपनी मन की बात व्यक्त करते हुए उनसे कहा— महेन्द्र मै चाहता हूँ कि तुम नव्य न्याय का अध्ययन करो। और श्री यशोविजय जी कृतियो का सम्पादन एव अनुवाद करने मे अपना जीवन लगा दो।" शास्त्री जी परिस्थितियो वश वैसा नही कर सके। लेकिन यह सच है कि पण्डित जी अपने मन की वह भावना व्यक्त करके ही चुप नही बैठ गए। उपाध्यायजी की जैन-तर्क भाषा, ज्ञान-बिन्दु आदि अनेक कृतियो की प्रस्तावना तथा टिप्पणो के सहित सुसपादन किया। उन्ही के बारे मे एक बात भी प्रसिद्ध है कि वे बहुत वर्षो तक वाचक यशोविजय जी के जीवन से परिचित होने के लिए आकुल रहे। उन्हे कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही हो रही थी। एक बार का जिक्र है कि स्व० मोहनलाल दलीचद देसाई रात्रि मे दस बजे पण्डित सुखलाल जी के पास 'सुजसलहरी' नामक एक छोटी सी पुस्तक लेकर आए। यह ऐसी कृति है, इसमे उपाध्याय श्री की सक्षेप मे जीवनगाथा है। उस कृति को देखकर पण्डित जी इतने भावविभोर हो गए कि उन्होने उसी समय मोहनथाल बनवा कर श्री मोहनभाई को खिलाया।

विद्वता की यह कसौटी है कि वह अति नम्र हो। उपाध्याय श्री मे यह गुण चरमकोटि का था। उनके इसी नम्रता गुण से प्रभावित होकर काशी मे रहते समय उनके गुरु ने अपनी सब विद्या उन्हे दी थी। विद्या प्राप्त करने के बाद जब वे गुजरात के लिए प्रस्थान करने लगे, तब उन्होने अपने गुरु से निवेदन किया कि 'आपको किसी भी चीज की अपेक्षा हो तो कभी गुजरात आइएगा'। एक बार सयोगवश उक्त गुरु गुजरात मे उसी स्थान पर पहुँचे, जहाँ कि उपाध्याय श्री जी पट्ट पर बैठकर व्याख्यान देते थे। सामने हजारो की सख्या मे परिपद् थी। लोग उनका अत्यधिक सम्मान करते थे। गुरू जी दूर से ही उनकी यह सब स्थिति देखकर स्तब्ध रह गए। पास मे जाने या न जाने का विचार करते

हुए वे असमजस मे ही खडे थे कि इतने मे दूर से उपाध्याय श्री की दृष्टि उन पर पडी। वे उसी क्षण पट्ट से उठे और सीधे गुरु-चरणो मे जाकर झुक गए। ऐसी थी उनकी विद्या-भक्ति!

उपाध्याय श्री की प्रतिभा के अनुरूप अल्प परिमाण मे भी हम उनके समान गुण-ग्राहकता, विद्याभिरुचि तथा नम्रता के गुण का विकास कर सके, तो यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाजलि होगी।
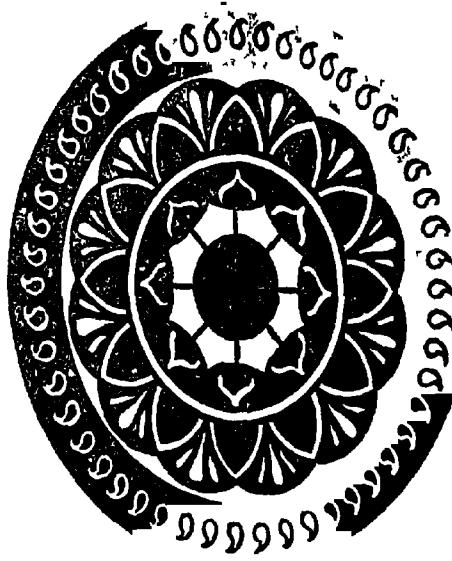
आचार्य हेमचन्द्र और सम्राट् कुमारपाल

●

विजयमुनि साहित्यरत्न

भारत का मानचित्र देखने पर तुम यह जान सकोगे, कि गुजरात कहाँ पर है? गुजरात पश्चिम मे है। यह भारत का एक प्रसिद्ध प्रान्त है। गुजरात के उत्तर मे मालवा और राजपूताना है। दक्षिण मे महाराष्ट्र है। आज के गुजरात की अपेक्षा प्राचीन काल का गुजरात बहुत विस्तृत और विशाल था। इसके राज्य की सीमा अजमेर तक आ पहुँची थी। यह एक बहुत बडा राज्य था। इसकी राजधानी पाटण थी। पाटण, उस युग के प्रसिद्ध और सुन्दर नगरो मे से एक था। शिक्षा, व्यापार और कला-कौशल का यह एक मुख्य केन्द्र था। यहाँ की कला, यहाँ की सस्कृति तथा यहाँ की सभ्यता का प्रसार और प्रचार दूर-दूर तक फैल चुका था। शिक्षा पाने के लिए और व्यापार करने के लिए यहाँ पर देश-विदेश के लोग आते-जाते थे। आज भी पाटण अपने ज्ञान भण्डारो के लिए विख्यात है।

यहाँ के राजा का नाम था—जयसिह। जयसिह राजा शूरवीर और पराक्रमी था। वह शासन मे कुशल और व्यवहार मे चतुर था। राजनीति का वह पण्डित था। युद्ध-कला मे वह प्रवीण था। अपने आस-पास के राजाओ को युद्ध मे जीत कर जयसिह ने गुजरात को विस्तृत एव विशाल बनाया। अपने राज्य को समृद्ध और सुखी बनाने का हर प्रयत्न उसने किया था। परन्तु जयसिह के अपनी कोई सन्तान न थी। उसके बडे भाई का पुत्र था—कुमारपाल। कुमारपाल ही जयसिह के राज्य का अधिकारी था। परन्तु जयसिह कुमारपाल से प्रेम नही करता था। अन्दर ही अन्दर वह कुमारपाल से घृणा करता था। जयसिह के मन मे कुमारपाल के प्रति क्रोध, वैर एव द्वेष बढता ही गया। उसने कुमारपाल को मरवाने के लिए अनेक बार प्रयत्न किए। किन्तु कुमारपाल बहुत सतर्क था और अपने चाचा जयसिह की दूषित भावना से बहुत परिचित हो गया था। अपने प्राणो की रक्षा के लिए कुमारपाल को वर्षों तक अज्ञातवास मे रहना पडा और इधर-उधर भटकना पडा। जीवन की रक्षा कोई सहज काम नही है।

अपने अज्ञातवास के कठिन समय मे भी कुमारपाल ने अपनी धीरता का और कष्ट-सहिष्णुता का परित्याग नही किया, वह साधु का वेष बना कर दूर प्रान्तो मे घूमता-फिरता रहा। न कही रहने का ठिकाना था, और न कही खाने-पीने का प्रबन्ध। कर्म की गति बडी विचित्र है। राजघराने मे जन्म लेकर भी कुमारपाल दर-दर का भिखारी बना फिर रहा है। न कोई सुख-सुविधा की पूछने वाला है, और न कोई दु ख-दर्द मे साथी है। जिस किसी मनुष्य के हृदय मे दया जगी, उसी के द्वार पर जो मिला—खा-पी लिया। जब कभी कष्ट आता है, तो अकेला नही आता। वह अपने साथ एक लम्बी परम्परा लेकर आता है।

परन्तु इस कष्ट मे भी कुमारपाल को एक प्रकार का मानसिक सन्तोष था। देश-विदेश मे घूमने से उसे नए-नए अनुभव मिले। भिन्न-भिन्न देशो की रीति-नीति के अध्ययन का अवसर मिला। अनेक भाषाओ का ज्ञान उसे हो गया। विभिन्न देशो की सस्कृति, कला और सभ्यता को देखने और परखने का समय मिला। विभिन्न लोगो के शील-स्वभाव से परिचित होने का मौका मिल गया। देश की गरीबी, अज्ञान और अवस्था का परिज्ञान हो गया। अज्ञातवास मे कुमारपाल को कष्ट अवश्य मिला, पर विशाल अनुभव-राशि की सम्पत्ति को पाकर वह प्रसन्न और सन्तुष्ट था। मनुष्य जो कुछ पाता है, कष्ट मे ही पाता है।

जयसिंह को उसकी प्रजा सिद्धराज के नाम से भी सम्बोधित करती थी। वह अपनी प्रजा को प्यार करता था, और प्रजा भी उसका आदर करती थी। सिद्धराज के पास विशाल राज्य था, अपार बल था, फिर भी उनके मन मे एक चिन्ता थी, कि मेरे बाद मेरे राज्य का अधिकारी कौन हो ? कुमारपाल को तो वह घृणा करता ही था। अत सिद्धराज ने चाहड नाम के एक क्षत्रिय पुत्र को अपना दत्तक पुत्र बना लिया, और उसका उत्तराधिकारी चाहड ही बने इस प्रकार की व्यवस्था की।

इधर कुमारपाल के दुखो का अन्त अभी नही आया था। जहाँ जरा भेद लगने जैसी आशका होती, तो कुमारपाल वहाँ से आगे के लिए प्रस्थान कर देता। घूमता-फिरता वह खभात जा पहुँचा। खभात का अधिकार उस समय महामत्री उदयन के हाथ मे था। उसी अवसर पर वहाँ आचार्य हेमचन्द्र भी पधारे हुए थे। महामत्री उदयन उपाश्रय मे अनुदिन उनके दर्शन को जाता था। घुमक्कड कुमारपाल भी एक दिन आचार्य की सेवा मे जा पहुँचा। कुमारपाल को देखने के साथ ही आचार्य हेमचन्द्र ने महामत्री उदयन से कहा—"निकट भविष्य मे ही यह व्यक्ति गुजरात का सम्राट बनेगा।" आश्चर्य हुआ। कुमारपाल के कष्ट चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। निराशा मे डूबे को आशा की एक किरण भी जीवन प्रदान कर देती है। आचार्य हेमचन्द्र की आशा-भरी वाणी को सुनकर कुमारपाल गद्‌गद स्वर मे बोल उठा—

"आचार्य प्रवर ! आपकी वाणी सिद्ध हो। यदि मुझ गुजरात का साम्राज्य मिल गया, तो वह आपका ही होगा। मैं तो आपका सेवक बन कर रहूँगा। आपके आदेश का पालन मै उसी प्रकार करूँगा,

जिस प्रकार महामुनि वशिष्ठ के आदेश का पालन राम ने किया था, और आचार्य भद्रबाहु के आदेश का पालन सम्राट् चन्द्रगुप्त ने किया था। आप मेरे गुरु होंगे, और मैं आपका शिष्य होकर रहूँगा।"

आचार्य ने शान्त और गम्भीर वाणी मे कहा—"कुमारपाल ! राजगुरु बनने की मेरे मन मे जरा भी अभिलाषा नही है। तुम मेरे शिष्य बनो, इसकी भी मेरे मन मे कामना नही है। राजनीति मे प्रवेश करना, मेरे साधु जीवन की मर्यादा भी नहीं है। 'बस' एक बात का ध्यान रखना कि जब तुम गुजरात के सम्राट् बनो, तब अपने राज्य मे अहिंसा का प्रचार और प्रसार करना। तुम स्वय भी अहिंसा का पालन करना और अपनी प्रजा मे भी अहिंसा का पालन करवाना। अपने राज्य का पालन सदा अनेकान्त के आधार पर करना। सदा समन्वय बुद्धि से काम करना। आचार मे अहिंसा और विचार मे अनेकान्त रहा, तो तुम भी सुखी रहोगे और तुम्हारी प्रजा भी सुखी रहेगी।"

महामत्री उदयन कुमारपाल को अपने घर ले गया। स्नान कराकर उसे भोजन कराया। कुछ मार्ग-व्यय देकर उसे अपने घर मे विदा किया। कुमारपाल घूमता-घूमता मालवा मे पहुँचा। वहाँ पर उसे यह समाचार मिला, कि सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु हो चुकी है। वह तुरन्त पाटण आया। कुमारपाल ने अपने बुद्धि-बल से और अपने पराक्रम से राज्य सिंहासन पर अधिकार कर लिया। जिस समय कुमारपाल ने राज्य पर अधिकार किया, उस समय उसकी अवस्था पचास वर्ष की थी। आचार्य हेमचन्द्र की भविष्य-वाणी को सफल देख कर उसके मन मे आचार्य के प्रति भक्ति एव श्रद्धा निरन्तर बढने लगी। वह उन्हे अपना गुरु बनाना चाहता था।

कुमारपाल को राज्य तो मिल गया परन्तु अभी तक उसके दुर्दिनो का अन्त नही हो सका। जयसिंह के पुराने मत्रियो ने षड्यन्त्र करके उसे मार डालने का भरसक प्रयत्न किया, पर वे सफल नही हो सके। सिद्धराज का दत्तक पुत्र चाहड भी सेना लेकर पाटण पर चढ आया, किन्तु कुमार-पाल के पराक्रम के सामने वह टिक नही सका। कोकण देश का मल्लिकार्जुन भी कुमारपाल से वैर रखता था, उसे भी कुमारपाल ने हराया। अजमेर के राजा सपाद से भी कुमारपाल का बहुत काल तक सघर्ष चला, आखिर वह भी हार गया। लगातार दश वर्षों तक कुमारपाल को आस-पास के राजाओ से युद्ध करना पडा। सघर्ष से मनुष्य का चित्त शान्त नही रहता। युद्ध के दिनो मे उसे अपने प्रियजनो की स्मृति भी नही रहती। सघर्ष-रत मनुष्य के सामने एकमात्र यही लक्ष्य रहता है, कि मुझे सफलता मिले, और कुमारपाल को वही मिली।

सघर्षों से विरत होते ही शान्ति के मधुर क्षणो मे कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र का स्मरण हो आया। उन्हे अपना गुरु बनाने की उसकी उत्कट अभिलाषा थी। कुमारपाल अभी तक शैव था। शैव-धर्म मे उसकी निष्ठा थी। परन्तु आचार्य के अहिंसा और अनेकान्त के उपदेश से वह जैन बन गया। पाटण मे पधारने की उसने आचार्य से प्रार्थना की—"कुमारपाल के सहयोग से मैं अहिंसा, अनेकान्त

और अपरिग्रह का अधिक प्रचार और प्रसार कर सकूँगा।" यही सोचकर आचार्य हेमचन्द्र अपनी शिष्य-मण्डली को लेकर पाटण पधारे। कुमारपाल ने खभात के शासक उदयन को अपने विशाल साम्राज्य का महामन्त्री बनाया और उसके पुत्र वाग्भट को अपना अमात्य बनाया। महान् व्यक्ति कभी अपने उपकारी को भूलता नही है। दुर्दिनो मे की गई महानुभूति फल प्रदान करती है। फिर कुमारपाल अपने उपकारियो को कैसे भूल सकता था ?

कुमारपाल एक योग्य प्रशासक था। अल्प-काल मे ही उसने अपनी न्याय-प्रियता से, प्रजा-प्रेम से, और दान-दया-शीलता से प्रजा के हृदय पर भी अधिकार कर लिया। कोई भी राजा मात्र राज्य-सिंहासन पर अधिकार करने से ही राजा नही बन सकता। सच्चा राजा बनने के लिए प्रजा-जनो के हृदय को जीतना भी परम आवश्यक है। उसकी प्रजा-वत्सलता से उसकी प्रजा उस पर मुग्ध थी। उसकी दान-शीलता से और उदारता से सब लोग प्रसन्न थे। कुमारपाल सोने के राज्य-सिंहासन पर ही नही बैठा था, उसने अपनी प्रजा के हृदयासन पर भी अधिकार कर लिया था। अति कठोर राजा अपनी प्रजा के प्रेम को नही पा सकता। अति मृदु राजा अपनी प्रजा पर शासन नही कर सकता। किन्तु कुमारपाल ने अनेकान्त की साधना से अपने जीवन को समन्वयात्मक बना लिया था। न्याय की रक्षा के लिए वह वज्र से भी अधिक कठोर था, और प्रजा के दुख-दर्द मे वह फूल से भी अधिक कोमल था। कुमारपाल सच्चे अर्थ मे राजा था। उसके राज्य की सीमाएँ—महाराष्ट्र, मालवा और राजस्थान तक फैल चुकी थी, इसीलिए वह गुजरात का सम्राट् एव चक्रवर्ती कहा जाता था। क्योकि गुर्जर, सौराष्ट्र, कच्छ, सिन्ध, कर्णाटक, लाट, कोकण, कीर, उच्च, भभेरी, मरुधर, मालवा, मेवाड, अजमेर, दिल्ली, जागलक और जालधर तक उसका राज्य फैल चुका था।

कुमारपाल का ये सब गुण पैतृक परम्परा से प्राप्त थे। सोलकी कुल मे कुमारपाल का जन्म हुआ। कुमारपाल के बाबा का नाम भीमदेव था, जो अपने युग के प्रसिद्ध योद्धा और पराक्रमी पुरुष थे। भीमदेव का पुत्र हरिपाल, हरिपाल का पुत्र त्रिभुवनपाल, और त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल था। कुमारपाल की माता का नाम काश्मीरी देवी था। काशमीरी देवी के पाँच सन्तान थी। दो पुत्री—प्रेमल देवी और देवल देवी, और तीन पुत्र—महीपाल, कीर्तिपाल और कुमारपाल। कुमारपाल सबसे छोटा था। परन्तु उसमे अनोखा रूप था, अनोखी बुद्धि थी, अनोखा पराक्रम था, और अनोखा धैर्य था। कुमारपाल मे सुदृढ सकल्प बल था। अपनी शारीरिक और मानसिक विशेषताओ के कारण ही कुमारपाल गुजरात का सम्राट् बन सका था।

कुमारपाल के मन मे आचार्य हेमचन्द्र के प्रति अनन्य निष्ठा, आस्था और भक्ति-भावना थी। गुरु-शिष्य की यह अमर जोडी अद्भुत और बेजोड थी। कुमारपाल की प्रार्थना पर आचार्य अनेक बार पाटण पधारे। कुमारपाल ने अपने राज्य मे अहिंसा और अनेकान्त का खूब प्रचार किया था। उसने सम्यक्त्व-मूलक द्वादश व्रत अगीकार किए थे। सात कुव्यसनो का परित्याग तो वह बहुत पहले ही कर

चुका था। मास और मदिरा का त्याग भी वह तभी कर चुका था, जब खंभात मे प्रथम बार उसने आचार्य के दर्शन किए थे। अपने राज्य मे अहिंसा का प्रसार करने से पूर्व वह अहिंसा को अपने जीवन व्यवहार मे उतार चुका था। अनेकान्त की शिक्षा भी उसे आचार्य से मिली थी। अत वह प्रत्येक धर्म के प्रति समभाव रखता था। किसी भी धर्म का अनादर वह नही करता था। स्वय वह जैन आचार और जैन विचार का पालन करता था। अपने समस्त राज्य मे उसने अमारी की घोषणा कर दी थी। जो व्यक्ति किसी की व्यर्थ मे हिंसा करता था, उसे सम्राट् कठोर दण्ड देता था। बलि के लिए कुमारपाल ने कठोर प्रतिषेध कर दिया था। कुमारपाल का समस्त साम्राज्य अहिंसा और अनेकान्त के सिद्धान्त पर ही चलता था। उसने स्वय अपने व्यक्तिगत जीवन मे अपरिग्रह के सिद्धान्त का भी कठोरता से पालन किया था। कुमारपाल का शासन अहिंसा, धर्म और अनेकान्त की सस्कृति पर अवलम्बित था।

एक बार शैव लोगो ने आचार्य हेमचन्द्र की कुमारपाल से यह शिकायत की—यह समभाव की और समन्वय की कोरी बाते करते है। यदि यह सच्चे समभावी हो, तो सोमनाथ के मन्दिर मे जाकर इन्हे वहाँ नमस्कार करना चाहिए। यह बात आचार्य के कानो तक भी जा पहुँची। वे सोमनाथ के मन्दिर मे गए और हजारो लोगो के सामने तथा कुमारपाल के सामने शिव की इस प्रकार स्तुति की—

जिसके राग और द्वेष क्षय हो गए है, वही वस्तुत महादेव है, उसे मै नमस्कार करता हूँ। भले ही वह किसी भी पन्थ मे हो, किसी भी परम्परा मे हो, जिसने राग और द्वेष पर विजय प्राप्त कर लिया, वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो, बुद्ध हो अथवा जिन हो, उसे नमस्कार करता हूँ।"

आचार्य हेमचन्द्र के इस समभाव को, इस समन्वय बुद्धि को और इस अनेकान्त की साधना को देख कर वहाँ उपस्थित सभी लोग दग रह गए। सभी आचार्य के समभाव की प्रशसा करने लगे। कुमारपाल के मन मे अपार हर्ष था ही।

आचार्य हेमचन्द्र अपने युग के प्रकाण्ड पण्डित थे। न्याय, व्याकरण, छन्द, कोष और विविध साहित्य पर इनका अधिकार था। अत उस युग के विद्वान् लोग इनको कलि-काल सर्वज्ञ कहते थे। कुमारपाल की प्रार्थना पर उन्होने उसके प्रतिबोध के लिए "योग-शास्त्र" और "शलाका-पुरुष-चरित्र" की रचना की। ये दोनो ग्रथ आज भी उपलब्ध हैं। बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रथ है। चौरासी वर्ष की अवस्था मे आचार्य का स्वर्गवास हो गया। स्वर्गवास के समाचार सुनकर कुमारपाल को बडा शोक हुआ। वह अपने आप को एक अनाथ-सा अनुभव करने लगा। परन्तु योग-शास्त्र के अभ्यास से वह शीघ्र ही शोक-मुक्त हो गया। छह मास के बाद गुजरात के सम्राट् कुमारपाल भी स्वर्गवासी हो गए। गुजरात का यह पराक्रमी, वीर और शूर सम्राट् मर कर भी आज अमर है। वह एक युग-निर्माता पुरुष था।

★

RELIGION
and
Philosophy

PHILOSOPHY AND RELIGION

Editor

Dr. B B. JAIN, M. A., Ph. D.

GURUDEVA SHRI RATNA MUNI SMRITI GRANTHA

English Section

Publisher
GURUDEVA
SMRITI GRANTHA SAMITI

EDITORIAL.

The basic elements of Indian Culture are penance, sacrifice, and renunciation These elements have been harmoniously and inseparably blended into the life of the people Renunciation, rather than enjoyment, lies at the root of Indian culture. Our culture is basically spiritual rather than materialistic It symbolises the victory of spiritualism over materialism It marks the victory of the soul over the body, of continence over indulgence It enshrines the blending of nobility of thought and intention with nobility of life, conduct and action

The revered saint, Shri Ratan Chand ji Maharaj, was one of the greatest champions and protectors of this eternal Indian culture, one of the most enlightened preceptors and interpreters, a torch-bearer emanating spiritual light and glory that will, for ever, steer clear the barque of human soul through the dark ocean of eternity He symbolised in himself a harmonious blending of purity of thought and nobility of action Having conquered himself, he rose to be the conqueror of the world He was an ocean of learning, but he never prided himself over the possession of this rarest of treasures He effected unprecedented renunciation without attaching himself to renunciation He underwent rigorous penance but never propagated it He lived a life of exemplary austerity but never professed it. He was a saint the like of whom is born but once in ages

Birth, growth, death—this is the whole story of human life But the life of this renowned preceptor was much more than this He was born with a mission in view and dedicated his entire life to achieve that mission. His mission of life was service of humanity and this he accomplished to a degree rarely accomplished before. Thus he lived and thus he died, never to be born again and therefore never to die again

Childhood, youth, age—this is the history of the life of man. But this revered saint gave a new turn to this conventional pattern of life. He did not spend his childhood in mirth and gaiety but in the acquisition of knowledge He devoted his youth not to indulgences of any kind but to the practising of continence and penance His age was not a curse but a blessing This revered saint made an offer of his life at the shrine of the ultimate good and well-being of mankind

This revered saint was born on the fourteenth day of the sixth month of the Vikrami Samvat 1850, in a small village, Tatija, in Rajisthan At the early adoloscent age of 12, in 1862, he renounced the world and offered himself as a disciple to the most revered saint and preceptor, Shri Har ji Mal Ji Maharaj His father Shri Ganga Ram ji and mother Swarupa Devi ji felt gratified in dedicating their beloved son to the great preceptor The revered Ratan Chand ji possessed an in-

satiable thirst for knowledge from the very beginning He was in search of a spiritual teacher and guide who could satisfy his craving for knowledge and resolve his doubts and queries He who seeketh findeth He who knocketh, the door is opened unto him He discovered in the renowned scholar, Shri Laxmi Chandra ji Maharaj, a preceptor and scholar, a logician and erudite philosopher he had been looking for Sitting at his feet for a number of years, he devoted himself to the study of intricate problems and propositions of religion, logic and philosophy. With these he studied astronomy and ancient Indian languages like Sanskrit, Prakrit and Apabhransh He also studied the popular dialects of the day

The acquisitions of a great man are the treasures of mankind. The revered Shri Ratan Chand ji Maharaj diffused and propagated his acquisitions in religion, logic, metaphysics and philosophy throughout the length and breadth of Punjab, Rajisthan, Uttar Pradesh and Madhya Pradesh The revered hri Amar Singh ji Maharaj and Surishwar Vijayanand ji Maharaj are among his most renowned disciples Shri Katan Chand ji Maharaj was universally recognised and acknowledged as one of the most renowned scholars and thinkers of his age. There was astonishing force, fluency and vigour in his voice and language. He could enchant and mesmerise his hearers by his eloquence and the melody of his words These acquisitions always helped him in winning over his contestants in philosophical and metaphysical discussions He held the famous metaphysical discussions and contests with Shri Ratan Vijaya ji in Lashkar and with Shri Jeet Mal ji in Jaipur

Shri Ratan Chand ji was also a renowned poet, and author of his age His deep and wide studies, and his impressions and experiences of the world, found expression in many of his famous books Many of his famous books are available even today The most notable of his scholarly works are *Nav Tatwa*, *Moksha Marga Prakash*, and *Gunsthan Tivaran*. He was also a successful poet He wrote highly devotional and renunciatory poetry in soft flowing melodious verse. His *Sagar Charita* and stray metaphysical lyrics are still popular with the masses

However, he who is born is destined to die. The paths of glory lead but to the grave On the last day of the month of Vaisakh, Samvat 1921, this sun of the firmament of Jain religion set. The revered saint left his earthly abode at Jain Bhavan, Lohamandi, Agra, in Uttar Pradesh Having performed the last penance, the Santhara, he attained salvation. The sun has set indeed, but the light that he shed on the world will continue to illumine and guide the seeker after truth till eternity Great spirits never die The splendours of the firmament of time may be eclipsed, but they are extinguished not. The revered saint Shri Ratan Chand ji Maharaj is not dead, he can never die. He yet lives in the hearts of his disciples and devotees, he lives in his edicts, he lives in the glorious hierarchy of the renowned saints and scholars that he has left behind him.

B. B. JAIN.

CONTENTS

This is my prayer, my lord—
Strike, strike, at the foot of penury in my heart.
Give me the strength lightly to bear my joys and sorrows.
Give me the strength to make my love fruitful in service.
Give me the strength never to disown the poor my knees before insolent might.
Give me the strength to raise my mind high above daily trifles.
And give me the strength to surrender my strength to thy will with love.

Ravindra Nath Tagore.

To the Morning Star of Jain Firmament

Jagdish Prasad Jain, M. A.

O, flash of wisdom !
Shimmering through the vapoury ignorance,
Enlightened
The bewailing human hearts
Into the dungeon horrible :
A drop of nectar, shook—
Trickling down the earth from Heaven's eye,
Parried, shone on petals,
Of everblooming thirst of Passion,
Extinguished He like true hero,
And preached
In guise of the greatest Jain saint,
"How soul is entangled
Round the twig of knotty Illusion ,
To enfranchise the soul like dove
From well-built, barred, enchanted cage,
Man ought to extinguish
The burning rod of anguish
In multitude
The offspring of actions"
That action is the root
Of its disguise in numerous forms—
Sometimes in heaven, sometimes on earth,

Thus swings in cradling death and birth ;
Ay, actions good or bad
Are but of equal fate,
That doth it flow
In different worlds, in different mood
Getting the different air and food :
Easier it is to sovereignise
Over the dead external things,
And worlds—the earth, the moon, the stars,
But it is as hard nut to crack,
One's mastery over one's spirit
This is the very mask
Soul hast for itself wrought
Unwisely to be thought
The mundane pleasures and lusty task
Should be all and be end all
Of present life.
But alas ! it hast forgotten,
"That within itself doth flow
A crystal cataract
With fainting but eternal tunes,
Because of confusive humbug
Is heard no more
Its clear and the sweetest cadences."
Later He unscreened and placed
The Truth within a garb divine
Not only to his own epoch
But also to advent era,
And blew in a heroic tone
At a moment of celestial expedition,
'A March To Salvation'
His presence proved a beauty laden Spring
Over the misty bosom of frozen Winter
As rosy moon in his violet car
Rises slowly on dark and pensive firmament ;
Poor night
With her brooding and sober mates
Once flies and flies far away.

Being shrunk into a corner of oblivion,
Yet still reigns its fierce shadow
In barren hearts of deadlier faith.
As a star of hope—
Twinkled from afar,
Unbounded with the false ostentation,
Expressed its immortal cravings
For something unattainable
At a long distance, gone
Thou hast gone from this world of facts
And left for us
A dowry of sweet memoirs
In thy preachings of solemn thoughts ;
Ye, never shrunk

Beholding the dark clouds of misery
But rushed to cling with hands stretching
As if acquainted long
Alas, a loss is done but is resumed !
For though the Sun has gone
Yet the Moon is on her throne
In a shape of 'Immortal Moon'.

And like level of piety doth ensue in him.
No more his soul sublime
Will see Jain bower's decline
In future to advent ,
But his snowy winged well wishes
Linger in rolling waves of Times
And hover round the Jain shrines
To watch the constant bloom
Or wide spreading gloom
Like the brightest spark of Day
Kindles the folding hearts of buds,
Nodding briskly on a twig of time
To breathe content, to raise fragrance
To show its different tint and sense,
Producing the celestial rhyme
Unheard, climb up the peak of May.
Lo, preaches he,

'A thing which seems senses charming
Is of a matter, a container,
Impregnant with the load divine
Of Beauty but unsubstantial ·
She draws a draught of sacred Love
Like cosmopolitan, fluttering dove
Cooes in each heart with mystic tone
Apparelled in rosy hue, soaring
Till the last point of Heaven ,
But as a prey of cruel fate
Unto a heavy, mighty pressure
Of stormy Lust,
That darling Love doth fall down
On stern ground,
And taketh breathings last, expire .
That cruel lust,
Who brings up monstrous Violence ;
With his fierce eyes but darkish red
Holding a sharp edged, long, curbed, sword,
In hands blood besmeard,
Doth hew the corpse of feebleness
Though, tender, sweet and chaste in form.
To crush its tyrannous chaos,
From distant lofty tower of Blue.
Mighty trumpet blows, mighty Truth,
Resounding deep dales of wisdom :
Infuseth the spirit of zeal
In hearts of slumbering Non-Violence,
She went forward
And encountered
Her foe ;
Ah, she came out victorious glad !
Melting the stone like his heart
In a heap of low lying sand smooth.

Introduction of Syadvada

Muni Jinvijaya.

Jainism is really a pluralistic doctrine called Anekantavada (अनेकान्तवाद) or Syadvada (स्याद्वाद). Anekantvada means assuming various qualities or properties in an object Syadvada means the assuming of one quality or function in an object from some particular point of view for a time not for all times The Anekant or Syadvada may therefore be called a doctrine of an unlimited variety of points of views This doctrine points to the relativity of knowledge concerning all the objects of the world. The force which constitutes the specific form of an object is its reality. It is in consequence of this reality that an object is called real in Jainism

According to Syadvada philosophers, a thing that is real has three characteristics,—production, destruction and stability Every object that seems to be stable is liable to both production and destruction. Take for instance, a mango tree It always appears to bear leaves. Do all these leaves always remain the same? No, the leaves which we see on it this year, would not remain the same next year. The leaves that it bore last year, have died out this year, and the leaves that we see this year, will disappear next year Just as this mango tree, always seeming to bear leaves, is liable to the changes of production and destruction in so far as its leaves are concerned, so this world, appearing to be stable in some parts, is always undergoing changes of production and dissolution in other parts The stable part of an object is called *Dravya* (Substance) and its unstable parts undergoing production and dissolution, Paryaya or phenomenal changing form All objects are eternal in their aspect of Dravya or substance but non-eternal in their aspect of Prayaya or phenomenal form. It may be borne in mind that a substance and its

changes are not intrinsically different One is vitally related to the other Thus all objects are numerously inter-related to one another. According to the Jain philosophy, the specific or individual form or essence of an object cannot be established, unless the fact of its interrelations is admitted. When we speak of a man, the relative knowledge of objects other than that of man, springs up of itself. Similarly, when we speak of Aryans, the idea of non-Aryans springs up , when we speak of Indians, the idea of non-Indians or foreigners simultaneously springs up. The idea of virtue suggests the idea of vice , the idea of justice that of injustice. Thus the knowledge of one thing unavoidably suggests the relative knowledge of other objects This doctrine of pluralism has been elaborated to show that an object has various qualities or functions from the point of view of the relativity of knowledge. Lord Mahavir, keeping it in view, said that a man who knows only one object together with all its properties, knows all things He may be said to be all-knowing.

The Jain philosophy considers all objects real unreal, and real and unreal at the same time An object is real in view of its nature, time, place etc. and unreal in view of the nature, time, place etc , of other objects

Man, from the point of view of the essential qualities of man, is real and from the point of view of qualities contrary to them, unreal In this way a man is real and unreal, and real and unreal at the same time from the view point of this pluralistic argument. The world 'Siat' (may be) is used to denote the reality and unreality etc of objects. It means 'somehow' 'may be' 'perhaps', etc If you ask whether a thing exists, the answer would be 'may be' it exists, that is, it exists from some particular point of view. This statement naturally leads one to think that it does not exist some from other point of view The adoption of such an attitude in looking at things is called Syadavada or Pluralism. Its synonym is 'Anekantvada', that is, looking at a thing from a variety of view points. The word 'ant' in 'Anekantvada' signifies determining or judging of a thing definitely To say definitely that a thing is real or to say that a thing is unreal, in other words, looking at a thing from only one point of view and then attempting to determine its nature definitely is called Ekantvada or monistic argument To consider a thing real from some particular point of view, to consider it unreal from some other point of view, or to consider it both real and unreal from a third point of view is Anekantvada or Pluralistic argument

The Syadvada philosophers in conformity with this pluralistic doctrine, recognize every thing to be eternal or non-eternal or having innumerable properties. This method undertakes to look at a thing in all its aspects and relations from a variety of view points and then to deduce full and complete knowledge of it. Different

philosophers and thinkers have judged of the various objects of the universe from various points of views It would be well, if, by resorting to the Pluralistic argument, their different theories or opinions are compared and truth shifted from the un-truth This should be the aim of this pluralistic dialectics

Those who have not looked minutely into the merits of Syadvada doctrine, doubt (many have doubted so in the past) its soundness in as much as its mutually a conflicting characteristics or qualities such as eternal and non-eternal etc, existing in a thing at the same time According to it, contradictory qualities as cold and heat can exist in one object at the same time This objection can well be met by the explanation of the Syadvada doctrine as given above, but it would be well to illustrate it by an example

When this doctrine recognizes in an object what would appear to be conflicting qualities, it does not do so dogmatically from a determinative point of view It does so only in view of the various points of view from which a thing can be seen and judged From the points of view of family relations, a man can be a father, a son, a grandfather, a grandson, an uncle, a maternal uncle, a great grandfather, a brother, a nephew, a cousin, a father-in-law, a son-in-law, a brother-in-law etc. etc at the same time Just as these various apparently conflicting relations can be spoken of in respect to a man, so mutually contradictory qualities can be attributed to all other objects of the world In this way contradictory qualities or functions can be spoken of in respect to things

The points of view in regard to the examination of objects are not more than seven according to the Syadvada doctrine They are called Bhangas or Premises. Just as 3 and 4 make 7 according to the rules of Arithmetic, so only seven points of view can be set forth concerning the reality and unreality of things according to the pluralistic doctrine. Answering the seven questions arising from these seven points of view, is called the Saptbhangi Naya or the Pluralistic argument The seven premises are primarily these —

1st—May be it exists.

2nd—May be it does not exist.

3rd—May be it exists and does not exist

4th—May be it is indescribable.

5th—May be it exists and is indescribable

6th—May be it does not exist and is indescribable

7th—May be it exists and does not exist and is indescribable.

This philosophical doctrine is very abstruse and recondite To understand its truth thoroughly presupposes a considerable knowledge of philosophy The philoso-

phers teaching this doctrine have written voluminous works to explain and expound its truth and subtlities. If this method of thinking is adopted in looking at the various religious tenets and philosophical creeds prevailing in India, which appear to be mutually conflicting, occasioning considerable differences of opinions, a perceptible change towards their reconciliation might occur.

Lala Kannomal M A. has briefly explained the subtlities and merits of this pluralistic doctrine called Saptbhangi Naya. Briefly, but very lucidly, he explains the main principles of this doctrine, and it is hoped that the lover of philosophical truth would derive benefit from it.

The following is an extract from a speech recently delivered in Gujarat by Professor Anand Shankar Dhruva, a well-known Scholar :—

"The Syadvada doctrine has been given to the world after carefully sifting out the truth of a variety of philosophical doctrines. It does not originate, as some seem to think, from a vague indefinite and doubtful mental attitude in regard to things It gives a practically definite knowledge of a thing from a particular point of view Unless an object has been viewed and judged from variety of points of view, we cannot have its thorough knowledge. For gaining such a knowledge, the Syadvada doctrine is a specially fitted and useful instrument. There are people who say that this doctrine—the doctrine propounded by Lord Mahavir, is a doctrine of doubt. I do not agree with them. The Syadvada doctrine is not a doctrine of doubt. It enables a man to look at things from a wide and liberal view It teaches us how and in what manner to look at the things of this universe."
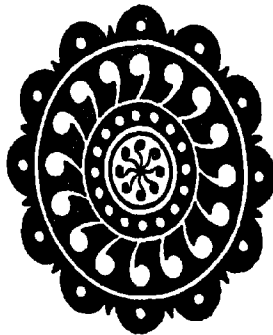
Jainism in Indian History.

Dr Bool Chand Jain.

The Sramanic and Brahmanic cultures.

The system known as Hinduism represents a highly composite culture. Its forms of development have been many and various, although there has been a certain kind of fundamental unity of ideas underlying these diverse forms of development Broadly speaking, two lines of thought with their different forms, beliefs, and objects and methods of development have been marked in Hinduism from quite early times—the Sramanic and the Brahmanic The Brahmanic or the Vedic was the line developed by the Aryans when they came and occupied the country about 2,000 years before the birth of Christ. Of this the Veda became the main vehicle. Naturally the Brahmanic culture in India took its stand upon the infallibility of the Vedas, and regarded the Vedic revelations as embodying eternal moral and spiritual truths. These moral and spiritual truths largely centred round the performance of sacrifices, and the Vedic hymns necessarily contained prayers to gods and ritualistic formulae in connection with the performance of sacrifices Personally the Aryans were very practical-minded and so these sacrifices were mostly due to gods who were merely deified forces of nature. But of the Brahmanic culture the character was inevitably oligarchical, marked by the distinction between the Aryans and the aborigines, who were called by all sorts of derisive names like Dasyus, Asuras etc, and by the division of the Aryan community itself into castes and classes. Comparative sociology of the various branches of Aryans in ancient times reveals beyond doubt that wherever the Aryans went they set up an hierarchical structure and

followed the rule of endogamy in order to preserve their supremacy and purity against the original inhabitants of the countries

Contrasted with this, the Sramanic culture, which is presumably represented by the communal ethos and the more cosmopolitan outlook of the pre-Aryans in India, started from the denial of all authority in religion and insisted upon the efficacy of personal effort and personal experience for the realisation of truth and virtue In the place of retualistic performances, the Sramanic line laid emphasis upon the need of personal discipline and organised life, including the practice of penances, fasting etc. The underlying beliefs of the Sramanic thinkers were universal presence of life, and following from it, the principles of karma and the transmigration of soul, which principles incidentally came to be accepted by the Aryans also in the course of time. But unlike the Brahmanic system, with its organisation of of castes and classes, the Sramanic system never admitted the justification of class distinctions within its spiritual beliefs. Indeed, in contrast with the hierarchical foundations of Brahmanic culture, the Sramanic culture always remained intensely democratic and cosmopolitan.

Jainism and Buddhism

Of the Sramanic system in Hindu culture, the two important instances are afforded by the religions known as Jainism and Buddhism. From time to time there have been other doctrines and sects also, which preached the need of personal efforts and experience for the achievement of perfection as constrasted with the ritualistic worship of the Diety and the performance of sacrifices. In the Buddhist text, *Digha-Nikaya*, there are references to numerous sects of that kind. But such sects had at best but a local and immediate importance, and only Buddhism and Jainism assumed the position of distinct religions Of these two Jainism was admittedly the older, the Buddhist references to the Niganthas (Jaina 'monks) show them to be quite an old and well established order.

Jaina tradition traces Jainism to a remote antiquity represented by a succession of twentyfour tirthankaras or prophets of whom the first was Rsabha, who renounced his kingdom in favour of his son Bharata and became an ascetic, and the last two were Parsva and Mahavira, both were accepted to be historical personages. Parsva lived in 8th century B C. and died about 250 years before the death of Mahavira The relations between Mahavira and Parsva are indicated in an old canonical text giving an account of a meeting between Kesi, a young Sramana of the school of Parsva, and Gautam, a disciple of Mahavira Both Kesi and Gautama had a crowd of disciples, and their disciples were troubled by the following questionings

Is our law the right one, or is the other Law the right one? Are our conduct and doctrines right, or the other?

The Law as taught by the great sage Parsva, which recognises but four vows or the law taught by Mahavira, which enjoins five vows?

The Law which forbids clothes (for a monk), or that which allows an under and upper garments?

Knowing the thoughts and doubts of their disciples, the two teachers decided to meet for a settlement, Gautama calling on Kesi by way of courtesy due to his being a follower of the older section (of the church) Their meeting became a big one, as there assembled many heretics out of curiosity and many thousands of laymen. At this meeting, the differences between the two sections were explained away by stating that the various outward marks of religious men introduced to distinguish them do not count towards final liberation, but only towards knowledge, faith and right conduct It seems that this meeting did not result in complete absorption of the two sections and that the two Orders continued to retain their distinction in the time of Mahavira, for the Majjhima Nikaya mentions how Saccaka, the son of a Nigantha, boasts of his having vanquished in disputation the Nataputta (Mahavira).

In view of the above, it is possible to argue that although the Jaina tradition insistently claims for Jainism a hoary antiquity represented by a succession of twenty four prophets, the creed propounded by these prophets, was not always absolutely identical and could be spoken of as Jainism merely in a rough and broad way, that in fact Jainism as preached by these prophets did not refer to all the various outward marks of religious men introduced to distinguish but could be called a system merely with reference to the underlying spirit of the creed preached by them It is arguable that in the context of our analysis Jainism was a cultural pattern, which flourished in variovs parts of the country long before the coming of the Aryans, which put its emphasis upon penances and austerities, which put its faith in the presence of universal life in animate as well as seemingly inanimate substances, which accepted the principle of transmigration of soul, and which admitted the possibility of the attainment of the highest truth by people of all sects, classes, races and sexes. A cultural pattern like that was necessarily divergent from the practical, ritualistic and the essentially exclusive and oligarchical culture of the Aryans, and possibly in speaking of the earlier Tirthankaras, often differing from each other in their complexion, stature, longevity, and separated from each other by long stretches of time, the Jaina canon was doing no more than admitting its kinship with the various indegenous practices of the country, or at best appropriating to itself the many saintly orders which existed in India before the coming of the Aryans Certainly, the rationalisation of the Jaina,

as also of the Buddhist, religion in the 6th century B C. in the province of Bihar where Aryan colonisation was about that time still going on, vitally marked the adoption by Ksatriya Aryans, in their annoyance against the Brahmanic absurdities of heirarchical and ritualistic developments of the existing pre-Aryan culture.

Role of Mahavira in Jainism

Having thus come into the ken of Hindu thought in the forms of Buddhism and Jainism, this pre-Aryan Siamanic culture became a permanent feature of it. The credit for that, so far as Jainism is concerned, is due entirely to Mahavira Although twentyfourth in the succession of Jaina tirthankaras he was fact the founder of the Jaina doctrine His parents were the worshippers of Parsva and followers of the Sramanas and he himself followed the Sramanic path of extreme self-mortification before he became an Arhat, a Jina or a Kevalin But having attained that position, he systematically defined his system and religion Starting with the theory of Karma, he believed that its inevitable effect was to create an endless series of births and deaths i. e transmigration. He defined his aim as the annihilation of Karma, or the shutting out the influx of bad karma, by austerities and penances. He condemned the middle path of the Buddhists, as also the path of pleasure and luxury, and recommended extremes of torture and mortification of flesh as a necessity for self-realisation These doctrines he had to defend against the attacks of a number of rival sects, e g the Bauddhas, the Barhaspatyas, the Nastikas or Chatvakas, the Vedantins, the Sankhyas the Adrstavadins (Fatalists), the Ajivikas, the Trairasikas (Jaina followers of the Vaisesika philosophy), and Saivas With the support of his royal followers and numerous devoted disciples, he was able to gain for his system a wide currency in the eastern regions of India and was able to have it accepted by his own kinsmen, the Aryans, as well as the indigenous people in and outside the pale of Aryan colonisation

The acceptance of *this*, in point of content, essentially non-Aryan system by the Aryan tribe was made possible by the special circumstances of the age. As we have seen above, ritualism was inherent in the whole structure of the Vedic religion from the very start, and ritualism brings with it inevitably the organisation of castes and classes, in which the men of learning, the Brahmanas, who officiated at sacrifices, necessarily occupied the place of highest eminence, but the wholly absurd proportions to which ritualism had developed and the arrogant position to which the Brahman class had arisen in the Vedic system in the 6th century B C naturally turned the minds of the people against Brahmanic culture and inclined them to the acceptance of new protestant creeds. It is noteworthy that asceticism of a type had already come into being within the Vedic religion and had been directly encouraged by the *Upani-*

shads. The Aranyakas were the products of hermitages of the forests whither the *Upanishads* recommended retirement as essential for those who sought the highest knowledge. Thus, numerous individual Parivrajakas were a familar spectacle in India on the eve of the rise of Buddhism and the formulation of the Jaina creed in the 6th century B C The organisation of ascetic orders and samghas by Buddha and Mahavira appeared to be no great departures from the pre-existing practice Even the Parivrajakas in the Brahmanical system were free from the obligations of performing religious ceremonies on account of their peripatetic life The prohibitions now enjoined by the Jaina and Buddhist organisations were as if further development on the same line

Role of Jainism in the Spread of Hindu Culture

To counteract the unsavoury developments of Brahmanical hierarchy and rituals, Mahavira and Gautama had naturally turned to the pre-Aryan democratic and cosmopolitan culture and rationalised it in their Sramanic systems, which henceforth became constituent units of Hinduism But the role of these systems in the spread of Hindu culture in India was a highly important one.

Aryan colonisation of India had so far been largely of an exterminatory character The first wave of Indo-Aryan invasion was in the nature of a tribal migration from the side of Afghanistan, when a vast horde with their women, children and cattle entered India and at once began an exterminating war with the natives of the soil Their knowledge of harder metals and horse-riding and their superior physical strength gave them a great advantage over their foes, although the latter often offered stout but unavailing resistance to the invaders It appears that in the first stage of Indo-Aryan colonisation the invaders made a clean sweep of their foes, who either died or fled to the east and south, and received very little admixture of native blood. In the second stage of colonisation, in the Madhyadesa, the Aryans were not able to preserve their isolation to the same extent By now the Aryan conquerors had begun to fight among themselves for supremecy, and anyhow the wave of fresh immigrants was not sufficiently strong to enable the effective occupation and cultivation of the conquered lands, and the conquerors felt the need of labourers on their new settlements Perhaps the need of women was also felt The original ferocity and the ruthless policy of extermination was naturally to some extent modified, and there was also some admixture of the native blood and native influence upon the Vedic language and religion But this admixture was not looked upon with favour by the Aryans, and it was perhaps to guard against this admixture that the caste system was made rigid and hereditary in the Gangetic and eastern plains, thus giving a new turn to the Aryan social organisation. Aryan culture, which had always been aristocratic and

oligarchical in its character, now became exclusive, and this exclusiveness it seems to have retained for ever afterwards

The exclusiveness of the Aryan culture no doubt had certain good results. They became particularly manifest when India was invaded in the 12th century by the Muslims At that time it was the exclusiveness and sacredotalism of the Brahmanas that saved them from absorption by Islam, unlike the Buddhists who seem to have accepted the new faith in large numbers. But during the period of Aryan ascendancy in India the exclusiveness of the Brahmanic culture was a distinct creed in the country That in spite of that condition Hinduism spread throughout the length and breadth of the country and completely overshadowed the pre-Aryan faiths, was due to the role of Buddhism and Jainism, the two Sramanic doctrines, which invariably acted as the introducers of Aryan culture in all non-Aryan regions in the country The Aryans always contented themselves by referring to non-Aryan regions as mlechha-desa and to the people living there as untouchables In the Dharma-Sutra of Baudhayana such is the description given of the countries beyond the territories between the Indus and the Yamuna occupied by the Aryans that whoever goes to these countries commits sin with his feet and must perform the Vaisvanariya Isti Regardless of such injunctions, the Jaina tirthankara Mahavira went to Kalinga, where his father's friend was ruling and preached Jainism there. The Jaina tradition also speaks of Mahavira having visited the pathless country of the Radha, which was possibly the territory included in Western Bengal.

Indeed, the Jainas, and the same is also true of the Buddhists, considered it as their fundamental duty to bestow upon lands deprived of the opportunities of making acquaintance with the true religion, the benefits of Jaina preachings. That consideration took them to Kalinga and western Bengal in the 6th and 5th centuries B. C, and it is presumable that from Kalinga Jainism migrated to the Dravidian South, where it soon established a stronghold in Andhra, Chola, Pandya and Karnataka kingdoms. Wherever Jainism went, Brahmanism naturally followed and ultimately superseded it. Presumably the spread of Hindu culture to the overseas colonies of Champa, Siam, etc. followed the same course Certainly in north west India beyond Mathura, which came in the 2nd century B. C to be dominated by foreigners like the Bactrians, the Scythians and the Sakas, and where Aryan culture was completely annihilated as a result of their domination, that was the procedure by which the territories were reclaimed for Hinduism The legend, Kalakacarya Kathanaka, which relates the story of Kalaka being insulted by king Gardhabhilla of Ujjain and seeking the help of Saka satraps under Sahanusahin, affords adequate insight into the establishment of Jaina influence in the region beyond Mathural ong before the Brahmanic culture trekked back to it under the aegis of the Gupta emperors.

Conclusion

It is a pity that the Brahmanas did not appreciate this role of Jainism and Buddhism in the spread of Hindu culture in India They insisted upon looking at these Sramana system as hostile creeds and, therefore, persecuted them as soon as they got a chance to do so The power of the Sramanic systems in India was practically shattered in the fifth and sixth centuries Buddhism was forced for its existence to leave the country of its birth and make a new home for itself in Tibet, China, Burma and other countries. Jainism recoiled before the attacks made against it, and felt it safe to continue into existence by adopting many of the retuals and other outward forms of Brahmanism These outward forms were particularly adopted by the Digambara sect of the Jainas in South India The result was that when Brahmanism emerged supreme during the Gupta period, no section in Hinduism was left with a broad and cosmopolitan outlook to establish contacts with foreigners whose immigration into India continued as ever, and to act as the instrument for the spread of Aryan culture among them Thus a gulf was created between the indigenous elements of the Indian population and the immigrant foreigners, a gulf which in the course of time became a perpetual feature of the Indian social situation.
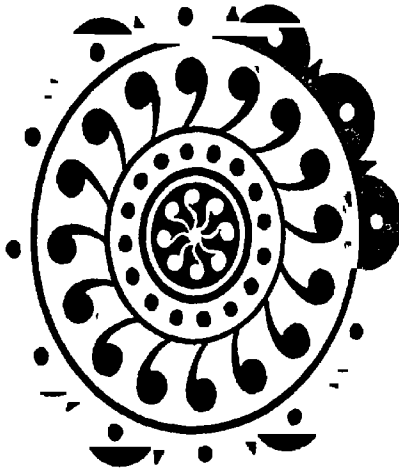
A Survey of Jaina Religion and Philosophy.

By Dr. Nathmal Tatia, Director, Research Institute
of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali,
Muzaffarpur.

So far as the tradition preserved in the Jaina Agamas is concerned, Jainism is to be traced to prehistoric times for its origin. To be precise, Jainism as a religious movement and philosophical attitude is undatable. In this respect, it is on a par with Vedic religion It has been shown with overwhelming weight of evidence by Shrimat Anirvanaji in his *Vedamimansa*, recently published, that there were free thinkers contemporaneously with the Rsis of the Samhitas, who did not profess allegiance to the religion of sacrifice Whatever that may be, Jainism, Budhism and other protestant creeds took distinctive shape and structure several centuries before the Christian era, and this does not admit of dispute. Vardhmana Mahavira was the elder contemporary of Gautama Buddha Parsvanatha, the immediately precedent Tirthankara, is admitted on all hands to have been a historical figure. Mahavira's family was attached to the creed of Parsvanatha. There are evidences in the Jaina Agama that Mahavira succeeded in winning over the followers of Parsvanatha to his reformed church Mahavira consolidated the monastic order as well as the lay community on strictly regulated code of religious observances This explains the survival of the Jaina religion, though Buddhism disappeared from the land of its birth after the Muslim conquest in the 13th century. This is in a nutshell the historical background of Jaina religion and philosophy.

The division of the Jaina church into Svetambara and Digambara schools is believed to have taken place at the time of Bhadrabahu who was a contemporary

of Chandragupta Maurya The points of agreement between the schools are overwhelming and those of difference are rather matters of detailed observance. There are some credal divergences such as the problem whether a woman is capable of achieving final emancipation *moksa),* and such other minor issues which may be slurred over by dispassionate students of Jainism as bagatelle In philosophy and ethics, there is enormous unanimity. The following are the cardinal doctrines of Jainism.

Soul and God

The Jaina believes in the immortality of the individual soul which does not owe its origin to a Personal Creator or combination of natural forces Jainism is frankly dualistic in so far as it distinguishes spirit from matter Both of them have parallel existence The soul is bound in meshes of matter and its freedom from matter constitutes final emancipation and liberty The soul is consciousness compact intuition, bliss and power, each infinite in its range The limitation of knowledge, power and happiness is adventitious and accidental, and not historical event. In this Jainism and Vedic religion are perfectly in unison Its difference from Buddhism is fundamental. The Buddhist does not believe in unitary soul. But the Jainas are emphatic on the real unitary character of the self Perfection is innate to the self which will manifest itself in its true character in the state of emancipation and the self will then realize its infinite knowledge, intuition, bliss and power In one word, the self will become God Godhood is the birthright of every self

Ethics.

The Jaina is a believer in the five *mahavratas*-non-injury *(ahimsa)*, truth *(satya)*, non-appropriation of what belongs to others *(asteya)*, continence *(brahmacarya)* and non-possession and non-acquisition of surplus material goods, *aparigraha* These ethical disciplines can be practised in excelsis by those who follow the life of homeless wanderers For the householder also these disciplines are compulsory, but can be practised with moderation and limits due to the exigencies of human life and conditions But this is only a concession which can be transcended only in the life of complete renunciation In the code of ethics, the agreement between the Jainas and Brahmanical schools is almost perfect. The difference lies in emphasis on practical application and observance

The philosophy of *ahimsa* is liable to be misunderstood. *Ahimsa* must proceed from perfectly disciplined mind All moral weaknesses, *pramada*, are manifested in the animal impulses of anger, pride, deceit and greed, and unless these mental and moral weaknesses are completely overcome mere practice of external code such as vegetarian diet and the like will not lead to the spiritual development In one word

a man aspiring for perfection must be spiritually free from animal passions and in external conduct must follow the path of non-resistance to evil. All discomforts, inconveniences and lack of creature comforts must be endured without resistance and with infinite forbearance. This is of course the ideal which can be lived and fulfilled only by saints. But the householder also has no immunity from the moral obligation Purity of conduct must be the exponent of perfectly pure mind.

Truthfulness is also a necessary concomitant of non-injury. Lying and deceit are resorted to by those who want to avoid the unpleasant consequences The tyrant must be disarmed not by recourse to physical violence, but by infinite forbearance. Not a word of abuse escape the lips of the saint. Pride and greed are the signs of moral weakness. They are the concomitants of the fear of loss, or the desire to be feared by the less fortunate creatures. This weakness must be transcended by the realization of the truth that infinite greatness in knowledge, power and self-possession are the natural heritage of the individual soul, and until this consummation is reached, one has every reason to feel humble and ashamed of the limitations. No pride of possession is legitimate and rational, because material power and wealth have their inevitable limitations. Only one who has risen above greed can be really great and noble. This is in sum and substance the ethical philosophy of the Jaina

The concept of *ahimsa* is not negative. One has no right to take the life of another creature for his selfgratification Life cannot be restored to the victim, and it is nothing short of brutish barbarism to indulge in self-pleasure at the expense of other creatures who have the same charter of rights to live and work out their ultimate destiny. The tyrant is the worst coward, though he poses to be the boldest man. The true hero is he who has mastered the animal in him The last Tirthankara was called Mahavira, the great hero, because he conquered the weaknesses of the flesh

Religion

In religion, the Jaina lays emphasis upon self-exertion. One must not depend upon the grace of another for his self-upliftment. Of course, the teachers of humanity, the prophets, seers and the path-finders are entitled to the respect and loyalty of all right-thinking persons This is the reason why Mahavira is worshipped as God These perfected saints show their mercy by only imparting spiritual strength to the weaker souls who are victims of their own past deeds The very contemplation and meditation of perfect teachers of humanity vouchsafes grace and spiritual strength. Grace cannot be acquired by sinners unless turn away from the evil course of life.

It is nothing but a travesty to think that the Jainas are atheists. Worship of a Personal God is not encouraged in Jaina religion, because this has the tendency

to encourage sloth and a spirit of helpless dependence. However much one may speak of the infinite grace and mercy of God, one cannot have the benefit of this grace unless one helps himself and prepares himself for the appropriation of the spiritual light. The Jaina believes that every man is a potential God and one who does not believe in the Godhood of man is an atheist.

Philosophy

In the field of philosophy which, in one word, is the urge to realize the ultimate destiny of the soul, the Jaina thought is based upon a correct appraisal of truth and reality So far as the world of experience is concerned, the doctrine of non-absolutism *(anekanta)* expresses the philosophical outlook of the Jaina thinker The Jaina is not a dogmatist and seeks to shun extremism in thought and action Fanaticism is the virulent expression of extremism. One believes in one's doctrine, and in the truth and infallibility of one's mode of worship attached to one's particular faith But truth is multiform and has many facets One therefore should not condemn another for his view, but try to appreciate the intellectural and moral foundation of the belief If he is wrong, he must be enlightened not by physical force or tyranny of wealth and knowledge, but by sympathy and demonstration of the truth in one's own life The sevenfold predication *(saptabhangi-naya)* expounds the metaphysical position of the Jaina The Jaina is a believer in infinite number of *jivas* and is not willing to dismiss the plurality as false appearance Reality is infinite in its variety and this has to be accommodated in one's philosophical evaluation The Jaina therefore is not a 'monist. He is not a subjectivist idealist who believes in the reality of his own thoughts and ideas alone He is not a nihilist He believes in all these onesided estimates only as facets of one infinite reality They must be integrated into one whole His differeuce with the Buddhist nihilist and the subjectivist is on the score of onesided, partial and imperfect evaluation A thing is true in its own place and own character, but is untrue and false in another. This falsity *qua* another is compatible with its truth in its own sphere and nature The Jaina does not condemn thinkers as incorrigible and unregenerate souls destined to be condemned without any chance of redemption The Jaina only seeks to draw the notice of the opponents to the other side of the coin. One must not put the telescope on the blind eye, but try to develop the correct vision which is within the reach of all, and can be acquired noly if one chooses *Anekantavada* in metaphysics and ethics and so also in epistemology is thus an exponent of the broad liberalism of the Jaina thinker who however is never tired of preaching the infinitude of the modes and grades of the ultimate reality

The Jaina does not believe in vicarious emancipation Every man must realize his ultimate freedom and unless he is earnest in the quest of truth, he cannot

help himself out of the rut. Mahavira is merciful because he has shown us the way to truth, and not because he chooses to take the sins of erring souls on his head as their saviour He gives the saving knowledge which must be acquired and appropriated by every individual as his own Mercy is not exploited for giving an unlimited charter of a sinful career to the sluggards Every man has the power *(virya)* to achieve his perfection, and for this he has to depend on his own self. He must be grateful to the great prophets who have shown the path to be followed for working off his load of accumulated sins. The Jainas have produced a wonderful philosophy and a still more wonderful code of ethics and it is incumbent upon all seekers of truth to cultivate a deep acquaintance with this heritage left to humanity.
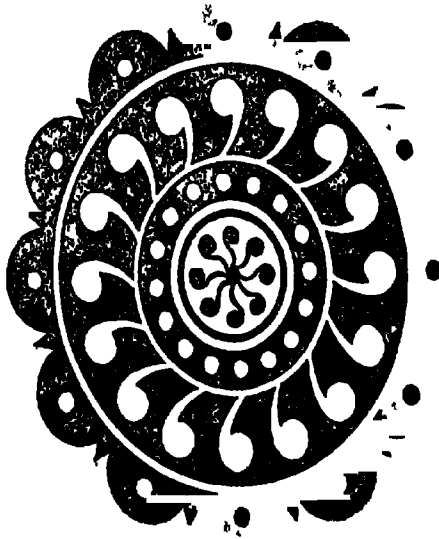
Determinism and Indeterminism in Anekanta Philosophy.

(S C. Jain, M. A., Ph D.)

The theories of determinism and indeterminism have been attracting the attention of almost all the thinkers on the problems of philosophy. In spite of their being so old they have not lost their bewildering nature, and have been taking newer turns with the advance of time By determinism we generally mean that all the events in the world-process are absolutely determined Regarding the determining factors of an event the answer takes three shapes First, the events in the world process are determined by their substantial causes, secondly, they are determined by their helping causes and thirdly, they are the joint effects of their substantial and helping causes So the general belief is that there is perfect determinism in the world On the other hand there are thinker who do not like to uphold such a theory of determinism According to them this type of determinism is extremely fatal to the ethical concept of moral accountability If an agent is not free to choose and act, his actions cannot be made subject to moral judgment and he cannot be held responsible for them If the life-history of jiva is totally determi ed, then it is no use preaching him principles of Ethics and Religion as the events will turn as they are ordained to turn So in the sphere of morality freedom of will has been admitted by some as a foundational concept Not only ethically but also metaphysically indeterminism comes out to be a fundamental aspect as reality

On analysis determinism turns out to be a theory of causation 'Causality is a relation of determination'[1] To say that there is determinism in the world

1. S. *Mookerjee* . **Jaina Philosophy of Non-absolutism**, p 212

means that the events in the world process are determined by their antecedent causes. So the theory of determinism pre-supposes relationism, that is, the entities in the world admit of relations If the elements in the world process are absolute discrete, the events in the world process will be absolutely different from each other, and the question of their relation of causation and hence of their determination falls to the ground. Dr Mookerjee observes · "Relations cannot be held between absolutely distinct or absolutely identical facts Identity and difference both are pre-suppositions of relation."[1] These relations are not purely a product of subjectivism, but have an objective status. Regarding the potency of relations it is said, "Relation, whether internal or external, is integral to the terms and is the result of an internal change in the nature of terms "[2] By this we must mean that there is no absolutism of relationism; non-relationism finds an equally significant place in the structure of reality. "If there is absolute relationism, both the terms in the relation stand unproved. If there is absolute non-relationism, a real loses its universality and particularity "[3] Such is the view of Samantabhadra It is this relational-cum-non-relational nature of reality on which stands the theory of causation So causation is not destructive to the independent identity of the entities that come into relation of causation Hence a valid form of determinism must imply the independence of the determinatum and its dependence on the causal factors "The effect is a modification of the cause and thus is not absolutely different or identical with the cause, Qua substance the two are the same, qua qualities and modes they are numerically different."[4] This conception of causation is anekantika in spirit and well maintains the truth of the two implicates of the theory of causation

According to indeterminism what we think determination of one event by another is nothing more than a parallelism The events run parallel to each other ann there is nothing like a causal efficacy for mutual determination in them, their coincidence being a chance happening. But a sober thinker must hesitate from holding the supremacy of chance in the world The universe shows so perfect a design that an inclination to hold it a divine creation is felt by some. The universe is subject to some laws, it is a cosmos not a chaos Even in the realm of morality indeterminism does not seem to be all valid The actions which are subject to moral judgment originate from conscious beings. For this reason such actions are psychological, and there are psychologists who think that all psychological phenomena are determined. Thus morality is thought to require free actions while psychology is considered to provide actions Where to seek for the free actions ?

1. *Ibid*, p. 197.
2. *Ibid*, p. 208.
3 *Samantabhadra* · Apta Mimansa, verse 73
4. S. *Mookerjee* : Jaina Philosophy of Non-absolutism, p. 213.

If the entities in the world have nothing in themselves except the determined elements, they become non-entities and there is nothing in them to be determined. Following a similar chain of reasoning in case of all other entities they are found to be contentless Thus determinatum with all its determining factors vanishes and there is no occasion for any type of determinism. Absolute determinism is self destructive This leads to the conclusion that the entities must have something in themselves which becomes the object of determination Such a position cannot distinguish between mechanical and theological types of determination, as the principle applies equally to both of them. This aspect of the entities seems to be the base for the process of determination, and it smells out indeterminism inherent in it. Taking another view of the situation the series of happenings connected with an entity is said to be mainly determined by its inherent nature—its attributes and powers So every entity is found to be determined by itself This type of determinism is only gratuitously called so At the most it can be a self-determinism which is not found incompatible with indeterminism. If an indeterminism of the absolute type is upheld, it would mean the total absence of the regulative principles in the universe, which then will be reduced to a chaos Indeterminism in the form of self-determinism is not contradictory to moral accountability [1]

As we have already seen, the nature of reality is not only relational or non-relational The relational and the non-relational are the concomitant implicates of reality. A real cannot be identified with its relations alone, nor can it shake them off totally. Relations bring about a change in the nature of the relata Hence a real must be conceived not in abstarction from its surroundings but along with its setting and field Martin Heidagger rightly remarks · "The essence of existence is in its existence The mode of existence of human being has a structure · it is being-in-the-world This being in-the-world which constitutes human being is being of a self in a separable relations with the not-self"[2] Such a conception of reality presupposes its non-relational side without which relationism becomes impossible. Relationism combined with non-relationism gives us a better picture of reality. This again means that a real has its independent existence and this very existence is qualified by its setting or field. Such is the anekantika conception of reality, and it admits of a theory of causation When Kundakunda holds that there is no transformation of one substance or attribute into another substance or attribute, [3] he simply puts a limit to the process of a causation and does not deny it. He seems to hold that with the above limitation the theory of causation can very well

1. *Rashdall* : The Theory of Good and Evil, p 328
2 *H. J. Balkhan* · Six Existentialist Thinkers, p 88.
3 *Kundakunda* . Samayasara, verses 110 and 377.

flourish. Entities make use of the virtual action (upakara) done to them by other entities, and the action is called virtual on account of the limitation referred to above. This is the only manner in which the entities can help or hinder the functions of other entities. So our conclusion is this respect is that every entity has its existence (which is its non-relational side) to make relationism possible within the limit of mutual non-transformation of substances and attributes.

This prescription of a limit to the process of causation has led some thinkers to believe that the theory of virtual action among different substances is a pseudo-concept By this they mean that we perceive entities as helping or hindering the functions of other entities, but actually speaking every entity *is solely responsible* for its functions We must distinguish between the sets of entities, one of which shows such a relation with some entity while the other does not Let us take an example. According to the Jaina conception a soul does not accept virtual action of the karma-matter lying unbound with it or bound with other souls, it accepts the virtual action of that karma-matter alone which is bound with it. The same medicine given under different conditions shows different results. The capacity to yield different results is something which gets transformed in different settings, or the prescription of different helping conditions for its use is futile. In a similar way all entities are not seen to establish a relation of causation with an entity. Now if causation is simply a pseudo-concept, both the sets of entities must ineffective to the entity under consideration. This very difference is suggestive of the efficacy and potency of virtual action. To hold that causation is possible only when there is mutual transformation of substances and attributes of the causes is a piece of unsound reasoning, as nature refuses to admit such a possibility. To view an entity as self centred *i.e* as in itself and divorced from all its relations is only a way of approach to reality and can give us only its one sided picture. This does not mean that such viewing of reality is false, but we must admit that it is only a partial comprehension of reality and is based on abstracted process of comprehension.

This position may again be interpreted as leading to perfect determinism of entities by themselves and their setting But following the true nature of world dynamism one will not find difficulty in ascertaing the elements of determinism and indeterminism in it. We have already *quoted* the view that self-determinism is not very much incompatible with indeterminism. The recognition of entities to bring about relationism is the undetermined aspect of the world process. To the extent to which these entities admit the virtual action done to them by other entities they are determined Determinism and indeterminism are interwoven in the very texture of a real Every real smells out determinism and indeterminism simultaneouly. It is upto the observer which smell he should prefer, but a comprehensive view of an

entity would not be inclined to one of the other side. It would take cognizance of the two aspects as constituting a whole.

To understand the situation better potentiality may be drawn An actuality is an actuality in relation to its potentiality: it is a potentiality in relation to its future actuality. If an event is held to be only actual, it cannot lead to future events If an event is held to be only potential, it cannot be supposed to exist without being actual. Prof A. N. Whitehead observes, "This extensive continuum is real, because it expresses a fact derived from the actual world. ....This continuum is itself merely the potentiality for its division, an actual entity effects this division. So far as an entity is capable of atomization, it is a potentiality and is undermined. Its atomization turns it into an actuality. Capacity for atomization and the atomized state are copresent in an entity, we dot require even two distinct moments for their existence. Hence every event has the power of giving out two smells of actuality and potentiality. Its true identity is actuality-cum-potentiality. Potentiality leads to determinism while actuality is the determined state So the same entity comes out to be determined and undetermined at the same time Any absolute view in this sphere will prove unfaithful to reality. For this very reason any parallelist theory about the world must come out to be invalid, as the two series of causes and effects cannot be held to be totally indépendent of each other. Such a modification of parallelism must not be interpreted in favour of interactionism which requires a transformation of the causal conditions into the effect. The way to unearth the secrets of the world process lies between parallelism and interactionism, neither of which taken absolutely will unlock the treasure house of the world process

We have already referred to the difficulty that ethical judgments require freedom of actions while psychology provides only a series of determined actions It is in anekanta philosophy that a solution of the problem may be found. Anekanta philosophy gives us a deeper type of psychology which has been designated as karma psychology.[1] It admits of the freedom of the energies of the agent and their determination by the karmic energies and other conditions helping the causal process Inspite of this fact the Jaina ethical view. which is termed as the pure point of view. does not take cognizance of relationism in the form of causation and maintains the purity of the self all through its existence by emphasizing its independence.[2] Such an ethical point of view must give this picture of the ethical ideal, as its aim is to remind the aspirant of the highest state attainable by him Moreover we should bear in mind that all partial truths give only abstracted views of reality.

1. *S. C. Jain* : The Structure and Functions of the Soul in Jainism. p. 259.

2. *Kundakunda* : Samayasara verses 16 & 43.

So the pure point of view yields only a partial truth about the self. The true way of approach to reality is not identified with such partial comprehensions, nor can it be very distinct from them all · but lies in an impartial attitude of the knower to all of them[1] Another implication of the Jaina ethical point of view is a contented fatalism—a surrender to what is destined to happen To hold that what is to happen must happen is sheer tautology, and it cannot be taken to be a reasonable ground for determinism The world is a series of events, and the flow of such events must go on incessantly So to say that something must happen to every entity every next moment does not give us a determinism in the true sense of the term If this something were absolutely determined, there could have been a sense in the above referred fatalistic view of reality In nature determinism and indeterminism are peacefully united, and there is no chance for the absolute supremacy of the one or the other. Contented fatalism may carry some value for an aspirant from the ethical point of view, but to say that it is the whole truth is unwarranted

Generally, omniscience is taken to lead to perfect determinism No doubt there is a relation between knowledge and its objects, but knowledge has nothing to determine the world process So also Omniscience has no causal efficacy to determine the events of the world, we must seek for the determining factors elsewhere Knowledge cognizes the events pertaining to past, present and future without contributing towards their determination A better knowledge of the situation yields a better type of comprehension of the events So the best possible type of knowledge contained in omniscience only gives a correspondence between itself and the events in the world process This very characteristic of omniscience has led some thinkers to believe in perfect determinism without which, as they think, perfect knowledge is impossible Omniscience cannot be supposed to have causal efficacy to determine the world process It does not care whether the world process is determined, undetermined or determined-cum-undetermined , but it must cognize it as it exists Every event in the world process is an instance of a subtle structure in which determinism and indeterminism are very exquisitely put together To perceive an aspect of it and to hold it to be the total reality is to resort to an absolute view. Our partial knowledge accepts the dominance of one aspect over another , but when it goes to negate the other aspect completely , it suffers from the fallacy of exclusive predication Reality is not identified totally either with determinedness or undeterminedness but is something which implies both determinism and undeterminism. Such a view does not only solve an ethical difficulty but also gives us a satisfactory explanation of the causality inherent in the world process.

1. *Amrta Chandra Suri* : Pursarthasiddhyupaya, verse 8

The Doctrine of Karma and The Unity of Humanity

Dr H. Bhattacharya, M. A., B. L., Ph D.

Notwithstanding the obvious differences between man and man, there may be traced some unmistakable fundamental points in which all people are found to agree Take the case of any individual it may be safely asserted that he is never fully satisfied nor perfectly content with his present position He feels himself limited in every way, the ranges of his visions. both immediate and mediate,—are small, smaller than what he would otherwise like them to be So are his powers. And likewise in every way, so determined are the nature and the stock of his life's happiness, that often have philosophers and common people alike agreed in condemning life as a series of miserable points of existence

Broadly speaking, all persons are thus possessed of a common sense of dissatisfaction This is true of nations too. The government of no country is sure that its grasp of the world situation is all perfect, its judgments fully correct, its power unchallengeable and the happiness of its people at its zenith All nation and individuals are thus united, in a very real sense viz, in respect of their varying manners and modes of privations

These limitations are apparently caused by forces affecting the nature of man. No one in his normal state likes to find himself in a state of misery, so that those limiting forces are manifestly extraneous to man's nature and yet united by it

in a state of frenzy and derangement, as it were. These two aspects of the fact of human limitation can be gathered in the ancient pregnant expression ·

What a man soweth, that
Shall he also reap.

This points, on the one hand, to something foreign, which is reaped, and on the other, to one's own self, which sows the seeds of what is later on reaped The philosophers of the Vedic School—the Naiyayikas, for example, amplified the same thing by saying that all acts are actuated by the subjective tendencies of Raga (attractive inclination), Dvesa (a spirit of repulsion) or Moha (stupefying influence) and that these acts generate in man a peculiar force, called Adrsta by them, which lead him later to the assumption of various forms of embodiment and materialisation, though foreign to his nature, yet helpful to the enjoyment of the fruit of these actions In spite of the strictly sensationist and rigidly transitory character, attributed to all phenomena or apparent reals, Buddhism recognises, nevertheless, the sombre truth that what a man is, for the time being, is but the result of his own previous activity. In Jainism the two elements in the matter of man's misery, and the reality of doth, are clearly and fully emphasised. The unhappy state of mundane existence is said to be due to Asrava or inflow of nonpsychical elements into the soul This Asrava is studied in its two aspects of the Jivadhikarana or subjective or physical and the Ajivadhikarana or objective of non-physical The self is associated with a body (Kaya), the internal organ of mind (Manas) and the activities of speech (Vak) all of which are modifications of matter or material energy. These are in continuous states of activities, somentimes naturally but often on account of the suggestive effects of outside things, such as books, pictures, etc., etc , and the various postures, mixtures, and activities of non-psychial things and phenomena These are Ajivadhikarana or conditions in non-psychical objects, resulting in the generation of peculiar activities in one's body, mind and manner of speech As regards the Jivadhikarana or the subjective aspect of the Asrava, it is pointed out that as the self is intimately associated with the Kaya, the Manas and the Vak, though they are foreign to it, is automaticallly thrown in a state of peculiar agitation, in consonance with the said activities of the body, the mind and the vocal organ. This vibration in the soul is called Yoga by the Jainas and it prepares the self for an influence of extraneous upon it.

The Asrava is thus ultimately due to the Yoga. It would be seen that the Yoga only modifies or twists, so to say, the soul in a particular manner. In order

that the soul may be intimately or thoroughly informed by non-psychical energy, something more is necessary and this something is Kasaya or a group of four passions viz anger, greed, conceit and deceitfulness The unhappy state of man is thus due to a two-fold cause On the objective side, there are the tantalising backonings from outside maerial objects and the various organic and inorganic phenomena, all tending towards a defilement of the self and correspondingly, on the subjective side, we have the self thrown into a state of agitation and of deviating from its essential nature on account of the Yoga and the outlandish passions The result is that foreign matters, in very, very fine forms, or subtle energies of a materialistic nature, called karma pudgala by the Jainas, are introduced into the soul, which, although they fall off from time to time, are quickly replaced by fresh ones and which thus continue to cling to it causing its bondage and its consequent all-round limitations This is thus the second fact in the matter of the unification of humanity Not only does a constant form of adversity or existential misery torment all persons and make all of them strange bed-fellows, so to say, but that the one common cause of the affliction of all these unfortunate beings is the presence of outlandish tendencies and activities in their selves

Thus if all people are, in a very real sense, unified in this world in respect of the patent fact of the limitation attaching to their nature and further in respect of the causes of the limitation in the form of foreign forces exercising adverse influences upon it, we can guess about the third point serving as a principle of union among the suffering humanity This relates to the fact of diliverance from the constant fact of the innate misery of man and we may at once say that there is but one way for all people to the attainment of the ultimate blissful state Happiness depends upon the removal of the alien influences which torment the nature of man It does not matter if what limits or ails the soul of man is called Adrsta (as in the Vedic systems for Karma) as in Jaina philosophy) or the original Sin (as in the Christian theology). It is this foreign and malign influence, from which the nature of man is to be delivered

The ethical codes of all people are generally agreed about the fundamental moral rules and practices A clear direct vision of the ultimate reality, a correct knowledge, free from all shades of fallacy and ignorance and a system of conduc which hurts none but is helpful to all-these are admitted on all hands as the way to peace But in order that knowledge, vision and conduct be real diliverers of the self, they must not be looked upon as something extraneous to it, but should be actually felt as being grounded or involved in the very nature of the self So, this is

the sole, real ultimate standard before all men, one stubborn principle for the unification of humanity, in other words, for the realisation of the 'Kingdom of God' on earth The truth of this wisdom or intuitions expressed in the words.

"KNOW THYSELF"

or,

"ATMANNAM SATATAM VIDDHI"

At no other period of the world history than the modern its people and nations were in greater need of realising the old saying and unifying moral truth. There was the League of Nations and there is the U N.O, for the prevention or wars and for the protection of human rights Yet, people today live under a shadow of impending destruction and devastation Is there any want of peace talks ? No, there is plenty of them Why, then, this apparent failure ? Because the people and the nations do not as yet feel peace to be a part of their nature but they look upon it at its best an attainable adjunct to it.

In this connection, the Jaina description of the varied viewpoints about things is enlightening When, for example, a man gives up the enjoyment of the sensuous objects, his conduct is good from what is called the Vyavahara stand point When he removes from his heart all feelings of attachment and envy which prompt one to lean to sensuous enjoyments of things, his conduct is better, it is called good from the Niscaya point of view When, however, the person realises and is firmly established in his true nature and feels that self control (e g. avoidance of sensuous enjoyments) is an inalienable part of his essential nature, his conduct is supremely good, it is good from what is called the 'S'uddha Nis' caya' point of view In the light of this old Jaina theory, the present day fears and apprehensions of mankind about an imminent catastrophe in spite of the best efforts of the U N O can be explained It is doubtful if the views of nations about peace, even after the lessons of the last to world wars, have as yet touched the Vyavahara stage Having recourse to arms for the settlement of their disputes, the nations have ont yet abjured the love of violence We have had actual wars in Korea, Malaya and Indo-China It is certain that the present day people have not the Nishcaya view about peace, their hearts are not yet free from bellicose attitude

Let us, however, not be pessimistic, let us hope that some day, perhaps not very distant, people will rise above actual conflicts, above the Kasayas of anger avarice. conceit and deceitfulness and be really and firmly united by coming to their own, their own essential nature, the true self, from which peace and avoidance of all forms of internal and external conflict are inseparable.

Stray Thoughts on Jainism

Birjadish Prasad, M A., D.Phil

Jainism is an esteemed sect of Hinduism But it is so mixed up with the main current of Hindu culture today that it is difficult to know a Jain from a Hindu Nor has he the least desire to be so known because, ever since the inception of his faith, he has been of Hinduism Hindu, of India Indian His birth, marriage and death—the three chief events in a man's life—are marked by the same ceremonies as those of a Hindu. Yet Jainism, like Buddhism, began as a protest against the Vedic religion, against, at any rate, the corrupt practices that had crept into it While Buddhism, however, had to leave India, Jainism not only stayed on, but is a living faith even today There must have been something deeply Indian in it that has made for its continued hold on the country While it pervades every nook and corner of the country, in certain parts it exerts a very powerful influence in Gujrat, for instance, where Mahatma Gandhi, though a Vaish, came under its sway, or the north western region of the Uttar Pradesh, where nearly each village boasts of a Jain temple

What can be the reason of this influence ? While Buddhism, it seems, chose to carry on its missionary work outside India, Jainism concentrated its activities within India itself As Lord Buddha and Lord Mahavir were contemporaries, the former may even have thought India safe in the latter's hands and looked after the rest of the world himself. For the basic tenets of both the faiths are the same—truth, non-violence, and renunciation and both function through the agency of celibate monks and missionaries But a faith alone is not enough to win the hearts of men Not

all of them can renounce the world which has, somehow, to go on. It is in this practical business of living that Jainism has held the loftiest ideals before its followers. While its saints have embodied truth, non-violence, and renunciation, its philanthropists have endeavoured to make life worth living For religious contemplation they have built temples that are the marvels of architecture, and Dharamshalas, provided with all amenities, which make pilgrimage a pleasure. For education, without which any faith is but blind belief, they have not only established schools, colleges, and hostels but instituted scholarships and bursaries There are numerous such Jain institutions and funds all over the country Otherwise, too, Jainism has not discouraged secular activity There are Jains in the army, Jains in the medical profession—even as anatomists and surgeons—Jains in trade and industry And all this work has benefited not only the Jain community but the nation also The Jain faith and secularism have thus helped each other. The faith has inspired philanthropy, and philanthropy strengthened the faith

Yet there is one prejudice, which the Jains have not generally been able to get over While they allow their boys and girls to read biology or go in for a course in Anatomy or Surgery, they disfavour the study of these subjects in their own institutions, for they involve killing of life Where an institution has a temple attached to it, this objection may have some force, but what about the rest ? India needs biologists and anatomists and surgeons, but no Jain institution is willing to do its bit. Yet it has an N C C unit, whose trade also is to kill or be killed. Jain educationists will have to do a little thinking about it.
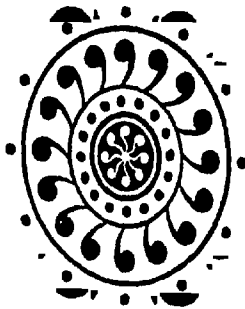
Vairagya or Renunciation in Jainism

By—Jyoti Prasad Jain (Retd I. T. O.
V/P J. C. R. Soceity B.H.U)

Renunciation or "Vairagya" is the role of spiritual salvation in Jainism It is generally misunderstood, misconstrued, and misapplied in life. It is the most natural and benevolent urge in man. This urge in man is the index to show that man understands what he is, what are his aim and object of life, his social obligations of life and that he rightly understands what is real happiness and his cherished freedom, which are the earnest and inward desires of all men and women of the world.

Social Features of Jainism

Jainism is the religion of man founded by Man after his experience for the benefit of all man-kind and all living beings in the universe even of the smallest-insects, which are in-visible by sight. Non-violence or Ahimsa, therefore is the basic principle of man's thinking, working and living, which comprises in it, utmost carefulness, consideration and regard to life of all living beings, spirit of love, sacrifice and service to all living beings by its votary These characteristic qualities are obviously essential in man to enable him to fulfil his social obligations, to maintain harmony in society, to achieve the commonly desired peace and happyness in this worldly life and the same is considered essential for the attainment of the abiding blissful life in the life hereafter It has thus embraced all the fine thoughts and practice in its tenets, which are also essential for the promotion and promulgation of universal brotherhood, which is the aim of all religions. Without this, human life is a farce and a miserable existence, as we see it obviously today As above, the peculiarity of the Jaina Ethics is that it is a necessity of social life and significantly enough the same is also regarded

an essential condition and a 'Sadhna' on the path of spiritual emancipation and enlightenment. It is free from all dogmatism. In prescribing and stressing the most essential and benevolent principles of Aparigarha (non-possession) and Ahimsa (Non-violence) for practical adherence in day to day life's routine, Jainism has not only recognized and regarded the rights of all mankind, but of all living beings, which great regard to life of living-beings is not to be found in any religion of the world besides Jainism In the words of Mahatma Gandhi.

"No religion of the world has explained the principle of Ahimsa so deeply and Systematically as is discussed with its applicability in every day life, in Jainism. As and when this benevolent principle of Ahinsa will be searched by the people of the world to achieve their end of life in this world and beyoned, jainism is sure to have the uppermost status and Mahavira (the last 24th Tirthankara) is sure to be revered as the grestast authority of Ahimsa."

Jainism traces the origin and history of religion. It does not claim its canons to be God-sent or God-given, as is claimed without proof, by many other religions. They are not written even by the Omniscient Jaina Tirthankars. The true Jaina Canons are the unwritten codes of practical life, stage by stage, as is revealed from the living and conducting of a perfect living being, named Arhat. In the absence of such a perfect soul or Arhat the canons now available are the records written by the latter Acharyas after their experience in sutra (brief) form, which are subject to interpretations after experience on the path of Sadhna and are not regarded as the last word on religion. They are only in the forms of suggestions and indications for practically conducting after them on the path of spiritual salvation. It is not like draftsmanship drawn by the skill of mind but real and practical engineering There is thus life and incentive to further thinking and application of the principles, according to the changed conditions and circumstances of the aspirants, in life and then to give out new meanings of the same

Furthermore, the Jaina Thirthankaras are not the agents or relations of some Almighsy God or God-incarnation Himself They are the perfect and ommiscient souls, which inherent quality or Divinity of their own they have revived in them by their own efforts, by following a rigorous moral and ethical conduct, and which they preached after the attainment of their souls' perfection Jainsm thus is a religion founded by man after his experience for all mankind. It does not believe that God is the creator of this universe out of Himself or out of the available matter before him. According to Jainism the soul and non-soul substances are un-begun (since ever), indestructible and ever-existing, only in their worldly existence, and are subject to change in forms of appearance. The moral law of karama is the unalterable and un-expungeable moral law of Karama, which is considered the fundamental basis of continuity or change, of all variations and of the inevitable and sure

recompense, in ones life without partiality or excuse, which requires no operator or executor for its operation, but is itself the 'Cause' in one time and an 'effect' in the other. This moral law of 'Karama' is believed to be the automatic fulfilment of the result of actions and the course of worldly life and existence No God is regarded as the creator, protector and destroyer of this universe, which is ever-lasting, only subject to minor and catestrophic changes God is only the perfected soul Thus according to Jainism there is a Goodhood of all the perfected Souls and He is one also, as light into light from their one appearance The utility of such a God is positive by virtue of His very existence as is realised by the presence of sun to all living being The sun does not act and give its sunshine and warmth but it simply exists in the realm of the universe after its own nature So the Jainas believe about God and differ in the assignment of worldly function to Him Lord Krishna also said in Gita that "God neither does create the world and the actions of the world nor does he determine what actions shall bear what fruits". Those ignorent to this theory of Karama and action had to introduce an Almighty Creator to meet these problems

Soul in Manly Existence And Its Aim.

According to Jainism, this universe is not illusory It is not a creation of imagination It is a fact and a reality It is an everlasting stage of the display of the soul and non-soul elements Jiva or Soul is the animate substance having conscionsness as its characteristic and distinguishing feature from the non-soul or non-living substances The soul is all consciousness with its own remarkable attributes and talents The consciousness is inherent in the soul of a living being in the worldly existence It is realisable to the state of perfection only in human life The consciousness is not the product of the material stimulus in any sense. The stimulus is related to a mundane soul, *e. g.* in man, it merely awakens man's inherent consciousness, which exists in dormant state, within the soul due to the effect of the adverse past action of the doer soul or of the Karamas over it The stimulus does not create the state of consciousness, but produces a stir or excitement only on the soul's attribute of attentiveness in manly existence This is not at all surprising Matter too possesses many wonderful qualities and properties of its own. The soul and non-soul substances in worldly existence are considered as Parinamis-(inter-effecting, like milk and water, though in reality they are always separate) The soul though entirely different from matter and is separable from its conjugation with it, is, however, termed as 'bound' (Bandh) with the 'Karmic matter (a specially constituted material molcule) in the worldly existence, known as 'Beohar', like milk and water, and so long as it is in conjugation with the Karmic matter it has a close relationship also with it, quite against its truē and inherent nature, more or less, in accordance with the gravity of the conjugation thus created.

The inflowing of the subtle Karmic matter invisibly and its conjugation with the soul, produces the so-called ignorance in man and it interferes with the real function of the soul. Though the qualities or the properties of the Karmic matter can not obliterate the inherent, natural and inseparable qualities of the soul, (right perception and right knowledge, Blissful existence etc etc,) yet it can blur the natural and pure vision of the soul for the time being, e g an intoxicated person Wine has its own properties of stupifying the intelligence of man When it is kept in the bottle, it does not act as such because the bottle does not possess the quality of intelligence or consciousness But it acts, as such, as soon as it reaches the stomach of a living being. So too with soul and matter. Thus matter does not destroy the qualities of soul by its contact with it The soul needs the help of the sense organs, *e. g.* eyes, ears, etc, only so long as it is bound by the karmic matter. The pure or perfected soul, free from the bondage of the Karmic matter, realises the whole vison of the object before him by mere intuition and perception The aim and object of the soul in the human garb is to be free from the bondage of this karmic matter progressively This way to liberate the soul from the bondage of the Karma is called Sadhna or means of liberation. Its first and foremost condition is to feel and realise that one's soul is different to the material embodiment and all the material or worldly gifts and lust for these gifts are false and take the soul away from its true aim and purpose of life. This whole process of liberation of soul from the karamic Bondage or of self-realisation is called renunciation and is described as hereunder

What is Renunciation or Vairagya ?

Renunciation is an art of one's thinking, living and conducting for progressive self-realisation as described above. By renunciation or vairagya, in fact Jainism does never mean renunciation of the active and practical life or of the honestly earned and acquired possessions, wealth and means or of social life and the fulfilment of social obligations and performances of domestic or social duties It is non-attachment with all that is material or foreign By renuciation jainism also does never mean to be anti-physical or intent on mortifying physical powers and talents or faculties. Contrarily, it has recommended the active, and social nature of human bondages and the necessity of society with fulfilment of its obligation on the path of progressive self-realisation It also teaches an aspirant to be able to make proper use of all the sensuous, physical and worldly gifts and means for the sake of soul's emancipation or liberation In order to be able to make proper use of these gifts one has been advised to become the master and controller of the mind, senses, and passions and not to be their slave Great, perhaps the greatest, importance has been given to developing and maintaining physical fitness, mental and intellectual ability, soundness, and illumination and moral purity. The latter is purely a concern of sound relationships and it naturally requires one to be living, conducting and behaving in accordance

with the principle of self restraint, to live and let live, etc etc without which no life whatsoever is possible Through the social life the Jaina seers, after their own experience, have also found out the path of self-development or enlightenment of soul, which technique is a highly logical and scientific one. Renouncing of worldly gifts altogether is the last phase of spiritual development and is like the giving up of one s pair of spectacles when his eyesight is regained or leaving the car or a railway compartment when one has reached his destination It is the concentration and application of mind to nothing else except to thoughts and actions conducive to the progressive self-realisation No thought of greed anger, avarice etc., is allowed to enter the mind All such ideas, which have already found refuge there, too, must be pushed out leaving room for virtuous thoughts, conducive to soul's progressive emancipation or salvation On this path of liberation or renunciation the aspirant's mind must be enlightened and fully disciplined or the soul must have its complete control over his mind

Conception of mind

In uttradhyana Sutra, Mana (mind & heart) with all its concentration, thinking and feeling faculties embodied, is compared to a horse and the imperfect layman rider over it, whose goal of life is to reach his home or liberation, with the help of the horse and without which covering the journey or achieving the goal is not possible. 'Mana' is out of the six Prayaptis (physical attainments) more or less sensitive and efficient on the basis of past actions The soul is therefore advised to be well trained and disciplined enough to control the wilful horse or to be the master of the horse in order to be able to achieve the goal of his human life, to achieve liberation, the cherished end of life, with the help of the horse So during the journey, on the path of the spiritual progress, the horse or the Mana is not to be killed but to be controlled for the great purpose of the soul After the soul has reached its destination its bidding good-bye or renunciation to the horse and to all the remaining material epuipments, by the enlightened soul or the rider, is most naturally essetial and it does never mean indifference to them by the souls, who are on the path of spiritual progress When the aspirant soul has achieved its perfection or own attributes of perfection and all knowledge with the removal of the causes obstructing the same, why the soul after achieving perfection, should care for the material or the foreign elements, which serve no better purpose than its own attributes Thus all the material possessions and even physical faculties, which are so essential during the aspirant's journey on the path of spiritual progress are renounced in a natural way progressively with the effective spirit of true vairagya or renunciation

'Mana , according to jainism, is a material achievement (paryapti) and is termed as Dravya Mana (or substantial or physical mind) It also gains consciousness of its own kind termporarily as long as it is in touch with the soul's conscious-

ness, just as a lump of iron becomes red-hot fire-lump by its constant touch with fire and works like fire, yet it does not lose its own wonderful properties. So the conflicting virtuous and viceous ideas always arising and subsiding in our minds are known as soul-predominating and matter predominating ideas and feelings and man is accordingly prompted to do acts. Thus if the rider is weak and untrained or not sufficiently enlightened the horse or the mana shall prevail over the rider soul and being naturally attracted by the worldly greeneries, instead of moving towards its rider's destination (Vairagya and liberation) will pass the whole life time of the rider soul in worldly pursuits. Besides this Dravya Mana (of the horse) the soul's own kind (Vairagya-mai) thinking, meditating etc, is said to be the soul's Bhave-Mana (qualitative mind) in its worldly existence. This formation and the relation of these two Dravya & Bhava Man as (substantial and Qualitativc) in the human garb and the necessity of keeping them alive and cultivated, as the case may be, and the way how to do it and how to utilise the Dravya Mana for the right purpose of spiritual elevation, is a unique and vast description in Jainism and is generally explained and stressed by the Jaina Monks according to their study and realisation. Thus the Mana is the most essential organ along with all other physical and sense organs on the path of soul's salvation. Acharya Samat Bhadra has stressed the great utility of these physical organs in his valuable works

Process of evolution

Thus renunciation or Vairagya in jainism presents a picture of facts with regard to self and nonself substances in embodied and pure forms of soul's existence and the nature and reationships of all the worldly gifts with the self This true and and attractive picture of self and non-self, thus represented, naturally awakens in the soul its right belief, creates its right attitude and bent of mind and a strong will and determination to work for self-realisation on the prescribed ethical principles, to achieve its end of life. Jainism under the principle of renunciation or Vairagya presents the whole picture of life, of the making up of the required attitude of mind, preparedness for the journey and of the skill of the aspirant soul displayed in controlling the Manas and marching successfully towards the goal overcoming the obstructions, appearing in the way of spiritual progress

Thus on and on, on the path of spiritual salvation (adhyattam) or liberation progressive simplification of wants is the most-natural trait of an aspirant's character and life To travel as much as possible in the present life, and as much light as possible, unattached to the furnishment or gifts provided in the inn on the way, is the most natural and essential desire of an aspirant soul, who is fully saturated with the true sense of renunciation according to Jainism. The world is an inn on the path and not a home Naturally, therefore, as one is on and on, on the path of Sadhna the aspirant will be seen growing unmindful of worldly gifts and achievements and all its relationships. But he is growing mindful side by side to something higher and much more

valuable thing, which is the source of real and lasting joy and happiness Renunciation in Jainism is thus not a particular aspect of life, but the whole life in the progressive procession, and by giving up his worldly riches and possessions arising for them, due to soul's contact with matter and its adverse effect over it, the aspirant soul, like a wise businessman, is bartering the baser wealths with the truly richest spiritual wealths of eternal nature Initiation to Monk's order of life is only a change or order from Annwrati order of life to Mahavrati order of life, after due preparedness This change of order is not the only aspect of renunciation or Vairagya It is a progressive life-long process and starts from the moment one has initiated himself as an annwrati in his heart of hearts after making up his bent of mind and love for the journey on the path of spiritual develonment The householders' (annwratis) and the Monks' (Mahavratis orders of life are the two different phases or paths of life leading to the same goal of Divinity and Eternity. The only difference in the two is that the householders' life is a long and circuitous route while that of a monk is a short cut to the same goal of perfection Even a monk's life is a social life too But in fact his is a super-social life, with the least possible worldly wants and desires, and these too are to be simplified one by one The test of a true monk from his very start according to Jainism is that in his living and conducting, after the principles of Non-violence, Truth, Celebacy, Non-Stealing and Non-possession, he does never do any act by which he can be involved under any criminal code of any state of the world

Universal Brother-hood & Charitability

The true sense of initiation to Monk's order of life, on the role of renunciation, and renouncing of the family and householder's life, is that by such a cultivation the aspirant has realised all living beings as his family members. Just as he was charitable and generous enough to be spending his honestly earned material wealths in his householder's lifetime for the sake of the miserable beings, keeping only a little for himself according to his minmum need, so now he is sharing all his earnings of knowledge and spiritual joy and happiness with all human beings, which is their true desire and all are hankering thereafter. In return to his great giving to the lay and ignorent householders, the monk also gets his bare necessities of life, food, drink, etc, etc, in return from them Thus whether one is a house-holder or a monk social relationship and interdependence in every order and sphere of life has been recognised and harmony is maintained for which purpose a code of practical conduct (achar) has been prescribed by the old Jaina Seers

Renunciation or Vairagya is thus not one aspect of life (initiation into monks order of life) only, but the whole life of restrain and control over thoughts, emotions, will, and impulses in order to control his outward unworthy actions—both in the estimation of the peoples and from the point of view of Karma-bandh Initiation to Manks'order of life under the process of renunciation or Vairagya is thus the

right bent of mind, right inclination, capacity and fitness of the aspirant soul for the highly disciplined and strenuous life adopted after one's inner urge with complete control over all the animal instincts and desires. Recunciation is thus a life-long process of good, gentlemanly, benevolently living and of super living and ultimate victory of SELF over non-self

Sri Ratan Muni Ji Maharaj, in whose revered memory this contribution is being given, displayed heroically on this role of spiritual elevation, known as Renunciation or Vairagya, did lot of good to lacs of men and women coming to his contact and achieved a great spiritual success in his life, leaving the greatest to be achieved progessively in his life on life's roles hereafter I am glad I have been able to contribute the above few words in this Commemorating work of his pious memory

May his very pious and enlightend soul achieve its Divinity and enjoy a Blissful life in eternity.
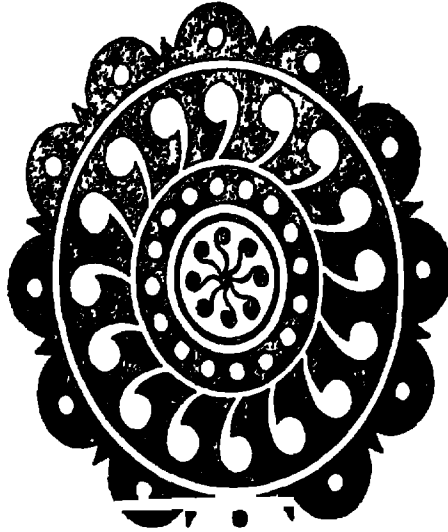
Rational Religion (I)

G. C. Dhariwal

A living being, be it a man or a beast, a bird or a plant, is composed of two substances, soul and matter. Death means the separation of the two. Body is matter and is visible to eyes while the soul is invisible Matter has got properties known to science All these properties exist in the matter composing the dead bodies Soul is non-matter and therefore, its properties cannot be known or investigated in the laboratories But there are ways and means by which we can investigate the properties of the soul.

It the first instance, let us see what is the difference between the living and the dead. We at once note that the living have got consciousness while the dead do not have it When a living being dies, consciousness goes away. Moreover the scientists have not found any consciousness in any particle of matter Thust consciousness is one of the properties of the soul Consciousness includes intellect, knowledge, discrimination, judgment etc. Now look at this from another point of view. From the beginning of time man has been thirsty for knowledge He has been making new discoveries and inventions in all fields pertaining to matter or soul. It has broken matter into atoms and electrones and studied its properties and has put that knowledge to various and this quest for more and more knowledge will continue till eternity There have also been people who have dedicated their live s to researches in the domain of soul—Tirthankaras, prophets, Rishis, Acharya etc

This quest shows that knowledge is the quality of soul In its wordly environments, that quality lies suppressed and the soul tries to assert itself to regain that quality, hence the quest for knowledge The field of knowledge is so vast that

human race has not been able to acquire full knowledge It may be that the soul imprisoned in the body does not know its true goal or the correct method to reach that goal. Nevertheless its quest for more and more knowledge shows that it is one of this inherent properties

You lock a man or even a child in a room, he will resent it and will like to come out You chain a dog, it will try to break away from the chain and free itself. A dead dog or a dead man would not mind any restriction Thus every living being wants freedom What has man not done to gain that freedom, be that the individual freedom or the social or the political freedom Man has even asserted "Freedom is my birth right" and has sacrificed his all to preserve or to gain that freedom. Even now, throughout the world, nations are struggling to gain political and social freedom, freedom from despots and dictators Men have formed Governments, i. e. given up part of their freedom for the common good, but there also the principle is 'that Government is best which governs least' This shows that freedom is also a property of soul and it is struggling to regain it It may be that man does not know the full implications of that freedom or the real means to attain it, but his very urge for freedom shows that it is soul's inherent property.

Every man and for that matter of fact, every living being wants happiness and peace We can understand this better in thes case of human beings All actions of a man are guided by this sole motive No man acts with a view to get misery. Man's aim is always to get happiness Whether a man acts as a saint or a scoundrel his aim is to gain happiness Is it not peculiar that men act in contrary ways for the same aim ? The reason is that they are not clear in their minds what constitutes happiness and what are the correct means to get it Nevertheless it shows that happiness is a property of the soul and all living being aspire to get it

No living being wants to die Even birds and insects have instincts to save themselves from harm and death. Man has always been trying to conquer illhealth disease, accidents etc which lead to death and to conquer death itself Look at the medical and surgical researches They all go to show that man does not want to die. Why ? Because immortality is also a basic property of the soul.

We thus find that knowledge, freedom, happiness and immortality are the inherent properties of the soul. We can in the same way investigate other basic properties Basic properties of a substance are constant They cannot vary from unit to unit A number of samples of pure gold will all possess the same property Their colour, touch, feel, specific gravity will be the same If a sample is different from a standard sample it shows that it contains some alloy, i e foreign matter or impurities All souls must similarly have constant properties No two pure can

differ from each other If they differ, they can do so only if they have got some foreign matter mixed up with them, they are then not pure

We see in the world that even among mankind different people have different degrees of happiness and misery, intellect and stupidity, health and sickness etc, i e. the inherent qualities of soul are found in different degrees We also see that animal kingdom and the plant kingdom possess the good qualities in a lesser degree This means that the embodied souls have got different properties of foreign matter attached to them and the less the quantity of foreign matter, the purer the inherent qualities of soul, i. e. the inherent qualities of soul are covered by foreign matter in different degrees in different souls

The natural aim of a living being can only be to remove the foreign matter and attain purity. The activities and actions of living beings show that the soul—itself a living being—is exerting to that end, to get rid of all foreign matter and to attain the Pure State But owing to the influence of foreign matter, the embodied soul does not know the right way It is, so to say, groping in the dark and follows the path of trial and error. There have been souls in the past, who have been successful in their experiments fully or almost fully and they have shown the path for others to follow They have enlightened the path for others But every body is not capable of taking advantage of the results of their experiments. But people do take advantage in different degrees according to their capacities Those who have no faith in those experiments and their results, naturally get no advantage Others who have got faith, get benefit to the extent of the strength of their faith and conviction Even though some have faith, they are incapable of acting upto it and so do not get the full advantage Even man, the most intellectual among living beings, has got certain weak nesses, due to the bondage of foreign matter attached to his soul, which does not allow him to act even according to his faith People know that to get intoxicated is bad and yet we find people becoming repeatedly mad with intoxicants The same applies to other acts

The whole universe is governed by definite laws, the laws of nature There are laws which concern matter, similarly there are laws which concern the soul. Modern science is busy with the former and has neglected the latter It has enabled man to send satellites thousands of miles away from the earth It has enabled man to break the atom It has shown man what a tremendous energy is released by breaking an atom and thus man's researches in the domain of matter continue

There have been, likewise man who have made researches in the domain of soul They have shown that soul and its combination with matter and also its dis-association are governed by certain definite laws of nature. They have also discovered

the infinite power of the Soul. This science concerning the soul is called Religion. It is a pity that modern man has been neglecting this most important branch of knowledge, which shows him the way to happiness in this life and the next. The orthodox have degraded it to a mass of superstitions and rituals, having no bearing on the purification of the soul and have even made it a means to exploit the ignorant masses Religion has thus lost its appeal in modern times

Matter is indestructible, it only changes forms. So is the soul indestructible and it only changes its form Both are governed by certain definite laws. Religion deals with laws relating to soul In accordance with these laws the soul assumes the form of a human being, which is comparatively in a higher stage of purification or evolution, or it assumes the form of an animal or other lower forms. If for no other reason, at least to make us strive for higher evolution of the soul or to make us cautious against the still power degradation of the soul, we may assume the higher stage of heaven and the lowest stage of hell Thus we may divide the living beings or the embodied souls under four categories viz. Heavenly, Human, Subhuman and Hellish according to the degree of evolution of the soul. When the soul has evolved to perfection, i.e. got rid of matter, it can no longer remain in a body (which is matter) but becomes emancipated, perfect, possessing its inherent qualities of purity. That is the stage of Godhood, Parmatman, Nirvana or Moksha.

We have said thal the embodied soul is groping in the dark and follows the path of trial and error Man runs after happiness and in this he clashes against the happiness of others and a conflict starts and instead of happiness he gets unhappiness and a vicoius circle starts creating an atmosphere of callousness No one can be happy in an atmosphere of callousness Sometimes he takes intoxicants to forget misery but thereby he does not get rid of it but adoption of this method makes matter worse and all people know what happens when a person becomes addicted to drinks. Again sometimes he comes under the influence of anger, pride, avarice and the like and thereby loses the balance of mind and the power of judgment and discrimination This means the basic properties of the soul viz. knowledge and consciousness become blurred and the soul gathers more of foreign matter which is against the desired end. Moreover in the practical world we see these things create enemies and a chain of reactions start making everybody unhappy. Thus in his pursuit of happiness, he gets unhappiness. Then what is his guide ? We see in this world that one runs after luxuries, while the other sacrifices his wealth, his power and his everything, the aim of both is happiness. One practises continence and the other adultery, the ultimate aim being the same. But contrary acts cannot bring the same result. The question arises, which is the right way and what is the guide Religion was always believed to be the guide and the Seers ordained certain

rules for the purpose These were the moral laws or rules of morality. Different seers made different rules for different categories of people Some said the 'Fear of God was the beginning of wisdom' Some described the joys of heaven and the good things for the man in this world as the reward for good deeds and the torture in hell as the punishment for evil deeds All these sayings or proverbs and rules based on these sayings kept men on the right path But today faith in God and the seers and their sayings has gone Nobody believes in the reward of Heaven or the punishment of hell. In the mad pursuit of supposed happiness, he disdains religion and says 'a bird in hand is worth two in the bush'. Why should I restrain myself from doing any act which gives me pleasure simply because somebody says it will lead to disaster ? The talk about soul, its evolution or degradation, God and Religion is regarded as non-sensical. Happiness is regarded as consisting of the ever rising standard of living This needs money Money has to be obtained by establishing colossal industries and exploiting the undeveloped world by forcing the products of these industries on them. Competition starts among the various manufacturing countries to produce cheaper goods by exploiting labour and to capture markets by threat or force of arms Wars start and spread ruin and then wars start to prevent wars and the world is pushed towards its doom The mad pursuit of materialism has thrown to the four winds all standards of morality and decency Corruption and crimes are increasing in the world. Neither capitalism nor socialism or communism can stop this rot

The only way to stop this rot is to change the trend of human thought. Matter should not monopolise human thought The existence of the soul and its inherent qualities must be accepted The reasons why those qualities get corroded must be studied, how the corrosion can be minimised or avoided and got rid of, must be found out. Man must be taught to act on the principles so established

It must not be thought that all this talk about soul and religion concerns only the life after death, that the preaching for purification of soul is only for Nirvana or Moksha or Godhood. Moksha is the ultimate aim or the Ideal In reaching that stage a soil has to pass through different stages of purity or evolution and at every stage, he feels and enjoys more and more of the inherent qualities If we look to mankind, some are more fortunate than others because of higher evolution of soul. But in the flush of fortune if they forget the truth and attract impurities to their soul by their actions not only the evolution stops but degradation sets in A human being must, therefore, never neglect this alertness and always keep the ideal before himelf It is only if man wakes up to the reality, the world can be saved from the doom that is threatening it

Note :—Comment, criticism and suggestions are invited It should be considered whether essays like this can form a basis of non-sectarian religious books fit to be introduced in schools, without prejudicing the 'Secular' policy of the State

Rational Religion (II)

G. C. Dhariwal

Man cares for the health of his body, but man is not body alone. It is something plus the body That something is soul Man is an embodied soul. Therefore, the care of the health of soul is no less important than that of the body. On a man's death, the embodied soul leaves the body which is then consigned to fire or earth, while the soul cannot thus be got rid of It travels to another body, in the condition in which it is at the moment, in ill-health or good health, and so the health of the soul is more important than that of the body As in the case of body so in the case of soul 'Prevention is better than cure' Medical science prescribes the rules of living to keep the body fit and healthy. Religion prescribes the rules of living to keep the soul fit and healthy. If you fall sick, medical science prescribes the cure and so does religion if your soul fails sick But there is one difference Your indiscretion in rules of living affecting the health of your body shows its result quickly and that acts as a warning to you, while the indiscretion in rules regarding the health of your soul does not show the results so quickly and so the ancient sages established certain dogmas, to encourage man to keep his soul healthy. The existence of an All-Powerful God, sitting in judgment on all actions, and punishing and rewarding the living beings according to their actions, even sending them to Hell or Heaven and so on, kept him away from actions prejudicial to the health of soul Rules of conduct and traditions were established and the fear of God began to be regarded as the beginning of wisdom. Stories of miracles created Faith and Devotion, Shradha and Bhakti, and a sort of strong public opinion in favour of the moral laws and traditions was formed. This was Dharma or Religion which decame a very powerful force in support of the health of soul Even in wars, Dharma was not forgotten

But man has been continually advancing in intellect. He is going to become an intellectual giant. He denies the very existence of God, because his rockets have

not been able to locate Him. He does not believe in the miracles and when he sees the religious teachers themselves do not practise what they preach but on the other hand exploit the people in the name of religion, the roots of faith and devotion become loose The industrial revolution in the West and the theory of competition changed the whole outlook Exploiting the backward nations and amassing of wealth and concentration of power in a few hands made Mamon usurp the throne of God The old values changed What were regarded as virtues came to be looked upon as vices and vice versa In this mad rush and competition to leave the other fellow behind, man has no time to think of soul and its heolth. What to sao of soul, he has no time to th nk of the health of his body even. We see new diseases spreading mainly due to this mad rush—blood pressure, heart diseases, mental diseases, cancer and so on

By denying the sun, the sun cannot become non-existent Similarly by denying or forgetting the soul, it does not become non-existent, and the natural laws relating to soul, like all natural laws, cannot be cheated They are inexorable and neither prayers nor bribes can stop them from functioning. The old sanctions—the fear of God and the punishment in hell or the reward in heaven, traditions and public opinion and the religious commandments, have all lost their force They can no longer keep men on the right path On the other hand they have become objects of scorn and ridicule. The only occupations of the people now arel ove and war (Raga and Dwesh) and every thing is fair in love and war We see the result of this philosophy or want of philosophy in the individual as well as the collective lives of men Dishonesty, corruption and crimes are increasing everywhere, laws and law courts are failing to arrest crime in spite of promulgation of new laws almost everyday about every thing and the fear of fines and corporal punishment is vanishing Man is becoming more and more selfish, callous and cruel and the exploiter of his fellow beings Perhaps beasts today are not more debased than what their predecessors of a hundred years ago were. But that cannot be said of man In the collective or the international sphere, there is the worldwide tension, the cold war, the opposing blocks, the threats and counter-threas of war, the competition in the descovery of weapons of total anihilation

Man has been trying to forge new sanctions in place of the old ones, but with no result In the international field he created the league of nations, which is long dead and the U N O. which has succeeded only in demonstrating its impotency. In the individual sphere, the enactment of laws about everything has reduced the sanctity of moral sanctions and obligations and has created a class of intellectuals whose only job is to specialize in making all such laws infructuous. What is going to be the fate of mankind ?

Water takes the lower level and so does human habit. It is easier to adopt evil habits but it is difficult to get over them. Diseases are infectious, good health is not Evil thoughts and evil habits spread and gather momentum and then they become a normal feature of life and the public conscience becomes deadened Not only that, but even sound principles are but to unsound uses. The principle of equality of sexes meant to prevent the exploitation of women by men, has resulted in doubling the consumption of wine and cigarettes. The freedom of women from slavery of the husband has thrown them into the slavery of the capitalist to supply him with cheap labour. Perhaps there is not aprinciple which has not been misapplied in some way or other, because the application depends on man's tendency and man's tendency as we have said above, takes easily to lower levels Man cannot rise above his weaknesses and so naturally justifies all his actions Then there is not an evil in the world, in support of which intellectuals cannot find an argument Common people follow the intellectuals and thus the lower lever of behaviours becomes the general standard Then came another group of intellectuals—the philosophers who preach the theory of Realism Anybody who preaches against his, any body who preaches about raising the moral level by self-control, a spirit of self-sacrifice and similar things which were regarded as the foundation of character is called amania having some psychological defects. All the ancient sages and saints and religious teachers are placed in that category and their teachings are charged with thwarting the personality of a human being

Thus no incentive is left for the development of those qualities which were called noble and were regarded the foundation of character, individual and national and which were prized and guided human behaviour. Those qualities are no longer the ideal now The ideal is more and more physical comforts and enjoyment with no limits The natural consequences of this ideal cannot be other than what have been described above.

If man has to survive, he must change his ideal. He must appreciate that he is not only matter-body, but is a combination of body and soul and that soul has got certain basic properties and his ideal should be in consonance with those qualities and not antagonistic to them. In usual parlance, we say, man should have a healthy mind in a healthy body This means nothing more nor less than, that man should aim at a healthy body and a healthy soul For keeping the body healthy, you must know how to tend it, you must know the laws of keeping it healthy and you must know what is a healthy body. Similarly for keeping your soul healthy, you must know how to tent it, you must know the laws of keeping it healthy and saving it from epidemics and disease and above all you must know what is an ideally healthy soul For your body you know that foreign matter spoils its health is to purge your body of the foretgn matter. Similarly, in case of your soul it is the foreign matter that mars its inherent qualities and your aim should be to cleanse your

soul of that foreign matter Mere knowledge of the laws of health of body cannot make it healthy and so mere knowlodge of the laws of health of soul cannot make it healthy, but in both cases you have to act according to those laws just as man is prone to temptations and the enjoyment of senses, yielding to which ruins his body, so does the yielding to temptations break his will power to resist the attachment of foreign matter which spoils the health of his soul

Man must therefore try to understand the basic properties of soul, the various influences that ruin its basic properties and other connected subjects, his knowledge must be backed by strong living faith or conviction which alone will encourage him to act according to the laws of soul There lies the salvation of mankind This is what true religion teaches

This does not mean that he should neglect his body, because body is the vessel that contains the soul and he must also appreciate that rules relating to the health of body and soul are not contradictory but complimentary

The present trend is towards materialism at the cost of spiritualism, worship of matter at the cost of soul and this is taking the world to its doom Man must not sheepishly or blindly follow this trend, but must rise against it Only then man can survive as a man It has happened in the past—both mythological and historical Great souls have arisen in all climes and at all times who have raised the banner of revolt against the then current trends and saved humanity Mahavira and Buddha were such souls. If the world exists today as a civilized world, it is due to such great souls and not due to Alexander the Great or Changezkhan or due to Rockfellers or Fords or even to the army of great scientists and discoverers of atom or hydrogen or nuclear bombs All of them have been instrumental only in degradingt he man

True religion—the science of soul must get its due recognition and religion should not be regarded as a separate compartment of life to be looked into at leisure or at certain periods or places only or in the observance of rituals and ceremonies without understanding their purpose Religion is to be lived every moment of our life just as rules of health are to be observed throughout our lives and there is no need of introducing anything mysterious or mystic in it Even the rituals and ceremonies that go in the name of religion are of any use only if they fulfil the purpose of reminding the man that besides his body, he has also a soul to care for and that he should take care that the qualities of soul are not ruined

If man is taught to take care of of his soul, along with his body, there will be no ill-will, no exploitation and no war and Peace will reign in the world

Note —Sir Robert watson watt, the British Scientist said that Chemists have developed a toxic substance weighing only eight ouncees that could kill every human being on our planet" and this is only one of the biochemists' chamber of horror. Professor Mikhail Dubiuuin of the Institute of physical Chemistry in Moscow said, "It is well known to us scientists that by now even more lethal Chemical and bacteriological weapons have been created which, in case of a new war, might be used as a means of annihilation (Amrita Bazar Patrica, 27th Agust 1959)

Samadhi in Buddhism

Kamla Jain, M. A., Delhi

"Samadhi" is a term of decisive importance in Buddhist literature. A study of practical philosophy of Buddhism is incomplete without having a clear conception of Samadhi It is not exclusively a Buddhistic term ; it is prevalent in almost all the schools of Indian Philosophy and religion It is meaningful from the spiritual point of view in all the different schools, and forms a very important step in the path for annihilation of suffering or Dukkha—the ground of all spiritual effort From the Vedas to the Tipitakas of the Buddhists and the Agamas of Jainas, the desirability of the spiritual growth is pronounced because the life is full of suffering, and there is definitely a stage, where final emancipation from all suffering is reached, where there is extinction of Dukkha—Adhyatmika, Adhidevika and Adhibhautika (Spiritual, mental and physical) Hence Buddha talks of a fixed path leading to that stage of Moksa Kaivelya or Nirvana. It is this fixed path which has been called by Buddha *Sila* (virtue or morality), *Samadhi* (meditation or concentration) and *Panna* (knowledge of the ultimete Truth) These include in themselves the so called Astangika Marga (the eightfold path)

Sila means good conduct, morality or physical discipline. This includes Ahimsa (non-killing) Satya (speaking truth) Asteya (non-stealing) Kama mithyacara Virati (continence) and Sura Maireya Madya Pramadasthana Virati (abstaining from intoxicants). This physical discipline forms the first step in Buddha's sasana (doctrine) By Samadhi is meant the mental discipline or purification of Citta (mind) through concentration or meditational practices These meditational practices from the very core of Buddhism. Panna is the final stage, which is attained as the end of

all sila and samadhi—the ultimate knowledge of truth. These are the threefold teachings of Buddha which are comprehensive enough to include the eightfold path In verse after verse and in passage after passage in Nikayas and Dhammapada the glory of the threefold teaching has been sung. Top priority is given to these teachings because it is only through these three means that the Jiva can get rid of the entanglement of Tanha (attachment) which is entangling him from time immemorial The following verses of Samyukta Nikaya can give a glimpse of the importance given to them by Buddha when Buddha was asked by a deva

अन्तो जटा बहि जटा,
जटाय जटिता पजा ।
तं तं गोतम पुच्छामि,
क्यो इम विजटये जटंति ?

The reply which Buddha gives immediately ·

सीले पतिट्ठयो नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञायं च भावयं ।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटं ।

This small reply given by Buddha indicates the relevance of sila, samadhi and Panna for the removal of embroilment of Tanha The threefold teachings together constitute the path of purity. The importance of this had not been overlooked by later thinkers too These two verses of Samyukta Nikaya were given to Buddhaghosa for explanation to test his knowledge and Buddhaghosa beyond the expectation of his enquirers gave a superb presentation of his knowledge in his famous work "Visuddhimagga" (The path of Purity), which almost has no parallel In the three parts of his visuddhimaggo he deals separately with the threefold teachings of Buddha (Trisiksa).

In the second part of Visuddhimagga he has very elaborately and distinctly discussed Samadhi or concentration, its meaning, its implications, classification etc in great detail. Having established oneself in morality or good conduct, cleansed by qualities such as limiting of desires and detachment with life, one should develop concentration or Samadhi—the discipline of mind.

Discipline of mind is of supreme imporatnce It is important from the spiritual point of view, but it is no less important from the worldly standpoint too We behold in our everyday life that it is because of our fickle-mindedness that the numberless problems arise We are socially and politically disturbed, because we are mentally disturbed. It is because of our disturbed mind that the external world

is disturbed ; the social and political set-up is disturbed If the mental make-up in general is sound, the external world will necessarily have a trend towards improvement All these disturbances have their seeds in the mind Hence the importance of the discipline of mind, and the wide implications of concentration of mind

In the everyday life concentration is of great psychological worth. Without concentration one's normal life is impossible In its simplest form concentration is the narrowing of the field of attention in a manner and for the time determined by the will The "mind is made one pointed and does not waver and does not scatter itself like the flame of the lamp in the absence of the wind". Everything changes every moment however slight the change may be, but it is concentration which provides some stability in this perpetual flux enabling mind to stand on the object without distraction for more than one moment "In addition a synthesising activity (Sam-a-dhi-Syn-thesis) binds together a number of mental states which arise at the same time as water binds the latter of soap". (Comze) Such is the importance of concentration from psychological to spiritual growth.

But the spiritual concentration is very much ahead of Psychological concentration, which need good training of mind with great effort "Spiritual or transic concentration results less from intellectual effort than from a rebirth of whole personality including body emotion and will "

The term Samadhi or concentration means firmly placing—the act of putt ng or placing the mind and mental functions evenly and pioperly :

समाधानट्ठेन समाधि, एकारम्मेण चित्त चेतसिकं सम सम्मा च आधारं थापन ति वुत्तम होति ।
(Visuddhimaggo Buddhaghosa)

Buddhaghaghosa has brought out various characteristic features of samadhi as to what are the characteristic function, manifestation and proximate cause of concentration Concentration has non-distraction as its characterstic. Its function is to eliminate distraction It is manifest as non-wavering and its proximate cause is bliss This in a nutshell is the summery of his grand research on concentration—as a means to spiritual development.

He classifies Samadhi as Upacara and Appana (Arpan) In the attempt for concentration of mind, upacara is said to be that mental state which immediately proceeds the fixation of mind on a certain point, the fixation is termed as Appana. Hence this classification indicates the preparatory attempts for developing concentration of mind

Another classification which he makes is that of Laukiya Samadhi and Lokuttara Samadhi Laukiya Samadhi is connected with good thoughts "Kusalacitta-

Ekaggata," while Lokuttara Samadhi is associated with the fruits of Sanctification This is the stage which is very near to Panna Buddhaghosa has also made some other classifications of Samadhi, like hina (lower) majjhima (middle) and panita (higher) Then again there is an important classification (i) Savitakka—Savicara, (ii) Avitakka—Savicara and (iii) Avitakka—Avicara. means (i) concentration with discursive and discriminatory thoughts (ii) Concentration with discrimination but without discursive thought and last without discrimination and discursive thoughts

Then he classifies concentration as piti Sahagata (with joy), Sukha Sahagata (with happy state of mind), and Upekkha Sahagata (with equanimity of mind) these are the important classifications Buddhaghosa has also made some other classifications but all of them cannot be discussed at this place

These classifications help one to comprehend the various mental states accompanying the different kinds of concentration, but they are unable to give us an idea as to how the adept should start the meditational practices and how to advance concentration So Buddhaghosa has also discussed the processes to enchance meditation gradually The processes towards meditation also indicate to the obstacles or hindrances which are to be overcome for getting established in meditation.

These hindrances according to Buddhaghosa are 1. Avasa (dwelling) 2 Kula (family) 3 Labha (Gain of good) 4. Gana (members of congregation) 5. Kamma (works) 6 Addhana (wayfaring) 7 Nati (relatives) 8.Abadha (one's own sickness) 9 Gantha (scriptiues) 10 Iddhi (Miraculous powers). These ten obstacles are called palibodhas which are to be overcome to start the meditational practices, but these ten impediments are not objective, on the other hand they are subjective to one's own tastes and temperaments etc For one 'Avasa' is an impediment but for the other, palibodha 'Kula' for example may serve as an impediment. Buddhaghosa also discusses forty Kammathanas or subjects of meditation which are of help rather than hindrance in meditation On these forty subjects the adept concentrates to start with the meditation. These subjects are tenkasinas ten Asubhas, Ten Anussatis, four Brahmaviharas four Aruppas one Sanna and one Vavathane

Out of the forty subjects ten Kasikas come first In Buddist meditational practices the term is applied to those subjects of meditation which occupy the entire mind (the word Kasina means 'entire' and as such it does not give scope to the rising of any other thought These are Pathavi Kasina (earth as the subject) likewise there are Apo Kasina (water) Tejo Kasina (fire), Vayo Kasina (wind) Nilakasina (blue colour) Pita Kasina (Yellow colour) Lohita Kasina (red colour) Odata Kasina (white) Aloka Kasina (Light) xxx Paricchinnakasa Kasina (circumscribed space), i e the opening in a wall or a window These are the objects of maditation Buddha-

ghosa has also spoken about the various miraculons powers the adept acquires by successfully practising the Kasinas

Other objects of meditation are called ten Asubhas. Here the adept, is to fix his mind on ten unpleasant objects which is something more difficult than the fixing of mind on pleasant objects, these objects are for example uncared corpses, swollen corpse etc At this stage the adept should have more of patience in his meditation.

Buddhaghosa then speaks of the ten Annussatis (recollections) as the objects of meditation These annusattis are the pure cognitions of the merits of Buddha, Dhama Samgha, S'la Caga (charity) etc Here one finds that there is a direct shift from concrete objects to abstract ones, which are made by adept as concepts for concentration, which is a sign of making the meditation purer and purer. In the final stage of Samadhi as we know the adept has the most abstract object before him.

Another group of Kammathanas is known as Brahmaviharas which are four in number These Brahmaviharas are very important Kammathanas. The very word Brahmavihara suggests its importance by itself (Brahmavihara—Divine-Abidings) the adept reaches the divine states at this stage. These are Metta (amity), Karuna (Compassion) Mudita (Sympethtic joy) and upekkha (equanimity). The adept at this stage concentrates on these higher qualities, after reaching these higher qualities one almost conquers over his fickle mind These Brahmaviharas are also found in the same order in Patanjali Yoga Sutras

तत्र सर्व-प्राणिषु सुख-सम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत् ।
दुखितेषु करुणां पुण्यात्मकेषु मुदितां अपुण्यात्मकेषु उपेक्षां ।
एवमस्य भावयत · शुक्लो धर्मं उपजायेत ।
ततश्च चित्तं प्रसीदति प्रसन्नमेकाग्रं स्थिति-पदं लभते ।

The doctrine of friendliness (metta, should be cultivated and should be started from one's own self but care should be taken, lest this friendliness may change into roga or attachment. Karuna (Compassion) is the practice one starts with those who already deserve it, but ultimately the adept should extend it even towards the enemies In the practice of Mudita the adept is having sympathetic appreciation towards all. This practice should not be limited to a selected few but the range of it must be as wide as possible The last Brahmavihara is *Upekkha* (equanimity) this step is taken up by an adept who has perfected himself in the previous three stages The adept at this stage should be neutral to his friends as well as enemies

Then Buddhaghosa mentions the name of four Aruppas which also form important Kammathana the Chief Characteristic of these Aruppas-Kammathanas is

that, at this stage the adept fixes his mind on Anantas (infinite), the adept goes beyond the Rupaloka (the world of forms) and his mind is severed from all conception of distinction These Anantas—infinites (objects of meditation) are I) Ananta—Akasayatana, (the object of meditation as 'space is unlimited') (II) Ananta Vinnanayatana (the object here is 'consciousness is unlimited'. The third subject of meditation is Akinanayatana (nothingness voidness), that too is unlimited and the last subject of meditation according to Buddhaghosa is "neither perception nor non-perception" Nevasannayatana Nasanna Yatana But this seems to be derived from the third Aruppa—Akincahayatana, which indicates to the absence of a concept.

In the last two Kammathanas, (i) Aharepatikula Sanna bhavana (the meditation for developing aversion to food—which is an obstacle to higher Samadhi) And the Caludhatu—Vivathana—Bhavana (the meditation on various elements in the boby (which are useless, non-eternal and transient), the adept now reaches the highest stage culminating in Vippassana Samadhi leading to the final stage of Panna in the threefold teachings of Buddha

This is a short summary of Kammathanas which indicates various stages of Samadhi reached by an adept How the adept first starts with concentration on very concrete objects, *e. a* earth, air, water etc and then later on advances to objects becoming more and more abstract. And ultimately the object becomes most abstract of all in the final stage of meditation One overcomes now all the mental leanings such as Raga (attachment), dosa (hatred) and moha (infatuation) Hence such is the highest stage of Vipasana or lokuttara Samadhi of Buddha.

In all these states of gradual development of one's self the importance of a spiritual preceptor (Kalyanamitta) cannot be overlooked. Buddhaghosa has also given indication to it (in Visuddhi-Magga) and really in the beginning a competent guide is of utter importance It is he who can help the adept what type of Kammathanas are to be adopted by the adept and what palibodhas (hindrances) to be given up, after studying nicely the nature, taste and temperament of the adept

This is a brief sketch of the Buddhist Samadhi—an important part of the path leading to liberation, but as we know that the term Samadhi and its implications are not new to other schools of Indian thought In Jaina scriptures the term Samadhi is not unknown It is found in Agamas quite frequently and in number of places But in order to give a correct parrallel to Buddhist Samadhi we are to call up the name of Dhyana of Jainas and more particularly *Dharma and Sukla Dhyana* The term Samadhi is also taken sometimes in a broad sense meaning thereby Darshana and Jnana and caritra taken together. But we should keep in mind that the implications of Samadhi in Buddhism and Dhyana in Jainism can

never oppose each other. In fact Dhyana and Samadhi of Yoga system are simply different stages of Dhyana of Jainism and more precisely, Dharma and Sukla Dhyana.

Hence to understand the nature of Samadhi in Jaina system we are to study the nature of Dhyana The term Dhyana in its broadest sense means mental modifications towards an object or an idea Taking this definition in view Jaina scriptures divide Dhyana in four ; I. Arta Dhyann, II. Raudra Dhyana. III. Dharma Dhyana and IV. Sukla Dhyana The meaning of the term 'Arta' means Dukkha or suffering, that means a person constantly reflecting on suffering due to an association to the unwanted and dissociation from the wanted and being troubled all the time with the same recurrent thoughts. By Raudra Dhyana is meant the harsh and atrocious will of a person towards others. This is the worst stage of a man taking him towards the lowest immorality. So Arta and Raudra Dhyana mean concentration of a person on the wrong values of life, which instead of taking him on a higher stage entangle him in this world. So for Moksa they are hindrances, rather than help They are Durdhayanas bad Dhayanas) really speaking The objects in *Dharma and Sukla Dhyana* on the other hand are those which are helps to liberation They are, theretore, rightly been called Sudhyanas (good Dhayanas) The object in these Dhayanas is rather supramundane. The person meditates for example on external truth said by the Omniscient Being, and for seeking the means of removal of suffering permanently.

Dharma Dhyana means that sort of meditation when the object before the adept is Dharma which is comprised of four categories when the mind is made constant on (i) the words of the ommiscient Beings (Ajna) (ii) On suffering as the cause of entanglement (Apaya) (iii) on the cause of suffering . armas and how to get rid of them (Vipaka) and lastly (iv) on the nature and construction of loka (world) (Samsthana). These are the four objects of concentration in the stage of Dharma Dhyana and one remains aloof from the objects of mundane world This Dhyana is the expedient (means) of Samadhi proper or Sukla Dhyana It is prior to Sukla Dhyana.

Sukla Dhyana implies complete and final concentration and cessation of the citta Haribhadra Suri calls the stage of Sukla Dhyana as 'Sokanivartaka Ekagra-citta Nirodha' 'शोक-निवर्तक एकाग्र चित्त निरोध" that is the end of all suffering Sukla Dhyana has also been divided into four, like Dharma Dhyana. This division is based on the quality of Dhyana The prior kinds are inferior to posterior ones in quality. Though the stage of Sukla Dhyana by itself is attained only when the adept has one of the supermost kinds of body (sarira) and mind, as the saying goes "a sound mind in a sound body', and is already on a much higher footing than those of the ordinary man. These four types are (1) Prthakatva Vitarke Savicara & (2) Ekatva Vitarke

Avicare (3) Suksmakriyapratipati and (4) sumuccinakriya Nivrtti Out of these the first two are not totally objectless The object, of course, is not of the same kind as we have in Dharma Dhyana The objects in the first two stages are much more of an abstract nature, they are wholly dependent on the knowledge obtained through testimony (surta Jnana) of a superfine quality whereas in the last two stages the meditation is absolutely objectless, even the knowledge through testimony (Surta Jnana) is no longer furnished as the object

In the first stage of Sukha Dhyana, *Prthakatva Vitarka Savicara*, the adept reflects upon the nature of animate and inanimate objects from the point of view of permanent and changeable qualities, which he has known through testimony. In the second category he is also dependent on the knowledge through testimony, but at this stage the adept does not meditate upon various changeable qualities of the same object, on the other hand he mediates upon one single quality, permanent or changeable

The term 'Ekatva' suggests non-differentiation of various attributes In the former stage the meditation is on various qualities and attributes of the same subjects. Hence now there is a shifting from difference to non-difference So the adept gets a constancy on one subject and thus overcomes the fluctuations of the mind It is this stage which has been called by Patanjali as the stage of samprajuata Samadhi.

In the third and fourth stages of this Dhyana 'suksamakriya pratipati' and Samuccinakriya Nivrtti, the adept already becomes a Kevalin and has no longer to take resort to knowledge by testimony So these are perfect objectless meditations. All this takes place in a very short time, at this stage the adept is no longer under the hold of his own body, he gets rid of this body and is absorved in the real nature of the self This is the stage of *Asamprajuata Samadhi* of Patanjati or the Vipassana of the Buddhista

But one realizes here an important point, that is, in Jaina system, knowledge helps Samadhi through and through, better and better knowledge makes the arousal of better and better Samidhi On the other hand in Baudha system, better and better Samadhi which automatically gives way to Panna (Ultimate knowledge of the Truth)

In the end it would be worthwhile to have a short discussion on Yaga's st nd on Samadhi constituting the final stage This is the eighth or last Anga (part) of the eight-fold path of Yoga for the ultimate aim of liberation, Moksa or Kaivalya Just as Sila, Samadhi and Panna form the path of liberation in Buddhism the eight Yogangas—(1) Yama (restraint) (2) Niyama (culture) (3) Asana (Posture) (4) Pranayama (breath control), 5 Pratyahara (withdrawrl of senses) 6 Dharana (attention) 7 Dhyana (meditation) 8 Samadhi (concentration) Constitute the path of libera-

tion. Patanjali calls it Yoga,. By yoga he means the cessation of mental modifications

योगश्चित्त वृत्ति निरोध :

(Yoga Sutras) when there is a cessation of mental modifications, liberation would automatically come. These mental modifications are five according to Patanjali. i e Ksipta (restlessness), Mudha (blinded State) Viksipta (distracted Ekagra (single pointed) Nirodha (restricted) Out of these the first three states are the hindrances to Samadhi like the palibodhas of Buddhism, whereas the last two modifications of the mind form the starting point in Yoga, because at the stage of Ekagra only the constant flow of mental modifications is arrested and the citta (mind) is made adepted to one single point, though of course in the biginning object of concentration is very much concrete, just like the Kasinas of Buddhism The Yoga psychologists admit that concentration is the general characteristic of all states of mind Though it is found in its intensest form in Samadhi, the last stage of Yoga The hindrances are overcome through various Yogangas, i e yama (ahimsa, Satya, Asteya etc) —the silla of Buddhism, and Niyama, asana etc and after getting eatablished in these yogangas which are the external aids to Samadhi, the person becomes fit for Samadhy which in its broader sense includes Dharana Dyana and Samadhi proper What we can compare to Samadhi of Buddhism, and the Dhyana (Dharma & Sukla of Jainism is not only Samadhi, the final stage of yoga but Dharana, Dhyana and Samadhi taken together, thus Dharana and Dhyana and Samadhi constitute the internal aids to Nirvana or Kaivelya *Samadhi* in Yoga is thus the name of the adjacent condition to Nirvana It is the end of Yoga discipline, since it makes the soul highest of all these temporal changing and fluctuating conditions of this imperfect life It is the state when the soul realizes its own true nature—the Vippasana or lokuttara Samadhi of Buddhism, and the last Stage of Sukla Dhyana of Jainism

Hene to get a comparative view of Buddhist Samandhi we are to get acquainted with Dharana, Dhyana and Samadhi of Yoga.

Dharana is the fixing of citta (mind) on a particular object or spot, it is the steadfastness of mind In our daily life, we see ideas come and go and do not stay long, so Dharana is the making up of the mind to fix it on a certain object, just as the adept starts his concentration from concentrating on 'Kasinas'. It is only later on that the concentration becomes objectless Dharana is the preceeding condition to Dhyana (meditation) which means an undisturbed state of an even current of thought This has the effect of giving us a clear and distinct representation of the object first by its aspects, but later on the representation of the object changes into a full and lively presentation of it Thus Dhyana makes a disclosure of the reality of the contemplated object. Dhyana culminates into Samadhi It is

a state when body and mind become dead to all impressions, and the mind gets adsorbed in all contemplation, and only the object (Dhyeya) is everything for the adept and nothing else Dhyeya and Dhyana almost coincide, now

'तदेवार्थनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः''

Even this Samadhi has two different stages as we know *Samprajnata Samadhi*, in which the consciousnpss of the object is still left over So it is called the 'salambana Samadhi' It is that state where citta is single in intent and fully illumines the real object and removes the bonds of Karma and has the capability of restraining all mental modification It is a state from which no downward fall is possible This state is accompanied by Vitarka (deliberation) Vicara (reflection) Ananda (joy) and Asmita (sense of personality). In fact these are the four ways in which this higher concentration develops

At this stage there is a direct knowledge of all, but one point we should bear in mind that the knowledge one attains is not through inference as most learned scholars may have even today, but the knowledge at the stage of samprajuate Samadhi is direct and without any error and not through inference

Asamprajuata Samadhi on the other hand is that stage where even the con-sciosciousness of the object has ceased to be No Chitvrttis are left, the self attains its purest intrinsic state, thus finally ending in to Nirvana or Deliverance The culmination point of all efforts for spiritual upliftment

It is a short introduction to Samadhi in Buddhism which is given no less importance in various schools of Indian Philosophy, particularly Jaina and Yoga systems.
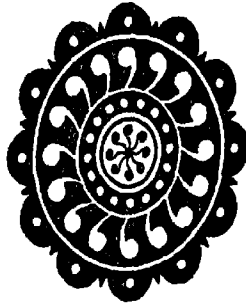
Science And The Universities

By—D. S. Kothari

Scientific Policy Resolution

Science has developed at an ever increasing pace since the beginning of the century, so that the gap between the advanced and backward countries has widened more and more. It is only by adopting the most vigorous measures and by putting forward our utmost effort into the development of science that we can bridge the gap It is an inherent obligation of a great country like India, with its traditions of scholarship and original thinking and its great cultural heritage, to participate full in the march of science which is probably mankind's greatest enterprise to-day.

And the statement continues ·

The Government of India have accordingly decided that the aims of their scientific policy will be ·

(i) to foster, promote, and sustain, by all appropriate means, the cultivation of science, and scientific research in all its aspects—pure, applied and educational ;

(ii) to ensure an adequate supply, within the country of research scientists of the highest quality, and to recognise their work as an important component of the strength of the nation ,

(iii) to encourage, and initiate, wite all possible speed, programmes for the training of scientific and technical personnel, on a scale adequate to fulfil the country's needs in science and education, agriculture and industry, and defence ,

(iv) to ensure that the creative talent of men and women is dissemination of knowledge, and for the discovery of new knowledge, in an atmosphere of academic freedom ;

(v) to encourage individual initiative for the acquisition and dissemination of knowledge, and for discovery of new knowledge, in an atmosphere of academic freedom,

(vi) and, in general, to secure for the people of the country all the benefits that can accrue from the acquisition and application of scientific knowledge

The Government of India have decided to pursue and accomplish these aims by offering good conditions of service to scientists and according them an honoured position, by associating scientists with the formulation of policies and by taking such other measures as may be deemed necessary from time to time

This is a most heartening and welcome policy statement giving explicit cognition to the role and importance of science and technology in the affairs and progress of the country To give concrete shape to this policy is no easy thing, no royal road It requires relentless effort and vigorous action by the Government, the scientific community and the public generally There is no doubt that a great beginning has been made. We have taken the first steps, and in this venture the first steps are particularly difficult As science grows in the country, its influence and effectiveness increases extremely rapidly The interaction between science and society is a dynamic and an evolving thing

The Scientific Revolution

It needs no reminding these days that, in a historical sense, the most conspicuous feature of the modern world is science We do not quite understand why the Scientific—the term is used here in its broad sense—was not realised by the great civilisations of antiquity why and how it originated in Western Europe only a few centuries ago and then spread all over the world ? May be, to start with it was in the nature of a 'spontaneous fluctuation ' which because of a peculiar combination of socio-economic factors, aided by colonial expansion, revival of ancient learning and an atmosphere of religious ferment gathered momentum rapidly instead of evaporating away as probably happened with somewhat similar events in earlier times We do not understand why the growth of science during the preceding two years or so has occurred at an almost terrific pace—the *doubling period* of science is around 15 years Much study and research in the history of science and social sciences would be necessary before we could hope to understand these things

Let us for a moment see the Scientific Revolution against the backdrop of history—the evolution of the universe It is meaningful to assign to the universe an age of 20-30 billion years (1 billion— 1,000 million), The sun is 10 billion years old, and it has about the same length of time ahead of it As against this, the highly luminous B-type star has a lifetime of a few million years only Incidentally, the

sun is a second, or even a later generation star as revealed by its chemical constitution. The first generation stars were originally of pure hydrogen which was transformed in their extremely hot interiors into different element ranging from helium. Some of these stars exploded in the course of their career, and scattered into space the elements synthesised in their deep interiors. These later found their way into new stars under formation—the second generation stars. One of them is our sun The earth in present form is about 5 billion years old. The most primitive forms of living organisms appeared on the earth perhaps 2 billion years ago , the first birds and mammals are about 200 million years old. Man appeared between 1-2 million years ago. Agriculture seems to be no more then 10,000 years old , and the first writing was invented some 6,000 years ago Science, as an important element in determining man's economic, cultural and spiritual 'climate' has been in operation for less than two centuries Man is now harnessing, under controlled conditions, a source of energy million times more powerful than chemical energy. Harnes ing nuclear energy demands deep insight and considerable progress in fundamental science, as distinct from empirical arts and crafts It seems that man is now truly entering the '*age of homo sapiens*' when he can aspire to a citizen not only of the One World in the making, but a citizen of the universe And it is no mean universe We do not know whether the universe is *finite* or *infinite*, but progress in radio astronomy is likely to provide an answer to this question within the next few years The explored part of the universe is populated by some ten billion *galaxies*, and each galaxy contains some hundred billion stars A typical galaxy has a diameter of hundred-thousand light years; Inter-stellar gas makes one to ten per cent of its total mass. During recent years planetary systems other than belonging to our sun have been discovered. (It is easy to show that for a planet the maximum size (radius) cannot be larger than about that of Jupiter) It is almost certain that intelligent life is no monopoly of the earth. May be, at no distant date man succeed in linking himself to a 'cosmic telephone network'.

Science Stresses Cooperation

The real strength of science lies in its relentless, vigorous and fearless pursuit of truth Scientific laboratories which less than a hundred years ago were a curiosity and a rarity are now studded all over the globe (Science teaching in India first started in the Calcutta Hindu College (which later became the Presidency College) founded in 1817 under the leadership of Raja Rammohun Roy) Any discovery made anywhere soon becomes the common property of all The language of science is a common language, and its achievements the heritage of all--the only truly common heritage. The world of science is an open one, and this has not altered essentially despite certain it aberrations has suffered because of its close connection with the apparatus of

war An example of cumulative effort that at once comes to our mind is that all particles in nature, be those electrons, antiprotons, neutrinos, or what not, must belong to one of two classes One class of particles are called *femins* after Enrico Fermi (who first realised the nuclear fission chain reaction in December, 1942), and the other class is called *bosons* after Professor Satyen Bose Bose and Fermi were the first to study, about 1924, the relevant quantum statistics. Science gives first place to cooperation and not competition, and its roots lie deep in man's highest capabilities and aspirations With the growth of science, further research generally becomes increasingly complex and costly In some highly specialised and sophisticated fields, cooperative effort on a more or less world-wide basis becomes almost a necessity, e g, manned flight to the moon or even the 1,000 billion electron-volt accelerator required for investigating the interactions between elementary particles (including such fundamental problems as whether in elementary processes the direction of the flow of time can be experimentally determined).

As a direct contribution of science, the average span of human life (expectation of life at birth) has increased everywhere, and in some countries it is three times of what it was a few years ago Whatever the conflicts and bigotries that afflicts the world today, there is no denying that we are witnessing, for the first time, cooperation in science and other fields on a scale and extent never attained before Less than two years ago the U N. General Assembly adopted a proposal that through concerted effort of the 'rich' countries, the less developed countries be assisted to achieve by the end of the present decade an annual rate of growth of at least 5 per cent in their national economy (that is about 2 5 per cent yearly increase in per capita income) A five per cent rate of growth corresponds to a doubling period of 15 years The growth-rate of the national economy during recent years has been about 4 per cent for the USA, and about twice this for the USSR To attain the above target the countries concerned would need probably an economic aid of the order of $ 10 billion on a long-term basis this is about one per cent of the yearly national incomes of the rich countries Incidentally, $10 billion is about one-tenth of the yearly expenditure of defence by them One cannot be wholly rational in these matters, but it seems that world prosperity would be much easier to realise if there were world disarmament

Science Introduces Unpredictability in the March of Events

The overwhelming impact of science on society has for the first time in human history introduced an element of unpredictability and uncertainty not present in earlier times. It arises from the basic fact that in the very nature of things, fundamental discoveries in science are inherently unpredictable When in 1905 Einstein established as a direct consequence of the theory of relativity the

equivalence between mass and energy - the famous equation $E=mc^2$—who could have even imagined that within half a century it would constitute the basis of nuclear weapons of colossal power of destruction making nonsence of the classical concept of war. The abstract, the so called 'useless', is often the shortest road to the concrete and the 'useful' but the road is not known in advance. Broadly speaking, we can only plan for science but we cannot plan science

In passing, one may mention that the above reference to the unpredictability in history has no relation with the ultimate question of freedom and creativity *versus* necessity and determinism of historical events do men direct and control the stream of history or is it that the stream carries man, like floating straw in a river, along a predestined course ? This is an unanswered question, but is it a valid question to ask, or is it a *pseudo-question* which we ask because we do not have knowledge enough not to ask it—we do not quite know We may recall the observation of Einstein.

> I do not at all believe in human freedom in the philosophical sense Everybody acts not only under external compulsion but also in accordance with inner necessity Schopenhauer's saying, "A man can do what he wants, but not want what he wants," has been a very real inspiration to me since my youth; it has been a continual consolation in the face of life's hardships, my own and others', and an unfailing wellspring of tolerance This realization mercifully mitigates the easily paralysing sense of responsibility and prevents us from taking ourselves and other people all too seriously; it is conducive to a view of life, which, in particular, gives humour its due

Freud held that our conviction about freedom of choice is illusory Where we feel we have exercised free choice "we actually leave the matter to be decided by our unconscious mind and then claim the credit for the outcome It unconscious mind is taken into account, therefore, the rule of determinism is of general validity"

Apart from the element of unpredictability injected by science in the march of events, the other two important characteristics of the Scientific Revolution are the rate of growth of science and the new role and significance of the universities.

Growth Rate of Science

Consider the rate of growth. The total achievement to date in science and technology is indeed remarkable, but even more striking is the rate or peace of progress A number of different indices indicate, as brought out clearly in the pioneering study of de S Price, that over the last 200 years or so, scientific knowledge and things directly related to science have been growing at an *average rate* of 5-7 per cent a year This corresponds to a doubling time of 10-15 years As an illustration, take the case of science journals, a key innovation of the Scientific Revolution Beginning with a handful of journals about 1750 A. D., the number rose to

about 1,000 in 1850 A D and is now nearing 100,000 Probably, it would reach a million by the end of the century. In the case of papers notified to be read at our Science Congress, the number was 35 at the first session of the Congress in 1914. (The Congress during the first year had an income of Rs 833/- and an expenditure of Rs 504/-) The number of papers rose to 900 at the Silver Jubilee Session in 1938, and it was 1,300 for the 1962 Session These figures show an average doubling time of somewhat less than 10 years. [Curiously enough, even the number of elementary particles discovered during the last few decades show a doubling period of 10 years] The number of scientists has been rapidly increasing at about the same rate It has been said that the number of Scientists at any time is roughlv one-third of the number of papers published upto that time, This applies to the number, and also to the extent and depth of knowledge, but, of course, not to the quality of mind We do not expect an Archimedes or an Aryabhatta of today to have a really superior mind than his predecessor. (The situation in this respect is somewhat similar to that of the lifespan The mean life-span as a consequence of science has increased considerably, but the *maximum* life-span has remained about the same)

Notice that a doubling period of 15 years means that about 90 per cent of the scientists who ever lived are with us now Frankly, we do not understand why the doubling time of science should be around 10-15 years Of course, this exponential rate of growth cannot continue indefinitely If the present rate of increase in the number of scientists were to continue for another hundred years or so, the number of scientists would exceed the total world population—an obvious impossibility Sooner or later, therefore the growth rate of science would come down, and perhaps level off eventually with he growth-rate of population. In fact, the first signs of an onset of saturation are visible today in the countries which are in the vanguard of science A consequence of the exponentially expanding science is that the time gap between basic discovery and its application is continually diminishing It was a few decades in the last century. It is now less than a decade as vividly illustrated by transistor and now by laser So rapid is the pace of scientific progress that a scientific paper is often out of date by the time it is in print, a graduate is almost adolescent on the day of his graduation, a weapon-system already obsolete by the time it is in production

Rich Countries and Poor Countries

In the contemporary world, rich countries are those which are rich in science and poor are those which are poor in science. This division of humanity into rich and poor is relativly a new thing, and has arisen because some countries have been fortunate to exploit science more fully than others· it is an unfortunate by-product of the Scientific Revolution In the rich countries the economy is dynamic and in most of the poor it is almost static This implies that the gap between the rich and poor

humanity is not only large but widening rapidly with time Often the price of agricultul products in the poor countries remains constant, whereas the price of industrial goodsmanufactured by rich countries rises continually. This makes it all the more difficult for the developing countries to import the much needed capital equipment and machinery to raise their production For instance (as Paul Hoffman pointed out), the under-developed part of the world received in 1958 a total of $ 2 4 billion in aid, but at the same time it lost $2 billon in import capacity to pay more for manufactured goods and getting less for its agricultural produce. Such things tend to a dilute, to a considerable extent, the impact of aid given to developing countries It should be possible, of course, to devise ways which would overcome this and related difficulties, but this will require great vision and courageous statesmanship The wide gap between the developed and underdeveloped world is detrimental to the real interests of both The earnings of a proportion of our population equal to that of the total population of U K. are no more than what the people of U K spend on cigarettes and tobacco It is now established that smoking raises considerably the incidence of lung cancer If what is spent on smoking by the rich world were passed on to the newly developing countries to assist their food production, it would benefit both In this connection it is good to remember that the prosperity of the rich countries is due in no small measure to the contribution in material resources, craftsmanship and brains made by other countries. As an example of the uncommonly high level of handicrafts in India, we may recall Helley's (Secretary to the Royal Society) letter of 1686 "I have seen a great curiosity viz , a calicoe shirt brought from India, which is woven without a seam all of one piece, which I should have thought impossible had I not seen it It explains the Scripture relation of our Saviour's coat which was without seam "

'Seeding Nuclei' for Exponential Growth

In former times when one country helped another, or was forced to assist another bp political pressure or war, the "donor country" lost what was gained by the 'recipient country' If it was a transfer of land or other material resources, one country could only gain it at the expense of the other But in the contemporary world as progress and prosperity depend mainly upon harnessing science and technology, the situation is very different. By imparting scientific knowledge and techniques to a less developed country, a donor country loses nothing this is, of course, an over simplification It is of some importance to recogise that an exponential growth rate of science (with a doubling period much less than the population doubling period) fortunately makes it *possible* for an "advanced country" if it so desires, to make a major contri bution towards the rapid development of a

newly developing country, it could supply an adequate number of technical men, material resources, etc to serve as 'seeding nuclei' for the operation of the exponential growth process in the recipient country, without sensibly affecting its own economy or rate of progress Of course, aid is no substitute for local initiative and effort In a sense aid is deserved only if one could do also without it, but the pace would be slower This is not the place to pursue the subject further, but it is apparent that the main obstacles to rapid progress are now largely social and psychological there is no lack of resources

A country which has newly 'taken-off' in science can with determination achieve a growth-rate higher than that achieved by the 'early starters' Some countries have done it It seems that the early starters and the late starters would, after time, join together and have a growth rate corresponding to the stage of saturation

Science and Agriculture

In countries where agriculture has been modernised the output has increased rapidly Where agriculture has not been linked to science, the output has remained almost stationary Thus, as Lord Rutherford pointed out in his Address to the Silver Jubilee Session of the Indian Science Congress in 1938, the annual production of wheat in India had risen since 1914 from 8 3 million tons to no more than 9 5 million tons, while the exports in the same period had fallen from over a million tons to 10,000 tons The present yield of wheat is adout 11 million tons Rutherford said "In view of these facts, it would seem clear that in any national scheme of research, research on foodstuffs has a primary claim on India's attention Quite apart from improvements in the systems of agriculture used in India, there is a vast field of scientific knowledge to the improvement of crops, for example, by seeking for improved strains suitable for local conditions, by research on fertilizers an din many other directions". And all this is no less true today.

R and D Expenditure and Scientific Manpower

Money spent on research and development is not an entirely satisfactory index of the development of science in a country Much would depend upon the efficiency with which the resources are utilised All the same, within limits, this is an index of considerable significance The U S A Government currently spends somewhat more than 2 8 der cent of the Gross National Product (GNP) on research and development and testing of new defence equipment The amount is more than $ 15 billion, that is Rs 7,500 crores per year (Industry contributes an additional $ 5 billion or so) More than three-fourths of the amount goeg to work related to defence The current level of research and development expenditure in our country is some 0 2 per cent of the GNP In this context it is important to recognise that

the research and development expenditure in countries which have passed the 'take-off' stage in science has been increasing very rapidly during recent decades : the doubling period is less than 10 years About 20 years ago the USA, Government and Industry, spent about 0 5 per cent of GNP on research and development—it was 0 1 per cent in 1920 (In 1940 the Government spent $ 74 million, and $ 2 billion in 1953, on R and D)

The UK Government in 1939 spent on scientific research £ 3 5 million ;the current figure is £ 45 million, representing a four-fold increase in real terms The total expenditure by government and industry on research and development was £ 300 million in 1956 and £ 630 million in 1962—a rise from 1 7 per cent of the GNP to 2.7 per cent. The present research and development budget exceeds the total government budget of some decades ago—In 1909 the total budget was about £ 150 million.

We can have more research only when there are more men to do it. In the USA the number of professionally qualified scientists and engineers constitute about 1.5 per cent of the population (In 1940 the percentage was 0 6 only. By 1970 it is expected to be 2 per cent) *There is a close and direct connection between the percentage of national income spent on research and development and the number of scientists and technologists expressed as a percentage of the total population.* We cannot have one high and the other low without leading ot inefficiency and wastage. To do more science we need more scientists Investment on science and investment on man go together (Figure I). This brings us to the third major characteristic of the Scientific Revolution.

Science and Humanism

In the early days of the Scientific Revolution science had hardly any place in the universities though there were some individual contributions of the highest rank Science was often sneered at and its votaries held to ridicule. Steele wrote in *The Tatler* commenting on a paper on a brainless child, published in the *Transactions of the Royal Society*, that it was a pity the child did not live long enough for, otherwise, he would have made a fit President of the Royal Society. To believe in magic and sorcery was an index of progressive views Medical astrology was regarded as the crown of medical science. Objective and verifiable knowledge of nature which could liberate man's mind from superstition, fear and shackles of authority was lacking. The reigning subjects in the universities at the time were theology, grammar, rhetoric and astrology With the progress of the Scientific Revolution science found its way into the universities, but it had to meet with opposition and it was admitted reluc-

tantly The situation now, of course, is entirely different and, if anything, the pendulum tends to swing a little too much on the other side Incidentally, what happened once with science is to some extent happening today with technology Our Association can play an important role in bringing about an adequate recognition of the humanistic side of science and technology Properly taught, science and technology have as much (if not more) humanising influence as any other combination of subjects Our Association should also give serious attention towards creating a public awareness of the basic and needs requirements of science—support of scince eventually depends upon enlightened public interest in science

Barometer of Science

In the modern world, the universities make by far the largest contribution to fundamental science This has given a new status and a new significance to the place and role of universities in national economy In fact, the level of science and technology in the universities provides a reasonably good barometer to the standard and health of science and technology in the country In a developing country the strengthening of the universities is fundamental to everything else

Combination of Teaching and Research

The experience of more than a century, beginning with the great German Universities, has clearly shown that teaching and research flourish best in combination in isolation they both wither The best of either is achieved in an environment where both are cultivated In this combination of teaching and research, education and discovery, lies the real strength of the universities

In the UK abuot 50 per cent of the expenditure in the universities, as also the time of the teaching staff, is spent on research. The US Government in 1962 spent nearly $ one billion (Rs 500 crores) on rerearch and development in the universities This was seventy times larger than the amount spent in 1940 A recent Report on 'Meeting Manpower Needs in Science and Technology' by the US President's Science Advisory Committee has strongly urged that in order to meet the nation's urgent needs the output of first degree holders in engineering, mathematics and physical sciences, as also the output of doctorates, be double by 1970 This would require a yearly expenditure of $ 8 billion ($ 2 7 billion research as against the present figure of $ 3 billion In 1961 about 645 000 students were enrolled in the USA for degrees in science and engineering, and the number of teachers was about 100,000

There was a time about a hundred years ago when a gifted individual could encompass the whole of science. This is no longer true today Science and techno-

logy are now divided into some 100-150 subjects The division is often arbitrary It is hardly possible for any person today to master even one subject. The fragmentation of science, if it is not to become a self-defeating process, has to be supplemented by cross communications cutting across subject-barriers There must be a continuing re-shuffling of boundaries between subjects Fragmentation is artificial. science, in a sense, is a unity

Revolution in Curriculum

Let us for a moment turn to physics How are students and teachers to keep pace with the subject growing bigger every day at an exponential rate ? There is so much to learn to-day, and there is so much more to learn with every passing year It is apparent that if we are to cope with the explosion of knowledge we need a veritable revolution in curriculum, in methods of teaching and in methods of learning Anything which is of a passing interest, which has only a limited relevance, which does not help to broaden and strehgthen understanding, can have no place in a high school or undergraduate course Also, we need greater stress on mathematics as the basic tool for understanding physics To bring about this desperately needed revolution in syllabus and nothing short of a revolution will do— we require the combined effort of top university researcher-teachers and the school teachers We need chahnnels of communication between the school and the universities The PSSC book produced by a band of outstanding US physicists and teachers from universities and schools is a magnificient of example of cooperative effort. The book has been successfully tried in hundreds of school in the USA. Even more important than the contents of the book is its highly commendable, novel and bold approach. Preparation of similar text books in science subjects suited to our secondary schools is in hand If the programme of the production of first-rate text book and other work is to succeed, the writing of such books should be given recognition (by learned societies etc) same as to first-rate research This has been also stressed by the Weinberg Report on 'Science-Government, and Information' (1963) Scientific and technical books are generally very expensive It is most important to arrange for the production of cheap editions and paper backs to bring them within easy reach of our students.

Climate of Free Enquiry and Scientific Tradition

Progress in science requires a 'climate' of free enquiry, frank and vigorous criticism and fearless expression of opinion. This becomes easier to organise, promote and foster if there are strong universities with front rank schools of post-graduate studies and research. It is important that a substantial proportion of the

best men and leaders of science in the country should be in the universities, in contact with and inspiring young minds and sharing in their joys and difficulties Also every endeavour should be made to increase the proportion of men at the working bench to those at the administration desk to raise the proportion of small and modest laboratories doing big work to big laboratories doing small work

To establish scientific traditions in a developing country needs deliberate effort and it also takes time To quote Michael Polyani "Those who have visited the parts of the world where scientific life is just beginning, know the back-breaking struggle that the lack of scientific tradition imposes on the pioneers Here research work stagnates for lack of stimulus, there it runs wild in absence of any proper directive influence Unsound reputation grows like mushrooms based on nothing but commonplace achievements, or even on mere empty boasts . However rich the fund of local genius may be, such environments will fail to bring it to fruition "

It is generally true that creativity of an individual continues longer in a university environment than elsewhere because of the continuing challenge of youth. A recent editorial in *Science* said—the path to new discovery for a scientist who has already made his reputation is often blocked by too much equipment, too much money, and too much seeking after status and security There is relatively little danger of this happening in a university

It has been said that as a recipe for slowing down the progress of science, there is perhaps hardly any better than to provide a big network of committees, give them great prestige, and put on them the best men, the most active scientists from the laboratories

Team Work in Science

Scientific work is now increasingly becoming more and more of a team effort. In a sense this is inherent and instrumental in bringing about a rapid progress of science Problems have become increasingly complex needing increasingly elaborate equipment The importance of team work in science was particularly brought out during World War II It paid rich dividends The most successful laboratories functioned almost like large families where the members shared together the joys and disappointments of work.

In developing and promoting this spirit of team work, the contribution of the universities is of special value As Frederick Seitz, President of the U S National Academy of Sciences observed in a recent address "What is emphasized here is that in the main the concept of teamwork in science has evolevd most rapidly and most effectively through university channels during the past forty years "

Balance in Allocation of Resources

It is apparent that if good results in education are to be achieved there must be a reasonable balance and coordination between resources allocated to teaching in science, engineering, agriculture and other subjects There has to be a proper distribution of resources over the whole educational spectrum To unduly concentrate on one sector at the expense of others may put the machine out-of-gear and result in a waste of resources

If research institutions outside the universities expand at too rapid a pace this would result in depleting the universities of their men and, may be, also of the money which should go to them In the long run weak universities would inevitably weaken the research institutions In this context the report by the (U.K.) Institute of Physics and the Physical Society, just issued, is of considerable interest. Commenting on it *The Economist (London)* has said

> The two learned bodies are alarmed at the way good physicists are absorbed into government establishments, lured by salaries and by research facilities that they could never hope to find outside them (few organisations pay scientists as well as, for example, the Atomic Energy Authority). Once there, they are lost forever to the universities, to teaching and to science generally The universities see their own teaching standards in danger because good scientists will stay to teach only if they have facilities for research, and the universities are denied the right to provide those facilities because they have already been installed behind some government security fence
>
> Underlying this complaint is the brutal fact that many of these government establishments have turned to university-type pure research because they are no longer required for their original purpose Much of the work now done by the Atomic Energy Authority is of highly academic nature So is the work done by the Ministry of Aviation's radar research at Malvern. They are openly poaching on the universities' preserves, but what would one have them do, leave their equipment idle and their skilled staff underemployed ? The problem of providing for the free exchange of research staff between universities and government establishments is one that has exercised several committees of investigation and none has come up with any apparently workable solution, not least because, as the report stresses, the difference in salaries paid presents insuperable difficulties to all but the most unworldly (*The Economist, 31 August, 1963*)

When there is a deficiency of competent men, it is wiser to invest them generally in the universities, thus combining teaching and research. If the investment

and effort exceed a certain critical size (and with proper feedback), it would generate a sort of chain process providing many more of more able men

Cost of Education

It is an interesting fact that over a wide range of countries the cost per student on university education excluding board and lodging is comparable to the per capita national income. Thus, the expenditure per university student is roughly Rs 400 in India as against £ 600 in the UK and $ 3,000 in USA The USA figures facultywise are: Humanities —$ 3,200, Education—$ 3,300 Social Sciences—$ 3,250, Biological Sciences—$, 3,374, Physical Sciences and Mathematics—$ 3,380, Engineering—$, 4,020. (*The P esident's Science Advisory Committee Report on 'Meeting Manpower Needs and Technology.*) A University lecturer's salary in the UK is about twice the per capita income In India it is more than fifteen times the per capita income.

Centres of Advanced Study and Research

At the level of research and postgraduate work, expenditure even in newly developing countries has to be roughly comparable to that in more advanced countries. With limited resources of developing countries this can only be brought about by concentration of resources By coordination amongst the universities and by careful selection it should be possible to develop a modest number of 'centres of excellence' In other words, one should aim at establishing high peaks—'centres of advanced study' in carefully selected subjects and universities. These centres would serve as 'breeders' for new centres of excellence Concentration of effort in the initial stages is a vital thing for developing countries Also, there must be close cooperation between universities, national laboratories and other research organisation so that in the establishment of the centres fullest use is made of all available resources

Also as Lord Hailsham has pointed out in his recent book on *Science and Politics* (1963) a healthy relationship between government and universities is of central importance in ensuring a balanced and fruitful interaction between government and science generally

The *conclusions* are simple and apparent But often it is the obvious things which are the hardest to implement

(*i*) Everything possible should be done to strengthen the universities (*e g*, improvement of teacher to pupil ratio, library and laboratory facilities) specially at the postgraduate and research level, this should be a key point in the plan and pattern of the deployment of the country's resources in talent and facilities In the context of the present meagre level of facilities, the layout on the universities should at least be doubled in five years.

Strong postgraduate schools are our most unrgent requirement, and to organise these effectively all available resources of the universities, national laboratories and other agencies would need to be pooled together

(ii) In the universities, good work, good teaching and good research should be energetically and generously supported at all levels In science the output in terms of achievement is directly proportional to the input in terms of hard and honest work

(iii) Contacts (including movements and exchange of scientific staff) between the universities and national laboratories, scientific government (1960) departments, and industry should be vigorously promoted and strengthened. Any one who has a real competency and willingness to participate in university work should be encouraged to do so—so great and urgent is our need that all resources need to be fully exploited.

(iv) 'Right Climate', leadership and dedication are important factors in promoting team work and in generating scientific work of high quality Able and gifted men should be given every opportunity for concentrated and sustained work free from petty worries and distractions In scientific establishments the administrative load and 'routines' should be cut down to a minimum.

(v) Our resources are limited, so one has to spend more thought to get more out of our resources—spending thought is more difficult than spending money

The US President's Science Advisory Committee in its recent Report on 'Scientific Progress, the Universities and the Federal Government' (1960) (prepared under the chairmanship of Professor G T Seaborg, now Chairman of the Atomic Energy Commission) states "Both basic research and graduate education must be supported in terms of the welfare of society as a whole It is in this large sense that the role of the Federal Government is inevitably central The truth is as simple as it is important whether the quantity and quality of basic research and graduate education in the United States will be adequate or inadequate depends primarily upon the government of the United States. From this responsibility the Federal Government has no escape Either it will find the policies—and the resoures—which permit our universities to flourish and their duties to be adequately discharged—or no one will"

These are wise and powerful words, and they apply to us no less And, there is perhaps no finer vision of a university placed before us than what Shri Nehru said at a University Convocation some years ago "A university stands for humanism, for tolerance, for reason, for the adventure of ideas and for the search for truth. It stands for the onward march of the human race towards even higher objectives If the universities discharge their duties adequately, then it is well with the nation and the people."

That Science has radically altered man's material environment needs no saying. It has brought within the reach of common man (but not everywhere so far) a level of prosperity never attained before At all times great seers and sages have dreamt of such a world, but till now the necessary means, depending as they do not on science and technology, have been lacking In the great civilisations and cultures of antiquity, and as also of later times, slave labour was an integral element Aristotle said slavery could only be abolished when machines could be invented to do manual work This is what has happened, but it has taken more than two thousand years to do it Just as machines have now liberated man of manual drudgery, so the new developments in cybernetics—computation and automation—could in the near future take away from him the burden of boring work and mental rudgery Again, whereas till now it has been the pressure of environment which has influenced the course of organic evolution, now man using his unique faculty of mind and utilising the power that the discovery of science has given him can, it appears, shape in a deliberate way his own destiny

The pursuit of material affluence and power, which has been till now a dominant thing, is likely to give way to pursuit of higher values and fulfilment in a deeper sense—'fulfilment society' to use Huxley's term This is what Acharya Vinoba Bhave calls the age of science and spirituality. All this would come if man can escape a nuclear holocaust There is no hiding the grim fact that man today faces an unprecedented peril in depth and extent in the shape of a possible misuse, deliberate or accidental, of nuclear knowledge The explosion energy released in war by man in all history totals to about 5 million tons (5 megatons) of chemical explosive, say, T N T The total energy released in nuclear test explosions during these years of 'peace' is equivalent to more than 500 megatons of T N T. If a full-scale nuclear war breaks out the explosion energy may reach tens of thousands of megatons, and hundreds of millions of fatalities in the first few hours to a few days of the outburst of war. 5-500-50,000 MT are the awesome numbers of our times Atom and *ahimsa*, or to put it differently man's knowledge of outer space and the space within his skull, are not in balance It is this imbalance which mankind must seek to redress.

Man now faces himself He faces the choice of rolling down an abyss to partial extinction or raising himself to new heights of fulfilment as yet unimagined

Outlines of Karma in Jainism

Dr. Mohan Lal Mehta, M. A. Ph. D.

All phenomena of the universe are linked together in the universal chain of couse and effect No event can occur without having a definite cause behind it To find out the cause and condition under which an effect is produced has always been the aim of the various branches of science and philosophy. Almost all branches of science and philosophy in the world unanimously declare that the law of cause and effect is the most universal of all laws It is the only law which governs all phenomena however gross or fine they may be All the forces of nature whether physical or physical obey this law Every action of our body, speech, or mind is the result of some force or power which is its couse At the same time, that which is an effect of some cause becomes in turn the cause of some other effect and thus, the chain goes on extending its sphere.

Under the sway of the all-pervading law of cousation, there is no room left for chance or accident What we generally regard as an accidental event is really a product of some definite cause which is not known to us on account of our limited knowledge In other words, accidents are not fortuitous but they have some definite couse behind them, although we are not always aware of it on account of the limitation of our knowledge. In ancient times, when the scope of knowledge of people was extremely limited they used to explain accidental events by attributing them to some supernatural powers Such accidental effects of unknown causes were called Providential. Really speaking, all accidents have their definite causes whether we know them or not That which appears to be supernatural or Providential to an unscientific mind, is natural or causal and not supernatural or accidental to a scientific mind

Meaning of Karma

The Jaina thinkers do not regard this universe as a mere aggregate of the six substances set together by some supernatural authority They hold that it is a system in itself, subject to some definite laws inherent in its own constitution Certain phenomena occur regularly in certain circumstances and not otherwise There is a universal law of causation operating in the universe The phenomena of life and consciousness are not similar to the phenomena of matter or energy In pure material activity, there is growth by addition in dead objects which is a product of chemical law only, whereas a conscious being takes to itself particles foreign to those that are already in the body and changes their nature and assimilates them with its own body. Moreover, living beings reproduce themselves in their species These characteristics are not possessed by dead matter Jainism regards soul to be real and indefinite in number Each soul possesses some individual characteristics defferent from others The doctrine which gives us some explanation of our individual characteristics, i e, some satisfactory answer to the factors of our individuality which we have at present and tells us how these factors were produced as the result of the forces generated in the past is known as the doctrine of karma In other words, the doctrine of karma is the law that interprets our actions and reactions found in the form of introspection as well as behaviour

According to Jaina philosophy, every individual soul possesses infinite intuition, infinite knowledge, infinite power, and infinite bliss All these attributes belong by nature to every soul in its perfection Mundane sounls are not perfect because their knowledge, energy, etc, are found to be restricted. They are not perfectly free to enjoy complete knowledge and unrestricted bliss Why is it so? What restricts their innate faculty of knowing, etc ? The answer is They are infected by something foreign which veils their natural faculties This foreign element is known as karma Jainism does not mean by karma 'work or deed' According to Jaina conception, karma is an aggregate of material particles which are very fine and are imperceptible to the senses It enters into the soul and produces changes in it. It is a form of matter which produces certain conditions in the mundane souls that are suffering from the shackles of birth and death from beginningless time

The entire cosmos is full of that kind of fine matter which can bceome karma Through the actions of body, mind, and speech, the fine matter gets into the soul and is tied to it according to the modifications of consciousness consisting of *kasayas*, i e, anger, pride, deceit and gread Therefore, first of all there is an influx of karmic particles and then there occur certain activities of mind which are responsible for the actual bondage In the state of bondage, soul and karma are more intimate

than milk and water Once matter enters the soul, it causes various kinds of effect on it The bondage is of four kinds . according to its nature, duration, intensity, and quantity. The activities of thought, speech, and body are responsible for the nature and quantity, the duration and intensity result from attachment and aversion. Karma may remain latent in the soul for a definite period without emerging into appearance When the moment for its enjoyment arrives, it becomes apparent and releases itself

As has already been mentioned, the soul has been eternally infected by matter, i.e., its association with karma has no beginning. Moreover, it is gathering new matter every moment The liberation of soul from matter is possible by certain means. The soul must stop the influx of new karmas and eliminate the acquired ones. Through this twofold method, it can attain the ultimate goal, i e, emancipation All obstacles which impede the *manifestation of its true* nature are then automatically overcome, because it is released from the foreign domination of karma This being the situation, when liberation is attained it can undisturbedly make manifest its own innate, i.e., infinite knowledge, etc.

FOUR KINDS OF BONDAGE

The atoms that have become karma can be contemplated from four points of view:

1. According to their nature *(prakrti).*
2. According to their duration *(sthiti).*
3. According to their intensity *(rasa* or *anubhaga).*
4. According ot their quantity *(pradesas)* [1]

NATURE

It has eight fundamental species *(mula prakrtis)* [2]

1. Knowledge-odscuring karma *(jnanavarana)*
2. Intuition-obscurng karma *(darsanavarana),*
3. Feeling-producing karma *(vedaniya),*
4. Belief and conduct-obstructing karma *(mohaniya),*
5. Age-determining karma *(ayus),*
6. Personality-determining karma *(naman),*
7. Status-determining karma *(gotra),*
8. Power-hindering karma *(antaraya).*

1 Karma-grantha, I, 2.

2 idid, I, 3.

Each of these eight species is divided into a number of sub-species (*uttara-prakrtis*) The latter can be further classified into yet smaller sub-divisions, so that the entire number of karmas is exceedingly large For our present purpose, only the eight chief species and the 158 sud-species are of importance

KNOWLEDGE-OBSCURING KARMA

That karma which obscures the knowing faculty ofsoul is known as knowledge-obscuring karma, i.e., *jnanavarana* karma It is divided into five sub-species (*uttara prakrtis*) according to the five kinds of knowledge [1]

1 *Mati-jnanavarana* karma —It causes the obscuration of the knowledge acquired through the media of senses and mind.
2. *Sruta-jnanavarna* karma —It produces the obscuration of the knowledge acquired by reading or hearing scriptures or by the words of an authority
3 *Avadhi-jnanavarana* karma —It hinders direct knowledge of material objects
4 *Manahparyaya-jnanavarana* karma —It obscures transcendental knowledge of the thoughts of others
5 *Kevala-jnanavarana* karma —It hinders the faculty of omni-science inherent in a soul by natural disposition

INTUITION-OBSCURING KARMA

This kind of karma is called *darsanavarana* karma In Jaina philosophy, the word '*darsana*' is used to signify two meanings First, it means belief, opinion, or faith Secondly, it has also the meaning the awareness of an object or the cognition of a thing in its general form It is the first stage of knoweldge which is known as indistinct knowledge In ,*darsanavarana* karma' the word '*darsana*' is meant to signify thesecond meaning It can be translated as intuition, indeterminate perception, indistinct knowledge, undifferentiated cognition, or perception in the sense of general cognition That karma which obscures the faculty of intution is called intuition-obscuring karma. It is of nine subspecies according to the four species of intuition and five kinds of sleep [1]

1. *Caksurdarsanavarana* karma—It produces the obscuration of the intuition conditional upon the eye

2 *Acaksurdarsnavarana* karma—This species causes the obstruction of the intuition conditional upon the four senses (other than the eye) and mind

3 *Avadhi-darsanavarana* karma—It hinders the faculty of transcendental intuition of material things

1 **Karma-grantha, I, 4; I, 9**

2 **Karma grantha, I, 10-12**

4 *Kevala-darsanavarana* karma—It produces the obstruction of the faculty of complete intuition.

5 *Nidra* karma—This type of karma causes a light and pleasant sleep, out of which the sleeper is aroused by the clicking of fingernails or by a slight call

6. *Nidranidra* karma—This type of karma produces a deep sleep, out of which the sleeper can be awakened by being shaken violently

7 *Pracala* karma—It causes a sound slumber which overtakes a person while sitting or standing

8 *Pracalapracala* karma - This species of karma causes intensive sleep that overcomes a person while walking.

9. *Styanagrddhi* karma—It produced somnambulism This kind of sleep is also called '*styanarddhi*.' The person possessing this kind of slumber unconsciously acts in the state of sleeping but forgets what he did when he wakes.

Feeling-Producing Karma

The feeling of pleasure and pain is caused by this species of karma known as *vedaniya* karma It has, therefore, two subspecies [2]

1 *Sata-vadaniya* karma —It causes a feeling of pleasure as for instance, we have the feeling of pleasure by licking something sweet like honey, etc.

2 *Asata-vedaniya* karma—It produces the feeling of pain as for example, pain is produced if one is hurt by a sword

The *sata-vedaniya* is predominant with gods and human beings, although pain can be produced with the former at the time of the downfall from the heavenly world and with the latter through cold and heat, death and accident, and the like. Animal beings and beings of hell experience chiefly the *asata-vedaniya*, although on some occasions, they also experience a feeling of pleasure.[1]

Belief and Conduct-Obscuring Karma

This kind of karma obstructs true faith and right conduct It is called *mohaniya* karma It has two chief divisions · obstruction of belief and obstruction of conduct, i e', *darsana-mohaniya* and *caritra-mohaniya*

(*a*) *Darsana-mohaniya* karma—It produces an obstruction of the faith of the true nature of objects The obstruction is further divided into three sub-species.

1. *Mithyatva mohaniya*—It produces complete wrong belief or heterodoxy The soul possessing this kind of *mohaniya* karma does not believe in the truths as proclaimed by a true authority but believes false prophets who enjoin false doctrines to be saints

1 *Ibid*, 1, 12.

2. *Samyaktva mohaniya*—It induces correct belief It is not the right faith in its completeness but only in a preliminary degree The true belief in its completeness is obtained only when the *samyaktva mohaniya* karma is entirely destroyed, as for instance, the sun which is covered by white clouds only shines perfectly after the clouds have been removed

3. *Misra mohaniya*—It produces a mixed belief having some degree of truth and some of falsity In other words, it causes a kind of indifference between true faith and false belief It is a mixture of both *samyaktva mohaniya* and *mithyatva mohaniya* That is why it is also called *samyagmithyatva mohaniya*

(*b*) *Caritra-mohaniya* karma—This kind of *mohaniya* karma obscures right conduct which is the innate property of soul. It obstructs the soul from acting according to the right prescriptions of scriptures or any authoritative sources The obstruction of conduct is produced through the sixteen passions (*kasayas*) and nine quasi-passions (*no-kasayas*)

(*i*) *Kasaya*—There are four chief *kasayas*. anger (*krodha*), pride (*mana*), deceit (*maya*), and greed (*lobha*)

Each of these is again classified into four sub-divisions according to the intensity of their nature The four sub-divisions are

1 *Anantanubandhin*—It completely hinders right belief and conduct The soul possessing *anantanubandhin* anger, etc, can never have right belief and conduct It lasts for the whole of life.

2 *Apratyakhyanavarana*—It hinders partial self-discipline but allows the existence of true belief It lasts for one year

3. *Pratyakhyanavarana*—It obstructs the beginning of complete self-discipline or renunciation but does not prevent the existence of right belief and partial self-discipline It lasts for four months

4. *Sanjvalana*—It hinders the attainment of complete right conduct (*yathakhyata caritra*) Its effect lasts for one fortnight.

(*ii*) *No kasaya*—*Quasi*-passions are divided into nine categories

1 *Hasya*—Laughing and joking fall under this category

2 *Rati*—Proper or improper liking for a certian object is called *rati*

3 *Arati*—Proper or improper disliking for a particular thing is named *arati*

4. *Soka*—Sorrow for an object is known as *soka*

---

1. Commentary on Karma-grantha, I, 13

5 *Bhaya*—Fear is caused by *bhaya* karma
6. *Jugupsa*—It is a kind of disgust.
7. *Purusa-veda*—Through this, in the male the desire for union with a female is produced.
8. *Stri-veda*—Through this, in the female the desire for union with a male is excited.
9. *Napumsaka-veda*—The third sex is produced by the rise of this karma. The sexual urge with them is exceedingly strong, since it is directed towards male and female both.[1]

The *caritra-mohaniya* karma has accordingly twenty-five sub-species. Adding the three sub-species of the *darsana-mohaniya* to is we have in all twenty-eight sub-species of the belief and conduct-obscuring (*mohaniya*) karma. The following table will show the sub-species of *mohaniya* karma.
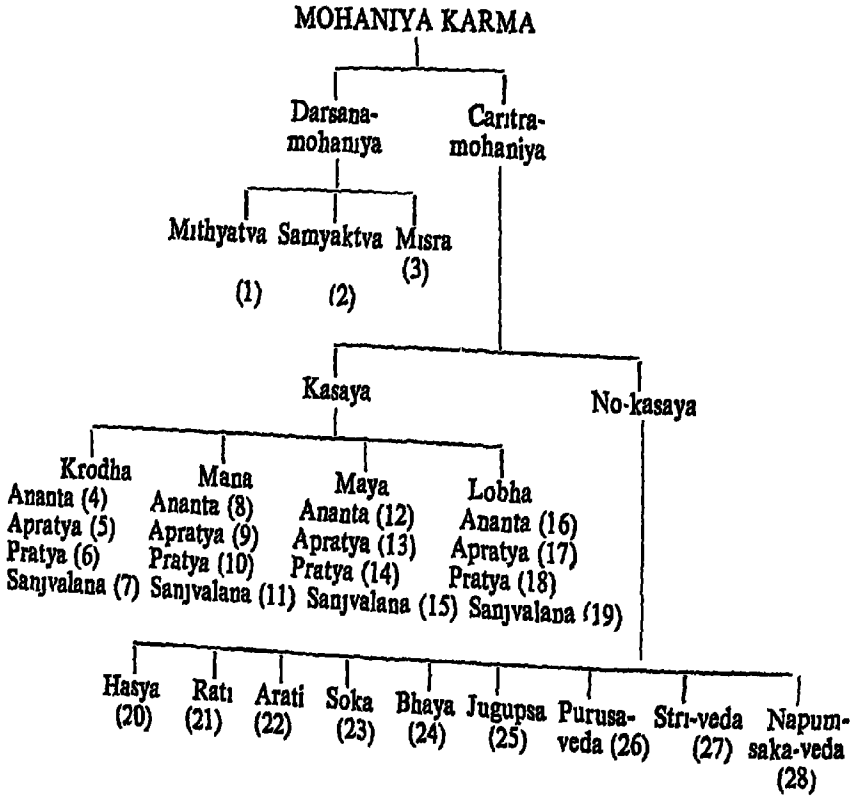
1. Commentary on Karma-grantha, I, 14-9 ; I, 21-2.

Age-Determining Karma

It confers on a being a certain quantum of life in any one of the states of existence. The following are the four sub-species of *ayus* karma :

1. *Deva-ayus*—It determines the celestial age
2. *Manusya-ayus*—The human age is determined by it
3. *Tiryag-ayus*—This determines the age of animal life.
4. *Naraka-ayus*—The age of hellish being is determined by it.

Personality-Determining Karma

It causes the individual diversities of souls. It is known as *nama* karma. The number of its sub-species is 103 These sub-species are mostly quoted in a fixed succession in four groups *pinda-prakrtis, pratyeka-prakrtis, trasa-dasaka* and *sthavara-dasaka*[1] The names of the causes of the sub-species are according to the names of the sub-species.

(*a*) *Pinda-prakrtis*—There are seventy-five sub-species in this group

4. *States of Existence*—Celestial state of existence, human state of existence, animal state of existence, and hellish state of existence

5 *Classes of Beings*—A being with one sense, two senses, three senses, four senses, and five senses

5. *Bodies*—Physical body of animals (including vegetable kingdom) and human beings, transformable body of fine matter, projectable body of pure matter, electric boby, and karmic body.

3. *Chief and Secondary parts of Bodies*—The chief and secondary parts of the physical body, of the transformable body, and of the projectable body The electric body and the karmic body have no parts.

15. *Bindings :*

1. The binding of physical boby with previous physical body
2. The binding of physical body with electric body
3. The binding of physical body with karmic body
4. The binding of physical body with electric and karmic bodies
5 The binding of transformable body with previous transformable body.
6. The binding of transformable body with electric body
7. The binding of transformable body with karmic body
8 The binding of transformable body with electric and karmic bodies

1. Doctrine of Karma in Jain Philosophy, p 11

9 The binding of projectable body with previous projectable body.

10 The binding of projectable body with electric body

11. The binding of projectable body with karmic body

12. The binding of projectable body with electric and karmic bodies

13 The binding of electric boby with previous electric body

14 The binding of electric body with karmic body

15. The binding of karmic body with previous karmic body

Ceram types of bodies are not bound with some particular types of bodies as for instance, physical body has no binding with transformable body and so on Hence, the bindings are only fifteen in number

5 *Sanghatanas—Sanghatana* is a type of scraping as a rake gathers together the grass that has scattered about According to the five bodies there are five *sanghatana nama* karma The scraping of the matter of the physical body, of the transformable body, of the projectable body, of the electiric body, and of the karmic body

6 *Firmnesses of the Joints of Physical Body—Vajra-rsabha-naraca-samhanana* is an excellent joining in which two bones are hooked into one another, *rsabha-naraca-samha-nana* is not so firm, *naraca-samhanana* is still weaker ,*ardha-naraca-samhanana* is a joining which is on one side like the preceding one, while on the other, the bones are simply pressed together and nailed, *kilika-samhanana* is a weak joining by which the bones are merely pressed together and nailed, and *sevarta-samhanana* is quite a weak joining in which the ends of the bones only touch one another

6 *Figures*—The *samsthana-nama*-karma determines the figure of a being Six types of figures have been discussed in the Jaina doctrine of karma· the entire body to be symmetrical, the upper part of the body to be symmetrical, not the lower one, the body below the navel to be symmetrical and adove it unsymmetrical, the body to be hunch-backed, the body to be dwarf-like, and the entire body to be unsymmetrical

5 *Colours*—Black, blue, red, yellow, and white Other colours are produced by mixingonly.

2 *Odours*—Pleasant odour and unpleasant odour or good smell and bad smell

5 *Tastes*—Bitter, sour, acidic, sweet, and astringent.

8 *Touches*—soft, hard, light, heavy, cold, hot, smooth, and rough.

4 *Anupurvi*—When one existence of a soul is finished and it goes from the place of death to the place of its new birth, this state is called *anupurvi* There are four *anupurvis* according to the four states of existence (*gati*) celestial, human, animal and infernal

5 *Gaits*—To move in a pleasant manner as oxen, elephant, etc, do and to move in an ugly manner as camels, asses, etc., do.

(*b*) *Pratyeka-prakrtis*—This group consists of eight sud-species superiority over others, capability of breathing, hot boby of the sun, etc, cold body of the moon, stars, etc, a body that is neither heavy nor light, the body of a founder of the Holy Order (*tirthankara*), normal formation of the body, and abnormal formation of the body

(*c*) *Trasa-dasaka*—There are ten sub-species in this group a body possessing two senses, etc, gross body developed body, individual body, firmbody, beautiful and lovely parts of the body, gaining of sympathy without any obligation, sweet voice, suggestive speech, and honour and glory-winning personality.

(*d*) *Sthavara-dasaka*—This group also consists of ten sub-species the body, of plants, etc, subtle body, undeveloped body, a body in common, body without firmness, ugly parts of the body, no sympathy gaining, ill-sounding voice, unsuggestive speech, and dishonour and shame-giving individuality.

The scheme of the sub-species of the personality-determining karma is as under
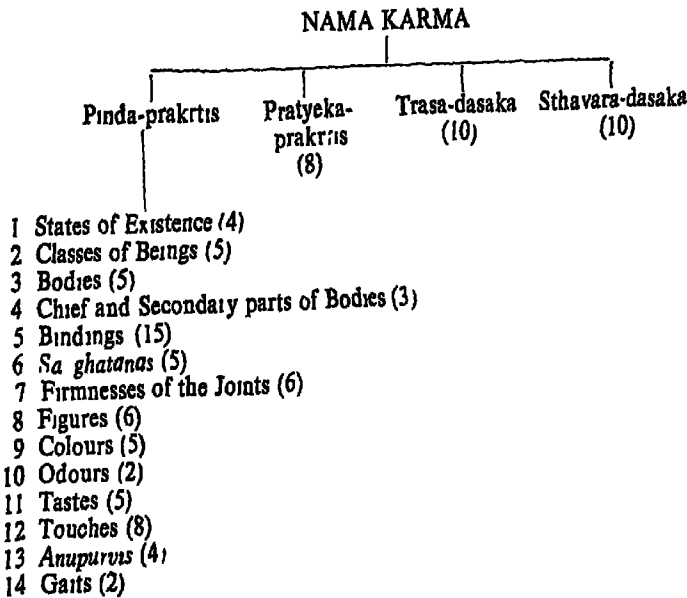
Status-determining Karma

It destines the hereditary rank occupied by a person through his birth. This species is callen *gotra* karma. It is divided into two sub-species.[1]

1. *Uccairgotra* karma destines high family surroundings.
2. *Nicairgotra* karma determines low family surroundings.

Power-hindering karma

It hinders the power (*virya*) of the soul. It is known as *antaraya* karma. The power is hindered in a five-fold manner.[2]

1. *Dana-antaraya* karma—It hinders dispensing alms, etc.
2. *Labha-antaraya* karma—This kind of *antaraya* karma hinders receiving.
3. *Bhoga-antaraya* karma—It hinders the enjoyment of some object which can only be enjoyed once such as food, etc.
4. *Upabhoga-antaraya* karma—It hinders the enjoyment of something that can be repeatedly enjoyed such as clothes, etc
5. *Virya-antaraya* karma—It hinders the freedom of will-power.

The total number of the sub-species of the eight karmas is as follows.

1. Knowledge-obscuring karma	.. ...	5
2. Intuition-obscuring karma	.	9
3. Feeling-producing karma	..	2
4. Belief and conduct-obscuring karma	. ..	28
5. Age-determining karma	... ..	4
6. Personality-determining karma	.. ...	103
7. Status-determining karma	... ...	2
8. Power-hindering karma	... ...	5
	Total ..	158

Bandha, Udaya, Udirana, and Satta

Taking into consideration the existence in *potentia* (*satta*), all the sub-species can exist in a soul. So far as the realisation (*udaya*) of the species is concerned, the entire number amounts only to 122. If the bondage (*bandha*) of new species is taken into consideration, the total number is assumed to be 120. If the premature realisation (*udirana*) is considered, the entire number amounts to 122 as in realisation[1] The following table will indicate the number of the sub-species existing in different states.

1 Karma-grantha, I, 52

2 *ibid*

	Bandha	*Udaya*	*Udirana*	*Satta*
Knowledge-obscuring	5	5	5	5
Intuition-obscuring	9	9	9	9
Feeling-producing	2	2	2	2
Belief and conduct-obscuring	26	28	28	28
Age-determining	4	4	4	4
Personality-determining	67	67	67	103
Status-determining	2	2	2	2
Power-hindering	5	5	5	5
Total	120	122	122	158

In *satta* all the *prakrtis* exist In *udaya* the number is only 122 because the fifteen bindings and the five *sanghatanas* are not included as they are then thought to exst implicit in the five bodies The colour, odour, taste, and touch are only reickoned as four species instead of twenty In *udirara* also the same species are counted In *bandha* the number is 120, since the two *mohaniya* karmas. viz., *samyaktva* and *misra* cannot be bound separately because they are purified condition of *mithyatva*. Therefore, they must be subtracted from the 122 species of *udaya* and *udirana*, so that the total number in *bandha* is 120

Duration

After having considered the nature of karmas we, now, proceed to their duration First, let us understand the scheme of the division of time as conceived by the Jainas 'The lowest unit of time is the *samaya*. Innumerable *samayas* form an *avalika* 16,777,216 *avalikas* equal one *muhurta* (48 minutes of European time) Thirty *muhurtas* make one day Out of the days are formed weeks The number of years can be expressed in words up to a number containing 77 cyphers Beyond that, it is *asankhyeya* An innumerable quantity of years is called *palyopama*, 10 *kotakoti* (1,000,000,000,000,000) of *palyopamas* are one *sagaropama* 10 *kotakoti* of

1 Sukhlal : Karma-vipaka, p 111

sagaropamas comprise one *utsarpini* (ascending period of time), the same number of *sagaropamas* measures one *avasarpini* (descencing period of time)'[1]

The following table will give the highest as well as the lowest duration of each chief species of karma :[2]

	Karmas	*Maximum time*	*Minimum time*
1.	Knowledge-obscuring	30 *kotakoti sagaropamas*	Less than one muhurta
2	Intuition-obscuring	" "	" "
3	Feeling-producing	" "	12 *muhurtas*
4	Belief and conduct-obscuring.	70 " "	Less than one *muhurta*
5	Age-determining	33 *sagaropamas*	" "
6	Personatily-determining	20 *kotakoti sagaropamas*	8 *muhurtas*
7.	Status-determining	" "	" "
8.	Power-hindering	30 " "	Less than one *muhurta*

Intensity

The intensity of the effect of karma depends upon the weakness or strength of the passions (*kasayas*). In accordance with the four degrees of the passions, four degrees of the strength of karma have been recognised by Jainism. The more sinful a person is, the duration of his bad karma is longer. The stronger the effect of his badness, the weaker that of good species With an increased purity the duration of the bound karma and the intensity of the bad species decrease, while the intensity of the good species grows. With the bad species, the fourth degree of the intensity is produced by the most violent passions, i e, *anantanubandhi kasayas*. The third degree is caused by the *apratya-khyanavarana kasayas*, the second by the *pratyakhyanavarana kasayas*, and the first by the *sanjvalna kasayas* With regard to the good species, the *sanjvalanas* produce the fourth, the *pratyakhya-navaranas* the third, the *apratyakhyanavaranas* the second degree. The intensity of the first degree does not exist with the good species.[1]

Quantity

The soul assimilates only that karmic matter which is within its own *pradesas*, and not that lying outside, just as fire seizes only that inflamable material which

1. Doctrine of Karman in Jain Philosophy, p. 20
2 Tattvartha-sutra, VIII, 15 21.

is lying within its reach The matter assimilated by soul is divided into the eight species of karma The shares which fall to the eight chief species differ from one another The age-determining species (*ayus*) receives the smallest part, a greater portion goes to the personality-determining (*naman*) and status-determining (*gotra*) species which both obtain equal portions More than that goes to the knowlenge-obscuring (*jnanavarana*), intuition-obscuring (*darsanavarana*), and power-hindering (*antaraya*) species, each of which gets an equal portion Still a larger part than these falls to the belief and conduct-obscuring species (*mohaniya*) and the greatest of all goes to the feeling-producing species (*vedaniya*) These shares are further divided among the sub-species [3]

Causes of Bondage

The theory of causation explains each and every event of life in the strict form of cause and effect No effect can be produced in the absence of its cause. This universal law is applied to the doctrine of karma also as we have already mentioned Each of the karma-species can only be bound so for as its cause of bondage is in existence The following activites constitute the causes of the different species Although all the species are bound by activities and passions in general, yet, every species has some special causes constituted by some particular activities. They are as follows [1]

Causes of Knowledge And Intuition-obscuring Karmas

1. Hostility against knowledge, knower and, the means of knowledge.
2. Denial, annihilation, and hindrance of these three
3. Disregard of a true doctrine and its commandments
4. Rebelliousness and lack of discipline towards teachers.
5. Complete destruction of books and other means of knowledge.
6. Indifferent or opposite attitude towards knower and knowledge.

Causes of Feeling Producing Karma

Pleasure

1. Respects for parents, teachers, etc
2. To have pity on miserable beings
3. Keeping of vows of a house-holder or a monk
4. Honourable conduct
5. Overcoming of passions.
6. Giving of alms or some other kind of help

1 Doctrine of Karma in Jain Philosophy, p 24

2 *Ibid.*, p 26

3 Karma-grantha, I, 54-61

7 Fidelity in belief
8. Interest in spiritual activities.

The contrary causes produce pain

Causes of Belief-obstructing Karma

1 The teaching of a false faith
2 The denial of the path of liberation.
3 The pollution of sacred objects
4. The blasphemy of liberated souls
5 The blasphemy of monks and saints
6 The blasphemy of gods
7 The disregard of Holy Order

Causes of Conduct-obstructing Karma

1 The actions produced by the outbreak of passions cause the binding of *kasaya-mohaniya* karma

2 *No-kasaya-mohaniya* karma is bound by the mind which is confused through joking, liking, disliking, sorrow, fear, disgust, etc

3 Slight passionate desire, conjugal fidelity, inclination for right conduct etc, cause the binding of *purusa veda* (male sex) karma

4 Jealousy, deceit, great sensuality, adultery, etc, cause the binding of *stri-veda* (female sex) karma.

5 Violent love of pleasure and strong passions directed towards sexual intercourse with male and female cause the binding of *napumsak-vedaa* (third sex) karma

Causes of Age Determining Karma

Hellish age is bound by the actions of one who tortures and kills other beings and strives in an extraordinary manner after passions

2 The deceitful and fraudulent person binds animal age.

3 The humble and sincere one whose passions are slight binds human life.

4 One who possesses right belief but who only partially or not at all practises self-discipline, whose passions are slight, who is chaste, who endures troubles, etc, binds celestial life

Causes of Personality Determining Karma

Honesty, gentleness, absence of desire, purity, etc, are the causes of the binding of good personality-determining karma, while the reverse that of bad.

Causes of Status-Determining Karma

The recognition of the excellence of others, modesty, reverence towards, teachers, the desire to learn and to teach are some of the causes of the binding of

high family surroundings, whereas the contrary causes the binding of low family surroundings

Causes of Power-hindering Karma

The withholding of food, drink, lodging, clothing, and the like causes the binding of power-hindering karma.

Prevention and destruction of Karma

The binding of new karma can be prevented through the means of control of the activity of body, speech, and mind *(gupti)*, carefulness in waking, speaking, lifting up and laying down a thing, etc *(samiti)*, moral virtues *(dharma)*, reflection *(anupreksa* ; patient endurance of troubles *(prisaha-jaya)*, and conduct *(caritra)* [1]

The acquired karmas can be annihilated through suitable measures such as fasting, reduction of food, restriction to certain kinds of food, renunciation of delicacies, a lonely resting place, mortification of the body, expiation, modesty, service, study, renuciation of ego-identification, and meditation [2]

Stages of Spritual Development

According to Jaina philosophy, there are fourteen stages of development through which the soul gradually delivers itself from the state of complete dependence upon karma to the state of complete dissociation from it. These stages are known as the 'states of virtue', i e, *gunasthanas*. Here the word 'virtue' does not mean an ordinary moral quality but it stands for the nature of soul, i e., knowledge, belief, and conduct [3]

Through these fourteen stages of development the soul gradually frees itself, first from the worst, then from the less bad, and finally from all kinds of karma, and manifests the innate faculties of knowledge, belief, and conduct in a more and more perfect form The owners of these stages are the following [4]

1 Wrong believer *(mithyadrsti)*.
2 One who has a slight taste of right belief *(sasvadana samyag-drsti)*.
3. One has a mixed belief *(misradrsti)*.
4 One who has true belief but has not yet self-discipline *(avirat-samyagdrsti)*

1 Tattvartha-sutra, IX, 2

2 ibid, IX,3, IX 19-20

3 Tatra gunah jnanadarsanacaritrararupah jivasab havavisesvah Karma-grantha, II, 2 (commentary).

4 idid

5. One who has partial self-control (*desavirata*).
6. One who has complete self-discipline, sometimes, however, brought into wavering through negligence (*pramatta samyata*)
7. One who has self-control without negligence (*apramatta samyata*).
8. One who practises the process called '*kapurva arana*' in whom, however, the passions are still occurring in a gross form (*nivrtti badara samparaya*).
9. One who practises the process called '*anivrtti karana*' in whom, however, the passions are still occurring (*anivrtti badara samparaya*).
10. One in whom the passions occur in a subtle from (*suksma samparaya*).
11. One who has suppressed every passion but who does not yet possess omniscience (*upasanta kasaya vitaraga chadmastha*)
12. One who has annihilated every passion but does not yet possess omniscience (*ksina kasaya vitaraga chadmastha*).
13. One who possesses omniscience and engages himself in activities (*sayogi kevalin*)
14. One who is omniscient and does not perform any activity (*ayogi kevalin*).

The whole scheme of *gunasthanas* is devised in a logical order according to the principle of decreasing sinfulness and increasing purity At the first stage all the causes of binding, viz, wrong belief, lack of self-discipline, passions, and activity are operating From the second to the fifth, only three causes are in operation, i.e, wrong belief is absent From the sixth to the tenth, only passions and activity exercise their influence From the eleventh to the thirteenth, only activity is present. On the last stage there is no binding of karma The number of the karmas which are in realisation (*udaya*) and existence in *potentia* (*satta*) also decreases with every step

1 Mithyadrsti Gunasthana

The chief characteristic of this *gunasthana* is wrong delief The '*abhavyas*' (not capable of salvation as well as '*bhavyas*' (capable of salvation) are on this stage The difference between their conditions is that all the '*abhavyas*' are eternally in this *gunasthana*, whereas only those '*bhavyas*' who by reason of certain unfavourable conditions do not reach salvation do so for a certain period of time. With the other '*bhavyas*' this stage has no beginning but an end which comes sooner or later. With being who fell from a higher stage and sank into wrong belief, it has a beginning as an end.

2. Sasvadana Samyagersti Gunasthana

It is of very short duration lasting in the minimum one '*samaya*' and in the maximum six '*avalikas*'. Those beings that possessed right belief produced by suppre-

ssion of wrong belief during the period less than a *'muhurto'* but who had lost it again on account of the breaking out of passions, are said to enjoy this *gunasthana*. After the lapse of the settled period, the qeing necessarily sinks back into the first *gunasthana*.

3 Misra Gunashana

The fundamental characteristic of this stage is indifference which lasts only during the period less than forty-eight minutes *(muhurta)* It is a mixed belief produced by the mingling of truth and falsity After the lapse of the time of the stay on this stage, the being attains wrong or right belief, according to the circumstances

4 Avirata Samyagdrsti Gunasthana

To this stage belong those beings who possess right belief and have the knowledge of truth and falsity but on account of the realisation of the *'apratyakhynavarana kasayas'* are not capable of practising self-discipline The duration of this stage is in the minimum less than a *muhurta* and in the maximum more than thirty-three *sagaropamas*.

5. Desavirata Samyagdrsti Gunasthana

In this state of virtue, partial self-discipline exists The duration is in the minimum less than a *muhurta* and in the maximum somewhat less than a *'purvakoti*.

6 Pramatta Samyata Gunasthana

The being belonging to this *gunasthana* attains complete self-di cipline, although he is disturbed through negligence produced by the realisation of the *sanjvalana* passions This state lasts in the minimum one *samaya* and in the maximum less than a *muhurta* If the person belonging to this stage degrades after one *samaya*, he becomes an *'avirata'* (4th stage), if the degradation is after *'antarmuhurta'* (less than 48 minutes) he becomes a *desavirata* (5th stage). If the *'antarmuhurta'*, however, has passed without any incident, he goes into the seventh stage If he has ascended no series, he comes back to the sixth stage and the operation begins anew This wavering between the sixth and seventh *gunasthanas* lasts in the maximum somewhat less than a *'purvakoti'*. If the *'upasama'* or *'ksapaka'* series is ascended, such a wavering does not take place.

7. Apramatta Samyata Gunasthana

In this state of virtue, complete self-discipline without negligence exists It lasts one *samaya* till *antarmuhurta*.

8 Nivrtti Badara Samparaya Gunasthana

Like the following stages, this stage is accessible only to those beings who are on a *sreni* (series). A special process known as *'apurva karana'* is performed in this stage The being who is on the *'upasama sreni'* remains on this stage in the minimum one *samaya* and in the maximum *antarmuhurta* , the one who is on the *'ksapaka sreni'* altogether *antarmuhurta*

9. Anivrtti Badara Samparaya Gunasthana

One who is on the *upasama* or *ksapaka sreni* and performs the process called *'anivrtti karana'* belongs to this stage The former remains in it in the minimum one *samaya*, in the maximum *antarmuhurta* the latter *antarmuhurta* altogether. The passions still occur in this stage,

10 Suksma Samparaya Gunasthana

On this stage passions only occur in the most subtle form in order to be then totally suppressed or annihilated. It lasts with the *upasama sreni* one *samaya* in the minimum , *antarmuhurta* in the maximum ; with the *ksapaka sreni* altogether *antarmuhurta*

11 Upasanta Kasaya Vitaraga Chadmastha Gunasthana

It is the highest stage that can be reached on the *upasama sreni*. The passions on this stage are totally suppressed It lasts in the minimum ond *samaya*, in the maximum *antarmuhurta*. After ending this stage, the being belonging to it falls from the *upasama sreni* and sinks into one of lower stages.

12. Ksina Kasaya Vitaraga Chadmastha Gunasthana

In the last *samaya* of the tenth stage (*suksma samparaya gunasthana*) when the last particle of greed has been annihilated, the being who is on the *ksapaka sreni* becomes a *ksina kasaya* (one with annihilated passions) He remains *antarmuhurta* on this stage and then becomes omniscient without fail

3 Sayogi Kevali Gunasthana

When the karma obscuring the knowledge, intuition, bliss, and power of the soul has completely been annihilated, the person becomes a *sayogi kevalin* He possesses omniscience and omnipotence He still possesses certain activities conditional upon matter Certain karmas are still realising themselves, but as soon as his *'ayus'* (age) is exhausted, he annihilates them also in order to be emancipated The state of virtue lasts in the minimum *antarmuhurta*, in the maximum somewhat less than a *purvakoti*

4 Ayogi Kevali Gunasthana

This last and the highest state of virtue is a transitory state which lasts *antarmuhurta* and leads to the complete emancipation from karma With the complete annihilation of every action, the omniscient enters the *sailesi* state—a state of pure meditation which only lasts as long as is necessary to pronounce five short syllables (*a,i,u, r, l*) When the remaining karmas are completely annihilated, the liberated soul goes to the end of the universe which is called '*siddha-sila*'. It dwells there without visible shape It possesses an immaterial dimension of two-third of that which it had during its last existence (*gati*) There, it enjoys infinite, incomparable, indestructible, supernatural happiness of salvation A soul in its perfect nature is God Every being has got the innate nature of Godliness Through its right belief, right knowledge, and right conduct, it can attain that state It is the individual effort—the personal endeavour that constitutes the path to the state of God There the soul perfectly shines with infinite knowledge, infinite intuiton, infinite bliss, and infinite power The liberated soul does not lose its individuality Its individual existence is retained in that state as well

Upasama Sreni

At the end of the seventh stage of development, the soul ascends either *upasama sreni* or *ksapaka sreni* [1] That *sreni* (series)i n which the heaped-up species of *mohaniya* karma are suppressed so that they cannot manifest themselves, is called *upasama sreni* The species are not totally eradicated They exist in a latent state and can break out again occasionally If the suppression takes place in a regular and systematic way in a certain succession, the *upasama sreni* ends in a complete suppression of all belief and conduct-obscuring karmas This series reaches its end in the *upasanta moha gunasthana* (11th stage) as then the suppressed passions break out again and the *jiue* descends from the series The different stages of the development of the *upasama sreni* consist in the following procdure [2]

First, the being suppresses the life-long passions. Thereupon he suppresses the three sub-species of belief-obscuring karma and throgh that, reaches *aupasamika samyaktva* (right belief acquired through suppression) When this has happened, the being proceeds to the suppression of the still remaining *mohaniha* karmas. For this purpose he performs three processes *yathapravrtti karana*, *apurva karana*, and *anivrtti karan* If a calculable part of the *anivrtti kaarna* has passed, the *jiva* performs an *antara-karana* of the twenty-one remaining *mohaniya*

1 Some writers start from the fourth stage also. See Visesavasyaka-bhasya, 1291

2 Karma-grantha, V, 98

3. Avasyaka-niryukti, 116, Visesasyaka-bhasya, 1288.

karmas Then he successively suppresses, within the fraction of a *muhutra*, the third sex-passion, then the female sex-passion then joking, liking, disliking sorrow, fear, and disgust, then the male sex-passion, then simultaneously *apratya-khyanavarana* and *pratyakhyanavarana* anger, then the *sanjvalana* anger This process occurs in man The succession in woman is. third sex-passion, male sex-passion, joking, etc, in a *napumsaka*, female sexpssaion, male sex-pasion joking, etc.[3] Thereupon follows the suppression of the second and third kinds of deceit and of the *sanjvalana* deceit, and then that of the second and third kinds of greed After that the *sanjvalana* greed becomes divided into three parts· the first two of these, the being suppresses simultaneously, the third, again is divided into a measurable number of pieces, woich are suppressed gradually piece by piece Through *this long process* he becomes *suksma samparaya* (10th stage). When the last piece of greed is suppressed, he is an *upasanta moha* 11th stage). On this stage, the *jiva* remains, in the maximum for less than 48 minutes, in the minimum for one *samaya* No sooner has this time passed than he falls down from this stage and sinks into even the second *gunasthana* under circumstances

Ksapaka Sreni

The *ksapaka sreni* leads to the destruction of karams. The person who has ascended it, annihilates successively the different species of karma that exist in *potentia*, becomes in the end quite free from karma, and thereby achieves the highest goal—salvation.

A person exceeding eight years of age, possessing the best firmness of the joints is capable of ascending this series First of all, he annihilates the four life-long passions, then the three species of belief-obscuring karma If he has bound *auy* (age) and dies before wrong belief is completely, annihilated, in his new existence, he can eventually bind anew the four life-long passions, since wrong belief which is their germ still exists. If, however, wrong belief is destroyed,t his is impossible. If he has bound *ayus*, but does not die immediately after the annihilation of the seven *mohaniya* karmas, he is satisfied with what he has attained, and for the moment does not undertake any endeavour to *annihilate* the other karmas He experiences still three or four births before he attains liberation If he reaches the series without having bound *ayus*, he proceeds *immediately to the* destruction of the still remaining conduct-obscuring karmas For this purpose, he performs three processes, of which the first falls into the seventh stage, the second into the eighth stage, and the third into the ninth stagh During the second process (*apurva karana*) he begins simultaneously with the annihilation of the four *apratyakhyanavarana* and *pratyakhya-navaarana* passions. When thesc have half disappeared, he meanwhile destroys

three intuition-obscuring karmas and thirteen personality-determining karmas Then he annihilates what still remains of the two species of passions. Thereupon follows the annihilation of the third and female sex-passions, of joking, liking disliking, sorrow, fear, disgust, male sex-passion, and of *sanjvalana* anger, pride, and deceit [1] After this, he leaves the ninth stage (*anivrtti gunasthana* , and sinks into the tenth stage (*suksma sanmparaya gunasthana*), where he successively annihilates the *sanjvalana* greed, divided into pieces. As soon as the last piece of greed disappears, all passions are destroyed and the highest stage of the series is reached The *jiva* is now a *ksin akasaya* (12th stage) Then he annihilates the two kinds of sleep *nidra* and *pracala*), there pon the five veilings of knowledge, the four veilings of intuition, and five species of power-hindering karma. Then he becomes a *sayogi kevalin* (13th stage)[2] who still wanders for some time on the earth and thereafter attains salvation.
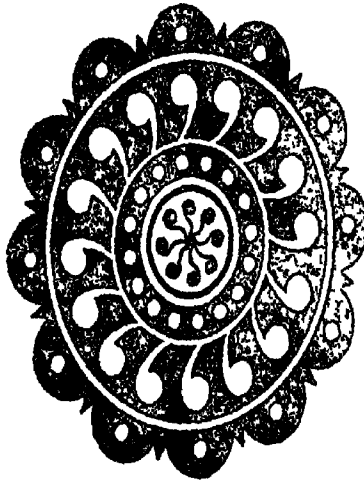
1 This process is for man, for woman and third sex—the same change as in the *upasama sreni*

2 Karma-grantha, V,99.

Vasi-camdana-kappo

A. N Upadhye, Kolhapur.

Very often in Prakrit, Pali and Sanskrit works we come across an idea expressed by the phrase *vasi-camdana-kappo* (in Prakrit) which qualifies a great monk who is fully balanced in his attitudes. The object of this paper is to put together a few passages and to ascertain the precise meaning of this expression.

(1) In the *Kalpasutra*,[1] while describing Mahavira the phrase *vasi-camdana-kappo* is used to pualify him The Sutra runs thus

से णं भगवं वासावासवज्जं अट्ठ गिम्हहेमंतिए मासे गामे एगराइए नगरे पंचराइए वासीचंदण-समाणकप्पे समतिणमणिलेट्ठुकंचणे समदुक्खसुहे इहलोगपरलोगअप्पडिबद्धे जीवियमरणे य निरवकंखे संसारपारगामी कम्मसत्तुनिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए एवं च णं विहरइ ॥११९॥

Jacobi has translated the above passage in this manner[2]

'The venerable one lived, except in the rainy season, all the eight months of summer and winter, in villages only a single night, in towns only five nights, *he was indifferent alike to the smell of ordure and of sandal* [italics mine], to straw and jewels dirt and gold, pleasure and pain, attached neither to this world nor to the beyond, desiring neither life nor death, arrived at the other shore of the *samsara*, and he exerted himself for the suppression of the defilement of Karman."

(2) A similar passage occurs in the description of the immediate ascetic pupils of Mahavira in the *Aupapatikasutra* (Sutra 29)[3]

(3) While describing the characteristics of a great Muni, the *Uttaradhyayana* says (XIX. 92).[4]

अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचंदणकप्पो च असणे अणसणे तहा ।।

Jacobi translates this verse in this manner[5] 'He had no interest in this world and no interest in the next world, he was indifferent to unpleasant and pleasant things, to eating and fasting.' He adds a foot-note on the word *vasi-camdan-akappo* 'The author of the Avacuri explains this phrase thus he did not like more a man who anoints himself with sandal that a mason Apparently he gives to *vasa* the meaning dwelling, but I think that the juxtaposition of *candana* calls for a world denoting a bad-smelling substance perhaps 'ordure.'' J *Charpentire*[6] moves in the same groove in his Notes: 'About *vasicamdana°* cf SBE, XLV, p. 99 n 1 The same compound KS §119, Aupa S § 29, but the comm do not give any exhaustive explanation of *vasi* It certainly belongs to *vasa*—'perfume', *vasayati* 'to perfume, to fumigate', cf *samvasita*—made fetid, having an offensive smell'

(4) In the *Avasyaka- iryukti*, we get the following *gatha* (No. 1548)[7]

वासीचंदणकप्पो जो मरणे जीविए य समसण्णो ।
देहे य अपडिबद्धो काउस्सग्गो हवइ तस्स ।।

Non-attachment for the body or an attitude of resignation towards the body, belongs to him to whom *vasi* and *candana* are alike, to whom death and life mean the same, and who is not at all attached to the body The commentator suggests that the sandal tree, when it is cut by the axe, does not react unfavourably against the axe or the wood-cutter but spreads its fragrance Likewise a true monk is sweet even to those who do harm to him Haribhadra quotes the following gatha to explain the above verse

जो चंदणेण बाहुं आलिपइ वासिणा व तच्छेइ ।
संथुणइ जो व निंदइ महरिसिणो तत्थ समभावा ।।

The great sages have an attitude of equality towards him who anoints the arm with sandal or who chops it with an axe and who praises or blames

(5) Haribhadra describes in his *Yogasataka*[8] an ideal Muni in this manner.

वासीचंदणकप्पो समसुहदुक्खो मुणी समक्खाओ ।
भवमोक्खापडिबद्धो अओ य पाएण सत्थेसु ।।

Generally, according to the scriptures, a Muni is described as one for whom *vasi* (an axe) and *candana* (sandal) are alike, who is equanimous in pleasure or pain and who is not attached either to *samsara* or to *moksa*

(6) Haribhadra speaks, in one of his *Astaka*,[9] about the great monks in this way:

सामायिकं च मोक्षाङ्ग पर सर्वज्ञभाषितम् ।
वासीचंदनकल्पानामुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥

The cultivation of the attitude of equanimity is the highest step, as preached by the omniscient Teachers, leading to Moksa; and it is said (to be possible) for those magnanimous souls for whom (chopping with) the axe and (anointing with) the sandal paste are alike. The commentater Jinesvarasuri explains the expression in this way,

वासी लोहकारोपकरणविशेषः वासीव वासी अपकारकारी तां चन्दनमिव मलयजमिव दुष्कृतक्षण हेतुतयोपकारकत्वेन कल्पयन्ति मन्यन्ते वासीचन्दनकल्पा । यदाह-

यो मामपकरोत्येष तत्त्वेनोपकरोत्यसौ ।
शिरामोक्षाद्युपायेन कुर्वाण इव नीरुजम् ॥

अथवा वास्यामपकारिणि चन्दनस्य, कल्प इव च्छेद इव य उपकारित्वेन वर्तन्ते वासीचन्दनकल्पाः । आह च-

अपकारपरेऽपि परे कुर्वन्त्युपकारमेव हि महान्त ।
सुरभीकरोति वासीं मलयजमपि तक्ष्यमाणमपि ॥

वास्यां वा चन्दनस्येव कल्प आचारो येषां ते तथा, अथवा वास्या चन्दनकल्पाश्चन्दनतुल्या ये ते तथा ।

The commentator's explanation does not exactly bring out the idea conveyed by the expression *vast-candana-kalpa*. That even *apakara* is to be looked upon as *upakara* is a common idea attributed to the sandal tree, and it is expressed in some Prakrit and Sanskrit Subhasitas[10]

(7) An omniscient saint is instructing a novice on his initiation into the ascetic order in the *Kuvalayamala*[11] of Uddyotanasuri, and his advice runs thus:

चइऊण घरावासं पुत्तकलत्ताइं मित्तबंधुयणं ।
वेरग्गमग्गलग्गो पव्वज्जं कुणसु आउत्तो ॥
जो चंदणेण बाहुं आलिपइ वासिणा य तच्छेइ ।
संथुणइ जो य णिंदइ तस्थ तुमं होसु समसोवो ॥[12]

(8) The same idea is expressed in the Pali text, *Milindapanha* (9 25) in this way[13]

एकं च बाहुं वासिया तच्छेय्य कुपितमानसा ।
एक च बाहुं गन्धेन आलिपेय्य पमोदिता ॥
अमुस्मि पटिघो नत्थि रागो अस्मि न विज्जति ।
पठवीसमचित्ता ते तादिसा समणा मम ॥

Someone with angry mind may chop the arm with an axe or adze, and some one else, being pleased, may anoint the arm with sandal paste The Sramanas who are firm or balanced (in mind) like the earth neither get angry with the one nor are pleased with the other

(9) In the *Mahabharata* (Rajadharma, chap 9, 35)[14] the same idea is thus expressed

वास्यैक तक्षतो बाहु चन्दनतैकमुक्षत. ।
नाकल्याण न कल्याण चिन्तयन्नु मयोस्तयोः ॥

He does not think ill of him who chops the arms with an adze, nor does he think well of him who anoints it with sandal

From the quotations given above, the meaning of the expression *vasi-candana-*[samaana]*-kalpa* in abundantly clear The term *vasi* has nothing to do with *vasa*-'perfume', but it stands for a typical axe, an adze, the cutting edge of which is at right angles to the handle It can cut like an ordinary axe, but it is more handy for chopping or peeling The word *candana* means sandal (paste) The two words *saman a* and *kalpa* have a common meaning 'similar' 'alike' that is why in some places we get only *kalpa* The word *kalpa* means also 'a rule' that which is allowed or prescribed' When both *samana* and *kalpa* find place in the expression either it is a clarificatory doublet or the term *kalpa* implies 'prescribed rule' Thus the expression *vasi-candana-kalpah* means One to whom *vasi* and *candana* are alike' i e , a monk who has a balanced attitude and equanimity of mind Some one may chop a monk's arm with an adze and some other may anoint the other arm with sandal paste—towards both of them, the great saint of balanced mind has the same attitude and feeling

---

NOTES

1. Sri-Kalpasutram, with the Kalpalata commentary, Sri-Jinadattasuri pracina pustakoddahra Fund, 42, Surat 1939, p. 136.
2. SBE,22, pp 262
3. Ed N G Suru, Poona 1931, p 19
4. Ed J Charpentier Uppsala 1922
5. SBE, 45, p 99.
6. Vide his Notes to his edition, noted above p 352
7. See Yogasataka, Ahmedabad 1959, p 36.

8. Ed. I. H Jhaveri, Ahmedabad 1959, p. 34.
9. Sri Astaka-prakar anam, XIX, 1, Rajanagara 1937
10. See Vajjalaggam, 729, Calcutta 1944; Subhasita-ratna-Bhandagara, Bombay 1952, p. 47,110,p: 237, 48
11. E d A N Upadhye, Bombay 1959 p 80 4-5.
12. This verse is almost identical with the one quoted by Haribhadra, as noted above Obviously they go back to some older source
13. Ed. Trenckner, London 1180 p. 383
14. Dr. S K Belvalkar kindly drew my attention to this verse and asked me to collect references from Prakrit. The present note is a result of his kind suggetion
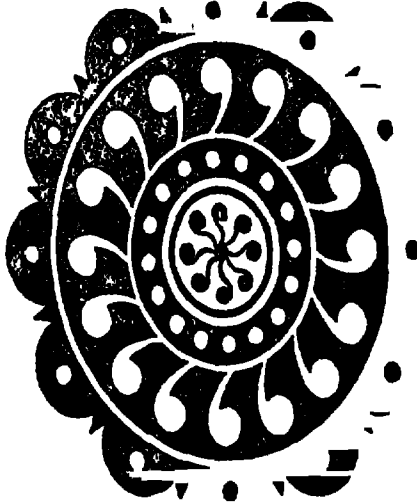
The Art of Life

U C Jain, Department of Humanities,
Birla College of Engineering, Pilani (Rajasthan)

"The building of man's true world—the living world of Truth and Beauty—is the function of art" Art implies synthesis, harmony or integration Art is a means of union among men, joining them together is the same feelings, and indispensable for the life and progress towards wellbeing or individuals and of humanity. One who comprehends the truth of everything, and possesses the ability to convert the ugliness into beauty and lives every moment of life for the good of mankind can be called an artist of life An artist of life is able to synthesise the various forces of life To him poverty and prosperity, defeats and victories, sorrows and joys, are equally joyful and significant in the drama of life To him nothing is detrimental, nobody is despicable. He has sterling faith in the dictum that 'everything in this world has some unique quality in it and every event that happens is for the sake of man's welfare.' His every activity is artistic He acts independently and lives gloriously and beautifully

An artist of life is a calm spectator of the drama of life, enjoying everything unattached Nothing enslaves him, nothing arrests him, nothing uses him, nothing masters him In the *Mansarover* of life he is like a lotus which is always above the surface of water in spite of having its root in deep water. An artist of life is always creative He lives for creation He paves his own path of life. It is he who remoulds saciety to a better plan It is he who propounds new philosophies and ideologies and changes the course of history of mankind It is he who produces

works of literature and blooms in the joy of creation even amidst the grim circumstances of life Nothing detracts him, nothing dejects him, his appreciation and depreciation are the gusts of the same wind coming from different directions He cares little for material possessions but opportunity for creative work he certainly prefers to every other thing. The ignorant world, for the time being, may neglect him considering him miserable, whimsical, crazy, or even mad at times but in reality he is the wisest man who understands the follies and foibles of all and overlooks them with a spiteless smile on his genial face People think him to be weak and coward as he tolerates placidly the injuries done to him by the world. People think him foolish because he does not care for the thing most coveted for by ordinary men. People regard him conservative because he is not swayed by every new change for the sake of mere change or for ostentation He is, in truth, like a deep ocean which remains unaffected in its magnitudes even when many rivers fall into it. He knows what is permanent in man, he perceives the intrinsic worth of everything, so that the externals, the shining foam or pearly bubbles tempt him not The dazzling sights of the world fail to blind him to the virtues of life

The modern world is in lamentable want of the artists of life. It is on account of the dearth of such persons that the world is full of restless rivalry, jealousy, rife and strife, setting individuals against individuals, communities against communities, nations nations Indulged in the mad pursuit for material power and pelf, man is going down everyday from the plane of humanity Being gove ned by the wrong notions and wrong conceptions of life, of culture, of beauty he is getting devoid of all the virtues that distinguith man from animal, and which beautify and glorify man's life Man is superior to animal only on account of his capacity to reflect and select, to be self-conscious, to be conscious of his feelings, ideas, desires and purposes It is man alone who goes beyond self-consciousness towards cosmic consciousness, who looks up into the vastness of real life, perceiving things in the light of eternity Now the question is how a man can rise to such real heights and make his life artistic

One who aspires to learn the art of living or one who aspires to grow an artist of life should be physically, mentally, and spiritually healthy. He must exercise his "spiritual power" to the fullest capaisity of all his faculties, round that principle of life which is the highest in man, the Atman, the spiritual principle, the image of the God in man The first requisite of an artist of life is 'Good health', A harmonious development of all the three faculties of body, mind and spirit goes to make one truly healthy A man may be robust but if he is idle, he is mantally unhealthy A man may be skilled in his work, but if he is unable to

withstand the temptations of life, he is spiritually unhealthy The symptoms of physical health are (1) freedom from diseases, (2) a good capacity for work Mentat health comprises (1) power of concentration (2) the ability of right compre hension (3) the Capacity of keeping the mind free and fallow (4) intelligence or retension power (5) Consciousness of human relations, or knowledge of Truth Spiritual health which emanates from mental health presupposes self-confidence,— or undesisting faith in one's divinity or self-realisation that makes man free, fearless bold and courageous Divinity consists of love, compassion and bliss while love is power compassion greatness and bliss salvation A spiritually healthy man is always found sincere, dutiful, peaceful and happy All good literature and true knowledge is due to the spiritually greatmen

To grow physically healthy one should *lead a life of simplicity, punctuality* and purity. Simulicity means curtailment of requirements of freedom from ostentation and superfluity One who eats what his appetite, not the tongue, requires, who wears what his body, (in a particular weather not his whims, requires, and who does what his conscience not his animal passions, dictates him to do—can be called simple. A simple man is found always and everywhere unassuming He cares little for polish or 'show' He says that he does what is expected of a conscious man Punctuality demands the doing of reuired things regulary at the right time and doing onething at a time One who takes six hours' sleep, gets up at the fixed time before sun rise, takes his bath and morning exercises at the right time, undoubtedly grows healthy Every man must cultivate the habit of taking some physical exercises e g 'Dand' or Baithak or Asanas (Posture), Pranayam (restraint of breath) (after receiving training form some yogi). Exercises should be according to the requirements of one's constitution and nature of his vocation One should take one's food at the interval of six hours One who controls the tongue controls one s entire body Moreover, moderation in all e g food, sleep work, coition etc- must be observed to improve one's health Purity means utility based on truth One who satisfies appetic by taking things that make his violent, extravagant and frequently ill or one who quenches one's thrist or "talab" by drinking wine or intoxicating things or stimulating things like 'coffee', tea, etc can not be called a man observing the princi- ple of 'purity'. One who eats things and never allows things to eat him, wears clothes never allows cothes to wear out him, uses, things of recreation as radio, cineme or a television and never allows them to use him, and one who acts as a master not as a slave (here, 'slave stands for the slaves of habits) can maintain an ideal healh A physically healthy man is always seen free from idleness, procrastination, flabb- iness and melancholy

Mind is the insrument and in order to keep this instrument sharp and quick one should regularly read good books and think over them deeply Calmness is the sure indication of a strong, well-trained, patiently disciplined mind "still waters run deep and the universal forces are not audible" To keep one's mind clam one should talkless and work more, and should care only for the work at hand not for future things half of the troubles in the world are imaginary For thse who are sircere and dutiful, good and bright future is secure, Good actions assurage even the evil consequences of the bad actions of the previous life or of the bad actions done out in ignorance The habit of caring only for todays duties and the belief in the dictum 'good actions always bring good results' enable one to keep the mind free from worries and anxities and ultimately develop one's power of concentration and the power of creation' Swami Vivekanand has aptly said

"The powers of mind are like rays of dissipated light, when they are concentrated, they illumine This is our only means of knowledge" No inner activity can be seriously effective and continuous until one has first reduced his house to order and then has reclarred and reassembled his herd of scattered energies All creative work, I have experienced, is the product of his state of mind One who aspires to be creative artist should practise from the very beginning allowing the intellect to lie fallow or in vacuum Every man can attain this state of mind, by practising meditation, or by concentrating or some idol, or by surrendering himself to God and keeping staunch faith in His mercy

Akin to mental health is spiritual health. For attaining spiritual health every student should read, understand and think over the rich literature of life produced by great saints, sages, philosophers and Yogies such as, Vedvyas, Patanjali, St Aurbindo, Swami, Ramdas, Tulsidas, Ram Krishna Paramhansa, Ramtirtha, Vivekananda, Kant, Heget, Lord Buddha Shankaracharya etc. After attaining the true knowledge of life or of truth one should act accordingly keeping oneself physically and mentally healthy Spiritual power emanates from the right understanding of life and of various human relations Every student, must choose from the very beginning of his life one of the great books or spitually greatman, if available, as his spiritual guide He is free to choose the Gita, the Upanishads or anyother book but after choosing he should daily read it for sometime in the morning and think on the practical use of knowledge contained in the book Without bringing into use knowledge has little meaning This constant practice of the knowledge of truth without caring for difficulties leads one to peace, happiness and immortality.

Even in the modern world when mankind is engrossed in materialism and man cares the least for superb ideals of human life, the necessity of something has

begun to be felt everywdere, that may make mankind happy and peaceful It is in the moments of acute depression,harrowing sense of loss, blankness of despair suspense and utter grief that man's sleept of ignorance is disturbed and he feels the necessity of religion' or 'Dharma' or 'God' or 'spiritual power' that may beautify his life and g·:: him everlasting Peace O, Readers ! "learn this art of life and bring Heaven down upon this earth so that all of you become gods "

Arise . Awake · and stop not till the goal is reached.